डॉ. निरूपण विद्यालङ्कार

श्रीमद्विश्वनाथकविराजप्रणीत

साहित्य दर्पण

श्रीमद्विश्वनाथकविराजप्रणीत

साहित्यदर्पण

Dr. Paras Shastri

पुष्पमाला (३)

श्रीमद्विश्वनाथकविराजप्रणीत

साहित्यदर्पण

[समीक्षात्मक भूमिका, हिन्दी-अनुवाद-व्याख्या टिप्पणी सहित]

[प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम
एवं षष्ठ परिच्छेद]

सम्पादक
डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार
एम० ए० पी-एच०डी०
भूतपूर्व रीडर, अध्यक्ष संस्कृत विभाग
मेरठ कॉलेज, मेरठ।

* **प्रकाशक :**
रतिराम शास्त्री (अध्यक्ष)

प्रतिष्ठान :
साहित्य भण्डार
सुभाष बाजार, मेरठ।
दूरभाष : ०१२१-२४२३७५४

कार्यालय :
'शास्त्री सदन'
२५४. वैस्टर्न कचहरी रोड. मेरठ।
दूरभाष : ०१२१-२६५६४४४
टैली फैक्स : ०१२१-४००९६६९

* प्रथम संस्करण : १९७४
द्वितीय संस्करण : २००४
तृतीय संस्करण : २०११

* **बुक कोड : A019**

* **मूल्य : सौ रुपए (१००.००)**

* **मुद्रक :**
भारत प्रिन्टर्स. मेरठ।

प्राक्कथन

आज आचार्य विश्वनाथ कृत अलंकारशास्त्र के ग्रन्थ "साहित्यदर्पण" का हिन्दी अनुवाद अध्येताओं के सामने प्रस्तुत करते हुए मुझे महती प्रसन्नता हो रही है। इस प्रसन्नता का एकमात्र कारण यह है कि यह हिन्दी-अनुवाद प्रकाश में आ गया है। वस्तुतः आज से अनेक वर्ष पूर्व श्रद्धेय डॉ० हरिदत्त जी शास्त्री, भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बी० ए० वी० कालिज, कानपुर की प्रेरणा से इस ग्रन्थ का यह हिन्दी-अनुवाद किया गया था। कालचक्र के प्रवाह में इसको शीघ्र पूरा न कर सका। अनेक वर्षों के सतत प्रयत्न से येन केन प्रकारेण इसको पूरा किया तो इसके प्रकाशन की व्यवस्था न हो पाई। एक बार डॉ० हरिदत्त शास्त्री जी इस ग्रन्थ के हिन्दी-अनुवाद की पाण्डुलिपि को मेरे पास से ले भी गये थे, परन्तु उसका क्या हुआ। इसका मुझे आज तक भी कुछ पता नहीं है। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि न तो वह पाण्डुलिपि मेरे पास वापिस आई और न ही "साहित्यदर्पण" का वह हिन्दी-अनुवाद ही प्रकाशित हुआ। अस्तु

समय व्यतीत हो गया और मैं १९५६ में संस्कृत प्रवक्ता के रूप में मेरठ कालिज, मेरठ नियुक्त होकर आया। यहाँ आकर एक बार पुनः अपनी उस "साहित्य-दर्पण" की हिन्दी-व्याख्या को प्रकाशित कराने की व्यग्रता मन में पैदा हुई। इस व्यग्रता को तीव्ररूप में उत्पन्न करने में मेरे छोटे भाई स्वर्गीय डॉ० स्वतन्त्रनिरूपण आयुर्वेदालंकार का अप्रतिम हाथ था। उनके सहयोग से एक बार पुनः हिन्दी-अनुवाद की पाण्डुलिपि तैयार की और उस "साहित्यदर्पण" का केवल मात्र **"षष्ठ परिच्छेद"** ही १९६८ में प्रकाश में आ पाया। इस बीच डॉ० स्वतन्त्रनिरूपण आयुर्वेदालंकार दिवंगत हो गये, पर आज जब उस "साहित्यदर्पण" के प्रथम छः परिच्छेदों का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित हो रहा है, तो सहसा उनकी स्मृति हृदय में उल्लासमय विषाद को पैदा कर देती है।

अलंकारशास्त्र के इतिहास में "साहित्यदर्पण" का अपना एक विशिष्ट स्थान है। अतः इस प्रकार के प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की व्याख्या करना स्वयं के लिये कठिन अवश्य है, विशेष रूप से उस अवस्था में जबकि इससे पूर्व अनेक विद्वानों की अनेक संस्कृत तथा हिन्दी में व्याख्यायें प्रकाश में आ चुकी हैं। तथापि विद्यार्थियों को सरलता से अलंकारशास्त्र के गूढ़ स्थलों को हृदयंगम कराने के लिये एवं अपनी मनस्तुष्टि के लिये यह व्याख्या लिखी गई है। मूल पाठ का हिन्दी-अनुवाद करते हुए शब्दशः अनुवाद करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु फिर भी जो ऐसे शब्द आ गये हैं, जो मूलपाठ में आये हुए किसी शब्द का अर्थ नहीं हैं, उन्हें कोष्ठक में दे दिया गया है। ऐसा करते हुए -पग पर आने वाली भाषा के प्रवाह की कठिनाई को भी दूर करने का यथासाध्य प्रयास किया गया है। प्रकरण की स्पष्टता के लिये

अवतरणिका की अवतारणा की गई है। इस प्रकार अवतरणिका, हिन्दी-अर्थ तथा टिप्पणी इन तीन शीर्षकों के अन्दर मूलग्रन्थ की विषयवस्तु को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

इस हिन्दी अनुवाद को लिखने की सामर्थ्य गुरुजनों के आशीर्वाद से प्राप्त हुई है, जिनके श्री चरणों में बैठकर साहित्यशास्त्र का अध्ययन सम्भव हो सका था। उनके प्रति मेरा हृदय आदर और कृतज्ञता से भरा है। विशेषकर इस प्रसङ्ग में मैं श्रद्धेय डॉ० हरिदत्त जी शास्त्री एवं डॉ० रामनाथ जी वेदालंकार को नहीं भुला सकता, जिनकी सतत प्रेरणा और आशीर्वाद का यह मूर्तमन्त फल है। पुस्तक की Press copy मेरे एम० ए० प्रथम सत्र की छात्रा कुमारी सुधा गुप्ता और विशेषकर मेरे ज्येष्ठ पुत्र शशाङ्ककुमार बी० ए० प्रथम सत्र ने ही अहर्निश और अनथक परिश्रम करके तैयार की है। इनके इस सहयोग के बिना सम्भवतः यह व्याख्या इतनी शीघ्र प्रकाश में न आ पाती। इन दोनों को तो मेरा आशीर्वाद ही है कि वे अपनी भावी विद्याजीवन में यशोभावी होवें। इस प्रसङ्ग में मैं अपने परम सहयोगी स्नेही मित्र डॉ० विष्णुशरण "इन्दु" प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, मेरठ कालिज, डॉ० कर्णसिंह वर्मा प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, मेरठ कालिज, मेरठ तथा यशवन्त कुमार यादव, कानपुर को विशेषरूप से स्मरण करता हूँ, उन्होंने मुझे इस ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए अनेक उपयोगी सम्मतियाँ तथा क्रियात्मक सहयोग दिया है।

पुस्तक मुद्रित रूप में आ गई है—इसका सम्पूर्ण श्रेय मेरठ के साहित्य भण्डार के अध्यक्ष श्री रतिराम जी शास्त्री और उनके ज्येष्ठ एवं कनिष्क पुत्र श्री राजकिशोर शर्मा एम० ए०, सतीशचन्द्र कौशिक को है, जिन्होंने इसके मुद्रित होते समय तक अपना धैर्य, साहस और उत्साह बनाये रखा। वस्तुतः प्रयत्न यह था कि इसका प्रकाशन दीपावली के पावन पर्व पर हो जाता पर **"मेरे मन कछु और है, विधिना के कछु और"** के अनुसार वह सम्भव न हो सका। बिजली का संकट, कागज की मँहगाई और मेरा अकस्मात् अस्वस्थ हो जाना—इन सब कारणों से विलम्ब होता गया। यह जो कुछ भी हुआ, पर पुस्तक प्रकाशित हो गई।

अन्त में केवल इतना कहना चाहता हूँ कि इस संस्करण को तैयार करने के प्रसङ्ग में अनेक पूर्ववर्ती साहित्यदर्पण की टीकाओं एवं व्याख्याओं से मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। अतः जाने-अनजाने में प्रभावित करने वाले उन सभी रचनाओं के लेखकों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

यदि हिन्दी-व्याख्या में कुछ भी सार दिखाई दे तो उसे अपने पास रखकर दोषों की सूचना और अभीष्ट संशोधनों का सुझाव देकर कृतार्थ कीजियेगा, जिससे अगले संस्करण में उनका साभार उपयोग किया जा सके।

—निरूपण विद्यालङ्कार

गुढ़ा—मैनपुरी
बसन्त पञ्चमी
२८ जनवरी १९७४

साहित्यदर्पण की विषयानुक्रमणिका

चतुर्थ परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

——

भूमिका

१. विश्वनाथ कविराज : एक परिचय

साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ कविराज का समय १३वीं-१४वीं शताब्दी माना जाता है। साहित्यदर्पण के चतुर्थ परिच्छेद में **अस्फुटगुणीभूतव्यंग्य** के उदाहरण में निम्न पद्य दिया गया है—

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः ।
अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः ।। साहित्यदर्पण ४.१४

अर्थात् अलाउद्दीन नामक यवनराज के साथ सन्धि करने पर सम्पूर्ण धन का हरण होता है, युद्ध करने पर प्राणों का नाश होता है, अतः उसके साथ न तो सन्धि ही और न ही युद्ध ठीक है। इस पद्य के उद्धरण से यह तो निश्चित प्रमाणित होता है कि विश्वनाथ कविराज का समय अलाउद्दीन खिलजी से पूर्व का नहीं हो सकता। अलाउद्दीन खिलजी का समय १२९६—१३१६ ई० माना जाता है। विश्वनाथ जी स्वयं सान्धिविग्रहिक और महापात्र थे, इसकी प्रतीति साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद की समाप्ति पर विद्यमान परिचयात्मक विरुद से मिलती है। तद्यथा—

"इति श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुव्रतसाहित्यार्णवकर्णधारध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्यकविसूक्तिरत्नाकराष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्गसान्धिविग्रहिकमहापात्रश्रीविश्वनाथकविराजकृतौ साहित्यदर्पणे काव्यस्वरूपनिरूपणो नाम प्रथमः परिच्छेदः"।

इससे केवल यही नहीं पता लगता है कि विश्वनाथ सान्धिविग्रहिक और महापात्र थे अपितु अन्य बातों का ज्ञान भी होता है। तद्यथा—(१) **"श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुव्रत"**—विशेषण से इनके प्रपितामह अथवा पितामह पण्डित प्रवर श्रीमन्नारायण के विषय में भी पता लगता है। इनके प्रपितामह श्रीमन्नारायण साहित्य-शास्त्र के उद्भट विद्वान् तथा साहित्यशास्त्र के प्रणेता थे। सम्भवतः विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रपितामह श्रीमन्नारायण के श्रीचरणों में बैठकर ही साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया हो। विश्वनाथ जी ने साहित्यदर्पण में रस के स्वरूप तथा रसास्वादन के प्रकरण में अपने प्रपितामह का स्मरण निम्न शब्दों में किया है—

"चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः। तत्प्राणत्वं चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्। तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—

"रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।।
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्" ।। इति ।। साहित्यदर्पण ३.३.

अर्थात् श्रीमन्नारायण, जो विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह हैं, रसों में चमत्कार को ही सार मानते हैं । उन्होंने केवल अद्भुत रस को ही सर्वत्र माना है । वे सहृदय-गोष्ठीगरिष्ठ और कविपण्डितों में मुख्य हैं ।

(२) श्री कविराज विश्वनाथ साहित्य रूपी सागर के कर्णधार हैं, ध्वनि-प्रस्थापनपरमाचार्य हैं, इनकी उपाधि कविसूक्तिरत्नाकर है और अष्टादशभाषा-वारविलासिनीभुजङ्ग हैं अर्थात् इन्होंने १८ भाषाओं पर आधिपत्य किया हुआ है, अर्थात् इनको १८ भाषाओं का पूर्ण ज्ञान है । सोलह भाषाओं में इन्होंने "प्रशस्तिरत्नावली" नामक करम्भक काव्य की रचना की थी । इसमें कलिङ्ग-नरेश प्रथम और द्वितीय की प्रशस्ति वर्णित है ।

कुछ विद्वान् निम्न दो पद्यों के आधार पर विश्वनाथ कविराज को वैष्णव मानते हैं । तद्यथा—यथा मम राघवविलासे—

विपिने क्व जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः ।
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्तनम् ।। सा० द० ३.६
यावत्प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीर्नारायणस्याङ्कमलंकरोति ।
तावन्मनः सम्मदयन्कवीनामेष प्रबन्धः प्रथितोऽस्तु लोके ।।
साहित्यदर्पण १०.१०६

साहित्यदर्पण की समाप्ति पर उट्टङ्कित निम्न पंक्ति विश्वनाथ कविराज को आलंकारिक बताती हैं । तद्यथा

"इत्यालंकारिकचक्रवर्तिसान्धिविग्रहिकमहापात्रश्रीविश्वनाथकविराजकृते साहित्यदर्पणे दशमः परिच्छेदः" ।

इसप्रकार विश्वनाथ कविराज कवि और आलंकारिक दोनों हैं । सम्भवतः कवि पहले हैं और आलंकारिक बाद में ।

विश्वनाथ कविराज उत्कल निवासी और ब्राह्मण थे । सम्भवतः इनके पिता और पितामह कलिङ्ग देश के उच्चाधिकारी रहे हों । विश्वनाथ कविराजप्रणीत "काव्यप्रकाशदर्पण" में आता है कि—

"यदाहुः श्री कलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः······अस्मत्पितामहश्रीनारायणपादाः ।" ।

इससे इनके पूर्वजों का कलिङ्ग देश के अधिपति श्री नरसिंहदेव के राज्य में प्रतिष्ठित पदाधिकारी के रूप में रहना प्रतीत होता है ।

श्री विश्वनाथ कविराज के पिता का नाम चन्द्रशेखर था। इन्होंने अपने पिता के नाम का उल्लेख बड़े आदर के साथ अपने ग्रन्थ **साहित्यदर्पण** की समाप्ति पर किया है—

श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुश्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम्।
साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य साहित्यतत्वमखिलं सुखमेव वित्त ॥

साहित्यदर्पण १०.१०

यही नहीं इन्होंने साहित्यदर्पण में अनेको स्थलों पर अपने पिता द्वारा रचित पद्यों को भी उद्धृत किया है। तद्यथा—

(१) यथा मम तातपादानां महापात्रचतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्गमहाकवीश्वर-श्रीचन्द्रशेखरसान्धिविग्रहिकाणाम्—

दुर्गालंघितविग्रहो मनसिजं संमीलयंस्तेजसा
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रूचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः ॥ सा० द० २.१४.

यहाँ पर विश्वनाथ जी ने अपने पिता को महापात्र, चतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्ग, महाकवीश्वर और सान्धिविग्रहिक—इन विशेषणों से विभूषित किया है। इनमें से महापात्र और सान्धिविग्रहिक पिता-पुत्र (श्रीचन्द्रशेखर और विश्वनाथ कविराज) दोनों हैं। "सान्धिविग्रहिक्" उस मन्त्री को कहते हैं, जो अन्य राजाओं के साथ व्यवहार्य नीति का निर्णय करे और उनके साथ सन्धि या विग्रह कराये। आजकल इनको Foreign Minister और Defence Minister कहते हैं। श्री विश्वनाथ के पिता **चतुर्दशभाषाविलासिनीभुजंग** हैं तो स्वयं विश्वनाथ **अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजंग** हैं। इनके पिता **महाकवीश्वर** हैं तो ये स्वयं **कविसूक्तिरत्नाकर** हैं।

(२) तत्र प्रथमावतीर्णयौवना यथा मम तातपादानाम्—

मध्यस्य प्रतिमानमेति जघनं वक्षोजयोर्मन्दता
दूरं यात्युदरं च रोमलतिका नेत्रार्जवं धावति।
कन्दर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्षणा—
दंगानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठनं सुभ्रुवः ॥ सा० द० ३.५८.

(३) यथा मम तातपादानाम्—

नो चाटुश्रवणं कृतं न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः
कान्तस्य प्रियहेतवो निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः।
पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्[illegible]
पाणिभ्यामवरुध्य हन्त सहसा कण्ठे [illegible] सा० द०

(४) एकदेशतो यथा मम तातपादानाम्—

चिन्ताभिः स्तिमितं मनः करतले लीला कपोलस्थली
प्रत्यूषक्षणदेशपाण्डुवदनं श्वासैकखिन्नोऽधरः ।
अम्भःशीकरपद्मिनीकिसलयैर्नापैति तापः शमं
कोऽस्याः प्रार्थितदुर्लभोऽस्ति सहते दीनां दशामीदृशीम् ॥ सा० द० ३.२०७.

(५) प्रवासानन्तरं संभोगो यथा मम तातपादानाम्—

क्षेमं ते ननु पक्ष्मलाक्षि-किसअं खेमं महंगं दिढं
एतादृक्कृशता कुतः-तुह पुणो पुट्ठं सरीरं जदो ।
केनाहं पृथुलः प्रिये-पणाइणीदेहस्स संमीलणात्
त्वत्तः सुभ्रु न कापि मे--जइ इदं खेमं कुदो पुच्छसि ॥

साहित्यदर्पण ३.२१३

(६) द्वादशपदा (नान्दी) यथा मम तातपादानां पुष्पमालायाम्—

शिरसि धृतसुरापगे स्मरारावरुणमुखेन्दुरुचिर्गिरीन्द्रपुत्री ।
अथ चरणयुगानते स्वकान्ते स्मितसरसा भवतोऽस्तु भूतिहेतुः ॥

साहित्यदर्पण ६.[illegible]

इस उपर्युक्त उद्धरण से यह प्रतीत होता है कि श्री विश्वनाथ कविराज के पिता श्री चन्द्रशेखर ने **पुष्पमाला** नामक नाटक की भी रचना की थी, जिसमें से यह पद्य उद्धृत किया है । इसप्रकार श्री चन्द्रशेखर कवि ही नहीं, नाटककार भी थे ।

(७) भाषालक्षणानि मम तातपादानां भाषार्णवे—साहित्यदर्पण ६.१६६ इससे यह पता चलता है कि विश्वनाथ कविराज के पिता ने "**भाषार्णव**" नाम की कोई रचना भी की थी, जिसमें भाषाओं के विषय में वर्णन रहा होगा । इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि श्री चन्द्रशेखर को अनेक प्राकृत भाषाओं का ज्ञान था और वे उनके प्रकाण्ड पण्डित थे ।

इसप्रकार साहित्यदर्पण के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि विश्वनाथ कविराज स्वयं, इनके पिता श्री चन्द्रशेखर और पितामह श्रीमन्नारायण—सारा ही परिवार, परिवार ही नहीं वंश विद्या एवं ऐश्वर्य में सम्पन्न था । कुछ विद्वान् विश्वनाथ कविराज और विश्वनाथ पञ्चानन को एक ही मानते हैं । वस्तुतः साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ कविराज न्यायमुक्तावली के कर्ता विश्वनाथ पञ्चानन से भिन्न हैं । इनके पिता का नाम श्री चन्द्रशेखर है और उनके पिता का नाम विद्यानाथ है । ये कविराज हैं और वे पञ्चानन । सम्भवतः ये विद्यानाथ वही हैं जिनके मत का खण्डन अप्पयदीक्षित ने अपनी चित्रमीमांसा में किया है ।

———

२. आचार्य विश्वनाथ कविराज की कृतियाँ

विश्वनाथ कविराज की वर्तमान में उपलब्ध होने वाली कृति "**साहित्य-दर्पण**" है । यह "**अलङ्कारशास्त्र**" का ग्रन्थ है । अपने गुणों के कारण इसने पर्याप्त

प्रतिष्ठा, प्रचार तथा प्रसिद्धि पाई है । संस्कृत-साहित्य में अलङ्कारशास्त्र की अपनी एक विशिष्ट परम्परा रही है और उस अलंकारशास्त्र की परम्परा में **"साहित्यदर्पण"** का अपना एक विशिष्ट स्थान है । **अलंकारशास्त्र** अथवा **साहित्यशास्त्र** के सभी विषयों का विशद एवं साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस अकेले ही ग्रन्थ में मिल जाता है, जिससे साहित्यशास्त्र का अध्ययन करने वाले विद्वान् के लिये इसका महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है । इसकी भाषा सरल, मनोहर एवं प्राञ्जल है । विषय प्रतिपादन की शैली अनूठी है । साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ कविराज के सुपुत्र श्री अनन्तदास जी की साहित्यदर्पण के विषय में कही गई निम्न उक्ति सर्वथा सत्य प्रतीत होती है । वे कहते हैं—

स्वल्पाक्षरः सुबोधार्थः प्रध्वस्ताशेषदूषणः ।
साहित्यदर्पणो नाम ग्रन्थः............ ॥

अर्थात् यह साहित्यदर्पण अलंकारशास्त्र के विशाल वाङ्मय को थोड़े से शब्दों में स्पष्ट कर देने वाला है । इसके अन्दर प्रतिपादित विषय आसानी से हृदयङ्गम हो जाने वाला है और सम्पूर्ण दोषों से रहित है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस साहित्यदर्पण के अध्ययन से काव्यशास्त्र के सभी अङ्गों का विशद ज्ञान अल्प परिश्रम से ही हो जाता है । यह हो सकता है कि किसी को इसमें प्रौढ़ता के दर्शन न हों, पर इसकी लोकप्रियता असन्दिग्ध है । साहित्यदर्पण की अपनी एक प्रमुखतम विशेषता है कि इसमें काव्य सम्बन्धी सभी विषयों का प्रतिपादन हुआ है । इस साहित्यदर्पण में दस परिच्छेद हैं, जिसमें नाटचशास्त्र सहित सभी काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन हुआ है । विश्वनाथ ने अपने इस ग्रन्थ के अन्दर अपनी अन्य कृतियों से भी उद्धरण दिये हैं, जिससे उनकी अन्य रचनाओं का ज्ञान होता है । इस ग्रन्थ का प्रारम्भ काव्य की परिभाषा **"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"** से होता है । इन्होंने रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है । इस दृष्टि से काव्यशास्त्र के प्रमुख पाँच सम्प्रदायों में से ये **रस सम्प्रदाय** के अन्दर आते हैं । इन्होंने अपने इस ग्रन्थ के अन्दर निम्न विषयों पर विवेचन किया है—

(१) काव्य क्या है ? काव्य का स्वरूप क्या है ? और काव्य की आत्मा क्या है ?

(२) अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—इन तीनों शब्दशक्तियों का विशद विवेचन किया है । व्यञ्जना वृत्ति का विस्तृत विवेचन पञ्चम परिच्छेद में हुआ है ।

(३) रस, ध्वनि, काव्यदोष, काव्यगुण तथा रीति का भिन्न-भिन्न परिच्छेदों में आवश्यक ऊहापोह के साथ व्याख्यान किया है ।

(४) दशम परिच्छेद में केवलमात्र अलङ्कारों का वर्णन है ।

(५) नाट्यशास्त्र के नाट्य सम्बन्धी विषयों का और नायक-नायिका भेद का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। इसप्रकार श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्यों के सभी अङ्ग-उपाङ्गों का वर्णन इसमें एकत्र किया हुआ उपलब्ध होता है।

इस साहित्यदर्पण के अतिरिक्त विश्वनाथ कविराज की जिन अन्य रचनाओं का उल्लेख मिलता है, उनके उद्धरण साहित्यदर्पण में उपलब्ध होते हैं। इन संकेतों से भिन्न उनकी रचनाओं का ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से नहीं होता है। साहित्यदर्पण के आधार पर जिन कृतियों को विश्वनाथ कविराज द्वारा रचित कहा जा सकता है, वे इसप्रकार है—

(१) साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में मुग्धा नायिका के प्रसङ्ग में उदाहरण देते हुये कहा गया है कि **प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा मम प्रभावतीपरिणये**—

दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात्
नोद्दामं हसति क्षणात्कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि।
किञ्चिद्भावगभीरवक्रिमलवस्पृष्टं मनाग्भाषते
सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम्॥ साहित्यदर्पण ३·५८

इससे यह मालूम पड़ता है कि विश्वनाथ कविराज की एक रचना **"प्रभावतीपरिणय"** है। सम्भवतः यह एक नाटिका है। नाटिका होने से ही यह ज्ञात होता है कि यह श्रृंगारप्रधान रचना है।

इसी **"तृतीय परिच्छेद"** में मध्या नायिका के भेद **प्ररूढयौवना** के उदाहरण में कहा गया है कि **प्ररूढयौवना यथा मम**—

नेत्रे खञ्जनमञ्जने सरसिजप्रत्यर्थि पाणिद्वयम्
वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः।
कान्तिः काञ्चनचम्पकप्रतिनिधिर्वाणी सुधास्यन्दिनी
स्मेरेन्दीवरदामसोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटाः॥ साहित्यदर्पण ३.५९

इस उपर्युक्त उद्धरण से केवलमात्र इतना ही ज्ञात होता है कि यह पद्य विश्वनाथ कविराज द्वारा निर्मित है, इससे अधिक कुछ नहीं। सम्भवतः यह उनकी कोई मुक्तक रचना है।

इसीप्रकार **प्रगल्भा धीराधीरा नायिका** के प्रसङ्ग में उद्धृत निम्न पद्य—
यथा मम—

अनलंकृतोऽपि सुन्दर हरसि मनो मे यतः प्रसभम्।
किं पुनरलंकृतस्त्वं सम्प्रति नखरक्षतैस्तस्याः॥ साहित्यदर्पण ३·६३

से भी केवल यही प्रतीत होता है कि यह विश्वनाथ कविराज की कृति है।

(२) साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में नायिकाओं के २८ अलङ्कारों का उल्लेख किया गया है। इन २८ अलङ्कारों में से सात अयत्नज अलङ्कार भी कहे गये

हैं। इन सात अ... अलंकारों में से एक अलंकार **दीप्ति** है। इस **दीप्ति** अलङ्कार का उदाहरण देते हुये कहा गया है कि—

यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्—

तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदो हासः।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ॥ साहित्यदर्पण ३·९६

इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि विश्वनाथ कविराज ने **"चन्द्रकला"** नाम की एक नाटिका का प्रणयन किया था। नाटिका के शृंगाररस प्रधान होने से यह नाटिका भी शृंगाररस प्रधान समझनी चाहिये। इससे विश्वनाथ के नायिकाओं के अलङ्कारों के सूक्ष्म ज्ञान का भी पता लगता है।

इसीप्रकार **"तपन अलङ्कार"** के उदाहरण में कहा गया है कि—**यथा मम—**

श्वासान्मुञ्चति भूतले विलुठति त्वन्मार्गमालोकते,
दीर्घं रोदिति विक्षिपत्यत इतः क्षामां भुजावल्लरीम्।
किञ्च प्राणसमानकाङ्क्षितवती स्वप्नेऽपि ते संगमं,
निद्रां वाञ्छति न प्रयच्छति पुनर्दग्धो विधिस्तामपि ॥ सा० द० ३·१०

नायिकाओं की अनुराग चेष्टाओं के उदाहरण के प्रसंग में—**दिङ्मात्रं यथा मम—**

अन्तिकगतमपि मामियमनलोकयतीव हन्त दृष्ट्वाऽपि।
सरसनखक्षतलक्षितमाविष्कुरुते भुजामूलम् ॥ सा० द० ३.१२६

नायिकाओं की दूतियों के प्रसङ्ग में **स्वयंदूती** का उदाहरण देते हुये—**स्वयंदूती यथा मम—**

पन्थिअ पिआसिओ विअ लच्छीअसि जासि ता किगण्णत्तो।
ण मणापि वारओ इध अत्थि घरे घणरसं पिअन्ताणम् ॥ सा० द० ३·१२८

इस उद्धरण से मालूम पड़ता है कि विश्वनाथ कविराज ने प्राकृतभाषा में भी स्वतन्त्र पद्य रचना की है।

उद्दीपनविभाव के प्रसंग में निम्न उदाहरण दिया गया है:—

तत्र चन्द्रोदयो यथा मम—

करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमः पटलांशुके निवेश्य।
विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः ॥ सा० द० ३.१३१

इसीप्रकार सात्विकभावों के प्रसंग में, **यथा मम—**

तनुस्पर्शादस्या दरमुकुलिते हन्त नयने
उदञ्चद्रोमाञ्चं व्रजति जडतामङ्गमखिलम्।
कपोलौ घर्मार्द्रौ ध्रुवमुपरताशेषविषयं
मनः सान्द्रानन्दं स्पृशति झटिति ब्रह्मपरमम् ॥ सा० द० ३.१३९

(३) साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में ३३ व्यभिचारीभावों के प्रसंग में **जड़ता** का उदाहरण देते हुये कहा गया है कि—**यथा मम कुवलयाश्वचरिते प्राकृतकाव्ये—**

णअरिअ तं जुअजुअलं अण्णोण्णं णिहिदसजलमन्थरदिट्ठम् ।

आलेक्खओपिअं विअ खणमेत्तं तत्थ संट्ठिअं मुअसण्णम् ।। सा० द० ३·१४८

इस उपर्युक्त उद्धरण से प्रतीत होता है कि विश्वनाथ कविराज ने प्राकृतभाषा में भी किसी काव्य की सृष्टि की थी, जिसका नाम "**कुवलयाश्वचरित**" है । सम्भवतः यह शृंगाररस प्रधान काव्य हो ।

इसीप्रकार व्यभिचारीभाव के भेद **उन्माद** का उदाहरण देते हुये-**यथा मम—**

भ्रातर्द्विरेफ, भवता भ्रमता समन्तात्
प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम् ।
(झंकारमनुभूय सानन्दम्)
ब्रूषे किमोमिति सखे, कथयाशु तन्मे
किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदृशीयम् ।। सा० द० ३·१६०

शंका व्यभिचारीभाव के उदाहरण में—**यथा मम—**

प्राणेशेन प्रहितनखरेष्वङ्गकेषु क्षपान्ते
जातातङ्का रचयति चिरं चन्दनालेपनानि ।
धत्ते लाक्षामसकृदधरे दत्तदन्तावघाते
क्षामाङ्गीयं चकितमभितश्चक्षुषीं विक्षिपन्ती ।। सा० द० ३.१६१

इसीप्रकार **स्मृति** व्यभिचारीभाव का उदाहरण—**यथा मम—**

मयि सकपटं किञ्चित्क्वापि प्रणीतविलोचने
किमपि नयनं प्राप्ते तिर्यग्विजृम्भिततारकम् ।
स्मितमुपगतामालीं दृष्ट्वा सलज्जमवाञ्चितं
कुवलयदृशः स्मेरं स्मेरं स्मरामि तदाननम् ।। सा० द० ३.१६२

विषाद व्यभिचारीभाव का उदाहरण—**यथा मम—**

एषा कुडिलघणेण चिउरकडप्पेण तुह णिबद्धा वेणी ।
मम सहि दारइ डंसइ आअसजट्ठिव्व कालउरइव्व हिअअम् ।।
सा० द० ३.१६७

धृति व्यभिचारीभाव का उदाहरण—**यथा मम—**

कृत्वा दीननिपीडनां निजजने बुद्ध्वा वचोविग्रहं
नैवालोच्य गरीयसीरपि चिरादामुष्मिकीर्यातनाः ।
द्रव्यौघाः परिसञ्चिताः खलु मया यस्याः कृते साम्प्रतं
नीवाराञ्जलिनापि केवलमहो सेयं कृतार्था तनुः ।। सा० द० ३.१६८

चिन्ता व्यभिचारीभाव के उदाहरण में—**यथा मम**—

कमलेण विअसिएण संजोएन्ती विरोहिणं ससिबिम्बम् ।
करअलपल्लत्थमुही किं चिन्तसि सुमुहि अन्तराहिअहिअआ ॥
सा० द० ३.१७०

इस उद्धरण से भी विश्वनाथ कविराज का किसी प्राकृत रचना की ओर संकेत मिलता है ।

साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में दस कामदशाओं का वर्णन करते हुये **जडता** के उदाहरण में निम्न पद्य उद्धृत किया गया है—

भिसिणीअलसणीए निहिअं सव्वं सुणिच्चलं अङ्गम् ।
दीहो णीसासहरो एसो साहेइ जीअइन्ति परम् ॥ सा० द० ३.१९२

अत्र **जडता** । इदं मम ।

यह उद्धरण भी किसी प्राकृत रचना का अंग प्रतीत होता है ।

जातप्रायमरण और **आकाङ्क्षितमरण** के उदाहरण निम्न हैं—

अत्राद्यं यथा—

शेफालिकां विदलितामवलोक्य तन्वी
प्राणान्कथंचिदपि धारयितुं प्रभूता ।
आकर्ण्य सम्प्रति रुतं चरणायुधानां
किं वा भविष्यति न वेद्मि तपस्विनी सा ॥ सा० द० ३.१९४

द्वितीयं यथा—

रोलम्बाः परिपूरयन्तु हरितो झंकारकोलाहलै-
र्मन्दं मन्दमुपैतु चन्दनवनीजातो नभस्वानपि ।
माद्यन्तः कलयन्तु चूतशिखरे केलीपिकाः पञ्चमं
प्राणः सत्वरमश्मसारकठिना गच्छन्तु गच्छन्त्वमी ॥ सा० द० ३.१९५

ममेतौ ।

भविष्यत्यकाल में होने वाले **कार्यजप्रवास** का उदाहरण—**तत्र भावी यथा मम**—

यामः सुन्दरि, याहि पान्थ, दयिते शोकं वृथा मा कृथाः
शोकस्ते गमने कुतो मम ततो वाष्पं कथं मुञ्चसि ।
शीघ्रं न व्रजसीति मां गमयितुं कस्मादियं ते त्वरा
भूयानस्य सह त्वया जिगमिषोर्जीवस्य मे सम्भ्रमः ॥ सा० द० ३.२०८

(४) साहित्यदर्पण के ही तृतीय परिच्छेद में **करुणरस** के उदाहरण के रूप में निम्न पद्य दिया गया है । **यथा मम राघवविलासे**—

विपिने क्व जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः ।
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्तनम् ।। सा० द० ३.२२५

इस उद्धरण से यह प्रतीत होता है कि विश्वनाथ कविराज ने **राघवविलास** नामक किसी काव्य की रचना की थी । कुछ विद्वान् इस पद्य रचना के आधार पर विश्वनाथ कविराज को वैष्णव स्वीकार करते हैं ।

(५) षष्ठ परिच्छेद के अन्दर विविध भाषाओं में निर्मित **करम्भक** का उदाहरण देते हुये कहा गया है कि—"**यथा मम-षोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली**" । इससे ज्ञात होता है कि विश्वनाथ कविराज ने "**प्रशस्तिरत्नावली**" नाम की रचना की थी, जो सोलह भाषाओं में उपनिबद्ध थी । सम्भवतः इसमें कलिङ्ग नरेश नरसिंह प्रथम और द्वितीय की प्रशस्ति वर्णित है ।

(६) विश्वनाथ कविराज के पुत्र अनन्तदास ने साहित्यदर्पण की "**लोचन**" नामक अपनी व्याख्या में लिखा है कि—"**यथा मम तातपादानां विजयनरसिंहे**" । इससे यह अनुमित होता है कि सम्भवतः विश्वनाथ कविराज ने "**विजयनरसिंह**" नामक काव्य की रचना की थी ।

इसप्रकार साहित्यदर्पण में उद्धृत उद्धरणों से, जिनका कि नाम्ना उल्लेख हुआ है, प्रतीत होता है कि विश्वनाथ कविराज ने (१) **प्रभावतीपरिणय** (२) **चन्द्रकला** (३) **कुवलयाश्वचरित** (४) **राघवविलास** और (५) **प्रशस्तिरत्नावली** – इन पाँच काव्यों की रचना की थी । इसमें से प्रथम दो शृंगार प्रधान नाटिकायें हैं । **कुवलयाश्वचरित** प्राकृतभाषा में निबद्ध काव्य है । **राघवविलास** महाकाव्य हैं और **प्रशस्तिरत्नावली** सोलह भाषाओं में उपनिबद्ध **करम्भक** है । इन पाँच रचनाओं के अतिरिक्त अनन्तदास द्वारा संकेतित "**विजयनरसिंह**" नामक काव्य को ऐतिहासिक काव्य की संज्ञा दी जा सकती है ।

इन कृतियों से भिन्न विश्वनाथ कविराज ने काव्यप्रकाश पर टीका भी लिखी है, जिसका नाम "**काव्यप्रकाशदर्पण**" है । साहित्यदर्पण को मिलाकर इसप्रकार विश्वनाथ कविराज की आठ कृतियों का पता मिलता है । इनमें से **साहित्यदर्पण** और **काव्यप्रकाशदर्पण** प्राप्य हैं और शेष अप्राप्य ।

कृतियों पर विवेचन करते हुये हमने यह देखा है कि अनेक उद्धरण **यथा मम** करके दिये हुये हैं । इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः विश्वनाथ कविराज ने कुछ पद्यों की रचना मुक्तक के रूप में की हो, जिनसे ये उद्धरण दिये गये हों । इसप्रकार **साहित्यदर्पण** का रचयिता कवि और आलङ्कारिक दोनों है । इनमें से कवि पहले और **आलङ्कारिक** बाद में ।

---

३. शास्त्र का नाम

(१) **साहित्यशास्त्र**–"**साहित्य**" का शाब्दिक अर्थ है शब्द और अर्थ का परस्पर विशिष्ट प्रकार का सम्बन्ध । "**सहितयोर्भावः साहित्यम्**" और यह सम्बन्ध शाश्वत है । इसीलिये कहा गया है—"**नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः**" अर्थात् शब्द और अर्थ का यह

पारस्परिक विशिष्ट सम्बन्ध नित्य है । इन दोनों को ही पृथक् नहीं किया जा सकता है । इनका नित्य साहचर्य रहता है । कोई भी साहित्य, यहाँ तक कि सामान्य बात भी इन दोनों के अभाव में सम्भव नहीं है । इसलिये न केवल शब्द और न केवल अर्थ साहित्य कहलाते हैं, अपितु दोनों मिलकर ही "**साहित्य**" कहलाते हैं ।

भामह ने अपने **काव्यालङ्कार** में कहा है कि--

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।

जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ।।

अतः यह **साहित्य साहिती, कवि कर्म का शासक होने के कारण, "साहित्यशास्त्र"** कहलाता है ।

राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा में कहा है कि--"**पञ्चमी साहित्य-विद्येति यायावरीयः । सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः**" अर्थात् यायावरीय के अनुसार पाँचवी **साहित्यविद्या** है क्योंकि यह चारों विद्याओं का सार है । "साहित्य-विद्या" के स्वरूप के विषय में कहा है---"**शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य-विद्या**" अर्थात् सहृदयों को यथावत् आह्लादित करने वाली परस्पर सम्यक्तया विद्यमान शब्द और अर्थ की **विद्या**=शास्त्र **साहित्यविद्या**=अलङ्कारप्रतिपादकशास्त्र= "**साहित्यशास्त्र**" कहलाती है । राजशेखर ने काव्यमीमांसा में "काव्यपुरुष" को, जो क्रोधित होकर घर से बाहर चला गया है, लौटा लाने के लिये "**साहित्यविद्यावधू**" (शब्दार्थयोः सहभावेन विद्या) का उल्लेख किया है । यह साहित्यविद्या **साहित्य-शास्त्र** है क्योंकि जिसप्रकार साहित्यविद्यावधू "काव्यपुरुष" का नियन्त्रण करने के लिये है, उसीप्रकार "साहित्यशास्त्र" काव्य के सभी अङ्गों का विवेचन करने वाला होने के कारण उसका नियामक है । विल्हण ने अपने महाकाव्य "**विक्रमाङ्कदेवचरितम्**" में कहा है—

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।

यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ।। १.११

यहाँ साहित्य शब्द का प्रयोग सामान्य साहित्य के अर्थ में हुआ है और काव्य को समुद्र से उत्पन्न अमृत के समान कहा है । प्रतिहारेन्दुराज ने अपने गुरु मुकुल को "**साहित्यश्रीमुरारेः**" कहा है । यहाँ साहित्य का अर्थ **साहित्यशास्त्र** है । मुकुल ने एकत्र लिखा है कि—"**व्याकरणमीमांसातर्कसाहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात्**" । यहाँ पर "**साहित्य**" शब्द से "**साहित्यशास्त्र**" का ग्रहण करना चाहिये । इन उपर्युक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि "**साहित्य**" शब्द का प्रयोग "**साहित्यशास्त्र**" के लिये हुआ है । कुन्तक ने अपने "**वक्रोक्तिजीवितम्**" में साहित्य की व्याख्या में लिखा है—

मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः ।

अलङ्कारविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः ।।३४।।

वृत्तौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम् ।
स्पर्धायै विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ।।३५।।
सा काप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्यन्दसुन्दरा ।
पदादिवाक् परिस्पन्दसारः **साहित्यमु**च्यते ।।३६।।

अर्थात् मार्गों (रीतियों) की अनुकूलता से सुन्दर, माधुर्यादि गुणों से युक्त, अलङ्कारों के विन्यास वाला, वक्रता के अतिशय से युक्त, वृत्तियों के औचित्य से मनोहारी, रसों का परिपोषण, पारस्परिक स्पर्धा से यथायोग्य दोनों (शब्द और अर्थ) की स्थिति वाला, काव्यमर्मज्ञों को आनन्द प्रदान करने वाले व्यापार से सुन्दर और पद आदि वाङ्मम की सारभूत कोई अनिर्वचनीय अवस्थिति "**साहित्य**" कहलाती है। इसप्रकार शब्द और अर्थ के साहित्य = सहितभाव में रीति, गुण, अलंकार, वक्रता, वृत्ति और रस का अन्तर्भाव हो जाता है। सम्भवतः यही कारण है कि "**साहित्यशास्त्र**" के अन्दर इन सभी का विवेचन अभीष्ट होता है। अतः इसप्रकार के शास्त्र का नाम "**साहित्यशास्त्र**" कहा गया है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक "**साहित्यशास्त्र**" पर विवेचन हुआ है। "**साहित्यशास्त्र**" पर वैज्ञानिक ढंग से लिखा गया भामह का **काव्यालंकार** प्रथम ग्रन्थ उपलब्ध होता है।

२. काव्यशास्त्र

"**साहित्यशास्त्र**" का दूसरा नाम "**काव्यशास्त्र**" भी है। आचार्य कुन्तक ने "साहित्य" शब्द के यथार्थ अर्थ का प्रतिपादन करते हुये जहाँ यह अपना मत अभिव्यक्त किया है कि शब्द और अर्थ के विशिष्ट सम्बन्ध को "**साहित्य**" कहते हैं, वहाँ उनका यह भी कहना है कि "साहित्यशास्त्र" में प्रयुक्त "**साहित्य**" शब्द "**काव्य**" अर्थ में सीमित हुआ समझना चाहिये। "साहित्यशास्त्र" पर लिखे हुये **काव्यालंकार, काव्यालंकारसूत्र, काव्यादर्श और काव्यप्रकाश** आदि ग्रन्थों के नामों को देखकर भी यह स्वभावतः अनुमान किया जा सकता है कि कालान्तर में "**साहित्यशास्त्र**" को ही "**काव्यशास्त्र**" के नाम से कहा जाने लगा होगा। इस दृष्टि से **साहित्य** शब्द के वास्तविक अर्थ का परिचायक "**काव्य**" शब्द को समझना चाहिये। संस्कृत में काव्य शब्द से श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य--इन दोनों का ही ग्रहण किया जाता है। यही कारण है कि "**काव्यशास्त्र**" के अन्दर श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य दोनों के ही अङ्गों का विशद विवेचन अपेक्षित होता है।

दण्डी कहते हैं कि "**यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्**" (१.२), ध्वन्यालोक ने "साहित्यशास्त्र" पर लिखने वालों को "**काव्यलक्षणविधायिनः**" कहा है। भामह अपने "काव्यालङ्कार" ग्रन्थ की समाप्ति में कहते हैं—"**अवलोक्य [illegible] सत्कवीनां स्वधिया च काव्यलक्ष्म**"। इन उपर्युक्त उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि "साहित्यशास्त्र" को "**काव्यशास्त्र**" नाम से भी अभिहित किया गया है। साहित्य शब्द का प्रयोग "काव्य" अर्थ में भी बहुधा हुआ है। तद्यथा—**साहित्यसंगीतकला-विहीनः**" में स्पष्टतः साहित्य शब्द काव्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि "साहित्यशास्त्र" के लिये **"काव्यशास्त्र"** का प्रयोग भी बराबर होता आया है।

३. अलङ्कारशास्त्र

साहित्यशास्त्र और काव्यशास्त्र का ही नामान्तर **"अलङ्कारशास्त्र"** है। "अलङ्कार" शब्द की व्याकरणिक दृष्टि से दो प्रकार की व्युत्पत्ति की जा सकती है— (१) अलङ्करणमलङ्कारः—यहाँ **"भावे"** पाणिनि ३.३.१८ से भाव में घञ् प्रत्यय हुआ है। (२) **"अलंक्रियतेऽनेन"**—यहाँ **"अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्"** से करण में घञ् प्रत्यय हुआ है। इसप्रकार दोनों प्रकार से **"अलङ्कार"** शब्द को सिद्ध किया गया है। सम्भवतः "साहित्यशास्त्र" के विवेच्य विषयों में से अलङ्कारों के प्रमुख विवेच्य विषय होने के कारण **"प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति"** न्याय से उनको **"अलंकारशास्त्र"** कहा गया है। अलङ्कारों पर विवेचन करने वालों में भामह, दण्डी, उद्भट, वामन और रुद्रट हैं। इनके अतिरिक्त अन्य आचार्य मम्मट, प्रतिहारेन्दुराज, रुय्यक, भोज, राजशेखर, जयदेव, विश्वनाथ कविराज, अप्पयदीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ हैं। वामन ने अपने **"काव्यालङ्कारसूत्र"** में अलङ्कार शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया है—(१) **सौन्दर्य के अर्थ में—"काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्", "सौन्दर्यमलङ्कारः"** (१.१.१—२) अर्थात् काव्य अलङ्कारों के कारण उपादेय होता है तथा अलङ्कार का अर्थ सौन्दर्य है। और (२) **अलङ्कार के अर्थ में–"अलंक्रियतेऽनेन", "अलंकृतिरलङ्कारः"। "करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते"—इति।** वामन की इस स्थापना की व्याख्या करते हुये कामधेनु कहता है कि–**"योऽयमलङ्कारः काव्यग्रहणहेतुत्वेनोपन्यस्यते तद्व्युत्पादकत्वात् शास्त्रमपि अलङ्कारनाम्ना व्यपदिश्यत इति शास्त्रस्यालङ्कारत्वेन प्रसिद्धिः प्रतिष्ठिता स्याद् इति सूचयितुमयं विन्यासः कृतः काव्यं ग्राह्यमलङ्कारादिति"** इसप्रकार अलङ्कार प्रधान लक्षण ग्रन्थों का सामान्य नाम **"अलङ्कारशास्त्र"** कहा गया है।

समुद्रबन्ध अलङ्कारसर्वस्व टीका में इसप्रकार कहा गया है—

"विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तद्वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्य-मुखेनेति त्रयः पक्षाः इति। धर्मोऽपि द्विविधः नित्योऽनित्यश्च। अथानित्यधर्मोऽलंक्रिय-तेऽनेनेतिकरणव्युत्पत्त्या सिद्धोऽलङ्कारः। नित्यधर्मस्तु गुण एव। एवं व्यापारोऽपि द्विविधो वक्रोक्तिर्भावकत्वं च। तदित्थं प्राधान्येन व्यवस्थितोऽयमालङ्कारिकसमयः"।

इसप्रकार 'साहित्यशास्त्र" अथवा "काव्यशास्त्र" का ही दूसरा नाम **'अलङ्कार शास्त्र'** प्रतिष्ठित हुआ और इस नाम से व्यवहृत होने लगा। रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ की **"अलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु"** के अन्दर लक्षणा भी हो सकती है और इससे "अलङ्कारशास्त्र" नाम की सार्थकता भी प्रतिपादित होती है।

राजशेखर की काव्यमीमांसा में कहा गया है कि **"उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः"**—अर्थात्

यायावरीय का मत है कि वेदों के उपकारक होने से "अलङ्कारशास्त्र" सातवाँ वेदाङ्ग है। और अलङ्कारशास्त्र के स्वरूप का ज्ञान न होने से वेदों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। तद्यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

इस वेदमन्त्र का ज्ञान **"अलङ्कारशास्त्र"** के ज्ञान के विना सम्भव नहीं है। कहने का आशय यह है कि शोकधर्मा जीव और आनन्दधर्मा परमेश्वर की नियम्य और नियन्ता-रूप से स्थिति है। इसका वर्णन उपर्युक्त मन्त्र में **अतिशयोक्ति अलङ्कार** से किया गया है। अतः यदि अतिशयोक्ति अलङ्कार के स्वरूप का ज्ञान नहीं है तो उक्त वेदमन्त्र के भाव को हृदयंगम करना कठिन है। इस अतिशयोक्ति का ज्ञान "अलङ्कारशास्त्र" से होता है, अतः "अलङ्कारशास्त्र" के ज्ञान के अभाव में वेदमन्त्रों के अर्थ का ज्ञान सम्भव नहीं है। इसीलिये अलङ्कारशास्त्र को सातवाँ वेदाङ्ग कहा गया है।

परिणामतः काव्य के विविध अङ्गों का विवेचन किये जाने से संस्कृत-साहित्य में लक्षणग्रन्थों को **साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र** और **अलंकारशास्त्र** के नाम से अभिहित किया जाता है।

---

४. साहित्य क्या है ?

आधुनिक काल में अंग्रेजी के Sorry और Thanks शब्दों ने जिसप्रकार अपने मूल अर्थ के महत्त्व को खो दिया है, उसीप्रकार की बहुत कुछ स्थिति हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले इस **"साहित्य"** शब्द की है। आप छोटे से छोटे अपराध से लेकर बड़े से बड़ा अपराध कर जाइये Sorry कह देने मात्र से आपके सभी अपराध क्षम्य हो जायेंगे। इसीप्रकार किसी ने आपका कितना भी बड़े से बड़ा उपकार क्यों न किया हो Thanks कह देने मात्र से आप अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझियेगा। आज पग-पग पर प्रयुक्त होने वाले इस Thanks शब्द ने **"कृतज्ञता"** शब्द को केवल कोश की वस्तु बना दिया है। इसीप्रकार की स्थिति **"साहित्य"** शब्द की है। आप किसी स्थान पर आयोजित होने वाली प्रदर्शनी को देखने चले जाइये आपको **"प्रदर्शनी साहित्य"** मिल जायेगा। सिनेमा देखने जाइये **"सिनेमा साहित्य"** तैयार मिलेगा। कहने का आशय यह है कि आज केवल दर्शन, भूगोल, इतिहास, ज्योतिष तथा अर्थशास्त्र आदि विषयों पर लिखी हुई सामग्री ही साहित्य नहीं समझी जाती है, अपितु सम्पूर्ण विज्ञाप्य वस्तु तथा किसी भी प्रकार का आने वाला सूचना पत्र भी साहित्य नाम से कहा ही नहीं जाता है, अपितु माना जाता है। जिसप्रकार अंग्रेजी शब्द Literature का प्रयोग साधारण बोलचाल में अक्षरों में लिखित प्रत्येक

सामग्री के लिये किया जाता है, उसीप्रकार "साहित्य" शब्द ने भी व्यापक अर्थ ग्रहण कर लिया है। इस स्थिति में, जब कि आजकल साहित्य शब्द के अन्दर सभीप्रकार की लिखित सामग्री का ग्रहण होने लगा है, तब साहित्य के जिज्ञासु विद्यार्थी के लिये यह जानना आवश्यक हो जाता है कि इस "साहित्य" शब्द का अपना मूल अर्थ क्या है ? इसी जिज्ञासा के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है।

व्युत्पत्तिपरक "**सहित्य**" की व्याख्या इसप्रकार से की जा सकती है—

(१) साहित्य की सामान्यरूप से व्युत्पत्ति है—"**साहितस्य भावः साहित्यम्**"। यहाँ पर "**गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च**" पा० ५।१।१२४ से ष्यञ् प्रत्यय होकर "**साहित्य**" शब्द बना है। यहाँ यह स्वाभाविक रूप से प्रश्न पैदा होता है कि किनका सहभाव ? **उत्तर है—"सहभावश्चाष्टादशप्रस्थानभिन्नानां विद्यानाम्**"— अर्थात् प्रस्थानभिन्न विद्याओं के सहभाव को "**साहित्य**" कहते हैं। ये अठारह विद्यायें इसप्रकार हैं—ऋगादि चार वेद, शिक्षा आदि छः वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र। इसके विपरीत कुछ विद्वान् चौदह विद्या स्थान मानते हैं और इनमें चार वेद, छः वेदाङ्ग और चार शास्त्रों का परिगणन करते हैं। यायावरीय राजशेखर का मत है कि साङ्गोपाङ्ग वेदादिकों का वर्णन एकमात्र काव्य में विद्यमान रहता है, अतः **काव्य** पन्द्रहवाँ विद्यास्थान है। कुछ विद्वान् वार्ता, कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीति को मिलाकर १८ विद्यास्थान मानते हैं।

(२) "**साहित्यस्य कर्म साहित्यम्**"—इस व्युत्पत्ति के अनुसार कविकर्मरूप "साहित्य" के अन्दर सम्पूर्ण वाङ्मय का अन्तर्भाव हो जाता है।

(३) "**हितेन सह सहितं तस्य भावः साहित्यम्**"—इस व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर ही सम्भवतः "**रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्**"—अर्थात् राम आदि के समान व्यवहार करना चाहिये, रावणादि के समान नहीं—यह भी काव्य निर्माण का एक प्रयोजन रहा है।

(४) "**शब्दकल्पद्रुम**" में श्लोकमय ग्रन्थ को **साहित्य** कहा गया है—

"**मनुष्यकृतश्लोकमयः ग्रन्थविशेषः साहित्यम्**"।

(५) अन्यत्र कहा गया है कि "**तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वं बुद्धिविशेषविषयत्वं वा साहित्यम्**"।

(६) राजशेखर ने साहित्य की व्याख्या इसप्रकार की है—

"**शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।**"

अर्थात् सहृदयों को आह्लादित करने वाले शब्द और अर्थ के यथायोग्य सहयोग वाली विद्या = शास्त्र **साहित्यविद्या** = अलङ्कारप्रतिपादकशास्त्र कहलाती है।

इसप्रकार "**साहित्य**" शब्द "**सहित**" शब्द से व्युत्पन्न है, **जिसका अर्थ है**

"परस्पर मिला हुआ" । **"सहितयोर्भावः साहित्यम्"**—सम्पूर्ण साहित्य शब्द और अर्थ के संयोग से बना है । इसीलिये काव्य की प्रारम्भिक परिभाषायें शब्द और अर्थ को ही आधार मानकर की गई हैं । वैज्ञानिक ढंग से साहित्यशास्त्र पर उपलब्ध होने वाला पहला ग्रन्थ **भामह** का **काव्यालङ्कार** है, जिसमें भामह ने काव्य का लक्षण **"शब्दार्थो सहितौ काव्यम्"** किया है रुद्रट ने **"ननु शब्दार्थौ काव्यम्"** काव्य का लक्षण किया है । इसमें इन्होंने **"सहितौ"** पद का सन्निवेश नहीं किया है । कुन्तक ने अपने ग्रन्थ **"वक्रोक्तिजीवितम्"** के प्रथमोन्मेष में छठी कारिका से लेकर १० वीं कारिका तक काव्य के लक्षण के विषय में विवेचन किया है । इस लक्षण को स्पष्ट करने के लिए १६-१७ वीं कारिका में शब्द, अर्थ तथा साहित्य—इन तीनों का विवेचन कर काव्य के लक्षण की व्याख्या को पूर्ण किया है । कुन्तक ने भामह की काव्य परिभाषा **"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"** में अपनी **"वक्रोक्ति"** को सम्मिलित कर काव्य की परिभाषा की है । कुन्तक का काव्यलक्षण इसप्रकार है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ।। १.७

अर्थात् काव्यमर्मज्ञों के आह्लादकारक, सुन्दर (वक्र) कवि व्यापार वाली रचना (बन्धे) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं । इसप्रकार कुन्तक के मत में न केवल कवि कौशल से कल्पित सौन्दर्यातिशय वाले शब्द को ही काव्य कहा जा सकता है और न ही रचना के वैचित्र्य से चमत्कारी अर्थ को ही काव्य कहा जा सकता है, अपितु शब्द और अर्थ दोनों ही मिलकर काव्य कहलाते हैं (**"तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्"**) । इसलिये जिसप्रकार प्रत्येक तिल में तैल रहता है, उसीप्रकार शब्द और अर्थ दोनों में ही तद्विदाह्लादकारित्व (काव्यत्व) रहता है, किसी एक में नहीं (**तस्माद् द्वयोरहि प्रतितिलमिव तैलं, तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते, न पुनरेकस्मिन्**") । इसीलिये कुन्तक ने अपने काव्य लक्षण में "सहितौ" पद को स्थान दिया है । अर्थात् शब्द और अर्थ "सहितौ = सहभाव से" "साहित्य" से अवस्थित ही काव्य कहलाते हैं । इस शब्द और अर्थ के "**सहितौ = सहभाव = साहित्य**" पर कुन्तक ने १६वीं कारिका की व्याख्या में लिखा है—

"**अत एवैतदुच्यते । यदिदं साहित्यं नाम तदेतावति निःसीमनि समयाध्वनि साहित्यशब्दमात्रेणैव प्रसिद्धम् । न पुनरेतस्य कविकर्मकौशलकाष्ठाधिरूढरमणीयस्याद्यापि कश्चिदपि विपश्चिदयमस्य परमार्थ इति मनाङ्मात्रमपि विचारपदवीमवतीर्णः । तदद्य सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणां सत्कविवचसामन्तरामोदं मनोहरत्वेन परिस्फुरदेतत् सहृदयषट्चरणगोचरतां नीयते ।**"

अर्थात् इसीलिये यह कहा जाता है कि यह जो वास्तविक **"साहित्य"** है वह आज तक अर्थात् ग्रन्थकार कुन्तक के समय तक इतने विस्तृत असीम समय की परम्परा में केवल नाममात्र **"साहित्य"** शब्द से प्रसिद्ध रहा है । परन्तु कविकर्म की कौशल की

सीमा प्राप्ति से रमणीय इस "साहित्य" शब्द का यह वास्तविक अर्थ है, इस बात का आज तक भी किसी विद्वान् ने विचार नहीं किया है इसलिये आज हम सरस्वती हृदयारविन्द के मकरन्दबिन्दुसमूह से सुन्दर और सत्कवि के वाक्यों के आन्तरिक आनन्द से मनोहररूप से अनुभव होने वाले इस साहित्य शब्द के अर्थ को सहृदयरूपी भ्रमरों के सामने प्रस्तुत करते हैं।

"साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनातिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ १.१७

सहितयोर्भावः साहित्यम्। अनयोः शब्दार्थयोर्या काप्यलौकिकी चेतनचमत्कारितायाः कारणम्, अवस्थितिर्विचित्रैव विन्यासभङ्गी। कीदृशी, अन्यूनातिरिक्तत्वमनोहारिणी, परस्परस्पर्द्धित्वरमणीया। अस्यां द्वयोरेकतरस्यापि न्यूनत्वं निकर्षो न विद्यते, नाप्यतिरिक्तत्वमुत्कर्षो वास्तीत्यर्थः।

ननु च तथाविधं साम्यं द्वयोरुपहतयोरपि सम्भवतीत्याह शोभाशालितां प्रति"। शोभा सौन्दर्यमुच्यते। तया शालते श्लाघते यः स शोभाशाली, तस्य भावः शोभाशालिता, तां प्रति सौन्दर्यशालितां प्रतीत्यर्थः। सैव सहृदयाह्लादकारिता। तस्यां स्पर्द्धित्वेन याः सावस्थितिः परस्परसाम्यसुभगमवस्थानं सा साहित्यमुच्यते। तत्र वाचकस्य वाचकान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण साहित्यमभिप्रेतम्"

अर्थात् काव्य की शोभाशालिता (सौन्दर्याधायकता) के प्रति इन दोनों शब्द तथा अर्थ की न्यूनता और आधिक्य से रहित (परस्पर एक दूसरे के साथ स्पर्द्धा के कारण) अनिर्वचनीय लोकोत्तर मनोहारिणी स्थिति ही "साहित्य" है।

सहित (शब्द और अर्थ) का भाव साहित्य है। इन (सहित) शब्द और अर्थ की जो कोई भी अलौकिक सहृदयों की चमत्कारिता का कारण है, अवस्थिति का अर्थ है विचित्र विन्यासभङ्गी अर्थात् रचनाशैली। वह विन्यासभङ्गी कैसी है, न्यूनता और आधिक्य से रहित होने के कारण मनोहारिणी अर्थात् एक दूसरे के साथ (शब्द की अर्थ के साथ और अर्थ की शब्द के साथ) स्पर्धा के कारण रमणीया। इस विन्यास-भङ्गी अर्थात् रचनाशैली में दोनों में से (शब्द और अर्थ) किसी एक की भी न्यूनता (अपकर्ष) नहीं होती है और न ही अधिकता (उत्कर्ष) ही होती है।

प्रश्न—इसप्रकार का साम्य उपहत शब्द और अर्थ दोनों में भी हो सकता है, अतः कहा है, **(उत्तर)** "**शोभाशालितां प्रति**"। शोभा सौन्दर्य को कहते हैं। उससे जो शोभित प्रशंसित होता है वह **शोभाशाली** कहलाता है, उसका भाव **शोभाशालिता** है; उसके प्रति अर्थात् शोभाशालिता के प्रति, यह अर्थ हुआ। यही सहृदयाह्लादकारिता है, उसमें (शोभाशालिता अथवा सहृदयाह्लादकारिता में) स्पर्द्धित्वेन (अन्यूनातिरिक्त-त्वेन) जो वह अवस्थिति अर्थात् परस्पर समानता में सुन्दररूप से जो शब्द और अर्थ की स्थिति है वह "**साहित्य**" कहलाती है। उस "**साहित्य**" में वाचक शब्द का

दूसरे वाचक शब्द के साथ और वाच्य अर्थ का दूसरे वाच्य अर्थ के साथ "**साहित्य—सहभाव**" अभिप्रेत है।

"**तस्मादेतयोः शब्दार्थयोर्यथास्वं यस्थां स्वसम्पत्सामग्रीसमुदायः सहृदयाह्लादकारी परस्परं स्पर्धया परिस्फुरति, सा काचिदेव वाक्यविन्यासम्पत् साहित्यव्यपदेशभाग् भवति।**"

इसलिये जिस रचना में शब्द और अर्थों का यथायोग्य अपनी (अन्यूनातिरिक्तत्वरूप) सम्पत्सामग्री का समुदाय सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाला परस्पर स्पर्धा से स्फुरित होता है, वह कोई विशिष्ट वाक्यविन्यासरूम्पत् "**साहित्य**" नाम से कही जाती है। शब्द और अर्थ का यह साहित्य (सहभाव) कुन्तक की दृष्टि में—

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥

है अर्थात् समानरूप से सम्पूर्ण गुणों से युक्त दो मित्रों के समान मिले हुये शब्द और अर्थ परस्पर एक दूसरे की शोभा के लिये होते हैं। यहाँ पर कुन्तक ने शब्द और अर्थ के परस्पर सहभाव की दो मित्रों से उपमा दी है अर्थात् जिसप्रकार दो मित्र परस्पर मैत्रीभाव से एक दूसरे से संगत रहते हैं उसीप्रकार शब्द और अर्थ को भी परस्पर एक दूसरे के साथ संगत रहना चाहिये। तथा जिसप्रकार मित्र एक दूसरे की शोभा को बढ़ाते हैं, एक दूसरे की सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक होते हैं, उसीप्रकार शब्द और अर्थ को भी एक दूसरे की शोभा बढाने वाला होना चाहिये।

परिणामतः शब्द और अर्थ को परस्पर "**सुहृदाविव संगतौ**" और "**परस्परस्य शोभायै**" होना चाहिये। कालिदास के शब्दों के अनुसार वे दोनों बरावर इतने सुन्दर हों कि इन दोनों के मध्य यह निर्णय करना कठिन हो जाय कि कौन सौन्दर्य को भूषण करने वाला है और कौन सुन्दर भूष्य किया जा रहा है। तद्यथा—

अन्योन्यशोभाजनकाद बभूव।
साधारणो भूषणभूष्यभावः॥ कुमारसम्भव

इसप्रकार उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि **काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ के मध्य एक विशिष्ट प्रकार के अलौकिक सौन्दर्य का सम्बन्ध "साहित्य" कहलाता है।** इसी को दूसरे शब्दों में इसप्रकार कहा जा सकता है कि "**काव्य एक सुन्दर अभिव्यक्ति है, और साहित्य एक सुन्दर शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है।** शब्द और अर्थ का विशिष्ट प्रकार का सम्बन्ध ही "**साहित्य**" है, जैसा कि कुन्तक ने कहा है—"**विशिष्टमेवेह साहित्य मभिप्रेतम्**" इति।

संक्षेप में, शब्द और अर्थ का विशिष्ट सम्बन्ध "साहित्य" कहलाता है।

कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य के प्रारम्भ में शब्द और अर्थ के **साहित्य=सहभाव** की ओर इसप्रकार संकेत किया है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।। रघुवंश १.१.

माघ ने "**शिशुपालवधम्**" नामक अपने महाकाव्य में कहा है—
नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे ।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ।।

शब्द और अर्थ इन दोनों के अन्दर किसी प्रकार का उच्चावच की, न्यूनातिरिक्तत्व का अथवा उत्कर्षापकर्ष का भाव नहीं है। अतः शब्द और अर्थ का सहभाव ही "**साहित्य**" कहलाता है।

---

(५) कवि, काव्यपुरुष तथा काव्य का लक्षण—

(क) कविः—कविः करोति काव्यानि स्वादुं जानन्ति पण्डिताः ।
सुन्दर्या अपि लावण्यं पतिर्जानाति नो पिता ।।

कवि की रचना अपने लिये नहीं होती है। वह सर्वदा दूसरों के लिये रचना करता है। ठीक उसीप्रकार जिसप्रकार कि किसी सुन्दरी के सौन्दर्य को उसका पति तो जानता है, परन्तु उसका पिता नहीं। यद्यपि वह उसका स्रष्टा है। यहाँ रस लेने वाला पण्डित दो अर्थों में प्रतीत होता है। एक तो सहृदय के रूप में और दूसरा शास्त्रज्ञ अथवा समीक्षक के रूप में। सहृदय रस का अनुभव करते समय समालोचक अथवा समीक्षक नहीं हो सकता क्योंकि समीक्षक के लिये अनेक तत्वों की अपेक्षा होती है। वह सहृदय साहित्य के आनन्द सागर में गोता तो लगा सकता है, पर उसमें इतनी शक्ति नहीं कि वह समीक्षा कर सके। वह रसानुभूति का अनुभव करता हुआ निष्क्रिय रहता है, समीक्षा नहीं कर पाता। इसके विपरीत समालोचक या समीक्षक रस का अनुभव करने के साथ-साथ समीक्षा के लिये भी सक्रिय होता है। परिणामतः सहृदय सामाजिक ही काव्य के रस को जान सकता है। इसलिये कहा है कि—"**स्वादुं जानन्ति पण्डिताः**" इति।

अतः काव्य कवि की कृति है। इसीलिये "**काव्य**" की व्युत्पत्ति करते हुये कहा गया है कि "**कवेः कर्म काव्यम्**" इति। राजशेखर ने इसी को ',**तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्**" कहा है। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् उस अनादिनिधन परमेश्वर का काव्य है और वह इस सृष्टि का रचयिता कवि है। वेद कहता है—"**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति**" अर्थात् उस परमेश्वर के इस जगद्रचना रूप काव्य को देखो, जो न तो कभी नष्ट होता है और न कभी जीर्ण होता है। **कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः**" के अनुसार वह परमेश्वर कवि हैं।

परिप्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः ।
स्वानैर्याति कविक्रतुः ।। ऋक् ९।९।१ ।।

अर्थात् देवलोक का वह कवि = स्वरस्वामी सम्पूर्ण अन्तरिक्ष के कण कण में व्याप्त है। केवल कवि के अन्तःकरण के तार ही उस दिव्य स्वरधारा को आत्मसात् कर

सकते हैं। वाह्य स्वरों की सूक्ष्म ध्वनियों से जब अन्तर के तारों का स्वर मिलता है, तो उसमें स्वयं एक कम्पन आ जाता है।

परि प्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरूर्मावधिश्रितः।

कारुं विभ्रत्पुरुस्पृहम् ॥ साम पूर्वार्चिक ५.१०.१०.

उस दिव्य कवि ने प्रेम की वंशी के स्वरों में अनन्त अन्तरिक्ष को आच्छादित कर लिया है।

अग्निहता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।

देवो देवेभिरागमत् ॥ऋक् १.१.५.

"**क उ ते शासिता कविः**" यजुर्वेद ३६. ३९, "**ऊर्णा सूत्रेण कवयो वयन्ति**', यजुर्वेद १९.८ आदि वेदमन्त्रों में प्रयुक्त होने वाले "**कवि**" शब्द का अर्थ "**क्रान्तद्रष्टा**" है। "**कवय क्रान्तदर्शिनः**" इति। सायण के अनुसार **कवि** शब्द "**कु शब्दे**" धातु से बनता है। **कौतीति कविः**—कु + इ ("**अच इः**" उणादि ३/१३४)। दशपादी उणादि वृत्ति में "**कु शब्दे या कुङ् अव्यक्ते शब्दे**" धातु में इन् प्रत्यय लगाकर कवि शब्द की व्युत्पत्ति दी गई है ("**इन्** १/४६ उणादि)—**कौति, कवते, कूयते वा कविः काव्य**— विद्वान् शब्दाकारः। काशकृत्स्न धातु पाठ के व्याख्याता चन्नवीर कुङ् शब्दे कवते इति, कु शब्दे-कौतीति, कुङ् शब्दे-कुवते इति-इन सभी धातुओं से कवि शब्द की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। यास्काचार्य कुङ्-शब्दे कवते तथा कमु धातु से कवि शब्द की संरचना मानते हैं—"**कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा**" (निरुक्त १२/१३)। निघण्टु के टीकाकार देवराज यज्वा क्रम या कुङ् धातु में इन् प्रत्यय लगाकर कवि शब्द की सिद्धि मानते हैं। ("**इन् सर्वधातुभ्यः**" उणादि ४/११४)। कवि शब्द की निघण्टु (३/१५) में व्युत्पत्ति करते हैं—"**मेधावी कविः क्रान्तदर्शनो भवति**" (निरुक्त ११/१३)। कवि का अर्थहै बुद्धिमान्, मेधावीः, प्रज्ञावान् क्योंकि वह भूत, वर्तमान और भविष्य के पदार्थों को अपनी विलक्षण गति से एक साथ देखता है—

"अतीतानागतविप्रकृष्टविषयं युगपद्दर्शनं यस्य सः क्रान्तदर्शनः"—उव्वटा ।

"अतीतानागतदूरेवर्तिपदार्थानां यस्य युगपज्ज्ञानं स कविः"—

शुक्राचार्य को **कवि** और **काव्य** दोनों कहते हैं। शुक्राचार्य के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला "**काव्य**" शब्द "**कुङ् शब्दे**" धातु से निष्पन्न होता है और जिसकी व्याख्या है—"**कौतुकमवश्यमाख्यातुमर्हत्वात् काव्यः**"। यहाँ "**ओरावश्यके**" ३/२/१२५ से ण्यत् हुआ है। शुक्राचार्य के अर्थ में "**काव्य**" शब्द पुंल्लिङ्ग है, किन्तु ग्रन्थ के अर्थ में अथवा रस युक्त वाक्य के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला "**काव्यम्**" नपुंसकलिङ्ग है। इस स्थिति में "कवि" की सिद्धि "**कवृ वर्णने** धातु से होती है, जिसका अर्थ है— "**कवते सर्वं जानाति, सर्वं वर्णयति सर्वं सर्वतो गच्छति वा**"। "**कवते श्लोकान् ग्रथते वर्णयति वा**"। मनुस्मृति (२/१५१) में आता है—

अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।

इसलिये "**कविस्तु उशना कविः**" कहा जाता है। इसप्रकार शुक्राचार्य "**कवि**" इस नाम से अभिहित होते हैं। और उपचार प्रयोग से दर्शकों और वर्णन करने वालों को भी "**कवि**" कहा जाता है। सरस्वती के आशीर्वाद से वाल्मीकि मुनि भी "**कवि**" कहलाये, जो संस्कृत साहित्य के **आदि कवि** हैं। कवि के विषय में कहा गया है कि—

नानृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात् ।
विचित्रभावधर्मांशतत्वप्रख्या च दर्शनम् ॥
स तत्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः ।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः ॥ काव्यमीमांसा, ३य अध्याय

कवि और प्रजापति की काव्यसृष्टि की तुलना करते हुये काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने कवि को श्रेष्ठ बताया है। वे कहते हैं—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लदैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ १.१

अर्थात् कवि की वाङ्मय रचना नियतिकृत नियमों से रहित है, जबकि प्रजापति की सृष्टि में नियतिकृत नियम हैं, कवि की वाङ्मय रचना एकमात्र सुखमय है, जबकि प्रजापति की सृष्टि सुख-दुःख-मोहस्वभाव वाली है, कवि की वाङ्मय रचना स्वतन्त्र है, जबकि प्रजापति की सृष्टि समवायी, असमवायी और निमित्तकारण के आधीन है, कवि की वाङ्मय रचना में शृङ्गारादि नौ रस हैं अतएव मनोहारी है, जबकि प्रजापति की सृष्टि में ६ रस हैं, और पुनरपि हृदयहारिणी नहीं है। परिणामतः प्रजापति की सृष्टि रचना की अपेक्षा कवि की वाङ्मय रचना श्रेष्ठ है। इसीलिये कहा है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्यते ॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥
भावान् चेतनानपि चेतनवद्चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

—ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धनाचार्य)

राजशेखर ने कवि को तीन प्रकार का कहा है—शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभय-कवि। इनमें से जो शास्त्र का निर्माण करता है, वह **शास्त्रकवि**, जो शास्त्र में काव्य जो करता है वह **काव्यकवि** और जो काव्य में शास्त्र की योजना करता है वह **उभय-कवि** कहलाता है।

कवि में अभीष्ट समस्तगुणों का वर्णन संगीतमकरन्द में इसप्रकार हुआ है—

शुचिर्दक्षः शान्तः सुनृजनविनतः सुततरः ।
कलावेदी विद्वानतिमृदुपरः काव्यचतुरः ॥
रसज्ञो दैवज्ञः सरसहृदयः सत्कुलभवः ।
शुभाकारच्छन्दो गुणगणविवेकी स च कविः ॥

(ख) काव्यपुरुषः—

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा के प्रथम अध्याय में "**काव्यपुरुष**" का उल्लेख किया है, जो सम्पूर्ण सिद्धान्तों का जानने वाला, दिव्यदृष्टि से भविष्यदर्थ को जान लेने वाला था। इस "**काव्यपुरुष**" को ब्रह्मा ने "**काव्यविद्या**" का उपदेश किया। तदनन्तर इस काव्य पुरुष से अठारह विभागों में विभक्त काव्यविद्या का ज्ञान **निम्न आचार्यों** ने निम्नप्रकार से प्राप्त किया। तद्यथा—

(१) इन्द्र ने "**कविरहस्य**" नामक अधिकरण को, (२) उक्तिगर्भ नामक शिष्य ने "**औक्तिक**"=**उच्चारण क्रिया लक्षण वाली उक्ति** को, (३) सुवर्णनाभ ने "**रीति-निर्णय**" को, (४) वरुण ने "**आनुप्रासिक अधिकरण**" को, (५) यमराज ने '**यम-काधिकरण**" को, (६) चित्राङ्गद ने "**चित्राधिकरण**" को, (७) शेषनाग ने "**शब्द-श्लेषाधिकरण**" को, (८) पुलस्त्य ने "**वास्तव स्वभावोक्ति सम्बन्धी अधिकरण**" को (९) औपकायन ने "**औपम्याधिकरण**" को, (१०) पाराशर ने "**अतिशयाधिकरण**" को, (११) बृहस्पति के बड़े भाई उतथ्य ने "**अर्थश्लेष**" को, (१२) कुबेर ने "**उभयालं-कारिक** को, (१३) कामदेव ने "**वैनोदिक=६४ कलाओं और १०४ उपकलाओं**" को, (१४) भरत ने "**रूपकाधिकरण**" को, (१५) नन्दिकेश्वर ने "रसाधिकरण" को, (१६) विषण ने "**दोषाधिकरण**" को, (१७) उपमन्यु ने "**गुणाधिकरण**" को और (१८) कुचमार ने "**उपनिषद्‌ रहस्य**" को पढ़ा। इसके पश्चात् इन्होंने पृथक्-पृथक् अपने-अपने शास्त्रों का निर्माण किया। इसीलिये भामह ने कहा है कि—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न सा विद्या न सा कला ।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥

काव्यमीमांसा के तृतीय अध्याय में उस "**काव्यपुरुष**" के स्वरूप का इसप्रकार वर्णन है—

शब्द और अर्थ शरीर हैं, संस्कृत मुख है, प्राकृत भुजायें हैं, अपभ्रंश जंघायें हैं, पैर पैशाच हैं, मिश्र वक्षःस्थल है। कहा भी है—

संस्कृतं प्राकृतं मिश्रं विकृतं भूतभाषितम् ।
काव्यस्याङ्गत्वमायान्ति भाषाश्चैताः पृथक् पृथक् ॥

तटस्थों के प्रति सम, मित्रों के प्रति प्रसन्न, कथाप्रसङ्गों में मधुर, याचकों के प्रति **उदार** और शत्रुओं के प्रति ओजस्वी है, वचन वक्रोक्ति रूप हैं, रस आत्मा है, छन्द रोमस्थानीय हैं, प्रश्नोत्तर और प्रहेलिका आदि वाक्केलि हैं, अनुप्रास और उपमादि अलङ्कार अलङ्करण हैं। साहित्यदर्पण में इस काव्यपुरुष के स्वरूप का इसप्रकार वर्णन है—

काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्" इति। अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, उसके अन्दर विद्यमान रसादि आत्मा है, जिसप्रकार शौर्यादि गुण, काणत्वादि, खञ्जत्वादि और मूर्खत्वादि दोष क्रमशः पुरुष की उन्नति और अवनति के कारण होते है, उसीप्रकार काव्य के भी गुण उसके उत्कर्ष के आधायक होते हैं तथा दोष शब्द और अर्थ के माध्यम से रसादिकों की प्रतीति की प्रतिबन्धकता के द्वारा, रस की प्रकर्ष प्रतीति की प्रतिबन्धकता के द्वारा और रस की विलम्ब से प्रतीति की प्रतिबन्धकता के द्वारा आत्मभूत रस का अपकर्ष करते हुये रस के अपकर्षक होने के कारण दोष कहलाते हैं तथा रीतियाँ अवयवसंस्थान विशेष हैं।

इसप्रकार कवि और काव्यपुरुष का वर्णन करने के उपरान्त सम्प्रति काव्य के लक्षण पर विचार किया जा रहा है—

(ग) काव्यलक्षण—

भामह के काव्यालङ्कार से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के रसगङ्गाधर तक के समग्र साहित्यशास्त्र के उपलब्ध लक्षण ग्रन्थों के अन्दर किये गये काव्य लक्षण पर विचार करने से इस बात की प्रतीति होती है कि साहित्यशास्त्र के आचार्यो ने काव्य का लक्षण शब्द को आधार मानकर, शब्दार्थ को आधार मानकर तथा रस और ध्वनि को आधार मानकर–इसप्रकार तीन प्रकार से किया है। सम्प्रति यहाँ पर भी विभिन्न आचार्यों द्वारा किये गये काव्यलक्षणों पर इसी क्रम से विचार किया जायेगा।

(१) शब्द को आधार मानकर काव्य की परिभाषा करने वाले आचार्यों के मत इसप्रकार हैं—

(१) **दण्डी** ने अपने काव्य की परिभाषा शब्द को आधार मानकर की है। शब्द के महत्त्व के विषय में आचार्य दण्डी कहते हैं—

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥ काव्यादर्श १.४.

इन्होंने काव्य का लक्षण इसप्रकार किया है—"**शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली**" इति। अर्थात् इष्ट अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली तो शरीरमात्र है। यह लक्षण सामान्य होते हुये भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इन्होंने रूपकाव्य की सत्ता मानकर काव्य का मौलिक आधार शब्द को माना है।

कान्तिचन्द्र ने काव्यदीपिका में शब्द को काव्य-लक्षण का आधार माना है।

(२) जयदेव ने अपने चन्द्रालोक में काव्य का लक्षण इसप्रकार किया है—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥ चन्द्रालोक १.७.

अर्थात् पद, पदांश, वाक्य, वाक्यार्थ, रसगतादि काव्य के दोषों से शून्य (निर्दोषा), अक्षरसंहत्यादि लक्षणों से युक्त (लक्षणावती), पाञ्चाली, लाटी, गौड़ी, और वैदर्भी नामक काव्य की रीतियों से भूषित (सरीतिः), श्लेष, प्रसाद आदि गुणों से सुशोभित (सगुणा), शब्दार्थगत अनुप्रासोपमादि अलङ्कारों से चमत्कृत (सालङ्कार), शृङ्गारादि रसों से युक्त नाटकोपयुक्त कैशिक्यादि चार वृत्तियों, मधुरादि पञ्च वृत्तियों तथा अभिधादि तीन शब्दवृत्तियों से सम्बन्ध वाक् = वाणी को **काव्य** कहते हैं। इसप्रकार "**निर्दोषाद्युक्तधर्मविशिष्टं काव्यत्वमिति काव्यलक्षणं सम्पन्नम्**"—अर्थात् निर्दोषादि उक्त धर्मों से विशिष्ट काव्य '**काव्य**' कहलाता है। इसका यह भी अभिप्राय हुआ कि शब्दनिष्ठ काव्य होता है।

(३) रसगङ्गाधर के कर्ता पण्डितराज जगन्नाथ ने "**रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्**" से रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य माना है। लोकोत्तर आह्लाद को उत्पन्न करने वाले ज्ञान की अनुभूति का नाम "**रमणीयता**" है ("**लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता**")। उन्होंने अन्यत्र रमणीयता को इसप्रकार स्पष्ट किया है—

"**आह्लादापरपर्यायलोकोत्तरचमत्कारशालित्वमेवार्थनिष्ठं रमणीयत्वम्।**"

अर्थात् आह्लाद का दूसरा नाम रमणीय है तथा यह लोकोत्तर चमत्कारी भी है। "**तुम्हारे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है**", "**तुमको धन दूँगा**"—इस वाक्यार्थ से उत्पन्न होने वाला आनन्द लोकोत्तर नहीं कहलायेगा, अतः इस वाक्य के अन्दर "**काव्यत्व**" की प्रसक्ति नहीं होगी।

इस लक्षण में कटाक्षादि के निवारण के लिये "**शब्द**" कहा है, व्यञ्जनावृत्ति निष्पाद्य व्यंग्यार्थ का ग्रहण करने के लिये "**वाचक**" न कहकर "**प्रतिपादकः**" कहा है, रमणीय शब्द के प्रतिपादक व्याकरणादि के विषय में लक्षण अतिव्याप्त न हो जाये, अतः "**अर्थ**" कहा है तथा "**घटमानय**" इत्यादि सदृश वाक्यों का निराकरण करने के लिये "**रमणीय**" ऐसा कहा है। इसप्रकार "**स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकता-संसर्गेण चमत्कारवत्त्वमेव काव्यम्**"—यह काव्य लक्षण हुआ।

काव्य को शब्दनिष्ठ मानने वालों का कहना है कि "**औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः**" इत्यादि मीमांसा-सूत्र से शब्द और अर्थ का स्वाभाविक अविनाभाव **सम्बन्ध** के निश्चित हो जाने पर शब्दनिष्ठ काव्य को मानने से उसकी अर्थनिष्ठता **स्वयं** ही आ जाती है, फिर अर्थ का ग्रहण करना सर्वथा अनुचित ही है। **अर्थशून्य शब्द** में तो प्रयोग की योग्यता ही नहीं है, अतः काव्य को शब्दनिष्ठ ही समझना **चाहिये**।

(ख) शब्द और अर्थ को आधार मानकर काव्य का लक्षण करने वाले आचार्यों **के मत इसप्रकार हैं**—

(१) साहित्यशास्त्र पर वैज्ञानिक रीति से लिखने वाले सर्वप्रथम **आचार्य**

भामह हैं। इन्होंने काव्य का लक्षण "**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**" (काव्यालङ्कार १.१६) अर्थात् सामञ्जस्यपूर्ण शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं, किया है। इसप्रकार भामह ने शब्द और अर्थ में काव्यत्व का प्रतिपादन करके अपनी सूक्ष्म विवेचना शक्ति का परिचय दिया है।

(२) **रुद्रट** ने "**ननु शब्दार्थौ काव्यम्**" लक्षण कर भामह का ही अनुकरणमात्र किया है।

(३) **वामन** काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (१.१.१-३) में कहते हैं कि-"**काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोः वर्तते**"—अर्थात् गुणों और अलङ्कारों से संस्कृत शब्द और अर्थ के लिये "**काव्य**" शब्द का प्रयोग होता है। इसी को स्पष्ट करते हुये आगे लिखा है—"**काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्**"—अर्थात् काव्य अलङ्कार के कारण ग्राह्य होता है और "**सौन्दर्यमलङ्कारः**"—अर्थात् अलङ्कार का अर्थ है सौन्दर्य। और काव्य में यह सौन्दर्य "**स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्**" अर्थात् दोषों का त्याग और गुण तथा अलङ्कार के आदान से आता है। इसप्रकार वामन के अनुसार "**गुणों और अलङ्कारों से युक्त दोष से रहित शब्द और अर्थ का नाम "काव्य" है।**

(४) **वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक** ने काव्य का लक्षण किया है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ वक्रोक्तिजीवितम् १.७

अर्थात् काव्य मर्मज्ञों के आह्लादकारक सुन्दर (वक्र) कविव्यापार से युक्त रचना (बन्धे) में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं अर्थात् "**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**" यह काव्य लक्षण हुआ। कुन्तक के मत में "**तस्मान्न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं नाप्यर्थस्येति**"—अर्थात् न केवल कवि कौशल से कल्पित सौन्दर्यातिशय वाले शब्द को ही काव्य कहा जा सकता है और नहीं रचना के वैचित्र्य से चमत्कारी अर्थ को ही काव्य कहा जा सकता है, अपितु शब्द और अर्थ दोनों ही मिलकर काव्य कहलाते हैं—"**तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्**"। इसीलिये कुन्तक ने अपने काव्य लक्षण में "**सहितौ**" पद को स्थान दिया है अर्थात् शब्द और अर्थ "**सहितौ**"=सहभाव से, साहित्य से अवस्थित ही काव्य कहलाते हैं। कुन्तक ने भामह की "**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**" इस काव्य परिभाषा में वक्रोक्ति को सम्मिलित कर उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। इसप्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य उस कवि कौशलपूर्ण रचना को कहते हैं, जो अपने शब्द सौन्दर्य और अर्थ सौन्दर्य के अनिवार्य सामञ्जस्य के द्वारा काव्य मर्मज्ञों को आह्लाद देती है। वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुये कुन्तक ने कहा है कि—"**वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गीभणितिरुच्यते**"। कुन्तक ने काव्य शब्द का प्रयोग शब्द तथा अर्थ इन दोनों के समन्वय के लिये किया है।

(५) काव्यप्रकाश के रचयिता **मम्मटाचार्य** ने '**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणा-**

वनलंकृती पुनः क्वापि" काव्य का लक्षण किया है। अर्थात् च्युतसंस्कारादि दोषों से रहित, माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक गुणों के सहित, तथा अलङ्कारों से युक्त और यदि कहीं स्फुट अलङ्कार नहीं है तब भी, शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं। इसप्रकार काव्यप्रकाशकार के मत में भी "**शब्दार्थौ काव्यम्**" अर्थात् शब्द और अर्थ को काव्य माना गया है। काव्य के लक्षण में विद्यमान "**शब्दार्थौ**" में शब्द का पहले उल्लेख इसलिये किया गया है कि वह अर्थ का आश्रय होता है। इसीलिये "**नामरूपे व्याकरवाणि**" इस वैदिक प्रयोग में तथा "**वागर्थाविव सम्पृक्तौ**" इस लौकिक प्रयोग में शब्द का पहले उल्लेख किया गया है। उपर्युक्त लक्षण के अनुसार आचार्य मम्मट के मतानुसार (१) सरस किन्तु स्फुटालङ्कार सहित, (२) सरस किन्तु अस्फुटालङ्कार सहित, (३) नीरस स्फुटालङ्कार सहित और (४) नीरस अस्फुटालङ्कार सहित—ये चार काव्य के रूप में स्वीकार किये गये हैं। आचार्य मम्मट को अपने काव्य लक्षण की मूल प्रेरणा सम्भवतः वामन से प्राप्त हुई है। मम्मट के इस काव्य लक्षण की समालोचना तीन—आचार्य विश्वनाथ कविराज, पण्डितराज जगन्नाथ और जयदेव—ने की है। आचार्य विश्वनाथ कविराज ने उक्त लक्षण के **शब्दार्थौ** के तीनों विशेषणों **अदोषौ**, **सगुणौ** और **अनलंकृती पुनः क्वापि**–पर आपत्ति की है। पण्डितराज जगन्नाथ ने विशेष्य "**शब्दार्थौ**" पर तथा जयदेव ने "**अनलङ्कृती**" पर आपत्ति उठाई है।

(६) **वाग्भट्ट प्रथम** ने–"**साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम्।**
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥"

काव्य लक्षण किया है। इनकी दृष्टि से गुण और अलङ्कारों से सुशोभित, राति ओर रस मे युक्त शब्दार्थ काव्य माना गया है।

(७) **विद्याधर** ने एकावली में—"**शब्दार्थौ वपुरस्य शब्दार्थवपुस्तावत् काव्यम्**" कहकर शब्द और अर्थ को काव्य माना है।

(८) **विद्यानाथ** ने प्रतापरुद्री यशोभूषण में काव्य का लक्षण इसप्रकार किया है—

गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योभयं काव्यं काव्यविदो विदुः॥

अर्थात् गुण और अलङ्कारों से युक्त, दोष से रहित शब्द और अर्थ काव्य माने गये हैं।

(९) **अच्युतराय** ने साहित्यसार में काव्य का लक्षण—

तत्र निर्दोषशब्दार्थगुणवत्त्वे सति स्फुटम्।
गद्यादिबन्धरूपत्वकाव्यसामान्यलक्षणम् ॥

किया है।

(१०) **धर्मसूरि** ने साहित्यरत्नाकर में "**सगुणालंकृती काव्यं पदार्थौ दोषवर्जितौ**"—काव्य लक्षण किया है।

(११) क्षेमेन्द्र कविकण्ठाभरण में "**काव्यं विशिष्टशब्दार्थसाहित्यसदलंकृति**"—काव्य का लक्षण करते हैं अर्थात् शब्दार्थगत सदलंकृत **काव्य** ही श्रेष्ठ है।

(१२) **न्यायवागीश** ने अलंकारचन्द्रिका में काव्य का यह लक्षण किया है—

गुणालङ्कारसंयुक्तौ शब्दार्थौ रसभावगौ।
नित्यदोषविनिर्मुक्तौ काव्यमित्यभिधीयते॥

अर्थात् गुण और अलंकार से युक्त, रस और भाव का अनुगमन करने वाले तथा नित्यदोषों से रहित शब्द और अर्थ **काव्य** कहलाते हैं।

(१३) **वाग्भट्ट द्वितीय** ने अपने काव्यानुशासन में—"**शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम्**" काव्य का लक्षण किया है।

(१४) **समुद्रबन्ध** ने अलंकारसर्वस्य की टीका में इसप्रकार कहा है—

"**विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्**। तद्वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेनेति त्रयः पक्षाः इति। धर्मोऽपि द्विविधो नित्योऽनित्यश्च। अत्रानित्यधर्मोऽलंक्रियतेऽनेनेति करणव्युत्पत्या सिद्धोऽलंकारः। नित्यधर्मस्तु गुण एव। एवं व्यापारोऽपि द्विविधो वक्रोक्तिर्भावकत्वं च। तदित्थं प्राधान्येन पञ्चरूपतया व्यवस्थितोऽयमालंकारिकसमयः"।

यहाँ पर भी शब्द और अर्थ को काव्य माना गया है।

(१६) **राजशेखर** (काव्यमीमांसा, ६ अध्याय) के अनुसार "**गुणवदलंकृतञ्च काव्यम्**" अर्थात् गुणयुक्त, अलंकारयुक्त और निर्दोष (चकारात् निर्दोष) वाक्य ही काव्य होता है।

(१७) **माघ** ने अपने महाकाव्य शिशुपालवधम् (११.८६) में "**शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते**" और **महाकवि कालिदास** ने अपने रघुवंश महाकाव्यम् (१.१) में "**वागर्थाविव संपृक्तौ**" कहकर "**शब्दार्थौ काव्यम्**" इस काव्यत्व की ओर ही संकेत किया है।

(१८) **आनन्दवर्धनाचार्य** ने अपने ध्वन्यालोक में एक स्थल पर काव्य के लक्षण की ओर इसप्रकार संकेत किया है—"**सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्**" अर्थात् जो शब्द और अर्थ सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करते हैं, उनसे निर्मित होना ही काव्य का लक्षण है।

(१९) **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** ने "**तदेव काव्यमित्युक्तमुपदेशैर्विना कृतम्**" ऐसा कहकर शास्त्र और इतिहास से काव्य को पृथक् कर दिया है।

(ग) काव्य के निम्न लक्षण रस और ध्वनि को आधार मानकर किये गये प्रतीत होते हैं—

(१) साहित्यदर्पणकार **आचार्य विश्वनाथ कविराज** ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुये "**काव्यं रसात्मकं काव्यम्**" अर्थात् रसात्मक वाक्य को

काव्य कहा है। डा० सत्यव्रतसिंह (साहित्यदर्पण--भूमिका हिन्दी व्याख्या) इस काव्य परिभाषा पर टिप्पणी करते हुये लिखते हैं कि इस परिभाषा में रहस्यमयी भावनायें छिपी हैं, कवियों के कला के रहस्य का संकेत छिपा है, सहृदयों की सहृदयता की कसौटी छिपी है और अन्त में विश्वनाथ कविराज की वह रहस्यमयी संवेदना छिपी है, जो बताना तो चाहती है कि काव्य क्या है किन्तु यह न बताकर कविता पर कविता करने लगती है। विश्वनाथ कविराज की काव्य परिभाषा के महत्व के रूप में जो बात दिखाई देती है वह यह है कि इसी परिभाषा के द्वारा **"रसात्मक वाक्य"** और **"रसात्मक महाकाव्य"** अथवा **"महाकाव्य की रसात्मक एकवाक्यता"** का सिद्धान्त सबसे पहिले प्रवर्तित हुआ। विश्वनाथ कविराज से पहिले के सभी आलंकारिक **"महाकाव्य प्रबन्ध"** की दृष्टि से काव्य लक्षण न कर "काव्य वाक्य" की दृष्टि से ही काव्य लक्षण किया करते थे।

"ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषाञ्चिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेन्न। रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्"। (साहित्यदर्पण, प्रथमपरिच्छेद) इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य आलंकारिकों ने "मुक्तक" की दृष्टि से काव्य की परिभाषा की और विश्वनाथ कविराज ने "महाकाव्य प्रबन्ध" के आधार पर काव्य की परिभाषा की।

इसप्रकार **विश्वनाथ** कविराज की दृष्टि से "रस अर्थात् लोकोत्तर आनन्द जिस वाक्य में प्राप्त हो, उसी को काव्य कहते हैं। '**वाक्यम्**" के द्वारा कविता के कलापक्ष और "**रसात्मकम्**" के द्वारा भावपक्ष की समानता को स्वीकार करके कविता के दोनों ही पक्षों के अभेद को स्वीकार किया है।

(२) काव्यप्रकाशदीपिका में **श्री चण्डीदास** ने काव्य का लक्षण करते हुये **"आस्वादजीवातुः पदसन्दर्भः काव्यम्"** कहा है। इस लक्षण में यद्यपि शब्द को महत्व दिया गया है तथापि रस (आस्वाद) को काव्य का जीवन माना गया है।

(३) अलंकारशेखर में **शौद्धोदनि** ने "**काव्यं रसादिमद् वाक्यं श्रुतं सुख-विशेषकृत्**" काव्य का लक्षण किया है।

(४) **भोजराज** ने सरस्वतीकण्ठाभरण में—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

काव्य का लक्षण किया है। इनके अनुसार दोष का न होना, गुणों का होना, अलंकारों से अलंकृत और रसयुक्त काव्य होता है।

उपर्युक्त काव्य लक्षणों पर समीक्षात्मक दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि साहित्यशास्त्र के प्रारम्भ में शब्द अथवा शब्दार्थ को आधार मानकर काव्य लक्षण किये जाते रहे। किन्तु आगे चलकर काव्य की आतमा के रसरूप में निश्चित हो जाने पर शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना जाने लगा।

६. पारिभाषिक शब्दविवेचन—

"साहित्य क्या है"? और "काव्यलक्षण" पर विवेचन करने के उपरान्त साहित्यशास्त्र के अन्दर प्रयुक्त होने वाले यत्किञ्चित् पारिभाषिक शब्दों पर विवेचन किया जा रहा है—

(१) साहित्य—"**सहितयोर्भावः साहित्यम्**"—अर्थात् सहित (शब्द और अर्थ) का भाव साहित्य कहलाता है। आचार्य कुन्तक के अनुसार साहित्य का अर्थ है—"**काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ के मध्य एक विशेष प्रकार के अलौलिक सौन्दर्य का सम्बन्ध**", शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध शाश्वत् है, "**सिद्धे शब्दार्थसम्बधे**" इति।

शब्दकल्पद्रुम में श्लोकमयग्रन्थ को **साहित्य** कहा गया है। तद्यथा—

"मनुष्यकृतश्श्लोकमयग्रन्थविशेषः **साहित्यम्**" इति।

(२) काव्य—"**तस्य (कवेः) कर्मस्मृतं काव्यम्**" (राजशेखर) अर्थात् काव्य कवि की कृति या कर्म है। परिणामतः "**विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्**" अर्थात् विशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं। आचार्य विश्वनाथ कविराज ने "**काव्य**" की परिभाषा इसप्रकार की है—

भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम्।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम्॥ षष्ठपरिच्छेद, ३२८।

अर्थात् संस्कृत, प्राकृतादि भाषा और बाह्लीकादि विभाषा (विरुद्ध भाषा) के नियम से (अर्थात् संस्कृतभाषा से काव्य का निर्माण करने पर विभाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये और विभाषा निर्मित काव्य के अन्दर संस्कृतभाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये) रचित, सर्ग से रहित, एक अर्थ के प्रतिपादक पद्यों से बना हुआ, सन्धियों के समुदाय से रहित सरस वाक्य समूह काव्य होता है।

(३) साहित्य और काव्य में अन्तर—

साहित्य—एक सुन्दर शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है और शब्द और अर्थ की सुन्दर अभिव्यक्ति काव्य है।

(४) महाकाव्य—'**सर्गबन्धो महाकाव्यम्**' (साहित्यदर्पण, षष्ठपरिच्छेद ३१५) अर्थात् जिसमें सर्गों का निबन्धन हो वह महाकाव्य होता है। ऋषिप्रणीत महाकाव्य में सर्ग का नाम **आख्यान** होता है। प्राकृत भाषाओं में निर्मित महाकाव्य में सर्ग का नाम "**आश्वास**" होना है और अपभ्रंश भाषा में निर्मित महाकाव्य में सर्ग का नाम "**कुडवक**" होता है।

(५) **महाकाव्य और काव्य में अन्तर**—महाकाव्य सर्गों में उपनिबद्ध होता है, जब कि **काव्य** सर्गों से रहित होता है। यह महाकाव्य की प्रणाली पर लिखा जाता है, पर इसमें महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षण घटित नहीं होते हैं।

(६) **खण्डकाव्य**—आचार्य विश्वनाथ ने इसका लक्षण इसप्रकार किया है—

"**खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च**" (षष्ठ परिच्छेद, ३२९)

अर्थात् महाकाव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला अर्थात् यत्किञ्चिल्लक्षणों से हीन, संस्कृत पद्यों से निर्मित **"खण्डकाव्य"** होता है। इसके अन्दर भाषा का नियम नहीं होता है। इसको इसप्रकार भी कहा जा सकता है कि इस खण्डकाव्य में जीवन के किसी एक अङ्ग का ही वर्णन किया जाता है और महाकाव्य की किसी घटना को लेकर ही काव्य का विषय बनाया जा सकता है। परन्तु यह घटना स्वतः अपने आप में पूर्ण होती है।

(७) **मुक्तककाव्य—"छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्"**

(साहित्यदर्पण, षष्ठपरिच्छेद, ३१४)

अर्थात् छन्दोबद्ध पद वाले काव्य को **"पद्य"** कहते हैं। इस पद्य से मुक्त अर्थात् दूसरे पद्य से निरपेक्ष काव्य **"मुक्तक"** काव्य कहलाता है। अभिनवगुप्ताचार्य ने कहा है कि—

"पूर्वापरनिरपेक्षया येन रसचर्वणा क्रियते तन्मुक्तम्"।

अर्थात् पूर्वापर प्रसङ्ग से निरपेक्ष होने से जिससे रस की चर्वणा की जाती है, उसे **"मुक्तक"** काव्य कहते हैं। अग्निपुराण में कहा है—**"मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्"**—अर्थात् मुक्तक रचना उस श्लोक को (पद्य को) कहते हैं जो सहृदयों को अपना अर्थ व्यक्त करने में समर्थ हो। कहने का आशय यह है कि इस मुक्तक काव्य में प्रत्येक छन्दोबद्ध पद्य अपने आप में पूर्ण और स्वतन्त्र रूप से रस का उद्रेक करने में समर्थ होता है।

(८) **महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तककाव्य में अन्तर**

महाकाव्य के अन्दर जहाँ सम्पूर्ण जीवन की अनेकरूपता अभिव्यक्त होती है, **खण्डकाव्य** में जीवन के विविधरूपों में से किसी एक रूप की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ **मुक्तककाव्य** में हृदय की कोई एक अनुभूति, कोई एक भाव अथवा कोई एक कल्पना अभिव्यक्त होती है।

(९) **गीतिकाव्य**—संगीतात्मक गेय मुक्तक **गीतिकाव्य** कहलाता है। इसमें रागात्मिका अनुभूति और आत्मीयता प्रधान होती है। **अथवा** भावावेश के साथ-साथ सङ्गीत तथा स्वर का सामञ्जस्य जिस काव्य में होता है, वह **गीतिकाव्य** कहलाता है।

(१०) **काव्य और सूक्ति में भेद**—काव्य में हृदय की कोमल वृत्तियों को रसाप्लावित करने की योग्यता होती है, जबकि सूक्ति में केवल चमत्कारपूर्ण कौतुक वृत्ति को तृप्त करने की सामर्थ्य होती है। भावाभिनिवेश काव्य है और उक्ति वैचित्र्य सूक्ति है। संस्कृत साहित्य की सूक्तियाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार की देन हैं अर्थात् संस्कृत काव्यों में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यास अलङ्कार सूक्ति ही है। सूक्तियों में शाश्वत् सत्य एवं तथ्यों का निर्देश रहता है।

(११) **काव्य और नाट्य**—भरतकृत नाट्यशास्त्र में काव्य और नाट्य

समानार्थक हैं—**"काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपात्मकमेव"......काव्यं च नाटचमेव च"** । आगे चलकर काव्य के श्रव्य और दृश्य दो भेद हो जाने पर नाटच की परिभाषा **"अवस्थानुकृतिर्नाटचम्"** हो गई अर्थात् काव्य में वर्णित धीरोदात्तादि अवस्थाओं का आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक इन चार प्रकार के अभिनय से तादात्म्य की अनुभूति **नाटच** कहलाता है। यह रसाश्रय होता है।

(१२) **नाटच, नृत्य और नृत्त में भेद**—

नाटच रसाश्रित होता है, नृत्य भावाश्रय होता है और नृत्त ताल और लय के आश्रित होता है।

(१३) **रस "आस्वाद्यत्वाद्रसः" "रस्यत इति रसः"**—अर्थात् आस्वादजन्य आनन्द रस होता है। भरतमुनि के अनुसार **"न रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"। "रसो वै सः"**—वह परमेश्वर रसमय है।

(१४) **सहृदय**—अभिनवगुप्त के अनुसार—

> **"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे ।**
> **वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः ॥**

अर्थात् काव्य के अनुशीलन तथा अभ्यास से अर्थात् निरन्तर काव्य के अध्ययन और चिन्तन से जिनका अन्तःकरण नितान्त विशद हो जाता है और जिनकी वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता होती है, वे **सहृदय** कहलाते हैं। इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—**"कवि के हृदय के साथ सम्वाद अर्थात् साम्य, एकरूपता धारण करने वाला व्यक्ति"** (हृदयसंवादभाजः)।

अन्यत्र कहा गया है—

> **कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु परेषु केवलम् ।**
> **वदद्भिरङ्गैः स्फुटरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः ॥**

अर्थात् कवि के व्यञ्जना घोषित गूढ़ अभिप्राय को समझकर जो शब्दों के द्वारा अपने हृदय के उल्लास की सूचना नहीं देता, अपितु रोमाञ्चित अङ्गों से ही जिसके हृदय की आनन्दानुभूति का ज्ञान होता है, वही सच्चा रसिक है, वही सहृदय है।

(१५) **वार्ता—"नाम्नान्योन्यकथनम्"** अथवा **"वार्ता नाम कुशलप्रश्नपूर्विका संकथा"**।

---

७. विश्वनाथ का काव्यलक्षण विवेचन—

आचार्य विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्यदर्पण के प्रथम परिच्छेद में **'काव्य स्वरूप'** पर विवेचन करते हुये काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण **"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"**, वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक के **"वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्"**, भोजराज के **अदोष गुणवत्काव्यमलंकारैरल-**

कृतम् । रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति" का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है ।

इसीप्रकार काव्य की आत्मा ध्वनि मानने वाले ध्वनिकार के "**काव्यरस्यात्मा ध्वनिः**" का तथा काव्य की आत्मा रीति को मानने वाले आचार्य वामन के "**रीतिरात्मा काव्यस्य**" काव्य का खण्डन किया है ।

उपर्युक्त मतों की विस्तृत समीक्षा करते हुये उनका निराकरण करने के उपरान्त अपने सिद्धान्तरूप से स्वीकृत काव्य के स्वरूप "**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**' की स्थापना की है । सम्प्रति इस विवेच्य प्रकरण का यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है —

(१) काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण का खण्डन

आचार्य मम्मट ने काव्य का लक्षण "**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि**" अर्थात् दोष रहित, गुणसहित और कहीं कहीं अलंकार शून्य अथवा अस्फुटालंकार वाले शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं, किया है । इस काव्य लक्षण पर विवेचन करते हुये आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि (१) "**अदोषौ**"--यदि दोष से रहित काव्य को ही काव्य माना जायेगा तो—

न्यक्कारो ह्ययमेव ये यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
धिग्धिक्छक्रजितं प्रवोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।।

इस श्लोक के अन्दर दो स्थानों पर "**न्यक्कारो ह्ययमेव**" में तथा '**स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः**" में "**विधेयाविमर्श**" दोष है । परिणामतः यह श्लोक काव्य की कोटि में नहीं आ सकता है, जबकि इसको सभी आचार्यों ने ध्वनित्वेन उत्तम काव्य माना है । **विधेयाविमर्श** दोष उसे कहते हैं, जहाँ विधेय का अप्राधान्यरूप से कथन होता है । "**न्यक्कारो ह्ययमेव**" में "**न्यक्कारः**" विधेय है और "**अयम्**" उद्देश्य है । नियमानुसार उद्देश्य "**अयम्**" को पहले आना चाहिये और "**न्यक्कारः**" को विधेय होने के कारण बाद में आना चाहिये । परन्तु यहाँ पर रचनावैपरीत्य के कारण अप्राधान्य का पहले निर्देश कर दिया गया है । इसीप्रकार '**स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः**"—में "**वृथा**" पद विधेय है, जो समास में आकर गौण हो गया है । अतः यहाँ पर भी "**विधेयाविमर्श**" दोष है । सम्प्रति यदि उक्त काव्य के लक्षण "**अदोषौ**" के अनुसार दोषराहित्य को ही काव्य मानेंगे तो यह उक्त पद्य काव्य नहीं होगा, परन्तु इसकी क्योंकि ध्वनित्वेन उत्तमकाव्यता आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ग्रन्थ "ध्वन्यालोक" में स्वीकार की है, अतः उक्त काव्य परिभाषा 'अव्याप्ति" दोष से ग्रस्त होने के कारण माननीय नहीं है, ।

यदि यह कहा जाये कि उक्त पद्य में जितने अंश में **विधेयाविमर्श** दोष है वहाँ

तो उसे **अकाव्य** मान लिया जाये और जितने अंश में ध्वनि है, वहाँ उसे काव्य मान लिया जाये तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इसप्रकार दो विरुद्ध अंशो से दोनों तरफ खींचा जाता हुआ काव्य और अकाव्य कुछ भी नहीं रहेगा। और फिर श्रुतिदुष्टत्वादि काव्य के दोष काव्य के किसी एक अंश को दोष से दूषित नहीं करते हैं, अपितु सम्पूर्ण काव्य को ही दूषित करते हैं। इसप्रकार यदि दोष से रहित ही काव्य को काव्य माना जायेगा, तब तो या तो दोषरहित काव्य का उदाहरण मिलेगा ही नहीं या फिर बहुत कम मिलेगा क्योंकि सर्वथा निर्दोष काव्य का मिलना सम्भव ही नहीं, असम्भव है।

यदि सर्वत्र काव्य में दोष सम्भव है तो "**तददोषौ शब्दार्थौ**" के अन्दर "**अदोषौ**" पद में "नञ्" समास का प्रयोग "**ईषदर्थ**" में मान लेंगे अर्थात् "**ईषद्दोषौ शब्दार्थौ**" ऐसी "**अदोषौ**' की व्याख्या कर लेंगे, परिणामतः काव्य लक्षण में **अव्याप्ति दोष** नहीं होगा। ठीक है, यदि "**अदोषौ**" की "**ईषद्दोषौ**" व्याख्या स्वीकार कर लेंगे तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि काव्य में थोड़ा न थोड़ा दोष अवश्य होना चाहिये और इसप्रकार फिर सर्वथा निर्दुष्ट काव्य, काव्य नहीं कहलायेगा। यदि काव्य का लक्षण "**सति सम्भवे इषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्**" अर्थात् दोषों की सम्भावना होने पर थोड़े दोष वाले शब्द और अर्थ काव्य होते हैं, बहुत दोष वाले नहीं, मान लें तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि काव्य में वर्तमान श्रुतिदुष्टत्वादि दोष काव्य के काव्यत्व को नष्ट नहीं करते अपितु उसके उत्कर्ष में कुछ न्यूनता ला देते हैं, जिसप्रकार कि रत्न के अन्दर कोई कीड़ा लग जाये तो उससे उस रत्न की रत्नता नष्ट नहीं होती अपितु उस रत्न की उपादेयता में कमी आ जाती है। इसप्रकार यदि शब्दार्थ के अन्दर कोई दोष विद्यमान है, किन्तु उसमें रसानुभूति में किसीप्रकार की बाधा नहीं पड़ती है तो वहाँ पर काव्यत्व को स्वीकार करने में कोई क्षति नहीं है। परिणामतः "**तददोषौ शब्दार्थौ**" परिभाषा के अनुसार काव्य को **अदोषौ** होना चाहिये; परन्तु क्योंकि निर्दुष्ट काव्य का मिलना सम्भव नहीं है, अतः यदि रस की अनुभूति में बाधा नहीं पड़ती तो दोष दुष्ट होने पर भी काव्य के अन्दर काव्यत्व माना जायेगा। इसप्रकार उक्त लक्षण में "**अदोषौ**" पद के अन्दर "**अव्याप्तिदोष**" है।

(२) **सगुणौ**—काव्य की परिभाषा में "**शब्दार्थौ**" का विशेषण "**सगुणौ**" भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि गुणों की स्थिति शब्द और अर्थ में न होकर रस में होती है, ऐसा स्वयं आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास के गुण प्रकरण में—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ ८.६६.

कहकर प्रतिपादन किया है अर्थात् गुण के तीन लक्षण हैं—(१) गुण रस के धर्म हैं, (२) उनकी नित्य स्थिति है और (३) वे रस के उपकारक होते हैं। और यदि यह कहो कि रसाभिव्यञ्जक होने के कारण गौणरूप से "**सगुणौ**" शब्दार्थों का विशेषण हो जायेगा तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि शब्द और अर्थ में रस है या नहीं है? यदि नहीं है तो गुणवत्ता भी नहीं है। और यदि रस है

तो फिर "**सगुणौ**" के स्थान पर "**रसवन्तौ**" ही कहना चाहिये था, सगुणौ नहीं। और यदि यह कहो कि "**सगुणौ शब्दार्थौ**" कहने से यह अभिप्राय है कि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ का काव्य में प्रयोग करना चाहिये तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य के अन्दर केवल उत्कर्ष के आधायक होते हैं, स्वरूप के नहीं। अतः काव्य की परिभाषा में "**सगुणौ**" विशेषण भी अनुपपन्न है।

(३) **अनलंकृती पुनः क्वापि**—काव्य का पुरुष के रूप में वर्णन करते हुये कहा गया है कि—"**काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्**" इति। अर्थात् काव्य के शब्द और अर्थ शरीर हैं, रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता आत्मा है, माधुर्य, ओज और प्रसाद-ये तीन गुण शौर्यादि की तरह हैं, श्रुतिदुष्टत्वादि दोष काणत्वादि की तरह हैं, वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी—ये चार रीतियाँ अवयव रचना की तरह हैं और अनुप्रासोपमादि अलङ्कार कटककुण्डलादि की तरह हैं। इस काव्यपुरुष के रूपक द्वारा काव्य के लक्षण में जो यह "**अनलंकृती पुनः क्वापि**" कहा गया है, उसका भी निराकरण समझना चाहिये। अर्थात् कहने का आशय यह है कि सर्वत्र शब्द और अर्थ अलङ्कारयुक्त होने चाहिये परन्तु यदि कहीं अस्फुट अलङ्कार वाले भी शब्द और अर्थ हैं तो वे भी काव्य कहलाते हैं। इस पूर्वोक्त काव्यपुरुष के रूपक में अलङ्कार कटककुण्डल के समान कहे गये हैं, अतः अलङ्कारयुक्त शब्द और अर्थ भी काव्य में उत्कर्षमात्र का आधान करने वाले होते हैं, स्वरूप का आधान करने वाले नहीं हैं। अतः काव्य के लक्षण में "**अनलंकृती पुनः क्वापि**" का अलंकारों के स्वरूपाधायक न होने के कारण ग्रहण नहीं करना चाहिये।

(२) आचार्य कुन्तक के काव्यलक्षण "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" का खण्डन—
आचार्य कुन्तक ने काव्य का लक्षण "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" अर्थात् वक्रोक्ति काव्य का जीवन है, किया है। आचार्य विश्वनाथ कविराज कहते हैं कि उपर्युक्त काव्य पुरुष के वर्णन के द्वारा कुन्तक का यह लक्षण भी निरस्त हुआ समझना चाहिये क्योंकि **वक्रोक्ति** केवल मात्र एक अलङ्कार मात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं। और अलङ्कार स्वरूप के आधायक न होकर उत्कर्ष का आधान करने वाले होते हैं। इसका आशय यह हुआ कि आचार्य कुन्तक जहाँ वक्रोक्ति को काव्य का जीवनसर्वस्व और प्राणभूत मानते हैं, वहाँ आचार्य विश्वनाथ वक्रोक्ति को एक अलङ्कार से अधिक और कुछ नहीं मानते हैं।

(३) भोजराज के काव्यलक्षण का खण्डन—

भोजराज ने अपने ग्रन्थ "**सरस्वतीकण्ठाभरण**" में काव्य का लक्षण इसप्रकार किया है—

"अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्ति प्रीतिं च विन्दति ॥" इति ॥

अर्थात् दोष शून्य, सगुण, अलङ्कारों से अलंकृत और रसयुक्त काव्य को करता हुआ कवि कीर्ति और प्रीति को प्राप्त करता है। भोजराज के किये हुये उक्त काव्य लक्षण का भी खण्डन आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण के खण्डन के समान समझना चाहिये। क्योंकि दोष, गुण आदिकों का काव्य के स्वरूप में निवेश नहीं हो सकता है।

इसप्रकार उपर्युक्त तीन काव्य लक्षणों का खण्डन करने के उपरान्त आचार्य विश्वनाथ ध्वनि और रीति को काव्य की आत्मा मानने वालों के मत का खण्डन करते हैं।

(१) ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने "**काव्यस्यात्मा ध्वनिः**" कहकर काव्य की आत्मा ध्वनि को माना है। आचार्य विश्वनाथ का कहना है कि क्या वस्तु, अलंकार और रस-इन तीनों प्रकार की ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हो? अथवा केवल रसादि ध्वनि को ही? इनमें से आचार्य विश्वनाथ रसादि ध्वनि को तो स्वीकार करते हैं, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को नहीं। अतः यदि ध्वनिकार रसादि ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं तब तो आचार्य विश्वनाथ को कोई आपत्ति नहीं है। और यदि वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को भी काव्य की आत्मा मानते हैं तो विश्वनाथ का कहना है कि इस अवस्था में यहाँ **अतिव्याप्ति नामक दोष** हो जायेगा, क्योंकि फिर यह लक्षण प्रहेलिकादि में भी चला जायेगा, जहाँ कि वस्तु ध्वनित होती है। इसी-प्रकार आचार्य विश्वनाथ—

> **"श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं दिवस एव प्रविलोकय।**
> **मा पथिक रात्र्यन्ध, शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि॥**

इत्यादि स्थलों में रसाभास के कारण काव्य मानते हैं। वे इसमें "**अपनी शय्या पर प्रवेशरूप वस्तु को व्यंग्य**" नहीं मानते हैं, जैसा कि दूसरों ने माना है। विश्वनाथ का कहना है कि उक्त पद्य के अन्दर आगन्तुक पथिक के प्रति दूती नायिका का अनुराग प्रतीत होता है, अतः **शृंगाररसाभास** है, वस्तु व्यंग्यता नहीं। यदि वस्तु ध्वनि को काव्य मानने लग जायेंगे तब तो "**देवदत्तो ग्रामं याति**" में भी "**देवदत्त के भृत्य का उसके पीछे जाना**" व्यंग्य होने पर काव्यत्व का प्रसंग होगा जो कि ठीक नहीं हैं क्योंकि सरस वाक्य को ही काव्य माना गया है, नीरस वाक्य को नहीं। तद्यथा—

> "**वाग्वैदग्धप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्**" इति॥ अग्निपुराण

इसप्रकार आचार्य विश्वनाथ रसादिध्वनि को तो काव्य की आत्मा मानते हैं, वस्तु-ध्वनि और अलंकार ध्वनि को नहीं। इसलिये यहाँ पर रसादिध्वनि से भिन्न ध्वनि का खण्डन समझना चाहिये।

(२) **आचार्य वामन के "रीतिरात्मा काव्यस्य" का खण्डन—**

अलकारसूत्र के प्रणेता आचार्य वामन ने "**रीतिरात्मा काव्यस्य**" अर्थात् "**काव्य की आत्मा रीति**" को माना है। आचार्य विश्वनाथ जी का कहना है कि वामन का उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि "**रीतेः संघटनाविशेषत्वात्**" अर्थात् रीति

संघटना विशेष है अर्थात् विशिष्ट प्रकार की रचना रीति कहलाती है। और संघटना शरीर के अंग विन्यास के तुल्य होती है वह आत्मा नहीं हो सकती। आत्मा शरीर से भिन्न होती है। अतः रीति काव्य की आत्मा नहीं है।

इसप्रकार आचार्य विश्वनाथ ने उपर्युक्त पाँच मतों का निराकरण करके अपने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की है। आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि उपर्युक्त पाँच काव्य लक्षणों के सदोष होने के कारण काव्य का स्वरूप अथवा लक्षण "**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**" अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। कहने का आशय यह है कि जहाँ प्रधान तया रस का सद्भाव होगा, वहाँ काव्य कहलाया जायेगा, अन्यत्र नहीं। "**रस्यत इति रसः**" इस व्युत्पत्ति के योग से रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता सभी का ग्रहण समझना चाहिये। अर्थात् जहाँ इनमें से किसी का भी सद्भाव होगा, वहीं काव्यत्व होगा।

---

(८) तिस्रः शब्दस्य शक्तयः

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ कविराज ने अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण के द्वितीय परिच्छेद में अन्य आचार्यों के समान तीन शब्द शक्तियों अर्थात् अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना का विवेचन किया है। तदनन्तर पञ्चम परिच्छेद में "**अथ केयमभिनवा व्यञ्जना नाम**"—इसप्रकार की शंका उठाकर **व्यञ्जनावृत्ति** की स्थापना की है। सम्प्रति इन अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना की क्रमशः व्याख्या की जा रही है—

काव्य में शब्द तीन प्रकार का होता है—वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक। इन तीन प्रकार के शब्दों में से वाचक शब्द लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों का उपजीव्य होता है और व्यञ्जक शब्द के वाचक और लाक्षणिक शब्द उपजीव्य होते हैं। इन तीन प्रकार के शब्दों से प्रतिपाद्य तीन प्रकार के ही अर्थ होते हैं--तद्यथा-वाचक शब्द का अर्थ वाच्य, लाक्षणिक शब्द का अर्थ लक्ष्य और व्यञ्जक शब्द का अर्थ व्यंग्य होता है। इसप्रकार क्रमशः वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थ होते हैं। वाचक शब्द का वाच्य अर्थ जिस शक्ति से प्रतीत होता है, वह **अभिधाशक्ति** कहलाती है, लाक्षणिक शब्द का लक्ष्यार्थ जिस शक्ति के प्रतीत होता है, वह **लक्षणा** शक्ति कहलाती है और व्यंजक शब्द का व्यंग्यार्थ जिस शक्ति से प्रतीत होता है, वह **व्यञ्जना** शक्ति कहलाती है। कहा भी है—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यंग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्र शब्दस्य शक्तयः॥ साहित्यदर्पण २.३.

(१) अभिधा शक्ति—

यत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा॥ साहित्यदर्पण २.४.

अर्थात् संकेतित (मुख्य) अर्थ का (कोश, व्याकरणादि से नियन्त्रित अर्थ का) ज्ञान

कराने से सबसे पहली शक्ति का नाम **अभिधा शक्ति** है । यह अभिधा नामक शक्ति **"इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहि "** इसप्रकार की ईश्वरेच्छारूपशक्ति से भिन्न है क्योंकि यदि अर्थ बोध ईश्वरेच्छारूप मानेंगे तो जो ईश्वर को नहीं मानते हैं उनको अर्थ का ज्ञान किसप्रकार होगा । और ईश्वर बिना स्वीकार किये भी उनको शब्द के अर्थ का ज्ञान होता ही है, अतः अभिधा नामक शक्ति ईश्वरेच्छारूप शक्ति से भिन्न है ।

ऊपर वर्णित संकेतिक अर्थ चार प्रकार का होता है । तद्यथा—

"संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च" । साहित्यदर्पण २.४. अर्थात् संकेत का ग्रहण जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में होता है । (१) **"पदार्थस्य प्राणप्रदः"** जाति कहलाती है अर्थात् पद के उद्देश्य गौ आदि की (**पदार्थस्य**) व्यवहार की योग्यता का निर्वाह करने वाली (**प्राणप्रदः**) **जाति** होती है अर्थात् जो सभी गो व्यक्तियों में रहने वाली है, वह "**जाति**" होती है । इसीको रसगंगाधर में इसप्रकार कहा गया है— **"अयं च जातिरूपः शब्दार्थः प्राणप्रद इत्युच्यते । प्राणं व्यवहारयोग्यतां प्रददाति-सम्पादयतीति व्युत्पत्तेः"** । तथा भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय में इसप्रकार कहा गया है:—

"न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः" इति । अर्थात् "**गौ**" इस पद के द्वारा सास्नादिमान् धर्मी गौ का स्वरूप से रहित केवल व्यक्तिमात्र से "**गौ**" का बोध नहीं होता, नहीं "**अगौ**" = गौ नहीं है, ऐसा भी बोध नहीं होता है क्योंकि वह सर्वथा गौ से भिन्न भी नहीं है, अपितु "**गौ + त्व**" इस जाति सम्वन्ध से ही "**गौ**" इस पद से गौ का बोध होता है । इसप्रकार वस्तु का प्राणप्रद जीवनाधायक वस्तु धर्म "**जाति**" कहलाता है । (२) **"गुणो विशेषाधानहेतुः सिद्धो वस्तुधर्मः"** अर्थात् पदार्थ में विशेषता का आधान करने का कारणभूत वस्तुधर्म जो पहले से सिद्ध (नित्य) है, "**गुण**" कहलाता है क्योंकि **"शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते"** अर्थात् शुक्ल आदि गुणों के कारण से ही सत्ताप्राप्त वस्तु (जाति से व्यवहार की योग्यता को प्राप्त वस्तु) अपने सजातीय अन्य पदार्थों से भिन्नता को प्राप्त होती है । महाभाष्य में (**"वोतो गुणवचनात्"**) ४/१/४४ सूत्र पर) गुण का लक्षण इसप्रकार किया गया है--

सत्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्वप्रकृतिर्गुणः ॥

अर्थात् जो पदार्थ में रहता है, पदार्थ से भिन्न किया जा सकता है और जो भिन्न जातीय द्रव्यों में भी निवास करता है, **आधेय**-जो उत्पन्न किया जा सके, आकाश में महत्त्व के समान स्वयं सिद्ध हो और जो द्रव्य से भिन्न हो, उसे गुण कहते हैं ।

(३) **"द्रव्यशब्दाः एकव्यक्तिवाचिनो हरिहरडित्थडवित्थादयः"** अर्थात् एक व्यक्ति

के वाचक हरि, हर, डित्थ, डवित्थ आदि **द्रव्य शब्द** अथवा **यदृच्छा शब्द** कहलाते हैं। द्रव्य को ही संज्ञा कहते हैं और संज्ञा दो प्रकार की होती है—(१) चिरन्तनी और (२) आधुनिकी। **चिरन्तनी** के उदाहरण हैं—हरि, हर आदि और **आधुनिकी** के उदाहरण हैं—डित्थ, डवित्थ आदि। (४) "**क्रिया साध्यरूपा वस्तुधर्माः पाकादयः**" अर्थात् वस्तु साध्यरूप धर्म पाकादि क्रिया कहाते हैं। इसप्रकार क्रिया जहाँ साध्य होती है, वहाँ गुण सिद्ध होते हैं अर्थात् गुण वस्तु में पहले से विद्यमान रहते हैं। इसीलिये गुण "**सिद्ध वस्तु धर्म**" कहलाते हैं और क्रिया "**साध्य धर्म**" कहलाती है। काव्य-प्रकाशकार ने क्रिया को "**साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः**" कहा है, अर्थात् **साध्यरूप** वस्तुधर्मों में अधिश्रयण से लेकर अर्थात् किसी पात्र के चूल्हे पर चढ़ाने से अवश्रयण तक अर्थात् पक जाने के बाद नीचे उतारने तक पहले और बाद के कार्य-व्यवहारों का समुदाय है वह सब पाकादि शब्द से व्यवहृत होता है अर्थात् उन सब क्रिया-कलापों का नाम "**पाक**" है। इसप्रकार इन्हीं चारों के मध्य जो व्यक्ति के उपाधि धर्म जाति, गुण और क्रियारूप हैं, उन्हीं में संकेत का ग्रहण होता है, व्यक्ति में नहीं। क्योंकि व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से **आनन्त्य** और **व्यभिचार** दोष आते हैं। इसीलिये महाभाष्यकार ने कहा है कि—"**गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः**" इति। इसप्रकार महाभाष्यकार पतञ्जलि के मतानुसार संकेतग्रह जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा = द्रव्य = संज्ञा—इन चार में निवास करता है।

उपर्युक्त मत के विपरीत मीमांसक केवल जाति में ही संकेतग्रह स्वीकार करते हैं। मीमासकों का सिद्धान्त यह है कि केवल जाति को ही शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त मानना उचित है। जाति शब्दों के समान गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्दों में भी जाति में ही संकेतग्रह मानना चाहिये। तद्यथा-शङ्ख, दूध, बर्फ आदि अनेक शुक्ल पदार्थों में **शुक्लः**, **शुक्लः** यह अनुगत प्रतीति अथवा एकाकार प्रतीति होती है इसका कारण "**शुक्लत्वसामान्य**" ही है। "**जाति**" का ही दूसरा नाम "**सामान्य**" हैं। इसी-प्रकार गुड़, तण्डुल आदि अनेक पदार्थों में रहने वाली पाक क्रिया में अनुगत प्रतीति का कारण "**पाकत्वसामान्य**" है। इसीप्रकार विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा उच्चरित यदृच्छा शब्द और प्रतिक्षण परिणाम के कारण विद्यमान अनेक अर्थों में भी सामान्य का अनुसन्धान किया जा सकता है। अतः जाति शब्दों के समान गुण-क्रिया और यदृच्छा में भी जाति में ही संकेतग्रह मानना चाहिये।

नैय्यायिका जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह मानते हैं। बौद्ध दार्शनिकों के मत में शब्द का अर्थ "**अपोह**" होता है और "**अपोह**" का अर्थ "अतद्व्यावृत्ति" या "तद्भिन्नभिन्नत्व" है। बौद्ध जाति का काम "अपोह" से निकालते हैं। इसलिये ये "अपोह' में ही शक्ति मानते हैं।

शक्तिग्रह के अन्य कारण भी होते हैं। तद्यथा—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धा ॥

क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) व्याकरण से नियन्त्रित—"दाक्षि" पद का अर्थ "दक्षपुत्र" है, यह बात **व्याकरण** (दक्षस्यापत्यं दाक्षिः—"अत इञ्") से प्रतीत होती है।

(२) **उपमान से नियन्त्रित**—"**गोसदृशो गवयः**" इत्यादि। गाय के सदृश पिण्ड (व्यक्ति) को देखकर "**गाय के समान गवय होता है**" इस पूर्व वाक्य के स्मरण द्वारा "यह गवय है" इसप्रकार का ज्ञान **उपमान** के द्वारा होता है।

(३) **कोष से**—"विनायके विघ्नराजो द्वैमातुरगलभधिषाः" इत्यादिक ज्ञान कोष के द्वारा होता है।

(४) **आप्त वाक्य से**—"अयमश्वशब्दवाच्यः" इत्यादि।

(५) **व्यवहार से**—जिस समय कोई वृद्ध व्यक्ति अपने से आयु में कम किसी युवक को लक्ष्य करके कहता है कि "**गामानय**" इति। उस समय उस स्थान पर बैठा हुआ बालक (जिसको संकेत का ज्ञान नहीं है) उस युवक को गाय को लाने में प्रवृत्त देखकर सर्वप्रथम उस वाक्य का शक्ति ग्रहण से पूर्व "सारनादिमान् पिण्ड को लाने रूप" अर्थ का मन ही मन निर्धारण कर लेता है। तदनन्तर "**गां बधान अश्वमानय**" ऐसा कहने पर अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अर्थात् "गाय बाँध दो" यहाँ पर गो पद से सास्नादिमान् पदार्थ का बोध हुआ तथा "बधान" इसके द्वारा पहले कहे गये "आनय" इस पद से भिन्न लाये जाने वाले पदार्थ बोध का अभाव हुआ अर्थात् पहले तो "गामानय" ऐसा कहने पर बालक ने देखा था कि वृद्ध व्यक्ति के कहने के साथ ही युवक उठकर चल दिया था और सास्नादिमान् पदार्थ को लाया था परन्तु "बधान" कहने पर वह इस "आनयन" क्रिया का अभाव देखता है। इसीप्रकार "**अश्वमानय**" यहाँ पर उस बालक ने देखा कि इस बार "गामानय" की तरह सास्नादिमान् पदार्थ का अभाव हुआ और "आनय" इस पद से आहरण की क्रिया पूर्ववत् हुई (ऐसा ज्ञान उस बालक को अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा होता है)। "गो" शब्द का "सास्नादिमान्' अर्थ और "आनय पद का "लाना" अर्थरूप पृथक् से निर्धारित करता है।

(६) **वाक्य के शेष होने से**—"**यदमयश्चरुर्भवति**"। यहाँ पर प्रश्न पैदा होता है कि यहाँ पर विद्यमान "यव" शब्द वसन्तकालीन शस्यविशेष का बोधक है अथवा यवनों में प्रसिद्ध कङ्कुनाम शस्यविशेष का बोधक है। इस अवस्था में—

वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम्।
मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः॥

इस वाक्यशेष से वसन्तऋतु में उत्पन्न होने वाले यव का ही ग्रहण होता है।

(७) **विवृत्ति=विवरण से**—"**रामो दाशरथिः**" इत्यादि। यहाँ पर "रामः" का अर्थ परशुराम न लिया जाकर दशरथ के पुत्र राम का ग्रहण होता है।

(८) **सिद्ध पद के सान्निध्य से**—"**प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति**" इत्यादि। "**विकसित कमल के मध्यभाग में मधुकर मधु का पान कर रहा है।**" यहाँ

पर "कमलोदरे मधूनि पिबति" इसप्रकार के पदों की अन्वय योग्यता को बताने वाले ज्ञान के द्वारा "मधुकरः" इस पद का "भ्रमर" में ही शक्तिग्रह है, मधुमक्खी के अन्दर नहीं। यद्यपि "मधुकरः" इस पद के अन्दर "मधुमक्खी" यह दूसरा अर्थ बताने की योग्यता है, परन्तु वक्ता के तात्पर्य विशेष के कारण इसका शक्ति ग्रहण नहीं होगा। कमल के अन्दर भ्रमर ही रसपान करता है, ऐसा जानने वाला मनुष्य कमल पद के साहचर्य से "मधुकरः" पद का अर्थ "भ्रमर" ग्रहण कर लेता है।

इन उपर्युक्त उपायों से ज्ञात हुये संकेतित अर्थ का ज्ञान कराने वाली, दूसरी शक्ति से अव्यवहित शब्द की अभिधा नामक शक्ति होती है। कहने का आशय यह है कि जिसप्रकार लक्षणादि शक्तियों से पूर्व अभिधा शक्ति का होना आवश्यक है उस-प्रकार अभिधा से पूर्व कोई अन्य शक्ति अपेक्षित नहीं है।

कुछ आचार्य इस अभिधा वृत्ति को शब्द की स्वाभाविक शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। वे इसके स्थान पर **रूढसम्मति**=लोकप्रसिद्धि को शब्दों के अर्थ का ज्ञान कराने में कारण मानते हैं। किन्तु कुछ आचार्यों का कहना है कि अभिधा का ही दूसरा नाम "**रूढसम्मति**" है।

---

२. लक्षणा-शक्ति

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता॥ साहित्यदर्पण २·५

अर्थात् मुख्यार्थ का बाध होने पर (अर्थात् अभिधा के द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ का काव्य में अभिमत तात्पर्य अर्थ का ज्ञान कराने में अनुपपन्न होने पर) मुख्यार्थ से सम्बन्धित (किन्तु) मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ रूढि होने के कारण अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा होता है वह **अर्पिता=आरोपित** अर्थात् **अस्वाभाविक** अर्थात् **काल्पनिक** शक्ति लक्षणा कहलाती है।

इसप्रकार लक्षणा की उपपत्ति के लिये चार कारण बताये गये हैं। तद्यथा— (१) मुख्यार्थ का बाध (२) तद्योग=मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध (३) रूढि या (४) प्रयोजन। इनमें से लक्ष्यार्थ ज्ञान के लिये प्रथम दो का होना तो परम आव-श्यक हैं परन्तु अन्तिम दो में से (रूढि अथवा प्रयोजन) किसी एक का ही होना आव-श्यक है। इसप्रकार लक्षणा की प्रवृत्ति में तीन ही कारण हुये—(१) मुख्यार्थबाध (२) तद्योग=मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध और (३) रूढि और प्रयोजन में से कोई एक।

उक्त कारिका के अन्दर "**मुख्यार्थबाधे तद्युक्तः**" ऐसा कहकर हेतुपूर्वक विशेष अर्थ को प्रतिपादित करने वाली लक्षणा के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ के स्वरूप का निरूपण किया गया है। "**ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते**" इससे लक्षणा के लक्षण को स्पष्ट किया है। "**रूढेः प्रयोजनाद्वा**" इसप्रकार से लक्षणा के दो भेद किये गये—(१) रूढि-

मूला लक्षणा और (२) प्रयोजनमूला लक्षणा। "**अर्पिता**" कहकर अभिधा शक्ति से लक्षणा की भिन्नता प्रदर्शित की है। "**राजत्युमावल्लभः**" इत्यादि शाब्दीव्यञ्जना के अन्दर भी लक्षणा की प्रसक्ति के अति प्रसङ्ग के निवारण के लिये "**मुख्यार्थबाधे**" कहा है क्योंकि यदि मुख्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ की उपस्थिति भी लक्षणा से मान ली जाये तब तो "**गङ्गायां घोषः**" इत्यादि वाक्य में गंगादि पद से यमुनातट आदि भी उपस्थित होने लगेंगे। इसीलिये कहा है कि "**तद्युक्तः**" मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का ज्ञान भी लक्षणा का कारण माना गया है। मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ का ज्ञान इस लक्षणा के द्वारा होता है, ऐसा स्पष्ट करने के लिये "**अन्योऽर्थः**" कहा गया है। "**रूढ़ेः प्रयोजनाद्वा**" के आधार पर लक्षणा दो प्रकार की होती है—(१) **रूढ़ि लक्षणा** और (२) **प्रयोजनवती लक्षणा**। क्रमशः उदाहरण—

(१) **रूढि लक्षणा का उदाहरण—"कलिङ्गः साहसिकः"** कलिङ्ग देश साहसी है—

इस उदाहरण में "**कलिङ्ग**" शब्द अपने "देशविशेषरूप" वाच्य अर्थ में (साहसी अर्थ में) घटित न होता हुआ (क्योंकि कलिङ्ग देश जड़ है और साहसी होना चेतन का धर्म है, अतः कलिङ्ग शब्द अपने वाच्यार्थ में घटित नहीं होता है) कलिङ्ग देश में रहने वाले पुरुषों को लक्षणावृत्ति से लक्षित करता है। कहने का आशय यह है कि उपर्युक्त उदाहरण में "**कलिङ्गः**" शब्द का अपना अर्थ है "**देशविशेष**" और "**साहसिकः**" का अर्थ है "**साहसी**"। परन्तु यह साहस, जो चेतन का धर्म है, जड़ पदार्थ (कलिङ्ग देश) में नहीं रह सकता, अतः देश के वाचक कलिङ्ग शब्द का साहसी के साथ अन्वय घटित नहीं हो सकता। इसप्रकार कलिङ्ग शब्द अपने मुख्यार्थ "देश" अर्थ में बाधित होने के कारण संयोग सम्बन्ध से उस देश में रहने वाले पुरुषों का लक्षणा से ज्ञान कराता है और इसका अर्थ होता है "**कलिङ्ग देश में रहने वाले पुरुष साहसी हैं**"। इस लक्ष्यार्थ ज्ञान में रूढ़ि = प्रसिद्धि कारण है। अतः इस उदाहरण में "**रूढि लक्षणा**" है।

(२) **प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण—"गङ्गायां घोषः"** = गंगा में ग्राम है। इस उदाहरण में गंगा शब्द प्रवाह विशेष रूप अपने वाच्यार्थ ("गङ्गा" शब्द का अपना मुख्यार्थ है "**प्रवाह**") का ज्ञान कराने में असमर्थ होता हुआ सामीप्य सम्बन्ध से अपने सम्बन्धी "**तट**" अर्थ का ज्ञान कराता है। इस तट अर्थ का ज्ञान कराने में शीतलता और पवित्रता का अतिशय ज्ञान कराना रूप प्रयोजन है। कहने का आशय यह है कि "**गङ्गायां घोषः**" इस वाक्य में गंगा शब्द का मुख्य अर्थ है "**प्रवाह**"। इसके ऊपर "**घोषः = ग्राम**" का स्थित होना असम्भव है। अतः यह हुआ **मुख्यार्थबाध**। इसप्रकार गंगा शब्द के अपने मुख्य अर्थ "प्रवाह" में अनुपपन्न होने के कारण सामीप्य सम्बन्ध से (अर्थात् **तद्योग** अर्थात् गंगा से सम्बन्धित) अपने सम्बन्धी तट का लक्षणावृत्ति से ज्ञान कराता है। अतः इस उदाहरण में "**प्रयोजनवती लक्षणा**" है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में हम जिस शक्ति के द्वारा "**कलिङ्गः**" का अर्थ

"**कलिङ्गः देशवासी मनुष्य**" और "**गङ्गायां**" का "**गंगा के तट पर**" समझते हैं, वह शक्ति **लक्षणा** कही गई है और इसे "**अर्पिता, स्वाभाविकेतरा** अथवा **ईश्वरानुद्भाविता**" कहा गया है।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने रूढिलक्षणा का उदाहरण "**कर्मणि कुशलः**" दिया है, जिसको आचार्य विश्वनाथ ने नहीं माना है।

लक्षणा के भेद—

(१) **उपादानलक्षणा** का लक्षण—

"**मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये।**

स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा"—साहित्यदर्पण २.६. अर्थात् वाक्यार्थ में वाक्य के अन्दर विद्यमान अन्वय की सिद्धि के लिये जिस वृत्ति द्वारा अन्य अर्थ का आक्षेप किया जाता है वहाँ मुख्यार्थ का भी ग्रहण होने के कारण "**उपादान लक्षणा**" कहलाती है। **उपादान लक्षणा** की निरुक्ति दो प्रकार से की जा सकती है—

(क) मुख्यार्थविषयिणी प्रतीतिरुपादानम्, तद्धेतुर्लक्षणा **उपादानलक्षणा**।

(ख) उपादीयते स्वार्थो गृह्यतेऽनेनेत्युपादानम् तन्नाम्नी लक्षणा **उपादानलक्षणा**।

ऊपर लक्षणा के रूढ़ि और प्रयोजन-ये दो कारण माने गये हैं। इन्हीं को आधार मानकर **उपादान लक्षणा** भी दो प्रकार की होती है। तद्यथा—(१) **रूढ़ि में उपादान लक्षणा** और (२) **प्रयोजन में उपादान लक्षणा**। क्रमशः उदाहरण—

(१) **रूढ़ि में उपादान लक्षणा का उदाहरण**—"**श्वेतो धावति**" = श्वेत दौड़ रहा है। किसी व्यक्ति ने किसी अवसर पर किसी अन्य व्यक्ति से पूछा है कि "**कौन सा घोड़ा दौड़ रहा है,**" जिसके उत्तर में उसने कहा कि "**श्वेतो धावति**"। इस उदाहरण में श्वेतवर्ण अचेतन होने के कारण दौड़ने की क्रिया में कर्तृत्वेन अन्वित न होते हुये (अर्थात् "**धावति**" क्रिया का कर्ता "**श्वेतः**" नहीं हो सकता, क्योंकि वह अचेतन है। किसी भी क्रिया का कर्त्ता किसी चेतन को ही होना चाहिये जो कि क्रिया कर सके) दौड़ने की क्रिया के कर्तृत्व का ज्ञान कराने के लिये अपने संयोगी "**अश्व**" का आक्षेप कर लेता है (अर्थात् "श्वेत" शब्द समवाय सम्बन्ध से श्वेत रंग वाले अश्व का आक्षेप कर लेता है) यहाँ किसी भी प्रयोजन का अभाव होने के कारण **रूढ़िमूला लक्षणा है**।

(२) **प्रयोजन में उपादान लक्षणा का उदाहरण**–'**कुन्ताः प्रविशन्ति**' = भाले प्रवेश कर रहे हैं। किसी स्थान पर भाले लेकर सैनिकों के प्रवेश करने पर किसी ने दूसरे से पूछा है कि "**कौन आ रहे हैं**", जिसका उत्तर उसने दिया है—"**कुन्ताः प्रविशन्ति**" इति। इस उदाहरण में कुन्त (भाले) अचेतन होने के कारण प्रवेश करने की क्रिया में कर्तृत्वेन अन्वित न होते हुये (अर्थात् "**प्रविशन्ति**" इस क्रिया का कर्ता

"कुन्त" नहीं हो सकता क्योंकि वह अचेतन है। किसी भी क्रिया का कर्ता चेतन होना चाहिये जो कि क्रिया कर सके) प्रवेश करने की क्रिया के कर्तृत्व का ज्ञान कराने के लिये अपने संयोगी पुरुष का आक्षेप कर लेता है। अर्थात् "कुन्ताः" शब्द संयोग सम्बन्ध से भाले धारण करने वाले पुरुषों का आक्षेप कर लेते हैं। इस उदाहरण में कुन्तों की अतिगहनता को सूचित करना प्रयोजन है, अतः **प्रयोजनमूला लक्षणा है।**

इस उपादान लक्षणा को ही **"अजहत्स्वार्था लक्षणा" (अजहत्‌त्यजन् स्वार्थो मुख्यार्थो यामिति अजहत्स्वार्था"** अर्थात् इसमें स्वार्थ (मुख्यार्थ) का परित्याग नहीं होता है) भी कहते हैं।

(२) **लक्षणलक्षणा का लक्षण—**

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा॥ साहित्यदर्पण २.७.

अर्थात् वाक्यार्थ में मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ की अन्वय सिद्धि के लिये अपने अर्थ का परित्याग जिस वृत्ति के द्वारा होता है अर्थात् जो शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ का उपलक्षण जिस वृत्ति के द्वारा हो जाना है वह उपलक्षण का हेतु होने के कारण "**लक्षणलक्षणा**" कहलाती है। इसकी व्युत्पत्ति इसप्रकार है—"**लक्ष्यते उपलक्ष्यतेऽनेनेत्युपलक्षणम् तन्नाम्नी लक्षणा लक्षजलक्षणा**" इति।

उपादान लक्षण के समान यह **लक्षणलक्षणा** भी रूढ़ि और प्रयोजन के भेद से दो प्रकार की होती है। तद्यथा—**(१) रूढ़ि में लक्षणलक्षणा** और **(२) प्रयोजन में लक्षणलक्षणा।** क्रमशः उदाहरण—

(१) **रूढ़ि में लक्षणलक्षणा—"कलिङ्गः साहसिकः"** = कलिङ्ग साहसी है। यहाँ पर पुरुष के अन्वय को वाक्यार्थ में अन्वय की सिद्धि के लिये "**कलिङ्गः**" शब्द अपने आप को समर्पित कर देता है अर्थात् पुरुष का बोध कराने के लिये अपने आपको उपयोगी बनाता है। अथवा "आत्मानम्" मुख्यार्थम् "**अर्पयति**" = परित्यजति। यह पद अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर देता है। प्रयोजन का अभाव होने के कारण रूढ़ि है। अतः "**रूढ़िमूला लक्षणलक्षणा**" है।

(२) **प्रयोजन में लक्षणलक्षणा—"गङ्गायां घोषः"** = गङ्गा में घोप है। इस उदाहरण में तट के अन्वय को वाक्यार्थ में अन्वय की सिद्धि के लिये "**गङ्गा**" शब्द अपने आपको समर्पित कर देता है अर्थात् तट का ज्ञान कराने के लिये अपने आपको उपयोगी बनाता है। अथवा "**आत्मानम् = स्वार्थम् = मुख्यार्थम्" अर्पयति** = परित्यजति। इसप्रकार यह पद अपने मुख्यार्थ प्रवाह का परित्याग कर देता है। शैत्य और पावनत्व प्रयोजन हैं। अतः **प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा है।**

यही लक्षणलक्षणा **"जहत्स्वार्था लक्षणा" (जहत्-त्यजन् स्वार्थो यया सा जहत्स्वार्था)** कहलाती है।

उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा में भेद—**उपादानलक्षणा** के अन्दर मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ में ग्रहण होता है परन्तु **लक्षणलक्षणा** के अन्दर लक्ष्यार्थ की सिद्धि के लिये मुख्यार्थ अपने अर्थ का परित्याग कर देता है।

उपर्युक्त चार प्रकार की लक्षणायें अर्थात् (१) **रूढि उपादानलक्षणा** (२) **प्रयोजनवती उपादानलक्षणा** (३) **रूढि लक्षणलक्षणा** और (४) **प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा**, **सारोपा** और **साध्यवसाना** भेद से दो-दो प्रकार की होती है। इसप्रकार लक्षणा के आठ भेद हो जाते हैं।

सारोपा और साध्यवसाना लक्षणाओं के लक्षण—

विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्।
सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका॥ सा. द. २·८-९

अर्थात् अनिगीर्ण (अनाच्छादित) स्वरूप विषय (उपमेय) का अन्य (उपमान) के साथ अभेद की प्रतिपत्ति कराने वाली लक्षणा **सारोपा** (**आरोपेण सह वर्तते इति सारोपा**) होती है। कहने का आशय यह है कि "**अनिगीर्णस्वरूपस्य पदार्थस्यान्यतादा-त्म्यप्रतीतिरारोपः**" अर्थात् वाक्य में जिस पदार्थ का स्पष्टतया निर्देश किया गया है। जिसका स्वरूप अप्रकृत उपमानभूत चन्द्र आदि (विषयी) से निगीर्ण = छिपा हुआ नहीं है, उसी प्रकृत उपमेय मुखादि (विषय) की अन्य अर्थात् अप्रकृत चन्द्रादि विषयी के साथ तादात्म्य प्रतीति को "**आरोप**" कहते हैं। अथवा "**विषयविषयिणोर्भेदेनोपन्या-सोऽत्रारोपार्थः**" और जो आरोप के साथ होती है, वह "**सारोपालक्षणा**" कहलाती है। यह **सारोपा लक्षणा** रूपकालंकार का बीज है और निगीर्ण (आच्छादित) स्वरूप विषय (उपमान) का विषयी के साथ अभेद ज्ञान कराने वाली "**साध्यवसाना लक्षणा**" कहलाती है। कहने का आशय यह है कि "**विषयनिगरणेन विषयिणोऽभेदप्रतीतिरध्य-वसानम्, तेन सह वर्तते इति साध्यवसाना**" अर्थात् विषय का निगरण करके विषयी के साथ अभेद का प्रतिपादन करना "**अध्यवसाय**" कहलाता है, उस अध्यवसाय के साथ जो है, वह "**साध्यवसाना लक्षणा**" कहलाती है। क्रमशः उदाहरण—

(१) **रूढ़ि सारोपा उपादानलक्षणा का उदाहरण**—"**अश्वः श्वेतो धावति**" = श्वेत घोड़ा दौड़ रहा है। यहाँ पर श्वेत शब्द की श्वेतगुण विशिष्ट में प्रसिद्धि होने के कारण **रूढ़ि** है। श्वेत गुण अपने स्वरूप को भी लक्ष्यार्थ के साथ बोधित करता है, अतः **उपादान लक्षणा** है और निगीर्णस्वरूप अश्व के साथ श्वेत का तादात्म्य प्रतीत होता है, अतः **आरोप** है। इसप्रकार यहाँ पर "**रूढ़ि सारोपा उपादानलक्षणा**" **हुई।**

(२) **प्रयोजनवती सारोपा उपादानलक्षणा का उदाहरण**—"**एते कुन्ताः प्रविशन्ति**" (दुर्गे इति शेषः)। यहाँ पर सर्वनाम "**एते**" से कुन्तधारी पुरुषों का निर्देश **करने के कारण** "'**आरोप**" है। लक्ष्यार्थ के साथ कुन्तों की भी प्रतीति होती है, अतः **उपादान** है। कुन्तों का अतिगहनत्व सूचित करना **प्रयोजन** है। **इसप्रकार** यहाँ पर

"**प्रयोजनवती सारोपा उपादानलक्षणा**" है। यहाँ धार्य-धारक सम्बन्ध है। कुन्त धार्य हैं और पुरुष धारक हैं।

(३) **रूढ़ि सारोपा लक्षणलक्षणा का उदाहरण—"कलिङ्गः पुरुषो युध्यते"**। यहाँ पर "कलिङ्गः" शब्द कलिङ्ग देशवासी का उपलक्षण होने से **लक्षणलक्षणा है**। पृथक् निर्दिष्ट पुरुष के साथ अभेद प्रतीति से **सारोपा** है और प्रसिद्धि के कारण **रूढ़ि** है। अतः "**रूढ़ि सारोपा लक्षणलक्षणा**" है। यहाँ पर पुरुष और कलिङ्ग देश में आधार-आधेयभाव सम्बन्ध है। कलिङ्ग देश आधार है और पुरुष आधेय है।

(४) **प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा का उदाहरण—"आयुर्घृतम्"**-यहाँ पर यद्यपि घृत आयु का कारण है तथापि कार्यकारणभाव सम्बन्ध से आयु का सम्बन्धी घृत यहाँ आयु के साथ तादात्म्य से प्रतीत होता है, अतः **सारोपा** है। आयु शब्द आयु के कारण को उपलक्षितमात्र करता है, अतः **लक्षणलक्षणा** है तथा अन्य वस्तुओं की अपेक्षा विलक्षणता से आयु को उत्पन्न करना **प्रयोजन** है। अतः "**प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा**" है।

"**निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका**" के अनुसार सम्प्रति **साध्यवसाना लक्षणा** के क्रमशः उदाहरण देते हैं:—

(५) **रूढ़ि साध्यवसाना उपादानलक्षणा का उदाहरण—"श्वेतो धावति"**।

(६) **प्रयोजनवती साध्यवसाना उपादानलक्षणा का उदाहरण—"कुन्ताः प्रविशन्ति"**।

(७) **रूढ़ि साध्यवसाना लक्षणलक्षणा का उदाहरण—कलिङ्गः साहसिकः**।

(८) **प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षणलक्षणा का उदाहरण—"गङ्गायां घोषः"**।

इनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

उपर्युक्त आठ प्रकार की लक्षणायें (चार सारोपा और चार साध्यवसाना) **शुद्धा** और **गौणी** के भेद से पुनः दो प्रकार की होती हैं। इन शुद्धा और गौणी लक्षणाओं में से जो लक्षणा 'सादृश्य के सम्बन्ध का कारण नहीं होती हैं वे "शुद्धा" कहलाती हैं और जिनका कारण सादृश्य से सम्बन्ध रखता है, "**गौणी**" (**गुणेभ्यः आगता गौण्यः** इति) कहलाती है"। इसप्रकार लक्षणा के १६ भेद होते हैं। इसीको इसप्रकार कहा गया है—

> **सादृश्येतरसम्बन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि।**
> **सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडशभेदिताः॥** साहित्यदर्पण २,९-१०

इनमें से "**शुद्धा लक्षणा**" के पूर्वोक्त "**अश्वः श्वेतो धावति**" इत्यादि उदाहरण हैं। "**गौणी लक्षणा**" के क्रमशः उदाहरण—

(१) **रूढ़ि उपादान लक्षणा सारोपा गौणी का उदाहरण—"एतानि तैलानि**

हेमन्ते सुखानि"। यहाँ **तैल** शब्द का शाब्दिक अर्थ है "**तिलों से उत्पन्न तेल**"। परन्तु सादृश्य के कारण सरसों आदि के स्नेह को भी तैल ही कह देते हैं, यद्यपि उनके अन्दर तिलभवत्व का सर्वथा अभाव है। इस उदाहरण में तिलभव स्नेह का परित्याग नहीं हुआ है, अतः यह **गौणी उपादानलक्षणा** है। तैल शब्द की प्रसिद्धि ही इस प्रयोग का कारण है, अतः **रूढ़िमूला लक्षणा** है। "**एतत्**" शब्द से विषय का पृथक् निर्देश है, अतः **सारोपा** है। इसप्रकार यहाँ "**रूढ़ि उपादानलक्षणा सारोपा गौणी**" है।

(२) **प्रयोजनवती उपादानलक्षणा सारोपा गौणी का उदाहरण**—"**एते राजकुमाराः गच्छन्ति**"। यहाँ पर "**एतत्**" शब्द का पृथक् प्रयोग होने के कारण **आरोप** है। राजकुमार के उपादान के साथ-साथ अन्य कुमारों का राजकुमार के साथ आदरणीय होना इस लक्षणा का प्रयोजन है। सादृश्य सम्बन्ध इसका प्रयोजक है, अतः '**गौणी**" है। इसप्रकार यह "**प्रयोजनवती उपादानलक्षणा सारोपा गौणी**" लक्षणा है।

(३) **रूढ़ि उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी का उदाहरण**—"**तैलानि हेमन्ते सुखानि**" इति।

(४) **प्रयोजनवती उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी का उदाहरण**—"**राजकुमाराः गच्छन्ति**" इति (**साध्यवसाना लक्षणा** के उदाहरण के लिये "**एतत्**" पद, जो विषय वाचक पृथक्ता की सूचना देता है, निकाल देना चाहिये)।

(५) **रूढ़ि लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी का उदाहरण**—"**राजा गौडेन्द्रः कण्टकं शोधयति**"—गौड देश का राजा क्षुद्र शत्रु को (कण्टकम्) निर्वैर करता है। यहाँ पर "**कण्टक**" शब्द का अर्थ है काँटा। इसका गौडेन्द्र शब्द के अर्थ (राजा विशेष) के साथ समानाधिकरण्य से सम्बन्ध अनुपपन्न है, अतः कण्टक शब्द सादृश्य सम्बन्ध से काँटे की तरह दुःख देने वाले क्षुद्र शत्रु का उपलक्षण है, अतः गौणी है। यहाँ मुख्य अर्थ का उपादान नहीं, अतः **लक्षणलक्षणा** है। "**गौडेन्द्र**' शब्द से विषय का पृथक् निर्देश होने से **आरोप** है। कण्टक शब्द की क्षुद्र शत्रु में प्रसिद्धि होने के कारण "**रूढ़ि**" है। परिणामतः "**रूढि लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी**" लक्षणा है।

(३) **प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा सारोपा का उदाहरण**—"**गौर्वाहीकः**" वाहीक गौ है। यहाँ पर "गौ" शब्द सादृश्य सम्बन्ध से वाहीक को लक्षित करता है, अतः **गौणी** है। अपने मुख्य अर्थ का उपादान न करने से "**लक्षणलक्षणा**" है। वाहीक की अत्यन्त मूर्खता का द्योतन करना **प्रयोजन** है। अनिगीर्ण स्वरूप वाहीक के साथ गौ का तादात्म्य प्रतीत होता है, अतः आरोप है। इसप्रकार यहाँ पर "**प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी लक्षणा है**।

(७) **रूढ़ि लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी का उदाहरण**—"**राजा कण्टकं शोधयति**"। इस उदाहरण में विषयवाचक पद "**गौडेन्द्रः**" के निकाल देने से "**साध्यवसाना**" का उदाहरण हो जाता है।

(१) **प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी का उदाहरण**—"**गौर्जल्पति**"। यहाँ गौ शब्द मुख्य अभिधा शक्ति के द्वारा वाहीक शब्द के साथ अन्वय को न प्राप्त करता हुआ अज्ञत्वादि सादृश्य सम्बन्ध से वाहीक के अर्थ को लक्षणा के द्वारा लक्षित करता है। वाहीक की अज्ञत्वादि का अतिशय द्योतन करना प्रयोजन है। अतः यहाँ "**प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी**" है।

शुद्धा और गौणी लक्षणा में भेद—गौणी लक्षणा गुणों (साधारण धर्म) के योग से ("**वाच्यलक्ष्ययोः सादृश्यात्मकः सम्बन्धः गौणः**") "**गौणी**" (**गुणेभ्य आगता गौणी**) कहलाती है। कहा भी है कि—"**लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता**" अर्थात् लक्ष्यमाण (जाड्यमान्द्य आदि) गुणों के (वाहीक में रहने रूप) योग से इस लक्षणा वृत्ति की गौणता हो जाती है अर्थात् "**गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणी**" लक्षणा कहलाती है। कहने का आशय यह है कि जिन लक्षणाओं में साधारण धर्मों के सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, वे "**गौणी**" कहलाती हैं और जिनमें उपचार (सादृश्य) का मिश्रण नहीं होता है, वे '**शुद्धा**' कहलाती हैं। **उपचार** का लक्षण इसप्रकार है—

"**उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्**" अर्थात् अत्यन्त निराकांक्ष शब्दों के सादृश्यातिशय के कारण भेद ज्ञान का तिरोधान हो जाना "**उपचार**" कहलाता है। अर्थात् विभिन्न शब्दों के अन्दर सादृश्य की अतिशयता के भेद की प्रतीति का न होना "**उपचार**" है। और इस उपचार (भेद प्रतीति स्थगन) से जो लक्षणा होती है उसे **गौणी लक्षणा** कहते हैं। इसके विपरीत जिसमें उपचार का मिश्रण नहीं होता है, वह "**शुद्धा लक्षणा**" कहलाती है। उपचार का मिश्रण और उपचार का अमिश्रण यही इन दोनों लक्षणाओं का भेदक धर्म है अर्थात् उपचार से मिश्रित को "**गौणी**" और उपचार से अमिश्रित को "**शुद्धा** लक्षणा कहते हैं।

इसप्रकार यहाँ तक १६ प्रकार की लक्षणाओं का विवेचन किया गया है। इन सोलह प्रकार की लक्षणाओं में से आठ रूढ़ि मूलक हैं और आठ प्रयोजन मूलक। इनमें से आठ प्रयोजन मूलक लक्षणाओं के पुनः प्रयोजन रूप व्यंग्य के गूढ और अगूढ दो प्रकार के होने के कारण प्रत्येक के दो भेद होकर सोलह भेद हो जाते हैं। कहा भी है—

व्यंग्यस्य गूढागूढत्वाद् द्विधा स्युः फललक्षणाः ॥ साहित्यदर्पण २.१०

(१) **इनमें से गूढव्यंग्य का उदाहरण**—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता भवता प्रथिता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥

यहाँ पर वक्ता के तात्पर्यरूप लक्षणा का ज्ञान सूक्ष्म बुद्धि से हीं किया जा सकता है, अतः गूढ है।

(२) अगूढव्यंग्य का उदाहरण—

"**उपदिशति हि कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि**"–अर्थात् कामिनियों को यौवन का मद ही ललित अर्थात् हाव, भाव आदि का उपदेश कर देता है। यहाँ पर उपदेश देने का चेतन का काम है और वह मद, जो कि जड़ है उससे सम्पन्न नहीं हो सकता है, अतः मुख्यार्थ का बाध हुआ, अतः "**उपदिशति**" से '**आविष्करोति**" यह अर्थ लक्षणा के द्वारा लक्षित होता है। और आविष्कार का अतिशय, जो यहाँ व्यंग्य प्रयोजन है वह, अभिधेयार्थ की तरह स्फुट प्रकाशित होता है। इसप्रकार अगूढ व्यंग्य अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण सभी के लिये संवेद्य होता है।

उपर्युक्त वर्णित प्रयोजनमूलक १६ भेद वाली लक्षणायें व्यञ्जनागम्य प्रयोजन (फल) के धर्मिगत और धर्मगत होने से प्रत्येक के पुनः दो भेद होकर **बत्तीस प्रकार** की हो जाती हैं।

तद्यथा—"**धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा**"। साहित्यदर्पण २. ११.

(१) **धर्मी का उदाहरण**—

"स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्वलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति, हहा हा देवि धीरा भव॥

इस उदाहरण में राम के वक्ता होने के कारण "**सहे**" इस क्रिया पद के सन्निधान में "**रामः**" यह पद "**कठोरहृदयः**" इस विशेषण से विशिष्ट होकर अत्यन्त दुःख सहिष्णु रूप धर्मी राम में लक्षणा के द्वारा उन्हीं राम में ही "**अत्यन्त दुःख सहिष्णुरूप राम**" इस लक्ष्यार्थ को लक्षित करता है।

(२) **धर्म का उदाहरण**—"**गङ्गायां घोषः**"—यहाँ तट पर शीतत्व और पावनत्वरूप धर्म की अतिशयता का बोध कराना ही फल है।

इसप्रकार उपर्युक्त लक्षणायें **चालीस** (रूढ़ि में आठ प्रकार की और प्रयोजन में बत्तीस प्रकार की) प्रकार की हुई।

ये चालीस प्रकार की लक्षणायें पुनः **पदगत** और **वाक्यगत** होकर **अस्सी** प्रकार की हो जाती हैं। इनमें से **पदगत** का उदाहरण "**गङ्गायां घोषः**" और **वाक्यगत** का उदाहरण "**उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते**" है।

इसप्रकार आचार्य विश्वनाथ कविराज ने लक्षणा के **अस्सी भेद** किये हैं।

गौणी सारोपा लक्षणा सादृश्य हेतुक होती है। इसके अन्दर उपमान और उपमेय के स्पष्ट होने के कारण यह लक्षणा "**रूपकालंकार**" का बीज है। यथा—"**इन्दुर्मुखम्**"। गौणी लक्षणा और रूपकालंकार में यह भेद है कि आरोप्यमाण का पहले निर्देश किया जाये तो "**गौणी लक्षणा**" होती है और यदि बाद में निर्देश किया जाये तो '**रूपकालंकार**" होता है (इसके विपरीत **साध्यवसाना उपमानतिरोहितोपमेया**"

होती है, अतः "अतिशयोक्ति अलंकार" का बीज होती है। यथा—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥

अभिधा और लक्षण में भेद:—

शब्द की मुख्य शक्ति अभिधा है क्योंकि यह अभिधा केवल संकेतित **अर्थ का** ही ज्ञान कराती है और यह संकेत ईश्वर के द्वारा नियत किया गया है। कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि अभिधा में संकेत ईश्वर द्वारा नियत नहीं है। अभिधा शब्द की स्वाभाविक शक्ति है। इसके विपरीत लक्षणाशक्ति इसप्रकार की नहीं है। इसका तो शब्द में आरोप किया जाता है, जबकि अभिधा स्वयं में विद्यमान रहती है। आचार्य विश्वनाथ ने इसके तीन विशेषण दिये हैं अर्थात् यह लक्षण **अर्पिता** (अमुख्य) है, **स्वाभाविकेतरा** (अस्वाभाविक) है और **ईश्वरानुद्भाविता** (ईश्वर द्वारा रचित न होकर मनुष्यों के द्वारा कल्पित) है। इसलिये यह शब्द की मुख्य शक्ति न होकर अमुख्य (गौण) शक्ति है।

लक्षणा शब्द की "**लक्षणलक्षणा**" इस भाव व्युत्पत्ति के द्वारा, "**लक्ष्यते अनया इति**" इस करण प्रधान व्युत्पत्ति के द्वारा, दो प्रकार से व्याख्या करते हैं। भाव व्युत्पत्ति से लक्ष्यार्थ ज्ञान के उत्पादक व्यापार की प्रतीति होती है। मीमांसकादिकों ने और मम्मटभट्ट ने भाव व्युत्पत्ति को ही स्वीकार किया है। शब्दार्थ बोध का ज्ञान कराने वाले तीन शास्त्र हैं—(१) **व्याकरण**, (२) **न्याय** और (३) **पूर्वमीमांसा**। इनमें से (१) व्याकरण महाभाष्य के अन्दर "**पुंयोगाख्यायाम्**" ४/१/४१ सूत्र के भाष्य पर मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध में इसप्रकार वर्णन है कि वाक्यार्थ का ज्ञान चार प्रकार से हो सकता है—(१) **तात्स्थ्यात्** (२) **ताद्धर्म्यात्** (३) **तत्सामीप्यात्** और (४) **तत्साहचर्यात्**।" **मञ्चाः हसन्ति**" यहाँ तात्स्थ्य, "**सिंहो माणवकः**" यहाँ ताद्धर्म्य, "**गंगायां घोषः**" यहाँ सामीप्य और "**यष्टीः प्रवेशय**" यहाँ साहचर्य सम्बन्ध है। इनसे लक्ष्यार्थ ज्ञान की प्रतीति होती है।

(२) महर्षि गौतम प्रणीत न्यायदर्शन के अन्दर लक्षणा का निर्देश इस-प्रकार है—

'सहचरण–स्थान–तादर्थ्य–वृत्त–मान–धारण–सामीप्य–योग–साधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मण–मञ्च–कटराज–सक्तु–चन्दन–गंगा–शकटान्न–पुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः'—
(२ अध्याय २ आह्निक ६४ सूत्र)

काव्यप्रकाशकार ने भी शब्दव्यापार पर विचार करते हुये "**काव्यप्रकाश**" में विस्तार से लक्षणा और उसके भेदोपभेद पर विवेचन किया है। काव्यप्रकाशकार ने लक्षणा के छः भेद किये हैं—"**लक्षणा तेन षड्विधा**" इति।

भक्ति, उपचार व अमुख्यावृत्ति आदि शब्द लक्षणा के ही नामान्तर हैं।

———

३. व्यञ्जना—

शब्द तीन प्रकार के कहे गये हैं—वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक। इनमें से व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान कराने वाला शब्द व्यञ्जक होता है और इसी व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा बोध्य अर्थ व्यंग्य कहलाता है। इस व्यञ्जनावृत्ति का स्वरूप इसप्रकार कहा गया है—

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।।

अर्थात् अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक तीन वृत्तियों के (अभिधाद्यासु) अपने-अपने अर्थ का ज्ञान कराकर विरत हो जाने पर (विरतासु) जिस वृत्ति के द्वारा अन्य (वाच्य, लक्ष्य और तात्पर्य से भिन्न) अर्थ (व्यंग्य) का ज्ञान कराया जाता है, वह शब्द में और अर्थादिक में रहने वाली शक्ति व्यञ्जना कहलाती है। आचार्य विश्वनाथ आदि कुछ आचार्य तात्पर्य नामक वृत्ति को भी स्वीकार करते हैं, अतः आचार्य विश्वनाथ ने व्यञ्जना के उक्त लक्षण में "**अभिधाद्यासु**" में बहुवचन का प्रयोग किया है। "**अर्थादिकस्य**" में "आदि" पद से प्रकृति, प्रत्यय और उपसर्गादि का ग्रहण होता है, अर्थात् शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ, प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ तथा उपसर्गादिनिष्ठ शक्ति व्यञ्जना कहलाती है। इसी व्यञ्जनावृत्ति को व्यञ्जन, ध्वनन, गमन और प्रत्यायन आदि नामों से भी कहा जाता है।

"**मञ्जूषाकार**" ने व्यञ्जना का लक्षण इसप्रकार किया है—

"**मुख्यार्थबाधग्रहनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बद्धासम्बद्धसाधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयकोवक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जनेति**"।

इस व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को **व्यंग्य** कहते हैं। यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तरह नियत नहीं होता है अपितु वक्ता के प्रकरणादि के अनुसार अनियत होता है। तथाहि—"**गतोऽस्तमर्कः**" का सीधा सा वाच्यार्थ है "**सूर्य छिप गया**" परन्तु प्रकरणादि के अनुसार वक्ता और श्रोता के अभिप्राय से विभिन्न अर्थ हो जाते हैं। जिसप्रकार इस वाक्य के अन्दर राजा की सेनापति के प्रति "**गतोऽस्तमर्कः**" का अर्थ होगा कि "**शत्रुओं पर आक्रमण का अवसर है**", दूती का अभिसारिका के प्रति कहे गये इसी वाक्य का अर्थ होगा कि '**अभिसरण की तैय्यारी करो**'', सखी का वासकसज्जा के प्रति कहने पर "**तुम्हारा प्रिय आने वाला है**" ऐसा अर्थ होगा, काम करने वाले का अपने साथियों के प्रति कहे गये इसी वाक्य का अर्थ होगा कि "**कार्य करना बन्द कर दो**", एक भृत्य का किसी धार्मिक के प्रति कहने पर **सायं विधि की तैय्यारी कीजिये**"—ऐसा भाव होगा। इसप्रकार एक ही वक्ता के विभिन्न व्यक्तियों के प्रति कहे गये एक ही वाक्य की प्रकरणानुसार अनेक अर्थों की प्रतीति व्यञ्जना के बल से हो जाया करती है।

व्यञ्जना के भेद—

व्यञ्जना के लक्षण में आये हुये "**शब्दस्यार्थादिकस्य च**" से यह प्रतीत होता है कि व्यञ्जना **शब्दमूला अर्थात् शाब्दी** और **अर्थमूला अर्थात् आर्थी** भेद से दो प्रकार की होती है। शाब्दी व्यञ्जना पुन: दो प्रकार की होती है–"**अभिधामूला और लक्षणामूला**"। जैसा कि आचार्य विश्वनाथ (साहित्यदर्पण २.१३) ने कहा है—"**अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा**", इनमें से जो शब्द की अभिधा शक्ति पर आश्रित होती है, वह अभिधामूला व्यञ्जना और जो शब्द की लक्षणा शक्ति पर आश्रित होती है, वह **लक्षणामूला व्यञ्जना** होती है।

(१) अभिधामूला व्यञ्जना का लक्षण—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया॥ सा० दर्पण २. १४.

अर्थात् संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर अन्य अर्थ की प्रतीति का कारण जो व्यञ्जना होती है वह अभिधा शक्ति के आश्रित समझनी चाहिये अर्थात् **अभिधामूला व्यञ्जना** कहलाती है। और इसके विपरीत जहाँ पर संयोगादि नहीं होते हैं वहाँ जितने अर्थों के विषय में वक्ता का तात्पर्य होता है, उतने ही अर्थ समझने चाहिये।

उक्त लक्षण में "**संयोगाद्यै:**" में विद्यमान "**आद्य**" पद से विप्रयोग आदि का ग्रहण होता है, जो इसप्रकार है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थ: प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधि:॥
सामर्थ्यमौचिती देश: कालो यव्वित: स्वरादय:।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव:॥ वाक्यपदीय २. ३१७-३१८

(१) संयोग से नियन्त्रित अर्थ का उदाहरण—'**सशंखचक्रो हरि:**"-यहाँ पर "**हरि**" शब्द के अनेक अर्थ हैं, परन्तु शंख का सम्बन्ध केवल विष्णु के साथ ही प्रसिद्ध है, अत: शंख और चक्र के योग से हरि शब्द विष्णु का ही अभिधा से बोधन कराता है।

(२) विप्रयोग का उदाहरण—"**अशंखचक्रो हरि:**"—यहाँ शंख और चक्र के राहित्य से हरि शब्द विष्णु को ही कहता है, इन्द्रादिक को नहीं।

(३) साहचर्य का उदाहरण—'**भीमार्जुनौ इति**"—यहाँ "भीम" शब्द के साहचर्य से अर्जुन शब्द पार्थ (पृथापुत्र धनञ्जय) का बोध कराता है। ककुभादि का नहीं।

(४) विरोध का उदाहरण—"**कर्णार्जुनौ**" इति। यहाँ पर कर्ण शब्द का अर्थ सूतपुत्र महावीर कर्ण है क्योंकि अर्जुन का उसके साथ सतत वैर था, कर्णेन्द्रिय को बताने वाला नहीं।

(५) **अर्थ का उदाहरण—"स्थाणुं वन्दे"** इति। यहाँ **"स्थाणु"** शब्द शिव का बोधक है क्योंकि शिवजी की स्तुति ही संसार के आवागमन को नष्ट कर सकती है, शाखा-पल्लवादि से रहित शुष्क तरुकाण्ड नहीं, अन्यथा भवच्छेदरूप प्रयोजन के न होने पर उसकी नियामकता नहीं होगी।

(६) **प्रकरण का उदाहरण—"सर्वं जानाति देवः"** इति। यहाँ पर "देवः" शब्द का **"आप"** पुरोवर्ती राजा का ही बोध होता है क्योंकि प्रकरणगत राजा ही प्रकृत है। किसी देवता विशेष का वाचक "देव" शब्द नहीं है।

(७) **लिङ्ग का उदाहरण–"कुपितो मकरध्वजः"** इति। यहाँ "मकरध्वज" पद कामदेव का ही ज्ञान कराता है, समुद्र का नहीं क्योंकि कोपरूप लिङ्ग किसी चेतन का ही धर्म हो सकता है, अचेतन का नहीं।

(८) **अन्य शब्दसन्निधि का उदाहरण—"देवः पुरारिः"** इति। यहाँ "देव" शब्द के सान्निध्य से पुरारि शब्द शिव का ही अभिधान करता है, किसी अन्य का नहीं।

(९) **सामर्थ्य का उदाहरण—"मधुना मत्तः पिकः"** इति। यहाँ पर "मधु" शब्द दैत्य, वसन्त, मद्य आदि अनेक अर्थों का बोधक होने पर भी केवल वसन्त के अन्दर ही कोयल को मस्त करने की सामर्थ्य के कारण मधु शब्द वसन्त का ही अभिधान करता है, मद्य विशेष का नहीं।

(१०) **औचिती का उदाहरण—"पातु वो दयितामुखम्"** इति। यहाँ पर 'मुख' शब्द औचित्य के कारण अनुकूलता (साम्मुख्य) का बोधक है, वदन आदि का नहीं, क्योंकि अनुकूलता ही प्रकृतोपयोगी है।

(११) **देश का उदाहरण—"विभाति गगने चन्द्रः"** इति। यहाँ पर "चन्द्रः" शब्द का अर्थ चन्द्रमा है, कर्पूर आदि नहीं क्योंकि आकाश देश में चन्द्रमा ही रहता है, कर्पूरादि नहीं।

(१२) **काल का उदाहरण—"निशि चित्रभानुः"** इति। "चित्रभानु" पद के वह्नि, सूर्य आदि अनेक अर्थ होने पर भी प्रकृत में चित्रभानु अग्नि का ही वाचक है, सूर्य का नहीं क्योंकि रात्रि में उसका दिखाई देना असम्भव है।

(१३) **व्यक्ति का उदाहरण—"भाति रथाङ्गम्"** इति। यहाँ पर रथाङ्ग शब्द नपुंसकलिङ्ग होने के कारण चक्र का बोध कराता है, चक्रवाक का नहीं। चक्रवाक के अर्थ में "रथाङ्ग" शब्द पुंल्लिङ्ग होता है।

(१४) **स्वर का उदाहरण**—उदात्त, अनुदात्त, स्वरितरूप "स्वर" वेद में ही विशेष अर्थ की प्रतीति कराने वाले होते हैं, काव्य में नहीं, अतः यहाँ स्वर का उदाहरण नहीं दिया है।

इसप्रकार अभिधा के द्वारा एक ही अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर भी शब्द के अन्य अर्थ के ज्ञान का कारण जो शक्ति है, उसे **"अभिधामूला व्यञ्जना"** कहते हैं।

संयोग और साहचर्य में भेद—संयोग और साहचर्य के पारस्परिक भेद को

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर (द्वितीय आनन) में इसप्रकार स्पष्ट किया है—

"संयोगशब्दस्य सम्बन्धसामान्यपरतया यत्र शब्दोपात्तप्रसिद्धं सम्बन्धसामान्यं शक्तिनियामकं तदाद्यस्य, यत्र तु द्वन्द्वादिगतः सम्बन्ध्येव केवलस्तदा तत्साहचर्यस्योदाहरणमिति प्राचामाशयात् । इत्थं च सगाण्डीवोऽर्जुनः इति संयोगस्य, गाण्डीवार्जुनाविति साहचर्यस्योदाहरणम् ।

यद्यपि संयोग और साहचर्य इन दोनों का ही अर्थ सम्बन्ध सामान्य है, तथापि इन दोनों में अन्तर है । तद्यथा—जहाँ कोई भी सम्बन्ध शब्द द्वारा प्रतिपादित होकर शक्ति का नियामक होगा वहाँ **संयोग** और जहाँ द्वन्द्व आदि समास के द्वारा केवल सम्बन्धी कहा जाता है, वहाँ **साहचर्य** समझना चाहिये । यही इन दोनों में अन्तर है । इसप्रकार "**गाण्डीव सहित अर्जुन**" ऐसा कहने पर "**संयोग**" का और "**गाण्डीव और अर्जुन**" ऐसा कहने पर **साहचर्य** होगा ।

(२) **लक्षणामूला व्यञ्जना का लक्षण—**

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।
यया प्रत्यायते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया ।। सा० दर्पण २·१५

जिस प्रयोजन के ज्ञान के लिये प्रयोजनवती लक्षणा को शब्दशक्तित्वेन स्वीकार किया जाता है, वह प्रयोजन जिस वृत्ति से बोधित किया जाता है, वह **लक्षणामूलक व्यञ्जना** होती है । तद्यथा—"**गङ्गायां घोषः**" इत्यादिक स्थलों में "**गङ्गायाम्**" का प्रवाह विशेषरूप मुख्य अर्थ का ज्ञान कराके अभिधा शक्ति के विरत हो जाने पर और तटादिरूप लक्ष्य अर्थ का ज्ञान कराके लक्षणा शक्ति के विरत हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा घोष के अन्दर विद्यमान, शीतलता और पावनता के आधिक्यरूप प्रयोजन का ज्ञान होता है, वह **लक्षणामूला व्यञ्जना** होती है ।

लक्षणामूलक व्यञ्जना के अन्दर उस प्रयोजन का प्रत्यायन कराया जाता है, जिसके कारण लाक्षणिक पद का प्रयोग किया जाता है ।

वस्तुतः स्थिति यह है कि यदि वक्ता का "**गङ्गायां घोषः**" कहने का इतना मात्र प्रयोजन है कि वह यह बताना चाहता है कि मेरा ग्राम गङ्गा के किनारे पर है, तब तो वह सीधा "**गङ्गातटे घोषः**" यही कह सकता था, "**गङ्गायां घोषः**" कहने की क्या आवश्यकता थी ? परन्तु वह चाहता यह है कि सुनने वाला यह भी अनुभव कर ले कि मेरा ग्राम केवल गंगा के किनारे ही नहीं है अपितु गंगा जल के अन्दर जो शीतलता और पावनता है वह मेरे घर में भी है । बस, इसी शीतत्व और पावनत्वादि के आधिक्य की प्रतीति के लिये ही (**यस्य कृते लक्षणा उपास्यते तत्तु प्रयोजनम्**) उसने "**गङ्गातटे**" इस वाचक शब्द का प्रयोग न करके "**गङ्गायाम्**" इस लाक्षणिक पद का प्रयोग किया है । इसप्रकार लाक्षणिक पदों के प्रयोग में "**लक्षणामूला व्यञ्जन**" हुआ करती है । इस शैत्यपावनत्वादि के आधिक्यं की प्रतीति अभिधा

हो सकती है। क्योंकि "**गङ्गायां घोषः**" के अन्दर "**गङ्गायास्**" पद का मुख्य अर्थ "**गङ्गाप्रवाह में**" है। लक्षणा के द्वारा भी इस शैत्यपावनत्वादि के आधिक्य की प्रतीति नहीं हो सकती है क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर लक्षणा का लक्षण नहीं घटित हो सकता है। लक्षणा के लिये मुख्यार्थबाध तद्योग और रूढिप्रयोजनान्यतरत्व होना चाहिये। लक्षणा के द्वारा शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति के लिये "**गङ्गायाम्**" का मुख्यार्थ "**गङ्गातटे**" होना चाहिये, जो कि सम्भव नहीं है। और येन केन प्रकारेण "**गङ्गायाम्**" का मुख्यार्थ "**गङ्गातटे**" मान भी लें, तो फिर मुख्यार्थ का बाध नहीं होता है, जो लक्षणा का अनिवार्य अङ्ग है क्योंकि "गंगा के किनारे" पर तो ग्राम रह ही सकता है। तीर का शैत्यपावनत्वादि के साथ कोई प्रयोजन भी नहीं है। अतः शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति के लिये व्यञ्जना होनी ही चाहिये और यह व्यञ्जना "**लक्षणामूला**" होती है।

(३) आर्थी व्यञ्जना का लक्षण—

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः ।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च ॥
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं च या बोधयेत्सार्थसम्भवा ॥ सा० दर्पण २. १६-१७

अर्थात् वक्ता, बोद्धव्य (जिससे बात कही जाये), वाक्य, अन्य का सन्निधान, वाच्यार्थ, प्रस्ताव (प्रकरण), देश, काल, काकु तथा चेष्टा आदि की विशेषता के कारण जो शब्दशक्ति अन्य का बोधन करती हैं, वह **आर्थी (अर्थमूलक) व्यञ्जना** कहलाती है।

(१) इनमें से **वक्ता, वाक्य, प्रकरण** और **देश-काल आदि की विशेषता के कारण उत्पन्न व्यञ्जना** का उदाहरण—

कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा
धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः ।
केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जु—
दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य ॥

इस पद्य में "**हे सखि, तू शीघ्र यहाँ प्रच्छन्न कामुक को भेज**" यह बात व्यञ्जना के द्वारा सूचित होती है।

(२) बोद्धव्य की विशेषता का उदाहरण—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥

—ग में "**न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्**" इस अंश से विपरीत लक्षणा के द्वारा

"तदन्तिकमेव गतासि" इसप्रकार का अर्थ लक्षित होता है। और उसके पास 'रन्तुम्' यह प्रतिपाद्य व्यंग्य दूती के वैशिष्ट्य से ज्ञात होता है।

(३) अन्य सन्निधि की विशेषता में उदाहरण—

पश्य निश्चलनिष्पदा विसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिताशुङ्खशक्तिरिव ॥ इति संस्कृतम्।

इस उदाहरण में बलाका के निःष्पन्द एवं निःशङ्क होकर बैठने के कारण विश्वस्तता एवं स्थान की विजनता सूचित होती है। अतः यह संकेत स्थान है इस बात की व्यञ्जना की जा रही है। यहाँ स्थान के निर्जनत्व रूप व्यंग्यार्थ की विशेषता प्रयोजन है। अर्थात् यह स्थान सर्वथा विश्वसनीय है, मनुष्यों के आवागमन से शून्य है, निर्जन है-यह व्यंग्यार्थ प्रयोजन है।

(४) काकु की विशेषता का उदाहरण—

गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्।
अलिकुलकोकिललिते नैष्यति सखि, सुरभिसमयेऽसौ ॥

इस उदाहरण में **नैष्यति—**नहीं आयेगा क्या ? अपितु "**एष्यत्येव**"—आयेगा ही, यह अर्थ **काकु** के द्वारा व्यक्त होता है। **काकु का लक्षण है—**

"भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते" इति।

(५) चेष्टा वैशिष्ट्य का उदाहरण—

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥

यहाँ किसी कामिनी ने **कमल बन्द करने की चेष्टा से** सायंकाल का समय संकेत का समय है, इस बात की सूचना दी है।

यह आर्थी व्यञ्जना वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य–इन अर्थों के तीन प्रकार के **होने** से प्रत्येक तीन प्रकार की अर्थात् वाच्यव्यञ्जना, लक्ष्यव्यञ्जना और व्यञ्जनव्यञ्जना होती हैं। इनमें से **वाच्यार्थ व्यञ्जना** का उदाहरण—**"कालो मधुः"** इत्यादि, **लक्ष्यार्थ व्यञ्जना** का उदाहरण–"निःशेषच्युतचन्दनम्" इत्यादि और व्यञ्जनव्यञ्जना का उदाहरण—"उ..णिच्चल" इत्यादि हैं।

व्यञ्जना-स्थापना—

आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण के द्वितीय परिच्छेद के अन्दर **"तिस्रः शब्दस्य शक्तयः"** कहकर शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—इन तीन शक्तियों का विस्तृत विवेचन किया है। पुनः पञ्चम परिच्छेद में "**अथ केयमभिनवा व्यञ्जना नाम वृत्तिः**" ऐसी शंका उठाकर **व्यञ्जनावृत्ति** की स्थापना की है। इस **व्यञ्जना वृत्ति** की आवश्यकता को बताने के लिये कहा है कि—

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम्।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥ सा० दर्पण ५.१

अर्थात् अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक तीन वृत्तियों के अपने-अपने अर्थ का बोधन करके विरत हो जाने पर रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावसन्धि, भावशबलता, वस्तु और अलंकारादिकों की प्रतीति में चौथी व्यञ्जना नामक वृत्ति अवश्य स्वीकार करनी चाहिये ।

इस व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना के प्रसङ्ग में आचार्य विश्वनाथ ने निम्न विचारधाराओं का खण्डन किया है—

(१) अभिधावृत्ति के द्वारा रसादि की प्रतीति नहीं हो सकती है ।

(२) अभिहितान्वयवादी मीमांसकों द्वारा स्वीकृत **"तात्पर्य नामक वृत्ति"** क्योंकि अपने अन्वय ज्ञान में क्षीण हो जाती है, अत: व्यंग्यार्थ का ज्ञान नहीं करा सकती है ।

(३) भट्टमतानुयायी भट्टलोल्लटादि **"सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा-व्यापार:"** के आधार पर **अभिधावृत्ति** से व्यंग्यार्थ का ज्ञान स्वीकार करते हैं, इसका खण्डन किया है ।

(४) आचार्य धनिक **तात्पर्य नामक वृत्ति** से व्यंग्यार्थ की प्रतीति स्वीकार करते हैं । उनका कहना है कि—

"तात्पर्यव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनि: ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ।।"

आचार्य विश्वनाथ ने इस मत को भी स्वीकार नहीं किया है । इस **"यावत्कार्य-प्रसारी तात्पर्यशक्ति"** का **"शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव:"** से खण्डन किया है ।

(५) अभिधा और लक्षणा भी रस का बोध नहीं करा सकती हैं । क्योंकि—

प्रागसत्वाद्रसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे ।
किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा ।। सा० दर्पण ५.३.

अर्थात् शब्द व्यापार से पहले रसादिकों की सत्ता नहीं होती है, अत: लक्षणा और अभिधा रस का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं हैं । अभिधा और लक्षणा से उस वस्तु का ज्ञान होता है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पहले से विद्यमान हो । गङ्गा और उसका तट पहले से ही विद्यमान है; अत: **"गङ्गायां घोष:"** में गङ्गा पद अभिधा से प्रवाह को और लक्षणा से तट को बोधित करता है । अविद्यमान वस्तु में लक्षणा और अभिधा की गति नहीं होती । इसके अतिरिक्त रस के प्रतीति स्थल में मुख्यार्थ बाध भी नहीं होता है, अत: लक्षणा भी रसादि का ज्ञान नहीं करा सकती है । अत: अभिधा और लक्षणा से रसादि का बोध नहीं हो सकता है ।

(६) श्री शङ्कुक के मत के अनुयायी व्यक्तिविवेककार श्री महिमभट्ट अनुमान (व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान) से व्यञ्जना से प्रतिपाद्य व्यंग्य अर्थ की

प्रतीति को अनुमान के अन्तर्गत माना है और व्यञ्जना शक्ति का खण्डन किया है। आचार्य विश्वनाथ ने इस मत का भी खण्डन किया है। आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि—

नानुमानं रसादीनां व्यंग्यानां बोधनक्षमम्।
आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः ॥ सा० दर्पण ५.४.

अर्थात् अनुमान (व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान अथवा अनुमिति) से रसादि रूप व्यंग्यार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि अनुमान में सत् हेतु चाहिये और व्यंग्यार्थ को अनुमेय सिद्ध करने में जो हेतु दिये जाते हैं वे हेत्वाभास होते हैं। तथा रसादिकों का ज्ञान संस्कारजन्य ज्ञानविशेष स्मृति भी नहीं है क्योंकि स्मृति आस्वाद-स्वरूप नहीं है और आस्वाद से रहित है।

(७) भट्टमीमांसक "**अर्थापत्ति**" नामक पाँचवाँ प्रमाण स्वीकार करते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने इस मत का भी यह कहकर खण्डन किया है कि "**एतेनार्थापत्ति-वेद्यत्वमपि व्यंग्यानामपास्तम्**" अर्थात् हेत्वाभास अनुमान से व्यंग्यार्थ रसादिकों का अर्थापत्ति प्रमाण से बोधित होना भी खण्डित हो गया क्योंकि पूर्व सिद्ध व्याप्ति ज्ञान का आश्रय लेकर ही अर्थापत्ति प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। इसप्रकार व्यंग्यार्थ अर्थापत्ति गम्य नहीं है क्योंकि वहाँ व्यभिचार और सन्देह आदि दोषों के कारण व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता।

(८) रस का ज्ञान सूचन बुद्धि से भी नहीं हो सकता है क्योंकि सूचन बुद्धि भी लौकिक संकेत की अपेक्षा करती है।

इसप्रकार आचार्य विश्वनाथ ने उपर्युक्त मतों का खण्डन करके व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना की है।

(४) तात्पर्यवृत्ति—

आचार्य विश्वनाथ ने यद्यपि "**तिस्रः शब्दस्य शक्तयः**" कहकर अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—इन तीन शक्तियों की मान्यता की ओर संकेत किया है, पुनरपि वे **तात्पर्य नामक वृत्ति** को भी स्वीकार करते हैं। इसकी ओर उनका सर्वप्रथम संकेत व्यञ्जना के लक्षण में मिलता है। व्यञ्जना का लक्षण करते हुये वे कहते हैं कि—

"**विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः**"।

यहाँ "**अभिधाद्यासु**" में बहुवचन का प्रयोग तात्पर्यवृत्ति को ध्यान में रखते हुये ही किया गया है। इसीप्रकार व्यञ्जना की स्थापना के प्रसंग में पञ्चम परिच्छेद के प्रारम्भ में "**अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम्**" से व्यञ्जना वृत्ति को अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्ति से भिन्न चौथी वृत्ति स्वीकार किया है। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मटभट्ट ने "**तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्**" २.६. कहकर तात्पर्य नामक वृत्ति से प्रतिपाद्य तात्पर्यार्थ को स्वीकार करने में अपनी सम्मति प्रकट की है। आचार्य धनिक ने—

"तात्पर्यव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ।। कहकर तात्पर्यवृत्ति को माना है। इसप्रकार आचार्य विश्वनाथ ने तात्पर्य नामक वृत्ति को स्वीकार करके ही उसके विषय में इसप्रकार कहा है—

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वियबोधने ।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे ।। सा० दर्पण २.२०.

अर्थात् श्री कुमारिलभट्ट प्रभृति मीमांसाचार्य पदों से पृथक्-पृथक् उपस्थित पदार्थों के कर्तृत्व, कर्मत्व आदि रूप से परस्पर अन्वय के बोधन के लिये वाक्य में तात्पर्य नाम की शक्ति मानते हैं और तात्पर्यार्थ को उस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ मानते हैं एवं वाक्य को तात्पर्य बोधक मानते हैं। कहने का आशय यह है कि अभिधा शक्ति के एक-एक पदार्थ को अलग-अलग बोधन करके विरत हो जाने पर उन बिखरे हुये पदार्थों को परस्पर सम्बद्ध करके वाक्यार्थ का स्वरूप देने वाली तात्पर्य नामक वृत्ति है। उस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ ही **तात्पर्यार्थ** कहलाता है और उसका बोधक वाक्य होता है। यह **अभिहितान्वयवादियों** का मत है।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद—

आचार्य विश्वनाथ कविराज ने वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के भेद को इसप्रकार स्पष्ट किया है—

बोद्धस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ।। सा० दर्पण ५.२.

अर्थात् बोद्धा (ज्ञाता), स्वरूप (विधिरूप और निषेधरूप), संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल (पौर्वापर्य समय), आश्रय, और विषय (प्रतिपाद्य अर्थ) आदि के भेद से व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ (अभिधेयार्थ) से भिन्न होता है। क्रमशः व्याख्या करते हैं—

(१) बोद्धृ भेद के कारण वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद—वैय्याकरण केवल वाच्यार्थ को ही समझ सकते हैं, व्यंग्यार्थ को नहीं। काव्यतत्व को सूक्ष्मरूप से जानने में समर्थ सहृदय वाच्य और व्यंग्य—दोनों ही अर्थों को समझ सकते हैं। अतः वाच्यार्थ को जानने वाले वैय्याकरण होते हैं और व्यंग्यार्थ को जानने वाले सहृदय ही होते हैं। अतः **बोद्धृ भेद** स्पष्ट है।

(२) स्वरूप भेद के कारण वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद—यदि कहीं वाच्यार्थ विधिरूप होता है तो वहीं व्यंग्यार्थ निषेधरूप होता और यदि वाच्यार्थ कहीं निषेधरूप होता है, तो वहीं पर व्यंग्यार्थ विधिरूप हो जाया करता है।

(३) संख्या भेद से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद—"गतोऽस्तमर्कः" इत्यादि में वाच्यार्थ एक ही प्रतीत होता है परन्तु व्यंग्यार्थ वोद्धादि के भेद से कहीं "**नायक के**

समीप अभिसरण करो'', कहीं **''गौओं को इकट्ठा करो''**, कहीं **''यह नायक के आने का समय है''** और कहीं **''अब सन्ताप नहीं है''** इत्यादि रूप से अनेक प्रकार का होता है।

(४) **निमित्त भेद से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद**—वाच्यार्थ शब्दों के उच्चारण मात्र से प्रतीत हो जाता है क्योंकि वाच्यार्थज्ञान में शब्द ज्ञान ही निमित्त होता है किन्तु व्यंग्यार्थ के लिये विशुद्ध प्रतिभा की अपेक्षा होती है।

(५) **कार्य भेद से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद**—वाच्यार्थ केवल ज्ञानमात्र को उत्पन्न करता है और व्यंग्यार्थ चमत्कार को उत्पन्न करता है।

(६) **प्रतीति भेद से वाक्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद**—वाक्यार्थ की प्रतीति सुख-चमत्कार से रहित होने से केवल शाब्द-बोध को उत्पन्न करती है और व्यंग्यार्थ की प्रतीति सुख-चमत्कार और शाब्द-बोध दोनों को उत्पन्न करती है।

(७) **काल भेद से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद**—वाच्यार्थ की पहले प्रतीति होती है और बाद में पर्यालोचना से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

(८) **आश्रय भेद के वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद**—वाच्यार्थ केवल शब्द का आश्रय लेता है और व्यंग्यार्थ शब्द, शब्द के एक देश, प्रकृति, प्रत्यय और उपसर्गादि, शब्द के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्यार्थ, वर्ण और वर्ण-रचना का आश्रय लेता है।

(९) **विषय भेद से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद**—वाच्यार्थ का विषय कोई और हुआ करता है जबकि व्यंग्यार्थ का विषय कोई और होता है।

इसप्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में महान् भेद है।

---

९. रस का सामान्य विवेचन

आचार्य विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में काव्य की परिभाषा **''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्''** की है। इस परिभाषा के अनुसार **''वाक्यम्''** का विशद निरूपण साहित्यदर्पण के द्वितीय परिच्छेद में किया गया है। तृतीय परिच्छेद का प्रारम्भ रस के विवेचन के साथ हुआ है।

अथ कोऽयं रसः

यह रस क्या है ? इसका उत्तर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने इस प्रकार दिया है:—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥ साहित्यदर्पण ३.१

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभावों के द्वारा अभिव्यक्त हुये रति आदि स्थायीभाव सहृदय सामाजिकों के हृदय में रसता को प्राप्त होते हैं। कहने का तात्पर्य यह

है कि यद्यपि अनुकार्य नायकादिकों के हृदय में रत्यादि स्थायीभाव विद्यमान रहते हैं, अतः रसानुभूति भी उन्हीं को होनी चाहिये थी परन्तु पुनरपि काव्यार्थ की भावना से रस की प्रतीति सहृदय सामाजिकों के हृदय में ही होती है, अनुकार्य नायकादिकों के हृदयों में नहीं। इन उपर्युक्त विभाव अनुभाव और सञ्चारीभावों में से **विभाव** की व्याख्या इसप्रकार की गई है—"**विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः इति विभावाः**"—अर्थात् इनको विभाव इसलिये कहा जाता है क्योंकि इनसे सामाजिकों के हृदय में विद्यमान रति आदि भाव रसास्वाद की अभिव्यक्ति के योग्य बनाये जाते हैं। इस **विभाव** के दो भेद होते हैं:—(१) आलम्बनविभाव और (२) उद्दीपनविभाव। इन दोनों विभावों में से **आलम्बनविभाव** श्री रामचन्द्र आदि नायक होते हैं क्योंकि उन्हीं का आश्रय लेकर रस की अभिव्यक्ति होती है। कहने का आशय यह है कि रामचन्द्र जी के लिये सीता जी आलम्बनविभाव हैं क्योंकि सीता जी का आश्रय लेकर राम के हृदय में रस का आविर्भाव होता है। इसीप्रकार सीता जी के लिये रामचन्द्र जी आलम्बनविभाव हैं क्योंकि सीता जी के हृदय में राम को आश्रय मानकर ही रस का उद्रेक हो रहा है। अतः राम और सीता दोनों एक-दूसरे के लिये रस अभिव्यक्ति में आलम्बनविभाव कहलाते हैं, अर्थात् राम के लिये सीता और सीता के लिये राम आलम्बनविभाव हैं। इसप्रकार आलम्वन-विभाव का लक्षण हुआ—"**रसप्रकृतिभूतरत्याद्याश्रयत्वमालम्बनविभावत्वम्**" **इति**। **उद्दीपनविभाव** का लक्षण इसप्रकार किया गया है:—

उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये॥ साहित्यदर्पण ३.१३१.

अर्थात् जो रस को उद्दीपित अर्थात् अतिशय पुष्टि को ले जाते हैं, वे "**उद्दीपनविभाव**" कहलाते हैं और ये उद्दीपनविभाव आलम्बन नायक, नायिका और प्रतिनायक प्रभति की चेष्टायें तथा देश-काल आदि होते हैं।

अनुभाव का लक्षण—

उद्‌बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके य कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥ सा० द० ३.१३२.

अर्थात् अपने-अपने कारणों से उद्‌बुद्ध स्थायीभाव को बाहर प्रकाशित करने वाला लोक में जो कार्य कहा जाता है वह काव्य और नाट्य के अन्दर पुनः "**अनुभाव**" नाम से कहा जाता है। इस अनुभाव की शाब्दिक व्युत्पत्ति इसप्रकार है:—"**रत्यादीन् स्थायिनः अनुभावयन्ति अनुभवविषयीकुर्वन्तीति अनुभावाः**"। इसप्रकार स्त्रियों के अङ्गज तथा स्वभावज अलङ्कार एवं सात्विकभाव और रत्यादि से उत्पन्न अन्य चेष्टायें अनुभाव कहलाती हैं।

सञ्चारीभाव का लक्षण—

सञ्चारीभाव ही व्यभिचारीभाव के नाम से कहे जाते हैं। इस **व्यभिचारीभाव** का लक्षण इसप्रकार किया गया है—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्विदाः ॥ सा० द० ३·१४०

अर्थात् विभाव और अनुभाव की अपेक्षा विशेषरूप से आस्वाद की अभिव्यक्ति में अनुकूल होने के कारण रति आदि में रसरूप से उत्पन्न होते हुये रत्यादि स्थायीभाव में आविर्भूत और तिरोभूत होने वाले धर्म **व्यभिचारीभाव** कहे जाते हैं । ये व्यभिचारी भाव संख्या में कम से कम तैंतीस माने गये हैं ।

स्थायीभाव का लक्षणः—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ **भावः स्थायीति** सम्मतः ॥ सा० द० ३·१७४

अर्थात् अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भाव जिस भाव को छिपाने में असमर्थ होते हैं तथा जो आस्वादरूप रस के अङ्कुर का मूलभूत है, वह भाव "**स्थायीभाव**" कहलाता है । इन स्थायीभावों के विषय में नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि—

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥

कहने का सार यह है कि जिसप्रकार समान लक्षण वाले और समान अंग-प्रत्यङ्ग वाले होते हुये भी कुछ पुरुष कुल, शील, विद्या, कर्म और शिल्प में विलक्षणता से युक्त हुये राजत्व को प्राप्त करते हैं और कुछ उन्ही में से मन्दबुद्धि वाले होते हुये अनुचर होते हैं उसीप्रकार विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव स्थायीभाव का आश्रय लेते हैं । इनमें से गूढाश्रय वाले मुख्यरूपेण स्थायीरूप से स्थामीभाव होते हैं और अन्य भाव [illegible] होते हैं तथा व्यभिचारीभाव परिजनरूप से होते हैं । ये स्थायीभाव संख्या में साहित्यदर्पणकार की सम्मति में दस हैं । तद्यथा—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥ सा० द० ३·१७५

अर्थात् रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय—ये आठ स्थायीभाव कहे हैं और शम भी स्थायीभाव होता है । इसप्रकार यहाँ पर नौ स्थायीभावों का परिगणन किया गया है । वस्तुतः साहित्यदर्पणकार आठ ही स्थायीभावों को मानते हैं और इसी को ध्वनित करने के लिये उन्होंने "**अष्टौ प्रोक्ताः**" ऐसा कारिका में कहा भी है और बाद में "**शमोऽपि च**" कहकर शम को भी स्थायीभाव के रूप में स्वीकार कर लिया है । यहाँ '**अपि च**" से **वत्सलता** का भी ग्रहण कर लेना चाहिये क्योंकि आगे चलकर कहा गया है कि—

अथ मुनीन्द्रसम्मतो वत्सलः—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥ सा० द० ३·२५१

इसप्रकार भरतमुनि सम्मत **शम** और **वत्सलता** को स्थायीभावेन साहित्यदर्पणकार ने स्वीकार किया है। परिणामतः यहाँ साहित्यदर्पण में दस स्थायीभाव माने गये हैं।

इसप्रकार काव्यादि के सुनने अथवा नाटकादि के देखने से आलम्बन-उद्दीपन विभावों, भ्रू विक्षेप, कटाक्षादि अनुभावों और निर्वेद, ग्लानि आदि ३३ सञ्चारीभावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर सहृदय सामाजिकों के हृदय में स्थित वासनास्वरूप रति, हास, शोकादिभाव शृंगार, हास्य और करुण आदि रसों के स्वरूप में परिणत हो जाते हैं।

यद्यपि "**विभावा अनुभावाश्च सात्विका व्यभिचारिणः**" इत्यादि प्राचीन कारिकाओं के अन्दर **सात्विकभावों** को भी रसाभिव्यक्ति में कारण माना गया है, तथापि साहित्यदर्पणकार ने "**सात्विकाश्चानुभावरूपत्वान्न पृथगुक्ताः**" अर्थात् स्तम्भ, स्वेदादि आठ सात्विकभाव क्योंकि अनुभावस्वरूप हैं अर्थात् सात्विकभावों का अन्तर्भाव अनुभावों के अन्दर हो जाता है, अतः उनका यहाँ पर पृथक् निर्देश नहीं किया गया है, ऐसा कहकर सात्विकभावों को रसाभिव्यक्ति में अलग से कारण नहीं माना है।

परिणामवादियों के मतानुसार जिसप्रकार दूध, अम्ल आदि खट्टे पदार्थों के योग से दूसरे रूप में परिणत हुआ "**दही**" कहलाता है अथवा जिसप्रकार आमिक्षा, कर्पूर और मरिच आदि के संयोग से दूसरे रूप में परिणत होकर "**प्रपाणक**" कहलाता है, उसीप्रकार रति आदि स्थायीभाव काव्य में वर्णित विभावादिकों के योग से दूसरे रूप में परिणत हुये चिदानन्दस्वरूप रस को प्राप्त होते हैं। जो रति आदि स्थायीभाव को सामाजिकों के हृदय में वासनारूप में विद्यमान मानते हैं, उनके मतानुसार रस अभिव्यक्त न होकर ज्ञान का विषय हुआ करता है।

जिसप्रकार दीपक पहले विद्यमान घटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसप्रकार से विभावादि रस को अभिव्यक्त नहीं करते हैं। परिणामतः घटादि पदार्थों के समान रस की विभावादिकों से पूर्व सत्ता नहीं है। यही बात ध्वन्यालोक के टीकाकार श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य ने भी कही है—

"**रसाः प्रतीयन्त इति त्वोदनं पचतीतिवद्व्यवहारः**" इति।

अर्थात् "**रसाः प्रतीयन्ते**" = रस प्रतीत होते हैं यह व्यवहार तो "**ओदनं पचति** = भात पकाते हैं—के समान किया जाता है। कहने का आशय यह है कि व्यवहार में भात को तो पकाते नहीं है, पकाते तो चावलों को हैं, पक जाने के बाद ही उन चावलों की भात संज्ञा होती है, परन्तु पुनरपि "**भात पकाते हैं**" ऐसा व्यवहार किया जाता है। इसीप्रकार "**रसाः प्रतीयन्ते**" = रस प्रतीत होते हैं, यह व्यवहार किया जाता है। इसलिये जिसप्रकार पाक के सम्बन्ध से चावल भातत्वेन व्यवहार किये जाते हैं उसीप्रकार प्रतीति के सम्बन्ध से ही रसरूप को प्राप्त सामाजिकों की वासना "**रसत्वेन**" व्यवहृत होती है। जिसप्रकार पकने से पूर्व चावलों की भात संज्ञा नहीं होती है, उसीप्रकार रति आदि की प्रतीति से पूर्व रस संज्ञा नहीं होती है।

इस रस में घटादि की अपेक्षा इतनी और विशेषता है कि यह रस प्रतीति काल में ही रहता है, न प्रतीति से पूर्व और न प्रतीति के पश्चात्, जबकि इसके विपरीत घट प्रतीति से पूर्व भी रहता है और प्रतीति के पश्चात् भी रहता है।

इसप्रकार विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों से अभिव्यक्त सहृदय सामाजिकों के हृदय में अवस्थित रति आदि स्थायीभाव ही रस कहलाता है। परिणामतः स्थायीभाव और रस में तात्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं समझना चाहिये क्योंकि एक विशिष्ट प्रक्रिया के माध्यम से वही स्थायीभाव रस नाम से कह दिया जाता है। जिसप्रकार तात्विक दृष्टि से यद्यपि गन्ना और चीनी में कोई भेद नहीं है परन्तु पुनरपि एक विशिष्ट प्रक्रिया के पश्चात् ही गन्ना चीनी नाम से कहा जाता है उससे पूर्व नहीं। जो भेद गन्ना और चीनी में है, वही भेद स्थायीभाव और रस में समझना चाहिये।

———

(१०) नाट्यशास्त्र प्रणेता भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या—

आचार्य भरत मुनि का, जो रस सिद्धान्त के मूलप्रवर्तक हैं, रससूत्र इसप्रकार हैं—"**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**"—अर्थात् विभाव (आलम्बन एवं उद्दीपन), अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस रससूत्र में "**संयोग**" और "**निष्पत्ति**" से भरतमुनि का क्या तात्पर्य है, यह ठीक-ठीक निश्चितरूपेण ज्ञात नहीं होता है। अतः इस मूल सूत्र की अपनी-अपनी प्रतिभा के उन्मेष से व्याख्या करने वाले विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। उनमें से प्रमुख चार आचार्यों—**भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनारायण** और **अभिनवगुप्त**—ने क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य और अलंकारशास्त्र को आधार मानकर व्याख्या की है। इनमें से **मीमांसक भट्टलोल्लट** के मत से भरतमुनि के उक्त सूत्र की निम्न व्याख्या है—

(१) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद—

"स्थायिनां विभावेनोत्पाद्योत्पादकभावरूपादनुभावेन गम्यगमकभावरूपाद् व्यभिचारिणा पोष्यपोषकभावरूपात् सम्बन्धात् रसस्य निष्पत्तिरुत्पत्तिरभिव्यक्तिः पुष्टिश्चेत्यर्थः। तथाहि—ललनादिभिरालम्बनविभावैः स्थायी रत्यादिको जनितः, उद्यानादिभिरुद्दीपनविभावैरुद्दीपितः, कटाक्षभुजक्षेपादिभिरनुभावैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिरुत्कण्ठादिभिः परिपोषितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः" इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

इस मत के अनुसार "**संयोगात्**" का अर्थ "**सम्बन्धात्**" और "**निष्पत्तिः**" का अर्थ "**उत्पत्तिः, अभिव्यक्तिः और पुष्टिः**" है। इस मत के अनुसार "**रस**" न तो नट में रहता है और न सहृदय सामाजिकों के अन्दर रहता है अपितु अनुकार्य नायक रामादि के अन्दर रहता है। नट की अभिनेय कुशलता के कारण तथा रूप की समानता के

कारण उसमें भी रस की प्रतीति का आरोप कर लिया जाता है और इस आरोप से ही सामाजिक चमत्कृत होकर आनन्दित होता है। विभाव के द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है, अतः रस और विभाव में उत्पाद्य और उत्पादकभाव सम्बन्ध होता है। अनुभावों के द्वारा रस प्रतीति गम्य होता है, अतः रस और अनुभाव का गम्यगमक-भाव सम्बन्ध होता है। सञ्चारीभाव अपनी सत्ता से रस की पुष्टि करते हैं, अतः रस के साथ उनका पोष्यपोषकभाव सम्बन्ध होता है। भट्टलोल्लट का यह मत मीमांसा-शास्त्र के अनुसार है क्योंकि वे स्वयं ही मीमांसक हैं।

(२) श्री शङ्कुक का अनुमितिवाद—

नैय्यायिक श्री शङ्कुक भरतसूत्र की अन्यथाप्रकारेण व्याख्या करते हैं। तद्यथा—**"स्थायिनो विभावादिभिरनुमाप्यानुमापकभावरूपसम्बन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरनुमितिरित्यर्थः।"**

श्री शङ्कुक नैय्यायिक हैं, अतः उन्होंने भरतसूत्र के **"संयोगात्"** शब्द का अर्थ **"अनुमानात्"** एवं **"निष्पत्तिः"** का अर्थ **"अनुमितिः"** किया है। इस मत के अनुसार अनुकरण के बल पर चित्रतुरगन्याय से नट में रस का अनुमान कर लिया जाता है तथा अनुमानकर्ता दर्शक को भी उससे आनन्द मिलता है। इस अनुमान का नाम ही रस है। इस मत में विभाव अनुमापक और रस अनुमाप्य हैं। ये ही क्रमशः गम्य और गमक हैं। रामादि के विभावादिकों का नट अपनी शिक्षा और कार्यपटुता से इसप्रकार अभिनय करता है कि वे विभावादि नट के ही मालूम पड़ते हैं। इस प्रकार अनुकर्ता नट में रस होता है। सामाजिक केवल उस रस का अनुमान कर लेते हैं।

(३) भट्टनायक का भुक्तिवाद—

सांख्यमतावलम्वी भट्टनायक ने भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। उनका कहना है कि—**"विभावादिभिः संयोगात् भोग्यभोजकभावसम्बन्धात् रसस्य निष्पत्तिर्भुक्तिरिति सूत्रार्थः"।**

इस मत के अन्दर शब्द के अभिधा व्यापार की तरह काव्य और नाटच के अन्दर अभिधा से विलक्षण भावकत्व और भोजकत्व नाम के दो पृथक् व्यापार माने गये हैं। काव्य के अर्थबोध के अनन्तर ही भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि रूप सीतादि और रामादि सम्बन्धिनी रति में से सीता और राम से सम्बन्धित अंश को छोड़कर सामान्य रूप से कामिनीत्वेन और रतित्वेन उपस्थापित किये जाते हैं। अन्तिम भोजकत्व व्यापार के द्वारा उक्त रीति से साधारणीकृत विभावादि के साथ उस रति का सहृदय सामाजिकों के द्वारा आस्वादन किया जाता है। इसप्रकार रति का आस्वाद ही रसनिष्पत्ति है।

भट्टनायक ने **"संयोगात्"** का अर्थ **"भोज्यभोजकभावसम्बन्धात्"** और **"निष्पत्तिः"** का अर्थ **"भुक्तिः"** किया है। इन्होंने रस निष्पत्ति के लिये काव्य की

तीन क्रियाओं को स्वीकार किया है—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। ये रस को न तो भट्टलोल्लट के समान उत्पन्न मानते हैं, न शङ्कुक के समान उसकी अनुमिति स्वीकार करते हैं और न उसकी अभिनवगुप्त के समान अभिव्यक्ति मानते हैं, अपितु इन तीनों से विलक्षण रस की भुक्ति को स्वीकार करते हैं। इस मत में अभिधा के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति, भावकत्व के द्वारा साधारणीकरण और भोजकत्व के द्वारा भोग को माना गया है। इन्होंने प्रेक्षक के हृदय में रस की अवस्थिति मानी है।

(४) अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—

आलंकारिक अभिनवगुप्त ने भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या इसप्रकार से की है:–"**स्थायिनां विभावादिभिः समं व्यंग्यव्यञ्जकभावरूपात् सम्बन्धात् विभावादीनां वा परस्परं संयोगान्मिलनाद्रसस्य निष्पत्तिरभिव्यक्तिः**"।

इस मत के अनुसार "**संयोगात्**" का अर्थ "**व्यंग्यव्यञ्जकभावरूपात् सम्बन्धात्**" तथा "निष्पत्तिः" का अर्थ "अभिव्यक्तिः" है। इसमें रसाभिव्यक्ति का क्रम इसप्रकार समझना चाहिये। सर्वप्रथम काव्य के पदों से उन-उन अर्थों की प्रतीति होती है, उसके पश्चात् उपस्थित विभावादि के द्वारा वाक्यार्थ का वोध होता है, उसके वाद गुण, अलंकार और अभिनयादि के द्वारा रत्यादि वासना से युक्त सहृदय सामाजिक का उन-उन विभावादियों के साथ साधारणीकरण हो जाता है और उस साधरणीकरण के द्वारा विभावादिकों से युक्त रत्यादि से अवच्छिन्न अज्ञानावरण के हट जाने के कारण अखण्ड, चिदानन्दस्वरूप रस की प्रतीति सहृदय सामाजिक को होती है।

इस मत में विभावादि रस के व्यञ्जक हैं और रस व्यंग्य है। अतः विभाव आदि के द्वारा स्थायीभाव की अभिव्यक्ति होती है। रति आदि स्थायीभाव सहृदय सामाजिकों के अन्तःकरण में वासना या संस्कार रूप से अव्यक्त दशा में वर्तमान रहते हैं। अभिनवगुप्त ने रस की अवस्थिति सामाजिकों में मानी है।

(५) दशरूपककार धनञ्जय ने रसनिष्पत्ति इसप्रकार मानी है:—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥ दशरूपक ४।१.

इनके मत के अनुसार रस सामाजिकों को ही प्राप्त होता है क्योंकि वह वर्तमान है। वह रस अनुकार्यों (नायकादि) में नहीं रहता है क्योंकि वे वर्तमान नहीं रहते हैं और न वह कृति में रहता है क्योंकि उसका वह उद्देश्य नहीं है। उसका उद्देश्य तो विभावादिकों को सामने लाना है, जिनके द्वारा स्थायीभाव प्रकाश में आता है। न रस द्रष्टा द्वारा अनुकर्ताओं के अनुभव की प्रतीति है। वस्तुतः दर्शक की अवस्था उस बालक के समान होती है जो मिट्टी के हाथी से खेलता हुआ अपने ही उत्साह का आनन्द लेता है। इसी बालक के समान अर्जुन आदि का वर्णन पढ़कर अथवा अभिनय देखकर पाठक या दर्शक अपने ही हृदयस्थ भावों का आनन्दास्वादन करते हैं। देखिये—

क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभिः ।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वत् श्रोतृणामर्जुनादिभिः ।। दशरूपक ४/४४.

धनञ्जय ने नट तथा प्रेक्षक दोनों में ही रस की अवस्थिति मानी है ।

संक्षेप में, स्थायीभाव जब विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के योग से आस्वादन करने योग्य हो जाता है तब सहृदय प्रेक्षक के हृदय में रसरूप से उसका आस्वादन होता है । स्थायीभाव के अनुभव और उसके रसास्वादन में भेद है । अनुभव में भाव की सुख-दुःख पूर्ण प्रकृति के अनुसार अनुभवकर्त्ता को भी सुख-दुःख होता है परन्तु उसका आस्वादन इनसे रहित होता है । रस की अवस्थिति न नायक में मानी जा सकती है और न नट में क्योंकि रस तो वर्तमान वस्तु है और नायक भूतकाल में था, वर्तमान में नहीं है और नट का कार्य नायक आदि के कार्यों का अभिनय के द्वारा अनुकरणमात्र करना है । वह तो केवल विभाव आदि को प्रेक्षक के सामने प्रदर्शित भर कर देता है । रस की अवस्थिति सहृदय प्रेक्षक में होती है और प्रेक्षक में भी केवल स्थायीभाव आदि के ज्ञान मात्र से रस की उत्पत्ति नहीं होती है ।

(११) रसस्वरूप और उसका आस्वादनप्रकारः—

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।। साहित्यदर्पण ३–२

उपर्युक्त कारिकाओं के अन्दर विद्यमान **अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः, वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः, ब्रह्मास्वादसहोदरः** तथा **लोकोत्तरचमत्कारप्राणः"—**इन पदों से **रस** का स्वरूप बताया गया है । **"स्वाकारवदभिन्नत्वेन"** —इस पद से रस के आस्वादन का प्रकार बताया गया है और **"कैश्चित्प्रमातृभिः"**—पद से रसास्वाद के अधिकारियों का निर्देश किया गया है । सम्प्रति इनका क्रमशः वर्णन किया जा रहा है—

(क) रस का स्वरूप—

"रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते"—इस प्राचीन आचार्यों की उक्ति के अनुसार रजोगुण और तमोगुण–इन दोनों के सम्पर्क से असंस्पृष्ट अन्तःकरण इस रस निरूपण के प्रसङ्ग में सत्व कहलाता है । इसप्रकार रजोगुण और तमोगुण के बीजभूत मानसधर्मों को तिरस्कृत करके सत्त्वगुण के उद्रेक से अखण्ड अर्थात् पूर्ण अर्थात् विभाव आदि तथा रति आदि का प्रकाश एवं सुख और चमत्कार—इन सबसे अभिन्न एतदात्मस्वरूप, स्वयं प्रकाशस्वरूप अर्थात् इसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं है अर्थात् जिसप्रकार ज्ञान के अनन्तर अपना ज्ञान घटादि को प्रकाशित कर देता है उसीप्रकार रस स्वयं ही अपने आपको प्रकाशित करता है, आनन्दमय और चिन्मय अर्थात् चमत्कारमय, रसास्वाद के समय अन्य ज्ञेय विषय के सम्पर्क से शून्य अर्थात् जिस समय रसानुभूति हो रही होती है उस समय किसी अन्य ज्ञेय विषय का ज्ञान

नहीं होता है, अत एव ब्रह्मास्वादसहोदर अर्थात् परमात्मा के साक्षात्कार के समान (परमात्मा के ज्ञान के समय केवल ब्रह्ममात्र की अनुभूति होती है किन्तु रस की अनुभूति के समय में विभावादिकों की भी अनुभूति होती है। इसीलिये इस रस को ब्रह्मानन्दसहोदर कहा है, ब्रह्मानन्द नहीं), अलौकिक चमत्कार है प्राण जिसका ऐसा रस कहलाता है।

(ख) रसास्वादन प्रकार—

यह रस **"स्वाकारवदभिन्नत्वेन"**—अपने शरीर की तरह तादात्म्यरूप से आस्वादन किया जाता है। जिसप्रकार आत्मा से भिन्न भी शरीर के विषय में **"मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ"**—इसप्रकार के उल्लेख से अभेद की प्रतीति होती है उसीप्रकार रस भी नायकादिनिष्ठ होने के कारण **"मैं राम सीताविषयक रति वाला हूँ"** इस-प्रकार आत्मनिष्ठ होने के कारण ज्ञाता और ज्ञान के अभेदरूप में आस्वाद किया जाता है। घटादि का ज्ञान होने पर **"मैं घड़े को जानता हूँ"** इसप्रकार का जैसा ज्ञाता और ज्ञान का भेद प्रतीत होता है, वैसा भेद रसानुभूति के अन्दर नहीं होता है।

यद्यपि **"स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः"**—अर्थात् काव्यार्थ के परिशीलन से अथवा काव्य के विभावादिकों के मेल से उत्पन्न होने वाले आनन्द का अनुभव ही आस्वाद कहलाता है—इस कथन के अनुसार रस और आस्वाद में कोई भिन्नता नहीं है, रस आस्वादरूप ही है तथापि **"रसः स्वाद्यते"** = रस आस्वादित होता है, इत्यादिक प्रयोग कल्पित भेद मानकर किये हुये समझने चाहिये। जिसप्रकार **'राहोः शिरः'** इसके अन्दर अभेद होने पर भी औपचारिकरूप से भेद को स्वीकार करके ही वैसा प्रयोग किया जाता है। उसीप्रकार रस और आस्वाद के अन्दर कर्म और क्रिया के रूप में उल्लेख करना विना भेद के सम्भव नहीं है, अतः अभेद होने पर भी काल्पनिक भेद को स्वीकार करके ही इसप्रकार का प्रयोग किया जाता है। परिणामतः रस आस्वादरूप ही है उससे भिन्न नहीं, ऐसा समझना चाहिये। अथवा इन्हें कर्मकर्ता का प्रयोग समझना चाहिये अर्थात् **"रसः स्वयमेव आस्वाद्यते"** = **"स्वाभिन्नास्वादविषयः इति भावः"**। जिसप्रकार **"भिद्यते काष्ठः स्वयमेव"**—यहाँ पर एक ही काष्ठ के अन्दर कर्मत्व और कर्तृत्व दोनों कहने की इच्छा से अभेद के आरोप की तरह **"रसः स्वाद्यते"** यहाँ पर भी आस्वाद्य और आस्वादन के अन्दर अभेद होने पर भी भेद की विवक्षा के कारण कर्मकर्ता का प्रयोग समझना चाहिये। कहा भी है कि—

"रस्यमानतामात्रसारत्वात्प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः" इति।

अर्थात् रस में रस्यमानता ही साररूप होती है, अतः रस प्रकाशशरीर (ज्ञानरूप) से भिन्न नहीं है। अर्थात् ज्ञानरूप को प्राप्त रत्यादि ही सहृदय सामाजिकों के आनन्दरूप चमत्कार को उत्पन्न करने के कारण **"रस"** कहाता है।

यहाँ यह आशंका उत्पन्न होती है कि—"**स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्द-समुद्भवः**" **इत्युक्तदिशा रसस्यास्वादानतिरिक्तत्वम्** तथा "**प्रकाशशरीरादनन्य एव रसः**"- **इन सब कारणों से** रस अज्ञेय अर्थात् ज्ञेय का—ज्ञान का अविषय सिद्ध होता है **क्योंकि ज्ञान** अपने विषयभूत घटादिकों से सदा भिन्न होता है, अतः आस्वादरूप अथवा प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप रस भी आस्वाद और प्रकाश का विषय नहीं हो सकता ? इसीप्रकार यह रस व्यञ्जनाजन्य व्यंग्य भी नहीं हो सकता है क्योंकि व्यञ्जना शक्ति से उत्पन्न होने वाली प्रतीति भी ज्ञान विशेष होती है और रस भी ज्ञान विशेष होता है। इसप्रकार व्यञ्जना और रस दोनों के ज्ञानविशेष होने के कारण ये दोनों एक ही सिद्ध हो जाते हैं ? पुनः रस की व्यंग्यता कैसे सिद्ध होगी ? **इस शंका का समाधान करते हैं** कि—बात यह है कि हेतु दो प्रकार के होते हैं—(१) **कारक हेतु** और (२) **ज्ञापक अर्थात् व्यञ्जक हेतु**। इसमें से **कारक हेतु** वह कहलाता है जो पहले से असिद्ध वस्तु को प्रकाशित करता है; यथा-चक्र, चीवर, दंड, कुलाल और कपालादि। ये सब पहले से अविद्यमान घट को उत्पन्न करते हैं। इसके विपरीत **ज्ञापक हेतु** वह कहलाता है जो सिद्ध अर्थ के होने पर अपने ज्ञान के द्वारा अन्य सिद्ध वस्तु के ज्ञान का कारण होता है, यथा—दीपक। यदि घटादि वस्तु पहले से विद्यमान हों तो दीपक अपने ज्ञान के द्वारा उनका प्रकाश कर देता है। यदि वह ज्ञापक हेतु असिद्ध अर्थ को प्रकाशित करने लगेगा तब तो इस ज्ञापक हेतु में और कारक हेतु में कोई भेद ही नहीं होगा। इसप्रकार घट और दीपक की तरह व्यंग्य और व्यञ्जक भिन्न ही सिद्ध होते हैं, अभिन्न नहीं। अतः रस व्यञ्जना शक्ति से व्यंग्य हो सकता है। और फिर यह स्वादनाख्य व्यापार कारक और ज्ञापक हेतुओं से विलक्षण अनिर्वचनीय ही होता है। यही कहा है—

"**विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिद् व्यापारः**" इति।

अत एव इस विषय में रसन, आस्वादन और चमत्करण आदि शब्दों का व्यवहार भी विलक्षण होता है। कहने का आशय यह है कि जिसप्रकार संयुक्तसमवाय से सुखादि का साक्षात्कार होता है उसीप्रकार "**आस्वादनाख्य**" व्यापार से सामाजिकों के हृदयों में विद्यमान वासना का साक्षात्कार होता है। जिसप्रकार "**भूतलं रजतवत्**" एतद्विषयक ज्ञान शुक्ति के सम्बन्ध में लौकिक है और रजत के अंश में अलौकिक है, उसीप्रकार रस का साक्षात्कार भी वासना के अंश में लौकिक है और रत्यादि के अंश में अलौकिक है। इसप्रकार रस या आस्वाद को व्यञ्जना का स्वरूपविशेष अथवा उससे विलक्षण मानने में कोई क्षति नहीं है।

इसप्रकार रसास्वाद के अलौकिक अथवा विलक्षण होने के कारण ही करुणादि रस दुःखमय न होकर सुखमय ही कहलाते हैं और यही कारण है कि करुणरस प्रधान काव्यों को सुनने तथा नाटकादिकों को देखने में सभी सामाजिकों की अधिक और अधिक प्रवृत्ति होती है।

इस रसास्वाद का वर्णन आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में अभिनवगुप्त के मत के वर्णन के प्रसङ्ग में इसप्रकार किया है—

"पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचत्मकारी शृंगारादिको रसः ।"

(ग) रसास्वाद के अधिकारीः—

उपर्युक्त कारिका में "**कैश्चित्प्रमातृभिः**" कहकर रस के आस्वाद के अधिकारियों का निर्देश किया गया है । "**कैश्चित्**" की व्याख्या स्वयं साहित्यदर्पणकार ने की है । वे लिखते हैं कि "**कैश्चिदिति प्राक्तनपुण्यशालिभिः**" । कहने का आशय यह है कि कुछ पूर्वजन्म के पुण्यशाली मनुष्यों के द्वारा इस अलौकिक काव्य रस का आस्वादन किया जाता है । "**पूर्वजन्म के पुण्यशाली**" इसलिये कहा गया है क्योंकि इस वर्तमान जीवन के पुण्य का इस शरीर के द्वारा अनुभव करना सर्वथा असम्भव है । क्योंकि कारण के अभाव के कारण कार्य का अभाव होता है—इस नियम के अनुसार जब पूर्वजन्म के पुण्यों का अभाव है तो इस वर्तमान जीवन के अन्दर उसके कार्यभूत सुखस्वरूप रस के आस्वाद की अनुभूति कैसे हो सकती है ? इसीलिये कहा हैः—

"**पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगविद्रससन्ततिम्**" इति ।

अर्थात् पूर्वजन्म के पुण्यों के कारण पुण्यशाली मनुष्य योगियों के समान श्रृङ्गारादि रस की अविच्छिन्न धारा को (योगियों के पक्ष में) ब्रह्मज्ञानरूप अमृतधारा को (क्योंकि श्रुति में परमेश्वर को "**रसो वै सः**" कहा गया है) अनुभव करते हैं । अर्थात् जिसप्रकार योगी पुरुष शुद्ध, स्वयं प्रकाशस्वरूप, आनन्दमय एवं चिन्मय ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं उसीप्रकार कोई-कोई प्राक्तन पुण्यों के कारण वासनाख्य संस्कार से युक्त सहृदय रस का आस्वाद लेते हैं । इसीलिये कहा भी है—

"**विभावादसंभिन्नाङ्गरत्याद्यंशकर्बुरितः स्वप्रकाशानन्दचमत्काररूपो रसः**"इति ।

इस अनिर्वचनीय विलक्षण रस का आस्वाद रत्यादि के साथ तादात्म्य से प्रतीति होने वाली वासना के विना नहीं होता है अर्थात् रत्यादि की वासना वाले ही रस का आस्वाद लेते हैं, दूसरे नहीं । और यह वासना, जिससे अनुप्राणित सहृदय सामाजिक रसास्वाद को ग्रहण करते हैं, दो प्रकार की होतीं है'—(१) **आधुनिकी** अर्थात् इस जन्म के अन्दर निर्मित और (२) **प्राक्तनी** = **प्राचीन** अर्थात् पूर्वजन्म में प्राप्त की हुई । ये दोनों वासनायें मिलकर ही रसास्वाद के प्रति कारण होती हैं । इस विषय में धर्मदत्त ने कहा भी हैः—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तःकाष्ठकुड्याशमसंनिभाः ॥ सा० द० तृतीय परिच्छेद

———

१२. साधारणीकरण

आचार्य विश्वनाथ कविराज ने अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में रस के प्रकरण में "साधारणीकरण" को स्वीकार किया है और उसकी व्याख्या इस-प्रकार की है:—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः ॥ सा० द० ३. ९
तत्प्रभावेण यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः ।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥ सहित्यदर्पण ३. १०

अर्थात् विभाव (आलम्बन और उद्दीपन), अनुभाव और सञ्चारीभावों का व्यापार है, जो नाम से साधारणीकरण कहलाता है । कहने का आशय यह है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों के विशिष्ट व्यापार का नाम साधारणीकरण है । वस्तुतः इस साधारणीकरण की प्रक्रिया में होता यह है कि विभावादिकों के विभावन अनुभावन और व्यभिचारण व्यापार नायक और सामाजिकों को अपना साधारण आश्रय बना लेता है । यह साधारणीकरण व्यापार सामाजिक के हृदय के अन्दर रामादि की रति को अपनी रति के रूप में उपस्थित कर देता है और नायक (रामादि) और नायिका (सीतादि) को व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से पृथक् करके सामान्य नायक-नायिका के रूप में उपस्थित करता है और सहृदय सामाजिक अपने आपको रामादि समझने लगता है । इस साधारणीकरण के प्रभाव से राम का समुद्र को पार करना अथवा हनुमान् का समुद्र को लांघना आदि को सहृदय सामाजिक राम अथवा हनुमान् के साथ तादात्म्यभाव से अपने द्वारा ही किये हुये समझने लगता है। जिसप्रकार स्फटिक के पत्थर के ऊपर रखे हुये जपाकुसुम की रागिमा के प्रतिबिम्ब से स्फटिक शिला भी रागयुक्त प्रतीत होती है, उसीप्रकार साधारणीकरण व्यापार से सामाजिक के हृदय में सीतादिकृत रामादि की रत्यादि का ही प्रतिफलन होता है । इसप्रकार नायकादिकों के साथ साधारणीकरण हो जाने के उपरान्त ही सहृदय सामाजिकों को रसास्वाद होता है । इस साधारणीकरण को उदाहरण द्वारा इसप्रकार समझा जा सकता है—

मान लीजिये कि आपके सामने एक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति एक निरीह बालक् को बड़ी निर्दयता से पीट रहा है । आप उस बालक को पीटे जाने से बचाना चाहते हैं, परन्तु आपको यह भय है कि यदि आप उस बालक को बचाने के लिये बीच में आयेंगे तो कहीं वह व्यक्ति आपको भी न मारने लग जाये । इस स्थिति में न तो आपका तादात्म्य (साधारणीकरण) उस बालक के साथ ही हो पाता है क्योंकि आप पिटना नहीं चाहते और न ही आपका तादात्म्य (साधारणीकरण) उस पीटने वाले व्यक्ति के साथ हो पाता है क्योंकि आप उस बालक को पीटना नहीं चाहते । आपकी यह स्थिति तटस्थ द्रष्टा के समान है । इसी समय वहाँ पुलिस का सिपाही आ जाता है और वह उस पीटने वाले व्यक्ति को दो-चार डण्डे जमा देता है और आप एकदम कह उठते हैं कि हाँ, आपने ठीक किया । यह बिना किसी अपराध

के इस बालक को पीट रहा था बस, यह जो आपका पुलिस के सिपाही के साथ तादात्म्य है, यही **साधारणीकरण है।**

इसीप्रकार हॉकी के मैदान में बाहर दर्शक के रूप में खड़े हुये जब आपका हाथ अनायास ही गोल की डी में आई हुई गेंद को हिट मारने के लिये उठ जाता है अथवा फुटवॉल के मैच में गोल करने के अवसर पर जब आपका पैर उस फुटबॉल में किक मारने के लिये अनायास उठ जाता है, बस, यही साधारणीकरण की स्थिति है और यही साधारणीकरण है। इस साधारणीकरण के अवसर पर—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।। साहित्यदर्प ३. १२।।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ।

ये आलम्बन और उद्दीपनादि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव दूसरे अर्थात् नायक के ही थे, या फिर ये दिखाई देने वाले व्यापार दूसरे के (नायकादि के) नहीं थे, ये अवलोकनादि व्यापार मेरे ही हैं, मेरे नहीं हैं, इसप्रकार सम्बन्ध विशेष को स्वीकार करने अथवा स्वीकार न करने रूप ज्ञान नहीं होता है। इसप्रकार इस साधारणीकरण की स्थिति में सम्बन्ध विशेष का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी को अभिनवगुप्ताचार्य ने इसप्रकार वर्णित किया है—

''ममैवेते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवेते न ममैवेते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवेते इति-सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियमप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात्⋯⋯पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः⋯⋯शृङ्गारादिको रसः'' इति।

अर्थात् ये मेरे हैं, शत्रु के हैं, ये तटस्थ के हैं—इसप्रकार सम्बन्धविशेष को स्वीकार करने के नियम का और ये मेरे नहीं हैं, ये शत्रु के नहीं है, ये तटस्थ के नहीं हैं–इसप्रकार सम्बन्धविशेष को परिहार करने के नियम के अनध्यवसाय से सीतात्वादि विशेष अंश की छोड़कर कामिनीत्वरूपेण प्रतीयमानरूप से अभिव्यक्त हुआ रत्यादि स्थायीभाव उस-उस प्रेक्षक का आत्मनिष्ठ होता हुआ भी विभावादि के साधारणीकरण के बल से⋯⋯पानकरसन्याय से आस्वाद्यमान⋯⋯शृंगारादिक रस कहा जाता है।

संक्षेप में, यद्यपि राम, सीता तथा चन्द्रोदयादि आलम्बनोद्दीपनविभाव और कटाक्ष, भ्रू विक्षेपादि अनुभाव एवं व्रीडादि सञ्चारीभाव लोकसिद्ध ही होते हैं तथापि काव्यादि में उपनिबद्ध होने से उनमें ''**विभावन, अनुभावन** और **सञ्चारण**'' अलौकिक व्यापार आ जाता है। इसी का नाम ''**साधारणीकरण**'' है। इसी लौकिक व्यापार से युक्त होने के कारण विभावादि अलौकिक कहलाते हैं और सहृदय सामाजिक अपने ही हृदय में वासनारूप से अवस्थित रत्यादि स्थायीभाव का रसास्वाद करता है।

१३. रस किसमें रहता है ?

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ कविराज की सम्मति में (१) **रस अनुकार्य रामादि नायक में नहीं रहता है** । क्योंकि–

पारिमित्याल्लौकिकत्वात्सान्तरायतया तथा ।
अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत् ।। साहित्यदर्पण ३. १८।।

अर्थात् **परिमित होने के कारण** अर्थात् सीतादि विषयक रति केवल रामादिनिष्ठ होने के कारण परिमित है परन्तु रस नाना सामाजिकों के हृदय में अभिव्यक्त होने के कारण व्यापक है, **लौकिक होने के कारण** अर्थात् सीतादिनिष्ठरत्यादि लौकिक हैं जबकि काव्य और नाट्य के अन्दर वर्णित रत्यादि अलौकिक कहे जाते हैं, **प्रतिकूल होने के कारण** अर्थात् रामादिगत रत्यादि काव्य और नाट्य के सुनने और देखने में प्रतिकूल होती है । अर्थात् दूसरों के रहस्य का दर्शन सभ्यों के हृदय में विरसता को उत्पन्न करने वाला होता है, जबकि काव्य और नाट्य का उनके अनुकूल होता है । इसप्रकार उपर्युक्त तीन कारणों में रस अनुकार्य में नहीं है ।

(२) **रस अनुकर्तृनिष्ठ अर्थात् नटगत भी नहीं होता** है अर्थात् रस नट आदि में नहीं रहता है क्योंकि नट अभिनय की शिक्षा और अभ्यास आदि मात्र से रामादि की समानता को अभिनय से प्रकट करता है, अतः वह रस का आस्वादयिता नहीं हो सकता । किन्तु हाँ, यदि वह नट काव्यार्थ की भावना के द्वारा अपने में रामादि की समानता को अनुभव करता है, तो वह सहृदय सामाजिक की कोटि में आता है और उस अवस्था में रस की उसमें अवस्थिति होती है ।

इसप्रकार आचार्य विश्वनाथ ने सहृदय सामाजिक के अन्दर रस की अवस्थिति स्वीकार की है ।

---

१४. रस की अलौकिकता—

विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों के संयोग से रस की अभिव्यक्ति होती है । यह अभिव्यक्त होने वाला **रस (१) ज्ञाप्य नहीं है** क्योंकि जो वस्तु ज्ञाप्य अर्थात् ज्ञान का विषय होती है वह कभी-कभी प्रतीति का विषय नहीं भी हुआ करती है । **यथा**—छिपा हुआ घट । परन्तु रस के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है अर्थात् **रस हो** और उसकी प्रतीति न हो, ऐसा कभी हो ही नहीं सकता हैं । परन्तु इसके **विपरीत** जब रस की सत्ता होती है उसका अनुभव सहृदय सामाजिकों के हृदयों में **अवश्य** होता है । ऐसा नहीं हो सकता है कि रस तो हो, परन्तु उसका अनुभव न हो । **अतः** यह रस अपनी सत्ता में कभी व्यभिचरित नहीं होता है, इसलिये ज्ञाप्य नहीं है ।

(२) **रस कार्य नहीं है** क्योंकि यह विभावादि समूहालम्बनात्मक है । कहने का आशय यह है कि यह रस अविभाव, नुभाव, और सञ्चारीभाव के ज्ञान से उत्पन्न

होने वाला नहीं है। यदि रस कार्य होता तो उसका कारण विभावादि ज्ञान ही होता किन्तु रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति ही नहीं होती है। नियम यह है कि कारण का ज्ञान और उस कारण के कार्य (रस) का ज्ञान एक समय में कभी नहीं होता। चन्दन के स्पर्श का ज्ञान और चन्दन स्पर्श से उत्पन्न सुख का ज्ञान एक साथ एक समय में नहीं होता है। विभावादि समूहालम्बनात्मक ज्ञान रूप से ही रस की प्रतीति होती है। अतः विभावादि ज्ञान रस का कारण नहीं है। परिणामतः रस कार्य भी नहीं है।

(३) **रस नित्य नहीं है** क्योंकि यह विभावादि के ज्ञान से पूर्व होने वाले संवेदन से रहित है। यदि रस नित्य होता तो विभावादिकों के ज्ञान से पूर्व भी रहता, परन्तु ऐसा नहीं है, अतः नित्य नहीं है। इस रस का ज्ञान तो सहृदय सामाजिक को अभिनय के देखने के समय ही होता है। नित्य वस्तु सार्वकालिक हुआ करती है। अतः आत्मा और आकाश के समान यह रस नित्य नहीं है। ऐसा नहीं होता है कि नित्य वस्तु अपने ज्ञान के समय में ही रहती हो और अन्य समय में न रहती हो, परन्तु रस ऐसा नहीं है। वह तो केवल ज्ञान काल में ही रहता है, अन्य काल में नहीं। परिणामतः रस नित्य नहीं है।

(४) **रस भविष्यत्काल में होने वाला भी नहीं कहा जा सकता** क्योंकि वह साक्षात् आनन्दघन और प्रकाशस्वरूप है। यदि रस भविष्यत्काल में होता तो वर्तमान में अनुभव में कैसे आता। कल होने वाली वस्तु आज नहीं दीखा करती। अतः रस भविष्यत् नहीं है।

(५) **रस वर्तमानकालिक भी नहीं है** क्योंकि यह न तो कार्य है और न ही ज्ञाप्य है। अपितु इसके विपरीत यह रस कार्य और ज्ञाप्य दोनों से विलक्षण है। आशय यह है कि वर्तमानकालिक होने के लिये या तो घट की तरह कार्य होना चाहिये और फिर आकाश की तरह ज्ञाप्य होना चाहिये। इस रस में ये दोनों ही नहीं है। नियम यह होता है कि जो कार्य होता है वह ज्ञाप्य भी होता है और वर्तमानकालिक भी होगा। रस क्योंकि कार्य और ज्ञाप्य नहीं हैं, अतः वर्तमानकालिक भी नहीं है।

(६) **रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं है**, इसके अन्दर दो कारण हैं— (१) **विभावादिपरामर्शविषयत्वात्**—अर्थात् निर्विकल्पक ("**निर्गतो विकल्पः—विभिन्नकल्पः विशिष्टप्रकार इत्यर्थः यस्मिन् तादृशं निरवच्छिन्नमित्यर्थः सम्बन्धानवगाहीति यावत्**") ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय = इस सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है जबकि रस के अन्दर विभावादिकों का परामर्श अर्थात् विशिष्ट—वैशिष्ट्य सम्बन्ध होता है। (२) **परमानन्दमयत्वेन स्फुटं संवेद्यत्वात्**—निर्विकल्पक ज्ञान निष्प्रकारक होता है। उसमें किसी धर्म का प्रकारता रूप से भान नहीं होता परन्तु रस में सहृदय सामाजिकों को रस के परमानन्द होने के कारण स्फुट प्रतीति होती है। अतः रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है।

(७) **रस सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं है** क्योंकि वह वचन प्रयोग की योग्यता से रहित है। अर्थात् रस को शब्द से नहीं कह सकते, वह अनिर्वचनीय है, जबकि सविकल्पक ज्ञान के विषयीभूत सभी घट-पट आदि शब्द के द्वारा प्रकाशित किये जा सकते हैं। रस क्योंकि व्यंग्य है अतः वाचक और लक्षक शब्दों के द्वारा प्रयोग के योग्य नहीं है। इसके विपरीत जो वाचक और लक्षक शब्दों से प्रयोगार्ह होगा वह सविकल्पक ज्ञान का विषय होगा। रस ऐसा नहीं है, अतः वह सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं है।

(८) **रस परोक्ष-अतीन्द्रिय नहीं है** क्योंकि उसका साक्षाद् अनुभव होता है, साक्षात्कार होता है।

(९) **रस प्रत्यक्ष भी नहीं है** क्योंकि वह काव्यार्थ के सूचक शब्दों से उत्पन्न होता है अर्थात् रस काव्य से उत्पन्न विभावादि ज्ञान से उत्पन्न होता है। यहाँ रस की प्रत्यक्षानुभव से विलक्षणता सिद्ध की गई है, प्रत्यक्ष से भिन्नता नहीं, क्योंकि यदि प्रत्यक्ष से भिन्नता सिद्ध करते तो वह वदतोव्याघात दोष होता। इसप्रकार रस प्रत्यक्ष नहीं है।

इसप्रकार रस के विषय में उपर्युक्त नौ सामान्य धर्मों का निराकरण करने के उपरान्त उसके वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

"तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्"।

इसप्रकार सहृदय सामाजिकों **के द्वारा संवेद्य यह रस अलौकिक ही (सत्यम्) है।**

———

१५. दृश्य काव्य का सामान्य विवेचन

आचार्य विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्यदर्पण ग्रन्थ के षष्ठ परिच्छेद के अन्दर दृश्य काव्य का विवेचन किया है। इसको **"दृश्यकाव्य"** इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह **देखने के योग्य ("द्रष्टुं योग्यं दृश्यम्")** होता है। यद्यपि इस दृश्य काव्य में वाचिक अंश में श्रवण की योग्यता होती है तथापि इसमें **"श्रव्य काव्य"** का व्यवहार नहीं होता है। इस दृश्य **काव्य** को **"अभिनेय"** कहा गया है—**"दृश्यं तत्राभिनेयम्"** (दर्पण ६.१) अर्थात् दृश्य वे होते हैं जिनका अभिनय किया जा सके अर्थात् जो नाटक में खेले जा सकें। इसी दृश्य काव्य **को रूपक ("रूपारोपात्तु रूपकम")** भी कहते हैं क्योंकि नट में अभिनेय रामादि नायकादि के स्वरूप का आरोप किया जाता है। दशरूपककार ने इसका लक्षण **"रूपके तत्समारोपाद्"** (१·७) किया है अर्थात् **"नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकम्**। **रूपक** की सामान्य व्युत्पत्ति है **"रूपयति अन्यस्य रामादेः रूपेणान्यान् नटाननुकरोतीति रूपकम्"। मन्दारमरन्द** में इसप्रप्रकार कहा गया है—

"यथा मुखादौ पद्मादेरारोपो रूपकं मतम् ।
तथैव नायकारोपो नरे रूपकमुच्यते ।।इति ।

इसी रूपक को दृश्यमान होने के कारण "रूप" इस नाम से भी कहा जाता है। ("**रूपं दृश्यतयोच्यते**" दशरूपक १·७) साथ ही इसको नाटच भी कहा गया है और इसका लक्षण "**अवस्थानुकृतिर्नाटचम्**" (दशरूपक १.७) किया गया है अर्थात् काव्य में उपनिवद्ध धीरोदात्तादि नायकों की अवस्थाओं का आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक इन चार प्रकार के अभिनय से अनुकरण किया जाता है, अतः इसे "नाटच" कहा जाता है। इसप्रकार दृश्यकाव्य को **रूपक**, **रूप** और **नाटच**-इन भिन्न भिन्न नामों से व्यवहृत किया जाता है ।

इस नाटच की उत्पत्ति के विषय में सवसे प्राचीन उल्लेख आचार्य भरतमुनि कृत नाटचशास्त्र के प्रथम अध्याय में उपलब्ध होता है । इस प्रथम अध्याय का नाम ही "**नाटचोत्पत्ति**" है । यहाँ नाटचात्पत्ति का विवरण इसप्रकार है—

"**नाटचशास्त्र**" के प्रथम वक्ता ब्रह्मा जी हैं । इसीलिये तो आचार्य भरत ने कहा है कि "**नाटचशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम्**" (१·१) इति । एक स्वायंभुव मन्वन्तर में सत्ययुग के समाप्त हो जाने पर और वैवस्वत मनु के मन्वन्तर के त्रेता युग के आरम्भ हो जाने पर इन्द्र के अधिष्ठातृत्व में देवताओं ने पितामह ब्रह्मा से यह कहा कि भगवन्-"**क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्**" (१·११) अर्थात् हम एक ऐसा मनोरञ्जन (क्रीडनीयकम्) चाहते हैं जो दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार का हो । इसका आशय यह हुआ कि नाटच की उत्पत्ति के मूल में "मनोरञ्जन" की भावना रही होगी, ऐसा प्रतीत होता है। भगवान् बह्मा ने इसप्रकार पञ्चम नाट्यवेद की सृष्टि की, जिसकी उत्पत्ति चारों वेदों के अङ्गों से हुई है । तद्यथा—

जग्राह पाठचं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीत मेव च ।
यजुर्वेदाभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।। १. ७. ।।

अर्थात् इस नाटचवेद की रचना ऋग्वेद से कथावस्तु, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस को लेकर हुई है । इसका आशय यह हुआ कि किसी भी नाटक की समालोचना कथावस्तु, संगीत, अभिनेयता और रस—इन चार तत्वों के आधार पर की जानी चाहिये । इसीका संकेत धनञ्जय ने अपने दशरूपक में इसप्रकार किया है—

"**उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाटचवेदं विरञ्चिश्चक्रे**—अर्थात् नाट्य-वेद की रचना ब्रह्मा ने वेदों से सार लेकर की है ।

इसप्रकार पञ्चम नाटचवेद की रचना करके ब्रह्मा ने इन्द्र से कहा कि "**इतिहासो मया सृष्टः**" (१.१६.) अर्थात् मैंने इतिहास की रचना कर दी है । [यहाँ आचार्य भरत ने नाटचवेद को इतिहास कहा है ।] तुम इसका अभिनय उन देवताओं से कराओ, जो अभिनय में कुशल, पण्डित, प्रगल्भ और थकान को अनुभव करने वाले

न हों। इन्द्र ने विनम्रभाव से कहा कि हे भगवन्, देवतागण इस नाटचवेद को ग्रहण करने अर्थात् समझने, धारण करने, जानने और अभिनय करने में सर्वथा असमर्थ हैं। अधिक क्या कहूँ वे इस नाटचकर्म के लिये सर्वथा अयोग्य हैं। इन्द्र के इस वचन को सुनकर ब्रह्मा ने आचार्य भरत से कहा कि "**तुम अपने सौ शिष्यों के साथ इस नाटचवेद के अभिनय का आयोजन करो**"। आचार्य भरत ने भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तियों का आश्रय लेकर अभिनय का आयोजन किया। परन्तु जब ब्रह्मा ने कैशिकी वृत्ति की भी योजना करने के लिये कहा तब भरतमुनि ने कहा कि इस कैशिकीवृत्ति का अभिनय स्त्रियों के विना सम्भव नहीं है, अतः कैशिकीवृत्ति के लिये अप्सराओं की नियुक्ति हुई। नारदादि गन्धर्व संगीत के काम में नियुक्त किये गये और कहने लगे ब्रह्मन्, आपके आदेशानुसार नाटच की सम्पूर्ण तैयारी पूरी हो चुकी है, अब आप कहिये कि मुझे क्या करना चाहिये। ब्रह्मा जी कहने लगे कि—

> महानयं प्रयोगस्य समयः समुपस्थितः।
> अयं ध्वजमहः श्रीमान्महेन्द्रस्य प्रवर्तते॥
> अत्रेदानीमयं वेदो नाटचसंज्ञः प्रयुज्यताम्॥ १.५४–५५.

सम्प्रति इस नाटच का अभिमय करने का महान् अवसर आ गया है। इस समय इन्द्र का "**ध्वजमहोत्सव**" चल रहा है। इसी में इस नाटच नामक वेद का अभिनय किया जाना चाहिये। यह इन्द्रध्वज महोत्सव असुरों पर इन्द्र की विजय के उपलक्ष्य में भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को मनाया जाता था। इस इन्द्र की असुरों पर विजय के उपलक्ष्य में मनाये जाने वाले "ध्वजमहोत्सव" में सबसे पूर्व आचार्य भरत ने स्वयं आशीर्वादात्मक वचनों से युक्त नान्दी पाठ किया। नान्दी की समाप्ति में जिसप्रकार के कार्यकलाप से दैत्य देवताओं के द्वारा जीते गये थे, उसका अभिनय किया गया। इस अभिनय से सभी ब्रह्मादि देवता परम सन्तुष्ट एवं प्रसन्न हुये और प्रसन्न होकर उन्होंने भरतमुनि और उनके १०० शिष्यों को अनेक प्रकार के पुरस्कार दिये। किन्तु इसके विपरीत जो दैत्य उस अभिनय को देखने के लिये वहाँ समवेत हुये थे, उन्होंने जब देखा कि इस अभिनय में तो उनकी पराजय दिखाई गई है तो वे क्षुब्ध हो गये और अपने नेता विरूपाक्ष को आगे करके कहने लगे कि "**नेत्थमिच्छामहे नाटचमेतदागम्यतामिति**" अर्थात् हम इसप्रकार के नाटक को देखना नहीं चाहते हैं, हम सबको यहाँ से चला जाना चाहिये और इसप्रकार उन दैत्यों ने उस "**अभिनय**" में अनेक प्रकार के विघ्न डालने शुरू कर दिये। इस पर इन्द्र ने क्रुद्ध होकर [illegible]ध्वज को लेकर उसके प्रहार से असुरों के शरीरों को जर्जर कर दिया। यह देखकर सभी देवताओं ने प्रसन्न होकर कहा कि हे भरत, तुमने दिव्य अस्त्र प्राप्त कर लिया है और क्योंकि इसके द्वारा असुरों सहित सभी विघ्न तुम्हारे **जर्जर** (नष्ट) हो गये हैं, अतः इसका आज से "**जर्जर**" नाम होगा। इसप्रकार ध्वज से ही जर्जर की उत्पत्ति हुई। परन्तु विघ्न फिर भी वन्द नहीं हुये। तव ब्रह्मा जी ने विश्वकर्मा से कहा कि—

"कुरु लक्षणसम्पन्नं नाट्यवेश्म महामते" इति । अर्थात् हे महान् मति वाले विश्वकर्मन्, तुम शुभ लक्षणों से सम्पन्न नाट्यशाला का निर्माण करो । विश्वकर्मा ने शीघ्र ही नाट्यगृह का निर्माण कर, उसमें नाटक की रक्षा के लिये सभी देवताओं को यथास्थान नियुक्त कर दिया । रङ्गपीठ के मध्य में स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठित हुये । इसीलिये नाट्यारम्भ में रङ्ग के मध्यभाग में पुष्पों को चढाया जाता है । इसप्रकार इस **नाटक** की उत्पत्ति हुई है ।

नाट्य का लक्षण यहाँ इसप्रकार दिया हुआ है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥१.११९

अर्थात् यह जो मनुष्य का सुख-दुःख से युक्त स्वभाव है, वही अङ्गों आदि के अभिनय से युक्त होने पर "**नाट्य**" कहा जाता है ।

संक्षेप में, ब्रह्मा जी ने नाट्यवेद की सृष्टि की, भरतमुनि ने इसका अभिनय किया, शिवजी ने ताण्डव नृत्य और पार्वती जी ने लास्य नृत्य किया । साथ ही भारती, सात्वती, आरभटी और कैशिकी—इन चार वृत्तियों का भी सन्निवेश हुआ । इनमें से कैशिकी वृत्ति स्त्रियों के द्वारा अभिनीत की जाती है । नाट्यशास्त्र के अनुसार यही नाट्योतपत्ति की संक्षिप्त कथा है । नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में नाट्यगृह निर्माण की विधि का सविस्तर वर्णन है ।

इस **नाट्य**, **रूप** अथवा **रूपक** के दस भेद होते हैं । तद्यथा—

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः ।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ॥ सा० दर्पण ६.३

अर्थात् नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन-रूपक के ये दस भेद होते हैं । इनको रसाश्रय कहा जाता है अर्थात् नाटकादि रूपकों में रस मुख्य होता है । यद्यपि अनुकरणात्मक होने के कारण इन दस प्रकार के रूपकों में परस्पर अभेद की प्रतिपत्ति होती है तथापि वस्तु भेद से, नायक भेद से और रसभेद से इनमें परस्पर भिन्नता हो जाती है, ऐसा समझना चाहिये । इस परस्पर भेद को निम्न तालिका द्वारा इसप्रकार समझा जा सकता है—

वस्तु	नेता (नायक)	रस
(१) **नाटक**—इसकी कथावस्तु पुराण, इतिहास आदि में प्रसिद्ध होती है। काल्पनिक कथावस्तु नहीं होनी चाहिये। पाँच से लेकर दस अङ्क तक होने चाहिये। पाँचों सन्धियाँ होनी चहिये अर्थात् मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण–ये सभी सन्धियाँ होनी चाहिये। नायक के कार्य में संलग्न चार या पाँच मुख्य व्यक्ति होने चाहिये। नाटक की रचना गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान करनी चाहिये।	प्रख्यातवंश वाला क्षत्रिय धीरोदात्त, प्रतापी और गुणी नायक होना चाहिये। अनभिषिक्त राजा भी नायक हो सकता है। क्षत्रिय से भिन्न भी नायक हो सकता है।	श्रृंगार अथवा वीर-इनमें से कोई एक रस होना चाहिये। शेष रस इस प्रधान रस के अंग होकर वर्णित किये जाते हैं। श्रृंगार और वीर रस से भिन्न भी कोई उचित रस हो सकता है। निर्वहण संधि में अद्भुत रस होना चाहिये। श्रृंगार रस मुख्य होता है।
(२) **प्रकरण**—इसकी कथावस्तु लौकिक अतएव कवि की प्रतिभा से कल्पित होनी चाहिये। नाटकादि के समान पुराणादि में प्रसिद्ध नही होनी चाहिये।	नायक ब्राह्मण—अमात्य अथवा वैश्य, विघ्नों से युक्त, धर्म, काम और अर्थ में आसक्त धीरप्रशान्त होता है। इसकी नायिका कुलीन स्त्री अथवा वेश्या होती है। कहीं ये दोनों ही नायिकायें होती हैं।	
(३) **भाण**–नानाप्रकार की अवस्थाओं वाला होता है। एक अङ्क होता है। विट अपने अनुभूत अथवा दूसरे के अनुभूत वृत्तान्त को सुनाता है। आकाशभाषित होता है। कथावस्तु प्रकरण के समान कल्पित होती है। भारतीवृत्ति होती है। कैशिकी वृत्ति भी कहीं-कहीं हो सकती है। मुख और निर्वहण सन्धियाँ और लास्य के १० अङ्ग होते हैं।	धूर्त नायक वाला होता है। एक विट पात्र होता है।	शौर्य और सौभाग्य के वर्णनों से वीर और श्रृंगार रस की सूचना होती है।
(४) **व्यायोग**—पुराण और इतिहासादि में प्रसिद्ध कथावस्तु होती है, गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होती हैं। अङ्क एक होता है। स्त्री कारण के विना युद्ध होता है। कैशिकी वृत्ति नहीं होती।	नायक प्रसिद्ध राजर्षि अथवा दिव्य और धीरोद्धत होता है।	हास्य, श्रृङ्गार और शान्त रसों से भिन्न रस होता है।

	वस्तु	नेता (नायक)	रस
(५) समवकार	देव और असुरों से सम्बन्धित पुराण और इतिहास में प्रसिद्ध कथावस्तु होती है । विमर्श सन्धि से शून्य शेष चार सन्धियाँ होती हैं । तीन अङ्क होते हैं । प्रथम अङ्क में मुख और प्रतिमुख संधि, द्वितीय अङ्क में गर्भ और तृतीय अङ्क में निर्वहण सन्धि होनी चाहिये । कैशिकी वृत्ति से रहित शेष सभी वृत्तियाँ होती हैं । विन्दु और प्रवेशक नहीं होते। वीथी के तेरह अङ्ग होते हैं । गायत्री और उष्णिक् छन्द होते हैं । तीन प्रकार का कपट और तीन प्रकार का विद्रव होता है ।	धीरोदात्त प्रसिद्ध देव और मनुष्य बारह नायक होते हैं । इन नायकों का फल अलग-अलग होता है ।	वीररस प्रधान होता है । शेष सभी रस होते हैं । तीन प्रकार का शृङ्गार होतो है ।
(६) डिम	माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध तथा उद्भ्रान्तादि चेष्टाओं से युक्त, सूर्य और चन्द्र ग्रहण से व्याप्त, प्रसिद्ध कथावस्तु होनी चाहिये । चार अङ्क होते हैं । विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होते, कैशिकी वृत्ति नहीं होती । त्रिमर्श सन्धि नहीं होती ।	देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महोरग, भूत, प्रेत और पिशाचादि सोलह धीरोद्धत नायक होते हैं ।	रौद्ररस मुख्य होता है और शेष रस गौण होते हैं, शान्त हास्य और शृङ्गार को छोड़कर शेष ६ रस होते हैं ।
(७) ईहामृग	इसकी कथावस्तु मिश्रित अर्थात् प्रसिद्ध और कल्पित होती है । इसमें मुख सन्धि, प्रतिमुख सन्धि और निर्वहण सन्धि होती हैं । वध के योग्य महात्मा मारे नहीं जाते हैं । एक अङ्क होता है । दिव्यस्त्री के कारण युद्ध होता है ।	नियम से रहित मनुष्य और देवता प्रसिद्ध धीरोद्धत नायक और प्रतिनायक होते हैं । प्रतिनायक प्रच्छन्न रूप से अनुचित कार्य करता है । धीरोद्धत दस दिव्य अथवा मनुष्य पातकानायक होते हैं । प्रतिनायक को युद्ध में लाकर नायक के क्रोध को किसी बहाने से टाल देना चाहिये ।	इसमें प्रतिनायक का शृङ्गाराभास वर्णित होता है ।

3

(८) अङ्क अथवा उत्सृष्टिकाङ्क	एक अङ्क होता है। प्रख्यात इतिवृत्त होता है। भाण की तरह सन्धि, वृत्ति तथा लास्य के अङ्गों का वर्णन होना चाहिये। नायक और प्रतिनायक की जय-पराजय का वर्णन होना चाहिये। वाणी के द्वारा युद्ध होना चाहिये। अत्यधिक निर्वेदवाक्य होने चाहिये।	सामान्य मनुष्य नायक होते हैं।	करुण रस स्थायी होता है।
(९) वीथी	एक अङ्क होता है। आकाशभाषित होता है। मुख और निर्वहण सन्धि होती हैं। सम्पूर्णअर्थ प्रकृतियाँ होनी चाहिये। कैशिकी वृत्ति की बहुलता होनी चाहिये। वीथी के तेरह अङ्ग होने चाहिये।	कल्पित एक नायक होता है।	शृङ्गार रस मुख्य होता है, शेष अन्य रस गौण होते हैं।
(१०) प्रहसन	भाण के समान मुख और निर्वहण सन्धियाँ, सन्धि के अङ्ग, दस लास्याङ्ग तथा एक अङ्क होता है। निन्दनीय व्यक्तियों की कल्पित कथावस्तु होती है। आरभटी वृत्ति नहीं होती। विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होते। वीथ्यङ्ग नहीं होते।	तपस्वी, संन्यासी और ब्राह्मणों में से कोई एक नायक होता है।	हास्य रस मुख्य होता है।

इसप्रकार दस रूपकों का नेता, वस्तु और रस की दृष्टि से पारस्परिक भेद का वर्णन करने के उपरान्त उपरूपकों का वर्णन करते हैं।

(ख) उपरूपक—

उपरूपक अठारह प्रकार के कहे गये हैं। तद्यथा—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरूपक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, तल्लीश और भाणिका। कुछ विशेषताओं को छोड़कर सभी के लक्षण नाटक की तरह कहे गये हैं।

	वस्तु	नेता (नायक)	रस
(१) नाटिका	इसकी कथावस्तु कवि कल्पित होती है। नारी बहुल होती है। चार अङ्क होते हैं। कैशिकी वृत्ति होती है। विमर्श सन्धि से शून्य मुखादि चार सन्धियाँ होती हैं।	प्रख्यात धीर-ललित राजा नायक होता है। अन्तःपुर से सम्बद्ध कन्या नायिका होती है। ज्येष्ठा नायिका प्रगल्भा और राजकुलोत्पन्ना होती है। इस ज्येष्ठा के आधीन नायक और नायिका का मिलन होता है।	शृंगार रस प्रधान होता है।
(२) त्रोटक	सात, आठ, नौ अथवा पाँच अङ्क होते हैं, प्रत्येक अङ्क में विदूषक को रहना चाहिये।	देवता और मनुष्य पात्र होते हैं।	शृंगार रस मुख्य होता है।
(६) गोष्ठी	उदात्त वचन से शून्य होती है। कैशिकी वृत्ति होती है, गर्भ और विमर्श सन्धि से रहित और एक अङ्क होता है।	नीति विदग्ध नौ अथवा दस नायक होते हैं। पाँच या छः नायिकायें होती हैं।	काम शृंगार होता है।
(४) सट्टक	इसकी भाषा प्राकृत होती है। प्रवेशक नहीं होता। इसमें "अङ्क" का नाम 'जवनिका" होता है। शेष नाटिका के समान समझना चाहिये।	नायक और नायिका नाटिका के समान होती हैं।	अद्भुत रस होता है।
(५) नाट्क रासक	एक अङ्क होता है। मुख और निर्वहण सन्धि होती है। लास्य के दस अङ्ग होते हैं। कुछ के विचार में प्रतिमुख सन्धि नहीं चाहिये। शेष चार सन्धियाँ होनी चाहिये।	धीरोदात्त नायक होता है। पीठ-मर्द उपनायक होता है। वासक-सज्जा नायिका होती है।	शृंगार युक्त हास्य रस होता है।
(६) प्रस्थानक	कैशिकी और भारती वृत्ति होती हैं। दो अङ्क होते हैं।	नायक दास होता है। दास से भी हीन उपनायक होता है। नायिका दासी होती है।	शृंगार रस होता है।

(७) उल्लाप्य	कथावस्तु दिव्य होती है । एक अङ्क होता है । अस्रगीत होता है ।	धीरोदात्त नायक होता है । चार नायिकायें होती हैं ।	हास्य, शृंगार और करुण रस होते हैं ।
(८) काव्यम्	आरभटी वृत्तियों से रहित, एक अङ्क और खण्डमात्रा द्विपदिका और भग्नताल छन्द होते हैं । मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं ।	नायक और नायिका धीरोदात्त होते हैं ।	हास्यरस प्रधान
(९) प्रेङ्खण	गर्भ और विमर्श सन्धि से रहित, सूत्रधार, विष्कम्भक और प्रवेशक से रहित, एक अङ्क और सभी चार वृत्तियाँ होती हैं, नान्दी तथा प्ररोचना नेपथ्य में होती हैं ।	नीच नायक होता है ।	शृंगार रस प्रधान होता है, शेष रस। गौण होते हैं
(१०) रासक	मुखऔर निर्वहण सन्धि से युक्त, संस्कृत और प्राकृत भाषायें होती हैं । भारती और कैशिकी वृत्तियाँ होती हैं । सूत्रधार नहीं होता, एक अङ्क होता है, वीथी के अङ्गों से युक्त, ६४ कलाओं से युक्त देखना है नान्दी से युक्त होता है ।	पाँच पात्र होते हैं । प्रसिद्ध नायिका होती है । नायक मूर्ख होता है ।	शृंगार रस प्रधान होता है ।
(११) संलापक	चार या तीन अङ्क होते हैं । भारती और कैशिकी वृत्ति नहीं होती, नगरावरोध, छल, युद्ध और विद्रव होते हैं ।	नायक पाषण्ड होता है ।	शृंगार और करुण रस से भिन्न रस होता है ।
(१२) श्रीगदित	कथावस्तु प्रसिद्ध होती है । एक अङ्क, गर्भ और विमर्श सन्धि से रहित, भारती वृत्ति अधिक होती है । श्री शब्द का बाहुल्य होता है ।	प्रख्यात धीरोदात्त नायक होता है । नायिका भी प्रसिद्ध होती है ।	कोई भी रस प्रमुख हो सकता है ।

(१३) शिल्पक	चार अङ्क, चारों वृत्तियाँ होती हैं। श्मशान आदि का वर्णन रहता है। इस शिल्पक के २७ अङ्ग होते हैं।	धीरप्रशान्त ब्राह्मण नायक होता है। नीच जाति वाला उपनायक होता है।	शान्त और हास्य रस को छोड़कर शेष रस होते हैं।
(१४) विलासिका	एक अङ्क और लास्य के दस अङ्ग होते हैं। विदूषक, विट और पीठमर्द होते हैं। गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होती। कथानक स्वल्प होता है।	हीन गुणों वाला नायक होता है।	श्रृंगार रस बहुल होता है।
(१५) दुर्मल्लिका	चार अङ्क होते हैं। कैशिकी और भारती वृत्ति होती हैं। गर्भसन्धि से रहित, विट की क्रीड़ाओं से पूर्ण होता है।	जाति से निकृष्ट नायक होता है।	श्रृंगार रस होता है।
(१६) प्रकरणिका	नाटिका ही प्रकरणिका होती है।	वणिक् आदि नायक होते हैं। नायक के समान वंश में उत्पन्न नायिका होती है।	श्रृंगार रस होता है।
(१७) हल्लीश	एक अङ्क होता है, शौरसेनी भाषा होती है। कैशिकी वृत्ति होती है। मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं।	सात, आठ या दस स्त्रीपात्र होते हैं। एक नट होता है।	श्रृंगार रस होता है।
(१८) भाणिका	सुन्दर वेश रचनावली, मुख और निर्वहण सन्धि से युक्त, कैशिकी और भारती वृत्ति से समन्वित और एक अङ्क होता है। भाणिका के सात अङ्ग होते हैं।	धीरोदात्त नायिका होती है और नायक हीन होता है।	श्रृंगार रस होता है।

इन सभी रूपक और उपरूपकों की नाटक के समान प्रवृत्ति होने पर भी औचित्य के अनुसार यथायोग्य नाटक में कहे हुये विशेष अंगों का समावेश करना चाहिये।

॥ ओ३म् ॥

श्रीमद्विश्वनाथ कविराजप्रणीतः

साहित्यदर्पणः

प्रथमः परिच्छेदः

ग्रन्थारम्भे निर्विघ्नेन प्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामो वाङ्मयाधिकृततया वाग्देवतायाः सांमुख्यमाधत्ते—

अवतरणिका:—श्री विश्वनाथ कविराज सरस्वती की आराधना के द्वारा अपने ग्रन्थ की सफल समाप्ति के अभिप्राय से मंगलाचरण की सार्थकता को प्रकट करने के लिये स्वयं अवतरणिका देते हैं ।

अर्थ - ग्रन्थारम्भे इति—ग्रन्थ के आरम्भ में निर्विघ्न अभीष्ट काव्य की समाप्ति की इच्छा से ग्रन्थकार सम्पूर्ण वाङ्मय की (अर्थात् १८ विद्याओं, काव्यकलाओं तथा कामशास्त्रादि) अधिष्ठात्री होने के कारण सरस्वती को (अपनी) आराधना के द्वारा अपने अनुकूल बनाते हैं ।

टिप्पणी—"आधत्ते" क्रिया का कर्ता यहाँ पर "ग्रन्थकृत्" है । और क्योंकि विश्वनाथ कविराज स्वयं ही वृत्तिकार हैं और स्वयं ही कारिकाकार भी हैं अतः उत्तम-पुरुष के एकवचन (आदधे) का प्रयोग होना चाहिये (आधत्ते का नहीं) । परन्तु यहाँ पर वृत्तिकार और कारिकाकार के अन्दर वास्तविक भेद नहीं है अतः (आधत्ते) क्रिया का प्रयोग किया गया है । "ग्रन्थकृत्" इस कर्तृ शब्द का प्रयोग करके कविराज विश्वनाथ ने अपनी निरभिमानता को भी सूचित किया है, क्योंकि "अहम्" से जो अहंकार का भाव होता है वह प्रथम पुरुष के कर्तृत्त्व से प्रकट नहीं होता ।

पुनश्च किसी कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिये विघ्नों को नष्ट करने वाले मंगलाचरण का होना अत्यन्त आवश्यक है और क्योंकि सम्पूर्ण वाङ्मय की अधिष्ठात्री भगवती सरस्वती है अतः मंगलाचरण के रूप में उनकी स्तुति करना सर्वथा वाञ्छनीय है । तथा विना सरस्वती के अभिमुख हुये काव्य का स्फुरण सर्वथा असम्भव है, ग्रन्थ का निर्माण और उसकी समाप्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता । गौणरूप से सरस्वती की आराधना अध्येताओं, वक्ताओं, श्रोताओं और व्याख्याताओं के लिये भी मंगलजनक है, क्योंकि महाभाष्यकार का कथन है कि:—

"मंगलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत् पुरुषाणि च अध्येतारश्च सिद्धार्थाः यथा स्युः" इति ।

शरदिन्दुसुन्दररुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी ।
अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान्प्रकाशयतु ।।१।

अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह—

अन्वयः—शरदिन्दुसुन्दररुचिः सा गिरां देवी मे चेतसि तमः अपहृत्य अखिलान् अर्थान् सन्ततं प्रकाशयतु ।

अर्थ—शरद्कालीन चन्द्रमा के समान सुन्दर कन्तिवाली श्रुतिशास्त्र आगमादि प्रसिद्ध वह भगवती सरस्वती मेरे हृदय में विद्यमान अज्ञानान्धकार को नष्ट करके सम्पूर्ण अर्थों को अर्थात् वाच्य, लक्ष्य, तात्पर्य और व्यङ्ग्यरूप अर्थों को सर्वथा प्रकाशित करे ।

टिप्पणीः—(१) इसप्रकार ग्रन्थ निर्माण के लिये हृदय का अज्ञान, भावों को प्रकट करने का असामार्थ्य तथा पदार्थों की अप्रकटता—ये तीनों दोष दूर करने आवश्यक हैं । अतः ग्रन्थकार ने इन तीनों दोषों को दूर करने के लिये सरस्वती से प्रार्थना की है ।

(२) इसीप्रकार **"सा"** इस पद से सरस्वती का श्रवण, **"चेतसि वर्तमाना"** इस पद से मनन और ध्यान–इस तीन प्रकार की सरस्वती की आराधना की ओर संकेत किया है ।

अवतरणिकाः—किसी कार्य के अन्दर प्रवृत्ति के लिये कोई न कोई प्रयोजन अवश्य अपेक्षित होता है क्योंकि **"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्त्तते"** इस न्याय के द्वारा बिना किसी प्रयोजन के कोई मूर्ख भी किसी कार्य के अन्दर प्रवृत्त नहीं होता है, अतः प्रवृत्ति के कारणभूत प्रयोजन की अवतारणा करते हैः—

(काव्यफलनिरूपणम्)

अर्थ—इस प्रक्रम्यमाण ग्रन्थ की काव्य के फल को सिद्ध करने में अप्रधान कारण होने के कारण काव्य के फलों से ही (अर्थात् अन्य काव्यों के अध्ययन से जो फल होते हैं, इसके भी वे ही प्रधान फल हैं) इसकी भी फलवत्ता है अतः काव्यफलों का वर्णन किया जाता है ।

टिप्पणीः—यहाँ पर **"काव्यफलैः"** इसके अन्दर **"धान्येन धनवान्"** की तरह अभेद में तृतीया है अर्थात् जिसप्रकार धान्य के कारण से ही कोई धनी कहलाता है उसीप्रकार काव्य के फल के कारण से ही इसका फलवत्व है । इसप्रकार काव्य-फल अङ्गी हुआ और यह काव्य उसका अङ्ग । अतः इस अङ्ग साफल्य के कारण अङ्गी (काव्यफल) की सफलता है । जिसप्रकार दशपौर्णमासादिक यज्ञों के प्रयाजादिक यज्ञ अंग होते हैं और दशपौर्णमासादिक यज्ञों के फल से ही उनकी फलवत्ता है इसीप्रकार यह ग्रन्थ भी काव्य का अङ्ग है और काव्य के फल की सफलता के साथ इसका भी साफल्य है । यद्यपि इस ग्रन्थ के अध्ययन से अलंकारों का ज्ञान, गुण-दोष का परिचय और ध्वन्यादिकों की विवेचना भी फल अवश्य है पर वह गौण है प्रधान फल (चतुर्वर्ग) को ही इसका फल कहते हैं ।

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥२॥

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव ।

उक्तं च (भामहेन)—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥' इति ।

अवतरणिकाः—काव्य-फल प्रदर्शन के साथ ही काव्य के स्वरूप का निरूपण किया जाता है—चतुर्वर्गेति—

प्रथम अर्थ—(१) सुकुमार मति वालों को और परिणत बुद्धिवालों को अनायास ही चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) इन चार फलों की प्राप्ति क्योंकि काव्य से ही—वेदादिशास्त्रों से नहीं–हो सकती है, अतः उस काव्य के स्वरूप का निरूपण किया जाता है ।

द्वितीय अर्थ—(२) इस अर्थ के अन्दर "यतः" "काव्यात्" का विशेषण होगा और अर्थ इसप्रकार से होगा—

जिस काव्य से सुकुमार मति वालों को अनायास ही चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति होती है उस काव्य के स्वरूप का निरूपण किया जाता है ।

टिप्पणीः—अर्थात् प्राचीन सम्मत नीरस काव्य का यहाँ निरूपण नहीं किया जायेगा, क्योंकि वे चतुर्वर्ग के साधन नहीं होते । यही इस अर्थ का वैशिष्ट्य है ।

अवतरणिकाः—काव्य से चतुर्वर्ग प्राप्ति का उपपादन करते हैंः—

अर्थ—काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति, **रामादि** की तरह **(माता-पिता की आज्ञादि के परिपालन में) प्रवृत्त होना** चाहिये, **रावणादि** की तरह (**परदाराओं के हरण में) प्रवृत्त नहीं होना चाहिये** इत्यादि रीति से विहित और **अविहित कर्मों में प्रवृत्ति और निवृत्ति उपदेश के द्वारा सुप्रसिद्ध** ही है ।

टिप्पणीः—काव्य के द्वारा विहित कर्मों का परिज्ञान होता है, परिज्ञान होने से उसमें प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति होने से कार्य की निष्पत्ति होती है । इसप्रकार सर्वप्रथम धर्म, तदनन्तर अर्थ और काम की प्राप्ति होती है तथा विहित कर्मों के अन्दर कर्मफल का त्याग करने से अपवर्ग की भी प्राप्ति हो सकती है क्योंकि "युक्तः **कर्मफलत्यागात् शान्ति प्राप्नोति नैष्ठिकीम्**" इति स्मरणात् । इसप्रकार परम्परया काव्य से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है ।

अवतरणिकाः—इसी का समर्थन करते हैंः—उक्तञ्चेति—

और (भामह ने) कहा भी है—

अर्थ—सुन्दर काव्यों के करने और उनके ज्ञान से धर्मार्थ काम मोक्ष के विषय में (लक्षणा के द्वारा धर्मार्थकाम मोक्ष के उपायों में विशिष्ट ज्ञान) और नृत्यगीतादि चौंसठ कलाओं में निपुणता प्राप्त होती है । एवं संसार में कीर्ति और प्रीति होती है ।

किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना, 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धैव । अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा । कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैव । मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्यधर्मफलाननुसंधानात्, मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्त्याधायकत्वाच्च ।

चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते । परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव ।

अवतरणिका—इसप्रकार काव्य के करने से और उसके अध्ययन से दो बातों का ज्ञान होता है । एक तो किन कर्मों को करना चाहिये और किन कर्मों को नहीं करना चाहिये । कौन सा कार्य वेदादि शास्त्र सम्मत है और कौन सा कर्म वेद विरुद्ध है । अतः काव्य कर्मों की प्रवृत्ति और निवृत्ति के प्रति साक्षात् कारण है परन्तु धर्मादिकों के प्रति उसकी कारणता नहीं है क्योंकि कारण का कारण नहीं माना जाता । यथा-घट के प्रति कुम्हार का पिता कारण नहीं है, वह अन्यथासिद्ध है । अतः कहते हैं—किं च—

अर्थ—काव्य से धर्म की प्राप्ति भगवान् नारायण के चरणारविन्द की स्तुति के द्वारा, (सुप्रसिद्ध ही है अर्थात् जिसप्रकार भगवान् नारायण की प्राप्ति उनके चरण कमलों की स्तुति के द्वारा सुलभ है उसीप्रकार काव्य से धर्म की प्राप्ति भी सुप्रसिद्ध है। इसप्रकार धर्म प्राप्ति के अन्दर काव्य साक्षात् कारण है । तथा), "एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति" अर्थात् एक भी शब्द यदि सुप्रयुक्त हो अर्थात् रस का व्यञ्जक बनाकर अच्छी प्रकार से रचित हो, अथवा सम्यक् रीति से ज्ञात हो तो परलोक में और इस लोक में सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है ।" इत्यादि वेदवाक्यों से भी सुप्रसिद्ध ही है (अर्थात् काव्य से धर्म की प्राप्ति सुलभ है । इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्यों की रचना और उनका अनुशीलन दोनों से ही धर्म की प्राप्ति होती है । दोनों ही कामधुक् हैं और वेदशास्त्र सम्मत हैं) । और (काव्यों का निर्माण करने वालों को) धन की प्राप्ति होती है यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है । (हम देखते ही हैं कि काव्यकारों को धन मिलता है,) और अर्थ के द्वारा काम की प्राप्ति होती है । [क्योंकि—"धर्मादर्थस्ततः कामः कामात् सुखसमुन्नतिः" इति ।] एवं काव्य से उत्पन्न धर्मफल का त्याग कर देने से तथा मोक्ष के उपयोगी वाक्य में (उपनिषदादि) दृढतर ज्ञान को उत्पन्न करने के कारण भी काव्य से मोक्ष प्राप्ति हो सकती है । अर्थात् काव्य के अध्ययन से मोक्ष के हेतु जो उपनिषद् आदि हैं उनमें प्रगति हो जाती है, उनको हृदयंगम करने में सहायता मिलती है अतः इसप्रकार परम्परा से काव्य मोक्ष का कारण हुआ ।

टिप्पणी—इसप्रकार चतुर्वर्ग की प्राप्ति में काव्य धर्म और अर्थ के प्रति तो साक्षात् कारण है और काम तथा मोक्ष के प्रति परम्परया कारण है ।

ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वक्तव्यम् । कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात् ?

किञ्च काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम्—

'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥' इति ।

अर्थ—नीरस होने के कारण वेदों (ऋक्, यजुः, साम और अथर्व) और शास्त्रों से (मीमांसादि शास्त्र) चतुर्वर्ग की प्राप्ति (धर्मार्थ काम, मोक्ष) बड़े दुःख से ही परिपक्व बुद्धिवालों को ही होती है—सुकुमारमति वालों को तो दुःख से भी नहीं होती है । अतः परमानन्द की परम्परा को उत्पन्न करने वाला होने के कारण सुकुमारमति वालों को भी—परिपक्व बुद्धिवालों का तो कहना ही क्या—सुखपूर्वक ही चतुर्वर्ग की प्राप्ति काव्य से ही होती है ।

टिप्पणी—यहाँ "**एव**" शब्द ने दो काम किये—एक तो वेदशास्त्रादिकों से परिपक्व बुद्धिवालों को ही चतुर्वर्ग की प्राप्ति संभव थी और वह भी बड़े कष्ट से-इसका निराकरण किया और दूसरा काव्य से तो सुकुमार मति बालकों को भी अनायास ही चतुर्वर्ग की प्राप्ति सम्भव है, इसकी स्थापना की । इसप्रकार रसानुभूति के लिये भी निर्मित काव्य जहाँ कृत्य और अकृत्य का ज्ञान कराता है वहाँ चतुर्वर्ग की भी प्राप्ति कराता है ।

अवतरणिका—चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिये यत्न करने वाले वेदशास्त्रों का अनादर करके **अनाप्त वाक्य** वाले काव्य के अन्दर किसलिये प्रवृत्त होंगे—ऐसी आशङ्का उठती है ।

अर्थ—अच्छा तो फिर परिपक्व बुद्धिवाले वेदशास्त्रों के विद्यमान रहने पर काव्यों के विषय में क्यों प्रयत्न करें ? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये । (क्योंकि) कड़वी औषधि से शान्त होने वाले रोग के मीठी शर्करा से शान्त होने पर किस रोगी की मीठी शर्करा के विषय में प्रवृत्ति नहीं होगी अर्थात् सभी की होगी ।

तथा च काव्य की उपादेयता तो अग्निपुराण में भी (३३६ वें अध्याय में) कही गई है—

इस संसार में सर्वप्रथम तो मानव जन्म दुर्लभ है (क्योंकि ८० लाख योनियों में भ्रमण करने के उपरान्त प्राप्त होता है) और इस मानव जन्म में विद्या अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होने वाली है, उसमें भी अर्थात् विद्या ज्ञान होने पर भी कवित्व = काव्य की रचना करना दुर्लभ है, (यदि कोई विद्वान् एक या दो श्लोक बना भी ले तो) उसमें (भी) काव्य निर्माण की शक्ति तो अत्यन्त ही दुष्प्राप्य है ।

"त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्" इति च । विष्णुपुराणेऽपि—

'काव्यालापाश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च ।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ।।' इति ।

तेन हेतुना तस्य काव्यस्य स्वरूपं निरूप्यते ।

एतेनाभिधेयं च प्रदर्शितम् ।

तत्किं स्वरूपं तावत्काव्यमित्यपेक्षायां कश्चिदाह—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इति ।

एतच्चिन्त्यम् ।

तथाहि—यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वाङ्गीकारस्तदा—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राऽप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।।'इति ।

अर्थ—नाट्य अर्थात् दृश्य काव्य त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का साधन है- यह भी अग्निपुराण में कहा है । विष्णुपुराण में भी लिखा है कि—

जो कोई भी काव्य साहित्य और जो भी समस्त गीतिकायें हैं । ये सब शब्द रूप मूर्त्ति को धारण करने वाले महात्मा विष्णु भगवान् के अंश हैं ।

टिप्पणी—अतः काव्य के सेवन का फल नारायण की सेवा के फल के समान है, अतः महापुण्य सम्भव है ।

अर्थः—इस कारण से (चतुर्वर्ग का साधन होने से) उस काव्य का स्वरूप कहा जाता है ।

इससे तो अर्थात् "चतुर्वर्गफलप्राप्तिः" इस श्लोक से इस ग्रन्थ की अभिधेयता और प्रयोजन प्रदर्शित कर दिये ।

काव्यलक्षणदूषणम्ः—

अर्थः—अच्छा तो काव्य का स्वरूप (लक्षण) क्या है ? ऐसी आशंका करने पर कोई (काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मटभट्ट) कहता है कि—"तददोषौ इति— दोष रहित, गुण सहित और कहीं-कहीं अलङ्कार शून्य अथवा अस्फुटालङ्कार वाले शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं ।

यह लक्षण चिन्तनीय है (दूषणीय है) ।

तथाहि, यदि दोष से रहित का ही काव्यत्व स्वीकार करोगे तब तो ("न्यक्कार यह पद्य काव्य कोटि में नहीं आयेगा ।) —"न्यक्कार इति" ।

अवतरणिका:—"हनुमन्नाटक" के अन्दर जिस समय रामचन्द्र जी राक्षस कुल का विनाश कर रहे हैं उस समय रावण अपनी भर्त्सना करता हुआ कह रहा है कि:—

अर्थ—मेरे शत्रु हैं, यह (शत्रु सद्भाव) मेरा (सबसे अधिक) तिरस्कार है, (त्रिलोकाधिपति, सम्पूर्ण शत्रुओं के विजेता का शत्रु हो, इसी अतिशय अनादर को प्रदर्शित करने के लिये तिरस्कार का आरोप किया है), उन शत्रुओं में भी वह तपस्वी

अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात् । प्रत्युत ध्वनि (स) त्वेनोत्तमकाव्यताऽस्याङ्गीकृता, तस्मादव्याप्तिर्लक्षणदोषः ।

अर्थात् राम (अर्थात् मैं तपस्वियों का विनाश करने वाला हूँ और वह तपस्वी राम मेरा शत्रु है यह मेरा दूसरा तिरस्कार है। यहाँ अतिशय द्वेष को बताने के लिये "अदस्" शब्द से राम का निर्देश किया है, "राम" इस नाम से नहीं) और वह भी (तपस्वी होता हुआ भी) यहीं (लंका में ही, कहीं दूर नहीं) राक्षसकुल का संहार कर रहा है (कहीं छिपा नहीं बैठा है, और एक-दो नहीं, राक्षस कुल का नाश कर रहा है, यह मेरे लिये तीसरा तिरस्कार है) और (इससे भी बढ़कर आश्चर्य की बात यह है कि) रावण अभी भी जी रहा है (इसप्रकार के परिभव होने पर भी रावण का जीना, इससे बढ़कर और क्या असम्भव सम्भव होगा), इन्द्र को जीतने वाले को (मेघनाद को) धिक्कार है (इन्द्रजेता भी मनुष्य और वानरों का कुछ भी नहीं बिगाड़ सका) अथवा जगाये हुये कुम्भकर्ण से ही क्या लाभ ? (उसने भी कोई कार्य नहीं सम्पादित किया) स्वर्ग रूप क्षुद्रग्राम को लूटने से व्यर्थ ही गर्वीली इन (बीस) भुजाओं से (दो नहीं) क्या लाभ ? (मेरी ये भुजायें निष्प्रयोजन हैं) ।

इस श्लोक के विधेयाविमर्श दोष से दूषित होने के कारण काव्यत्व नहीं होगा। (कहने का आशय यह है कि इस श्लोक के अन्दर दो स्थानों पर विधेयाविमर्श दोष है । इसी को "अविमृष्टविधेयांश" दोष भी कहते हैं। एक तो "न्यक्कारो ह्ययमेव" में और दूसरा "स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः" इसके अन्दर। क्योंकि "जहाँ विधेय का अप्राधान्य रूप से कथन होता है वहाँ विधेयाविमर्श दोष होता है। "न्यक्कारो ह्ययमेव" में "न्यक्कारः" विधेय है और "अयम्" उद्देश्य है, नियमानुसार उद्देश्य "असौ" को पहले आना चाहिये और "न्यक्कारः" को विधेय होने के कारण बाद में। परन्तु यहाँ पर रचना वैपरीत्य होने के कारण अप्राधान्य का प्रथम निर्देश कर दिया गया है क्योंकिः—

> अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत् ।
> न ह्यलब्धास्पदं किंचित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति ॥

तथा "स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः" यहाँ पर "वृथा" पद विधेय है और वह समास में आकर गौण हो गया है। अतः यहाँ पर भी "विधेयाविमर्श दोष" है। इसप्रकार इस पद्य के अन्दर विधेयाविमर्श दोष होने के कारण काव्यत्व नहीं है।) इसके विपरीत "ध्वनित्वेन" इस पद्य की उत्तम काव्यता (ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धनाचार्य ने) स्वीकार की है। इस कारण (उक्त दोष के होने पर भी) काव्यत्व स्वीकरण से ("तददोषौ" इस काव्य की परिभाषा में) "अव्याप्ति दोष" है।

टिप्पणी—अव्याप्ति का लक्षणः—"जो लक्षण अपने अभीष्ट उदाहरणों में घटित नहीं होता वहाँ अव्याप्ति होती है"। ऊपर काव्य के लक्षण में "तददोषौ" से कहा है कि काव्य दोष से मुक्त होना चाहिये। दोष शून्य पद्य ही काव्यत्व की संज्ञा पा सकता

ननु कश्चिदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुनः सर्वोऽपीति चेत्, तर्हि यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत

है परन्तु "न्यक्कारः" यह पद्य सदोष होता हुआ भी उत्तम काव्य माना गया है। अतः काव्य के लक्षण में अव्याप्ति दोष है। कहने का तात्पर्य यह है किः—

"सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्यो लक्ष्यक्रमः क्वचित् ।।इति ।

इसप्रकार यहाँ पर कई स्थलों पर सुबादिकों की स्फुट व्यंग्यता है। तथाहि—

(१) "**मे यदरयः**" यहाँ पर "अस्मत्" (मेरे) शब्द के कथन से मेरे शत्रुओं का होना किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं है—यह व्यङ्ग्य होता है।

(२) "**अरयः**" यह बहुवचनान्त शब्द—पहले तो मेरे शत्रु ही नहीं है और फिर एक दो नहीं, हजारों मेरे शत्रु हैं—यह अत्यन्त अनुचित है, ऐसा व्यक्त होता है।

(३) "**तत्राप्यसौ तापसः**" यहाँ तपः शब्द से परे मत्वर्थीय अण् प्रत्यय से **पौरुषराहित्य** अभिव्यक्त होता है। "तत्रापि" इससे शत्रु सद्भाव में असम्भवनीयता सूचित होती है।

(४) "**अत्रैव**" से जहाँ मैं बैठा हुआ हूँ वही स्थान राम की हनन क्रिया का आधार है, ऐसा प्रतीत होता है ।

(५) "**निहन्ति**" से सर्वथा निर्मूल हनन सूचित होता है।

(६) "**जीवति**" इसमें वर्तमानकालिक प्रयोग होने से यह व्यङ्ग्य होता है कि मैं तो अभी जीवित हूँ और वह मेरे जीवित ही राक्षसकुल का निर्मूल नाश कर रहा है।

(७) "**रावणः**" यह पद "लोकान् रावयति दुःखाकृत्य रोदयति" देवासुरादि समस्त त्रैलोक्य को रुलाने वाला, इस यौगिक अर्थ को छोड़कर अब विपरीत अर्थ की सूचना देता है।

(८) "**शक्रजितम्**" इसके द्वारा इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद के शौर्य के प्रति अनास्था सूचित होती है।

(९) "**स्वर्गग्रामटिका**" इससे स्वर्ग विजय से उत्पन्न अपने पौरुष का स्मरण नितान्त अयुक्त है ऐसा व्यक्त होता है।

(१०) "**वृथा**" इस पद से रावण के अपने पौरुष की निन्दा व्यक्त होती है।

इसप्रकार "**इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्यात् ध्वनिर्बुधैः कथितः**" इस लक्षण के अनुसार अतिशय व्यंग्य के प्रतीत होने पर **वाच्यातिशायी** चमत्कार दिखाई पड़ता है, अतः इस पद्य का उत्तम काव्यत्व ठीक ही है, काव्य हीनता नहीं।

अर्थ—(प्रश्न) ननु—इस पद्य में कुछ थोड़ा सा अंश दोष से दूषित है, सम्पूर्ण नहीं, अतः जिस अंश में "विधेयाविमर्श" दोष है वह तो अकाव्यत्व का प्रयोजक है और जहाँ ध्वनि है वह उत्तम काव्यत्व का प्रयोजक है, (उत्तर) इसप्रकार दो विरुद्ध अंशों से दोनों तरफ खींचा जाता हुआ यह काव्य या अकाव्य कुछ भी नहीं होगा। और

आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात् । न च कंचिदेवांशं काव्यस्य दूषयन्तः श्रुतिदुष्टादयो दोषाः, किं तर्हि सर्वमेव काव्यम्। तथाहि—काव्यात्मभूतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते। अन्यथा नित्यदोषानित्यदोषत्वव्यवस्थाऽपि न स्यात् ! यदुक्तं ध्वनिकृता—

'श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥' इति ।

किञ्च एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात् ।

फिर श्रुतिदुष्टत्वादि दोष काव्य के एक अंश को ही दोष से दूषित नहीं करते, तो फिर क्या करते हैं ? सम्पूर्ण काव्य को ही दूषित करते हैं। तथाहि—(श्रुतिदुष्टत्वादि दोष) काव्य की आत्माभूत रस के अपकर्षक न होने पर तो उन दोषों की दोषता भी स्वीकार नहीं की जाती है (अर्थात् "रसापकर्षकाः दोषाः—दोष वे कहलाते हैं जो रस का अपकर्ष करने वाले हैं अतः जो रस का अपकर्ष नहीं करते वे दोष भी नहीं है)। अन्यथा नित्यदोषों (च्युतसंस्कारादि नित्य दोष) और अनित्य दोषों (श्रुतिदुष्टत्वादि अनित्यदोष) की व्यवस्था भी नहीं हो सकती। (आशय यह है कि रसों के अपकर्षक होने के कारण ही श्रुतिदुष्टत्वादि दोषों की दोषता है और जब वे रस का अपकर्ष नहीं करते हैं तो वे दोष भी नहीं कहलाते। इसीलिये वे अनित्यदोष कहलाते हैं। च्युतसंस्कार आदि सर्वदैव रस का अपकर्ष करते हैं, अतः वे नित्यदोष है। यहाँ पर तो विधेयाविमर्श दोष रस का अपकर्षक होने के कारण सम्पूर्ण ही पद्य को दूषित करता है।) ध्वनिकार ने कहा भी है कि—

जो श्रुतिदुष्टत्वादि दोष हैं और जिनको अनित्य बताया गया है । वे ध्वनि के आत्मभूत शृङ्गार में ही हेय हैं, ऐसा कहा गया है ।

टिप्पणी—"एव" शब्द दूसरे रसों का व्यवच्छेदक है, अतः रौद्र,वीरादि रसों में श्रुतिकटुत्वादिक वक्ता के उद्धत होने के कारण दोष न होकर गुण ही होंगे। यहाँ पर शृङ्गार शब्द कोमल रसों का उपलक्षण है, अतः शान्त तथा करुणादि रसों में भी ये दोष हेय होंगे ।

अवतरणिका—यदि कोई कहे कि सदोष वाक्यों को उत्तम ध्वनि रहने पर भी काव्य स्वीकार नहीं करेंगे, फिर अव्याप्ति का तो कोई अवसर नहीं होगा। अतः उसके प्रति पक्षान्तर उठाते हैं—**किञ्चेति**

अर्थ—(सदोष को काव्य न मानने से) इसप्रकार (निर्दोष को ही काव्य मानने से) काव्य का लक्षण स्वल्पलक्ष्य वाला अथवा लक्ष्य से रहित हो जायेगा (अर्थात् या तो दोष रहित काव्य का उदाहरण बहुत कम मिलेगा या फिर मिलेगा

नन्वीषदर्थे नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्युक्ते निर्दोषयोः काव्यत्वं न स्यात् । सति संभवे 'ईषद्दोषौ' इति चेत्, एतदपि काव्यलक्षणे न वाच्यम्, रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधादिपरिहारवत् । नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः किन्तूपादेयतारतम्यमेव कर्तुम् । तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य । उक्तं च—

'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता ।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ॥' इति ।

ही नहीं) क्योंकि सर्वथा निर्दोष काव्य का मिलना अत्यन्त असम्भव है ।

(प्रश्न) नन्विति—(और यदि सभी जगह दोष सम्भव है तो) "तददोषौ शब्दार्थौ" के अन्दर "अदोषौ" पद में "नञ्" समास का प्रयोग ईषदर्थ में मानेंगे । (उत्तर) (यदि ऐसा मानोगे) तो "ईषद् दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्" यह काव्य का लक्षण करने पर (इसका अर्थ यह है कि थोड़े दोष से युक्त शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं । इसके अनुसार काव्य में थोड़ा सा दोष रहना ही चाहिये) सर्वथा निर्दोष शब्दार्थ की काव्यता नहीं होगी । (यदि काव्य का लक्षण) "सति सम्भवे ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्" यह कर दें तो, (अर्थात् दोषों की सम्भावना होने पर थोड़े दोष वाले शब्द और अर्थ काव्य होते हैं—बहुत दोष वाले नहीं) ऐसा भी काव्य के लक्षण में नहीं कहना चाहिये, रत्नादि के लक्षण में कीटानुवेध आदि के परिहार की तरह । कीटानुवेधादि रत्न की रत्नता को नष्ट करने में समर्थ नहीं हैं (अर्थात् यदि रत्न के अन्दर कोई कीड़ा लग जावे तो उस रत्न की रत्नता नष्ट नहीं होती, वहाँ रत्न की संज्ञा तो रहेगी) अपितु रत्न की उपादेयता में तारतम्य करने में ही समर्थ हैं । उसीप्रकार काव्य में वर्तमान भी श्रुतिदुष्टादि दोष काव्य का (काव्यत्व नष्ट नहीं कर सकते अपितु काव्य के उत्कर्ष में कुछ न्यूनता ही कर सकते हैं ।) । कहा भी है कि—

कीट से क्षत रत्नादि के समान दोष रहने पर भी यदि काव्य में रसादि की अनुभूति सुव्यक्त है तो काव्यत्व माना जाता है ।

टिप्पणी—अतः यह निष्कर्ष निकला कि यदि शब्दार्थ के अन्दर दोष विद्यमान हो, किन्तु उससे रसानुभूति में किसीप्रकार की बाधा नहीं पड़ती तो उन शब्दार्थ में काव्यत्व स्वीकार किया जायेगा । इसप्रकार **"तददोषौ शब्दार्थौ"** इस काव्य की परिभाषा के अन्दर "अव्याप्ति नामक दोष" आता है । क्योंकि परिभाषा के अनुसार शब्दार्थ को **"अदोषौ"** (दोष रहित) होना चाहिये, परन्तु क्योंकि निर्दोष शब्दार्थ का मिलना असम्भव या प्रविरल विषय है अतः यदि रस की अनुभूति में बाधा नहीं पड़ती तो दोषदुष्ट होने पर भी काव्यत्व माना जायेगा । इसप्रकार उक्त लक्षण में **"अदोषौ"** पद के अन्दर "अव्याप्ति" दोष है ।

किञ्च। शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम्। गुणानां रसैकधर्मत्वस्य 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः' इत्यादिना तेनैव प्रतिपादितत्वात्। 'रसाभिव्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्यत इति चेत्? तथाऽप्ययुक्तम्। तथाहि-तयोः काव्यस्वरूपेणाभिमतयोः शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा? नास्ति चेत्, गुणवत्त्वमपि नास्ति, गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। अस्ति चेत्? कथं नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम्। गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्यैतल्लभ्यत इति चेत्? तर्हि सरसावित्येव वक्तुं युक्तम्, न सगुणाविति। नहि प्राणिमन्तो देशा इति केनाऽप्युच्यते। ननु 'शब्दार्थौ सगुणौ' इत्यनेन गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ काव्ये प्रयोज्यावित्यभिप्राय इति चेत्? न, गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम्, न तु स्वरूपाधायकत्वम्।

अवतरणिका—इसप्रकार "शब्दार्थौ" के विशेषण "अदोषौ" को "अव्याप्ति" नामक दोष से दूषित करके "सगुणौ" इस विशेषण के अन्दर दोष दिखाते हैं।

अर्थ—और, शब्द और अर्थ का सगुणत्व विशेषण भी ठीक नहीं है (अर्थात् "शब्दार्थौ" का विशेषण "सगुणौ" उपयुक्त नहीं है क्योंकि गुणों की अवस्थिति शब्द और अर्थ में नहीं होती अपितु) गुणों की रसैकधर्मता का

"ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मानः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

इत्यादि के द्वारा काव्यप्रकाशकार द्वारा ही प्रतिपादित होने के कारण। (इससे स्पष्ट है कि गुण रसों में निवास करते हैं, शब्द और अर्थ में नहीं) (और यदि यह कहो कि शब्द और अर्थ) रस के अभिव्यंजक होने के कारण उपचारतः (गौण रूप) से शब्द और अर्थ का "सगुणौ" विशेषण हो सकता है? तो यह भी उपयुक्त नहीं है। क्योंकि— (यह बताओ कि) काव्य स्वरूप से अभिमत उन शब्द और अर्थ में रस है या नहीं? यदि रस नहीं है, तो गुणवत्ता भी नहीं है, (क्योंकि) गुणों का रसों के प्रति अन्वय और व्यतिरेकी भाव होता है अर्थात् यदि रस हैं तो गुण भी होते हैं और यदि रस न हों तो गुण भी नहीं रहते हैं (तत्सत्वे तत्सत्वं अन्वयः, तदसत्वे तदसत्वं व्यतिरेकः = एक के होने पर दूसरे का होना अन्वय, एक के न होने पर दूसरे का न होना व्यतिरेक कहाता है, यत्र तत्र गुणोऽस्ति यत्र तत्र रसोऽस्तीति अन्वयः। यत्र यत्र रसो नास्ति तत्र तत्र गुणो नास्ति इति व्यतिरेकः)। यदि कहो कि है? तो फिर "शब्दार्थौ" का विशेषण "रसवन्तौ" क्यों नहीं कहा? यदि कहो कि गुणों की बिना रस की स्थिति ही नहीं है (अतः रसवन्तौ यह विशेषण) "सगुणौ" कहने से ही गृहीत हो जायेगा? इस दशा में भी "सरसौ" यह विशेषण कहना ठीक है "सगुणौ" नहीं। क्योंकि "प्राणिमान् देश" हैं ऐसा कहने के स्थान पर "शौर्यवान् देश" है ऐसा कोई भी नहीं कहता है। (यद्यपि विना प्राणी के शौर्य नहीं रहता है)। "ननु इति"—यदि ऐसा कहो कि "शब्दार्थौ सगुणौ" इससे गुणाभिव्यंजक शब्दों और अर्थों का काव्य में प्रयोग करना चाहिये ऐसा अभिप्राय है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य के अन्दर केवल उत्कर्ष का आधान करते हैं, स्वरूप के आधायक नहीं होते।

उक्तं हि–'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्' इति।

एतेन 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि, इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम्। अस्यार्थः-सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्त्वस्फुटालङ्कारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति। तत्र सालङ्कारशब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षाधायकत्वात्।

एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्तेरलङ्काररूपत्वात्।

यच्च क्वचिदस्फुटालङ्कारत्वे उदाहृतम्—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥ इति।

अर्थः— (इसीलिये) कहा भी है—(यहाँ पर काव्यपुरुष का वर्णन करते हैं) "काव्य के शब्द और अर्थ शरीर हैं, रसादि आत्मा है (आदि पद से रसाभास, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशवल आदि का भी ग्रहण होता है), गुण (माधुर्य, ओज और प्रसाद—ये तीन गुण) शौर्यादि की तरह हैं, दोष (श्रुतिदुष्टत्वादि दोष) काणत्वादि की तरह हैं, रीतियाँ (वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी–ये चार रीतियाँ) अवयव रचना की तरह, (और) अलंकार (अनुप्रासोपमादि) कटककुण्डलादि की तरह हैं"। (कहने का आशय यह है कि जिसप्रकार पुरुषों में शरीर, आत्मा, गुण, दोष, अवयव और अलंकारादि होते हैं उसीप्रकार काव्य के अन्दर भी होते हैं)।

एतेनेति–इससे-काव्यपुरुष के रूपक द्वारा–"अनलङ्कृती पुनः क्वापि" यह जो काव्य लक्षण में कहा है उसका भी निराकरण हो गया। अस्य हि अर्थः इति–इस (उक्त अंश) का यह अर्थ है कि—सर्वत्र शब्द और अर्थ अलंकार युक्त होने चाहिये (परन्तु) कहीं कहीं तो अस्फुट अलंकार वाले शब्द और अर्थ भी काव्य होते हैं। पूर्वोक्त रूपक में (क्योंकि अलंकार कटककुण्डल की तरह बताये हैं अतः) अलंकार युक्त शब्दार्थ भी काव्य में उत्कर्षमात्र का आधान करने वाले होते हैं (स्वरूप का आधान करने वाले नहीं)।

एतेनेति—इसीसे (उक्त हेतु से ही) "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" (वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है—यह काव्य लक्षण भी) इसप्रकार वक्रोक्तिजीवितकार (आचार्य कुन्तक) का कथन भी निरस्त हो गया, क्योंकि वक्रोक्ति के एक अलंकारमात्र होने से। (और अलंकार स्वरूप के आधायक न होकर केवल उत्कर्ष को पैदा करने वाले होते हैं)।

और जो कहीं पर अस्फुटालंकार के विषय में (निम्न) उदाहरण दिया है—"(यः कौमारहरः" यह भी विचारणीय है)। यः कौमारहर इति–(शैशवावस्था

एतच्चिन्त्यम् । अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य संदेहसङ्करालङ्कारस्य स्फुटत्वम् ।

एतेन—

'अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥'

इत्यादीनामपि काव्यलक्षणत्वमपास्तम् ।

में रेवा के तट पर वेतस कुञ्ज में विहार कर चुकी नायिका की पुनः उसी स्थान के प्रति उक्ति है) जो कुमारभाव को हरण करने वाला है (विवाह द्वारा दूर करता है) वही तो (अभिमत) वर है, वे ही (जिन रात्रियों में पहले रतिक्रीड़ा की थी) चैत्र मास की रात्रियाँ हैं (वासन्ती निशायें हैं), विकसित मालती पुष्प से सुरभित वही प्रौढ़ (प्रशस्त गति वाली) कदम्ब वन की वायुयें हैं (चैत्र मास में उन्हीं के होने से), मैं भी वहीं हूँ (तात्पर्य यह है कि सब वस्तुयें पहली की ही तरह हैं, कोई चीज नवीन नहीं है, उसीप्रकार की सामग्री विद्यमान है) तथापि वहीं रेवा नदी के किनारे वेतस के कुञ्ज में रति क्रीड़ा सम्पादन के लिये चित्त उत्कण्ठित हो रहा है।)।

(अस्फुटालंकार के विषय में दिया गया) यह उदाहरण विचारणीय है। अत्रेति—इस उदाहरण में विभावना-विशेषोक्तिमूलकसंदेहसंकरालंकार स्फुट है। (अतः अस्फुटालंकार बताना ठीक नहीं)।

टिप्पणी—विभावना का लक्षण—"विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिरूपा"—विना ही कारण के यदि कार्य निष्पन्न हो जावे तो **विभावनालंकार** होता है।

विशेषोक्ति का लक्षणः—"सति हेतौ फलाभावरूपा विशेषोक्तिः"—कारण विद्यमान होने पर भी यदि कार्य की उत्पत्ति न हो तो **विशेषोक्ति अलंकार** होता है।

सन्देहसंकरालंकार का लक्षणः—जहाँ अनेक अलंकारों का सन्देह हो, लक्षण तो कई अलंकारों के मिलते हों परन्तु विनिश्चायक लक्षण किसी का न हो, वहाँ तन्मूलक संदेहसंकरालंकार कहलाता है।

"**यः कौमारहरः**" इस पद्य के अन्दर विभावना और विशेषोक्ति दोनों ही अलंकारों की उपलब्धि होती है क्योंकि उत्कण्ठा के कारणभूत पति आदि का अभाव होते हुये भी उत्कण्ठा रूप कार्य का कथन किया गया है, अतः **विभावनालंकार** है, और उत्कण्ठा के अभाव के कारण पति आदि के होने पर भी फलरूप उत्कण्ठा के अभाव का कथन न करने से विशेषोक्ति है। इसप्रकार दोनों के लक्षण मिलते हैं किन्तु किसी का विनिश्चायक हेतु नहीं है, अतः **विभावना-विशेषोक्तिमूलक सन्देह-संकरालंकार सुस्पष्ट है।**

अर्थ—एतेनेति—इसीसे—

"अदोषमिति"—दोष शून्य, सगुण, अलंकारों से अलंकृत रसयुक्त काव्य को करता हुआ कवि कीर्ति और प्रीति को प्राप्त करता है।

इत्यादिक वचनों का भी "काव्य-लक्षण" खण्डित हो गया। (क्योंकि दोषगुणादिकों का स्वरूप में निवेश नहीं हो सकता)।

यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्–'काव्यस्यात्मा ध्वनिः–' इति तत्किं वस्त्वलङ्कार-रसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा ? नाद्यः,–प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः । द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूमः ।

ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, तदा––

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धिअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत् ? न,–अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः, अन्यथा 'देवदत्तो ग्रामं याति' इति वाक्ये तद्भृत्यस्य तदनुसरणरूपव्यङ्ग्यावगतेरपि काव्यत्वं स्यात्। अस्त्विति चेत् ? न, रसवत एव काव्यत्वाङ्गीकारात् ।

काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादमुखपिण्डदानद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां सुकुमारमतीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेश इति चिरन्तनैरप्युक्तत्वात् । तथा चाग्नेय-पुराणेऽप्युक्तम्—"वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इति ।

अर्थ—यत्तु—और जो ध्वनिकार ने कहा है कि "काव्यस्यात्मा ध्वनिः"—काव्य की आत्मा ध्वनि हैं; (वहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि) क्या वस्तु, अलंकार और रसादिक लक्षण रूप तीन प्रकार की ध्वनि काव्य की आत्मा है ? अथवा केवल रसादि रूप ध्वनि को ही काव्य मानते हो ? (इनमें) पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि प्रहेलिका आदि में, (जहाँ वस्तु ध्वनित होती है) यह काव्य का लक्षण अतिव्याप्त हो जावेगा। (अलक्ष्य में लक्षण के जाने से अति-व्याप्ति नामक दोष होता है) और यदि दूसरा (रसादिरूप ध्वनि को काव्य मानो तो) हम भी स्वीकार करते हैं ।

प्रश्न—नन्विति—यदि केवल रसादिरूप ध्वनि ही काव्य की आत्मा है, तो "अत्ता एत्थ"—

"श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसे एव प्रलोकय ।
मा पथिक ! रात्र्यन्धक ! शय्यायां मम निमङ्क्ष्यति ॥ इति संस्कृतम्–

अवतरणिका:—किसी पथिक के प्रति किसी नायिका की उक्ति है । मेरी शय्या पर प्रविष्ट तुझको यदि सास किसीप्रकार जान जावे तो "मैं रात्र्यन्ध हूँ अतः अपनी शय्या को नहीं देख पाया" इस गोपन के उपाय को बतलाने के लिये "रात्र्यन्धक" इस पद को प्रयुक्त किया है, ऐसा कुछ कहते हैं ।

अर्थः–हे रात्र्यन्धक पथिक ! इस स्थान पर मेरी सास प्रगाढ़ निद्रा में सोती है, यहाँ मैं (सोती हूँ), दिन में ही खूब अच्छी तरह देख लो, (कहीं रात में) मेरी शय्या पर

व्यक्तिविवेककारेणाऽप्युक्तम्—'काव्यस्यात्मनि अङ्गिनि, रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः' इति । ध्वनिकारेणाऽप्युक्तम्—'न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहिणात्मपदलाभः, इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः' इत्यादि ।

क्षत आ पड़ना । (यह स्वयं दूती की उक्ति है) ।

इत्यादिक स्थलों में वस्तुमात्र के व्यंग्य होने पर (अपनी शय्या पर प्रवेशरूप वस्तु व्यंग्य है) किसप्रकार काव्य का व्यवहार होगा ? (जब कि वस्तु ध्वनि को काव्य की आत्मा ही स्वीकार नहीं किया गया है) उत्तर—ऐसी बात नहीं है, यहाँ पर भी रसाभास के कारण ही हम काव्यत्व मानते हैं । (उक्त पद्य में आगन्तुक पथिक के प्रति दूती नायिका का अनुराग प्रतीत होता है, अतः शृंगाराभास है) । अन्यथा (यदि वस्तुध्वनि को ही काव्य मानने लगे तो) "देवदत्त गाँव को जाता है" इस वाक्य में भी देवदत्त के भृत्य का उसके पीछे-पीछे जाना व्यंग्य होने पर, काव्यत्व हो जावेगा । अस्त्विति चेत्—यदि कहो कि इसको भी काव्य मान लो तो—नहीं यह ठीक नहीं क्योंकि सरस वाक्य को ही काव्य स्वीकार किया गया है ।

(नीरस काव्य को स्वीकार न करने का कारण कहते हैं कि) काव्य का प्रयोजन प्राचीन आचार्यों ने रसास्वादरूप समूह की सुखपरम्परा के दान द्वारा वेद-शास्त्रों से विमुख (कठिनता के कारण उनके अर्थ को न समझ सकने के कारण) सुकुमार बुद्धिवाले शिक्षणीय राजपुत्रादिकों को रामादि की तरह व्यवहार करना चाहिये रावणादि की तरह नहीं, इत्यादिक कृत्य कर्मों की ओर प्रवृत्ति और अकृत्य कर्मों की ओर से निवृत्ति का उपदेश, बतलाया है । (अतः सरस वाक्य ही काव्य होते हैं नीरस नहीं) ।ऐसा ही अग्निपुराण में भी कहा है—"वाणी की विदग्धता प्रधान होने पर भी रस ही काव्य में जीवन है" ।

व्यक्तिविवेककार (व्यक्तेः—व्यञ्जनावृत्तेः विवेको-विवेचनमनुमानेन गतार्थतां प्रतिपाद्य निर्णयनं, तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो व्यक्तिविवेकः, तं करोतीति तेन तथा-भूतेन) महिमभट्ट ने भी कहा है—(इससे प्रतिवादी की मान्यता को सूचित किया है) "काव्य की नियतोपस्थितिक आत्मा रसादिक के विषय में किसी भी व्यक्ति की विमति नहीं है" । ध्वनिकार ने भी (ध्वन्यालोककर्त्ता आनन्दवर्धनाचार्य) कहा है—"केवल इति-वृत्तमात्र की रचना करने से कवि को आत्मपद की सिद्धि (कविपद की सार्थकता) नहीं हो सकती, इतिहासादि के (भारतादि) लिखने से ही आत्मपद की सिद्धि हो सकती है इत्यादि (केवल इतिवृत्तमात्र लिख देना कवि का प्रयोजन नहीं है) ।

ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेत् ? न, रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन, प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्। यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद्दोषाभावादलङ्कारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद्गौण एव।

यत्तु वामनेनोक्तम्—'रीतिरात्मा काव्यस्य' इति, तन्न; रीतेः संघटनाविशेषत्वात्। संघटनायाश्चावयवसंस्थानरूपत्वात्, आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात्।

यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्—

'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥' इति।

अत्र वाच्यात्मत्वं" काव्यस्यात्मा ध्वनिः–' इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम्।

(प्रश्न)—तो क्या प्रबन्धकाव्यों के अन्तर्गत नीरस पद्यों की काव्यता नहीं रहेगी ? (उत्तर)—ऐसा नहीं है, जिसप्रकार सरस पद्यों के अन्दर विद्यमान नीरस पद पद्य के रस से रसवान् समझे जाते हैं उसीप्रकार प्रबन्ध रस के अन्दर वर्तमान नीरस पद्यों में भी रसवत्ता स्वीकार की जाती है। (यहाँ पद्य शब्द गद्य का भी द्योतक है)। यत्तु—और जो नीरस (पद्यों में) भी गुणों के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ के होने के कारण दोष के अभाव के कारण और अलंकारों की विद्यमानता के कारण काव्य का व्यवहार (देखा जाता) है, वह सरस काव्य की रचना के साम्य के कारण गौण (प्रयोग) ही है।

और जो वामन (अलंकारसूत्रकार आचार्य वामन) ने कहा है—"रीतिरात्मा काव्यस्य"— "काव्य की आत्मा रीति है" (वैदर्भी आदि रीति), वह ठीक नहीं है क्योंकि रीति के संघटना (रचना) विशेष होने के कारण। और रचना विशेष के (काव्य शरीर के) अवयवों (शब्द और अर्थों) की समुचित स्थानों में स्थिति होने के कारण और वह रचना विशेष (आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि) काव्यात्मा से भिन्न होती है।

और जो ध्वनिकार ने कहा है (यहाँ पर ध्वनिकार का उल्लेख करके उसके मत का खण्डन करते हैं) कि——सहृदय सामाजिकों के द्वारा प्रशंसनीय जो अर्थ काव्य की आत्मा व्यवस्थित की गयी है उस (अर्थ) के वाच्य और प्रतीयमान (अभिधेय और व्यंग्य नामक) दो भेद कहे गये हैं (अर्थात् उसके दो भेद होते हैं—(१) वाच्य और (२) प्रतीयमान।)

इस कारिका में वाच्यार्थ को काव्य की आत्मा बताया गया है (अतः उनका कथन) "काव्यस्यात्मा ध्वनिः—यह स्ववचन विरोध के कारण ही निरस्त हो गया।

टिप्पणीः—ध्वनिकार ने एक स्थान पर "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" ऐसा कहा है और इस कारिका में अर्थ के दो भेद–वाच्य और प्रतीयमान--मानकर काव्य की आत्मा वाच्यार्थ मान लिया गया, अतः स्ववचन विरोध है। इसप्रकार उनकी अपनी मान्यता "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" का स्वतः खण्डन हो जाता है।

तत्किं पुनः काव्यमित्युच्यते—

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—

रसस्वरूपं निरूपयिष्यामः। रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना तस्य काव्यत्वानङ्गीकारात्। 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्ति-योगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।

तत्र रसो यथा—

(काव्यस्वरूप-निरूपणम्)

अर्थ—अतः (उक्त मतों के सदोष होने के कारण-उक्त चार मतों का खण्डन किया है—

(१) "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"—आचार्य मम्मट-भट्ट।

(२) "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्"—आचार्य कुन्तक

(३) "काव्यस्यात्मा ध्वनिः"—ध्वनिकार (आनन्दवर्धनाचार्य)

(४) "रीतिरात्मा काव्यस्य"—आचार्य वामन)

काव्य का पुनः क्या स्वरूप है अर्थात् काव्य का लक्षण क्या है? (काव्य के लक्षण का) निरूपण करते हैं—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"—रसात्मक वाक्य काव्य कहलाता है।

टिप्पणी:—उपर्युक्त चार आलंकारिकों के काव्य लक्षणों में दोष प्रदर्शन के साथ उन लक्षणों का खण्डन करके साहित्यदर्पणकार ने स्वयं अपना काव्य का लक्षण **"वाक्यं रसात्मकं काव्यम"** कहा है—इस पर कुछ का मत है कि **"रसात्मक वाक्य ही काव्य है"** इस लक्षण के द्वारा जहाँ पर सब प्रकार से प्रधानतया रस का सद्भाव होगा, वही काव्य कहलाया जायेगा, दूसरे नहीं। इसप्रकार से तो जिन वाक्यों के अन्दर ध्वनि, गुण और अलंकारों की प्रधानता होगी और रसवत्ता के प्राधान्य का अभाव होगा वे काव्यत्व की कोटि में नहीं आ सकेगें। और उनका अकाव्यत्व स्वीकार करना इष्ट नहीं है क्योंकि उनको अकाव्य मानने पर तो ध्वनिप्रधान, और अलंकारप्रधान कविता के निर्माण में निपुण कवियों के अन्दर घबराहट पैदा हो जायेगी। क्योंकि सामान्यतः नियम यह है कि सर्वत्र ही सबसे प्रथम लक्ष्य का निर्देश किया जाता है, बाद में लक्षण का। यदि लक्ष्य लक्षण का अनुयायी हो जायेगा तो उसके (लक्ष्य के) स्वरूप का व्याघात होगा। ऐसा मानकर ही काव्य-स्वरूप के मर्मज्ञ कवि सम्प्रदाय ने नग, नद और भूधर आदिकों के नीरस स्वभाव को भी काव्य रूप से वर्णन करते हुये उनकी काव्यता स्वीकार की है। इस विषय में सहृदयों का हृदय ही प्रमाण है।

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

अत्र हि संभोगशृङ्गाराख्यो रसः ।

भावो यथा महापात्रराघवानन्दसान्धिविग्रहिकाणाम्--

अर्थ—रस के स्वरूप का वर्णन (तीसरे परिच्छेद में) करेंगे ("रसात्मकम्" पद का अर्थ करते हैं) रस ही है आत्मा—साररूप होने के कारण जीवनाधायक जिसका, (ऐसा वाक्य "रसात्मक" कहलाता है)। (क्योंकि) उसके (रस के) विना उस वाक्य की काव्यता ही स्वीकार नहीं की जायेगी। "रस्यते इति रसः" जिसका आस्वादन किया जाता है वही रस है, इस व्युत्पत्ति के योग से रस, रसाभास, भाव और भावभासादि का भी ग्रहण किया जाता है।

उनमें से रस का उदाहरण देते हैं—शून्यमिति—

अवतरणिकाः—यह पद्य संयोग शृंगार का उदाहरण है और नवोढा दम्पती का वर्णन हैः—

अर्थ—(नवविवाहिता नायिका ने) वास गृह को शून्य (सखी आदियों से रहित) देखकर, शय्या से थोड़ा शनैः शनैः (निःशब्द) उठकर, कपट निद्रा में सोये हुये (अपने) पति के मुख को खूब देर तक देखकर, (तदनन्तर) निःशङ्क होकर (अपने पति का) चुम्बन किया, (पुनः पति की) रोमाञ्चित गण्डस्थली को देखकर, लज्जा से अवनत-मुखी (उस नवोढा) का हँसते हुये (उसके) प्रिय पति ने बहुत देर तक चुम्बन किया।

टिप्पणीः—इस श्लोक के अन्दर "**शय्यायाः किंचित् उत्थाय**" शय्या से थोड़ा उठकर–इसलिये कहा गया है कि यदि उसका पति जाग जाये तो वह अपने उठने को छिपा सके, और "**शनैः उत्थाय**" इसलिये कहा है कि कहीं उस नायिका के अपनी चारपाई से उठने के कारण उसका पति जाग न जावे, "**विस्रब्धं**" से यह भाव निकलता है कि उसका पति खूब प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ है।

अर्थ—अत्रेति—यहाँ "सम्भोगशृङ्गार" नामक रस है।

महापात्र राघवानन्द, जो सान्धि विग्रहिक है, उनके द्वारा बनाया हुआ भाव का उदाहरण देते हैं। यस्यालीयतेति—

अवतरणिकाः—इसमें विष्णु के दस अवतारों का वर्णन है। वे इसप्रकार हैं:—

"मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च रामश्च बौद्धः कर्की च ते दश ॥

यस्यालीयत शल्कसीम्नि जलधिः पृष्ठे जगन्मण्डलं,
दंष्ट्रायां धरणी, नखे दितिसुताधीशः, पदे रोदसी ।
क्रोधे क्षत्रगणः, शरे दशमुखः, पाणौ प्रलम्बासुरो,
ध्याने विश्वमसावधार्मिककुलं, कस्मैचिदस्मै नमः ।।

अत्र भगवद्विषया रतिर्भावः ।

अर्थ—जिसके (विष्णु के) मत्स्यत्वक् के एक भाग में समुद्र समा गया (इससे मीनावतार का वर्णन किया है; मत्स्य का विशाल शरीर समुद्र में नहीं समा सका अपितु वह समुद्र ही मत्स्य के एक भाग में विलीन हो गया), जिसकी पीठ पर समस्त भूमण्डल आ गया (इससे कूर्मावतार का वर्णन किया है, यद्यपि कूर्मावतार मन्दराचल को धारण करने में ही प्रसिद्ध है, तथापि जिसने पृष्ठ पर संसार को धारण किया है वह कूर्म इससे भिन्न नहीं है), जिसकी दाढ़ में पृथ्वी इससे वराहावतार), नख में दैत्यों का सम्राट् हिरण्यकश्यपु (इससे नृसिंहावतार का वर्णन किया है, नृसिंहावतार में नखों द्वारा हिरण्यकश्यपु को विदीर्ण किया था, ऐसा प्रसिद्ध है), पैरों में द्यावापृथिवी (इससे वामनावतार का वर्णन किया है, तीन कदम पृथ्वी का ग्रहण करते हुये भगवान् वामन ने अपने कदमों से सारी पृथ्वी को नाप लिया था, ऐसा प्रसिद्ध है), क्रोध में क्षत्रियों का समुदाय (इससे भार्गवावतार का वर्णन किया है; पिता की हत्या हैहयवंशीय क्षत्रियों ने की थी अतः क्रोधित परशुराम ने उनका समूल वंश नाश कर दिया, ऐसा प्रसिद्ध है), बाण में दस मुख वाला रावण (इससे रामावतार को सूचित किया है, राम ने अपने बाणों से रावण को नष्ट कर दिया, ऐसा प्रसिद्ध है), हाथ में प्रलम्बासुर (इससे बलरामावतार को सूचित किया है, मल्लयुद्ध में बलराम ने हाथ के प्रहार से प्रलम्ब को मार गिराया, ऐसा प्रसिद्ध है), ध्यान में सारा संसार (इससे बौद्धावतार को कहा है, हिंसा न हो, अतः व्यापार शून्य होकर भगवान् बुद्ध ध्यानस्थ हो गये, ऐसा प्रसिद्ध है) और खड्ग में अधर्मी कुल का विलय हो गया (इससे कल्की अवतार को कहा है; कलि-काल में म्लेच्छों को खड्ग से मारता हुआ घूमेगा, ऐसा प्रसिद्ध है), (ऐसे) अनिर्वचनीय स्वरूप वाले उस (देव के लिये) के लिये नमस्कार हो ।

टिप्पणी:—यहाँ "अलीयत" क्रिया सबके साथ सम्बद्ध होती है ।

अत्रेति—यहाँ भगवद् विषयक रति भाव है ।

टिप्पणी—भाव का लक्षणः—"सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ।।

रसाभासो यथा—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥

अत्र सम्भोगशृङ्गारस्य तिर्यग्विषयत्वाद्रसाभासः । एवमन्यत् ।

दोषाः पुनः काव्ये किंस्वरूपा ? इत्युच्यन्ते—

दोषास्तस्यापकर्षकाः ।

श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव, शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव, व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव, साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते । एषां विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः ।

अर्थ—रसाभास का उदाहरण देते हैं—मधु इति—

अवतरणिकाः—जिस समय कामदेव वसन्त को साथ लेकर कैलाश पर भगवान् शंकर को अपने प्रभाव से कामयुक्त करने पहुँचा था, उस समय उसके प्रभाव से पशु–पक्षी भी कितने काम मोहित हो गये थे, उसी का वर्णन "कुमारसम्भव" के इस पद्य में कविकुलगुरु कालिदास ने किया है ।

अर्थ—(कामातुर) भ्रमर अपनी प्रियतमा (भ्रमरी का) अनुसरण करता हुआ कुसुमरूप अद्वितीय पात्र में मधु (पुष्प रस) का पान करने लगा, और मृग (कृष्णसार मृग विशेष) (प्रिय के) स्पर्श सुख से निमीलितनयना हरिणी को (अपनी प्रिया को) सींग से (धीरे-धीरे) खुजाने लगा ।

अत्रेति—इस पद्य में संयोग शृङ्गार के पशु-पक्षी विषयक होने के कारण रसाभास है । इसीप्रकार अन्य (भावाभासादिकों के) उदाहरण समझने चाहियें ।

अवतरणिकाः—काव्य के लक्षण में दोषों का स्थान न होने पर भी क्योंकि उनका परिहार करना काव्य के अन्दर आवश्यक है अतः उन दोषों के स्वरूप का ज्ञान भी आवश्यक है, इसलिये आकाङ्क्षा को उत्पन्न करते हैं ।

(दोषस्वरूपलक्षणम्)

अर्थ—पुनः काव्य में दोषों का क्या स्वरूप है । (अर्थात् दोषों का लक्षण क्या है) ? इसके विषय में कहते हैं—"दोषास्तस्यापकर्षकाः"—काव्य के (उपचार प्रयोग से काव्य की आत्मा रस के) अपकर्षक दोष कहलाते हैं । श्रुतिदुष्टेति—जिसप्रकार काणत्व और खञ्जत्व आदि दोष शरीर के द्वारा आत्मा का अपकर्ष सूचित करते हैं; उसीप्रकार श्रुतिदुष्टत्वादि दोष शब्द के द्वारा, (क्योंकि ये दोष शब्दों में निवास करते हैं। और अपुष्टत्वादि दोष अर्थ के द्वारा (क्योंकि इन दोषों का निवास अर्थ में है) काव्य की आत्मा रस का अपकर्ष करते हैं तथा जिसप्रकार मूर्खत्वादिक दोष साक्षात्—किसी के द्वारा नहीं—आत्मा का अपकर्ष करते हैं उसीप्रकार निर्वेदादि व्यभिचारी भावों का (यहाँ आदि पद से शृंगारादि रसों का भी ग्रहण हो जायेगा) स्वशब्दवाच्यत्व प्रभृति (स्वयं का प्रतिपादन करने वाले निर्वेदादि शब्दों के कथन से) अनेक दोष काव्य के आत्मभूत रस का अपकर्ष करते हुये काव्य के अपकर्षक कहलाते हैं । एषामिति—इनके विशेष उदाहरण (सप्तम परिच्छेद में) कहेंगे ।

गुणादयः किंस्वरूपा इत्युच्यन्ते—

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ॥ ३ ॥

गुणाः शौर्यादिवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थान-विशेषवत्, देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते। इह यद्यपि गुणानां रसधर्मत्वं तथापि गुणशब्दोऽत्र गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थयोरुपचर्यते। अतश्च 'गुणाभिव्यञ्जकाः शब्दा रसस्योत्कर्षकाः' इत्युक्तं भवतीति प्रागेवोक्तम्। एषामपि विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः।

इति साहित्यदर्पणे काव्यस्वरूपनिरूपणो नाम प्रथमः परिच्छेदः।

अत्र मूलकारिकाः = ३। उदाहरणश्लोकाः = ६।

(गुणस्वरूपनिरूपणम्)

अर्थ—गुणों का क्या स्वरूप है (अर्थात् गुणों का क्या लक्षण है) ? इसके विषय में कहते हैं। "उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः"—गुण, अलंकार और रीतियाँ (काव्य की) उत्कृष्टता के कारण कहे गये हैं।

जिसप्रकार शौर्य आदि गुण, कटक कुण्डलादि अलंकार और अङ्गरचनादि मनुष्य के शरीर के द्वारा उसकी आत्मा की उत्कृष्टता को करने वाले होते हैं; उसीप्रकार माधुर्यादि गुण, उपमादि अलंकार और वैदर्भी आदि रीति काव्य के शरीर शब्द, और अर्थ के द्वारा काव्य के आत्मभूत रस का उत्कर्ष करते हुये काव्य के उत्कर्षक कहाते हैं।

प्रश्न—जिसप्रकार यह कहा जाता है कि अलंकार शून्य काव्य की अपेक्षा अलंकार सहित काव्य उत्कृष्ट होता है उसप्रकार यह नहीं कहा जा सकता है कि निर्गुण काव्य की अपेक्षा सगुण काव्य उत्कृष्ट होता है क्योंकि गुणों की स्थिति रसों के साथ रहती [illegible] हाँ गुण होंगे वहाँ रस भी होगा – जहाँ गुण नहीं होंगे वहाँ रस भी नहीं होंगे-अतः जो काव्य निर्गुण है वह सरस नहीं हो सकता और जो सरस नहीं होगा वह काव्यत्व कोटि में भी नहीं आ सकता क्योंकि काव्य का लक्षण तो "**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**" ऊपर कर आये हैं। अतः जो काव्य ही नहीं उसकी तुलना सरस काव्य से नहीं की जा सकती। जब गुणों का रस के साथ अन्वय-व्यतिरेकी सम्बन्ध है फिर गुणों के लक्षण में यह कहना कि वे काव्य के उत्कर्ष करने वाले हैं—यह ठीक नहीं है—इसका उत्तर देते हैं। इहेति—यद्यपि गुण रस के धर्म हैं अर्थात् रस के बिना गुणों की स्थिति नहीं है तथापि यहाँ पर गुण शब्द उपचार से गुण के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ का द्योतन करता है। "अतः गुण के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ रस के उत्कर्षक हैं" ऐसा अर्थ होता है। (अतः यह अभिप्राय जानना कि गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थों से रहित काव्य की अपेक्षा तत्सहित काव्य उत्कृष्ट होता है) ऐसा पहले भी "सगुणौ" की आलोचना में कह दिया है। इनके (गुणों के) विशेष उदाहरण (अष्टम परिच्छेद में) कहेंगे।

इति प्रथमः परिच्छेदः

द्वितीयः परिच्छेदः

वाक्यस्वरूपमाह—

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।

योग्यता पदार्थानां परस्परसंबन्धे बाधाभावः। पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति' इत्याद्यपि वाक्यं स्यात्। आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः। स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः। निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वं स्यात्। आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः। बुद्धिविच्छेदेऽपि वाक्यत्वे इदानीमुच्चारितस्य देवदत्तशब्दस्य दिनान्तरोच्चारितेन गच्छतीति पदेन सङ्गतिः स्यात्। अत्राकाङ्क्षायोग्यतयोरात्मार्थधर्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात्।

अर्थ—(उपोद्घात की संगति के कारण) वाक्य के स्वरूप का (निरूपण) करते हैं।

टिप्पणी—उपोद्घात का लक्षण—**"प्रकृतसिद्ध्यनुकूलचिन्ताविषयत्वमुद्घातः"**—प्रकृत (वस्तु) की सिद्धि के लिये जिस पर विचार करना प्रसंगानुकूल है उसे उपोद्घात कहते हैं। काव्य का लक्षण यहाँ पर प्रकृत (प्रस्तुत) है। काव्य का लक्षण है—**"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"**। इसके अन्दर **"वाक्यम्"** से क्या विवक्षित है, अतः वाक्य का लक्षण बताते हैं।

वाक्य का लक्षणः—

अर्थ—वाक्यमिति—योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पदसमुदाय को वाक्य कहते हैं। (अर्थात् किसी पूर्ण वाक्य के लिये तीन चीजों का होना आवश्यक है—(१) योग्यता (२) आकांक्षा और (३) आसत्ति। इन तीनों में से एक भी वस्तु से हीन वाक्य वाक्य नहीं कहलायेगा। अतः क्रमशः इन तीनों का लक्षण करते हैं।)

योग्यता का लक्षण—योग्यतेति—पदार्थों के अर्थात् सुबन्त और तिङन्त पदों के प्रतिपाद्य अर्थों के परस्पर अन्वय के बोध में कारणीभूत बाधा का अभाव योग्यता कहलाता है। [और इसप्रकार तात्पर्य के विषयीभूत सम्बन्ध के कारण उससे सम्बन्धित पदार्थों में से किसी एक का दूसरे पदार्थ के साथ अन्वित होना योग्यता है। "तात्पर्य के विषयीभूत, इस सम्बन्ध विशेषण की यह उपयोगिता है कि कहीं **"वह्निना सिञ्चति"** यह वाक्य न हो जावे, क्योंकि पाकादि में ही वह्नि की कारणता है, सेकादि में नहीं। इसीलिये ही, तात्पर्य के विषयीभूत पदार्थों में से ही किसी एक का अन्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध होना चाहिये, जिस किसी पदार्थ के साथ नहीं।] योग्यता **की व्यावृत्ति दिखाते हैं:—पदोच्चयस्येति—(यदि) योग्यता के अभाव में भी पद-**

समुदाय को वाक्य मानेंगे तो "वह्निना सिञ्चति" इत्यादि भी वाक्य हो जायेगा। [जब कि वह्नि के अन्दर सेचन क्रिया की योग्यता नहीं है, वह्नि की योग्यता पाचन क्रिया के साथ है; अग्नि जलाने का साधन है, सींचने का नहीं] **आकांक्षा का लक्षण- आकांक्षेति-पदों के अर्थ की उपस्थिति के अन्वय का ज्ञान कराने के विरह का विरह (अभाव) आकांक्षा कहलाता है। (अर्थात् वाक्यार्थ की पूर्ति के लिये किसी पदार्थ की जिज्ञासा का बना रहना आकांक्षा कहलाता है। शंका**—इसप्रकार आकांक्षा पद यदि अभाव का बोध न करायेगा तो लक्षण के विषय में आपत्ति पैदा हो सकती है, अतः कहा है कि—**स चेति-और वह (प्रतीति पर्यवसान विरह) सुनने वाले की ज्ञानेच्छा-रूप है** (क्योंकि अभाव का अभाव प्रतियोगी स्वरूप होता है अर्थात् यह आकांक्षा भाव रूप है, अभावरूप नहीं। "**पयसा सिञ्चति**" इस वाक्य के अन्दर "**पयसा**" इस शब्द का "**सिञ्चति**" इस पद के साथ अन्वय ज्ञान की उत्पत्ति में सुनने वाले की इच्छा है और प्रतीति का (जिज्ञासा का) पर्यवसान (अभाव) (१) कहीं तो स्वाभाविक होता है और (२) कहीं अन्वय के बोध से होता है। पहले का उदाहरण देते हैं) **निराकांक्षस्येति—(यदि) आकांक्षा शून्य पद समुदाय को वाक्य मानेंगे तो "गौरश्वः पुरुषो हस्ती" इत्यादि की भी वाक्यता होगी** (जब कि ये निराकांक्ष है; क्योंकि इन पद समुदाय के उच्चारण से किसी ज्ञान की समाप्ति नहीं होती अपितु आकांक्षा विद्यमान रहती है। निराकांक्ष होने के कारण यह वाक्य नहीं हो सकता।) (दूसरे का उदाहरण देते हैं—"**विमलं जलं नद्याः कच्छे महिषश्चरति**"—यहाँ पर यद्यपि "**नद्याः**" इस पद का "**जल**" इस पद के साथ अन्वय बोध सिद्ध होने पर भी "**इच्छा के विरह**' का अभाव नहीं होता वह तो '**कच्छे**' इस पद के साथ ही अन्वय होने पर सुनने वाले की इच्छा का अभाव होता है। और दोनों तरफ अन्वय लगाया जायेगा तब तो "**नद्याः**" इसका "काकाक्षिगोलक" न्याय से अर्थात् जिसप्रकार कौआ अपनी एक ही पुतली से नेत्र के दोनों गोलकों से काम ले लेता है उसीप्रकार "**नद्याः**" भी "**जलं**" और "**कच्छे**" इन दोनों के साथ अन्वय का काम दे जावेगा इसप्रकार बोलने वाले के तात्पर्य को सुनने वाला समझ लेगा। यहाँ प्रतीति का पर्यवसान तात्पर्य के द्वारा अन्वय बोध से होता है।) **आसत्ति का लक्षण— बुद्ध्येति—बुद्धि के अर्थात् पद के अर्थों की उपस्थिति के अविच्छेद (अव्यवधान) को आसत्ति कहते हैं।** (अर्थात् विना किसी व्यवधान के पदार्थों की उपस्थिति को आसत्ति कहते हैं। और व्यवधान दो प्रकार से हो सकता है (१) या तो दो पदार्थों के बीच में काल का व्यवधान आ जावे (२) या फिर प्रकृत पदार्थों के मध्य में अनुपयोगी पदार्थों की उपस्थिति हो जावे। इनमें से (१) पहले का (काल व्यवधान) उदाहरण देते हैं:—) "**बुद्धीति**"—(यदि) **बुद्धि का विच्छेद होने पर भी वाक्य स्वीकार करने पर इस समय उच्चारण किये गये "देवदत्तः" इस शब्द का दूसरे दिन बोले जाने वाले** (दिनान्तर का प्रयोग अत्यन्त व्यवधान दिखाने के लिये है वैसे थोड़े काल व्यवधान से भी काम चल जावेगा) "**गच्छति**" **इस पद के साथ संगति हो जावेगी।** (और इसको वाक्य स्वीकार करना पड़ेगा परन्तु ऐसा होता नहीं है, थोड़े

सा भी काल व्यवधान वाक्यार्थ ज्ञान कराने में असम्भव है, ज्ञान हो ही नहीं सकता) [(२) दूसरे का (अनुपयोगी पदार्थों का व्यवधान) उदाहरण देते हैं:—**"गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन"**—यहाँपर **"गिरिरग्निमान्"**, **"भुक्तं देवदत्तेन"** ये दो वाक्यार्थ स्वाभाविक है। इनमें से **"गिरिः"** का सम्बन्ध **"अग्निमान्"** के साथ है पर बीच में प्रकृत का अनुपयोगी **"भुक्तम्"** पद आ गया है। एवं दूसरे में **"भुक्तम्"** और **"देवदत्तेन"** के बीच में प्रकृत का अनुपयोगी **"अग्निमान्"** पड़ा हुआ है। अतः इन दोनों उदाहरणों के अन्दर आसत्ति का अभाव है। अत एव ये दोनों ही वाक्य नहीं है।)]

(शंका—वाक्य का लक्षण करते हुये कहा है कि "योग्यता, आकांक्षा और **आसत्ति से युक्त पद समुदाय को वाक्य कहते हैं**", "परन्तु आकांक्षा सुनने वाले की इच्छा रूप है जो आत्मा के अन्दर निवास करती है अर्थात् आकांक्षा आत्मा का धर्म है और योग्यता पदों के अर्थों में निवास करती है अर्थात् योग्यता पदार्थ का धर्म है, पुनः ये दोनों विभिन्न धर्मावलम्बी होने के कारण पद समुदाय में किसप्रकार निवास करेंगे? **उत्तर**—इस शंका के निवारणार्थ कहते हैं—) **अत्रेति—यहाँ पर आकांक्षा और योग्यता क्रमशः आत्मा और पदार्थ के धर्म होने पर भी पदसमुदाय के अन्दर की धर्मता उपचार प्रयोग से ही समझनी चाहिये**। (क्योंकि आकांक्षा के अन्दर यह परम्परा सम्बन्ध "स्वजन्यजनकत्व" सम्बन्ध से पदों में निवास करती है अर्थात् "स्व" शब्द से आकांक्षा गृहीत होती है—उससे जन्य वाक्यार्थ होता है और उसका जनक पदसमूह होता है। और योग्यता के अन्दर यह परम्परा सम्बन्ध **"स्वाश्रयोपस्थापकत्व"** सम्बन्ध से पदों में रहता है अर्थात् "स्व" शब्द से योग्यता, उसका आश्रय पदार्थ, उसका उपस्थापक पदसमूह होता है। इसीप्रकार से **"आसत्ति"** जो कि आत्मा का धर्म है, उसका भी समाधान कर लेना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि आकांक्षा और आसत्ति के आत्मा का धर्म होने के कारण और योग्यता का पदार्थ का धर्म होने के कारण जो पदसमुदाय का धर्म कहा है उसे उपचार प्रयोग से ही समझना चाहिये)।

टिप्पणी—(१) **"मञ्जूषा"** के अनुसार "आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति वाले पदों के समूह को वाक्य कहते हैं"। यहाँ पर आसत्ति मन्द बुद्धि वालों के लिये शाब्दबोध का कारण है किन्तु जिनकी बुद्धि मन्द नहीं है अर्थात् बुद्धिमान, हैं उनके लिये आसत्ति का अभाव होने पर भी केवल पदार्थ की उपस्थिति मात्र से ही शीघ्र शाब्द-बोध हो जाता है, अतः **"आसत्ति"** शाब्दबोध में कारण नहीं है।

(२) **"दिनकरी"** के अनुसार भी—उक्त लक्षण आसत्ति का श्लोक के अन्दर अभाव ही होता है और पदों का व्यवधान भी होता है, अतः आसत्ति के अभाव में शाब्दबोध नहीं होगा, ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि श्लोकादियों में वाक्य की योजना ही अन्वय का ज्ञान कराने वाली होती है। अतः "आसत्ति" शाब्दबोध में कारण नहीं है। और शाब्दबोध के अन्दर "तात्पर्य" भी कारण होता है क्योंकि यह पद या वाक्य इस अर्थ को बताने के लिये कहा गया है यह शब्द प्रयोग करने वाले की इच्छारूप है कि बोलने वाले

ने किस तात्पर्य से किस शब्द का प्रयोग किया है और तात्पर्य के निर्णायक प्रकरणादिक होते हैं। इसीलिये भोजन के अवसर पर 'सैन्धव" का अर्थ "लवण" (नमक) होगा और युद्ध के अवसर पर घोड़ा। (सैन्धव का अर्थ नमक और घोड़ा दोनों हैं)। इस प्रकार से तो प्रकरणादिकों की शब्दशक्ति ही नियामक हो जायेगी, तात्पर्य वृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिये। कारण स्पष्ट है कि यदि शब्द-शक्ति से ही काम चला लोगे और तात्पर्यवृत्ति को नहीं मानोगे तो "सैन्धवमानय" यह कहने पर कब तो "नमक" का बोध होगा और कब "घोड़ा" इस अर्थ का बोध होगा। क्योंकि "सैन्धव" यह पद दो अर्थों का बोध कराता है क्योंकि इसके अन्दर (नमक और अश्व) दो अर्थों के बोध की क्षमता है। फिर तात्पर्यवृत्ति क्या करेगी यह अनुभव विरोध हो जावेगा। इसीलिये "**पयः आनय**" ऐसा आदेश देने पर जो प्रकरण से अनभिज्ञ है उसके लिये "पयः" इस शब्द से दूध और जल का प्रश्न पैदा हो जायेगा। अतः शब्दवृत्ति केवल अर्थ का द्योतन तो कर सकती है पर कब कौन सा अर्थ गृहीत होगा यह प्रकरण के अनुसार तात्पर्यवृत्ति ही बतलावेगी।

(३) वैय्याकरणों के अनुसार "एकतिङ्" वाला वाक्य होता है। अतः "पचति", "भवति, पश्य मृगो धावति, ब्रूहि ब्रूहि देवदत्त" इत्यादि वाक्यों में अनेक क्रियाओं के होने पर भी एक वाक्य की हानि नहीं होगी क्योंकि उनकी दृष्टि में एक तिङन्त के अर्थ को बताने वाले पद-समूह वाक्य कहलाते हैं।

(४) तार्किक वाक्य का तीन प्रकार से विभाग करते हैं—(१) सुबन्त समूह (२) तिङन्त समूह (३) सुप्तिङन्त समूह। क्रमशः उदाहरणः—(१) त्रयः कालाः, (यह सुबन्त समूह वाक्य है) (२) पचति भवति (केवल तिङन्त समूह है) (३) चैत्रः पचति (यहाँ पर "चैत्रः' सुबन्त है और "पचति" तिङन्त है)।

(५) मीमांसक दो प्रकार के वाक्य मानते हैं—(१) विधि (२) और निषेध। (१) विधि का उदाहरण —"स्वर्गकामो यजेत"। (२) निषेध का उदाहरण—"न कलञ्जं भक्षयेत्"।

वाक्य का ज्ञान इसप्रकार होता है—सबसे पूर्व शब्द को सुनने के अनन्तर श्रोता की आत्मा में तत् तत् अर्थ उपस्थित होते हैं। उसके बाद योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति के आधार पर उन सभी शब्दों का विशिष्ट अन्वय ज्ञान का स्फुरण होता है। तत् तत् शब्दों के तत् तत् अर्थ हैं इसकी उपस्थिति स्मृति के द्वारा होती है। और स्मृति संसार में अनुभूत पदार्थों के उद्बोधक उसके साथ के संस्कारों के कारण होती है क्योंकि उस शब्द के अन्य अर्थ का बोध कराने का कोई कारण उपस्थित नहीं होता और उस शब्द का सुनना ही उसके अर्थ वाले संस्कार को उत्पन्न कराने का कारण हुआ करता है। क्योंकि यदि शब्दों का पदार्थों के साथ सम्बन्ध न हो तो अर्थ की स्मृति भी न हो। किन्तु उन उन शब्दों से उन उन अर्थों का स्मरण कराया जाता है इसीलिये "वाक्यपदीय" में कहा है कि—

सति प्रत्ययहेतुत्वे सम्बन्ध उपपद्यते।
शब्दस्यार्थैर्यतोऽतस्तत्संबन्धोऽस्तीति गम्यते ॥

वाक्योच्चयो महावाक्यम्—

योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त इत्येव ।

इत्थं वाक्यं द्विधा मतम् ॥ १ ॥

इत्थमिति वाक्यत्वेन महावाक्यत्वेन च ।

उक्तं च तन्त्रवार्तिके—

'स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ॥' इति ।

तत्र वाक्यं यथा—'शून्यं वासगृहम्'—इत्यादि । महावाक्यं यथा—रामायण—महाभारत-रघुवंशादि ।

अर्थात् प्रत्येक शब्द का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि एक शब्द के श्रवण मात्र से तत्सम्बन्धी अर्थ की स्मृति होती है और पुनः योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति के आधार पर वाक्य की अन्विति लगा दी जाती है। क्योंकि शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध के विना शब्दार्थों का प्रत्यायक कोई भी नहीं होगा। और वह सम्बन्ध वृत्तिरूप है ऐसा विद्वानों को समझना चाहिये।

अर्थः—(महावाक्य का लक्षण) वाक्योच्चय इति-वाक्यों का (दो वाक्यों या बहुत से वाक्यों का) समुदाय महावाक्य कहलाता है। (योग्यताकांक्षासति-इन तीन के अभाव में यदि महावाक्यत्व स्वीकार किया जायेगा तो "चक्षुषा गृह्यतां, गगनं वर्तते" इनका, "भिक्षुरुपविशति, गृही भुङ्क्ते" इनका तथा भिन्न दिवस में उच्चरित "चक्षुषा गृह्यताम्, घटो वर्तते" इन सभी का महावाक्यत्व स्वीकार करना पड़ेगा, अतः कहा है कि) योग्यतेति—योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त ही (वाक्यों के समूह को महावाक्य कहते हैं)।

इत्थमिति—इसप्रकार वाक्य दो प्रकार के माने गये हैं। (एक वाक्य और दूसरा महावाक्य)। "इत्थम्"—का अर्थ है वाक्य रूप से और महावाक्य रूप से।

और तन्त्रवार्तिक में कहा भी है—"स्वार्थेति"—अपने अपने अर्थ का बोध कराके समाप्त हुये (निराकांक्ष) वाक्यों के अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध से (आकांक्षा के कारण गुण-प्रधान भाव से) पुनः मिलकर (एक अर्थ के प्रतिपादक होने के कारण मिलकर स्थित) एक वाक्य (महावाक्य) होता है। (इसीप्रकार पदसमुदाय के विषय में भी समझना चाहिये क्योंकि-

**स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।
पदानामेकपदता पुनः संहत्य जायते ॥ इति)**

तत्रेति—उनमें वाक्य का उदाहरण—"शून्यं वासगृहम्" इत्यादि (१८ पृष्ठ) है और महावाक्य का उदाहरण—"रामायण-महाभारत-रघुवंशादि" हैं।

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तम्।

तत्र किं पदलक्षणमित्यत आह—

वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः।

यथा—घटः। प्रयोगार्हेति प्रातिपदिकस्य व्यवच्छेदः। अनन्वितेति वाक्य-महावाक्ययोः। एकेति साकाङ्क्षानेकपदवाक्यानाम्। अर्थबोधका इति कचटत-पेत्यादीनाम्। वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितम्।

अवतरणिका:—पद का लक्षण करने के लिये प्रसङ्ग संगति दिखलाते हैं।

अर्थः—पदोच्चय इति–पदसमुदाय वाक्य होता है, यह कहा जा चुका है, अतः पद का लक्षण क्या है ? इसलिये (उसका लक्षण) कहते हैं—वर्णा इति—

प्रयोग के योग्य, अनन्वित एक अर्थ का बोध कराने वाले वर्ण (स्वर और व्यंजन) पद कहाते हैं। जैसे-घट। (यह वर्ण-समुदाय प्रयोग के योग्य है–व्याकरणादि से शुद्ध होने के कारण वाक्य में इसका प्रयोग हो सकता है और दूसरे पदार्थों से असम्बन्ध (अनन्वित) एक अर्थ (घड़े) का बोधक है। अतः यह पद है।)

(उक्त लक्षण में पदकृत्य दिखाते हैं)—प्रयोगार्हेति–("नापदं शास्त्रे प्रयुञ्जीत"–शास्त्र के अन्दर अपद का प्रयोग नहीं करना चाहिये और विभक्ति रहित पद प्रयोग के योग्य नहीं होता है, अतः इस लक्षण में) "प्रयोगार्ह" ऐसा कह कर "प्रातिपदिक" की व्यावृत्ति कर दी। (अर्थात् केवल प्रातिपदिक–जिससे विभक्ति नहीं आई है–प्रयोग के योग्य नहीं होता। महाभाष्यकार ने कहा है कि "नापि केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः"। इसी "प्रातिपदिक" उपलक्षण से "धातु" का भी निषेध हो गया क्योंकि केवल उसका भी प्रयोग नहीं हो सकता।) अनन्वितेति— "अनन्वित" ऐसा कहने से वाक्य और महावाक्य की निवृत्ति हो गई क्योंकि इनसे अन्वित अर्थ का बोध होता है, अनन्वित का नहीं। **एकेति**—"एक" ऐसा कहने से साकांक्ष, अनेक पद और अनेक वाक्यों का व्यवच्छेद होता है। **"अर्थबोधका इति"— "अर्थ का बोध कराने वाले"** ऐसा कहकर क-च-ट-त-प इत्यादि का जो अर्थ का बोध नहीं कराते हैं उनकी व्यवृत्ति हो जाती है। **वर्णा इति**—"वर्णाः" इस पद में बहुवचन अविवक्षित है। यह आवश्यक नहीं कि बहुत वर्णों के होने पर ही पद हो, एक या दो वर्णों के भी पद होते हैं।

टिप्पणी:—प्रसङ्ग प्राप्त वर्ण की उत्पत्ति का निरूपण करते हैं:—ज्ञानवान् व्यक्ति के ज्ञात विषय को शब्द के द्वारा कहने की इच्छा से उसको बताने वाले शब्द समूह को उत्पन्न करने के लिये नियुक्त बुद्धि अन्तःकरण को प्रेरित करती है, पुनः वह मूलाधार में विद्यमान अग्नि को संचालित करती है। वह अग्नि वहाँ पर विद्यमान वायु को प्रेरित करती है। उसके द्वारा प्रेरित वायु धीमे धीमे वक्षःस्थल की तरफ चलती हुई **"परावाक्"** नामक सूक्ष्मरूप शब्द को उत्पन्न करती है। इसके बाद

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः ॥ २ ॥

एषां स्वरूपमाह—

नाभिमूल तक फैलती हुई वह वायु उस स्थान के सम्पर्क से प्रताड़ित "**पश्यन्ती**" नामक शब्द को उत्पन्न करती है। ये दोनों शब्द "**परावाक् और पश्यन्ती**" सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होने के कारण सिद्ध योगियों के श्रवण के विषय है; हम जैसों के स्थूल श्रवण के विषय नहीं हैं। तदनन्तर वह वायु हृदय देश में विचरण करती हुई उसके सम्बन्ध से "**मध्यमा**" नामक शब्द को उत्पन्न करती है। उस "**मध्यमा**" नामक शब्द को हम अपने कर्ण कुहर को अङ्गुली से बन्द करके अव्यक्त सूक्ष्म ध्वनि रूप से अनुभव कर सकते हैं। उससे भी ऊपर कण्ठ में जाकर मूर्धा से टकराकर उसके प्रतिघात से लौटी हुई मुख में जाकर कण्ठ तालु आदि आठ स्थानों में टकराकर "**वैखरी**" नाम वाले नानाजातीय अत्यन्त स्पष्ट शब्द को उत्पन्न करती है। यही शब्द व्यवहार के योग्य होता है—"**तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति**" ऐसा महाभाष्यकार का कथन है। यहाँ पर वर्णों के क्रमशः शीघ्र विनष्ट होने के कारण और एक बार में अनेक वर्णों के अनुभव न होने के कारण पहले पहले वर्णों को अनुभवं करके अन्तिम वर्णों के सुनने के समय पहले वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों के साथ अन्तिम वर्णों का सम्बन्ध होने से श्रवण द्वारा ग्रहण किया जाकर सद् और असद् अनेक वर्णों की अवगाहन करने वाली पदप्रतीति होती है। सहकारी सामर्थ्य से प्रत्यभिज्ञा की प्रतीति होती है। प्रत्यभिज्ञा का प्रत्यक्ष होने पर अतीत-कालीन पूर्वावस्था का भी स्फुरण हो जाता है। "सुप्तिङन्तम् पदम्" इति भगवान् पाणिनिः। "ते विभक्त्यन्ताः पदम्। २.२.६०" इति गौतमः। न्यायशास्त्रानुसार दो प्रकार के पद होते हैं—

(१) जो शक्ति के द्वारा जिस अर्थ को बताते हैं वह उस अर्थ में मुख्य पद है। यथा—गो घटादि को बताने वाले गो घटादि पद। और मुख्य पद भी चार प्रकार के होते हैं—(१) यौगिक (२) रूढ़ (३) योगरूढ़ और (६) यौगिकरूढ़। इनमें (१) पाचकादि पद (२) गोपमण्डपादि पद (३ पंकजादि पद और (४) उद्भिद् आदि पद हैं।

(२) जो लक्षणा वृत्ति से जिस अर्थ को बताते हैं वह उस अर्थ में गौण पद होते हैं। यथा—"गंगायां घोषः" यहाँ लक्षणावृत्ति के द्वारा तीर को बताने वाला गंगा पद है। यही लाक्षणिक है। विस्तार आगे चलकर करेंगे।

(अर्थ-निरूपणम्)

अवतरणिकाः—योग्यता को बताने वाले पद के अर्थों का विवेचन करते हैं।

अर्थः—अर्थ इति—अर्थ, वाक्य, लक्ष्य और व्यंग्य (भेद से) तीन प्रकार का माना गया है। (अर्थात् अर्थ तीन प्रकार का होता है-- (१) वाच्य (२) लक्ष्य और (३) व्यंग्य)।

ऐषामिति–इनका (वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य का क्रमशः) असाधारण लक्षण बताते हैं।

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः ।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ता स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥ ३ ॥

ता अभिधाद्याः ।

तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा ।

उत्तमवृद्धेन मध्यमवृद्धमुद्दिश्य 'गामानय' इत्युक्ते तं गवानयनप्रवृत्तमुपलभ्य बालोऽस्य वाक्यस्य 'सास्नादिमत्पिण्डानयनमर्थः' इति प्रथमं प्रतिपद्यते, अनन्तरं च 'गां बधान' 'अश्वमानय' इत्यादावावापोद्वापाभ्यां गोशब्दस्य 'सास्नादिमानर्थः' आनयनपदस्य च 'आहरणमर्थः' इति संकेतमवधारयति ।

अर्थ—वाच्य इति—अभिधा के द्वारा बोधित होने वाला अर्थ वाच्य, लक्षणा के द्वारा बोधित होने वाला अर्थ लक्ष्य, (और) व्यञ्जना से बोधित होने वाला अर्थ व्यंग्य कहाता है। (इसप्रकार) ये तीन (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना) शब्द की शक्तियाँ होती हैं। (कारिका में प्रयुक्त) "ताः" का अर्थ "अभिधाद्याः" अर्थात् अभिधा आदि (अर्थात् लक्षणा और व्यञ्जना) है।

(१) अभिधा का लक्षणः—

तत्रेति—उनमें (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—इन शब्दशक्तियों में संकेतित (मुख्य) अर्थ का (कोश, व्याकरणादि से नियन्त्रित अर्थ का) ज्ञान कराने से सबसे पहली (शक्ति का नाम) अभिधा शक्ति है।

टिप्पणीः—यहाँ पर "संकेतितार्थस्य" का अर्थ "संकेतग्रह के विषयीभूत अर्थ" का ऐसा अर्थ नहीं होगा क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर "अन्तनाश्रय दोष" आ जाता है क्योंकि संकेत अभिधा से भिन्न नहीं है अर्थात् संकेत का अर्थ अभिधा (मुख्य) है।

अवतरणिकाः—संकेतग्रह के उपाय बताते हैं।

उत्तमवृद्धेनेति—उत्तम वृद्ध के द्वारा मध्यमवृद्ध को लक्ष्य करके (प्रयोजक—प्रयोज्य भाव को स्पष्ट करने के लिये उत्तम और मध्यम वृद्ध की कल्पना की गई है) "गाय लाओ" ऐसा कहने पर उसको (मध्यम वृद्ध को) गाय को लाने में प्रवृत्त समझ कर बालक (जिसको संकेत का ज्ञान नहीं है) इस वाक्य का (गामानयः=गाय लाओ) शक्ति ग्रहण से पूर्व "सास्नादिमान् शरीर (जीव) को ले आना यह अर्थ है" ऐसा समझता है, (यहाँ पर सास्ना का अर्थ गलकम्बल है और आदि पद से लाङ्गूल, ककुद् और खुरादि का ग्रहण होता है) और इसके बाद "गाय को बाँध दो" "घोड़े को लाओ" इत्यादि वाक्य में आवापोद्वाप (अन्वय,—व्यतिरेक) के द्वारा (अर्थात् "गाय बाँध दो" यहाँ पर "गौ" इस पद से सास्नादिमान् पदार्थ का बोध हुआ तथा "बधान" इसके द्वारा पहले कहे हुये "आनय" इस पद से भिन्न लाये जाने वाले पदार्थ बोध का अभाव हुआ अर्थात् पहले तो "गामानय" ऐसा कहने पर बालक ने देखा था कि उत्तम वृद्ध के कहने के साथ ही मध्यम वृद्ध उठकर चल दिया था और सास्नादिमान् पदार्थ को लाया था परन्तु "बधान" कहने पर वह इस "आनयन" क्रिया का अभाव देखता है। इसी-

क्वचिच्च प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात्, यथा—'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यत्र। क्वचिदाप्तोपदेशात्, यथा—'अयमश्वशब्दवाच्यः' इत्यत्र। तं च सङ्केतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य शक्त्यन्तरानन्तरिता शक्तिरभिधा नाम।

प्रकार "घोड़ा लाओ" यहाँ पर उस बालक ने देखा कि इस बार "गामानय' की तरह सास्नादिमान् पदार्थ का अभाव हुआ और "आनय" इस पद से आहरण की क्रिया पूर्ववत् हुई ऐसा ज्ञान उस बालक को अन्वय—व्यतिरेक के द्वारा होता है।) गो शब्द का "सास्नादिमान् अर्थ" और "आनयन" पद का "लाना अर्थ" इसप्रकार संकेत (अभिधा नामक शक्ति) को निश्चित करता है। (इसप्रकार व्यवहार से शक्ति ग्रहण होता है।)।

टिप्पणीः—यह अभिधा नामक शक्ति **"इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिये"** इसप्रकार की ईश्वरेच्छारूप शक्ति से भिन्न है क्योंकि यदि अर्थ बोध ईश्वरेच्छारूप मानेगें तो जो ईश्वर को नहीं मानते उनको अर्थ ज्ञान किसप्रकार होगा--और ईश्वर को बिना स्वीकार किये भी उनको शब्द के अर्थ का ज्ञान होता ही है, अतः यह अभिधा नामक शक्ति ईश्वरेच्छारूप शक्ति से भिन्न है।

अर्थः—और कहीं प्रसिद्ध अर्थ वाले पद के साहचर्य से (शक्तिग्रह होता है), (अर्थात् देखने वाले प्रायः योग्य पदार्थ के उपस्थापक पद का पास में ही प्रयोग करते हैं। अतः प्रसिद्ध पदार्थ के अन्वय की योग्यता वाले अर्थ का ग्रहण हो जाता है।) जैसे—इह प्रभिन्नेति—"यहाँ विकसित कमल के मध्य भाग में मधुकर मधु का पान कर रहा है" यहाँ पर। ("कमले मधु पिबति" इसप्रकार के पदों की अन्वय योग्यता को बताने वाले ज्ञान के द्वारा "मधुकरः" मधुकर इस पद का "भ्रमर" में ही शक्तिग्रह है। "मधुकर" का अर्थ "शहद बनाने वाली मक्खी" के अन्दर शक्तिग्रह नहीं है यद्यपि "मधुकरः" इस पद के अन्दर यह दूसरा अर्थ बताने की योग्यता है परन्तु वक्ता के तात्पर्य विशेष के कारण इसका शक्तिग्रहण नहीं होगा। कमल के अन्दर भ्रमर ही रसपान करता है ऐसा जानने वाला मनुष्य कमल पद के साहचर्य से "मधुकर" पद का अर्थ "भ्रमर" ग्रहण कर लेता है।)।

कहीं आप्त (विश्वस्त, प्रामाणिक) पुरुष के कथन से (शक्तिग्रह होता है)।

यथेति—(जैसे—किसी बालक से उसके पिता ने घोड़े को लक्ष्य करके कहा कि) "यह घोड़ा है"—यहाँ पर (उसे घोड़ा पद की शक्ति उस जीव में गृहीत हुई)। **तं चेति**—और उस संकेतित अर्थ का ज्ञान कराने वाली दूसरी शक्ति से अव्यवहित शब्द की अभिधा नामक शक्ति है।

टिप्पणी—(१) यह तो उपलक्षणरूप से कह दिया है। व्याकरणादिकों को भी शक्तिग्रह का कारण मानना चाहिये। क्योंकि कहा भी है—

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्यात् व्यवहारतश्च।
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धा वाक्यस्य शेषात् विवृतेर्वदन्ति॥ इति॥

सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च ॥ ४ ॥

दाक्ष्यादि शब्दों का "दक्ष का अपत्य है" इनमें शक्तिग्रह **व्याकरण** के द्वारा प्रतीत होता है (**दक्षस्यापत्यं दाक्षिः**)। गाय के सदृश पिण्ड (व्यक्ति) को देखकर "गाय के समान गवय होता है" इस पूर्व वाक्य के स्मरण द्वारा "यह गवय" है, इस प्रकार का ज्ञान **उपमान** के द्वारा होता है। "**विनायके विघ्नराजद्वैमातुरगणाधिपाः**" इत्यादिक ज्ञान **कोष** के द्वारा होता है। **आप्तवाक्य, सान्निध्य** और **व्यवहार** के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। **वाक्यशेष** से भी शक्तिग्रह होता है—इसका उदाहरण—"**यवमयश्चरुर्भवति। वाराही चोपानत्। वैतसे कटे प्राजापत्यं धिनोति**"। यहाँ पर **यव—वराह—वैतस** का म्लेच्छ प्रयोग होने के कारण **कङ्गु—वायस—जम्बू** इन अर्थों को बताने वाले हैं अथवा आर्ष प्रयोग होने के कारण **दीर्घशूक—शूकर—वञ्जुल** इन अर्थों को बताने वाले हैं—इस सन्देह में

> वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम्।
> मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाःकणिशशालिनः॥

"**वराहं गावोऽनुधावन्ति,**"**"अप्सुजो वेतसः**" इसप्रकार वाक्यशेषरूप वेद के विपरीत म्लेच्छ अर्थ हैं, अतः इनको छोड़कर आर्ष प्रयोग होने के कारण "**दीर्घशूक**" आदिकों में शक्तिग्रह होता है। **शक्ति का लक्षण**:—"**शक्तिः कारणत्वबीजरूपः संस्कारविशेषः।**" कहीं कहीं "**विवृत्ति**" अर्थात् उस पद के अर्थ का विवरण करने से भी शक्ति ज्ञान होता है।]

टिप्पणी—(२) जिसप्रकार लक्षणादि शक्तियों से पूर्व अभिधा शक्ति का होना आवश्यक है उसप्रकार अभिधा से पूर्व कोई अन्य शक्ति अपेक्षित नहीं है।

(३) अभिधा तीन प्रकार की होती हैं—(१) समुदायमात्र शक्ति, (२) अवयवमात्र शक्ति और (३) समुदायावयवोभयशक्ति। इन्हीं का नाम (१) रूढ़ि, (२) योग और (३) योगरूढ़ि भी है।

अवतरणिका—संकेतग्रह के विषय में दो विचारधारायें हैं— (१) एक के मत में तो संकेत-ग्रह व्यक्ति के अन्दर होता है और (२) दूसरे के मत में संकेतग्रह पदार्थों की उपाधियों में होता है। अतः यहाँ पर "व्यक्ति के अन्दर संकेतग्रह" का निराकरण करके व्यक्ति की "उपाधि के अन्दर संकेतग्रह" का प्रतिपादन करते हैं।

अर्थ—संकेत इति—जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में संकेत का ग्रहण होता है।

जातिर्गोपिण्डादिषु गोत्वादिका । गुणो विशेषाधानहेतुः सिद्धो वस्तुधर्मः । शुक्लादयो हि गवादिकं सजातीयेभ्यः कृष्णगवादिभ्यो व्यावर्तयन्ति । द्रव्यशब्दा एकव्यक्तिवाचिनो हरिहर-डित्थडवित्थादयः । क्रियाः साध्यरूपा वस्तुधर्माः पाकादयः । एषु हि अधिश्रयणावश्रयणान्तादिपूर्वापरीभूतो व्यापारकलापः पाकादिशब्दवाच्यः । एष्वेव हि व्यक्तेरुपाधिषु संकेतो गृह्यते, न व्यक्तौ; आनन्त्यव्यभिचारदोषापातात् ।

अर्थ—जाति का लक्षण—जातिरिति—गौ व्यक्ति आदि में गोत्वादि जाति होती है । (गुण का लक्षण) गुण इति—(पदार्थ में) विशेषता का आधान करने का कारणभूत वस्तुधर्म, जो पहले से सिद्ध (नित्य) है (इस मत में गुण भी नित्य है) (साध्य नहीं) उसे गुण कहते हैं । (विशेषाधान के कारण को स्पष्ट करते हैं) शुक्लादयो हीति—शुक्ल आदि (गुण ही) गौ आदि को सजातीय कृष्ण गौ आदिकों से पृथक् करते हैं । (द्रव्य का लक्षण) द्रव्येति—एक व्यक्ति के वाचक हरि, हर, डित्थ, डवित्थ आदि द्रव्य शब्द या यदृच्छा शब्द कहाते हैं । (द्रव्य को ही संज्ञा कहते हैं और संज्ञा दो प्रकार की होती है (१) चिरन्तनी और (२) आधुनिकी । (१) चिरन्तनी के उदाहरण हैं—हरि, हर आदि और (२) आधुनिकी के उदाहरण हैं—डित्थ, डवित्थ आदि ।) (क्रिया का लक्षण) क्रिया इति—वस्तु के "साध्य" रूप धर्म पाकादिक क्रिया कहाते हैं (गुण और क्रिया में अन्तर—क्रिया साध्य होती है जब कि गुण वस्तु में पहले से विद्यमान रहते हैं । इसीलिये गुण "सिद्धवस्तु धर्म" कहाते हैं और क्रिया "साध्यधर्म" कहाती है।) एषु हीति—इन साध्यरूप वस्तुधर्मों में अधिश्रयण से लेकर अर्थात् किसी पात्र को चूल्हे पर चढ़ाने से लेकर अवश्रयण तक अर्थात् पक जाने के बाद नीचे उतारने तक पहले और बाद के जितने भी कार्य व्यवहारों का समुदाय है वह सब पाकादि शब्द से व्यवहृत होता है । अर्थात् उन सब क्रिया कलापों का नाम "पाक" है । एष्वेव—इन्हीं जात्यादि चारों के मध्य जो व्यक्ति के उपाधिधर्म जाति, गुण, क्रियारूप हैं उन्हीं में संकेत का ग्रहण होता है, व्यक्ति में नहीं; (क्योंकि यदि व्यक्ति के अन्दर संकेतग्रह मानेंगे तो) "आनन्त्य" और "व्यभिचार" दोष आने के कारण ।

टिप्पणी—व्यक्ति में संकेतग्रह मानने वालों के मत का निराकरण करते हैं—**न व्यक्तौ इति**—व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं होता है क्योंकि व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से **आनन्त्य** और **व्यभिचार**—ये दो दोष आते हैं । व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या सभी गो व्यक्तियों में संकेतग्रह होता है अथवा किसी एक व्यक्ति में । सभी गो व्यक्तियों में संकेतग्रह हो नहीं सकता क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं और अनन्त व्यक्तियों का युगपत समवेत होना असम्भव है, अतः आनन्त्य दोष है। एक व्यक्ति में भी संकेतग्रह नहीं हो सकता क्योंकि एक व्यक्ति में संकेतग्रह मानने पर दूसरे व्यक्ति का ज्ञान होना असम्भव है । अतः व्यभिचार दोष होता है । व्यक्ति में संकेत होने से **"गौः शुक्लवर्णवांश्चलनक्रियावान् डित्थनामा"** इस अभिप्राय से प्रयुक्त

"गौः" **"शुक्लः" चलो, डित्थः"** इन चारों पदों से भी एक उसी **गौ** **व्यक्ति का बोध** होगा। उससे पदार्थ भेद नहीं हो सकता है क्योंकि वहाँ पर वह व्यक्ति ही पदार्थ है, और उसकी प्रकृति एक है। इसप्रकार "गौः, शुक्लः, चलः, डित्थः" इनके अन्दर विषयों के विभाग का अभाव होने के कारण (इनसे एक ही व्यक्ति का बोध होने के कारण) **गौ** आदि शब्दार्थों का "घटः, कलशः" इन एकार्थ वाचक शब्दों की तरह सह प्रयोग नहीं हो सकता है। **उपाधिशक्तिवादे**—उपाधि के अन्दर संकेतग्रह शक्ति मान लेने से जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा शब्दों में प्रवृत्ति के भिन्न कारण होने से **गौः, शुक्लः, चलः, डित्थः शब्द** परस्पर में पर्यायवाची न होने के कारण सह प्रयोग हो सकता है। अतः जात्यादि उपाधि में संकेतग्रह मानना चाहिये। जाति व व्यक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध होने से जाति द्वारा व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है। यहाँ पर आलंकारिकों ने आक्षेप पद से अनुमान का ग्रहण नहीं किया है, किन्तु आक्षेप पद का वे स्मरण अर्थ करते हैं। अर्थात् आलंकारिकों के मत में जाति के द्वारा व्यक्ति का आक्षेप न कर स्मरण किया जाता है। भाट्ट मीमांसकों ने अर्थापत्ति मानी है। मण्डनमिश्र ने जाति में शक्ति और व्यक्ति में लक्षणा मानी है। कुब्जशक्तिवादियों ने लिखा है कि जाति विशिष्ट व्यक्ति के बोध में अथवा शाब्दबोध में शक्तिज्ञान होता है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति में वह शक्ति स्वरूप से ही रहती है। व्यक्ति के अनन्त होने के कारण वह शक्ति मानी नहीं जाती। अन्विताभिधानवादी प्राभाकर मीमांसक कहते हैं कि पदों के अन्वय रूप वाक्यार्थ में शक्ति है। अभिहितान्वयवादी मीमांसकों ने माना है कि पदों के अर्थमात्र में शक्ति है। पीछे उनके अन्वय का भी बोध हो जाता है। मीमांसकों ने जाति में ही संकेत माना है। यह जातिवाचक शब्द प्राणपद (व्यवहार निर्वाहक) कहा जाता है। वाक्यपदीय में कहा है— **"गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौः, गौत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः" इति !** अर्थात् "गौः" इस पद के द्वारा सास्नादिमान् धर्मी गौ का स्वरूप से अर्थात् जाति रहित केवल व्यक्ति मात्र से "गौ" का बोध नहीं होता, नहीं "अगौः" गौ नहीं है ऐसा भी बोध नहीं होता है क्योंकि वह सर्वथा गौ से भिन्न भी नहीं है अपितु "गोत्व" इति जाति सम्बन्ध से ही "गौः" इस पद से गौ का बोध होता है। इसप्रकार **जाति का लक्षण है—"नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यं जातिः"**—अर्थात् जो अनेक व्यक्तियों में रहे तथा नित्य व एक हो वह जाति कही जाती है।

गुण पर विवेचन—शुक्लादि को गुण कहते हैं। शुक्लादि गुणों में संकेत मानने से कृष्ण, पीत आदि वर्णों से मालूम हो जाता है। कहने का तात्पर्य है कि उत्पन्न हुये पदार्थ का गुण के साथ पश्चात् योग होता है अर्थात् पदार्थ पहले उत्पन्न होता है और दूसरे क्षण उसके साथ गुण का योग होता है। प्रथम क्षण में पदार्थ निर्गुण ही पैदा होता है किन्तु इसके विपरीत जाति से संयुक्त ही द्रव्य की उत्पत्ति होती है क्योंकि— **"जन्मना जायते जातिः"** ऐसा कथन है। यही जाति और गुण में महान् भेद है। गुण का लक्षण व्याकरण महाभाष्य में लिखा है कि—

"सत्वे निविशतेऽपैति पृथक् जातिषु दृश्यते।

आधेयश्चाक्रियाजश्चसोऽसत्वप्रकृतिर्गुणः ।। ४।१।४४ सूत्र पर

अर्थात् जो पदार्थ में रहता है, पदार्थ से भिन्न किया जा सकता है और जो भिन्न जातीय द्रव्यों में भी निवास करता है (ऐसा कहकर गुण को जाति से पृथक् कर दिया क्योंकि जाति पदार्थ में निवास करती हुई कभी उससे पृथक् नहीं होती है परन्तु गुण पदार्थ से भिन्न किया जा सकता है; जाति भिन्नजातीय पदार्थ में अभिनिवेश नहीं करती है जबकि गुण भिन्नजातीय द्रव्य में गमन करते हैं।) आधेयः—जो उत्पन्न किया जा सके (ऐसा कहकर गुण को क्रिया से पृथक् करते हैं क्योंकि गुण का लक्षण किसी पदार्थ में निवास करना, पदार्थ से पृथक् किया जाना और भिन्नजातीय पदार्थों में अभिगमन—ये सभी क्रिया में घटित होते हैं। क्रिया भी पदार्थ में रहती है, कभी क्रिया द्रव्य से पृथक् भी हो जाती है और कभी द्रव्य निष्क्रिय हो जाता है, कभी सक्रिय हो जाता है, क्रिया भी भिन्नजातीय पदार्थों में निवेश करती है—इसप्रकार क्रिया से गुण को पृथक् करने के लिये कहा है—**"आधेयः"** = उत्पन्न किया जा सके—जैसे घटादि में पाकज रूपादि गुण)—आकाश में महत्त्व के समान स्वयं सिद्ध हो और जो दव्य से भिन्न हो उसे गुण कहते हैं।

क्रिया पर विवेचन—पाक-गमन आदि को क्रिया कहते हैं। **वाक्यपदीय** में इसका लक्षण इसप्रकार है—

"यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।

आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते।।

पाकादि क्रिया में जिसप्रकार प्रारम्भ से समाप्ति पर्यन्त व्यापार को पाक क्रिया के नाम से कहा जाता है उसीप्रकार प्रारम्भ से समाप्ति पर्यन्त व्यापार को क्रिया कहते हैं। भूत, वर्तमान व भविष्यत् ये तीनों ही क्रियायें होती हैं। कहा भी है—

गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।

बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते।।

भाष्यकार ने भी कहा है—**"क्रिया हि नाम इयं अत्यन्ता परिदृष्टा पूर्वापरीभूतावयवा न शक्यते पिण्डीभूता** निदर्शयितुम्" इति।।

निष्कर्ष—वस्तुतः गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दों का, जो वास्तव में एकरूप हैं—आश्रयभेद के कारण इनमें भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। और यह भेद ज्ञान भ्रम ही है। इसप्रकार शब्दों की जाति, गुण द्रव्य और क्रिया रूप से चार प्रकार की प्रवृत्ति है। किन्तु सभी का अर्थ "जाति" ही है। इसप्रकार जाति शक्ति का निरूपण संक्षेप में किया गया है।

अथ लक्षणा—

अर्थ—"अभिधा" के निरूपण के अनन्तर "लक्षणा" का निरूपण करते हैं।

अवतरणिका—शब्द की, अर्थ का ज्ञान करने में तीन शक्तियाँ होती हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। इनमें से अभिधा शक्ति का निरूपण किया जा चुका है। अब लक्षणा का निरूपण किया जा रहा है। शब्द की मुख्य शक्ति अभिधा है। क्योंकि यह अभिधा केवल संकेतित अर्थ का ही ज्ञान कराती है और यह संकेत ईश्वर के द्वारा नियत किया गया है। किन्तु लक्षणा शक्ति इसप्रकार की नहीं है, इसका तो शब्द में आरोप किया जाता है जब कि अभिधा स्वयं शब्द में विद्यमान रहती है। इसीलिये यह शब्द की मुख्य शक्ति न होकर अमुख्य (गौण) शक्ति है। **"अभिधावृत्तिमातृका"** नामक अपने ग्रन्थ में मुकुलभट्ट ने लिखा है—

"शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते॥

सार यह है कि पद और पद के अर्थ के सम्बन्ध को अभिधा शक्ति कहते हैं और वाच्यार्थ के सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। लक्षणा शब्द का **"लक्षणं लक्षणा"** इस भाव प्रधान व्युत्पत्ति द्वारा, **"लक्ष्यते अनया इति"** इस करण प्रधान व्युत्पत्ति के द्वारा, दो प्रकार से विग्रह करते हैं। भावव्युत्पत्ति से लक्ष्यार्थ ज्ञान की और करण व्युत्पत्ति से लक्ष्यार्थ ज्ञान के उत्पादक व्यापार की प्रतीति होती है। मीमांसकादिकों ने और मम्मटभट्ट ने भावव्युत्पत्ति को ही स्वीकार किया है। शब्दार्थ बोध का ज्ञान कराने वाले तीन शास्त्र हैं—**(१) व्याकरण, (२) न्याय और (३) पूर्वमीमांसा**। (१) इनमें से व्याकरण महाभाष्य के अन्दर **"पुंयोगादाख्यायाम्"** (४।१।४८) सूत्र के भाष्य पर मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध में इसप्रकार वर्णन है कि वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ ज्ञान चार प्रकार से हो सकता है—**(१) तात्स्थात्, (२) ताद्धर्म्यात् (३) तत्सामीप्यात् (४) तत्साहचर्यात्**। **"मञ्चाः हसन्ति"** यहाँ तात्स्थ्य, **"सिंहो माणवकः"** यहाँ ताद्धर्म्य. **"गंगायां घोषः"** यहाँ सामीप्य, **"यष्टीः प्रवेशय"** यहाँ साहचर्य सम्बन्ध है। इनसे लक्ष्यार्थ ज्ञान की प्रतीति होती है। (२) महर्षि गौतम प्रणीत न्याय दर्शन के अन्दर लक्षणा का निर्देश इसप्रकार है—**"सहचरण–स्थान–तादर्थ्य–वृत्त–मान–धारण–सामीप्य–योग–साधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मण–मञ्ज–कट–राज–सक्तु–चन्दन–गंगा–शकटान्न पुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः"** (२ अध्याये २ आह्निके ६४ सूत्रम्)। (३) इसी प्रकार **"वाक्यपदीय"** के द्वितीय काण्ड में इसप्रकार लक्षणा की चर्चा है—

"यथा सास्नादिमान् पिण्डो गोशब्देनाभिधीयते।
तथा स एव गोशब्दो वाहीकेऽपि व्यवस्थितः॥२५४॥
सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मणः।
प्रसिद्धिभेदाद्गौणत्वं मुख्यत्वं चोपचयते॥२५५॥

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥ ५ ॥

गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्तात्कैश्चिदिष्यते ।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः ॥२५७॥
जातेर्वा लक्षणा यस्मात् सर्वथा सप्तपर्णवत् ॥३११॥
काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिरिति बालोऽपि चोदितः ।
उपघातपरे वाक्ये न श्वादिभ्यो न रक्षति ॥"३१४॥

इसके अनन्तर कुमारिलभट्ट के तत्रवार्तिक नामक ग्रन्थ में लक्षणा तथा गौणीवृत्ति का लक्षण मिलता है ।

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥"
(तत्रवार्तिके १ अ. ४ पाद २२ सूत्रम्)

इसी ग्रन्थ में आगे चलकर निरूढालक्षणा के भेद बतलाये हैं ।

"निरुढालक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् ।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥"
(तन्त्रवार्तिक ३ अ. १ पा० ८ सूत्रम्)

काव्यप्रकाशकार ने भी शब्दव्यापार पर विचार करते हुये "काव्यप्रकाश" में विस्तार से लक्षणा और उसके भेदोपभेद पर विवेचन किया है । इसप्रकार गंगेशोपाध्याय की "तत्त्वचिन्तमणि" में, जगदीश तर्कालंकार की "शब्दशक्तिप्रकाशिका" में, "न्यायसिद्धान्तमुक्तावली" में, "चन्द्रालोक" में, धर्मराजाध्वरीन्द्र की "वेदान्त परिभाषा" में और आशाधर की "त्रिवेणिका" आदि ग्रन्थों में लक्षणा का विचार विस्तार से मिलता है । भक्ति, उपचार व अमुख्यावृत्ति आदि शब्द लक्षणा के ही नामान्तर हैं । अब लक्षणा शक्ति का निरूपण करते हैं—**मुख्यार्थेति**

अर्थ—मुख्यार्थ का बाध होने पर (अर्थात् अभिधा के द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ का वाक्य में अभिमत तात्पर्य अर्थ का ज्ञान कराने में अनुपपन्न होने पर) मुख्यार्थ से सम्बन्धित (किन्तु) मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ (अर्थात् गौण) रूढ़ि के कारण अथवा प्रयोजन के कारण, जिस शक्ति के द्वारा होता है वह शक्ति "अर्पित" (अर्थात् कल्पित या अमुख्य) लक्षणा कहलाती है ।

टिप्पणी—उक्त कारिका के अनुसार लक्षणा के चार कारण बतलाये हैं—

(१) मुख्य अर्थ का बाध होना चाहिये ।
(२) मुख्यार्थ के साथ ही लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध हो
(३) रूढ़ि या
(४) प्रयोजन ।

इनमें से प्रथम दो का होना तो लक्ष्यार्थ ज्ञान के लिये परम आवश्यक है । परन्तु पिछले दो में से किसी एक का होना आवश्यक है । **इसप्रकार लक्षणा की प्रवृत्ति में तीन ही कारण हुये—(१) मुख्यार्थबाध, (२) मुख्यार्थसम्बन्ध और (३)**

'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यादौ कलिङ्गादिशब्दो देशविशेषादिरूपे स्वार्थेऽसंभवन् यया शब्दशक्त्या स्वसंयुक्तान् पुरुषादीन् प्रत्याययति, यथा च 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ गङ्गादिशब्दो जलमयादिरूपार्थवाचकत्वात्प्रकृतेऽसंभवन् स्वस्य सामीप्यादिसंबन्धसंबन्धिनं तटादिं बोधयति, सा शब्दस्यार्पिता स्वभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा शक्तिर्लक्षणा नाम ।

रूढ़ि और प्रयोजन में से कोई एक । यहाँ पर **"मुख्यार्थबाधे तद्युक्तः"** ऐसा कह कर हेतुपूर्वक विशेष अर्थ का प्रतिपादित करने वाली लक्षणा के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ के स्वरूप का निरूपण किया गया है । **"ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते"** इससे लक्षणा के लक्षण को स्पष्ट किया है ।**"रूढेः प्रयोजनाद्वा"** इसप्रकार से लक्षणा के दो भेद किये गये । (१) रूढिमूला लक्षणा और (२) प्रयोजनमूला लक्षणा । **"शक्तिः"** इसके द्वारा पहले कही हुई लक्षणा की शक्ति का स्मरण कराया गया है । **"अर्पिता"** कह कर अभिधा शक्ति से लक्षणा की भिन्नता प्रदर्शित की है । **"राजत्युमावल्लभः"** इत्यादि शाब्दी-व्यञ्जना के अन्दर भी लक्षणा की प्रसक्ति के अति प्रसंग के निवारण के लिये **"मुख्यार्थ-बाधे"** कहा है । क्योंकि यदि मुख्यार्थ से असम्बन्ध अर्थ की उपस्थिति भी लक्षणा से मान ली जाय तब तो **"गंगायां घोषः"** इत्यादि वाक्य में गंगादि पद से यमुनातट आदि भी उपस्थित होने लगेंगे इसीलिये कहा है कि **"तद्युक्तः"** मुख्यार्थं के साथ लक्ष्यार्थ का ज्ञान भी लक्षणा का कारण माना गया है । मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ का ज्ञान इस लक्षणा के द्वारा होता है; ऐसा स्पष्ट करने के लिये **"अन्योऽर्थः"** लिखा है ।

अवतरणिका—रूढ़िमूलक और प्रयोजनमूलक लक्षणाओं के लक्षण को उदाहरणों द्वारा समन्वय करते हुये कारिका की व्याख्या करते हैं । **"कलिङ्गः" इति**—

अर्थ—"कलिङ्ग साहसी है" इत्यादि वाक्य में कलिङ्गादि शब्द देशविशेष के रूप में अपने अर्थ में अनुपपन्न होते हुये जिस शब्द की शक्ति के द्वारा अपने अर्थं से संयुक्त पुरुषादिकों का प्रत्यय कराते हैं, तथा जिससे (शब्द की शक्ति के द्वारा) "गंगा में घोष है" इत्यादि वाक्य में गंगादि शब्द जलमयादिरूप अर्थ के वाचक होने के कारण (अपने) प्रकृत अर्थ में अनुपपन्न होकर अपने (अर्थ) के सामीप्यादि सम्बन्ध से सम्बन्धित तटादि का बोध कराते हैं वह शब्द की अर्पित (अमुख्य) अस्वाभाविक अथवा ईश्वर से अनुद्भावित शक्ति लक्षणा नाम वाली है ।

टिप्पणी—(१) **"कलिङ्गः—साहसिकः"**—"कलिङ्ग साहसी है" इस वाक्य में "कलिङ्गः" का अर्थ है **कलिङ्ग देश विशेष** और "साहसिकः" का अर्थ है **साहसी** । यह साहसिकता चेतन का धर्म है, जो कि कलिङ्ग नामक देश के अन्दर निवास नहीं कर सकती है । इसका सम्बन्ध अचेतन कलिङ्ग के साथ हो नहीं सकता अतः **"कलिङ्गः"** यह शब्द अन्वय में अपने मुख्यार्थ (देशविशेष) के अन्दर बाधित होने के कारण, संयोग सम्बन्ध से उस देश के निवासी पुरुष का लक्षणा से बोध कराता है ।

पूर्वत्र हेतू रूढिः प्रसिद्धिरेव। उत्तरत्र 'गङ्गातटे घोषः' इति प्रतिपादनालभ्यस्य शीतत्वपावनत्वातिशयस्य बोधनरूपं प्रयोजनम्। हेतुं विनापि यस्य कस्यचित्संबन्धिनो लक्षणेऽतिप्रसङ्गः स्यात्, इत्युक्तम्—'रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ' इति।

केचित्तु 'कर्मणि कुशलः' इति रूढावुदाहरन्ति। तेषामयमभिप्रायः—कुशाँ-

---

(२) इसीप्रकार **"गंगायां घोषः"**—"गंगा में घोष है" इस वाक्य में गंगा का मुख्यार्थ है जलमयादिरूप (प्रवाह विशेष)। इसके ऊपर ग्राम का होना अनुपपन्न है अतः गंगा शब्द अन्वय में अपने मुख्यार्थ का वाधित होने के कारण सामीप्य सम्बन्ध से तट का लक्षणा से बोध कराता है।

(३) कुछ अभिधा शक्ति को स्वाभाविक शब्दशक्ति मानते हैं उनके मतानुसार लक्षणा की विलक्षणता के लिये **"स्वाभाविकेतरा"** कहा है। और कुछ दूसरे अभिधा को "ईश्वरोद्भावित" अर्थात् ईश्वर रचित (ईश्वरेच्छारूप) मानते हैं उनके मतानुसार लक्षणा की **"ईश्वरानुद्भाविता"** कहा है अर्थात् ईश्वर से अनुत्थापित अर्थात् आधुनिक मनुष्यों से कल्पित कहा है।

(४) इसप्रकार लक्षणा **"अर्पिता"**, (अमुख्य) है, **"स्वाभाविकेतरा"** (अस्वाभाविक) है और **"ईश्वरानुद्भाविता"** (ईश्वर के द्वारा रचित न होकर मनुष्यों के द्वारा कल्पित) है।

अर्थ—("कलिङ्गः साहसिकः", "गंगायां घोषः" इन उदाहरणों में से) पहले उदाहरण में (कलिङ्गः साहसिकः) लक्षणा का कारण रूढि (प्रसिद्धि) है (क्योंकि देश वाचक शब्दों से देशस्थित पुरुषों की प्रतीति संसार में होती है, अतः कलिङ्गादि शब्द तत्तद्देशवासियों में प्रसिद्ध है)। उत्तरत्रेति—दूसरे उदाहरण में (गंगायां घोषः) लक्षणा का हेतु "प्रयोजन" है। "गंगा के किनारे घोष है" (इस वाक्य से) जो शीतता और पावनता के अतिशय का बोध नहीं होता (क्योंकि किनारा बहुत दूर तक माना जाता है) वह बात "गंगा पर घोष है" इस वाक्य में लक्षणा के अनन्तर व्यञ्जना से प्रतीति होती है। यही "अतिशीतेऽतिपावने च तीरे घोषः" लक्षणा का प्रयोजन है। हेतुं विनेति-हेतु के विना, जिस किसी सम्बन्धी का लक्षणा शक्ति से बोधन करने लगे तो अनेक स्थलों में अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग होगा; इसीलिये तो कहा है कि "रूढेः प्रयोजनाद्वापि" अर्थात् लक्षणा के लिये रूढ़ि या प्रयोजन इनमें से किसी एक हेतु का होना आवश्यक है।

अवतरणिका—काव्यप्रकाशकार ने **"कर्मणि कुशलः"** इस उदाहरण के अन्दर रूढ़ि लक्षणा मानी है। अतः इस मत का निराकरण कहते हैं।

अर्थ—(पूर्वपक्ष को उपस्थित करते हैं) कुछ (व्यक्ति) "कर्मणि कुशलः" इस (वाक्य) को रूढ़ि (लक्षणा) का उदाहरण मानते हैं। उनका यह अभिप्राय है कि

ल्लातीति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशग्राहिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसंभवन् विवेचकत्वादि-साधर्म्यसम्बन्धसम्बन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयति । तदन्ये न मन्यन्ते । कुशग्राहि-रूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात् । अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम् । व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौः शेते' इत्यत्रापि लक्षणा स्यात् । 'गमेर्डोः' (उणादि-२।६७) इति गम्धातोर्डोप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गोशब्दस्य शयनकालेऽप्रयोगात् ।

तद्भेदानाह—

"कुशान् लाति—गृह्णाति इति कुशलः" इस व्युत्पत्ति से "कुशलः" का अर्थ हुआ "कुशों को ग्रहण करने वाला" अर्थात् "कुशलः" इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ कुश ग्राहक रूप है । (परन्तु यह अर्थ प्रसंग प्राप्त "कर्मणि" इस विषय में) प्रकृत अर्थ में अनुपपन्न होने के कारण विवेचकत्वादि साधर्म्य सम्बन्ध से (अपने) सम्बन्धी चतुररूप अर्थ का (लक्षणा के द्वारा) बोध कराता है । (अतः इस उदाहरण के अन्दर मुख्यार्थ (कुशग्राहक रूप अर्थ) का बोध हुआ है, और इसका मूलकारण रूढ़ि है—अतः अन्यार्थ (चतुररूप अर्थ) का बोध कराने के कारण रूढ़ि लक्षणा माननी चाहिये) (उत्तरपक्ष) तदन्ये इति—इसको (अर्थात् "कर्मणि कुशलः" में रूढ़ि लक्षणा है) दूसरे व्यक्ति नहीं मानते हैं (क्योंकि) यद्यपि "कुशान् लातीति कुशलः" इस व्युत्पत्ति के द्वारा कुशग्राहकरूप अर्थ के प्राप्त होने पर भी इसका मुख्यार्थ चतुररूप ही है । क्योंकि शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त अन्य होता है और प्रवृत्ति का निमित्त अन्य । (और शब्दों का व्युत्पत्ति निमित्त ही प्रवृत्ति का निमित्त हो, यह कोई नियम नहीं है, क्योंकि यदि "पाचक" के अन्दर व्युत्पत्ति निमित्त और प्रवृत्ति निमित्त एक ही है, तो गौ आदि शब्दों के अन्दर व्युत्पत्ति निमित्त और प्रवृत्ति निमित्त एक न होने से व्यभिचार आता है । इसलिये व्युत्पत्ति निमित्त ही प्रवृत्ति निमित्त है—ऐसा नियम नहीं है) (व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ की मुख्यता स्वीकार करने पर दोष आता है) (व्युत्पत्तिलभ्यस्येति—व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की मुख्यार्थता स्वीकार करने पर "गौः शेते"—"गाय सोती है" यहाँ पर भी लक्षणा हो जायेगी । (क्योंकि) गमनार्थक गम् धातु से "गमेर्डोः" इस औणादिक सूत्र से "डो" प्रत्यय करने पर "गो" शब्द का निर्माण होता है (जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है "गच्छतीति गौः" अर्थात् जो चलती है वह गाय है) इसप्रकार गो शब्द का शयन के समय प्रयोग अनुपपन्न है (क्योंकि शयन काल में गौ (गमनकर्त्री) किसप्रकार होगी किन्तु "गौः शेते" यह प्रयोग होता है । अतः यहाँ पर व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ मुख्य अर्थ नहीं होगा । अतः व्युत्पत्ति निमित्त को ही प्रवृत्ति निमित्त मानना ठीक नहीं । इसी प्रकार "कर्मणि कुशलः" में व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ कुशग्राहकरूप अर्थ मुख्य नहीं है । अतः वह रूढ़िलक्षणा का भी उदाहरण नहीं हो सकता है ।)

अर्थ—लक्षणा के भेद बताते हैं—(लक्षणा का सामान्य लक्षण देकर विशिष्ट लक्षण करते हैं) ।

मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये ।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा ।।६।।

रूढावुपादानलक्षणा यथा—'श्वेतो धावति' । प्रयोजने यथा–'कुन्ताः प्रविशन्ति' । अनयोर्हि श्वेतादिभिः कुन्तादिभिश्चाचेतनतया केवलैर्धावनप्रवेशनक्रिययोः कर्तृतयान्वयमलभमानैरेतत्सिद्धये आत्मसम्बन्धिनोऽश्वादयः पुरुषाद-

---

अर्थ—वाक्यार्थ के द्वारा वाक्यार्थ में (तात्पर्य के विषयीभूत वाक्यार्थ में) वाक्य के अन्दर विद्यमान अन्वय की सिद्धि के लिये (जिस वृत्ति के द्वारा) अन्य अर्थ का आक्षेप किया जाता है (वहाँ) मुख्यार्थ का भी (आत्मनोऽपि) ग्रहण होने के कारण यह "उपादान लक्षणा" कहलाती है ।

(१) "उपादान लक्षणा"–इसका नाम सार्थकता के लिये दो प्रकार से निरुक्ति की जा सकती है—

(क) "मुख्यार्थविषयिणी प्रतीतिरुपादानम्, तद्धेतुर्लक्षणा उपादानलक्षणा" ।

(ख) उपादीयते स्वार्थो गृह्यतेऽनेनेत्युपादानम्, तन्नाम्नी लक्षणा उपादानलक्षणा"।

अवतरणिका—लक्षणा के दो कारण होते हैं (१) रूढ़ि और (२) प्रयोजन। ऐसा पूर्व कहा जा चुका है । अब क्रमशः उदाहरण देते हैं ।

अर्थ—रूढ़ि में उपादानलक्षणा (का उदाहरण) यथा,—"श्वेतो धावति", "श्वेत दौड़ रहा है" । (किसी व्यक्ति ने किसी अवसर पर किसी अन्य व्यक्ति से पूछा है कि कौन सा घोड़ा दौड़ रहा है, उसने उत्तर दिया कि "श्वेत दौड़ रहा है" । इति) प्रयोजन में (उपादानलक्षणा का उदाहरण) यथा,—"कुन्ताः प्रविशन्ति", "भाले प्रवेश कर रहे हैं" । (भाले लेकर किसी स्थान पर सैनिकों के प्रवेश करने पर किसी ने दूसरे से पूछा कि" कौन जा रहे हैं", तब दूसरे ने उत्तर दिया कि "भाले प्रवेश कर रहे हैं" । इति) (ऊपर के दिये गये "श्वेतो धावति", "कुन्ताः प्रविशन्ति" इन दोनों उदाहरणों के अन्दर लक्षणा को घटाते हैं) अनयोरिति—इन दोनों उदाहरणों में ("श्वेतो धावति" यहाँ पर और "कुन्ताः प्रविशन्ति" यहाँ पर; ये दोनों उदाहरण तो उपलक्षण मात्र हैं, अन्य स्थानों पर भी ऐसी ही समझना । इसीलिये "श्वेतादिभिः" और "कुन्तादिभिः" कहा है ।) श्वेत (वर्ण) और कुन्त (भाले) अचेतन होने के कारण दूसरों से अनन्वित (केवलैः) दौड़ने और प्रवेश करने की क्रिया में कर्तृत्वेन अन्वित न होते हुये (अर्थात् "धावति" और "प्रविशन्ति" इन क्रियाओं के कर्ता "श्वेतः" और "कुन्ताः" नहीं हो सकते क्योंकि ये दोनों ही अचेतन हैं । किसी भी क्रिया का कर्ता चेतन होना चाहिये जो क्रिया कर सके) इन क्रियाओं (दौड़ना और प्रवेश करना) के कर्तृत्त्व के बोधन के लिये (क्रमशः समवायीभाव से विद्यमान) अपने संयोगी अश्वादि का और पुरुषादिकों का आक्षेप कराते हैं । (अर्थात् "श्वेतः" शब्द समवाय सम्बन्ध से श्वेत रंगवाले अश्व का और "कुन्ताः" शब्द समवाय सम्बन्ध से भाले धारण करने वाले पुरुषों का आक्षेप कराते हैं) । पूर्वत्रेति—पहले उदाहरण में (श्वेतो धावति) (किसी भी) प्रयोजन का अभाव होने के कारण रूढ़िमूला लक्षणा है । दूसरे उदाहरण ("कुन्ताः प्रविशन्ति") में कुन्तादिकों की अतिगहनता को सूचित करना प्रयोजन है—(अतः प्रयोजनमूला लक्षणा है) । अत्रेति—(उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा के अन्दर भेद दिखाते हैं) यहाँ पर (उपादानलक्षणा में दोनों प्रकार की रूढिमूला और

यश्चाक्षिप्यन्ते। पूर्वत्र प्रयोजनाभावाद्रूढिः, उत्तरत्र तु कुन्तादीनामतिगहनत्वं प्रयोजनम्। अत्र च मुख्यार्थस्यात्मनोऽप्युपादानम्। लक्षणलक्षणायां तु परस्यैवोपलक्षणमित्यनयोर्भेदः। इयमेवाजहत्स्वार्थेत्युच्यते।

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा ॥७॥

रूढिप्रयोजनयोर्लक्षणलक्षणा यथा–'कलिङ्गः साहसिकः', 'गङ्गायां घोषः' इति च। अनयोर्हि पुरुषतटयोर्वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये कलिङ्गगङ्गाशब्दावात्मानमर्पयतः।

प्रयोजनमूला) मुख्यार्थ में अपना भी (लक्ष्यार्थ में) ग्रहण होता है; (परन्तु) "लक्षण-लक्षणा" में तो (मुख्यार्थ) दूसरे का ही (लक्ष्यार्थ का ही) उपलक्षण होता है; यही इन दोनों में भेद है। अर्थात् "उपादान-लक्षणा" के अन्दर मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ में ग्रहण होता है और "लक्षणलक्षणा" के अन्दर मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ का उपलक्षण होता है यही भेद हैं। इयमेव—इसी (उपादानलक्षणा) को "अजहत्स्वार्था" भी कहते हैं। (क्योंकि "अजहदत्यजन् स्वार्थो मुख्यार्थो यामिति अजहत्स्वार्था" अर्थात् इसमें स्वार्थ (मुख्यार्थ) का परित्याग नहीं होता।)

अवतरणिका—"लक्षणलक्षणा" का लक्षण करते हैं—

अर्थ—वाक्यार्थ में मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ की (परस्य) अन्वय सिद्धि के लिये अपने अर्थ का परित्याग (जिस वृत्ति के द्वारा) होता है अर्थात् जो शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ का उपलक्षण जिस वृत्ति द्वारा हो जाता है (वह) उपलक्षण का हेतु होने के कारण "लक्षणलक्षणा" कहलाती है।

टिप्पणी:—(१) इस कारिका का अर्थ करते समय "यया" इस पद का अध्याहार करना चाहिये।

(२) "लक्षणलक्षणा" में मुख्यार्थ का वाक्य में अन्वय नहीं होता।

(३) "लक्षणलक्षणा" की व्युत्पत्ति इसप्रकार है:—

"लक्ष्यते उपलक्ष्यतेऽनेने (ल्युट) लक्षणम्। तन्नाम्ना लक्षणा (उप) "लक्षण-लक्षणा"। इति"

अवतरणिकाः—"लक्षणलक्षणा" का क्रमशः रूढ़ि और प्रयोजन में उदाहरण देते हैं—

अर्थ—रूढ़ि और प्रयोजन में क्रमशः लक्षणलक्षणा का (उदाहरण देते हैं) यथा, "कलिङ्गः साहसिकः", "कलिङ्ग साहसी है;" इति, "गंगायां घोषः", "गंगा में घोष है", इति। इन दोनों उदाहरणों में (क्रमशः) पुरुष और तट के (अन्वय को) वाक्यार्थ में अन्वय सिद्धि के लिये "कलिङ्ग" और "गंगा" शब्द अपने आपको समर्पित करते हैं। अर्थात् पुरुष और तट का बोध कराने के लिये अपने आपको उपयोगी बनाते हैं। अथवा "आत्मातम्" मुख्यार्थम् "अर्पयतः" परित्यजतः। ये दोनों पद अपने मुख्यार्थ का परित्याग करते हैं।

यथा वा—

'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे ! सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥'

अत्रापकारादीनां वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये उपकृतादयः शब्दा आत्मानमर्पयन्ति । अपकारिणं प्रत्युपकारादिप्रतिपादनान्मुख्यार्थबाधो वैपरीत्यलक्षणः सम्बन्धः, फलमपकारातिशयः । इयमेव जहत्स्वार्थेत्युच्यते ।

आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

ताः पूर्वोक्ताश्चतुर्भेदलक्षणाः ।

अर्थ—अथवा जैसे—(अत्यन्त अपकार करने वाले के प्रति यह उक्ति है) हे सखे ! (आपने) अत्यन्त (जितना सम्भव हो सका, उतना) उपकार किया है, (मेरे अनिष्ट जात की निवृत्ति के लिये और इष्ट सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया है), उसके (उपकार के) विषय में क्या कहा जाय ? (उस विषय में कुछ भी कहना शेष नहीं रहता है), आपने अत्यन्त सौजन्य प्रकट किया है (उपकार न करने वाले मेरे प्रति जो आपने बहुत से उपकार किये हैं वह आपकी सज्जनता ही है), (अतः) हे सखे ! इसीप्रकार ही (सौजन्य को) करते हुये तदनन्तर (ततः) सौ वर्ष पर्यन्त सुखपूर्वक जीते रहिये ।

यहाँ अपकारादिकों का वाक्यार्थ में (वक्ता के तात्पर्य के विषय में) अन्वय सिद्ध करने के लिये "उपकृतं", "सुजनता" आदि शब्द अपने अर्थ को छोड़कर विपरीत अर्थ अपकारादि को लक्षित करते हैं। यहाँ पर अपकारी के प्रति उपकारादि के प्रतिपादन से मुख्यार्थ का बाध है, (और मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का) वैपरीत्यरूप लक्षण सम्बन्ध है; अपकार की बहुलता (का बोध कराना) फल है । यही (लक्षण-लक्षणा) "जहत्स्वार्था" कहलाती है (जहत् त्यजन् स्वार्थो यां सा जहत्स्वार्था इति)"

अवतरणिका—इसप्रकार लक्षणा के चार भेद (१) रूढ़ि उपादानलक्षणा (२) रूढ़ि लक्षणलक्षणा (३) प्रयोजन-उपादानलक्षणा (४) प्रयोजन-लक्षणलक्षणा कहे जा चुके हैं । पुनः उन दोनों के भी दो दो भेद बताते हैं ।

अर्थ—पूर्वोक्त चारों प्रकार की [(१) रूढ़ि-उपादानलक्षणा, (२) प्रयोजन-उपादानलक्षणा, (३) रूढ़ि लक्षणलक्षणा (४) प्रयोजन-लक्षणलक्षणा] लक्षणायें आरोप (अहार्य्यभेद प्रतीति) और अध्यवसान (सिद्धाभेद प्रतीतिः) भेद से पुनः प्रत्येक दो-दो प्रकार की होती हैं ।अर्थात्—

(१) सारोपा रूढ़ि हेतुका उपादानलक्षणा,
(२) सारोपो रूढ़ि हेतुका लक्षणलक्षणा,
(३) सारोपा प्रयोजनहेतुका उपादानलक्षणा,
(४) सारोपा प्रयोजनहेतुका लक्षणलक्षणा,
(५) साध्यवसाना रूढ़िहेतुका उपादानलक्षणा,
(६) साध्यवसाना रूढ़िहेतुका लक्षणलक्षणा,
(७) साध्यवसाना प्रयोजनहेतुका उपादानलक्षणा,
(८) साध्यवसाना प्रयोजनहेतुका लक्षणलक्षणा ।

इसप्रकार "लक्षणा" के आठ भेद हुये ।

विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत् ॥८॥
सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका ।

विषयिणा अनिगीर्णस्य विषयस्य तेनैव सह तादात्म्यप्रतीतिकृत्सारोपा । इयमेव रूपकालङ्कारस्य बीजम् ।

रूढावुपादानलक्षणा सारोपा यथा—'अश्वः श्वेतो धावति' । अत्र हि श्वेतगुणवानश्वोऽनिगीर्णस्वरूपः स्वसमवेतगुणतादात्म्येन प्रतीयते ।

अवतरणिकाः—सारोपा और साध्यवसाना लक्षणाओं का निरूपण करते हैं:—

अर्थ—अनिगीर्ण (अनाच्छादित स्वरूप) स्वरूप विषय का (उपमेय का) अन्य (उपमान) के साथ अभेद प्रतिपत्ति कराने वाली (लक्षणा) "सारोपा" होती है और निगीर्ण (आच्छादित) स्वरूप विषय का (उपमेय का) विषयी के साथ अभेद ज्ञान कराने वाली लक्षणा "साध्यवसाना" कही गयी है ।

टिप्पणीः—"अनिगीर्णस्वरूपस्य पदार्थस्याऽन्यतादात्म्यप्रतीतिरारोपः" अर्थात् वाक्य में जिस पदार्थ के स्वरूप का स्पष्टतया निर्देश किया गया है–जिसका स्वरूप अप्रधान (अप्रकृत) उपमानभूत चन्द्रादि (विषयी) से निगीर्ण अर्थात् छिपा हुआ नहीं है, उसी प्रकृत (वर्ण्यमान) उपमेय मुखादि (विषय) की अन्य अर्थात् अप्रकृत चन्द्रादि विषयी के साथ तादात्म्य प्रतीति (अभेद ज्ञान) को **"आरोप"** कहते हैं । **"आरोपेण सह वर्तत इति सारोपा"** अर्थात् आरोप जिसका हो वह **"सारोपा"** कहाती है । **"विषयविषयिणोर्भेदेनोपन्यासोऽत्रारोपार्थः"** इति ॥ साध्यवसाना—**"विषयनिगरणेन विषयिणोऽभेदप्रतीतिरध्यवसानम्, तेन सहवर्तते इति साध्यवसाना"**—अर्थात् विषय का निगरण करके विषयी के साथ अभेद का प्रतिपादन करना **"अध्यवसान"** कहलाता है, उसके (अध्यवसान) साथ जा है वह "साध्यवसाना" कहाती है ।

अर्थ—विषयी के साथ अनिगीर्ण (अनाच्छादित) विषय का उसी के साथ (विषयी के साथ) तादात्म्य (अभेद) की प्रतीति कराने वाली "सरोपा" है। इयमेवेति–यही (सारोपा लक्षणा) रूपकालंकार का बीज है ।

रूढ़ि में सारोपा उपादानलक्षणा (का उदाहरण देते हैं)—यथा—"अश्वः श्वेतः धावति'—"श्वेत घोड़ा दौड़ रहा है"—यहाँ पर श्वेत गुण विशिष्ट अश्व अनिगीर्ण स्वरूप है (क्योंकि जिसप्रकार "श्वेतः धावति" इसके अन्दर "अश्वः" पद "श्वेत" इस पद से निगीर्ण है—आच्छादित है उसप्रकार "अश्वः श्वेतः धावति" यहाँ पर "अश्वः" पद निगीर्ण नहीं है क्योंकि स्ववाचक शब्द (अश्व) से वह उपलब्ध हो रहा है) तथा अपने में (अश्व में) समवाय सम्बन्ध से विद्यमान श्वेत गुण के तादात्म्य से प्रतीत हो रहा है ।

[(१) यहाँ श्वेत शब्द की श्वेत गुण विशिष्ट में प्रसिद्धि होने के कारण रूढ़ि है ।

(२) श्वेत गुण अपने स्वरूप को भी लक्ष्यार्थ के साथ बोधित करता है, अतः यह उपादान लक्षणा है ।

(३) अनिगीर्ण स्वरूप अश्व के साथ श्वेत का तादात्म्य प्रतीत होता है, अतः आरोप है । इसप्रकार "अश्वः श्वेतः धावति" में "रूढ़ि सारोपा उपादानलक्षणा" हुई" ।]

प्रयोजने यथा—'एते कुन्ताः प्रविशन्ति'। अत्र सर्वनाम्ना कुन्तधारिपुरुष-निर्देशात् सारोपत्वम्।

रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा यथा—'कलिङ्गः पुरुषो युध्यते'। अत्र कलिङ्ग-पुरुषयोराधाराधेयभावः सम्बन्धः।

प्रयोजने यथा—'आयुर्घृतम्'। अत्रायुष्कारणमपि घृतं कार्यकारणभाव-सम्बन्धसम्बन्ध्यायुस्तादात्म्येन प्रतीयते। अन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेणायुष्करत्वं प्रयोजनम्।

यथा वा—राजकीये पुरुषे गच्छति 'राजासौ गच्छति' इति। अत्र स्वस्वामि-भावलक्षणः सम्बन्धः। यथा वा—अग्रमात्रेऽवयवभागे 'हस्तोऽयम्'। अत्रावय-

---

अर्थ—प्रयोजने यथा इति—प्रयोजन में सारोपा उपादानलक्षणा (का उदाहरण देते हैं) यथा—"ऐते कुन्ताः प्रविशन्ति" (दुर्गे इति शेषः)—यहाँ पर सर्वनाम—"ऐते"—इससे कुन्तधारी पुरुषों का निर्देश करने के कारण (तथा कुन्तों के साथ उनकी अभेद प्रतीति होती है) आरोप है। [(यहाँ पर धार्य और धारक का सम्बन्ध है)। (१) लक्ष्यार्थ के साथ कुन्तों की भी प्रतीति होती है, अतः उपादान है; (२) कुन्तों का अतिगहनत्व सूचित करना प्रयोजन है, अतः यहाँ पर ("ऐते कुन्ताः प्रविशन्ति") प्रयोजनवती सारोपा उपादानलक्षणा है)] रूढ़ौ लक्षणलक्षणा इति—रूढ़ि में सारोपा लक्षणलक्षणा (का उदाहरण देते हैं) यथा—"कलिङ्गः पुरुषो युध्यते" [(१) यहाँ पर "कलिङ्गः" शब्द कलिङ्ग देशवासी का उपलक्षण होने के कारण लक्षण-लक्षणा है; (२) पृथक् निर्दिष्ट पुरुष के साथ अभेद प्रतीति होने से सारोपा है, (३) प्रसिद्धि के कारण रूढ़ि है, अतः यहाँ पर "रूढ़ि सारोपा लक्षणलक्षणा" है।] अत्रेति-यहाँ पर पुरुष और कलिङ्ग देश में आधार और आधेय भाव सम्बन्ध है। (कलिङ्ग देश आधार है और पुरुष आधेय है)।

प्रयोजने यथा इति—प्रयोजन में सारोपा लक्षणलक्षणा (का उदाहरण देते हैं) यथा—"आयुर्घृतम्" यहाँ पर (यद्यपि) आयु का कारण भी घृत कार्यकारण भाव सम्बन्ध से (आयु का) सम्बन्धी (घृत) आयु तादात्म्य (अभेद) से प्रतीति होती है, (अतः यह सारोपा है)। ("आयु" शब्द आयु के कारण को उपलक्षित मात्र करता है, अतः लक्षणलक्षणा है) (तथा) अन्य (वस्तुओं की अपेक्षा) विलक्षणता से भी (आयु को पैदा करता है) तथा अव्यभिचारभाव से आयुष्य को करना (इस लक्षणा का) प्रयोजन है। (अतः यहाँ पर "प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा" है)।

अवतरणिका:—लक्षणा के कारण अनेक के शक्यार्थ सम्बन्ध हुआ करते हैं; उनको दिखलाने के लिये पुनः अनेक उदाहरण देते हैं:—

अर्थ—अथवा जैसे—राजकीय पुरुष के (सरकारी कर्मचारी के) जाने पर "राजासौ गच्छति" यह प्रयोग होता है। (यह "सारोपा प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा" है। "असौ" पद से विषय का पृथक् निर्देश करके राजा के साथ अभेद की प्रतीति का ज्ञान होता है, अतः सारोपा है। राजशब्द राजसम्बन्धी का उपलक्षण होने के कारण लक्षणलक्षणा है। राजा की तरह उस पुरुष की सम्पत्ति आदि की अधिकता को सूचित करना प्रयोजन है) यहाँ स्वस्वामीभाव को बताने वाला सम्बन्ध है। अथवा अग्रेति—(हाथ के) अवयवभूत अग्रभाग को (बताने के लिये) "हस्तोऽयम्" ऐसा प्रयोग होता है। [यह रूढ़ि सारोपा लक्षणलक्षणा" है]।

वाक्यविभावलक्षणसम्बन्धः । 'ऽब्राह्मणोपि तक्षाऽसौ' । अत्र तात्कर्म्यलक्षणः । इन्द्रार्थासु स्थूणासु 'अमी इन्द्राः' । अत्र तादर्थ्यलक्षणः सम्बन्धः । एवमन्यत्रापि । निगीर्णस्य पुनर्विषयस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्साध्यवसाना । अस्याश्चतुर्षु भेदेषु पूर्वोदाहरणान्येव । तदेवमष्टप्रकारा लक्षणा ।

यहाँ पर अवयवावयविभाव सम्बन्ध है। (यहाँ पर "अयम्" पद से निर्दिष्ट अग्रभाग का हाथ के साथ अभेद होने के कारण सारोपा है। "हस्त" शब्द "अग्रभाग" का उपलक्षण होने से "लक्षणलक्षणा" है। लक्षणा का कारण प्रसिद्ध होने से रूढ़ि है।)। (अन्य सम्बन्ध का उदाहरण)—"ब्राह्मणेऽपि"—ब्राह्मण होने पर भी (बढ़ई का कार्य करने के कारण उस ब्राह्मण को) "तक्षाऽसौ" कहा जाता है। (यह प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा" का उदाहरण है। बढ़ई के सब कार्यों में प्रवीणता सूचित करना प्रयोजन है।) यहाँ "तात्कर्म्य" सम्बन्ध है। (क्योंकि ब्राह्मण बढ़ई का कार्य करता है)। (अन्य उदाहरण)—"इन्द्रेति"—(यज्ञ में) इन्द्र की आराधना के लिये निर्मित स्तम्भों के विषय में "अमी इन्द्राः" ऐसा कहा जाता है। (यह "प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा" का उदाहरण है। यहाँ इन्द्र की तरह पूजाभाव को द्योतित करना प्रयोजन है।) यहाँ "तादर्थ्य" को बताने वाला सम्बन्ध है। इसीप्रकार अन्य स्थानों पर भी (उदाहरण जानना)।

टिप्पणी:—निम्न सम्बन्धों के कारण "लक्षणा" का ज्ञान होता है:—

"तात्स्थात्तथैव ताद्धर्म्यात्तत्सामीप्यात्तथैव च ।
तत्साहचर्यात्तादर्थ्याज्ज्ञेया वै लक्षणा बुधैः ॥"

अर्थात् (१) "तात्स्थात्", (२) "ताद्धर्म्यात्", (३) "तत्सामीप्यात्", (४) तत्साहचर्यात् और (५) "तादर्थ्यात्" इन सम्बन्धों के कारण विद्वान् लक्षणा को जान लेते हैं। क्रम से उदाहरण:—(१) तात्स्थात्—"शय्या हसति"(२) ताद्धर्म्यात्—"सिंहो माणवकः" (३) "तत्सामीप्यात्"—"वटे गावः" (४) तत्साहचर्यात्— "शस्त्राणि प्रवेशय" (५) तादर्थ्यात्—"पार्थिवोऽसौ" अर्थात् पार्थिव के लिये निर्मित मृत्पिण्डिका इत्यादि।

अवतरणिका—पूर्वोक्त चारों उदाहरण अर्थात् (१) अश्वः श्वेतः धावति (२) ऐते कुन्ताः प्रविशन्ति (३) कलिङ्गः पुरुषो युध्यते और (४) आयुर्घृतम्—"सारोपा लक्षणा" के हैं। अतः अब "निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका"—इस कारिका के अंश द्वारा 'साध्यवसाना' की व्याख्या की जाती है।

अर्थ—निगीर्णस्येति—निगीर्ण विषय का अन्य (विषयी) के साथ तादात्म्य की (अभेद की) प्रतीति कराने वाली "साध्यवसाना" लक्षणा कहाती है। इसके चारों भेदों में (१) "साध्यवसाना" रूढ़ि उपादान लक्षणा (२) साध्यवसाना प्रयोजनवती उपादानलक्षणा (३) साध्यवसाना रूढ़ि लक्षणलक्षणा (४) साध्यवसाना प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा) पूर्वोक्त उदाहरण ही हैं। (अर्थात् (१) रूढ़ि में साध्यवसाना उपादानलक्षणा "श्वेतो धावति" (२) प्रयोजन में साध्यवसाना उपादानलक्षणा—"कुन्ताः प्रविशन्ति" (३) रूढ़ि में साध्यवसाना लक्षणलक्षणा—"कलिङ्गः साहसिकः",(४) प्रयोजन में साध्यवसाना लक्षणलक्षणा—"गंगायां घोषः" है।)। तो इसप्रकार आठ प्रकार की लक्षणा होती है।

सादृश्येतरसंबन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि ।
सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडश भेदिताः ॥९॥

ताः पूर्वोक्ता अष्टभेदा लक्षणाः । सादृश्येतरसम्बन्धाः कार्यकारणभावादयः। अत्र शुद्धानां पूर्वोदाहरणान्येव । रूढावुपादानलक्षणा सारोपा गौणी यथा-'एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि' । अत्र तैलशब्दस्तिलभवस्नेहरूपं मुख्यार्थमुपादायैव सार्षपादिषु स्नेहेषु वर्तते । प्रयोजने यथा—राजकुमारेषु तत्सदृशेषु च गच्छत्सु 'एते राजकुमारा गच्छन्ति' । रूढावुपादानलक्षणा साध्यवसाना

अवतरणिका:—इसप्रकार लक्षणा के आठ भेदों का कथन करके पुनः उसके दो भेदों का वर्णन करते हैं ।

अर्थ—पूर्वोक्त सम्पूर्ण (अर्थात् आठ प्रकार की—चार सारोपा और चार साध्यवसाना) आठ प्रकार की लक्षणायें सादृश्य से इतर (भिन्न) सम्बन्धवाली "शुद्धा" कहलाती है (तथा) सादृश्य से सम्बन्ध रखने वाली लक्षणा को (सम्बन्धात् इति शेषः) "गौणी" (गुणेभ्य आगता गौण्यः इति) लक्षणा कहते हैं (अर्थात् जो लक्षणा "सादृश्य के सम्बन्ध का कारण नहीं होती है वे "शुद्धा" लक्षणा होती हैं और जिनका कारण सादृश्य से सम्बन्ध रखता है उनको "गौणी" लक्षणा कहते हैं) इसप्रकार (लक्षणा के) सोलह भेद हो गये ।

(कारिका में आये हुये "ताः" पद की व्याख्या करते हैं) "ताः" अर्थात् पूर्वोक्त आठ प्रकार की लक्षणायें । सादृश्य से भिन्न-कार्य कारण भावादि—सम्बन्ध भी लक्षणा के प्रयोजक होते हैं । इनमें से "शुद्धा लक्षणा" के पूर्वोक्त ("अश्वः श्वेतो धावति" इत्यादि) उदाहरण ही हैं । (१) रूढ़ि में उपादान लक्षणा गौणी का (उदाहरण देते हैं) यथा—"एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि" (हेमन्त में तैलादि के अभाव के कारण अत्यन्त दुःख होता है, उस दुःख के निराकरण के कारण तैलादिकों का महान् उपकार है, इसी की सूचना के लिये "हेमन्ते" ऐसा कहा है)—अत्रेति—यहाँ तैल शब्द तिलों से उत्पन्न स्नेहरूप (तिल का तेल) मुख्य अर्थ का उपादान (ग्रहण) करके ही सार्षप (सरसों) आदि के स्नेह (तेल) का बोध कराता है (अतः यह उपादानलक्षणा है)। (तात्पर्य यह है कि "तैल" शब्द का शाब्दिक अर्थ है "तिलों से उत्पन्न तेल" । अतः तिल तैल ही इस शब्द का मुख्य अर्थ है, परन्तु सादृश्य के कारण सरसों आदि के स्नेह को भी तैल ही कह देते है । (यद्यपि उनके अन्दर तिल भवत्व का अभाव है)। (इस उदाहरण में तिलभव स्नेह का परित्याग नहीं हुआ है, अतः यह गौणी उपादान लक्षणा है) तैल शब्द की प्रसिद्धि ही इस प्रयोग का कारण है, अतः यह रूढ़िमूला लक्षणा है । "एतत्" शब्द से विषय का पृथक् निर्देश है, अतः यह सारोपा है ।)

(२) प्रयोजन में (उपादानलक्षणा सारोपा गौणी का उदाहरण देते हैं) यथा—राजकुमार और उनके सदृश (अन्य राजकुमारों के साथ-साथ) जाने पर "एते राजकुमाराः गच्छन्ति"—ऐसा प्रयोग होता है । (यहाँ पर "एतत् शब्द का पृथक् प्रयोग होने के कारण आरोप है; राजकुमारों के उपादान (ग्रहण) के साथ-साथ अन्य कुमारों का राजकुमारों के साथ आदरणीय होना इस लक्षणा का प्रयोजन है; सादृश्य सम्बन्ध इसका प्रयोजक है । इसप्रकार यह "प्रयोजनवती-सारोपा गौणी उपादानलक्षणा है)।

गौणी यथा—"तैलानि हेमन्ते सुखानि'। प्रयोजने यथा—'राजकुमारा गच्छन्ति'। रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी यथा—'राजा गौडेन्द्रः कण्टकं शोधयति'। प्रयोजने यथा—'गौर्वाहीकः'। रूढौ लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा—'राजा कण्टकं शोधयति'। प्रयोजने यथा—'गौर्जल्पति'।

अत्र केचिदाहुः—गोसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यन्ते। ते च गोशब्दस्य वाहीकार्थाभिधाने निमित्तीभवन्ति। तदयुक्तम्—गोशब्दस्यागृहीत-

---

(३) रूढ़ि में उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी (का उदाहरण देते हैं)। यथा—"तैलानि हेमन्ते सुखानि" इति—तेल हेमन्त ऋतु में आनन्द दिया करते हैं।

(४) प्रयोजन में उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी (का उदाहरण देते है) यथा—"राजकुमाराः गच्छन्ति" इति। (साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण के लिये "एतत्" पद जो विषय वाचक पृथक्ता की सूचना देता है—निकाल देना चाहिये)।

(५) रूढ़ि में लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी का (उदाहरण देते हैं) यथा—"राजा गौडेन्द्रः कण्टकं शोधयति"—गौड देश का राजा क्षुद्र शत्रु को (कण्टकम्) निर्वैर करता है। (यहाँ पर कण्टक शब्द का अर्थ है काँटा—इसका गौडेन्द्र शब्द के अर्थ (राजविशेष) के साथ समानाधिकरण्य से सम्बन्ध अनुपपन्न है, अतः कण्टक शब्द सादृश्य सम्बन्ध से काँटे की तरह दुःख देने वाले क्षुद्र शत्रु का उपलक्षण है—यहाँ मुख्य अर्थ का उपादान नहीं है, अतः लक्षण-लक्षणा है। गौडेन्द्र शब्द से विषय का पृथक् निर्देश होने से आरोप है। कण्टक शब्द की क्षुद्र शत्रु में प्रसिद्धि होने से रूढ़ि है।)

(६) प्रयोजन में (लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी का उदाहरण देते हैं) यथा—"गौर्वाहीकः"। (पञ्जाब का नाम "वाहीक" है क्योंकि—"पञ्चानां सिन्धुषष्ठाना-मन्तरालेषु ये स्थिता (वाहीका नाम ते देशा न तत्र दिवसं वसेत्" "वाहीक गौ है" (केचित्तु वहिर्भवः वाहीकइति व्युत्पत्या सदाचारवहिर्भूत इत्यर्थः)। यहाँ पर गौ शब्द "सादृश्य सम्बन्ध" से वाहीक को लक्षित करता है, अतः यह गौणी लक्षणलक्षणा है। वाहीक की अत्यन्त मूर्खता का द्योतन करना प्रयोजन है। शेष वर्णन पूर्ववत् है।)।

(७) रूढ़ि में लक्षण लक्षणा साध्यवसाना गौणी (का उदाहरण देते हैं) यथा—"राजा कण्टकं शोधयति।"—(इसमें विषय वाचक पद "गौडेन्द्र" के निकाल देने से "साध्यवसाना" का उदाहरण हो जाता है)।

(८) प्रयोजन में (लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी का उदाहरण देते हैं) यथा—"गौर्जल्पति" ("जल्प" धातु का अर्थ है व्यक्तवाणी बोलना—गौ का व्यक्त वाणी को बोलने से किसीप्रकार का सम्बन्ध नहीं है, अतः लक्षणा के द्वारा "वाहीक" की प्रतीति होती है।

अवतरणिका—"गौर्जल्पति" इत्यादि वाक्यों के अन्दर शाब्द बोध के प्रकार को दिखाते हुये दूसरे के मत का निराकरण करते है।

अर्थ—(गौर्जल्पति) यहाँ (इस उदाहरण में) कुछ का मत है कि गो (शब्द) अपने सहचारी जड़त्व और मन्दत्वादि गुणों (धर्मों) का लक्षणा के द्वारा प्रतिपादन करता है। और वे गुण (जड़त्व और मन्दत्वादि) गो पद का "वाहीक" रूप अर्थ को अभिधा के द्वारा प्रतिपादन करने में निमित्त होते हैं अर्थात् इस मत के अनुसार "गौः" यह पद एक बार तो लक्षणा के द्वारा जड़त्व और मन्दत्वादि गुणों की प्रतीति करा देता है और वे गुण पुनः अभिधा के द्वारा "वाहीक" इस अर्थ की प्रतीति कराते हैं (इसका खण्डन करते हैं)—तदयुक्तमिति—यह ठीक नहीं, (युक्ति से असङ्गत है);

सङ्केतं वाहीकार्थमभिधातुमशक्यत्वाद् गोशब्दार्थमात्रबोधनाच्च । अभिधाया विरतत्वाद्, विरतायाश्च पुनरुत्थानाभावात् ।

अन्ये च पुनर्गोशब्देन वाहीकार्थो नाभिधीयते, किन्तु स्वार्थसहचारिगुणसाजात्येन वाहीकार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते । तदप्यन्ये न मन्यन्ते, तथाहि-अत्र गोशब्दाद्वाहीकार्थः प्रतीयते, न वा ? आद्ये गोशब्दादेव वा ? लक्षिताद्वा गुणादविनाभावद्वारा ? तत्र, न प्रथमः, वाहीकार्थेऽस्यासंकेतितत्वात् । न द्वितीयः,—अविनाभावलभ्यस्यार्थस्य शाब्देऽन्वये प्रवेशासंभवात् । शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते । न द्वितीयः,—यदि हि गोशब्दाद्वाहीकार्थो न प्रतीयते, तदाऽस्य वाहीकशब्दस्य च सामानाधिकरण्यमसमञ्जसं स्यात् ।

(क्योंकि) "गो" शब्द अगृहीत संकेत वाले "वाहीक" अर्थ को अभिधा के द्वारा ज्ञान कराने में असमर्थ है (क्योंकि) "गो" शब्द केवल पशुरूप गो शब्दार्थमात्र का (अभिधा के द्वारा) ज्ञान कराता है—(अभिधा केवल अपने संकेतित अर्थ का ज्ञान कराती है)। अभिधा के विरत होने के कारण, (क्योंकि "सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति" इति न्यायात्—अर्थात् एक बार उच्चरित शब्द केवल एक बार ही अर्थ का ज्ञान कराता है । यह नियम है । यहाँ पर "गौ" इस पद ने एक बार "पशुरूप" का ज्ञान करा दिया पुनः अभिधा के ही द्वारा "वाहीक" का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है) और अपने व्यापार को करके निवृत्त अभिधा का पुनः उत्थान नहीं हो सकता । (क्योंकि "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः" इति न्यायात्) ।

अवतरणिका:—इसी विषय में अन्य मत का विवेचन करते हैं ।

अर्थ—और फिर दूसरे व्यक्तियों का (यह मत है) कि—"गौ" शब्द से "वाहीक" रूप अर्थ अभिधा के द्वारा ज्ञात नहीं होता, किन्तु (गो शब्द) अपने अर्थ—पशु विशेष के सहचारी गुणों के (जड़त्व और मन्दत्वादि) समानजातीय होने के कारण "वाहीक" गत (जाड्यादि) गुणों का ही लक्षणा के द्वारा बोधन करता है । (इसका भी खण्डन करते हैं)—तदपीति—यह (मत) भी दूसरे नहीं मानते हैं; तथाहि—(इस मत का विकल्पों द्वारा खण्डन करते है) । तथाहि-अत्रेति-(अच्छा, तुम्हारे मत में) यहाँ "गौ" शब्द से "वाहीक" रूप अर्थ की प्रतीति होती है या नहीं ? यदि होती है तो "गो" शब्द से ही (होती है) या गो शब्द से लक्षित गुणों से अविनाभाव (आक्षेप) के द्वारा ? तत्रेति—इनमें से प्रथम मत (गो शब्द से वाहीक अर्थ की प्रतीति होती है, यह) ठीक नहीं; (क्योंकि) इसकी (गो शब्द की) वाहीक अर्थ के अन्दर संकेतग्रह ही नहीं है । (और) न दूसरा मत (गो शब्द से लक्षित गुणों से अविनाभाव द्वारा होती है) ठीक है (क्योंकि) अविनाभाव के द्वारा (आक्षेप के द्वारा) लभ्य अर्थ का शाब्द बोध के अन्वय में प्रवेश ही सम्भव नहीं है । (क्योंकि) "शब्द सम्बन्धिनी आकांक्षा शब्द से ही (आक्षेप से नहीं) पूर्ण हो जाती है ।" (यह नियम है—यह बात शब्दाध्याहारवादियों के (भट्ट-मीमांसकों के) मत का आश्रय लेकर कही गई है । अर्थाध्याहारवादी मीमांसकों के (प्राभाकरों के) मत में तो अविनाभाव के द्वारा लभ्य अर्थ का भी सम्बन्ध शाब्द बोध में होता है अतः उनके पक्ष में यह दोष नहीं है) न द्वितीय इति—द्वितीय मत भी (गो शब्द से वाहीक अर्थ की प्रतीति नहीं होती) ठीक नहीं; (क्योंकि) यदि गो शब्द से "वाहीक" अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, तो (गो पदार्थ के साथ) इस वाहीक शब्द का समानाधिकरण्य (अभेदान्वय) ही असंगत हो जाये ।

तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादिसाधर्म्यसंबन्धाद्वाहीकार्थं लक्षयति। वाहीकस्याज्ञत्वाद्यतिशयबोधनं प्रयोजनम्।

इयं च गुणयोगाद् गौणीत्युच्यते। पूर्वातू पचारामिश्रणाच्छुद्धा। उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः साद‍ृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्। यथा—'अग्निमाणवकयोः'। शुक्लपटयोस्तु नात्यन्तं भेदप्रतीतिः, तस्मादेवमादिषु शुद्धैव लक्षणा।

अवतरणिकाः—इसप्रकार अन्य मतों का खण्डन करके स्वमत का स्थापन करते हैं:—

अर्थ—इसलिये [(उक्त दोनों मतों में दोष होने के कारण) (१) (न तो गो शब्द से पहले जाड्यादिगुणों को लक्षणा के द्वारा उपस्थित करके पुनः उन्हें प्रवृत्तिनिमित्त बनाकर अभिधा द्वारा वाहीक का उपस्थापन ठीक है, (२) और न वाहीक के गुणोंका लक्षणा के द्वारा बोधन करना ही युक्ति युक्त है)।] यहाँ "गौर्जल्पति" में गो शब्द मुख्यवृत्ति (अभिधा शक्ति) के द्वारा वाहीक शब्द के साथ अन्वय न प्राप्त करता हुआ अज्ञत्वादि साधर्म्य सम्बन्ध से वाहीक के अर्थ को लक्षणा के द्वारा लक्षित करता है। वाहीक की अज्ञत्वादि का अतिशय द्योतित करना (इस लक्षणा का) प्रयोजन है।

इयञ्चेति—और यह (गौणी लक्षणा) गुण—साधारण धर्म—के योग से ("वाच्यलक्ष्ययोः साद‍ृश्यात्मकः सम्बन्धः गुणः") "गौणी" (गुणेभ्यः आगतेति गौणी) कहाती है। (कहा भी है कि—लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता" अर्थात् जिन लक्षणाओं में साधारण धमो के सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है वे "गौणी" कहाती हैं।) और पहली तो (असाद‍ृश्यमूलक लक्षणा यथा—गंगायां घोषः) उपचार का मिश्रण न होने से "शुद्धा" है। (उपचार ही गौणी लक्षणा का मूल है) (उपचार का लक्षण) उपचारो हीति अत्यन्त निराकांक्ष शब्दों के अत्यन्त समानता के कारण भेद ज्ञान का छिप जाना ही उपचार कहाता है। यथा—"अग्निमाणवकयोः" (माणवकः नवोपनीतः ब्रह्मचारीत्यर्थः)। (यहाँ पर अग्नि और माणवक इन दोनों पदों से भिन्न-भिन्न अर्थ प्रतीत होते हैं। इनका आपस में समानाधिकरण्य नहीं हो सकता। दोनों पद एक दूसरे के प्रति निराकांक्ष हैं परन्तु अतिशय भिन्न होने पर भी तेजस्विता आदि समान गुणों के द्वारा अतिशय साद‍ृश्य होने के कारण इन दोनों की भिन्नता की प्रतीति दब गई है। इसी "भेदप्रतीतिस्थगन" को उपचार कहते हैं। और इससे जो लक्षणा होती है उसे गौणी लक्षणा कहते हैं।) शुक्लपटयोरिति-शुक्ल और पट के अन्दर ["शुक्लः पटः" यहाँ पर यद्यपि शुक्ल गुण और पटरूप द्रव्य भिन्न भिन्न हैं तथापि "अग्निर्माणवकः" की तरह अत्यन्त भिन्न नहीं है।] अत्यन्त भेद की प्रतीति नहीं है। (क्योंकि "शुक्लः पटः" के अन्दर भिन्न पदता होते हुये भी समवाय सम्बन्ध की प्रतीति होती है जब कि "अग्निर्माणवकः" के अन्दर लक्षणा से पूर्व ही साद‍ृश्य सम्बन्ध की प्रतीति होती है।) तस्मादिति—इसलिये इसप्रकार के प्रयोगों आदियों में शुद्धा लक्षणा ही है

टिप्पणीः—गौणी लक्षणा और रूपकालङ्कार के अन्दर यह अन्तर है कि यदि आरोप्यमाण का पहले निर्देश किया जावे तो "गौणी लक्षणा" होती है; और यदि बाद में निर्देश किया जावे तो रूपकालङ्कार होता है।

व्यङ्ग्यस्य गूढागूढत्वाद् द्विधा स्युः फललक्षणाः ॥१०॥

प्रयोजने या अष्टभेदा लक्षणा दर्शितास्ताः प्रयोजनरूपव्यङ्ग्यस्य गूढागूढतया प्रत्येकं द्विधा भूत्वा षोडश भेदाः। तत्र गूढः, वाक्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धिविभवमात्रवेद्यः। यथा—'उपकृतं बहु तत्र—' इति। अगूढः, अतिस्फुटतया सर्वजनसंवेद्यः। यथा—

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥'

अत्र 'उपदिशति' इत्यनेन 'आविष्करोति' इति लक्ष्यते। आविष्कारातिशयश्चाभिधेयवत्स्फुटं प्रतीयते।

"धर्मिधर्मगतत्वेन फलायैता अपि द्विधा।

एता अनन्तरोक्ताः षोडशभेदा लक्षणाः फलस्य धर्मिगतत्वेन धर्मगतत्वेन च प्रत्येकं द्विधा भूत्वा द्वात्रिंशद्भेदाः।

दिङ्मात्रं यथा—

अवतरणिका:—इसप्रकार अभी तक सोलह लक्षणाओं का वर्णन किया जा चुका है। इनमें आठ रूढ़िमूलक हैं और आठ प्रयोजनमूलक। उनमें से प्रयोजकमूलक लक्षणाओं के पुन: दो भेद दिखाते हैं:—

अर्थ—व्यंग्यस्येति—व्यंग्य के गूढ़ और अगूढ़ होने के कारण व्यञ्जनागम्य लक्षणायें दो प्रकार की होती हैं—

प्रयोजन इति—प्रयोजन में (फल में) आठ प्रकार की लक्षणायें दिखाई हैं, वे प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य के गूढ़ और अगूढ़ होने के कारण दो प्रकार की होकर सोलह भेद वाली हैं। तत्रेति—उनमें से "गूढ़" (व्यंग्य) काव्यार्थ के परिशीलन से परिपक्व बुद्धि के विभव अर्थात् सूक्ष्मार्थदर्शनसामर्थ्य से ही जाना जा सकता है; यथा – "उपकृतं बहु तत्र" इति। (इस पद्य में वक्ता के तात्पर्यरूप लक्षणा का परिज्ञान सूक्ष्म बुद्धि से ही किया जा सकता है अतएव यह गूढ़ है)। "अगूढ़" (व्यंग्य) अत्यन्त सुस्पष्ट होने के कारण सभी व्यक्तियों के लिये संवेद्य है। यथा—"उपदिशतीति"—कामिनियों को यौवन का मद ही ललित अर्थात्, हाव, भाव आदि का उपदेश कर देता है।

यहाँ पर (उपदेश देना चेतन का काम है और वह मद जो कि जड़ है उससे सम्पन्न नहीं हो सकता। इसप्रकार मुख्य अर्थ का बाध हुआ अतः) "उपदिशति" इससे "आविष्करोति" = प्रकट करता है यह, अर्थ लक्षणा के द्वारा लक्षित होता है। और आविष्कार का अतिशय, जो यहाँ व्यङ्ग्य प्रयोजन है वह, अभिधेयार्थ की तरह स्फुट प्रकाशित होता है।

टिप्पणी:—इसप्रकार प्रयोजनमूलक आठ लक्षणाओं के १६ भेद हो गये, रूढ़िमूलक लक्षणा के ८ भेद हैं—इसप्रकार सब मिलकर लक्षणा के २४ भेद हुये।

अवतरणिका:—पुनः प्रयोजनमूलक १६ लक्षणाओं के और दो भेद दिखाते हैं:—

अर्थ—धर्मिधर्मेत्यादि—एता—इति—ये अभी कही हुई सोलह भेद वाली लक्षणायें फल (व्यंजनागम्य प्रयोजन) के धर्मिगत और धर्मगत होने के कारण प्रत्येक के पुनः दो भेद होकर बत्तीस भेद वाली (होती) हैं। थोड़ा (दिङ्मात्रम्) (उदाहरण दिखाते हैं) जैसे-

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥'

अत्रात्यन्तदुःखसहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लक्ष्ये तस्यैवातिशयः फलम् । 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटे शीतत्वपावनत्वरूपधर्मस्यातिशयः फलम् ।

अवतरणिका:—वर्षाकाल में वर्षाकालीन दृश्य को देखते हुये सीता के विरह में राम की उक्ति है:—

अर्थ—स्निग्ध और श्यामल कान्ति से व्याप्त है आकाश जिनसे ऐसे, इधर-उधर विहार कर रही है वकपंक्ति जिनमें ऐसे मेघ (भले हो घुमड़ें) (इससे आकाश की दुष्प्रेक्षता, और दिशाओं की भी दुर्दर्शनता और दुःसहत्व सूचित होता है); तथा छोटे-छोटे जलकणों से युक्त वायुयें (स्वतन्त्रता पूर्वक चलें) [यहां बहुवचन का प्रयोग करके वायुओं की अनिश्चित दिशाओं की ओर गति को अभिव्यक्त किया है] (ऐसा होने पर किसी गिरिकन्दरा में छिपकर बैठ रहो—इसलिये कहते हैं कि) जलधरों के मित्रों की (मयूरों की) अव्यक्त एवं मधुर आनन्दमयी मयूरवाणियें भी यथेष्ट सुनाई दें (ये मयूर की वाणियाँ दुःसह जलदव्यापार का स्मरण कराती हैं तथा अपने आप में तो दुःश्रवण हैं ही) (इसप्रकार विभावों का साधारणतः वर्णन करके राम अपने विषय में कहते हैं) (मैं) अत्यन्त कठोर हृदय वाला (निरन्तर अनर्थ परम्पराओं को सहन करने के कारण अभेद्य हृदय वाला) राम हूँ (यहां राम शब्द की विशेष ध्वनि को बत.ने के लिये "कठोरहृदयः" इस विशेष्य का अभिधान किया है, नहीं तो राम पद रघुवंश में उत्पन्न होना, कौशल्या के स्नेह का आधार, बाललीलाओं को करने वाले, मैथिली के साथ परिणय इत्यादि अर्थ की ध्वनि का अभिधान करता, अतः मैं ही सम्पूर्ण अनर्थ परम्पराओं का पात्र होने के कारण प्रसिद्ध राम हूँ—ऐसा भाव है) सब कुछ (सम्पूर्ण कष्ट परम्परा को) सहूँगा, परन्तु सीता की क्या दशा होगी ? हा देवि ! सीते ! धैर्यशालिनी हो । (अर्थात् मेरे बिना इस समय उत्कण्ठिता न हो) ।

इसमें (उदाहृत पद्य में) अत्यन्त दुःखसहिष्णुरूप धर्मी राम में, लक्षणा के द्वारा बोध्य (उन्हीं में) उसका ही (अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्व का ही) अतिशय (उत्कर्ष का ज्ञान कराना) (व्यंजना के द्वारा) फल है । (इसका भाव यह है कि इस पद्य के अन्दर राम के वक्ता होने के कारण "सहे" इस क्रिया पद के सन्निधान में "रामः" यह पद "कठोरहृदयः" इस विशेषण से विशिष्ट होकर "अत्यन्त दुःखसहिष्णुरूप राम" इस लक्ष्यार्थ को लक्षित करता है ।] "गंगायामिति—गंगायां घोषः"–यहां तट पर शीतत्व और पावनत्वादिरूप धर्म की अतिशयता (का बोध कराना ही) फल है ।

तदेवं लक्षणाभेदाश्चत्वारिंशन्मता बुधैः ।। ११ ।।

रुढावष्टौ फले द्वात्रिंशदिति चत्वारिंशल्लक्षणाभेदाः ।

किञ्च—

पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

ता अनन्तरोक्ताश्चत्वारिंशद्भेदाः । तत्र पदगतत्वे यथा–'गङ्गायां घोषः' । वाक्यगतत्वे यथा—'उपकृतं बहु तत्र' इति । एवमशीतिप्रकारा लक्षणाः ।

अवतरणिका—लक्षणा प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

अर्थ—इसप्रकार लक्षणा के विद्वानों ने चालीस भेद कहे हैं (कारिका को स्पष्ट करते हैं ।)

रूढाविति—रूढि में आठ भेद और प्रयोजन में बत्तीस भेद—इसप्रकार लक्षणा के चालीस भेद होते हैं । किञ्चेति—तथा—

वे अभी कही हुई चालीस प्रकार की लक्षणायें भी पदगत और वाक्यगत होने के कारण दो प्रकार की होती हैं । (कारिका में प्रयुक्त "ताः" की व्याख्या करते हैं ।) 'ताः"=ऊपर कहे हुये चालीस भेद ।

तत्रेति—उनमें से पदगत (का उदाहरण) यथा—"गंगायां घोषः" इति । वाक्यगत (का उदाहरण) यथा—"उपकृतं बहु तत्र" इति । इसप्रकार (सभी मिलकर) अस्सी प्रकार की लक्षणा होती है ।

टिप्पणी—लक्षणा के अस्सी भेदों की संक्षेप में गिनती इसप्रकार हैं—

(१) रूढि में सारोपा उपादानलक्षणा—"अश्वः श्वेतो धावति" ।
(२) प्रयोजन में सारोपा उपादानलक्षणा—"ऐते कुन्ताः प्रविशन्ति" ।
(३) रूढि में सारोपा लक्षणलक्षणा—"कलिङ्गः पुरुषो युध्यते" ।
(४) प्रयोजन में सारोपा लक्षणलक्षणा—"आयुर्घृतम्" ।
(५) रूढ़ि में साध्यवसाना उपादानलक्षणा—"श्वेतो धावति" ।
(६) प्रयोजन में साध्यवसाना उपादानलक्षणा—"कुन्ताः प्रविशन्ति" ।
(७) रूढि में साध्यवसाना लक्षणलक्षणा—"कलिङ्गः साहसिकः" ।
(८) प्रयोजन में साध्यवसाना लक्षणलक्षणा—"गंगायां घोषः" ।
(९) रूढि में गौपी सारोपा उपादानलक्षणा–"एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि" ।
(१०) प्रयोजन में गौणी सारोपा उपादानलक्षणा–"ऐते राजकुमाराः गच्छन्ति" ।
(११) रूढ़ि में गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा—"राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति" ।
(१२) प्रयोजन में गौणी सरोपा लक्षणलक्षणा—"गौर्वाहीकः" ।
(१३) रूढि में गौणी साध्यवसाना उपादानलक्षणा–"तैलानि हेमन्ते सुखानि" ।
(१४) प्रयोजन में गौणी साध्यवसाना उपादानलक्षणा–"राजकुमाराःगच्छन्ति" ।
(१५) रूढ़ि में गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा—"राजा कण्टकं शोधयति" ।
(१६) प्रयोजन में गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा—"गौर्जल्पति" ।

(क) यहाँ आठ प्रकार की प्रयोजनलक्षणा के व्यंग्य के गूढ़ (**"उपकृतं बहु तत्र"**) और अगूढ़ (**"उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि"** (भेद से सोलह भेद हुये ।

(ख) इस १६ प्रकार की लक्षणा के धर्मिगत (**"रामोऽस्मि सर्वं सहे"**) और धर्मगत (**"गंगायां घोषः"**) भेद से पुनः ३२ भेद हुये ।

(ग) आठ प्रकार की रूढिमूला लक्षणा को मिलाकर कुल ४० भेद हुये ।

(घ) इन ४० लक्षणाओं के पदगत ("गंगायां घोषः")और वाक्यगत (**"उपकृतं बहु तत्र"**) भेद से ८० भेद हुये ।

(२) काव्यप्रकाशकार ने लक्षणा के ६ भेद किये हैं:—उसका विभाग इस प्रकार है—
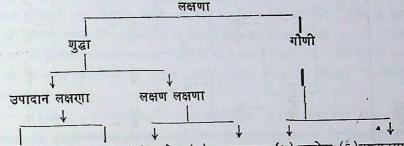
(१) सारोपा (२) साध्यवसाना (३) सारोपा (४) साध्यवसाना (५) सारोपा (६)साध्यवसाना

इसप्रकार शुद्धा के चार भेद और गौणी के दो भेद होते हैं ।

(३) सारोपा सादृश्य हेतुक होती है । इसके अन्दर उपमान और उपमेय के स्पष्ट होने के कारण यह लक्षणा "रूपकालंकार" का कारण है । यथा— "इन्दुर्मुखम्" ।

(४) साध्यवसाना "उपमान तिरोहितोपमेया" होती है । यह "अतिशयोक्ति अलंकार" का कारण है यथा—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥

(५) रूढिलक्षणा और प्रयोजनवतीलक्षणा का विभाजन इसप्रकार किया जा सकता है—

इति लक्षणानिरूपणम् ।
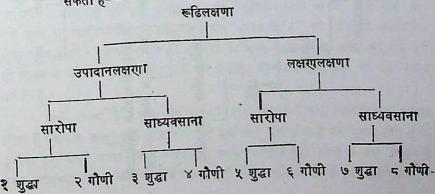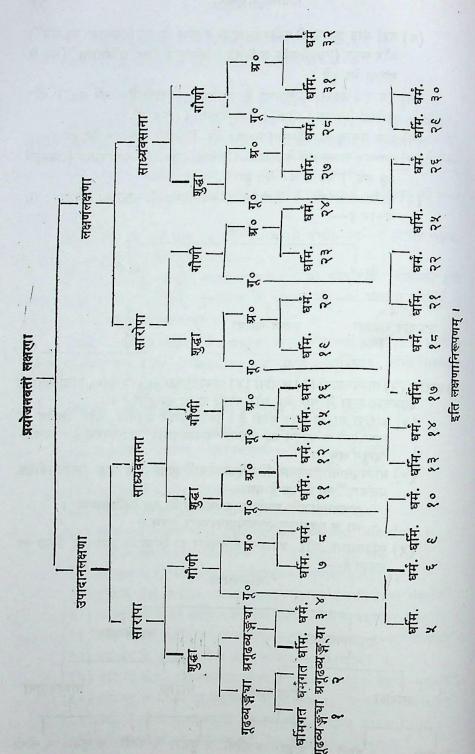
अथ व्यञ्जना—

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ॥ १२ ॥
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति नयेनाभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु यया अपरोऽन्योऽर्थो

अर्थ—इसके बाद (लक्षणा के निरूपण के अनन्तर) व्यंजना (का निरूपण करते हैं)—

अर्थ—अभिधादिकों के (अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यनामक इन तीन वृत्तियों के) विरत हो जाने पर (अपने अपने व्यापार से विरत होने पर) जिस वृत्ति के द्वारा दूसरा (वाच्य, लक्ष्य और तात्पर्यार्थों से भिन्न) अर्थ का बोधन होता है वह (वक्ता के तात्पर्य विशेषरूप वाली–अर्थात् "यह पद या वाक्य इस अर्थ का ज्ञान करावे"—) शब्द में तथा अर्थादिक में (रहने वाली) वृत्ति (व्यापार विशेष) "व्यञ्जना" (कहाती) है।

टिप्पणी—"मञ्जूषाकार" ने व्यञ्जना का लक्षण इसप्रकार किया है—"मुख्यार्थबाधग्रहनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बन्धासम्बद्धसाधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जनेति।" इस वृत्ति के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को व्यंग्य कहते हैं। और वह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तरह नियत नहीं होता है। अपितु वक्ता के प्रकरणादि के अनुसार अनियत होता है। तथाहि—"गतोऽस्तमर्कः" का सीधा सा वाक्यार्थ है "सूर्य छिप गया", परन्तु प्रकरणादि के अनुसार वक्ता और श्रोता के अभिप्राय से विभिन्न अर्थ हो जाते हैं। जिसप्रकार इसी वाक्य के अन्दर राजा की सेनापति के प्रति "गतोस्तमर्कः का अर्थ होगा शत्रुओं पर आक्रमण का अवसर है, दूती का अभिसारिका के प्रति कहे गये इसी वाक्य का अर्थ होगा कि अभिसरण की तैयारी करो, सखी का वासकसज्जा के प्रति कहने पर "तुम्हारा प्रिय आने वाला है" ऐसा अर्थ होगा; काम करने वाले का अपने साथियों के प्रति कहे गये इसी वाक्य का अर्थ होगा कि कार्य करना बन्द कर दो; एक भृत्य का किसी धार्मिक के प्रति कहने पर "सांध्य विधि" की तैय्यारी कीजिये—ऐसा भाव होगा। इसप्रकार एक ही वक्ता के विभिन्न व्यक्तियों के प्रति कहे गये एक ही वाक्य के प्रकरणानुसार अनेक अर्थों की प्रतीति व्यञ्जना के बल से हो जाया करती है।

अर्थ—शब्द, बुद्धि और कर्म का एक बार रुककर (पुनः) व्यापार का अभाव होता है (अर्थात् शब्द, बुद्धि और कर्म जब एक बार अपना कार्य कर चुकते होते हैं तो दुबारा पुनः उनके अन्दर किसी व्यापार के करने की शक्ति नहीं होती)—इस नियम के द्वारा अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नाम वाली तीन वृत्तियों के अपने अपने अर्थ का

बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जनध्वनन प्रत्यायनादि-व्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम । तत्र—

अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा ॥ १३ ॥

अभिधामूलामाह—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया ॥ १४ ॥

आदिशब्दाद्विप्रयोगादयः ।

बोधन करके उपक्षीण हो जाने पर जिस (वृत्ति के द्वारा) दूसरा भिन्न अर्थ का बोध होता है वह शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ, प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ, (आदिपदादुपसर्गादि-ग्रहणम्) उपसर्गादिनिष्ठि वृत्ति (व्यापार विशेष) व्यञ्जना नाम वाली कहाती है । (और यही व्यञ्जना) व्यञ्जना, ध्वनन, गमन, प्रत्यायन आदि नामों से भी व्यवहृत होती है ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि जैसे पदार्थोपस्थिति के अनन्तर अभिधा के विरत होने पर "**गंगायां घोषः**" इत्यादि स्थलों पर तट आदि अर्थ का बोधन करने के लिये दूसरी शक्ति (लक्षणा) माननी पड़ती है, उसी विरत अभिधा को फिर नहीं उठाया जा सकता इसीप्रकार जब ये पूर्वोक्त तीनों शक्तियाँ (अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य) अभिधेय, लक्ष्य और तात्पर्यार्थ का बोधन करके विरत हो चुकी तो उसके अनन्तर प्रतीत होने वाला अर्थ इन तीनों में से किसी के द्वारा उत्पन्न हुआ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि "**शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः**" यह नियम है। अतः उक्त अर्थ को बोधन करने के लिये कोई चौथी वृत्ति अवश्य माननी पड़ेगी, उसीको "व्यञ्जना" कहते हैं ।

शाब्दीव्यञ्जना—

अवतरणिका—व्यञ्जना अनेक प्रकार की होती है । उनमें से शाब्दी-व्यञ्जना के भेद दिखाते हैं—

अर्थ—तत्रेति—उनमें से—

शब्द की अभिधा और लक्षणा है मूल में जिसके ऐसी व्यञ्जना दो प्रकार की होती है (अर्थात् अभिधामूला और लक्षणामूला) ।

अभिधामूला शाब्दी-व्यञ्जना का (लक्षण) कहते हैं:—

संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर (जिसके द्वारा) अन्य अर्थ का ज्ञान होता है वह अभिधाश्रया (अभिधाशक्ति के आश्रित) व्यञ्जना होती है । (जहाँ पर संयोगादिक नहीं होते हैं वहाँ जितने अर्थों के विषय में वक्ता का तात्पर्य है, उतने ही अर्थ समझने चाहिये) ।

टिप्पणी—प्राकरणिक अर्थ का बोध कराकर अभिधा के विरत हो जाने पर अप्राकरणिक अर्थ के ज्ञान कराने में व्यञ्जनावृत्ति अभिधा की अपेक्षा करती है, अतः इसका नाम "अभिधामूला व्यञ्जना" है ।

अर्थ—(इस कारिका में) आदि शब्द से विप्रयोग आदि (का ग्रहण होता है) ।

उक्तं हि—

> संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
> अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ।।
> सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
> शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।।' इति ।

'सशङ्खचक्रो हरिः' इति शङ्खचक्रयोगेन हरिशब्दो विष्णुमेवाभिधत्ते । 'अशङ्खचक्रो हरिः' इति तद्वियोगेन तमेव । 'भीमार्जुनौ' इति अर्जुनः पार्थः । 'कर्णार्जुनौ' इति कर्णः सूतपुत्रः । 'स्थाणुं वन्दे' इति स्थाणुः शिवः । 'सर्वं

अवतरणिकाः—संयोगादि का निरूपण करते हैं:—

अर्थ—उक्तं हीति—कहा भी है—संयोग (अनेकार्थक शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ प्रसिद्ध सम्बन्ध को संयोग कहते हैं), विप्रयोग (वियोग), साहचर्य (अभिन्नता के प्रतिपादन के लिये एक दूसरे की अपेक्षा), विरोधिता (वैर), अर्थ (प्रयोजन), प्रकरण, लिङ्ग (चिह्न), अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य (नियत शक्ति), औचिती (औचित्य, जिसके उपस्थित होने पर श्रोता की जिज्ञासा निवृत्ताकांक्ष हो जाती है), देश (नियमित स्थान), काल (निर्दिष्ट समय), व्यक्ति (शब्द के पुंस्त्वादि लिङ्ग), स्वर (उदात्तानुदात्त स्वरित) आदि (ये सब) शब्द के अर्थ का अनवच्छेद (अनिर्धारण) होने पर विशेष ज्ञान के कारण होते है ।

टिप्पणीः—यह विवेचन मीमांसकों के अनुसार है । नैय्यायिकों के मत में तो सभी पदों के अर्थ की उपस्थिति का नियन्त्रण होने के कारण शब्द का एक ही अर्थ नियत होता है ।

अवतरणिकाः—क्रम से संयोगादिकों के नियन्त्रित अर्थों के उदाहरण देते हैं:—

अर्थ—(१) (संयोग का उदाहरण देते हैं) "सशंखचक्रो हरिः" यहाँ पर (हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं—यथा—"यमाऽनिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु" इत्यमरः, परन्तु शंख, चक्र का सम्बन्ध केवल विष्णु के साथ ही प्रसिद्ध है, अतः) शंख, चक्र के योग से हरि शब्द विष्णु का ही अभिधा से बोधन करता है । (२) (विप्रयोग का उदाहरण) "अशङ्खचक्रो हरिः" इति, शंख, चक्र के राहित्य से (हरि शब्द) उसको ही (विष्णु को ही, इन्द्रादिक को नहीं) कहता है । (३) (साहचर्य का उदाहरण) "भीमार्जुनौ" इति, यहाँ "भीम" शब्द के साहचर्य से अर्जुन शब्द पार्थ का—पृथा के पुत्र धनञ्जय का (बोध कराता है, ककुभादि का नहीं) । (४) (विरोध का उदाहरण—"कर्णार्जुनौ" इति, यहाँ पर कर्ण शब्द (का अर्थ) सूत-पुत्र है और (महावीर कर्ण) का बोध कराता है क्योंकि अर्जुन का उसीके साथ सतत वैर था—कर्णेन्द्रिय को बताने वाला नहीं है । (५) (अर्थ का उदाहरण)—"स्थाणुं वन्दे" इति, यहाँ पर ("भवच्छिदे" यह चरमांश है) स्थाणु शब्द का अर्थ शिव है । (क्योंकि शिवजी की स्तुति ही संसार के आवागमन को नष्ट कर सकती है, शाखा पल्लवादि से रहित शुष्क तरुकाण्ड नहीं, अन्यथा भवच्छेदरूप प्रयोजन के न होने पर उसकी नियामकता नहीं होगी) । (६) (प्रकरण का उदाहरण) "सर्वं जानाति देवः" इति, यहाँ पर

जानाति देवः' इति देवो भवान् । 'कुपितो मकरध्वजः' इति मकरध्वजः कामः। 'देवः पुरारिः' इति पुरारिः शिवः । 'मधुना मत्तः पिकः' इति मधुर्वसन्तः। 'पातु वो दयितामुखम्' इति मुखं सांमुख्यम् । 'विभाति गगने चन्द्रः' इति चन्द्रः शशी । 'निशि चित्रभानुः' इति चित्रभानुर्वह्निः । 'भाति रथाङ्गम्' इति नपुंसकव्यक्त्या रथाङ्गं चक्रम् । स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृन्न काव्य इति तस्य विषयो नोदाहृतः ।

"देव" शब्द का अर्थ "आप" है (पुरोवर्ती राजा का ही बोध होता है, क्योंकि प्रकरणगत राजा ही प्रकृत है। किसी देवताविशेष का वाचक "देव' शब्द नहीं है) । (७) (लिङ्ग का उदाहरण) "कुपितो मकरध्वजः" इति, यहाँ पर "मकरध्वज" पद कामदेव (का ही ज्ञान कराता है, समुद्र का नहीं क्योंकि कोपरूप लिङ्ग किसी चेतन का ही धर्म हो सकता, है अचेतन का नहीं) । (८) अन्यशब्दसन्निधि का उदाहरण) "देवः पुरारिः" इति, यहाँ (देव शब्द के सान्निध्य से) पुरारि शब्द शिव का (ही अभिधान करता है, किसी अन्य का नहीं) । (९) (सामर्थ्य का उदाहरण)—"मधुना मत्तः पिकः" इति, यहाँ पर (मधु शब्द दैत्य, वसन्त, मद्य, आदि अनेक अर्थों का बोधक होने पर भी केवल वसन्त के अन्दर ही कोयल को मस्त करने की सामर्थ्य के कारण) मधु शब्द वसन्त का ही (अभिधान करता है—मद्य विशेष का नहीं) । (१०) औचिती का उदाहरण)—"पातु वो दयिता मुखम्" इति

अवतरणिका:—प्रियतमा के कुपित हो जाने के कारण नायक के प्रति सखा की उक्ति है:—

प्रिया की साम्मुख्यता (अनुकुलता)—सुरत के अनुकूल होना तुम्हारी प्रतिकूलता से उत्पन्न खिन्नता से रक्षा करे । यहाँ पर मुख शब्द (औचित्य के कारण) साम्मुख्य (अनुकूलता का बोधक है) (वदनादिक का नहीं क्योंकि अनुकूलता ही प्रकृतोपयोगी है। मुख यदि कुपित होगा तब तो वह भी और भयावह हो जायेगा।)। (११) (देश का उदाहरण)—"विभाति गगने चन्द्रः" इति, यहाँ पर "चन्द्र" शब्द का अर्थ चन्द्रमा है, कर्पूरादि नहीं । (क्योंकि आकाश में (देश में) चन्द्रमा ही रहता है, कर्पूरादि नहीं) । (१२) काल का उदाहरण—"निशि चित्रभानुः" इति, (चित्रभानु पद के वह्नि, सूर्यादि अनेक अर्थ होने पर भी प्रकृत में) चित्रभानु अग्नि का ही (वाचक है, सूर्य का नहीं क्योंकि रात्रि में उसका दिखाई देना असम्भव है) । (१३) (व्यक्ति का उदाहरण) "भाति रथाङ्गम्" इति, यहाँ पर रथाङ्ग शब्द नपुंसकलिङ्ग में होने के कारण चक्र का (अर्थबोध कराता है, चक्रवाक आदि का नहीं) । (चक्रवाक के अर्थ में "रथाङ्ग" शब्द पुंल्लिङ्ग होता है) । (१४) (स्वर का उदाहरण)—स्वर तो (उदात्तानुदात्त-स्वरित) वेद में ही विशेष (अर्थ) की प्रतीति कराने वाले होते हैं, काव्य में नहीं, अतः उसका (स्वर का) उदाहरण नहीं दिया ।

टिप्पणी—"इन्द्र शत्रुः"—इस उदाहरण में बहुव्रीहि और तत्पुरुष दोनों ही समास हैं । और इन दोनों समासों के कारण स्वरभेद भी भिन्न भिन्न होता है । स्वरभेद के कारण बहुव्रीहि समास में "इन्द्रः शत्रुर्यस्येति" ऐसा विग्रह होगा और "इन्द्रशत्रुः" शब्द का इन्द्र ही है वृत्र का शासन करने वाला, ऐसा अर्थ होगा, "इन्द्रस्य शत्रुः" ऐसा तत्पुरुष समास का विग्रह नहीं होगा। क्योंकि ऐसा स्वरभेद करके तत्पुरुष समास का अर्थ करने पर इन्द्र के शत्रु वृत्र की वृद्धि होती है जो कि अभीष्ट नहीं है । अतः उदात्तादि स्वर वेद में ही विशेष अर्थ के निर्णायक होते हैं, काव्य में नहीं।

इदं च केऽप्यसहमाना आहुः—"स्वरोऽपि काक्वादिरूपः काव्ये विशेषप्रतीतिकृदेव । उदात्तादिरूपोऽपि मुनेः पाठोक्तदिशा शृङ्गारादिरसविशेषप्रतीतिकृदेव इति एतद्विषये उदाहरणमुचितमेव इति, तन्न । तथाहि—स्वराः काक्वादयः उदात्तादयो वा व्यङ्ग्यरूपमेव" विशेषं प्रत्याययन्ति, न खलु प्रकृतोक्तमनेकार्थशब्दस्यैकार्थनियन्त्रणरूपं विशेषम् । किञ्च यदि यत्र क्वचिदनेकार्थशब्दानां प्रकरणादिनियमाभावादनियन्त्रितयोरप्यर्थयोरनुरूपस्वरवशेनैकत्र नियमनं वाच्यं, तदा तथाविधस्थले श्लेषानङ्गीकारप्रसङ्गः । न च तथा । अत एवाहुः श्लेषनिरूपणप्रस्तावे—'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च नयः", इत्यलमुपजीव्यानां मान्यानां व्याख्यानेषु कटाक्षनिक्षेपेण । आदिशब्दात् 'एतावन्मात्रस्तनी'-इत्यादौ हस्तादिचेष्टादिभिः स्तनादीनां कमलकोरकाद्याकारत्वम् ।

अर्थ—कुछ इसको (स्वर वेद में ही विशेष अर्थ की प्रतीति कराने वाले होते हैं, काव्य में नहीं) सहन न करते हुये कहते हैं कि—स्वरोऽपीति—काकु आदि रूप स्वर भी काव्य में विशेष (अर्थ) की प्रतीति कराने वाले होते हैं । उदात्तादिरूप (स्वर) भी (उच्चैरुदात्त; नीचैरनुदात्तः, मध्यमः स्वरितः) भरतमुनि की पाठोक्त रीति के अनुसार (भरतमुनि ने शृङ्गार आदि में स्वर विशेष का उल्लेख किया है, यथा—"हास्य और शृङ्गार में स्वरितोदात्त, वीर, रौद्र और अद्भुत में उदात्तस्वरित, करुण, वीभत्स और भयानक में अनुदात्त स्वरित करना चाहिये) शृङ्गारादि रस विशेष की प्रत्यायक होती है, अतः इस विषयक (स्वर) उदाहरण (देना) उचित ही है" इति । तन्नेति—यह ठीक नहीं (इसका खण्डन करते हैं), काकु आदि स्वर अथवा उदात्तादि (स्वर) केवल व्यंग्य को ही विशेष रूप से बोध कराते हैं, प्रकरण में कहे हुये अनेकार्थक शब्दों के एक अर्थ में नियन्त्रितरूप विशेष अर्थ का (बोध) नहीं कराते । अर्थात् काकु आदि स्वर और उदात्तादि स्वर प्रकरणगत अनेकार्थक शब्दों को किसी एक विशेष अर्थ के अन्दर नियन्त्रित नहीं करते । किञ्चेति—इसके अतिरिक्त यदि कहीं अनेकार्थक शब्दों का प्रकरणादि के नियम के न होने के कारण अनियन्त्रित अर्थों का भी अनुरूप स्वर के कारण एक अर्थ में नियमन हो जायेगा, तो उसप्रकार के स्थलों में श्लेष के अंगीकार न करने का प्रसङ्ग होगा; [अर्थात् श्लेष के अन्दर अनेकार्थक शब्दों को भी यदि अनुरूप स्वर के कारण एक अर्थ में नियन्त्रित कर दिया जावेगा तो फिर वहाँ श्लेष मानने का प्रसङ्ग ही नहीं होगा ।] न च तथेति—(परन्तु) ऐसा नहीं है । (स्वरभेद होने पर भी महाकवियों ने तथाविध स्थलों पर श्लेष को स्वीकार किया है, अतः श्लेष का अनङ्गीकार नहीं करना चाहिये) । अतएव श्लेषालंकार के निरूपण के अवसर पर कहा है कि—"काव्यप्रद्धति में स्वर की गणना नहीं की जाती "ऐसा नियम है । (अर्थात् स्वरभेद होने पर भी श्लिष्ट अर्थ की प्रतीति मानी जाती है) । इसलिये उपजीव्य (आश्रयभूत) और मान्य व्यक्तियों की, की हुई व्याख्या पर कुटिल दृष्टिपात नहीं करना चाहिये । "कालो व्यक्तिः स्वरादयः"—(यहाँ पर) आदि (शब्द) से "एतावन्मात्रस्तनी" इत्यादि में हाथ आदि की चेष्टाओं से स्तनादिओं का कमलकोरक के आकार का होना (गृहीत होता) है ।

एवमेकस्मिन्नर्थेऽभिधया नियन्त्रिते या शब्दार्थस्यान्यार्थबुद्धिहेतुः शक्तिः साऽभिधामूला व्यञ्जना ।

यथा मम तातपादानां महापात्रचतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्गमहाकवीश्वरश्रीचन्द्रशेखरसांधिविग्रहिकाणाम्—

'दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं संमीलयंस्तेजसा
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः ।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरीगुरौ गाढां रुचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः ॥'

अर्थ—इसप्रकार एक अर्थ में अभिधा के द्वारा नियन्त्रित करने पर शब्द की दूसरे अर्थ के ज्ञान का कारण जो शक्ति (है), उसे अभिधा मूलकव्यञ्जना (कहते हैं)।

टिप्पणी—श्लेष और व्यञ्जना में अन्तर—जहाँ तात्पर्य दोनों अर्थों के अन्दर होता है वह श्लेष है, और जहाँ तात्पर्य तो एक अर्थ के विषय में है पर सामग्री की महिमा के द्वारा दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है वह व्यञ्जना कहाती है। अतएव "रसगङ्गाधर" में भी कहा है—**"श्लेषे द्वयोरर्थयोर्वाच्यत्वम्, एककालत्वं च। इह त्वेकस्य वाच्यत्वं, अपरस्य व्यंग्यत्वम्, भिन्नकालत्वं च" इति।** आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है कि—**"यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलंकारो वाच्यः सन्प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः। यत्र तु शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यंग्यमेवालंकारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयः" इति"।**

अर्थ—जिसप्रकार मेरे पूज्य पिता महापात्र चतुर्दश भाषाविलासिनीभुजङ्ग महाकवीश्वर श्री चन्द्रशेखर, जो सान्धिविग्रहिक हैं, (सान्धिविग्रहिक उस मन्त्री को कहते हैं जो अन्य राजाओं के साथ व्यवहार्य नीति का निर्णय करे और उनके साथ सन्धि या विग्रह कराये) का (बनाया हुआ उदाहरण है)—(अभिधा मूला लक्षणा का उदाहरण देते हैं) दुर्गेत्यादि—(राजा के पक्ष में) दुर्ग से नहीं रोका गया है विग्रह (संग्राम) जिसका ऐसा, (जो शत्रुओं के किलों का भेदन करके भी युद्ध करता है) अथवा दुर्ग से (परिखादिकों से) अव्यवहित है शरीर (विग्रह) जिसका ऐसा, (अर्थात् मैदान में आकर युद्ध करने वाला); कान्ति में (सौन्दर्य से) कामदेव को तिरस्कृत करता हुआ; प्रकृष्ट अभ्युदय से युक्त राजसमूह को (राजकम्) वश में करने वाला (लाति); गौरव युक्त, सुखोपभोग करने वाले पुरुषों से चारों ओर से घिरा हुआ क्षत्रियश्रेष्ठों पर भी जिसने दृष्टि नहीं डाली है ऐसा, (उनके विषय में तुच्छ बुद्धि वाला); शिवजी के विषय में महती भक्ति को धारण करने वाला (शिवोपासक); तथा पृथ्वी को जीतकर ऐश्वर्य से अलंकृत है शरीर जिसका ऐसा उमा नामक रानी का प्रियतम (उमावल्लभः) (राजा भानुदेव) शोभित होता है।

टिप्पणी:—राजापरक अर्थ पहले अभिधा के द्वारा ही प्रतिपादित होता है, परन्तु बाद में अनेकार्थक शब्दों के आधार पर "शिव जी" परक अर्थ भी व्यञ्जना के द्वारा बोधित होता है।

अत्र प्रकरणेनाभिधया उमावल्लभशब्दस्योमानाम्नीमहादेवीवल्लभभानुदेवनृपतिरूपेऽर्थे नियन्त्रिते व्यञ्जनयैव गौरीवल्लभरूपोऽर्थो बोध्यते। एवमन्यत्।

लक्षणामूलामाह—

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद्व्यञ्जना लक्षणाश्रया ॥१५॥

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ जलमयाद्यर्थबोधनादभिधायां तटाद्यर्थबोधनाच्च लक्षणायां विरतायां यया शीतत्वपावनत्वाद्यतिशयादिर्बोध्यते सा लक्षणामूला व्यञ्जना।

एवं शाब्दीं व्यञ्जनामुक्त्वार्थीमाह—

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च ॥१६॥
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्साऽर्थसम्भवा।

शिव-पक्ष में—दुर्गेत्यादि—पार्वती से (दुर्गा) आक्रान्त है आधा शरीर (विग्रह) जिसका ऐसे, अपने तृतीय नेत्र की अग्नि से (तेजसा) कामदेव को दग्ध करने वाले मस्तक पर विद्यमान है चन्द्रमा की (राज्ञः) कला जिसके ऐसे, गौरव युक्त (विश्वम्भर होने के कारण); सर्पों से (भोगिभिः) चारों ओर से घिरे हुये, चन्द्रमा की तरह किया है (भक्तों पर) दृष्टिपात जिसने ऐसे, हिमालय के प्रति महती प्रीति (रुचि) को धारण करने वाला, (श्वसुर होने के कारण) बैल (गाम्) पर चढ़कर भस्म से (विभूति) भूषित है शरीर जिनका ऐसे, पार्वती के पति (शिव) शोभित होते हैं।

टिप्पणी:—इसप्रकार शिवजी परक अर्थ व्यञ्जना के द्वारा प्रतीत होता है।

अर्थ—अत्रेति—यहाँ प्रकरण के द्वारा "उमावल्लभः" शब्द का "उमा नामक महादेवी के वल्लभ भानुदेव नृपति" रूप (अभिधेय) अर्थ के नियन्त्रित होने पर (भी) व्यञ्जना के द्वारा ही गौरीवल्लभ (शिव जी) रूप अर्थ बोधित होता है। इसीप्रकार अन्य (उदाहरण समझने चाहिये)॥

लक्षणामूलाव्यञ्जना

लक्षणामूलक (व्यञ्जना का निरूपण) करते हैं—

जिस (प्रयोजन) के ज्ञान के लिये लक्षणा को (प्रयोजनवती लक्षणा) शब्द-शक्तित्वेन स्वीकार किया जाता है वह प्रयोजन जिससे (जिस शक्ति के द्वारा) प्रतीत होता है वह लक्षणामूलक व्यञ्जना होती है। (इसी का विस्तार करते हैं)

"गंगायां घोषः" इत्यादिक (स्थलों में) जलमय (प्रवाह) आदि (मुख्य) अर्थ का बोधन करके अभिधा के विरत हो जाने पर और तटादि रूप (लक्ष्य) अर्थ का बोधन करके लक्षणा के विरत हो जाने पर जिस (शक्ति के द्वारा) शीतलता और पवित्रता आदि का आधिक्य प्रतीत होता है, वह लक्षणामूलक व्यञ्जना (कहाती) है।

आर्थीव्यञ्जना

इसप्रकार शाब्दी व्यञ्जना का वर्णन करके आर्थी व्यञ्जना कहते हैं:—

वक्ता, बोद्धव्य वाक्य, अन्य का सन्निधान (वक्ता और बोद्धव्य से भिन्न), वाच्य, प्रस्ताव (प्रकरण), देश, काल (वसन्तादि), काकु (स्वर विशेष) तथा चेष्टा आदि की विशेषता के कारण जो (शक्ति) भिन्न अर्थ की प्रतीति कराती है वह अर्थ से उत्पन्न होने वाली (आर्थी) व्यञ्जना (कहाती) है।

व्यञ्जनेति सम्बध्यते ।
तत्र वक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकालवैशिष्टये यथा मम—

'कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा
धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः ।
केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जु-
र्दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य ॥'

अत्रैतं देशं प्रति शीघ्रं प्रच्छन्नकामुकस्त्वया प्रेष्यतामिति सखीं प्रति कयाचिद् व्यज्यते ।
बोद्धव्यवैशिष्ट्ये यथा—

'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि ! दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥'

अर्थ—उनमें से वक्ता, वाक्य, प्रस्ताव, देश (और) काल की विशेषता के कारण (उत्पन्न आर्थी व्यञ्जना के उदाहरण में) अपना (बनाया हुआ पद्य लिखते) हैं— "काल इत्यादि—(नायिका अपनी सखी से कहती है)—वसन्तकालीन समय है और कामदेव कुपित हैं, मन्द-मन्द रति (क्रीड़ा से उत्पन्न) श्रम को हरण करने वाली वायु (बह रही है), अशोक वृक्ष के कुञ्जों से मनोहर यह क्रीड़ा वन भी है, (किन्तु) पति दूर है (अतः) आज क्या करना चाहिये (जो कुछ करना है वह मुझे) बताओ ।

इस पद्य में "इस स्थान पर तुम किसी प्रच्छन्नकामुक को शीघ्र भेजो" यह बात (व्यञ्जना के द्वारा) किसी के द्वारा व्यक्त होती है ।

अर्थ—बोद्धव्य की विशेषता में (उदाहरण देते हैं) यथा—

अवतरणिकाः—नायक को बुलाने के लिये भेजी हुई, किन्तु नायक के साथ उपभोग करने के कारण चन्दनादि के छूट जाने को स्नान के व्याज से छिपाती हुई दूती के प्रति किसी विदग्ध नायिका की कुपित उक्ति है:—

रे मिथ्यावादिनि ! ("मैंने नायक के पास जाकर बड़े प्रयत्नपूर्वक उसको तुम्हारे पास चलने के लिये मनाया परन्तु वह नहीं आया" इसप्रकार असत्य बोलने वाली) बान्धव जन की (मेरी) नहीं समझी है (स्वार्थ-साधन में तत्पर होने के कारण) विरह जनित पीड़ा को जिसने ऐसी हे दूति ! (प्रिय सखी नहीं) (यहाँ दूती कहने से इसकी प्रतारणा और मिथ्याकथन दोनों ही व्यञ्जित होते हैं) (तुम) यहाँ से (मेरे पास से) स्नान करने के लिये वापी में गई थी उस (अनेक बार अपराध करने वाले; अतएव) अधम के (दूसरे के मनःक्लेश को न समझने वाले, दूसरे को दुःख देने वाले, कार्य करने में तत्पर रहने वाले के) पास नहीं ही (पुनः) गई थी । (उसका कारण बताती है) (क्योंकि) तुम्हारे स्तन तट (उरःस्थल नहीं) सम्पूर्ण रूप से छूट गया है चन्दन जिससे ऐसे हैं (स्नान के अन्दर तो सारे शरीर का ही चन्दन छूटना चाहिये था केवल स्तन तट का नहीं) (व्यंग्य पक्ष में) (रति क्रीड़ा के अन्दर नायक के हस्तस्पर्श के मर्दन से चन्दन स्तनों से छूट गया है) (इसीप्रकार अन्य स्थलों पर भी व्यंग्यार्थ को समझना चाहिये) अधरोष्ठ (उत्तरोष्ठ नहीं) सम्पूर्ण रूप से साफ हो गया है ताम्बूल जन्य लालिमा जिनसे ऐसे हैं (क्योंकि स्नान के अन्दर अधरोष्ठ को ही ज्यादा धोया गया है)

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति विपरीतलक्षणयां लक्ष्यम्। तस्य च रन्तुमिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्यं दूतीवैशिष्ट्याद् बोध्यते।

(व्यंग्यपक्ष में)—कामशास्त्र के अनुसार अधरोष्ठ का ही चुम्बन किया जाता है, उत्तरोष्ठ का नहीं, दोनों नेत्र प्रान्तभाग में ही कज्जल से रहित हैं, (स्नान काल में नेत्रों के बन्द हो जाने के कारण आँखों के मध्यभाग में जल का स्पर्श नहीं होता है (व्यंग्यपक्ष में)—नयनों के प्रान्तभाग में ही चुम्बन का विधान है, मध्य में नहीं, अतः प्रान्त भाग में ही कज्जल छुट गया है, मध्य भाग में नहीं। यह तुम्हारा (वर्तमानकालीन) शरीर कृश है (स्नानजन्यशीत के कारण) अतएव पुलकित है (व्यंग्यपक्ष में)—रति क्रीड़ा के कारण शरीर क्षीण है, और रति क्रीड़ा के समय अनुभव किये हुये सुख की स्मृति के कारण इस समय वह पुलकित हो रहा है। (स्नान करने के कारण उत्पन्न पुलक तो पथ में आने के श्रम से ही नष्ट हो जाता)।

टिप्पणीः—(१) यह सम्पूर्ण स्नान का फल ((१) स्तनतट से चन्दन का छूट जाना (२) अधरोष्ठ को लालिमा का नष्ट हो जाना (३) नेत्रों का अञ्जन शून्य होना और (४) शरीर का पुलकित होना–पूर्णतया अभिधा के द्वारा ही प्रतिपादित होता है। किन्तु बोद्धव्य दूती की विशेषता के कारण "उसी अधम नायक के पास गई थी" यह लक्षणा के द्वारा प्रतीत होता है तथा ऊपर कहे हुए रति के ज्ञान तीन चिह्नों के नायक के पास गये बिना असम्भव होने के कारण उस उस स्थल पर लक्षणा के बिना अन्वय ज्ञान के असम्भव होने से नञ् पद के अर्थ में ही लक्षणा है और उसका अर्थ अन्य योग व्यवच्छेद है। और वह नञ् अर्थ के अभाव का प्रतियोगी सम्बन्ध है। तथा "वापी में स्नान करने के लिये गई थी" यहाँ विपरीत लक्षणा से न जाना ही प्रतीत होता है। अर्थात् तुम यहाँ से वापी में स्नान करने के लिये नहीं गई थी अपितु उस अधम नायक के पास ही गई थी—ऐसा अर्थ विपरीत लक्षणा से लक्षित होता है। "रमण करने के लिये गई थी" यह प्रयोजन व्यञ्जना से प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि–यद्यपि **"निःशेषच्युतचन्दनम्"** इत्यादि उपभोग के और स्नान के—इन दोनों के कार्य समान रूप से प्रतीत होते हैं तथापि स्नान में केवल स्तनों का चन्दन नहीं छूटता अपितु सम्पूर्ण शरीर का ही छूटता है, केवल अधरोष्ठ की ही लालिमा नहीं साफ होती अपितु दोनों ही ओष्ठों की होती है; दोनों नेत्रों के प्रान्तभाग की ही कज्जलता नहीं रहती अपितु सारे नयनों की अनञ्जनता होती है। अतः ये सब उपभोग के ही चिह्न हैं यह दूती (बोद्धव्य) के वैशिष्ट्य से व्यंग्य होते हैं।

(२) लक्षणा और व्यंजना में अन्तर—

"यत्रान्वयबोधात्प्राग्बाधावतारस्तत्र लक्षणा, यत्र तु पश्चात्तत्र व्यञ्जना।

कहा भी है—

"क्वचित् बाध्यतया ख्यातिः क्वचित् ख्यातस्य बाधनम्।
पूर्वत्र लक्षणैव स्यादन्यत्र व्यञ्जनैव तु॥

अर्थ—अत्रेति—इस पद्य में ("न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्" इस अंश से) विपरीत लक्षणा के द्वारा ("तदन्तिकमेव गताऽसि") उसी के पास गई थी—इसप्रकार का (अर्थ) लक्षित होता है। और उसके पास) "रन्तुम्" (रमण करने के लिये) यह प्रतिपाद्य व्यंग्य दूती के वैशिष्ट्य से ज्ञात होता है।

अन्यसंनिधिवैशिष्ट्ये यथा—

'उअ णिच्चल णिप्फन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ सङ्खसुत्ति व्व ॥'

**[पश्य निश्चल निष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव ॥]**

अत्र बलाकाया निष्पन्दत्वेन विश्वस्तत्वम्, तेनास्य देशस्य विजनत्वम्, अतः संकेतस्थानमेतदिति कयापि संनिहितं प्रच्छन्नकामुकं प्रत्युच्यते। अत्रैव स्थाननिर्जनत्वरूपं व्यङ्ग्यार्थवैशिष्ट्यं प्रयोजनम् ।

'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' इत्युक्तप्रकारायाः काकोर्भेदा आकरेभ्यो ज्ञातव्याः । एतद्वैशिष्ट्ये यथा—

'गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।
अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ ॥'

अत्र नैष्यति, अपि तर्हि एष्यत्येवेति काक्वा व्यज्यते ।

अर्थ- -अन्य सन्निधि की विशेषता में (व्यग्यार्थ व्यञ्जना का उदाहरण) देते हैं—यथा—

अवतरणिका:—निर्जन वनकुञ्ज में सरोवर के किनारे अपने पास में स्थित, निश्चेष्ट प्रियतम से नायिका की उक्ति है—

अर्थ—हे निश्चल ! (चलने में असमर्थ, संकेत स्थल की ओर जाने में निरुत्साही), स्वच्छ मरकत मणि के पात्र में स्थित शङ्खशक्ति की तरह कमलिनी के पत्ते पर (बैठी हुई) बगुली निस्पन्द शोभित हो रही है (इसको) देख ।

इस (उदाहरण) में बलाका के निःस्पन्द होने के कारण विश्वस्तता (सूचित होती है), (वलाका के निःशङ्क होकर बैठने के कारण) इस स्थान की विजनता (सूचित होती है), अतः (विजनता के कारण) यह संकेत स्थान है, यह (बात) किसी के द्वारा पास में बैठे हुये प्रच्छन्न कामुक से (व्यञ्जना के द्वारा) कही जा रही है । अत्रैवेति— इसी उदाहरण में ही स्थान के निर्जनत्वरूप व्यंग्यार्थ की विशेषता प्रयोजन है । अर्थात् यह स्थान सर्वथा विश्वसनीय है, मनुष्यों के आवागमन से शून्य है—निर्जन है, यह व्यंग्य अर्थ प्रयोजन है ।

(काकु का लक्षण) "विद्वानों से भिन्न (शोक-हर्षादि से विकृतीकृत) कण्ठध्वनि को "काकु" कहते हैं" इसप्रकार उक्तप्रकार वाली "काकु" के भेद आकर से (भरतादि के ग्रन्थों से) जानने चाहिये ।

इसकी (काकु की) विशेषता का (उदाहरण देते हैं) यथा—

अर्थ—हे सखि ! वह (मेरा पति) पिता (आदि) के आधीन होने के कारण अत्यन्त दूर देश में जाने के लिये उद्यत (है) (अतः अवश्य जावेगा ही) (किन्तु) भ्रमर समुदाय और कोकिलों से सुन्दर वसन्त समय में नहीं आयेगा ?

अत्रेति—इस (उदाहरण में) "नैष्यति"="नहीं आयेगा क्या ? अपितु 'एष्यत्येव"—आयेगा ही, यह अर्थ काकु के द्वारा व्यक्त होता है ।

चेष्टावैशिष्ट्ये यथा—

'संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥'

अत्र संध्या संकेतकाल इति पद्मनिमीलनादिचेष्टया कयाचिद्द्योत्यते। एवं वक्त्रादीनां व्यस्तसमस्तानां वैशिष्ट्ये बोद्धव्यम्।

त्रैविध्यादियमर्थानां प्रत्येकं त्रिविधा मता॥१७॥

अर्थानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वेन त्रिरूपतया सर्वा अप्यनन्तरोक्ता व्यञ्जनास्त्रिविधाः। तत्र वाच्यार्थस्यव्यञ्जना यथा-'कालो मधुः-' इत्यादि। लक्ष्यार्थस्य यथा—'निःशेषच्युतचन्दनम्'-इत्यादि। व्यङ्ग्यार्थस्य यथा—'उअ णिच्चल-' इत्यादि। प्रकृतिप्रत्ययादिव्यञ्जकत्वं तु प्रपञ्चयिष्यते।

**शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।
एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता॥१८॥**

अर्थ—चेष्टावैशिष्ट्य में (उदाहरण देते हैं) यथा—

संकेतकाल को जानने में है मन जिसका ऐसे विट को (उपपति को) जानकर चतुरा (नायिका) ने विकसित नेत्रों के द्वारा अवगत कर दिया है अभिप्राय जिसमें ऐसे क्रीड़ाकमल को बन्द कर दिया।

अत्रेति—इस (उदाहृत पद्य) में किसी (कामिनी) के द्वारा कमल बन्द करने की चेष्टा से सायंकाल (जब कमल बन्द होते है) संकेत का (प्रिय के साथ मिलने योग्य गुप्त स्थान का) समय है, यह (बात) सूचित होती है। एवमिति—इसीप्रकार वक्ता आदियों के (वक्ता, बोद्धव्य और वाक्यादियों के) पृथक्-पृथक् और सम्मिलित वैशिष्ट्य में (उदाहरण) जानने चाहिये।

यह (आर्थी व्यञ्जना) अर्थों के (वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य) तीन प्रकार के होने के कारण प्रत्येक तीन प्रकार की (वाच्य व्यञ्जना, लक्ष्य व्यञ्जना और व्यंग्य व्यञ्जना) कही गई है। अर्थानामिति—अर्थों के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य रूप से तीन प्रकार के होने के कारण सभी बाद में कही हुई (आर्थी) व्यञ्जनायें तीन प्रकार की होती हैं। उनमें से वाच्यार्थ की व्यञ्जना (का उदाहरण) है, यथा—"कालो मधुः" इत्यादि। लक्ष्यार्थ का (उदाहरण) है, यथा—"निःशेषच्युतचन्दनम्" इत्यादि। व्यंग्यार्थ का (उदाहरण) है यथा—"उअ णिच्चल" (पश्य निश्चल) इत्यादि। प्रकृति, प्रत्यय आदि की व्यंजकता का (आगे चलकर) विस्तार किया जावेगा, (चतुर्थ परिच्छेद में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के उदाहरण में प्रदर्शित करेंगे)।
होती है)।

अवतरणिका—शाब्दी व्यञ्जना के अन्दर अर्थ की और आर्थी व्यञ्जना के अन्दर शब्द की उपयोगिता विद्यमान ही है, अतः पुनः इन दोनों के अन्दर (शाब्दी और आर्थी के अन्दर) भेद का क्या कारण है? ऐसी आशंका उठाता है कि—शब्देति—

अर्थ —अर्थ शब्द से प्रतिपाद्य होकर ही (दूसरे अर्थ को व्यञ्जना के द्वारा) बोधित करता है (और) शब्द भी अन्य अर्थ का आश्रय लेकर ही (अर्थात् अन्यार्थ का उपस्थापक होकर) (व्यञ्जक होता है), (इसप्रकार अनुपपत्ति दिखाने के बाद उपपत्ति दिखाते हैं)। एकस्येति—अतः एक के (शब्द और अर्थ में से किसी एक के) व्यञ्जक होने पर दूसरे की सहकारिता (होती) है अर्थात् अप्रधान कारण होता है। (अप्रधानत्वं च व्यवहितोपकारित्वेन–और अप्रधानता उसे कहते हैं जहाँ उपकारिता व्यवहित होती है)।

यतः शब्दो व्यञ्जकत्वेऽप्यर्थान्तरमपेक्षते, अर्थोऽपि शब्दम्, तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सहकारिताऽवश्यमङ्गीकर्तव्या ।

शंका—नाटकादि के अन्दर वेश्या के अभिनयादि के अन्दर भी व्यञ्जकता सम्भव होती है—अतः (शब्द और अर्थ सम्बन्धी) जो दो प्रकार की व्यञ्जकता कही है वह कैसे यहाँ पर घटित हो सकेगी ? (समाधान) नहीं, ऐसी बात नहीं है क्योंकि वेश्या के अभिनय के अन्दर भी शब्दोपस्थिति के कारण ही अर्थ की व्यञ्जकता होती है । और वेश्या के अभिनय के अन्दर तो चेष्टादि की वैशिष्ट्य रूप सहकारिता की उपलब्धि होने के कारण । वहाँ शब्द के होने पर भी वेश्या के अभिनय के देखने की प्रधानता के कारण ही दृश्य का व्यवहार होता है । इसीलिये कहा है—

श्रवणैःपेयमनेकैर्दृश्यं दीर्घैश्च लोचनैर्बहुभिः ।
भवदर्थमिव निबद्धं नाट्यं सीता स्वयंवरणम् ।।इति।।

अर्थ—क्योंकि शब्द व्यञ्जक होने पर अर्थान्तर की अपेक्षा (व्यञ्जन में) करता है (और) अर्थ भी (व्यञ्जक होने पर) शब्द की (अपेक्षा करता है) । अतः एक के व्यञ्जक होने पर दूसरे की सहकारिता (अप्रधान कारणता) अवश्य स्वीकार करनी चाहिये ।

टिप्पणी—अर्थ की त्रिविधता के कारण व्यञ्जकता भी तीन प्रकारकी होती है । क्रम से उदाहरण—यथा—

(१) "माए घरोब अरणं अज्जु हु ण त्थित्ति साहिअं तुम ए ।
ता मण किं करणिज्जं एमे अ ण वासरो ढाइ" ।।१।।
"मातर्गृहोपकरणमद्य हि नास्तीति साधितं त्वया ।
तद्भूण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी ।।") इति संस्कृतम् ।

इस पद्य का वाच्यार्थ है कि "आज कुछ काम करने के लिये शेष नहीं रहा है अतः मुझे बाहर जाने की अनुमति दे दीजिये" ऐसा किसी कामुक नायिका का अभिप्राय व्यक्त होता है ।

(२) "सांहेंति सहि ? सुहणं खणे खणे दूणि आसि मज्झ कए ।
सब्भावसिणेहकरणिज्जसरिसअं दाव बिरइअं तुमए" । २।।
"साधयन्ती सखि । सुभगं क्षणे क्षणे दुनोषि मम कृते ।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशं तावद् विरचितं त्वया ।") इति संस्कृतम् ।

यहाँ "मेरे प्रिय के साथ रमण करती हुई तुमने मेरे साथ शत्रुता का आचरण किया है"—यह लक्ष्यार्थ व्यक्त होता है, (और) "तुम्हारे साथ जिसने रमण किया है वही दुर्जन है"—यह व्यञ्जित होता है ।

(३) उअ णिच्चल ! णिप्पंदा मिसिणीपत्तम्मि रेहइ वलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखमुत्ति व्व ।।३।।–
[पश्य निश्चल ! निष्पन्दा विसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ।।] इति संस्कृतम् ।

अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात्त्रिविधो मतः ।
शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा ।।१६।।

अभिधोपाधिको वाचकः। लक्षणोपाधिको लक्षकः। व्यञ्जनोपाधिको व्यञ्जकः।

किञ्च—

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे ।।२०।।

अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरामाद्वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः। तदर्थश्च तात्पर्यार्थः तद्बोधकं च वाक्यमित्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।

इति साहित्यदर्पणे वाक्यस्वरूपनिरूपणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ।

अत्र मूलकारिकाः = २० । पूर्वाभिः सह २३ ।

उदाहरणश्लोकाः = ६ । पूर्वैः सह १८ ।

यहाँ पर व्यंग्यार्थ व्यञ्जक है यह पहले ही दिखाया जा चुका है। इसीप्रकार शब्द की भी त्रिविधता के कारण व्यञ्जकता तीन प्रकार की है। उनमें से वाचक की व्यञ्जकता का उदाहरण है—यथा—**"दुर्गालंघितविग्रहः" इत्यादौ**, "लाक्षणिक की व्यञ्जकता का उदाहरण है—यथा—**"उपकृतं बहु"—इत्यादौ**, व्यञ्जक की व्यञ्जकता का चतुर्थ परिच्छेद में वर्णन करेंगे।

अवतरणिका—अभिधा, या लक्षणा और व्यञ्जना इन तीन व्यापारों का निरूपण करके उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द की भी **त्रिविधता** का वर्णन करते हैं—

अर्थ—शब्द भी अभिधा आदि तीन (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना) उपाधि की (व्यापार विशेष की) विशिष्टता के कारण वाचक, लक्षक और व्यञ्जक (तीन भेदों में विभक्त) होता है। अभिधा शक्ति जिसका व्यापार है वह वाचक, लक्षणोपाधिक लक्षक और व्यञ्जनोपाधक व्यञ्जक (कहलाता) है।

अवतरणिका—अभिधा या लक्षणा के द्वारा शब्दों से उपस्थित किये जाने वाले प्रत्येक पद के अर्थों का सम्बन्ध वाक्य से प्रतीत होता हुआ **"तात्पर्य नामक वृत्ति"** की अपेक्षा करता है—अर्थात् अभिधा या लक्षणा के द्वारा जिन शब्दों से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह वाक्य के द्वारा होती है और इस वाक्य के द्वारा अर्थ की प्रतीति कराने के लिये "तात्पर्य नामक वृत्ति" आवश्यक है। ऐसा प्राचीन नैयायिकों का मत है। अतः उनसे सम्मत **"तात्पर्य नामक वृत्ति"** का वर्णन करते हैं—**तात्पर्याख्यामिति—**

अर्थ—कुछ लोग (कुमारभट्ट प्रभृति मीमांसाचार्य और प्राचीन नैयायिक) पदों के अर्थों के अन्वय का ज्ञान कराने में (अर्थात् पद के अर्थ का ज्ञान कराने में) तात्पर्य नामक वृत्ति को (व्यापार को) स्वीकार करते हैं। (तथा) उस तात्पर्यवृत्ति के प्रतिपाद्य अर्थ को तात्पर्यार्थ, तथा वाक्य को ही उस तात्पर्यार्थ का बोधक (उपस्थापक) कहते हैं।

टिप्पणी—(१) "आहुः" का प्रयोग दूसरे मत की सूचना देने के लिये है।

(२) नव्य नैयायिक इसीको (तात्पर्य नामक वृत्ति को) "संसर्गमर्यादा" कहते हैं।

अर्थ—अभिधा शक्ति के (लक्षणा शक्ति का भी उपलक्षण है) एक एक पद के अर्थ का बोधन करने के उपरान्त विरत हो जाने पर वाक्यार्थ रूप पद के अर्थ के अन्वय का बोध कराने वाली तात्पर्य नाम वाली वृत्ति है। इस (वृत्ति) का (प्रतिपाद्य) अर्थ ही "तात्पर्यार्थ" है, (और) उसका (तात्पर्यार्थ का) ज्ञान कराने वाला "वाक्य" है; इसप्रकार का "अभिहितान्वयवादियों का" मत है। [(अन्विताभिधानवादी मीमांसकों का मत है कि "क्रिया और कारक का पहले से ही अन्वय बोध होता है, उसके बाद शक्तिग्रह होता है, और पद विशेष के समुच्चय से पुनः विशेष स्मृति होती है, अतः तात्पर्य नामक दूसरी वृत्ति को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।)]।

टिप्पणी—(१) **अभिहितान्वयवादिनः**—अभिहितानां स्वस्ववृत्या पदैरुपस्थितानामन्वय इति ये वदन्ति तेऽभिहितान्वयवादिन इत्यन्वर्थमभिधानम्। अभिहित—अभिधा से उपस्थित अर्थों का अन्वय (सम्बन्ध) मानने वाले "अभिहितान्वयवादी" कहलाते हैं।

(२) अन्विताभिधानवादिनः—पदान्यन्वितानि भूत्वानन्तरं विशिष्टमर्थं बोधयन्तीति ये वदन्ति तेऽन्विताभिधानवादिन इत्यन्वर्थं नाम॥ सब पदों से अन्वित अर्थ का ही अभिधान मानने वाले "अन्विताभिधानवादी" कहलाते हैं।

इति द्वितीयः परिच्छेदः

तृतीयः परिच्छेदः

अथ कोऽयं रस इत्युच्यते—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ॥१॥

विभावादयो वक्ष्यन्ते। सात्त्विकाश्चानुभावरूपत्वान्न पृथगुक्ताः। व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते।

प्रवतरणिका—प्रथम परिच्छेद के अन्दर काव्य का लक्षण "**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**" किया है। इस लक्षण के क्रम में से "**वाक्यम्**" का निरूपण "द्वितीय परिच्छेद" में किया जा चुका है। सम्प्रति प्रसंगानुकूल प्राप्त "रस" का निरूपण करते हैं—

अर्थ—इसके बाद (वाक्य के निरूपण के अनन्तर) यह (काव्य लक्षण में निविष्ट) रस क्या वस्तु है? इसका निरूपण करते हैं,—

विभाव (आलम्बन—स्थायीभाव को जागृत करने के मुख्य कारण, शृंगार के सम्बन्ध में नायक-नायिका, रौद्र के सम्बन्ध में शत्रु तथा उद्दीपन अर्थात् सहायक कारण जो उस भाव को उद्दीप्त रखें, जैसे शृंगार में चाँदनी, गीतवाद्य और आलम्बन की चेष्टायें), अनुभाव (भावों के बाह्यव्यञ्जक, जैसे क्रोध में मुख का लाल हो जाना, ये कार्यरूप होते हैं), तथा सञ्चारी (स्थायीभावों को पुष्ट करने वाले, जैसे, करुणा में दैन्य) (भावों) के द्वारा अभिव्यक्त होकर रत्यादि (रति, हास आदि) स्थायीभाव सामाजिकों के (हृदय में) रसता को (रसस्वरूप को) प्राप्त होते हैं अर्थात् रस रूप से परिणति को प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी—काव्यादि के सुनने से अथवा नाटक के देखने से आलम्बन और उद्दीपन विभावों, भ्रूविक्षेप, कटाक्षादि अनुभावों और निर्वेद, ग्लानि आदि तेतीस संचारीभावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर सहृदय सामाजिकों के हृदय में स्थित, वासना-स्वरूप रति, हास, शोकादि स्थायीभाव शृंगार, हास्य और करुण आदि रसों के रूप में परिणत हो जाते हैं।

अर्थ—विभावेति—विभावादि (**विभाव, अनुभाव और संचारी**) का (**आगे चलकर**) वर्णन करेंगे। सात्विकेति—(**यद्यपि** "विभावा अनुभावाश्च सात्विका व्यभिचारिणः" **इत्यादि प्राचीन कारिकाओं के अन्दर सात्त्विकों की भी रस घटकता निरूपित की है तथापि**) सात्विकों के (**स्तम्भ, स्वेदादि सात्त्विकों के**) अनुभावरूप होने के कारण (**अर्थात् सात्त्विकों की गणना अनुभावों के अन्तर्गत है**) (**अतः**) (**उनका**) पृथक् निर्देश नहीं किया है। व्यक्त इति—(**उक्त कारिका में आये हुये "व्यक्तः" पद का अर्थ है**) दध्यादिन्याय से (**यहाँ "आदि" पद से प्रपाणकादि रसों का भी ग्रहण होता है**) दूसरे रूप में परिणत (**होकर**) व्यक्त होने वाला ही रस है (**जिसप्रकार दुग्ध अम्ल (खट्टे पदार्थ के) आदि के योग से दूसरे रूप में परिणत हुआ "दही" कहलाता है, या जिसप्रकार आमिक्षा, कर्पूर और मरिच आदि के संयोग से दूसरे रूप में परिणत होकर "प्रपाणक" कहलाता है, उसीप्रकार रति आदि स्थायीभाव काव्य में उपस्थित विभा-**

तदुक्तं लोचनकारैः—'रसाः प्रतीयन्त इति त्वोदनं पचतीतिवद् व्यवहारः' इति। अत्र च रत्यादिपदोपादानादेव प्राप्ते स्थायित्वे पुनः स्थायिपदोपादानं रत्यादीनामपि रसान्तरेष्वस्थायित्वप्रतिपादनार्थम्। ततश्च हासक्रोधादयः शृङ्गारवीरदौ व्यभिचारिण एव। तदुक्तम्—

'रसावस्थः परम्भावः स्थायितां प्रतिपद्यते' इति।

वादिकों के योग से दूसरे रूप में परिणत हुये चिदानन्द स्वरूप रस को प्राप्त होते हैं, ऐसा परिणामवादियों का मत है। क्योंकि "सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितो रत्यादिर्भावः" इति। जो रति आदि स्थायीभाव को सामाजिकों के हृदय में वासना-रूप से विद्यमान नहीं मानते हैं उनके मत में "व्यक्तीकृत एव रसः"—का अर्थ होगा "ज्ञान की विषयता को प्राप्त हुआ ही रत्यादिभाव रस कहलाता है, अन्य अवस्था में नहीं। अर्थात् इनके मतानुसार रस अभिव्यक्त न होकर ज्ञान का विषय हुआ करता है। "एव" इस पद से वस्तुसत्वव्यवच्छेदः = रस की अवस्थिति का निषेध किया गया है क्योंकि चिर-काल से विनष्ट हुये पदार्थ की भी ज्ञान विषयता सम्भव हो सकती है अर्थात् विनष्ट हुई वस्तु की भी ज्ञान प्रतीति सम्भव है। (रस की पूर्वसिद्धता भी नहीं है क्योंकि) नत्विति—जिसप्रकार दीपक पहले विद्यमान घटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसप्रकार से विभावादि रस को अभिव्यक्त नहीं करते हैं। तदुक्तमिति—यही बात लोचनकार (ध्वन्यालोक के टीकाकार श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य) ने भी कही है कि—"रसाः प्रतीयन्ते इति,—रस प्रतीत होते हैं यह (व्यवहार तो ("ओदनं पचति" = भात पकाते हैं—के समान व्यवहार किया जाता है। (यहाँ पर भात को पकाते नहीं हैं, पकाते तो चावलों को ही हैं क्योंकि पक जाने के बाद ही चावलों की भात संज्ञा होती है परन्तु पुनरपि "ओदनं पचति" = भात पकाते हैं—यह जिसप्रकार व्यवहार किया जाता है उसीप्रकार "रसाः प्रतीयन्ते"—रस प्रतीत होते हैं यह भी व्यवहार किया जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार पाक के सम्बन्ध से चावल भातत्वेन व्यवहार किये जाते हैं उसीप्रकार प्रतीति के सम्बन्ध से ही रस रूप को प्राप्त सामाजिकों की वासना "रसत्वेन" व्यवहृत होती है। यद्यपि रति आदिओं की नायक आदिओं में अव-स्थिति होने के कारण पूर्व विद्यमानता है ही तथापि सामाजिकों के हृदयों में उनकी अवस्थिति होने के कारण प्रतीति से पूर्व यहाँ पर उनकी अविद्यमानता ही कही गई है। जिसप्रकार पकने से पूर्व चावलों की "भात" संज्ञा नहीं होती है, उसीप्रकार रति आदि की प्रतीति से पूर्व रस संज्ञा नहीं होती है। तथा रस की अवस्थिति सामाजिकों के अन्दर है और वह (रस) काव्यार्थ की भावना से उत्पन्न होकर उस क्षण सहृदयों को अनुभव होता है, अतः रस की पूर्व विद्यमानता को स्वीकार नहीं करना चाहिये। रस में घटादि की अपेक्षा इतनी और विशेषता है कि वह प्रतीति काल में ही रहता है। घटादि की भाँति प्रतीति के अनन्तर अवस्थित नहीं रहता)। अत्र चेति—इसमें (रस लक्षण में) रति आदि पद के उपादान से ही (केवल नाममात्र कथन से) स्थायित्व प्राप्त होने पर (क्योंकि रति आदिक स्थायीभाव ही है, कुछ और नहीं है, अतः केवल

नाम कथन से ही स्थायिता की प्रतीति हो सकती थी) पुनः स्थायी पद का उपादान करना (यह सूचित करना है कि) रति आदिओं का भी दूसरे रसों में अस्थायित्व (सञ्चारी भाव) के प्रतिपादन के लिये है। (**अर्थात् रति आदि, एक रस में (जो स्थायी हैं वे ही दूसरे रस में जाकर अस्थायी हो जाते हैं**।) परिणामतः हास, क्रोध (आदि **जो हास्य और रौद्रादि रसों में स्थायीभाव हैं**) शृंगार और वीरादि रसों में व्यभिचारीभाव ही हैं। तदुक्तम्—यही कहा भी है—

रसावस्थ इति—(**यहाँ "परम्" अव्यय "एव" अर्थ में आया है**) रस है अवस्था (स्वरूप) जिसकी ऐसा अर्थात् रस की पदवी को प्राप्त हुआ (रत्यादि) भाव ही स्थायीभाव को) व्यभिचारी नहीं) प्राप्त होता है, इति।

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र के प्रणेता ख्यातनामा भरतमुनि रस सिद्धान्त के मूल-प्रर्वतक हैं। उनका मूल सूत्र है—"**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**"—अर्थात् विभाव (नायक, नायिका आदि आलम्बनविभाव और वीणवाद्य, चन्द्र-ज्योत्स्ना, मलय-समीर आदि उद्दीपनविभाव) अनुभाव (अश्रु, स्वेद, कम्पादि भाव सूचक शारीरिक विकार और चेष्टायें) व्यभिचारी भाव (हर्ष, मद, उत्कण्ठा, असूयादि स्थायीभाव के सहचारी भाव) के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इसमें "**संयोग**" **और** "**निष्पत्ति**" से भरतमुनि का क्या तात्पर्य है, यह ठीक ठीक निश्चितरूपेण विदित नहीं होता। अतः इस मूल सूत्र की अपनी अपनी प्रतिभा के उन्मेष से व्याख्या करने वाले विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। उनमें से प्रमुख चार आचार्यों ने [(१) **भट्टलोल्लट**, (२) **श्री शंकुक** (३) **भट्टनायक** (४) **अभिनवगुप्ताचार्य**] क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य और अलंकार शास्त्र को आधार मानकर व्याख्या की है। अतः इन मतों के प्रकृतोपयोगी होने के कारण, विवेचन किया जाता है। उनमें से मीमांसक "भट्टलोल्लट" के मत से भरतमुनि के "**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**" इस सूत्र की यह व्याख्या है—

(१) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद—"स्थायिनां विभावेनोत्पाद्योत्पादक भावरूपादनुभावेन गम्यगमकभावरूपाद् व्यभिचारिणा पोष्यपोषणभावरुपात् सम्बन्धात् रसस्य निष्पत्तिरुत्पत्तिरभ्यक्तिः पुष्टिश्चेत्यर्थः। तथाहि—ललनादिभिरालम्बनविभावैः स्थायी रत्यादिको जनितः उद्यानादिभिरुद्दीपनविभावैरुद्दीपितः कटाक्ष-भुजक्षेपादिभिरनुभावैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिरुत्कण्ठादिभिः परिपोषितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तत्रूपतानुसंधानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः" इति "भट्टलोल्लटप्रभृतयः॥

व्याख्या—(रत्यादि) स्थायीभावों के विभाव से उत्पाद्य-उत्पादक (जन्य-जनक भावरूप; अनुभाव से गम्य-गमक (बोध्य-बोधक) भावरूप; व्यभिचारीभाव से पोष्य पोषक भावरूप संसर्ग के सम्बन्ध से रस की (शृंगारादि) निष्पत्ति (उत्पत्ति अभिव्यक्ति और पुष्टि) होती है। तथाहि—ललनादिक आलम्बनविभावों से रत्यादि स्थायीभाव उत्पन्न होकर, उद्यानादि उद्दीपनविभावों से उद्दीपित, कटाक्षभुजक्षेपणादि अनुभावों से आस्वाद के योग्य किये गये, तथा उत्कण्ठादि व्यभिचारी भाव से

परिपुष्ट साक्षात् सम्बन्ध से अनुकार्य रामादि के अन्दर नाट्य के द्वारा **अभिनेय** नायक में (विद्यमान भी) राम की तरह तुल्यरूप होने के कारण नर्तक में आरोपित किया जाता हुआ रस सामाजिकों के चित्त को चमत्कृत करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार सर्प के अभाव में भी सर्परूप से देखी हुई रज्जु से भी भय उत्पन्न होता है, उसीप्रकार सीतादि विषयक अनुरागरूप रामादि की रति विद्यमान न होती हुई भी नट के अन्दर अभिनय की निपुणता के कारण उसमें (नट में) वास्तविक रूप से विद्यमान सी प्रतीत होती हुई सहृदयों के हृदय में चमत्कार को उत्पन्न करती हुई ही रस की पदवी को प्राप्त करती है। रस वस्तुतः राम के अन्दर है और सहृदय सामाजिक नाट्यकला की निपुणता के कारण नट में राम का आरोप कर लेते हैं, वह यह आरोप ही चमत्कार का हेतु होता है।

सारांश—(१) इस मत के अनुसार "**संयोगात्**" का अर्थ "**सम्बन्ध**" है और "**निष्पत्तिः**" का अर्थ "**उत्पत्ति, अभिव्यक्ति या पुष्टि**" है।

(२) इस मत के अनुसार "**रस**" न तो नट में रहता है और न सामाजिकों के अन्दर रहता है अपितु अनुकार्य रामादि के अन्दर रहता है। नट की अभिनेय कुशलता के कारण तथा रूप की समानता के कारण उसमें भी रस की प्रतीति का आरोप कर लिया जाता है और इस आरोप से ही सामाजिक चमत्कृत होकर आनन्दित होता है।

(३) विभाव के द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है अतः रस और विभाव में उत्पाद्य और उत्पादकभाव सम्बन्ध है। अनुभावों के द्वारा रस प्रतीति गम्य होता है, अतः रस और अनुभव के साथ सम्बन्ध गम्य-गमक भाव होता है। संचारीभाव अपनी सत्ता से रस की पुष्टि करते हैं, अतः रस के साथ उनका पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध है।

(४) सामाजिकों के अन्दर रस की अवस्थिति नहीं है।

(५) यह मत मीमांसाशास्त्र के अनुसार है क्योंकि वे स्वयं मीमांसक थे।

खण्डन—यह मत ग्राह्य नहीं है क्योंकि—

(१) इस मत के अनुसार वास्तविक रस तो रामादि में है और उसी का आरोप नर्तक में कर लेने से नर्तक में आरोपित रस है, सामाजिकों के अन्दर वास्तविक या आरोपित किसीप्रकार का रस नहीं है। रस का अभाव होने के कारण सामाजिक केवल ज्ञानमात्र से चमत्कृत होकर किसप्रकार आनन्दित होंगे? क्योंकि जिस भाव का प्रेक्षक या पाठक को स्वयं अनुभव नहीं हो उससे वह आनन्द उठा सके यह सम्भव नहीं। केवल शब्द के द्वारा उसके (रस) ज्ञानमात्र से ही आनन्द की उत्पत्ति मानें तो लौकिक शृंगारादि के देखने से भी चमत्कृति उत्पन्न होनी चाहिये, किन्तु वह होती नहीं। और अनुभव युक्त दर्शन से आनन्द की उत्पत्ति मानने पर चन्दन के आलेपमात्र से सुख नहीं होना चाहिये, किन्तु सुख होता अवश्य है।

(२) इस मत में विभाव कारण है और रस कार्य। कारण और कार्य का पूर्वापर सम्बन्ध रहता है किन्तु इसके विपरीत विभावों का दर्शन और रस का आस्वादन दोनों साथ ही साथ होते हैं।

(३) रस को विभावादि का कार्य मानना भी ठीक नहीं क्योंकि कार्य कारण के अनन्तर भी अस्तित्व में रह सकता है परन्तु रस तभी तक रहता है जब तक विभावादिक का प्रत्यक्ष दर्शन होता रहता है।

(४) भावों का अनुकरण नहीं किया जा सकता। हाँ, बाह्य वेश-भूषा, क्रिया आदि का अनुकरण हो सकता है।

(२) **श्री शंकुक का अनुमितिवाद**—नैय्यायिक श्री शङ्कुक भरतसूत्र की अन्यथा प्रकारेण व्याख्या करते हुये अपने मत को प्रकट करते हैं—**"स्थायिनो विभावादिभिरुक्तरूपैः संयोगादनुभाव्यानुमापकभावरूपसम्बन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरनुमितिरित्यर्थः।**

व्याख्या—(रत्यादि) स्थायीभाव ललनारूप आलम्बन विभाव, वन में विहरण आदि उद्दीपन विभाव, कटाक्षविक्षेप आदि अनुभाव, व्यग्रता आदि संचारीभाव से अनुमाप्य और अनुमापक भाव रूप सम्बन्ध से रस की (शृंगारादि की) अनुमिति (निष्पत्ति) होती है। भाव यह है कि—सम्यक्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशयज्ञान और सादृश्यज्ञान-ये चार प्रकार के ज्ञान लोक में प्रसिद्ध हैं। इनमें से **यथार्थ विषय का ज्ञान कराने वाली सम्यक् बुद्धि** होती है। इससे उत्पन्न ज्ञान **"सम्यक् ज्ञान"** कहाता है। यथा—**राम एवायम्, अयमेव रामः" "एव"** शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है।

"अयोगमन्ययोगं च प्रत्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिन्नन्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः" इति—

जहाँ "एव" का प्रयोग विशेषणरूप में होता है वहाँ विशेष्य में विशेषण का असम्बन्ध रूप अयोग का निषेध करता है। यथा —**"राम एवायम्"**—यहाँ पर राम के विशेषण रूप से अन्वित "एव" शब्द विशेष्य अर्थ में राम के अयोग को पृथक् करके "रामत्व" का नियम करता है। और जहाँ "एव" शब्द विशेष्यरूप से अन्वित होगा वहाँ विशेष्य में विशेषणीभूत धर्म का निवारण करता है। यथा—**"अयमेव रामः"**। यहाँ राम से भिन्न राम के सम्बन्ध का निवारण करके इसमें "राम" का नियमन करता है। जहां क्रिया से अन्वित **"एव"** शब्द होगा वहाँ अत्यन्त अयोग का निषेधक होगा। यथा—**"नीलं कमलं भवत्येव"**। यहाँ न तो सभी कमल में "नीलत्व" का नियमन किया है, और न ही "अकमल" में अनीलत्व का नियमन किया है अपितु जिस किसी भी कमल में नीलत्त्व सम्बन्घ स्थापित किया है। जिस ज्ञान के विषय में बाद में चलकर बाधा उत्पन्न हो जाती है वह मिथ्याज्ञान कहलाता है; यथा—**उत्तरकालिके "न रामोऽयम्" इति बाधे "रामोऽयम्"** इति। (अर्थात् जिस राम के विषय में यह ज्ञान था कि यह राम नहीं है आगे चलकर इसी का बाध होकर यह ज्ञात हुआ कि "यही राम है" इति), जहाँ ज्ञान उभयकोटि में रहता है हुआ परस्पर विद्ध होता है वह **"संशयात्मक ज्ञान"** कहलाता है; यथा—**"अयं रामो न वा इति"**। (यह राम है या नहीं—इसप्रकार दोनों कोटि के अन्दर विद्यमान ज्ञान परस्पर विरुद्ध है), । जहाँ दोनों विषयों में **सादृश्य का ज्ञान होता है वहाँ सादृश्य ज्ञान** होता है; यथा—**"रामसदृशोऽयम्"** इति।

(यह राम के सदृश है)। इन लोक प्रसिद्ध चारों ज्ञानों के अतिरिक्त विलक्षण बुद्धि के द्वारा चित्र-तुरग न्याय से चित्र में विद्यमान घोड़े को "तुरगोऽयम्"—"यह घोड़ा है", इस व्यवहार की तरह "रामोऽयम्"—यह राम है, इसप्रकार की बुद्धि सर्वप्रथम उसी अभिनेता नट को पक्षत्वेन अपना विषय बनाती है। [अर्थात् सामाजिक चित्र-तुरग न्याय से (चित्र के घोड़े की भांति जो कागज का होता हुआ भी घोड़ा कहा जाता है और घोड़ा न होते हुये भी उसके घोड़ेपन से मना नहीं किया जा सकता है) नट को रामादि मानने लगते हैं। उनकी यह प्रतीति विलक्षण होती है। न तो यह राम को राम कहने का सम्यक् ज्ञान है, न यह राम को राम न समझकर अन्यथा समझने का सा मिथ्या ज्ञान है; न "यह राम है अथवा राम नहीं' का सा संशयज्ञान है और न यह "राम का सा है", ऐसा सदृशज्ञान है] तदनन्तर उसमें (नट में) अविद्यमान भी विभाव, अनुभाव और संचारी भाव-इन तीन लिङ्गों का ज्ञान होता है क्योंकि पहले ही रोमाञ्चादि के आविर्भाव के विषय में गुरु शिक्षा को पाकर तदनन्तर पूर्ण अभ्यास किये हुये नट के द्वारा—

"सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता॥
दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम्॥"

इत्यादि सुन्दर काव्य के अनुसन्धान के बल से आलम्बन और उद्दीपन विभाव की अभिव्यक्ति के द्वारा तदनुरूप रोमाऽञ्चदि दर्शनीय अनुभाव के आविर्भाव से, व्यञ्जनीय उत्कण्ठादि व्यभिचारी भाव के प्रकाशन के द्वारा कृत्रिम होते हुये भी उन विभावादि से उस अभिनेता (नट) में ही स्थायी रति का अनुमान सामाजिकों के द्वारा किया जाता है। इसप्रकार की अनुमिति के द्वारा अनुमित रत्यादि रस पदवी को प्राप्त करते हैं। और उसप्रकार की अनुमिति क्योंकि सामाजिकों को होती है अतः उन्हीं के अन्दर रस का व्यवहार किया जाता है। (सामाजिकों के द्वारा किया गया अनुमान ही रस हैं) इसप्रकार रति का अनुमान ही रसनिष्पत्ति है।

सारांश—(१) जिसप्रकार अत्यन्त कुहरे से व्याप्त स्थान पर अविद्यमान भी धुयें के अभिमान के कारण अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है। उसीप्रकार नट के द्वारा ही "**ममैवंते विभावाद्याः**" ये मेरे ही विभाव आदि हैं"—इसप्रकार बड़ी निपुणता के साथ प्रकट किये गये और वहाँ पर अविद्यमान भी विभावादियों से नियत रति का अनुमान कर लिया जाता है। तथा अपने सौन्दर्यबल से सामाजिकों के द्वारा आस्वादन की जाती हुई चमत्कार को धारण करती हुई रति रसता को प्राप्त होती है। इसप्रकार रति की अनुमिति ही रस की निष्पत्ति है।

(२) श्री शङ्कुक नैय्यायिक है, अतः उन्होंने भरतसूत्र के "**संयोगात्**" शब्द का अर्थ किया है "**अनुमानात्**" एवं "**निष्पत्तिः**" का अर्थ किया है "**अनुमितिः**"।

(३) इस मतानुसार अनुकरण के बल पर चित्र-तुरग न्याय के अनुसार नट में रस का अनुमान किया जाता है तथा अनुमानकर्ता दर्शक को भी उससे आनन्द मिलता है। इस अनुमान का नाम ही रस है।

(४) इस मत के अनुसार विभाव अनुमापक और रस अनुमाप्य है। यही क्रमशः गमक और गम्य हैं।

(५) रामादि के विभावादिकों का नट अपनी शिक्षा और कार्यपटुता से इस प्रकार अभिनय करता है कि वे विभावादि नट के ही मालूम होते हैं। इसप्रकार अनुकर्ता नट में रस होता है। सामाजिक रस का अनुमान कर लेते हैं।

खण्डनः—यह मत भी हृदयग्राही नहीं हुआ क्योंकिः—(१) इस मत के अन्दर लोक प्रसिद्ध तथ्य की अवहेलना की गई है कि प्रत्यक्ष ज्ञान से जो चमत्कार पूर्ण आनन्द की उपलब्धि हो सकती है वह अनुमान से नहीं। यदि अनुमान ज्ञान से भी सुख की प्रतीति होने लगेगी तो सुख के स्मरण मात्र से सुख का अनुभव होना चाहिये, पर ऐसा होता नहीं। (२) अनुमान कथमपि आह्लाददायक नहीं हो सकता। (३) नट के द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के प्रदर्शन से जिस रस का अनुमान प्रेक्षक करता है वह रस तो मूलतया नट में ही रहता है। दर्शक को इस अनुमान से यत्किंचित् ही लाभ होता है परन्तु अनुमान उस कोटि का आनन्द कभी भी नहीं उत्पन्न कर सकता जिसकी रसावेश के समय संभावना मानी जाती है।

(३) **भट्टनायक का भुक्तिवादः**—सांख्यमतावलम्बी भट्टनायक ने भरतमुनि के रस सूत्र की व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। उनका कहना है कि—"अभिनेता (नट) के अन्दर विद्यमान रति का अनुमान होता है, (जैसा कि श्री शङ्कुक ने माना है) ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि उस समय रामादि तो विद्यमान हैं नहीं, अतः उनके (राम की) सम्बन्धी रति का भी अभाव होगा, और जो वास्तव में है ही नहीं उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। और यदि यह मान भी लिया जाये कि अविद्यमान भी रति का अनुमान कर लिया जा सकेगा तब भी अभिनेता (नट) के अन्दर अनुमित भी रति का सामाजिकों के हृदय में सर्वथा अभाव होने के कारण उनके चित्त के अन्दर चमत्कार की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। और न रामादि नायक के अन्दर विद्यमान रति उत्पन्न होती है (जैसा कि भट्टलोल्लट ने माना है) क्योंकि विभावादिकों के अन्दर **पारमार्थिकता** का अभाव है। और न सामाजिकों के अन्दर रस की अभिव्यक्ति होती है (जैसा कि अभिनवगुप्त ने माना है) क्योंकि जो विद्यमान है वही अभिव्यक्त हो सकता है। सामाजिकों के अन्दर रस विद्यमान नहीं है। इसके विपरीत उन्होंने इन तीनों मतों से भिन्न भरतमुनि के सूत्र की व्याख्या की है। व्याख्या इसप्रकार हैः—

"विभावादिभिः संयोगात् भोज्यभोजकभावसम्बन्धात् रसस्य निष्पत्तिर्भुक्तिरिति सूत्रार्थः।

अर्थः—विभावादियों के **संयोगात्**–भोज्यभोजकभावसम्बन्ध से रस की **निष्पत्तिः—**भुक्ति होती है। [अर्थात् इस मत के अनुसार "**संयोग**" का अर्थ है भोज्य-भोजक या भाव्य-भावक सम्बन्ध तथा "**निष्पत्ति**" का अर्थ है **भुक्ति**।]। भट्टनायक के अनुसार काव्यादि द्वारा स्थायीभाव से रस निष्पत्ति की प्रक्रिया में तीन व्यापार होते हैं:—"**अभिधायकत्वं वाच्यविषयम्**", **भावकत्वं रसादिविषयम्, भोजकत्वं सहृदय-विषयम्**"—अर्थात् अभिधा वाच्य विषयक होती है, भावकत्व रसादि विषयक और भोजकत्व सहृदय विषयक होता है। कहा भी है कि:—"**अभिधा, भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च**" **इति**। इनमें अभिधा के द्वारा काव्य के सामान्य और आलंकारिक अर्थों का ज्ञान होता है। भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि और रत्यादि स्थायी भाव साधारणीकृत किये जाते हैं। और साधारणीकरण का यह तात्पर्य है कि सीतादि विशेषों की उपस्थिति सीतात्वेन न होकर एक सामान्य कामिनी के रूप में होती है। [अर्थात् भावकत्व से विभाव अनुभाव आदि व्यक्ति सम्बन्ध से मुक्त होकर साधारण अर्थात् मनुष्यमात्र के अनुभव के योग्य बन जाते हैं। उनमें कोई विशेषता नहीं रहने पाती। सीता जनकतनया या रामकान्ता न रहकर रमणीमात्र बन जाती हैं।] भोग के व्यापार को भोजकत्व कहते हैं। काव्य के अन्दर तीनों व्यापार होते हैं परन्तु नाटक में अन्तिम दो व्यापार होते हैं। इसप्रकार काव्य और नाटक में भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकृत विभावादिकों के साथ भोजकत्व व्यापार की सहायता से साधारणीकृत रत्यादि स्थायीभाव का सामाजिकों के द्वारा उपभोग किया जाता है। इसप्रकार की रति की भुक्ति ही (अर्थात् भोग ही) रस निष्पत्ति है। और यह भोग सत्वगुण के उद्रेक के कारण प्रकाशित होता है, आनन्द स्वरूप होता है और लौकिक सुख के अनुभव से विलक्षण होता है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों के उद्रेक से क्रमशः सुख, दुःख और मोह प्रकाशित होते हैं। उद्रेक का तात्पर्य है अपने से भिन्न दो गुणों को दबाकर स्वयं स्थित रहना।

सारांशः—(१) शब्द के अभिधा व्यापार की तरह काव्य और नाट्य के अन्दर उससे (अभिधा) विलक्षण भावकत्व और भोजकत्व नामक दो पृथक् व्यापार हैं। काव्य के अर्थ बोध के अनन्तर ही भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादिरूप सीतादि, और रामादि सम्बन्धिनी रति में से सीता और राम से सम्बन्धित अंश को छोड़कर सामान्य रूप से कामिनीत्वेन और रतित्वेन उपस्थापित किये जाते हैं। अन्तिम भोजकत्व व्यापार के द्वारा उक्त रीति से साधारणीकृत विभावादि के साथ उस रति का सहृदय सामाजिकों के द्वारा आस्वादन किया जाता है (अतः रति के अविद्यमान होने पर भी उसका आस्वाद अलौकिक होने के कारण उत्पन्न होता है)। इसप्रकार रति का आस्वाद ही रसनिष्पत्ति है।

(२) भट्टनायक ने "**संयोगात्**" का अर्थ "**भोज्य-भोजक-भाव सम्बन्ध**" और "**निष्पत्ति**" का अर्थ "**भुक्ति**" किया है।

(३) इस निष्पत्ति के लिये काव्य की तीन क्रियाओं को स्वीकार किया है—**(१) अभिधा (२) भावकत्व और (३) भोजकत्व।**

(४) ये रस को न तो उत्पन्न मानते हैं, न उसकी प्रतीति (अनुमिति) स्वीकार करते हैं और न उसकी अभिव्यक्ति मानते हैं। प्रत्युत इन तीनों से विलक्षण रस की भुक्ति को स्वीकार करते हैं।

५) अभिधा के द्वारा काव्यार्थ की प्रतीति, भावकत्व के द्वारा साधारणीकरण और भोजकत्व के द्वारा भोग को माना है।

(६) इन्होंने प्रेक्षक के हृदय में रस की अवस्थिति मानी है।

खण्डन—(१) इस मत में भी दोष आ जाता है। क्योंकि व्यञ्जना शक्ति तो इस मत में भी माननी ही पड़ेगी। विना व्यञ्जना के लक्षणा के प्रयोजन का बोध नहीं हो सकता तथा श्लिष्ट पदों में एक अर्थ के बोध से अभिधा के विरत हो जाने पर पुनः दूसरे अर्थ का बोध नहीं हो सकता। अतः व्यञ्जना की आवश्यकता होती है। व्यञ्जना के स्वीकार कर लेने पर भावकत्व और भोजकत्व इन दो व्यापारों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं। व्यञ्जना द्वारा ही सारे कार्य हो जावेंगे।

(२) अभिधा व्यापार तो सर्वसम्मत है परन्तु भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना के लिये कोई आधार नहीं है।

(४) आचार्य अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—आलंकारिक अभिनवगुप्तपाद ने भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या दूसरे प्रकार से की है—

"स्थायिनां विभावादिभिः समं संयोगाद् व्यंग्यव्यञ्जकभावरूपात् सम्बन्धाद् विभावादीनां वा परस्परं संयोगान्मिलनाद्रसस्य निष्पत्तिरभिव्यक्तिः।

अर्थ—स्थायी भावों के विभावादियों के साथ **संयोगात्**-व्यंग्यव्यञ्जकभाव-रूप सम्बन्ध से अथवा विभावादियों के परस्पर मिलने से रस की **निष्पत्तिः**–अभिव्यक्ति होती है। [अर्थात् इस मत के अनुसार **"संयोग"** का अर्थ है **व्यंग्यव्यञ्जकभाव** तथा **"निष्पत्तिः"** का अर्थ है **अभिव्यक्ति।**] **तथाहि**—लोक में प्रमदा आदि आलम्बन कारणों से, चन्द्रिका आदि उद्दीपन कारणों से, अश्रुपातादि अनुभावों से, चिन्ता आदि सहकारियों से स्थायीभाव रति की अनुमिति के विषय में परिशीलन के बल से शीघ्र प्रवृत्त होने वाले सामाजिकों के वासनारूप में अन्तः विद्यमान, काव्य में और नाटक में गुण और अलंकार के योग से कायिक, वाचिक, सात्विक और आहार्यरूप अभिनय से उन्हीं कारणत्वादि नाम के परित्याग से विभावन, अनुभावन, संचारणरूप व्यापार होने के कारण अलौकिक विभाव, अनुभाव और संचारी पद से व्यवहृत होने वाले–ये मेरे हैं, ये शत्रु के हैं, ये तटस्थ के हैं, इसप्रकार सम्बन्ध विशेष को स्वीकार करने के नियम का और ये मेरे नहीं हैं, ये शत्रु के नहीं, ये तटस्थ के नहीं हैं, इसप्रकार सम्बन्ध विशेष को परिहार करने के नियम का निश्चय न होने के कारण सीतात्वादि विशेष अंश को छोड़कर

कामिनीत्व रूपेण प्रतीयमानरूप से अभिव्यक्त हुआ रत्यादि स्थायीभाव, उस उस (प्रेक्षक) का आत्मनिष्ठ होता हुआ भी विभावादि के साधारणीकरण के बल से रसानुभूति के समय विनष्ट हो गया है सीमित या संकुचित प्रमाताभाव आदि अपना धर्म जिसका ऐसे होने के कारण (अर्थात् ये मेरे भाव हैं और मैं इस रस का आस्वाद लेने वाला हूँ। इस अवस्था में ज्ञाता होने का भाव जाता रहता है) उस समय उत्पन्न होने वाले अन्य ज्ञान के सम्पर्क से शून्य है चित्त वृत्ति जिसकी ऐसे प्रमाता (सहृदय सामाजिक) के द्वारा सभी सहृदयों की एक सी अनुभूति कराने वाला, साधारणीकरण हो जाने के कारण अपने आकार से अभिन्न होता हुआ भी अनुभव किया जाता हुआ, चर्व्यमाणता (आस्वाद) ही है एक (अद्वितीय) प्राण जिसका ऐसा और आस्वाद के विनष्ट होने पर विनष्ट रस की प्रतीति वाला (अर्थात् आस्वाद के नष्ट होने के साथ ही रसानुभूति भी नष्ट हो जाती है।) जितने समय तक विभावादि रहते हैं उतने ही समय तक रहने वाला, अनित्य आस्वाद वाला, पानक रस न्याय से आस्वाद्यमान (जिसप्रकार इलायची, मरिच, शर्करा, कर्पूर, अम्ल आदि के संयोग से निर्मित पन्ना (पानक रस) अपनी निर्माण सामग्री से भिन्न अनिर्वचनीय आनन्द की प्रतीति कराने वाला होता है, उसीप्रकार विभावानुभाव संचारी आदि कारणों से विलक्षण अनिर्वचनीय लोकातीत आस्वादरूप रस की प्रतीति होती है।)। **पुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन, सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः" इति।** इस मत के अनुसार रस की अभिव्यक्ति का क्रम इसप्रकार है—सर्वप्रथम काव्य के पदों से उन उन अर्थों की प्रतीति होती है, उसके बाद उपस्थित विभावादि के द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है, उसके बाद गुण, अलकार और अभिनयादि के द्वारा रत्यादि वासना से युक्त सहृदय सामाजिक का उन विभावादिकों के साथ साधारणीकरण हो जाता है, और उस साधारणीकरण के द्वारा विभावादिकों से युक्त रत्यादि से अविच्छिन्न अज्ञान आवरण के हट जाने के कारण अखण्ड, चिदानन्द स्वरूप रस की प्रतीति सहृदय सामाजिक को होती है।

सारांशः—(१) इस मत के अनुसार विभावादि रस के व्यञ्जक हैं और रस व्यंग्य है, अतः विभाव आदि द्वारा स्थायीभाव की अभिव्यक्ति होती है।

(२) रति आदि स्थायीभाव सहृदय सामाजिकों के अन्तःकरण में वासना या संस्कार रूप से अव्यक्त दशा में वर्तमान रहते है।

(३) अभिनवगुप्त ने रस की अवस्थिति सामाजिकों में मानी है।

(४) इस मत में "**संयोगात्**" का अर्थ है "**व्यंग्यव्यञ्जकभाव**" और "**निष्पत्तिः**" का अर्थ है "**अभिव्यक्ति**"।

(५) स्थायीभावों की वासनारूप से स्थिति सहृदय सामाजिकों के अन्दर रहती है। ये स्थायीभाव साधारणीकरण के द्वारा उद्बुद्ध होते हैं और चित्त की एकतानता के कारण ब्रह्मानन्द सहोदर अखण्ड रस का आनन्द मिलने लग जाता है।

(५) धनञ्जय का मतः—धनञ्जय ने रस-निष्पत्ति इसप्रकार मानी हैः—

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥

दशरूपक ४। १ ॥

अर्थ—स्थायीभाव, विभाव-अनुभाव-सात्विक और व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वाद्य होकर रस बन जाता है। इनके मत के अनुसार रस सामाजिकों को ही प्राप्त होता है क्योंकि वह वर्तमान है। न वह अनुकार्यों (नायकादि) में रहता है क्योंकि वे वर्तमान नहीं रहते हैं और न वह कृति में रहता है क्योंकि उसका वह उद्देश्य नहीं है। उसका उद्देश्य तो विभावादिकों को सामने लाना है जिनके द्वारा स्थायीभाव प्रकाश में आता है। न रस द्रष्टा द्वारा अनुकर्ताओं के अनुभव की प्रतीति है। वस्तुतः दर्शक की अवस्था उस बालक के समान होती है जो मिट्टी के हाथी से खेलता हुआ अपने ही उत्साह का आनन्द लेता है। उसीप्रकार अर्जुन आदि का वर्णन पढ़कर या अभिनय देखकर पाठक या दर्शक अपने ही हृदयस्थ भावों का आनन्दास्वादन करते हैं। देखिये—

क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वत् श्रोतॄणामर्जुनादिभिः॥ , दशरूपक ४।४४॥

धनञ्जय ने नट में भी आनन्द माना है जिसे अभिनवगुप्त ने नहीं माना है।

संक्षेप में रस की व्याख्या—स्थायीभाव, जब विभाव, अनुभाव और संचारी-भावों के योग से आस्वादन करने योग्य हो जाता है तब सहृदय प्रेक्षक के हृदय में रसरूप से उसका आस्वादन होता है। स्थायीभाव के अनुभव और उसके रसास्वादन में भेद हैं। अनुभव में भाव की सुख-दुःख पूर्ण प्रकृति के अनुसार अनुभवकर्त्ता को भी सुख-दुःख होता है, परन्तु उसका आस्वादन इनसे रहित है। इसकी अवस्थिति नायक में मानी जा सकती है और न नट में, (क्योंकि रस तो वर्तमान वस्तु है और नायक भूतकाल में था, वर्तमान में नहीं है, और नट का कार्य तो नायक आदि का अभिनय से अनुकरण मात्र करना है) वह तो केवल विभाव आदि को प्रेक्षक के सामने प्रदर्शित भर कर देता है। रस की अवस्थिति सहृदय प्रेक्षक में है। प्रेक्षक में भी स्थायी भाव आदि के ज्ञानमात्र ही से रस उत्पन्न नहीं होता।

तुलनात्मक अध्ययन—नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि के **"विभानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसोनिष्पत्तिः"** इस सूत्र पर क्रमशः (१) भट्टलोल्लट (२) श्री शंकुक (३) भट्टनायक और (४) श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्या की है। इस सूत्र की व्याख्या (क) (१) भट्टलोल्लट ने मीमांसक होने के कारण मीमांसा के आधार पर, (२) श्री शंकुक ने नैय्यायिक होने के कारण न्याय के आधार पर (३) भट्टनायक ने सांख्यमतावलम्बी होने के कारण सांख्य के आधार पर और (४) अभि-नवगुप्त ने आलंकारिक होते हुये अपनी व्याख्या का आधार अलंकारशास्त्र को रखा है। परिणामतः—

(ख) (१) भट्ट लोल्लट का मत **"उत्पत्तिवाद"**, । (२) श्री शंकुक का मत **"अनुमिति-वाद"** । (३) भट्टनायक का मत **"भुक्तिवाद"**। और (४) अभिनवगुप्त का मत **"अभिव्यक्तिवाद"** कहलाता है।

अर्थ भेद—(१) भट्टलोल्लट के मतानुसार **"संयोगात्"** का अर्थ **"सम्बन्ध"** और **"निष्पत्तिः"** का अर्थ **"उत्पत्ति"** है।

(२) श्री शङ्कुक के मतानुसार **"संयोगात्"** का अर्थ **"अनुमान"** और **"निष्पत्ति"** का अर्थ **"अनुमिति"** है।

अस्य स्वरूपकथनगर्भं आस्वादनप्रकारः कथ्यते—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥ २ ॥

(३) भट्टनायक के मतानुसार "**संयोगात**" का अर्थ "**भोज्य-भोजक भाव सम्बन्ध**" और "**निष्पत्तिः**" का अर्थ "**मुक्ति**" है ।

(४) अभिनवगुप्त के मतानुसार "**संयोगात्**" का अर्थ "**व्यंग्यव्यञ्जक भाव**" और "**निष्पत्तिः**" का अर्थ "**अभिव्यक्ति**" है ।

रस की अवस्थिति—

(१) भट्टलोल्लट ने रस की अवस्थिति नायक में मानी है और दर्शक चमत्कृत होकर आनन्द लेता है ।

(२) श्री शंकुक के अनुसार रामादि के विभावादिकों का नट अपनी शिक्षा और कार्यपटुता से इसप्रकार अभिनय करता है कि वे विभावादि नट के ही मालूम होते हैं । इसप्रकार अनुकरण के बल पर चित्र-तुरग न्याय के अनुसार नट में रस का अनुमान किया जाता है तथा अनुमानकर्त्ता दर्शक को भी उसमे आनन्द मिलता है । इसप्रकार अनुकार्य नट में रस रहता है । सामाजिक रस का अनुमान कर लेते हैं ।

(३) भट्टनायक ने रस की अवस्थिति प्रेक्षक में मानी है । किन्तु इस रस की उत्पत्ति के लिये (१) अभिधा (२) भावकत्व और (३) भोजकत्व—ये तीन काव्य के व्यापार माने हैं ।

(४) अभिनवगुप्त ने "स्थायीभाव वासना रूप में प्रेक्षक के हृदय में रहते हैं" ऐसा माना है । अभिनेता अभिनय के द्वारा विभावादि से स्थायीभाव की अभिव्यक्ति करा देता है ।

(५) दशरूपककार धनञ्जय ने रस की अवस्थिति नट तथा प्रेक्षक दोनों के अन्दर मानी है ।

अवतरणिका—रत्यादि स्थायीभाव जिस स्वरूप को पाकर रस हो जाते हैं; इस विषय में क्योंकि आस्वाद ही प्रमाण है, अतः उस (रसास्वाद) का निरूपण करते हैं—

अर्थ—इसके (रस के) स्वरूप (लक्षण) का वर्णन है मध्य में जिसके ऐसा (अर्थात् रस लक्षण के साथ) रसास्वाद की प्रणाली का वर्णन किया जाता है—

अवतरणिका—"**अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः, ब्रह्मास्वादसहोदरः, लोकोत्तरचमत्कारप्राणः**"—इन पदों से रस का स्वरूप बताया गया है । "**स्वाकारवदभिन्नत्वेन**" इस पद से रस के आस्वाद का प्रकार और "**कैश्चित् प्रमातृभिः**" कहकर रसास्वाद के अधिकारियों का निर्देश किया गया है ।

अर्थ—सत्वगुण के उद्रेक होने के कारण कुछ विद्वानों के द्वारा अखण्ड (पूर्ण), स्वयंप्रकाशस्वरूप, **(इसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं है) (जिसप्रकार आप के अनन्तर अपना ज्ञान घटादि को प्रकाशित कर देता है, उसीप्रकार रस ही अपने आप को प्रकाशित कर देता है)**, आनन्दमय और चिन्मय (चमत्कारमय) (रसास्वाद के समय) अन्य ज्ञेय विषय के सम्पर्क से शून्य (रहित) **(अर्थात् रसास्वाद के समय अन्य ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है)** अतएव ब्रह्मास्वाद सहोदर है अर्थात् परमात्मा के साक्षात्कार के समान है । **(परमात्मा के ज्ञान के समय में केवल ब्रह्ममात्र की अनुभूति होती है, किन्तु रस की अनुभूति के समय में विभावादिकों की भी अनुभूति होती है, इसीलिये सहोदरत्व कहा है । लोचनकार ने कहा भी है**—"परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं वास्तु

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥ ३ ॥

'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते' इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेयविमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम् । तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः । अत्र च हेतुस्तथाविधालौकिककाव्यार्थपरिशीलनम् ।

अखण्ड इत्येक एवायं विभावादिरत्यादिप्रकाशसुखचमत्कारात्मक । अत्र हेतु वक्ष्यामः । स्वप्रकाशत्वाद्यपि वक्ष्यमाणरीत्या । चिन्मय इति स्वरूपार्थे मयट् ।

अस्य रसास्वादस्य") । अलौकिक चमत्कार है प्राण (सार) जिसका ऐसा, (**नायकादिओं का नायकादि रत्यादिकों में लौकिक चमत्कार ही सम्भव है, परन्तु इसके अन्दर सामाजिक निष्ठ होने के कारण अलौकिकता है**) । यह रस अपने शरीर की त ह तादात्म्यरूप से अनुभव किया जाता है । [**जिसप्रकार आत्मा से भिन्न भी शरीर के विषय में** "मैं स्थूल हूँ" "मैं कृश हूँ" **इसप्रकार के उल्लेख से अभेद की प्रतीति होती है, उसी प्रकार रस भी नायकादि निष्ठ होने के कारण** "मैं राम सीताविषयक रति वाला हूँ" **इस प्रकार आत्मनिष्ठ होने के कारण ज्ञाता और ज्ञान के अभेदरूप में आस्वाद किया जाता है । घटादि का ज्ञान होने पर** "मैं घड़े को जानता हूँ" **इसप्रकार का जैसा ज्ञाता और ज्ञान का भेद प्रतीत होता है, उसप्रकार का भेद रसानुभूति के अन्दर नहीं होता है ।**] (**"सत्व" का निरूपण करते हैं**) रज इति—रज (अनुत्कृष्ट मनोधर्मविशेषः रजः) और तम (निकृष्टमनोधर्मविशेषः तमः) इन दोनों के सम्पर्क से रहित मन (मानसो धर्मविशेषः) इस रस निरूपण के प्रसङ्ग में "सत्व" कहलाता है ।

अवतरणिका—इन कारिकाओं की व्याख्या ग्रन्थकार स्वयं करते हैं—

अर्थ—"रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते" इस (प्राचीन उक्ति) के अनुसार बाह्य लौकिक विषयों से (मेय) विमुखता को (**ज्ञान के अनुकूल व्यापार का अभाव**) करने वाला कोई (**अनिर्दिष्टस्वरूप**) आन्तरिक धर्म (**गुणविशेष**) सत्व कहलाता है, (उसका) (**उक्त स्वरूप सतोगुण का**) उद्रेक—रजोगुण और तमोगुण (**नामक काम और लोभ के बीजभूत मानसधर्मों**) को तिरस्कृत करके (**अपने कार्य में अक्षम करके अर्थात् सर्वथा हटाकर**) आविर्भाव होना (**अपने कार्य में सक्षम होकर स्थिर रहना**) "उद्रेक' पद का अर्थ है । और यहाँ पर अर्थात् सत्व के उद्रेक में उसप्रकार के (**सत्व के उद्रेक में उत्पन्न करने वाला जो**) अलौकिक काव्यार्थ (**लोकोत्तर विभानुभावादि**) का परिशीलन (**भावना**) इस सत्वोद्रेक का कारण होता है । (**अखण्ड पद की व्याख्या करते हैं**) अखण्ड इति—"अखण्ड" पद का यह अभिप्राय है कि विभाव आदि तथा रति आदि का प्रकाश, एवं सुख और चमत्कार इन सबसे अभिन्न एतदात्मा रस एक ही है । प्रश्न—**जब विभाव, अनुभाव आदि अनेक पदार्थ** रस के **अन्तर्गत हैं तो यह "रस" एक अथवा अखण्ड कैसे हो सकता है ?** उत्तर—(**इसका समाधान करते हैं**) अत्रेति—इस विषय में (**रस की अखण्डता के विषय में**) कारण आगे कहेंगे (**समूहालम्बन ज्ञान तादात्म्य ही हेतु है**) (**यद्यपि विभावादिकों में प्रत्येक की खण्डरूपता ही है, तथापि प्रपाणक रस की तरह समूह की आलम्बन विधि के अनुसार विभावादिकों के अभेद से उसप्रकार की रस की अनुभूति होती है, इसीलिये रस की अखण्डता होती है**) । स्वप्रकाशत्व आदिक भी वक्ष्यमाण रीति से जानना । "चिन्मयः" इस शब्द में स्वरूप **अर्थ** में मयट् प्रत्यय हुआ है ।

चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्य्यायः। तत्प्राणत्वञ्चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्। तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः।
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्' ।। इति।

कैश्चिदिति प्राक्तनपुण्यशालिभिः।

यदुक्तम्—

'पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्'। इति।

यद्यपि 'स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तदिशा रस-

---

चमत्कार चित्त का विस्ताररूप विस्मय का अभिन्न (**अपरपर्यायः**) अथवा वाचकान्तर है। और उसकी (**रस में चमत्कार की**) सारता हमारे वृद्ध प्रपितामह सहृदयगोष्ठी गरिष्ठ कवि पण्डितों में मुख्य श्रीमन्नारायणपाद ने भी कही है। यही बात धर्मदत्त ने अपने ग्रन्थ में कही है:—रसे इति—सभी रसों में चमत्कार ही (**चित्त विस्तार ही**) साररूप से (प्राण) अनुभव होता है। इस कारण से चमत्कार के साररूप (स्थायी) होने के कारण सब जगह ही अद्भुत रस ही प्रतीत होता है। अतः पण्डित नारायण केवल एक अद्भुत रस ही मानते हैं। (**यहाँ पर अद्भुत शब्द रस विशेष का वाचक नहीं है।**) (**इस कारिका के अन्दर "कैश्चित् प्रभातृभिः" आया है, उसके "कैश्चित्" पद की व्याख्या करते हैं**) कैश्चिदिति—कुछ विद्वानों के द्वारा अर्थात् "प्राक्तनपुण्यशालिभिः"—पूर्व जन्म के पुण्य कर्मों से पुण्यशाली कुछ विद्वानों के द्वारा। (**इस वर्तमान जीवन के पुण्य का इस शरीर के द्वारा अनुभव करना असम्भव होने के कारण क्योंकि कारण के अभाव के कारण कार्य का भी अभाव होता है—इस नियम के द्वारा पूर्व जन्म के पुण्यों का अभाव होने के कारण इस वर्तमान जीवन के अन्दर कार्यभूत सुखस्वरूप रस के आस्वाद की अनुभूति भी नहीं हो सकती है।**) (**सहृदय पुरुष रस का आस्वाद लेते हैं**)। यदुक्तम्—**कहा भी है कि**—पुण्यवन्त इति—पुण्यशाली मनुष्य (**पूर्व जन्म के पुण्यों के कारण पुण्यशाली**) योगियों की तरह रस की अविच्छिन्न धारा को—शृंगारादि रसधारा को, (**योगियों के पक्ष में**) ब्रह्मज्ञानरूप अमृतधारा को (**क्योंकि श्रुति में परमात्मा को "रसो वै सः" ऐसा कहा है**) अनुभव करते हैं।

टिप्पणीः—(१) "**प्रमिण्वन्ति**"—इसका गौण रूप से प्रयोग हुआ है क्योंकि जो रस अपने आप में प्रकाश स्वरूप है, वह प्रमा का विषय नहीं बन सकता है।

(२) जिसप्रकार योगी पुरुष शुद्ध, स्वयं प्रकाशस्वरूप, आनन्दमय एवं चिन्मय ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, उसीप्रकार कोई कोई प्राक्तन पुण्यों के कारण वासनारूप संस्कार से युक्त सहृदय रस का आस्वाद लेते हैं। कहा भी है:—

"विभावादिसंभिन्नाङ्गरत्याद्यं शकर्तु रितः स्वप्रकाशानन्दचमत्काररूपो रस इति।"

अवतरणिकाः—"स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः" इस अपनी उपपत्ति के प्रति आक्षेप की आशंका करके समाधान करते हैं।

अर्थः—शंका—यद्यपि "काव्यार्थ के परिशीलन से अथवा काव्य के अर्थ—विभावादिकों के मेल से आत्मानन्द की उत्पत्ति होती है अर्थात् काव्यार्थ की भावना से उत्पन्न होने वाले आनन्द का अनुभव ही आस्वाद कहलाता है अथवा आत्मा—बुद्धि, आनन्द—सुखः—इन दोनों का उद्भव होता है।" (**विषयान्तर के तिरोधान हो जाने से इन दोनों का अविर्भाव होता है**)। इस कथन के अनुसार रस के आस्वाद से पृथकता

स्यास्वादानतिरिक्तत्वम्, तथापि 'रसः स्वाद्यते' इति काल्पनिकं भेदमुररीकृत्य कर्मकर्त्तरि वा प्रयोगः। तदुक्तम्–'रस्यमानतामात्रसारत्वात् प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः' इति। एवमन्यत्राप्येवंविधस्थलेषूपचारेण प्रयोगो ज्ञेयः

नन्वेतावता रसस्याज्ञेयत्वमुक्तं भवति। व्यञ्जनायाश्च ज्ञानविशेषत्वाद्

ही कही है अर्थात् रस आस्वादरूप ही है, आस्वाद से अतिरिक्त कोई अन्य आस्वाद्य वस्तु रस नहीं है। (समाधान) तथापि "रसः स्वाद्यते"—रस आस्वादित होता है, इत्यादिक प्रयोग कल्पित भेद मानकर **(किये हुये समझने चाहिये) (जिसप्रकार "राहोः** शिरः"—"राहु का शिर" **इसके अन्दर अभेद होने पर भी औपचारिकरूपेण भेद को स्वीकार करके ही वैसा प्रयोग किया जाता है, उसीप्रकार रस और आस्वाद के अन्दर कर्म और क्रिया के रूप में उल्लेख करना विना भेद के सम्भव नहीं है। अतः अभेद होने पर भी काल्पनिक भेद को स्वीकार करके ही इसप्रकार का प्रयोग किया जाता है) (काल्पनिक भेद क्योंकि मिथ्या हुआ करता है अतः दूसरा समाधान उपस्थित करते हैं)** अथवा कर्मकर्ता में प्रयोग (समझना चाहिये)। [**जिसप्रकार** "भिद्यते काष्ठः स्वयमेव" **यहाँ पर एक ही काष्ठ के अन्दर कर्मत्व और कर्तृत्व दोनों कहने की इच्छा से अभेद के आरोप की तरह** "रसः स्वाद्यते" **यहाँ पर भी आस्वाद्य और आस्वादन के अन्दर अभेद होने पर भी भेद की विवक्षा के कारण कर्मकर्ता का प्रयोग समझना चाहिये**]। तदुक्तम्—कहा भी है—**(रस के आस्वादरूप होने में प्राचीन सम्मति को दिखाते हैं)** रस में रस्यमानता ही साररूप होती है, अतः रस प्रकाशशरीर (ज्ञानरूप) से अन्य नहीं है। **अर्थात् ज्ञानरूप को प्राप्त रत्यादि ही सहृदय सामाजिकों के आनन्दरूप चमत्कार को उत्पन्न करने के कारण "रस" कहाता है।** एवमिति—इसीप्रकार दूसरे इसप्रकार के स्थलों में उपचार से किया हुआ **(काल्पनिक भेद मानकर अथवा कर्मकर्ता के अन्दर प्रयोग को स्वीकार करके)** गौण प्रयोग समझना चाहिये।

अवतरणिका—प्रश्न—(रस के विषय में दूसरी आपत्ति उठाते हैं) **ननु विभावादिमेलकात् जायमानानन्दसंवलितमिलितविभावादिसंविद्रस इत्युक्तं भवति**—अर्थात् विभावादि के मेलक से (मिलाने वाले कर्तृत्वभाव से) उत्पन्न आनन्द से युक्त, (तथा) मिला हुआ विभावादिरूप ज्ञान "रस" कहाता है। और विभावादिकों का मेलक (मिलाने वाला) विशिष्ट विभावादि की विशेषता का अवगाहन कराने वाला और एक ज्ञानविषयिता वाला होता है; ऐसा अवश्य कहना चाहिये क्योंकि किसी और प्रकार से उसका (मेलक का) निरूपण सम्भव नहीं है, और विभावादिकों का उसप्रकार का ज्ञान प्रत्येक ज्ञान के साथ ही होता है, इसप्रकार उसप्रकार के ज्ञान के अनन्तर रसास्वाद किसप्रकार उत्पन्न हो सकता है क्योंकि (विभावादिकों के मेलक और मिले हुये विभावादिकों का ज्ञानरूप ही रस होता है) रस के रसास्वाद का ऊपर कहे हुये से भिन्न कोई उपाय ही नहीं है—ऐसी आशंका करके प्रश्न उठाते हैं—

अ०—प्रश्न—नन्विति—"एतावता" (**यद्यपि** स्वादः "काव्यार्थसंभेदादात्मानन्द-

द्वयोरैक्यमापतितम् । ततश्च--

'स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः ।
यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्य कारकात् ॥'

समुद्भवः" इत्युक्तदिशा रसस्यास्वादानतिरिक्तत्वमुक्तम्,' —यहाँ तक) इस कथन के अनुसार अर्थात् काव्यार्थ के परिशीलन से उत्पन्न होने वाले आनन्द का अनुभव ही आस्वाद कहलाता, है अतः रस आस्वाद से भिन्न नहीं है (तथा) "प्रकाशशरीरादन्य एव रसः"—रस प्रकाशशरीर से (ज्ञानरूप से) भिन्न नहीं है । (अतः) इन सब कारणों से रस अज्ञेय हुआ अर्थात् ज्ञेय का--ज्ञान का–विषय नहीं रहा । **क्योंकि ज्ञान अपने विषयभूत घटादिकों से सदा भिन्न होता है, अतः आस्वादरूप अथवा प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप रस भी आस्वाद और प्रकाश का विषय नहीं हो सकता । क्योंकि स्वयं प्रकाश वस्तु अपने आपको प्रकाशित नहीं कर सकती–यही रस की अज्ञेयता है ।** (अच्छा, तो फिर **व्यञ्जना के द्वारा ही रसास्वाद उत्पन्न हो जावे–इसलिये कहा है कि**) व्यञ्जना याश्चेति—और व्यञ्जना के ज्ञान विशेष होने के कारण दोनों की—व्यंग्य रस और व्यञ्जना की एकता स्थापित हो गई । (**कहने का तात्पर्य यह है कि यदि रस भी ज्ञान विशेषरूप है, और व्यञ्जना भी ज्ञान विशेष रूप है तो इन दोनों के अन्दर ही समता (ज्ञान विशेष होने के कारण)** स्थापित हो जाती है फिर इन दोनों के अन्दर (रस और **व्यञ्जना के अन्दर) साध्य और साधकत्व भाव किसप्रकार से सम्भव हो सकता है । रस व्यञ्जना से उत्पन्न ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है**) ततश्च—दोनों की (व्यंग्य और व्यंजक) एकता स्थापित हो जाने से (कथं रसस्य व्यङ्ग्यता—**रस की व्यंग्यता किसप्रकार हो सकती है) (जिस प्रकार दीपक घटादि का व्यञ्जक है उसप्रकार व्यञ्जना व्यंग्य रस की व्यञ्जक नहीं है) क्योंकि:—(पृथक्ता के अन्दर ही व्यंग्य-व्यञ्जक भाव हो सकता है; अभिन्नता में नहीं, इसीको पुष्ट करने के लिये कारिका लिखते हैं) स्वज्ञानेनेति**---

हेतु दो प्रकार के होते हैं (१) कारक और (२) ज्ञापक अथवा व्यञ्जक । कारक हेतु की व्युत्पत्ति—"तत्र करोति क्रियां निर्वर्तयतीति व्युत्पत्त्या पूर्वमसिद्धं वस्तु यः खलु सम्पादयति स कारकोऽर्थादुत्पादक":—**जो पहिले से असिद्ध वस्तु को प्रकाशित करते हैं वे कारक अर्थात् उत्पादक हेतु कहलाते हैं–यथा– चक्र, चीवर, दण्ड, कुलाल, कपाल इत्यादि । ये सब पहले से अविद्यमान घट को उत्पन्न करते हैं ।) । ज्ञापक हेतु का लक्षण करते हैं**:—स्वज्ञानेनेति—सिद्ध अर्थ (वस्तु के होने पर जो अपने ज्ञान के द्वारा अन्य सिद्ध वस्तु के ज्ञान का कारण होता है वह व्यञ्जक (ज्ञापक) हेतु कहलाता है यथा—दीपक (**यदि घटादि वस्तु पहले से विद्यमान हों तो दीपक अपने ज्ञान के द्वारा उनका प्रकाश करता है । कुलाल की तरह अविद्यमान वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता अतः यह ज्ञापक हेतु है**) अन्यथाभावे—असिद्ध अर्थ का ज्ञापक होने पर इस व्यञ्जक (ज्ञापक) हेतु की कारक हेतु से क्या विशेषता है ? अर्थात् कोई भी विशेषता नहीं है । (**क्योंकि कारक हेतु कार्य को उत्पन्न करके प्रकाशित करता है) [कहने का तात्पर्य यह है कि कारक हेतु असिद्ध वस्तु का उत्पादन करता है और ज्ञापक हेतु सिद्ध वस्तु का ही ज्ञापन कराता है–यही इन दोनों में भेद है]**

इत्युक्तदिशा घटप्रदीपवद्व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः पार्थक्यमेवेति कथं रसस्य व्यङ्ग्यतेति चेत्, सत्यमुक्तम्। अत एवाहुः-"विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिद्व्यापारः" इति। अत एव हि रसनास्वादनचमत्करणादयो विल-

---

इत्युक्तदिशेति—इस कथन के अनुसार घट और दीपक की तरह (जिसप्रकार घट को दीपक व्यक्त करता है, उसीप्रकार व्यञ्जक व्यंग्य को व्यक्त करता है) व्यंग्य और व्यञ्जक की भिन्नता ही सिद्ध होती है, अभिन्नता (एकरूपता) नहीं। (परन्तु पूर्वकथनानुसार यदि रस को व्यञ्जना स्वरूप मानोगे तो) रस किसप्रकार व्यंग्य कहलायेगा ? (क्योंकि व्यञ्जना व्यंञ्जक का व्यापार है और व्यंग्य उस व्यापार का विषय होता है—व्यापार स्वरूप नहीं हो सकता)। (शंका का समाधान करते हैं) सत्यमिति—बात तो ठीक है। ("सत्यम्" यह अव्यय अर्धस्वीकारोक्ति में आता है)। अतएवेति—इसीलिये (पूर्वपक्ष का कथन करने के बाद ही अथवा ज्ञानरूप ही रस है इसलिये) (अभिनवगुप्ताचार्य के मत का अनुसरण करने वाले नैय्यायिक) कहते हैं—[भट्टलोल्लट आदि तो रस को व्यंग्य ही मानते हैं। तथाहि—"रामादि के अन्दर व्यञ्जना के द्वारा प्रतीत होने वाला रत्यादि के ज्ञान से सामाजिकों के अन्दर वासनारूप से विद्यमान रस व्यक्त होता है, और "रामः सीताविषयकरतिवान्"—राम सीता विषयक रति वाला है—इत्याकारिका ज्ञान होता है। जिसप्रकार स्वर्ग प्राप्ति के लिये किया हुआ यज्ञ यद्यपि विनष्ट हो चुका होता है पुनरपि अपने द्वारा अव्यवहित स्वर्गादि की प्राप्ति कराने वाला होता हैं; उसीप्रकार यद्यपि सीतादि विषयक राम की रति विनष्ट हो चुकी होती है परं पुनरपि अपने ज्ञान की अनुभूतिमात्र से ही सामाजिकों के अन्दर रति की अनुभूति कराता है। लाघव की दृष्टि से इसी सिद्धान्त के साथ "अभिधादिविलक्षणम् इत्यादि" कहकर अपनेमत का भी प्रकाशन कर दिया है] विलक्षण इति—यह "स्वादनाख्य" नामक व्यापार (शक्ति विशेष) (कारक और ज्ञापक हेतुओं के व्यापाररूप) कृति (कृतिः करणम्) और ज्ञप्ति (ज्ञानानुकूलव्यापारः) के भेदों से विलक्षण (विभिन्न) अनिर्वचनोय (सहृदय सामाजिकों के द्वारा अनुभव सिद्ध) ही है; (जिससे रस का आस्वादन किया जाता है)। अतएव (विलक्षण व्यापार को स्वीकार करने से) इस विषय में रसन, आस्वादन, चमत्करण आदिक शब्दों का व्यवहार भी विलक्षण (कृति और ज्ञाप्ति शब्दों से भिन्न) होता है। (अर्थात् जिसप्रकार संयुक्त-समवाय से सुखादि का साक्षात्कार होता है, उसीप्रकार "आस्वादनाख्य" व्यापार से सामाजिकों के हृदयों में विद्यमान वासना का साक्षात्कार होता है। जिसप्रकार "भूतलं रंजतवत्" एतद्विषयक ज्ञान शुक्ति के सम्बन्ध में लौकिक है और रजत के अंश में अलौकिक है, उसीप्रकार रस का साक्षात्कार भी वासना के अंश में लौकिक है और रत्यादि के अंश में अलौकिक है) ("अन्य स्थलों पर रसादिकों को अव्यंग्य कहा है—क्या यह ठीक नहीं ?"—इस आक्षेप का समाधान करते हैं) अभिधादीति—अभिधा

क्षणा एव व्यपदेशाः इति अभिधादिविलक्षणव्यापारमात्रप्रसाधनग्रहिलैरस्माभी रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमुक्तं भवतीति ।

ननु तर्हि करुणादीनां रसानां दुःखमयत्वाद्रसत्वं न स्यादित्युच्यते—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ।। ४ ।।

आदिशब्दाद् बीभत्सभयानकादयः ।

तथाऽप्यसहृदयानां मुखमुद्रणाय पक्षान्तरमुच्यते—

किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ।

आदि से (अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्तियों से—वस्तुतः नैय्यायिक अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त किसी अन्य शब्दशक्ति को स्वीकार नहीं करते) विलक्षण जो व्यापार (व्यञ्जना) है उसकी स्थापना में सयत्न हम (नवीन आलंकारिक) रसादिकों को (आदि पद से रसाभासादिकों का भी ग्रहण होता है) व्यंग्य कहते हैं ।

टिप्पणीः—रस को व्यंग्य मानने का तात्पर्य यह है कि अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यादि वृत्तियों के द्वारा रसोद्बोध शक्य नहीं हैं । इसीलिये पञ्चम परिच्छेद में कहा है कि **"वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम् । अङ्गीकार्या तुर्यावृत्तिर्बोधे रसादीनाम्" इति ।** इसीलिये रसादि के ज्ञान के लिए **"स्वादनाख्य"** नामक व्यापार को स्वीकार करते है । अतः रस या आस्वाद को व्यञ्जना का स्वरूपविशेष मानने में अथवा उससे विलक्षण मानने में कोई क्षति नहीं है ।

अवतरणिकाः—रस के स्वीकृत लक्षण के अन्दर अव्याप्ति की आशंका उठाते है :—

अर्थ :—प्रश्न—**नन्विति**—(यदि रस को आनन्द चिन्मय स्वीकार किया जावेगा) तो करुण आदि रसों के दुःखमय होने के कारण **(स्थायीभाव शोक आदि के दुःखजनक होने के कारण तथा अश्रुपातादि के दर्शन से इनकी दुःखमयता का निश्चय होता है)** रस नहीं कहलायेगें । इसके विषय में कहते हैं—

करुणेति—**(करुणादि रसों में भी सुखमयता ही है—अतः सहृदयों के अनुभव को प्रमाण मानकर निराकरण करते हैं)** करुण आदि रसों में भी **(शोक, भय आदि स्थायीभाव होने के कारण)** जो अत्यन्त आनन्द होता है उसमें **(उस आनन्दानुभाव के विषय में)** सहृदयों का **अनुभव ही प्रमाण है । (क्योंकि सहृदयों को सुख का अनुभव होता है अतः करुणादि रस दुःखमय न होकर सुखमय ही हैं—अतः अव्याप्ति नाम का दोष नहीं है)** आदिशब्दादिति–**(कारिका के अन्दर विद्यमान) आदि शब्द से बीभत्स और भयानक आदि (रसों का ग्रहण होता है)। तथापि जो सहृदय नहीं है उनका मुख बन्द करने के लिये दूसरा पक्ष उठाते हैं—**

किञ्चेति—तथा यदि उनमें **(करुण, बीभत्स, भयानक आदि रसों में)** दुःख (होता) हो **(शोकादि कार्य हों) (तब)** कोई भी (व्यक्ति) करुणादि रसों के प्रतिपादक काव्यादि के सुनने में प्रवृत्त न हो । **(अपितु करुणादि रसों के सुखमय होने के कारण ही सभी की उन काव्यों को श्रवण करने में प्रवृत्ति होती है) (स्यात् कुतूहल के निमित्त दुःखशील करुणादि रसों के काव्य को सुनने की प्रवृति हो, अतः कहते हैं)**

नहि कश्चित् सचेता आत्मनो दुःखाय प्रवर्त्तते। करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात् सुखमयत्वमेव।

अनुपपत्त्यन्तरमाह—

तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥५॥

करुणरसस्य दुःखहेतत्वे करुणरसप्रधानरामायणादिप्रबन्धानामपि दुःखहेतुताप्रसङ्गः स्यात्।

ननु कथं दुःखकारणेभ्यः सुखोत्पत्तिरित्याह—

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः ॥६॥
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात्।
सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः ॥७॥

नहीति—क्योंकि कोई भी सहृदय सामाजिक अपने दुःख के लिये प्रवृत्त नहीं होता है। और करुणादि (रसों के काव्यों) में सभी (सामाजिकों) की प्रवृत्ति आग्रहपूर्वक होती है, अतः (वे रस भी) सुखमय ही हैं।

अर्थ— अनुपपत्यत्तरमाह—दूसरी युक्ति देते हैं—

तथेति—तथा—(करुणादि रसों के दुःखमय स्वीकार करने पर करूण रस प्रधान) रामायण आदि **(आदि पद से करुणविप्रलम्भ प्रधान उत्तररामचरित का भी ग्रहण हो जायेगा) (काव्यों)** भी दुःख के हेतु मानने पड़ेगें। **(कारिका की स्वयं व्याख्या करते हैं)** करुणेति—करुण रस की दुःखहेतुता स्वीकार करने पर करुण रस प्रधान रामायणादि प्रबन्धकाव्यों के अन्दर भी दुःख की कारणता का प्रसंग होगा अर्थात् इन काव्यों के अन्दर भी दुःख के ही हेतु स्वीकार करने पड़ेगें। **(और दुःख के हेतु स्वीकार करने पर समाज के अन्दर किसी को भी इनके प्रति सुनने और पढ़ने की प्रवृत्ति नहीं होगी-और प्रवृत्ति न होने से इन काव्यों के विलीन होने का प्रसङ्ग आता है। अतएव ये दुःखमय न होकर सुखमय ही हैं)।**

अवतरणिका:—ननु "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते" इस न्याय से करुणादि रसों में स्थायी भाव शोकादि के दुःखजनक होने के कारण उनसे सुख की उत्पत्ति किस प्रकार होगी—ऐसी शंका उठाते हैं:—

अर्थः—प्रश्न—नन्विति:—दुःख के कारणों से (रामादि विभावों से) सुख की उत्पत्ति कैसे होगी? इसका उत्तर देते हैं:—

लोक के **(चराचर वस्तुजात)** संश्रय **(संसर्ग अथवा स्वभाव)** से शोक, हर्ष आदि की कारणता को प्राप्त हुये (वनवासादि) से संसार में लौकिक शोक, हर्ष आदि उत्पन्न हुआ करें **(जिसप्रकार राम के वनवास में राम का दुःख लौकिक था)** परन्तु काव्य के सम्बन्ध से अलौकिक विभावन को **(विलक्षण कारणता को)** प्राप्त हुये उन सभी से **(लौकिक शोक, हर्ष के निमित्त वनवासादिकों से)** सुख (ही) उत्पन्न होता है, इसप्रकार की कल्पना में क्या हानि है? अर्थात् कुछ भी हानि नहीं है।

टिप्पणीः—"दुःख के कारणों से दुःख की ही उत्पत्ति होती है"—ऐसा नियम काव्य से भिन्न स्थलों के विषय में समझना चाहिये क्योंकि काव्य के अन्दर दुःख के

ये खलु रामवनवासादयो लोके 'दुःखकारणानि' इत्युच्यन्ते त एव हि काव्यनाट्यसमर्पिता अलौकिकविभावनव्यापारवत्तया कारणशब्दवाच्यतां विहाय अलौकिकविभावशब्दवाच्यत्वं भजन्ते। तेभ्यश्च सुरते दन्तघातादिभ्य इव सुखमेव जायते। अतश्च 'लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते' इति लोक एव प्रतिनियमः। काव्ये पुनः 'सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते' इति नियमान्न कश्चिद्दोषः।

कथं तर्हि हरिश्चन्द्रादिचरितस्य काव्यनाट्ययोरपि दर्शनश्रवणाभ्यामश्रुपातादयो जायन्त इत्युच्यते—

अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मताः—

कारणों के विद्यमान होने पर भी सुख की उत्पत्ति में कवि की रचनाचातुरी ही कारण हुआ करती है। सहृदय सामाजिक रामचन्द्र जी के वनवासादिकों का काव्य के परिशीलन के समय में मानों ये अपने हैं, इसप्रकार अनुभव करते हुये भी और निरन्तर नेत्रों से अश्रु बिन्दुओं को छोड़ते हुये भी कविता की चातुरी से विमोहित होकर सर्वात्मना आनन्द सागर में मज्जन करते हैं—यही इसका यहाँ पर रहस्य है।

अर्थः—**(अपने आशय को स्पष्ट करते हैं)** जो रामचन्द्र जी के वनवासादि **(आदि पद से राज्याभिषेक का भी ग्रहण हो जाता है)** लोक में "दुःख के कारण हैं" इसप्रकार कहे जाते हैं, वे ही (वनवासादि दुःख के कारण) काव्य और नाटक के अन्दर (कवि के द्वारा) उपनिबद्ध किये हुये अलौकिक (विलक्षण) विभावन **(रत्यादि का आस्वादन की योग्यता तक लाना)** व्यापार के द्वारा कारण शब्द की वाच्यता को छोड़ कर अलौकिक (विलक्षण) विभाव शब्द की वाच्यता को प्राप्त कर लेते हैं। **(इसीलिये कारण शब्द को छोड़कर विभावादि शब्द का सामाजिक प्रयोग करते हैं)** और उनसे **(अलौकिक विभावादिकों से)** रति क्रीड़ा में जिसप्रकार दन्तच्छदादि से सुख की उत्पत्ति होती है, उसीप्रकार सुख ही उत्पन्न होता है। इसीलिये "लौकिक शोक, हर्ष आदि कारणों से लौकिक शोक, हर्ष आदि उत्पन्न होते हैं" ऐसा लोक में ही नियम है। काव्य के अन्दर तो 'सभी विभावादिकों से सुख की उत्पत्ति होती है" इस नियम को मानने में कोई दोष नहीं है।

(दूसरी शंका उठाते हैं) कथमिति—**(यदि करुण रस के अभिव्यञ्जक विभाव आदिकों से सुख की ही उत्पत्ति होती है, अर्थात् करुणादि रसों की सुखमयता स्वीकार कर लेते हैं)** तो हरिश्चन्द्र आदि के (करुण रसमय) चरित को काव्य और नाटक में भी देखने और सुनने से अश्रुपात, दीर्घनिःश्वास आदि **(आदि पद से दीर्घनिःश्वास का ग्रहण होता है)** कैसे होते हैं। **(क्योंकि केवल दुःख से ही अश्रुपातादिकों की सम्भावना होती है)**। इत्युच्यते—**इसका उत्तर देते हैं:**—

चित्त के द्रुत हो जाने के कारण (चित्तस्य सदयत्वमेव द्रुतत्वम्) **(अर्थात् सुख होने पर भी चित्त के द्रवित हो जाने के कारण अश्रुपात होता है)** सुख की उत्पत्ति की तरह (तद्वत्) **(सामाजिकों के)** अश्रुपातादिक होते हैं।

टिप्पणीः—इसप्रकार प्रकट होने वाले अश्रुपातादिक आनन्द के कारण ही उत्पन्न होते हैं।

तर्हि कथं काव्यतः सर्वेषामीदृशी रसाभिव्यक्तिर्न जायत इत्यत आह—

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् ॥ ८ ॥

वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः। तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि स स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात्तदा यद्रागिणामपि केषाञ्चिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात्।

अर्थ—(यदि सम्पूर्ण काव्य ही आह्लाद का कारण है) तो काव्य से सभी की (सर्वसाधारणों की भी) इसप्रकार की (आह्लाद हेतु भूत) रसाभिव्यक्ति क्यों नहीं होती है ? इत्यत आह—इसका उत्तर देते हैं—

रस का आस्वाद रत्यादि की वासना के विना **(रत्यादि के साथ तादात्म्य से प्रतीत होने वाली वासना के विना)** नहीं होता है। **(अर्थात् रत्यादि की वासना वाले ही रस का आस्वाद ले पाते है, दूसरे नहीं। वासना पद यहाँ पर संस्कार विशेष का बोधन करता है)।**

टिप्पणी—इस कारिका के अनुसार पुण्य से उत्पन्न वासना भी रसास्वाद में हेतु है।

अर्थ–और (जिस वासना से अनुप्राणित सहृदय सामाजिक रसास्वाद को ग्रहण करते हैं)। वह वासना **(दो प्रकार की होती है)** (आधुनिकी **(अर्थात् इस जन्म के अन्दर निर्मित)** और प्राचीन **(पूर्व जन्म में प्राप्त की हुई) (ये दोना) (मिलकर ही)** रसास्वाद के प्रति कारण होती हैं। **[अर्थात् वासना दो प्रकार की होती है। (१) आधुनिकी और (२) प्राचीन। इनमें से काव्य और नाटक के सुनने और देखने के समय में रहने वाली "आधुनिकी वासना" होती है और पूर्वकालवर्तिनी "प्राचीन वासना" होती है)] (ये दोनों वासनायें मिलकर ही रसास्वाद के प्रति कारण हुआ करती हैं, इसको स्पष्ट करते हैं)** तत्रेति—उनमें से **(अर्थात् उन दो वासनाओं के मध्य में से)** यदि पहली **(आधुनिकी—इस जन्म की वासना)** न हो अर्थात् रसास्वाद के अन्दर हेतुत्वेन स्वीकार न की जाये, तो वैदिक (श्रोत्रिय) और वृद्ध मीमांसको को भी वह रसास्वाद होना चाहिये। (श्रोत्रिय का लक्षण—"एकां शाखां सकल्पां वा षड्त्रि-रङ्गै रधीत्य वा। षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित्"।) **(किन्तु वैदिक और वृद्धमीमांसकों को रसाभिव्यक्ति होती नहीं है, अपितु इसके विपरीत रत्यादि के सम्बन्ध से सहकृत काव्य के अर्थ ज्ञान की इच्छा का अभाव होने के कारण उनके अन्दर काव्य के प्रति घृणा का संचार देखा जाता है।** प्रश्नः—**अच्छा, इनके अन्दर इदानीन्तनी वासना तो है नहीं, परन्तु प्राक्तन (पूर्वजन्म की) वासना भी नहीं है इसका क्या प्रमाण है।** उत्तर—**प्राचीन वासना के अभाव में कोई अन्य प्रमाण उनकी सिद्धि के विषय में उपलब्ध न होने के कारण यह सिद्ध होता है कि उनके हृदयों में प्राचीन वासना नहीं है।]** और यदि दूसरी (प्राक्तनी वासना—पूर्व जन्म की वासना) वासना न हो तो कुछ अनुरागी व्यक्तियों के अन्दर भी रसाभिव्यक्ति नहीं होती है, वह नहीं होनी चाहिये, अर्थात् रसाभिव्यक्ति होनी चाहिये। क्योंकि उनके अन्दर आधुनिकी वासना विद्यमान है। **[वस्तुतः उनके अन्दर प्राचीन वासना का अभाव होने के कारण और आधुनिकी वासना की विद्यमानता के कारण भी रसाभिव्यक्ति नहीं होती है, ऐसा नहीं होना चाहिये।[(इसी कथन को प्रमाण से पुष्ट करते हैं)।**

उक्तञ्च धर्म्मदत्तेन—

'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः' ।। इति ।।

ननु कथं रामादिरत्याद्युद्बोधकारणैः सीतादिभिः सामाजिकरत्याद्युद्बोध इत्युच्यते—

**व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः ।। ९ ।।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।**

अर्थ—उक्तञ्चेति—धर्मदत्त ने कहा भी है कि—सवासनानामिति-वासना से युक्त सहृदयों को ही (**आधुनिकी और प्राचीन इन दोनों वासनाओं से युक्त सहृदयों को ही**) रस का आस्वादन होता है । (**किन्तु**) (**उन दोनों प्रकार की**) वासना से रहित सभ्य (**सामाजिक**) रङ्गभूमि के अन्दर (**नाट्यशाला में**) (नीरस काष्ठ, भित्ति) (दीवार) और पत्थर के समान (होते हैं) । [**नाट्यशाला के अन्दर विद्यमान काष्ठ, भित्ति तथा पत्थरादिकों को जिसप्रकार रस का आस्वाद नहीं होता है, उसीप्रकार वासना से रहित नाटक के दर्शक सामाजिकों को रसास्वाद नहीं होता है । वे सर्वथा रसाभिव्यक्ति शून्य होते है ।**]

प्रश्न—नन्विति—रामादि की रति के उद्बोधक कारण (**काव्य और नाटक के अन्दर देखे और सुने गये**) सीतादिकों से सामाजिकों की रति का उद्बोध कैसे होता है ? इसका उत्तर देते हैं—

विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का (**आदि पद से अनुभाव और संचारी भावों का भी ग्रहण होता है**) व्यापार (**सामर्थ्य विशेष**) है (जो) नाम से साधारणीकृति (साधारणीकरण) कहलाता है । उस साधारणीकरण के प्रभाव से जिसके (**राम के या हनुमान् के**) समुद्र को पार करना आदि अथवा समुद्र को लांघना आदि) (**आदि पद से रावण को मारना आदि का भी ग्रहण होता है**) थे । विद्वान् सामाजिक राम के साथ अथवा हनुमान् के साथ अभेद होने के कारण (तादात्म्य भाव से) अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ।

टिप्पणी—स्तवोपवासादिभिरप्युदग्रैः स्वरूपमस्यानवलोकयन्तम् ।
भ्रूभेदभीमाननविम्बमब्धिं विव्याध बाणत्रितयेन रामः ।।

यहाँ पर श्री रामचन्द्र जी के उत्साह का समुद्र आलम्बन विभाव है । अपने स्वरूप को सम्यक्तया न समझना उद्दीपन विभाव है । समुद्र का वेधन करना अनुभाव है । भ्रू की कुटिलता से व्यंग्य क्रोध व्यभिचारी भाव है । इसप्रकार विभावादि समुद्रादिकों में साधारणीकरण के द्वारा सामान्य सामाजिकों के अन्दर भी "**रामोऽहं क्रुद्धः स्वरूपानवलोकनोद्दीपितसमुद्रनिग्रहविषयक उत्साहवान्**" इसप्रकार की अनुभूति होती है । यहाँ पर ज्ञान के द्वारा उपनीत श्री राम के उत्साह के साथ अभेद होने के कारण "**स्वादनाख्य व्यापार**" बल से अपनी वासना का ही सामाजिकों के द्वारा आस्वादन किया जाता है । अर्थात् जिसप्रकार स्फटिक के पत्थर के ऊपर रखे हुये जवा कुसुम की रागिमा के प्रतिविम्ब से स्फटिक शिला भी रागयुक्त प्रतीत होती है, उसीप्रकार साधारणीकरण व्यापार से सामाजिकों के हृदय में सीतादिकृत रामादि की रत्यादि का ही प्रतिफलन होता है, इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह का लेश नहीं है ।

ननु कथं मनुष्यमात्रस्य समुद्रलङ्घनादावुत्साहोद्बोध इत्युच्यते—

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ॥ १० ॥

नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति ।

रत्यादयोऽपि साधारण्येनैव प्रतीयन्त इत्याह—

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते ॥ ११ ॥

रत्यादयोरपि स्वात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभ्यानां व्रीडातङ्कादिर्भवेत् । परगतत्वेन त्वरस्यतापातः ।

अवतरणिका—नायक और सामाजिकों के अन्दर अभेद का प्रतिपादन करके वासना और उत्साहादि के अभेद का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—नन्विति—(अल्पशक्ति) मनुष्यमात्र की समुद्र-लंघनादि में (**दुष्कर कार्य में**) (**"आदि" पद से रावण के हनन का ग्रहण होता है**) कैसे उत्साह होता है ? इसका उत्तर देते हैं—

(**विभावादि के साधारणीकरण व्यापार के कारण**) सामान्य मनुष्यों का भी हनुमान् प्रभृति के साथ उस समय भेद ज्ञान की निवृत्तिपूर्वक साधारण्याभिमान से (**साधारणीकरण नामक व्यापार से अपना रामादिकों से अभेदज्ञान हो जाने के कारण**) समुद्रादि के लंघनादि में उत्साहादिकों का सम्यक् उदय हो जाना दूषित नहीं है ।

टिप्पणी—**शंका**—यदि साधारणीकरण के द्वारा सामाजिकों के हृदय में उत्साहादि का उदय हो जाता है तब तो अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा अत्यन्त समीपवर्ती उत्साह आदि की प्रचुरता सामाजिकों के अन्दर साक्षात् ही हो जानी चाहिये, वासना को मानने की क्या आवश्यकता है ? **उत्तर**—नहीं, ऐसी बात नहीं है । वासना के अंश में साक्षात्काररूप प्रमा की उपपत्ति नहीं होती है क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा ही साक्षात्कारिता स्वीकार की गई है इसीलिये **"पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगविद्रससन्ततिम्"** इस कथन व्यापार से रस ज्ञान की दशा में वासना से अंश में प्रमा को स्वीकार किया जाता है । इसी अभिप्राय के पूर्व की कारिका में **"प्रमातृ"** पद का उपन्यास किया गया है ।

अवतरणिका—सामाजिकों के हृदयों में विद्यमान उत्साहादि स्थायीभावों के विषय में ही विभावादि का साधारणीकरण व्यापार उपलब्ध होता है या फिर अन्य सभी स्थायीभावों के विभावादि का साधारणीकरण होता है, इसको स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—(**शृङ्गारादि रसों के स्थायीभाव**) रति आदिक भी (**"आदि" पद से रति से भिन्न सभी स्थायीभावों का ग्रहण होता है**) साधारणीकरण होकर ही (**साधारणीकरण नायक और सामाजिक दोनों का होता है (सामाजिकों के द्वारा)**) प्रतीत होते हैं, इसका प्रतिपादन करते हैं—

रति आदि भी (**सीता विषयक रामादि का अनुराग आदि भी । "आदि" पद से उत्साहादि का भी ग्रहण होता है**) समुद्रलंघनादि में उत्साहादि की तरह (**तद्वत्**) साधारणीकरण व्यापार के द्वारा (**रामादि के साथ अपने अभेद ज्ञान के द्वारा**) (**सामाजिकों को**) प्रतीत होते हैं ।

(**हेतु देते हैं**) रति आदि की भी (**रस का तो कहना ही क्या**) आत्मगतत्वेन प्रतीति होने पर सहृदयों को लज्जा और भय हो (**आत्मगतत्वेन रति की प्रतीति होने पर पिता आदि तथा गुरुजनों के सान्निध्य से लज्जा की प्रतीति होगी ।** रत्यादि—

विभावादयोऽपि प्रथमः साधारण्येन प्रतीयन्त इत्याह—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥ १२ ॥

ननु तथापि कथमेवमलौकिकत्वमेतेषां विभावादीनामित्युच्यते—

विभावनादिव्यापारमलौकिकमुपेयुषाम् ।
अलौकिकत्वमेतेषां भूषणं न तु दूषणम् ॥ १३ ॥

यहाँ पर "आदि" पद से हासादिओं का ग्रहण होता है) और नायक आदि अन्यपुरुषगत रति आदि की प्रतीति होने पर रसास्वाद का उच्छेद हो जावे । (**अतः नायकादिकों के साथ साधारणीकरण हो जाने के उपरान्त ही** मनुष्यों को रसास्वाद होता है) ।

टिप्पणी—रत्यादि कोमल स्थायीभावों के अन्दर भी नाटक और काव्य के देखने और सुनने के समय में लज्जा और भयादि के उपलब्ध होने से साधारणीकरण व्यापार है ही, इस विषय में किसीप्रकार की विप्रत्तिपत्ति नहीं है ।

अवतरणिकाः—विभावादि के विषय में साधारणीकरण की प्रतीति के प्रतिबन्धक के अभाव को दिखाते हैं ।

अर्थः—विभावादि भी (**"आदि" पद से अनुभाव और व्यभिचारीभाव का ग्रहण होता है**) रस से पूर्व साधारणीकरण के रूप में (सामाजिकों के द्वारा) प्रतीत होते हैं । इसलिये कहते हैं—परस्येति—उस रस के आस्वादन के समय आलम्बन और उद्दीपनादि विभावादिकों का (**यह उच्यमान या अभिनीयमान समुद्रलंघनादि व्यापार**) नायक के ही थे, (**या ये फिर दिखाई देने वाले व्यापार**) दूसरे के (**नायक रामादि के**) नहीं थे; (**यह अवलोकनादि व्यापार**) मेरे ही है (**ये लंघनादि व्यापार**) मेरे नहीं हैं, इसप्रकार का ज्ञान (**सम्बन्ध विशेष का स्वीकार अथवा परिहार**) (**सभ्य का**) नहीं होता है ।

अवतरणिकाः—रस की अलौकिकता **"लोकोत्तरचमत्कारप्राणः"** इन शब्दों में वर्णित की है, और आगे चलकर **"तस्मादलौकिकः"** ऐसा कहकर प्रतिपादन करेंगे परन्तु लौकिक विभावादिकों से अलौकिक रस की उत्पत्ति कैसे होती है, इस आशंका का समाधान करने के लिये और उनकी अलौकिकता का प्रतिपादन करने के लिये शंका उठाते हैं—

अर्थ—शंका—नन्विति—तो भी (**साधारणीकरण नामक व्यापार के स्वीकार कर लेने पर भी**) (**लोकसिद्ध**) इन विभावादिकों की अलौकिकता कैसे होती है ? यह कहते हैं:—

अलौकिक (लोक विलक्षण) विभावनादि व्यापार को प्राप्त होने वाले इनकी (**इन विभावादिकों की, काव्य के अन्दर उपनिबद्ध सीतादिकों की**) अलौकिकता-लोकोत्तर चमत्कारशालिता भूषण ही है, (**सहृदयों का आस्वाद के योग्य होने के कारण**) दूषण नहीं (**दूसरे के साथ अनुराग उत्पन्न होने के कारण दूषण नहीं है**) ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि यद्यपि राम, सीता तथा चन्द्रोदयादि आलम्बनोद्दीपन विभाव और कटाक्ष, भ्रूविक्षेपादि अनुभाव एवं व्रीड़ादि संचारी लोकसिद्ध ही होते हैं, परन्तु काव्यादि में उपनिबद्ध होने से उनमें **"विभावन"** आदि अलौकिक

आदिशब्दादनुभावसञ्चारणे। तत्र विभावनं रत्यादेर्विशेषेणास्वादाङ्कुरणयोग्यतानयनम्। अनुभावनमेवम्भूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम्। सञ्चारणं तथाभूतस्यैव तस्य सम्यक् चारणम्।

विभावादीनां यथासङ्ख्यं कारणकार्य्यसहकारित्वे कथं त्रयाणामपि रसोद्बोधे कारणत्वमित्युच्यते—

व्यापार आ जाता है। इसी का नाम **"साधारणीकरण"** है। इसी अलौकिकव्यापार से युक्त होने के कारण विभावादि अलौकिक कहाते हैं। **प्रश्न**—यदि विभावादि अलौकिक हैं तो उनसे लौकिक रस की सिद्धि कैसे होगी? क्योंकि अलौकिक कारणों से कहीं भी लौकिक कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। **उत्तर**—यह ठीक है कि अलौकिक कारण से लौकिक कार्य की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु अलौकिक कारण से अलौकिक कार्य की उत्पत्ति तो होती ही है। अतः इन अलौकिक विभावादिकों से अलौकिक रस की उत्पत्ति होती है। अतएव इनका अलौकिकत्व भूषण है, दूषण नहीं।

अर्थ—(इस कारिका में) "आदि" शब्द से अनुभावन और सञ्चारण ग्रहण होता है। **(इन तीनों का विभावन, अनुभावन और सञ्चारण का लक्षण करते हैं। "विभावन" आदि पद की व्युत्पत्ति से ही "विभावन" आदि का स्वरूप प्राप्त होता है।)** उनमें से (विभावन पद का लक्षण करते हैं) रत्यादि स्थायीभाव को विशेषरूप से अङ्कुर की तरह सूक्ष्मरूप से आस्वादोत्पत्ति के योग्य बनाना "विभावन" कहलाता है। (अनुभावन पद का लक्षण करते हैं) विभावन के द्वारा आस्वादोत्पत्ति के योग्य हुये रत्यादि स्थायीभाव को **(रत्यादि पद से देवादि विषयक रति का भी ग्रहण हो जाता हैं)** उसी समय ही रस रूप में परिणत कर देने वाले व्यापार का नाम "अनुभावन" है। (सञ्चारण पद का लक्षण करते हैं) रसादि रूप से उत्पन्न रत्यादि को सम्यक्‌रूपेण आस्वादयोग्य कर देने का नाम "सञ्चारण" है। (सञ्चारीभाव के द्वारा **परिपुष्ट रत्यादि का ही आस्वादन होता है)।**

टिप्पणीः—विभाव कारण होते हैं अनुभाव कार्य होते हैं और सञ्चारीभाव सहकारी कारण होते हैं, यह क्रम है।

अर्थः—विभावादिओं के ("आदि" **पद से अनुभाव और सञ्चारीभाव का ग्रहण होता है)** क्रमशः **(रामादि की रत्यादि का सीतादि का विभाव कारण है। सीता की रत्यादि का रामादिगत स्तम्भ और स्वेद आदि अनुभाव कार्य हैं। और सीतादिगत चञ्चलता, आनन्दादि सञ्चारीभाव रामादिगत रति के सहकारी कारण हैं)** कारण और कार्य के सहकारी होने के कारण तीनों की **(विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव)** रसोत्पत्ति में कैसे कारणता होती है? **(अर्थात् रत्यादि के रसरूप में परिणत होने के अन्दर उनके कार्यभूत अनुभाव की कारणता नहीं हो सकती क्योंकि अनुभाव कार्य होते है अपितु विभाव और सञ्चारीभाव ही कारण हैं—यह पूर्वपक्ष का आशय है)** इत्युच्यते—इसका समाधान करते हैं :—

कारण–कार्य–सञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः ।
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः ॥१४॥

ननु तर्हि कथं रसास्वादे तेषामेकः प्रतिभास इत्युच्यते—

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते ।
ततः संवलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ॥१५॥
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ।

अर्थः—लोक-व्यवहार की दृष्टि से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी कारण, काय और सञ्चारीरूप होने पर भी वे (विभावादिक) रसोद्बोध में कारण ही (**कारण, कार्य और सञ्चारी रूप नहीं**) (**आलंकारिकों के द्वारा**) स्वीकार किये गये हैं।

टिप्पणीः—तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार सहृदय सामाजिकों के लिये शृङ्गारादि रस की उत्पत्ति में सीता के हर्ष, चञ्चलता आदि विभाव कारण होते हैं, उसी प्रकार सीतागत स्तम्भ, स्वेदादि अनुभाव भी कारण होते हैं क्योंकि इन अनुभावों को देखने से भी सहृदयों के हृदयों में रस की पुष्टि होती है, अतः विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव—ये तीनों ही रसोत्पत्ति में कारण हैं। **शंका**—"**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**" इस भरतमुनि के सूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव–इन तीनों का समुदाय ही रसोत्पत्ति में कारण है। फिर जो इस कारिका के अन्दर "**कारणानि**" लिखा है इसके अन्दर बहुवचन अनुपपन्न है, यहाँ पर एकवचन का प्रयोग होना चाहिये। इसीलिये काव्यप्रकाशकार ने—

"**शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।**
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

यहाँ पर "**इति हेतुस्तदुद्भवे**" इसकी व्याख्या में "**त्रयः समुदिताःहेतुर्न हेतवः**" विभावानुभाव सञ्चारी ये तीन मिलकर ही "हेतुः" हैं, "हेतवः" नहीं; ऐसा कहा है। **उत्तर**—ठीक है, जहाँ कारण पद की एक धर्मावच्छिन्न कार्य के निरूपण में कारणता बताने में तो एकवचन आता है और जहाँ कारणतामात्र का कथन होता है वहाँ बहुवचन का प्रयोग ठीक ही है। यहाँ, उक्त कारिका के अन्दर "**कारणानि**" पद में बहुवचन विवक्षित नहीं है अपितु कारणतामात्र बोधन कराना तात्पर्य है, अतः बहुवचन का प्रयोग किया है अन्य किसी प्रकार की कारणता का कथन नहीं है। यहाँ विभावादिकों में पृथक् पृथक् कारणता नहीं है अपितु सबकी मिलकर कारणता है।

अवतरणिकाः—पहले कारण होता है, बाद में कार्य होता है तो फिर रसास्वाद के समय विभावादिकों की युगपद् स्थिति कैसे सम्भव है? इसलिये कहते हैं:—

अर्थः—नन्विति—अच्छा तो फिर रसास्वाद में उन सबका (**कारणीभूत विभावादिकों का**) अभिन्न रूप से स्फुरण (**प्रतिभास–एक रस रूप में परिणाम**) कैसे होता है? **क्योंकि भिन्न-भिन्न कारणों से तो भिन्न भिन्न कार्य ही होने चाहिये**) इत्युच्यते— **इसका समाधान करते हैं**—

विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव रसोत्पत्ति से पूर्व प्रतीत होते हुये (**अपने आप में**) प्रत्येक विभावादि रसास्वाद का कारण कहलाता है, बाद में (**रसोत्पत्ति के समय**) सम्मिलित सब विभावादि (**विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से युक्त रत्यादि**) प्रपाणक रस की तरह चर्व्यमाण (आस्वाद्यमान) सहृदयों के हृदय में रस रूप से परिणत हो जाते हैं।

यथा खण्डमरिचादीनां सम्मेलनादपूर्व इव कश्चिदास्वादः प्रपाणकरसे सञ्जायते विभावादिसम्मेलनादिहापि तथेत्यर्थः।

ननु यदि विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैरेव रसस्तत् कथं तेषामेकस्य द्वयोर्वा सद्भावेऽपि स स्यादित्युच्यते—

सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत् ॥ १६ ॥
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते ।

अन्यसमाक्षेपश्च प्रकरणादिवशात्। यथा—

'दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।

जिसप्रकार खण्ड (खांड) मरिच, आमिक्षा और कर्पूर—इन चार के मेल से ("आदि" **पद से आमिक्षा और कर्पूर का ग्रहण होता है)** निर्मित प्रपाणक रस में अपूर्व (**माधुर्यादि रस से विलक्षण**)—अनिवर्चनीय आस्वाद (रस) पैदा होता है, उसी प्रकार विभावादि के संयोग से उत्पन्न शृङ्गारादि रस में भी विलक्षण रसास्वाद पैदा होता है। (**जो विभावादिकों के पृथक्-पृथक् आस्वाद से विलक्षण आस्वाद होता है)।**

अर्थ—यदि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के सम्मिलन से ही रसोत्पत्ति होती है, तो उनमें से एक के अथवा दो के होने पर रसोत्पत्ति कैसे हो सकती है? (**अर्थात् जिसप्रकार तुरी, वेमादिकों के मुख्य कारण के सहकारी कारणों के मध्य में से किसी एक कारण के न होने पर भी पट रूप कार्य की निष्पत्ति नहीं होती है उसीप्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के मध्य में से भी किसी एक के न होने पर निष्पत्ति नहीं होनी चाहिये—यह पूर्वपक्ष का आशय है**) इत्युच्यते—इसका समाधान करते हैं—

यदि विभावादिकों के बीच में से दो की या एक की विद्यमानता हो, तो (उस समय) शीघ्र ही दूसरे के अध्याहार हो जाने में (**व्यञ्जना के द्वारा बोध होने पर**) दोष नहीं होता है। (**अर्थात् जहाँ पर विभाव है, अनुभाव, सञ्चारी और रत्यादि नहीं है, वहाँ उनका अध्याहार हो जाता है, जहाँ विभाव और अनुभाव तो है, सञ्चारी और रत्यादि नहीं है,** वहाँ भी उनका अध्याहार **हो जाता है और जहाँ** अनुभाव **और सञ्चारी होते हैं, वहाँ फिर दूसरों का अध्याहार पहले की ही तरह हो** जाया करता है।)।

और दूसरे का अध्याहार प्रकरणादि के अनुसार हो जाया करता है। **यथा**—

अवतरणिका—कालिदास द्वारा रचित "मालविकाग्निमित्रम्" नामक नाटक में रंगमञ्च पर गणदास के द्वारा लाई गई मालविका का नृत्य के आरम्भ होने के साथ अग्निमित्र द्वारा किया हुआ रूप वर्णन है—

अर्थ—(इस मालविका का) मुख दीर्घनेत्रों वाला है (अर्थात् बड़े-बड़े नेत्र हैं) तथा शरद्कालीन चन्द्रमा की तरह कान्ति वाला है; दोनों भुजायें कन्धों से कुछ झुकी हुई हैं; वक्षःस्थल घने (आपस में सटे हुये) (एवं) वृद्धि को प्राप्त स्तन वाला होने के कारण संक्षिप्त है, दोनों पार्श्व चिकने तथा एक से हैं, कटिप्रदेश मुट्ठीभर की है

मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावुदग्राङ्गुली
छन्दो नर्त्तयितुर्यथैव मनसः सृष्टं तथास्या वपुः ॥'

अत्र मालविकामभिलषतोऽग्निमित्रस्य मालविकारूपविभावमात्रवर्णनेऽपि सञ्चारिणामौत्सुक्यादीनामनुभावानाञ्च नयनविस्फारदीनामौचित्यादेवाक्षेपः। एवमन्याक्षेपेऽप्यूह्यम् ।

'अनुकार्य्यगतो रसः' इति वदतः प्रत्याह—

परिमित्याल्लौकिकत्वात्सान्तरायतया तथा ॥ १७ ॥
अनुकार्य्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत् ।

(नितान्त कृश हैं), जघनस्थल विशाल नितम्ब वाला है, (और) दोनों चरण उन्नत अग्र अंगुलियों वाले हैं। (इसको) नृत्य कराने वाले (नृत्याचार्य गणदास का) के मन का जैसा अभिलाष है (छन्दः), वैसा (ही) इसका शरीर बनाया गया है। (मानों ब्रह्माजी ने नृत्याचार्य गणदास की इच्छा के अनुसार ही इसके शरीर की रचना की है।)।

इस पद्य में (अभिनय के वर्णन में) (यद्यपि) मालविका पर अनुरक्त (राजा) अग्निमित्र का मालविका के रूप का केवल आलम्बन विभाव से वर्णन होने पर भी औत्सुक्यादि सञ्चारी भावों का तथा नयन विस्फार आदि अनुभावों का औचित्य से ही आक्षेप हो जाता है। एवमिति—इसीप्रकार अन्य (विभाव) के आक्षेप में भी समझना चाहिये। (अर्थात् जिसप्रकार यहाँ पर सञ्चारी और अनुभाव का अध्याहार कर लिया गया है उसीप्रकार विभाव के विषय में समझ लेना चाहिये)।

अवतरणिका—जो यह मानते हैं कि रस अनुकार्य नायकादिनिष्ठ है, उसका परिहार करते हैं।

अर्थ—रस अनुकार्य (नायकादि) गत है, अर्थात् रस रामादि नायक के अन्दर रहता है, **(सामाजिकों के अन्दर नहीं)** यह मानने वालों का प्रतिवाद करते हैं—

परिमित होने के कारण **(सीतादि विषयक रति केवल रामादिनिष्ठ होने के कारण परिमित है। किन्तु रस तो नाना सामाजिकों के हृदयों में विद्यमान होने के कारण व्यापक है। अतः परिमित होने के कारण ऐसा होना असम्भव है)**, लौकिक होने के कारण **(सीतादिनिष्ठ रत्यादि होने के कारण लौकिक है, किन्तु काव्य और नाटक के अन्दर सीतानिष्ठ रत्यादि के अभेद होने के कारण सामाजिकों में आरोप होने के कारण उनकी रति अलौकिक होती है)**, प्रतिकूल होने के कारण **(रामादिगत रत्यादि का नाट्य और काव्य के देखने और सुनने में प्रतिकूल होने के कारण)** अनुकार्य-निष्ठ (नायकादिनिष्ठ) रत्यादि का उद्बोध (सीतादि विषयक प्रीति इत्यादि का आविर्भाव) रस नहीं हो सकता। **(अपितु उसके अभेद से आरोप विषयक सामाजिकों की रत्यादि ही विभावादिनिष्ठ स्वादनाख्य व्यापार से उत्पन्न आस्वाद का विषय होकर रस रूप से अनुभव होती है।)**

टिप्पणी—(१) यदि अनुकार्यगत ही रस हो, तो सामाजिक क्यों कर काव्य के देखने और सुनने के अन्दर व्यग्र हों क्योंकि उनके हृदयों के अन्दर तो अभीष्ट रसास्वाद की प्रतीति हो नहीं सकती।

(२) सारांश यह है कि रस अनुकार्य रामादि में नहीं है।

यदि पुनर्नटोऽपि काव्यार्थभावनया रामादिस्वरूपतामात्मनो दर्शयेत् तदा सोऽपि सभ्यमध्य एव गण्यते ;

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः ।

यो हि ज्ञाप्यो घटादिः सन्नपि कदाचिदज्ञातो भवति, न ह्ययं तथा; प्रतीतिमन्तरेणाभावात् ।

अर्थः—यदि काव्यार्थ की भावना के द्वारा (केवल शिक्षाभ्यास से नहीं) नट भी अपने में रामादि की सरूपता दिखलाये तो वह भी सहृदयों के मध्य में गिना जा सकता है ।

अवतरणिका:—रस की स्वप्रकाशिता पहले सिद्ध की जा चुकी है, उसी को दृढ़ करने के लिये अन्य ज्ञेय धर्मों का खण्डन करते हैं ।

अर्थ:—यह रस ज्ञाप्य नहीं **(अर्थात् जन्य ज्ञान का विषय नहीं है)** (क्योंकि) अपनी सत्ता में (कभी) प्रतीति से व्यभिचरित नहीं होता । **(क्योंकि जब रस की सत्ता होती है तब सहृदयों के अन्तःकरणों में उसकी सदैव ही प्रतीति होती है, उसका कभी भी व्याघात नहीं होता । ऐसा नहीं होता कि रस तो हो परन्तु सहृदयों को उसकी अनुभूति न हो) (यहाँ पर साध्य-साधन के पक्षमात्र वृत्ति होने के कारण अन्वय दृष्टान्त नहीं हो सकता, अतः अन्वय व्याप्ति भी नहीं बन सकती । व्यतिरेक व्याप्ति होने के कारण व्यतिरेक दृष्टान्त देते हैं)**

अर्थ:—योहीति—जो जो (यो हि—**इसके अन्दर वीप्सा है**) घटादि (लौकिक पदार्थ जात) ज्ञाप्य है, वह वह (ज्ञाप्यपदार्थ) **(यहाँ पर भी वीप्सा है)** **(ज्ञाप्य पदार्थ,** विद्यमान होता हुआ भी कभी **(ज्ञान सामग्री के न होने के कारण)** प्रतीत नहीं होता; (तथा च—यो यो ज्ञाप्यः, सः प्रतीतिं विना कदाचिदवतिष्ठते, यथा घटादिः) **अर्थात् जो-जो ज्ञाप्य है, वह कभी-कभी प्रतीति के बिना भी रहता है—अर्थात् उसका ज्ञान नहीं होता है, यथा (छिपा हुआ) घटादि ।**] यह रस वैसा नहीं है [**अर्थात् कभी विद्यमान होता हुआ अज्ञात नहीं होता है अर्थात् रस हो और उसका ज्ञान न हो ऐसा नहीं हो सकता है)**] प्रतीति के बिना उसका अभाव होने के कारण । अर्थात् यदि रस की प्रतीति नहीं होगी तो उसकी सत्ता भी नहीं होगी ।

टिप्पणी:—(१) क्योंकि रस विभावादिकों की प्रतीतिमात्र रूप है अतः अपनी प्रतीति के अभाव में वह विद्यमान ही नहीं होता है ।
(२) सारांश यह है कि रस ज्ञाप्य नहीं है, अज्ञेय ही है ।

"रसो ज्ञाप्यो न स्वप्रतीतिकाले प्रतीत्यभावाभावात्" इति ।

अवतरणिका:—**"प्रयाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्"** इससे सिद्ध होता है कि विभावादि और रत्यादि के समूह का आलम्बन मात्र ही रस होता है और यह समूहालम्बन **"स्वादनाख्य"** व्यापार से उत्पन्न होता है, अतः रस को कार्य मान लेना चाहिये, ऐसी शंका उठाकर उसका समाधान करते हैं ।

सीतादिदर्शनादिजो रामादिरत्याद्युद्बोधो हि परिमितो लौकिको नाट्यकाव्यदर्शनादेः सान्तरायश्च, तस्मात् कथं रसरूपतामियात्। (क) रसस्यैतद्धर्म्मत्रितयविलक्षणधर्म्मकत्वात्।

अनुकर्तृगतत्वञ्चास्य निरस्यति—

शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम् ॥१८॥
दर्शयन्नर्त्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्।

किञ्च—

काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम् ॥१९॥

अर्थः—सीता आदि के दर्शन आदि से उत्पन्न रामादि की रति आदि का उद्बोध परिमित होता है (**अर्थात् केवल रामादि में ही रहता है और रस अनेक द्रष्टा, श्रोताओं में एक ही समय समानरूप से विद्यमान होने के कारण अपरिमित** होता है।) (रामादिगत रति) लौकिक होती है (**और रस वक्ष्यमाण रीति के अनुसार अलौकिक होता है**) (**एवं उक्त रति**) नाट्य तथा काव्य के दर्शन और श्रवणादि में प्रतिकूल होती हैं ("**आदि" पद से श्रवण का ग्रहण होता है**) (**क्योंकि दूसरों का रहस्य दर्शन सभ्यों को अरसता उत्पन्न करता है और रस उनके अनुकूल होता है**) इस कारण से (**इन तीनों धर्मों से रहित रामादिनिष्ठ रति**) किस प्रकार (विलक्षण) रस के रूप में परिणत हो सकती है। क्योंकि रस इन तीनों धर्मों से (परिमित, लौकिक और सान्तराय धर्मों से) विलक्षण धर्म वाला होता है। (**अर्थात् अपरिमित, अलौकिक तथा प्रतिकूलता से रहित होता है।**)।

अवतरणिका:—यदि अनुकार्यनिष्ठ (रामादि नायकनिष्ठ) रस को स्वीकार नहीं करते हो, तो अनुकर्तृनिष्ठ (नटनिष्ठ) ही रस को स्वीकार कर लेना चाहिये। ऐसी आशंका करके "यह रस अनुकर्तृनिष्ठ (नटगत) है" इसका निराकरण करते हैं:—

अर्थः—इसका (इस रस का) अनुकर्तृगतत्व (नटनिष्ठता) का निराकरण करते हैं अर्थात् रस नटादि में नहीं रहता है। शिक्षाभ्यासेति—नट (अभिनय की) शिक्षा (गुरूसकाशादुपदेशग्रहणं शिक्षा) (और) अभ्यासादि के कारण (शिक्षितार्थस्य मुहुरनुष्ठानेन संस्कारातिशयोऽभ्यासः) ("आदि" **पद से कौशल का ग्रहण होता है, मात्र पद से काव्यार्थभावना का व्यवच्छेद होता है**) रामादि की समानता को अभिनय से प्रकट करता हुआ रस का आस्वादयिता नहीं हो सकता। (**क्योंकि नट दृश्य के अभिनय में ही अपने ध्यान को एकाग्र किये रहता है**)।

टिप्पणी:—अतः नट के अन्दर भी रस नहीं रहता है।

अवतरणिका:—यदि वह नट सहृदय हो, तो क्या उसको रसास्वाद न होगा? ऐसी आशंका करके कहता है कि—

अर्थः—काव्यार्थ की भावना के द्वारा (**परिशीलन के द्वारा अथवा अभिनय किये जाते हुये काव्य के अर्थ को ज्ञानपूर्वक अभिनय दिखाते हुये**) यह (नट) भी सहृदयों की प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है। (**इसीप्रकार श्रव्य काव्य के अन्दर भी काव्यार्थ की भावना से उसका पाठ करने वाला रस का आस्वादयिता हो जाता है।**)

यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः ॥ २० ॥
तस्मान्न कार्यः—

यदि रसः कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणक एव स्यात्। ततश्च रस-प्रतीतिकाले विभावादयो न प्रतीयेरन्, कारणज्ञानकार्य्यज्ञानयोर्युगपददर्शनात्। नहि चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञानञ्चैकदा सम्भवति। रसस्य च विभावादिसमूहालम्बनात्मकतयैव प्रतीतेर्न विभावादिज्ञानकारणत्वमित्यभिप्रायः।

—नो नित्यः पूर्वसंवेदनोज्भितः।

अर्थ—क्योंकि यह (रस) विभावादि समूहालम्बनात्मक है **(विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावात्मक समुदाय ही है आलम्बन (विषय) जिसका ऐसी आत्मा वाला है)** (अतः) (रस) कार्य नहीं है अर्थात् विभावादि के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला नहीं है।

टिप्पणी—(१) रस कार्य नहीं है।

अर्थ—यदि रस कार्य होता तो उसका कारण विभावादि ज्ञान ही होता, **(क्योंकि विभावादि ज्ञान के अनन्तर ही रसनिष्पत्ति होती है)**। और रस की प्रतीति के समय विभावादिक प्रतीत नहीं होते, **(कारण और कार्य का ज्ञान कभी युगपत् नहीं होता)** (क्योंकि) कारण का ज्ञान एक समय में कहीं नहीं देखा जाता। चन्दन के स्पर्श का ज्ञान और चन्दन स्पर्श से उत्पन्न सुख का ज्ञान एक साथ नहीं होता है। विभावादि समूहालम्वनात्मक ज्ञान रूप से ही रस की प्रतीति होने के कारण विभावादि ज्ञान (रस का) कारण नहीं है। यह अभिप्राय है।

टिप्पणी—(१) काव्य प्रकाशकार के टीकाकार चण्डीदास ने लिखा है कि—

"कार्यं सुखं स्वकरणैः सह नैकस्यां संविद्यवभासमानं दृष्टम्।
एवञ्च सुखं विभावादिसंवलितं भासते, तस्मान्न कार्यम् ॥" इति।

(२) विभावादि ज्ञान की रस के प्रति जो कारणता का कथन किया है वह केवल विभावादिकों के पूर्ववर्ती होने के कारण ही गौण रूप से कर दिया है।

अवतरणिका—यदि रस कार्य नहीं है तो आत्मा और आकाश की तरह उसकी नित्यता ही स्वीकार कर लेनी चाहिये। इसका उत्तर देते हैं—

अर्थ—(रस) नित्य (भी) नहीं है (क्योंकि) विभावादि के ज्ञान से पूर्व (होने वाले) संवेदन (ज्ञान से) रहित है। **[अतः नित्य नहीं है। यदि यह रस नित्य होता तो विभावादिकों के ज्ञान से पूर्व भी रहता किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः रस नित्य नहीं है। आत्मा और आकाशादि का ज्ञान जिसप्रकार कहीं जाने के समय में होता है तथा उससे पूर्व स्थितिकाल में भी उनका ज्ञान होता है इसलिये आत्मा और आकाशादि नित्य हैं। परन्तु रस का ज्ञान तो सभा में जाने के समय सहृदयों को नहीं होता है अपितु अभिनय के देखने के समय ही होता है—इसीलिये रस नित्य नहीं है)] (इसप्रकार रस की अनित्यता के विषय में प्रधान तर्क यह है कि यदि रस नित्य होता तो विभावादि के ज्ञान से पूर्व भी अनुभव होता।]** प्रश्न—**यदि कहो कि विभावादि का ज्ञान ही रस का ग्राहक है अतः उसके पूर्व स्थित होने पर भी रस प्रतीत नहीं होता।**

असंवेदनकाले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते (क) ॥ २१ ॥
न खलु नित्यस्य वस्तुनोऽसंवेदनकालेऽसम्भवः ।
नापि भविष्यन् साक्षादानन्दमयस्वप्रकाशरूपत्वात् ।
कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्त्तमानोऽपि ॥ २२ ॥

यह भी ठीक नहीं क्योंकि (उत्तर) असंवेदनकालेहीति-असंवेदन के समय (विभावादि के ज्ञान के अभाव के समय) इस (रस) की सत्ता भी नहीं होती है । **(और नित्य वस्तु सार्वकालिक होती है, अतः इस रस की प्रतीति मात्र शरीर होने के कारण असंवेदन के समय इसका होना सुतरां असंभव है, अतः यह रस नित्य नहीं है ।**

अवतरणिका—"**पूर्वसंवेदनोज्झितः**" और "**असंवेदनकालेहि**" इन हेतुओं को आधार मानकर रस नित्य नहीं है इसका प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—असंवेदन के समय में (अप्रतीतावस्था में) नित्य वस्तु का अभाव (असम्भव) नहीं होता है अर्थात् नित्य वस्तु विद्यमान रहती है । [**घटादि के ज्ञान के समय आकाश की अप्रतीति होने पर भी उसके विद्यमान होने के कारण आकाश नित्य है, किन्तु प्रतीतिमात्र स्वरूप वाले रस की प्रतीति के अभाव में अविद्यमान होने के कारण रस की अनित्यता है । अतः अप्रतीति के समय में अविद्यमान होने के कारण रस नित्य नहीं है ।**]

टिप्पणी—ऐसा नहीं होता है कि नित्य वस्तु (आत्मा, आकाश आदि) अपने ज्ञान के ही समय रहते हों और अन्य समय में नष्ट हो जाते हों, परन्तु रस ऐसा ही है, वह ज्ञान काल में ही रहता है अन्य काल में नहीं, अतः नित्य नहीं हो सकता ।

अवतरणिका—रस भविष्यत् काल में रहता है इसका निराकरण करते हैं—

अर्थ—(रस) भविष्यत् (**अर्थात् भविष्य काल में होने वाला**) भी नहीं कहा जा सकता (क्योंकि) वह आनन्दघन और प्रकाशस्वरूप साक्षात्कार (अनुभव) का विषय होता है ।

टिप्पणी—यदि रस भविष्यत् होता तो अनुभव में कैसे आता ? कल होने वाली वस्तु आज नहीं दीखा करती ।

अवतरणिका—रस वर्तमानकालिक भी नहीं है क्योंकि—

अर्थ—(संसार की प्रत्येक वस्तु या तो कार्य है या ज्ञाप्य है, परन्तु उक्त रीति के अनुसार कार्य (और) ज्ञाप्य की विलक्षणता के कारण (**अर्थात् रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य है) (यह रस)** वर्तमानकालिक भी नहीं है ।

टिप्पणी—रस घटपटादि की तरह वर्तमान (विद्यमान) नहीं है क्योंकि रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य है, वह इन दोनों से विलक्षण है क्योंकि यह नियम है कि संसार के अन्दर विद्यमान वस्तुजात या तो किसी का कार्य होगा या ज्ञाप्य होगा । और इससे पूर्व रस की कार्यता और ज्ञाप्यता के विषय में कुछ भी नहीं कहा है । अतः

विभावादिपरामर्शविषयत्वात् सचेतसाम् ।
परानन्दमयत्वेन संवेद्यत्वादपि स्फुटम् ॥ २३ ॥
न निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते ।

इस प्रकार जो घट कार्य है वह ज्ञाप्य भी होता है अतः वह वर्तमानकालिक भी होगा। तथा किसी से जन्य (कार्य) न होकर भी आकाश ज्ञाप्य है, अतः आकाश के अन्दर वर्तमानकालिकता है। और क्योंकि रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य है अतः वर्तमान-कालिक भी नहीं है। कहने का सारांश यह है कि वर्तमानकालिक होने के लिये या तो कार्य होना चाहिये (घट की तरह) और फिर ज्ञाप्य होना चाहिये (आकाश की तरह)। परन्तु जो न कार्य है और न ज्ञाप्य है वह वर्तमानकालिक भी नहीं होगा (जैसे रस)।

अवतरणिका—रस **"निर्विकल्पक ज्ञान स्वरूप"** भी नहीं है इसका प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—(निर्विकल्पक ज्ञान के अन्दर प्रकारता वैशिष्ट्य का भान नहीं होता है। इसका लक्षण "कारिकावली" **में इस प्रकार है**—"प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत्" **अर्थात् नाम, रूप, जात्यादि के वैशिष्ट्य से शून्य ज्ञान** "निर्विकल्पक ज्ञान" **कहाता है। और इससे विपरीत ज्ञान** "सविकल्पक ज्ञान" **कहाता है। अतः जिसप्रकार घट के अन्दर** "घटत्व" **इस ज्ञान की प्रतीति** "निर्विकल्पक ज्ञान" **है, उसीप्रकार काव्य और नाटक के देखने और सुनने के समय युगपद् रस का** "रसत्व" **रूप में ज्ञान निर्विकल्पक है। इसप्रकार रस** "ज्ञेय" **सिद्ध हो जायेगा यह पूर्वपक्ष वालों का आशय है।]**
उत्तर—निर्विकल्पक ज्ञान (निर्गतो विकल्पः-विभिन्न कल्पः विशिष्टप्रकार इत्यर्थः यस्मिन् तादृशं निरवच्छिन्नमित्यर्थः सम्बन्धानवगाहीति यावत्) उसका (उस रस का) ग्राहक (विषमता निरूपक) नहीं है अर्थात् रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है। **(इसके अन्दर दो कारण हैं।)** (१) विभावादिपरामर्शविषयत्वात्—(निर्विकल्पक ज्ञान में सम्बन्ध का मान नहीं होता और) (रस के अन्दर) विभावादिकों का परामर्श (अर्थात् विशिष्ट-वैशिष्ट्य सम्बन्ध) का विषय होने के कारण (निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं) अर्थात् ये प्रतिभासित होते हैं। **(और)** परमानन्दमयत्वेन स्फुटं संवेद्यत्वात्-**(निर्विकल्पक ज्ञान निष्प्रकारक होता है। उसमें किसी धर्म का प्रकारतारूप से भान नहीं होता) (परन्तु)** सहृदय सामाजिकों को परमानन्दमय होने के कारण स्फुट संवेद्य होने के कारण (भी) रस (निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है।]

टिप्पणी—रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं हो सकता क्योंकि-(१) रस के अन्दर विशिष्ट-वैशिष्ट्य सम्बन्ध प्रतिभासिक होता है और (२) परमानन्दमय होने के कारण सहृदय सामाजिकों के लिये संवेद्य है जबकि इसके विपरीत निर्विकल्पक ज्ञान विशिष्ट-वैशिष्ट्य-सम्बन्ध से शून्य होता है और निष्प्रकारक होता है।

तथाऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च ॥ २४ ॥
सविकल्पकसंवेद्यः—

सविकल्पकज्ञानसंवेद्यानां हि वचनप्रयोगयोग्यता, न तु रसस्य तथा ।

—साक्षात्कारतया न च ।
परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसंभवात् ॥ २५ ॥

अवतरणिका:—रस **"सविकल्प ज्ञानस्वरूप"** भी नहीं है—इसका प्रतिपादन करते हैं:—

अर्थ—(**यद्यपि यहाँ पर रस की सविकल्पक ज्ञान से अनुभवगम्यता उसी युक्ति परम्परा से सिद्ध हो जाती है जिसके आधार पर निर्विकल्पक ज्ञान का विषय रस नहीं है। परन्तु पुनरपि सविकल्पक ज्ञान की संवेदनीयता से रस के अन्दर कुछ विलक्षणता है, अतः रस सविकल्पक ज्ञान से भी संवेद्य नहीं है—इसको दिखाते हैं**) तथेति—तथा (रस) सविकल्पक ज्ञान से संवेद्य भी नहीं है (क्योंकि) रस में "अभिलाप" संसर्ग (वचन प्रयोग) की योग्यता का अभाव है अर्थात् रस को शब्द से नहीं कह सकते। वह अनिवर्च-नीय है; जबकि सविकल्पक ज्ञान के विषयीभूत सभी घटपटादि शब्द प्रकाशित किये जा सकते हैं।

टिप्पणी—रस क्योंकि व्यंग्य होता है अतः वाचक और लक्षक शब्दों के द्वारा प्रयोग के योग्य नहीं है। क्योंकि **"यो यो हि वाचकलक्षक शब्दैः प्रयोगार्हः स स सवि-कल्पक-ज्ञान-विषयः यथा घटपटादि"**। **"स्वपदवाच्यत्व"**। अर्थात् जो-जो वाचक और लक्षक शब्दों से प्रयोगार्ह होगा वह-वह सविकल्पक ज्ञान का विषय होगा—यथा घट पटादि। रस की तो विभावादिकों के द्वारा ही ज्ञेयता है, काव्यस्थ शब्दों के द्वारा नहीं। तथा यदि अपने शब्द से ही अपना कथन किया जायेगा तो **"स्वपदवाच्यत्व"** दोष होगा। क्योंकि "रस" का "रस" पद द्वारा अभिधान नहीं किया जाना चाहिये। अतः व्यंग्य होने के कारण, वाचकत्व का अभाव होने के कारण सविकल्पक ज्ञान का विषय रस नहीं है।

अर्थ—सविकल्पक ज्ञान से संवेद्य (घटपटादिकों) के अन्दर वचन के प्रयोग की योग्यता होती है। अर्थात् "अयं घटः" इसप्रकार का वचन प्रयोग हो सकता है परन्तु रस के अन्दर उसप्रकार की (वचन प्रयोग योग्यता) नहीं है (क्योंकि रस व्यंग्य है)।

अवतरणिकाः—जिस प्रकार "भावनाख्य" संस्कारादि अतीन्द्रिय हैं उसीप्रकार रस को भी अतीन्द्रिय ही मान लेना चाहिये? इसलिये कहते हैं:—

अर्थः—साक्षात् अनुभव के योग्य होने के कारण उस रस का प्रकाश परोक्ष (अतीन्द्रिय) नहीं है, (**क्योंकि परोक्ष वस्तु का साक्षात्कार नहीं होता है**) (**परोक्ष न होने के कारण यदि यह कहो कि वह रस प्रत्यक्ष है तो**) वह (रस का प्रकाश) (काव्यार्थ के सूचक) शब्दों से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) भी नहीं है।

टिप्पणीः—इस कारिका के द्वारा रस की प्रत्यक्षानुभव से विलक्षणता सिद्ध की है, प्रत्यक्ष से भिन्नता नहीं। क्योंकि यदि प्रत्यक्ष भिन्नता सिद्ध करते तो पहले अपने आप कहे हुये से विरोध आता। क्योंकि शब्दप्रमाण से गम्यों का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करते।

तत्कथय कीदृगस्य तत्त्वमश्रुताद्दृष्टपूर्वनिरूपणप्रकारस्येत्याह—

तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम् ।

तत्किं पुनः प्रमाणं तस्य सद्भाव इत्याह—

प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम् ।। २६ ।।

चर्वणा आस्वादनम् । तच्च 'स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तप्रकारम् ।

ननु यदि रसो न कार्यस्तत्कथं महर्षिणा 'विभावानुभावव्यभिचारसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति लक्षणं कृतमित्युच्यते—

अवतरणिकाः—इसप्रकार रस में—"न वह ज्ञाप्य है, न वह कार्य है, वह नित्य भी नहीं है, भविष्यत् भी नहीं है, वर्तमान भी नहीं है, निर्विकल्पकज्ञानस्वरूप भी नहीं है, सविकल्पकज्ञानस्वरूप भी नहीं है, परोक्ष और प्रत्यक्ष भी नहीं है"—इन सब सामान्य धर्मों का जब निराकरण कर दिया तो आश्चर्य से युक्त कोई रस के वास्तविक स्वरूप को जानने की अभिलाषा वाला जिज्ञासा करता है कि—

तत्कथयेति—**अच्छा, तो (फिर तुम्हीं) बतलाओ कि इसप्रकार जिसका निरूपण प्रकार अश्रुत और अदृष्ट है उस रस का वास्तविक स्वरूप क्या है ?** इत्याह—**इसका उत्तर देता है—**

इसलिये (**लौकिक ज्ञान के आनन्द से विलक्षण होने के कारण और ज्ञाप्यत्वादि लौकिक धर्मों के निराकरण करने के कारण**) यह रस सहृदय सामाजिकों से (**वैय्याकरण, मीमांसादिकों से नहीं**) संवेद्य अलौकिक ही है। (**यहाँ पर "सत्यम्" "एव" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है**)।

(**यदि इसप्रकार रस अलौकिक है और उसका ज्ञान भी सबको नहीं होता है**) तो पुनः उस रस की सत्ता में क्या प्रमाण है ? इत्याह—**इसका समाधान करते हैं**—"स्व" अर्थात् चर्वणा से अभिन्न (चर्वणस्वरूप) इस रस के विषय में विद्वानों की चर्वणा (आस्वादन) ही प्रमाण है।

टिप्पणी—इस रस के विषय में काव्य और नाटक को सुनने और देखने के समय सहृदय सामाजिकों को जो रसानुभूति होती है वही रस की अवस्थिति में प्रमाण है ।

अवतरणिकाः—चर्वणा का लक्षण करते हैं

अर्थः—चर्वणा (का अर्थ) आस्वादानुभव है, और वह आस्वादन "काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः" एतत्प्रकारक स्वरूप वाला है ।

अवतरणिकाः—यद्यपि इस स्थान पर उठाई जाने वाली विप्रतिपत्ति "**तस्मान्न-कार्यः**"—यह जिस स्थान पर कहा है, उसके बाद ही उठाई जानी चाहिये थी तभी इस शंका औचित्य था। परन्तु सिद्धान्त का चर्वणा के ग्रहण से साध्य होने के कारण चर्वणा के बाद उठाया जाना ही उचित है ।

अर्थ—शंका—नन्विति—यदि रस कार्य नहीं है तो महर्षि (भरतमुनि) ने किस प्रकार "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" अर्थात् विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—यह लक्षण किया है। (**क्योंकि उत्पत्ति तो कार्य की ही होती है। इसप्रकार महर्षि भरतमुनि के कथनानुसार** "रस कार्य नहीं है" **इस कथन का विरोध होता है**) इत्युच्यते—इसका उत्तर देते हैं—

निष्पत्त्या चर्वणस्यास्य निष्पत्तिरुपचारतः ।

यद्यपि रसाभिन्नतया चवर्णस्यापि न कार्यत्वं तथापि तस्य कदाचित्कतया उपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते ।

अवाच्यत्वादिकं तस्य वक्ष्ये व्यञ्जनरूपणे ।।२७।।

तस्य रसस्य । आदिशब्दादलक्ष्यत्वादि ।

ननु यदि मिलिता रत्यादयो रसास्तत्कथमस्य स्वप्रकाशत्वं कथं वाऽखण्डत्वमित्याह—

चर्वणा नामक व्यापार की उत्पत्ति होने के कारण इसकी (रस की) गौण प्रयोग से (**रस और रसास्वाद में अभेद होने से आस्वादन का रस के अन्दर गौण प्रयोग कर देते हैं, अतः रस के विषय में "निष्पत्ति" शब्द गौण है**) निष्पत्ति होती है [**वस्तुतः रस की उत्पत्ति नहीं होती, अतः रस कार्य नहीं है।**] ।

(वस्तुतः) यद्यपि रस से अभिन्न होने के कारण चर्वणा भी कार्य नहीं है तथापि उसके (चर्वणा) के कभी-कभी होने के कारण (**वह सर्वथा नहीं रहती—कभी होती है और कभी उसका तिरोभाव हो जाता है**) उपचार प्रयोग से "कार्य" होने के कारण (**चर्वणा के विषय में**) "कार्यत्व" का गौण प्रयोग होता है। **मुख्य कार्यत्व चर्वणा के अन्दर भी नहीं रहता है**) ।

टिप्पणीः—वस्तुतः चर्वणा रस से अभिन्न ही है । जब रस का आस्वादन होता है तभी चर्वणा की उत्पत्ति होती है, और जब रस का आस्वादन नहीं होता है उस समय चर्वणा की भी उत्पत्ति नहीं होती है। इसप्रकार चर्वणा के आविर्भाव और तिरोभाव होने के कारण चर्वणा रूप रस की उत्पत्ति होती है—ऐसा समझना चाहिये ।

अवतरणिकाः—शंका—"**तथाऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च**"—इसके द्वारा रस की "अवाच्यता" का प्रतिपादन किया था, किन्तु काव्य से रस की वाच्यता सम्भव है। अतः पहले कथन की हुई रस की अवाच्यता का समाधान किस प्रकार होगा ?

अर्थः—रस का अवाच्यत्व (**अभिधा आदि व्यापार से कथन न किया जा सकना**) व्यञ्जना के प्रकरण में (**पञ्चम परिच्छेद में**) कहेंगे ।

(**कारिकास्थ**) "तस्य" का अर्थ है "उसका" । आदिशब्दात्—यहाँ "आदि" शब्द से अलक्ष्यत्व का ग्रहण है। (**वस्तुतः रस न तो अभिधा शक्ति के द्वारा वाच्य होता है और न लक्षण से लक्ष्य होता है, वह तो केवल व्यञ्जना से व्यंग्य होता है**) ।

अवतरणिकाः—रस की स्वप्रकाशता और अखण्डता का प्रतिपादन करते हैं:—

अर्थः—**शंका**—यदि (विभावादिकों के साथ) मिलकर रत्यादि स्थायीभाव रस होते हैं तो इसका (रस का) स्वप्रकाशत्व और अखण्डता कैसे (सिद्ध होगी) ? [**क्योंकि स्वप्रकाशता तो ज्ञान में ही रहती है, रत्यादिकों में वह असम्भव है। एवं रति आदि तथा अन्यों के सम्मिश्रित रहने से रस की सखण्डता भी स्पष्ट है**] (**यह परिणामवादियों का मत है**) इत्याह—इसका उत्तर देते हैं ।

रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत् ।
अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिध्यति ।। २८ ।।

यदि रत्यादिकं प्रकाशशरीरादतिरिक्तं स्यात्तदैवास्य स्वप्रकाशत्वं न सिध्येत्, न च तथा, तादात्म्याङ्गीकारात् । यदुक्तम्—'यद्यपि रसानन्यतया चर्वणापि न कार्या तथापि कादाचित्कतया कार्यत्वमुपकल्प्य तदेकात्मन्यनादिवासनापरिणतिरूपे रत्यादिभावेऽपि व्यवहार इति भावः' इति। 'सुखादितादात्म्ययाङ्गीका-

---

अवतरणिका—रस की स्वप्रकाशता और अखण्डता, जिसका पहले प्रतिपादन किया जा चुका है । उसीका प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—क्योंकि रत्यादि के ज्ञान की अभिन्नता से ही रस की (उत्पत्ति) होती है **(अर्थात् आनन्द से युक्त ज्ञान स्वरूप को प्राप्त हुई ही रत्यादि की रसता है ।)** इस कारण से इसकी (रस की) स्वप्रकाशता **(और)** अखण्डता (पूर्णता) सिद्ध होती है ।

टिप्पणी—(१) रस रत्यादिक ज्ञान स्वरूप ही है और ज्ञान की स्वप्रकाशता तथा अखण्डता सिद्ध ही है । अतएव रस भी स्वप्रकाश और अखण्ड सिद्ध होता है ।

(२) जो-जो वस्तु ज्ञानमय होती है, वह-वह वस्तु स्वप्रकाश और अखण्ड होती है । यह रस भी ज्ञानमय है, अतः इसकी भी स्वप्रकाशता और अखण्डता है ।

अर्थ—यदि रत्यादिक स्थायीभाव प्रकाशशरीर अर्थात् ज्ञान के स्वरूप से अतिरिक्त (भिन्न) माने जायें तो इसकी (रस की) स्वप्रकाशता (उपलक्षण के द्वारा) और अखण्डता सिद्ध न हो सके (किन्तु) ऐसा है नहीं अर्थात् रत्यादिक प्रकाश शरीर से भिन्न नहीं है, **(क्योंकि) (रस के सम्पादक रत्यादिकों का ज्ञान के साथ)** तादात्म्य **(अभेद)** स्वीकार किया गया है । **(उक्त अर्थ को प्रमाण के द्वारा पुष्ट करते हैं)** यदुक्तमिति—कहा भी है कि यद्यपीति—**(यद्यपि सिद्धान्त पक्ष में)** रस से अभिन्न होने के कारण चर्वणा भी **(आस्वादन भी, रस का तो कहना ही क्या है)** कार्यरूप नहीं है, तथापि कभी-कभी अनुभव होने के कारण (उसका) "कार्यत्व लक्षणा से स्वीकार करके चर्वणामात्र स्वरूप (अतएव) अनादि वासना के **(सामाजिकों के हृदयों में जो प्राक्तनी वासना है उसके द्वारा)** परिणामस्वरूप रत्यादिभाव में भी (कार्यत्व का) व्यवहार होता है (वस्तुतः रस अकार्य ही है-चर्वणा की परम्परा से रस के अन्दर भी गौणरूप से "रस की उत्पत्ति होती है" इसप्रकार कार्य का व्यवहार कर लिया जाता है और चर्वणा अर्थात् आस्वाद से रत्यादि की अभिन्नता सिद्ध है) (निष्कर्ष—**इसप्रकार रत्यादिभाव चर्वणा से अभिन्न और चर्वणा रस से अभिन्न सिद्ध हुई ।)** प्रश्न—**यदि परिणामवादियों के मत में रत्यादि का ज्ञान से तादात्म्य और स्वप्रकाशता हो जाये तो** "स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः" **इससे रसकी आनन्दमयता** "चमत्कार प्राप्यः" **इससे चमत्कारमयता जो कही है, वह असंगत है क्योंकि विजातीयों के मत में चिदानन्द और चमत्कार इन दोनों की एकरूपता असम्भव है ।** उत्तर—सुखादीति सुख आदि

चास्माकीं सिद्धान्तशय्यामधिशय्य दिव्यं वर्षसहस्रं प्रमोदनिद्रामुपेयाः' इति च। 'अभिन्नोऽपि स प्रमात्रा वासनोपनीतरत्यादितादात्म्येन गोचरीकृतः' इति च। ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दण्डः। तादात्म्यादेवास्याखण्डत्वम्।

की—("आदि" **पद से चमत्कार का ग्रहण होता है**) आनन्द और प्रकाशरूपता का तादात्म्य (अभेद) स्वीकार कर लेने पर हमारी (आलङ्कारिक सम्प्रदाय सम्बन्धी) सिद्धान्तरूप शय्या का आश्रय लेकर ("रस सुखमयश्चिन्मयश्चमत्कारमयः" तस्माद् लौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्" **अर्थात् रस सुखमय है, चिन्मय है और चमत्कारमय" है–अतः यह रस सहृदय सामाजिकों के द्वारा संवेद्य अलौकिक ही है। इस सिद्धान्त को मानकर**) देवताओं के हजार वर्ष पर्यन्त अर्थात् चिरकाल तक सुखपूर्वक निद्रा को प्राप्त करो (सोइये) [**अर्थात् आलंकारिकों के सिद्धान्तपक्ष को स्वीकार कर लेने पर कोई भी वादी जीतने में समर्थ नहीं हो सकता है–इसप्रकार अपने पक्ष का पोषण है।] (कहने का तात्पर्य यह है कि आलंकारिकों के सिद्धान्तानुसार रस अलौकिक है, अतः उसमें ज्ञानस्वरूपता, आनन्दमयता और चमत्कारप्राणता आदि सब धर्मों का समावेश हो सकता है। इस मत में हजारों वर्षों तक कोई दोष नहीं दे सकता, अतः निश्चिन्त रहिये) (रस की स्वप्रकाशता का उपसंहार करते हैं।)** अभिन्नोऽपीति—(रस अपने स्वरूप से) अभिन्न होता हुआ भी (**अर्थात् ज्ञान से अभिन्न भी**) प्रमाता के द्वारा **(चर्वणारूप प्रमा के द्वारा)** अनादिवासना के द्वारा उपनीत अर्थात् ज्ञान में प्रतिभासित जो रत्यादि हैं (उनके साथ) अभिन्न रूप से (तादात्म्य) प्रतीत होता है। (**अर्थात्** "चिदानन्दमयोऽयं पुरुषः" इतिवदुपचारः। **इसके द्वारा** "सभ्या एवात्र प्रमाणम्" **यह प्रदर्शित हो गया।]** प्रश्न—**नव्य नैय्यायिक ज्ञान को स्वयंप्रकाश नहीं मानते। वे अनुव्यवसाय से ज्ञान का ज्ञान मानते हैं। उनके ऊपर आक्षेप करते हैं)** ज्ञानस्येति—ज्ञान की स्वप्रकाशता को स्वीकार न करने वालों के ऊपर तो (मत में तो) (नव्य नैय्यायिकों के ऊपर) वेदान्तियों को ही दोष उपन्यस्त करना चाहिये। [(**अर्थात् यदि ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय से मानेंगे तो अनुव्यवसाय के ज्ञान के लिये एक और तीसरा ज्ञान मानना पड़ेगा। इसप्रकार अनुव्यवसाय मानने में अनवस्था दोष आता है**)। इसलिये सभी ज्ञानों की स्वतःप्रमाणता स्वीकार करके हमने भी (**आलंकारियों ने भी**) रसात्मक ज्ञान की स्वप्रकाशता स्वीकार की है। **वेदान्तियों के मत में "ज्ञानमयः आत्मा स्वप्रकाशः" है**] तादात्म्यादेवेति—(ज्ञान के साथ) तादात्म्य होने के कारण ही इसकी (रस की) अखण्डता है।

रत्यादयो हि प्रथममेकैकशः प्रतीयमानाः सर्वेऽप्येकीभूताः स्फुरन्त एव रसतामापद्यन्ते ।

तदुक्तम्—

'विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः ।
प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो यान्त्यखण्डताम् ।।' इति ।

'परमार्थतस्त्वखण्ड एवायं वेदान्तप्रसिद्धब्रह्मतत्त्ववद्वेदितव्यः' इति च ।

अवतरणिका:—शंका—रत्यादि और विभावादिकों का अनेक प्रकार से विषय-भेद होने के कारण एकरूपता कैसे सम्पन्न हो सकती है। इस विषय में कहते हैं:—

अर्थः—रत्यादि (**"आदि" पद से विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव का ग्रहण होता है**) पहले (**नाट्य दर्शन के प्रारम्भ में अथवा रसावस्था से पूर्व**) पृथक्रूपेण (एक एक करके) प्रतीत होते हुये (**पश्चात्**) सभी (**विभावादि**) एकाकार होकर (**व्यञ्जना के द्वारा एक ज्ञान के विषय होकर**) चिद्रूपता को प्राप्त होते हुये ही (**पृथक् पृथक् प्रकट नहीं होते हैं—यह बताने के लिये ही "एव" शब्द का प्रयोग किया है**) रसरूप में परिणत हो जाते हैं। (**उक्त अर्थ को प्रमाण के द्वारा पुष्ट करते हैं**) तदुक्तमिति—यही कहा भी है—विभावा इति—विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी भाव पहले (**रसोत्पत्ति से पूर्व**) खण्डशः (**पृथक् पृथक्**) प्रतीत होते हुये अखण्डता को (**एकरूपता को, पूर्णता को**) प्राप्त होते हैं। (**इस कारिका के अन्दर, "सात्विक और अनुभाव" का गोवलीवर्द न्याय से पृथक् पृथक् ग्रहण कर दिया है**)। (**शंका—रस की और ज्ञान की तादात्म्यता स्वीकार कर लेने पर भी रस की अखण्डता सिद्ध नहीं होती है क्योंकि सुख और चमत्कार के अन्दर एकता सम्भव नहीं है? इसका समाधान करते हैं**) परमार्थतस्त्विति—वस्तुतः (**अलौकिक स्वभाव वाला होने के कारण**) यह रस वेदान्त प्रसिद्ध ब्रह्मतत्व की तरह अखण्ड ही समझना चाहिये (**अर्थात् जिसप्रकार वेदान्त के अन्दर "चिदानन्दोऽयं पुरुषः" ऐसा कहकर ब्रह्म के चिन्मय और आनन्दमय स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है उसीप्रकार नाट्य दर्शन के आरम्भ में विभावादि के भेद से सखण्ड प्रतीत होने पर भी क्रमशः रस भी वस्तुतः व्यञ्जना के द्वारा एक ज्ञान की अनुभूति के समय में अखण्ड ही है क्योंकि चित्, आनन्द और चमत्कार इन तीनों की एक रसरूपता है। इतना कहने से वेद्यान्तर-स्पर्शशून्यत्वं, ब्रह्मास्वादसहोदरत्वम्, अखण्डत्वम्, अलौकिकत्वम्—यह सभी कुछ प्रति-पादित कर दिया—ऐसा समझ लेना चाहिये।**]

।। इति रस निरूपणम् ।।

अथ के ते विभावानुभावव्यभिचारिण इत्यपेक्षायां विभावमाह—

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः ।

ये हि लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त एव काव्ये नाट्ये च निवेशिताः सन्तः 'विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः' इति विभावा उच्यन्ते। तदुक्तं भर्तृहरिणा—

'शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षानिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ॥' इति ।

तद्भेदावाह—

आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।

विभावनिरूपणम्:—

अर्थः—इसके बाद (**सयुक्तिक "रस स्वरूप" का वर्णन करने के उपरान्त**) वे कौन से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव हैं" ऐसी आकांक्षा करने पर "विभाव" का वर्णन करते हैं—

लोक में जो रत्यादिकों के (**अनादिकालीन वासना से अन्तर्लीन रति, हास आदि स्थायीभावों के**) उद्बोधक हैं (**वे ही**) काव्य और नाटकों के अन्दर "विभाव" कहलाते हैं।

टिप्पणी—यद्यपि "**काव्य**" शब्द के कथन से नाटकों का भी ग्रहण हो जाता है परन्तु पुनरपि नाट्य पद का पृथक् व्यवहार करने से "**गोवलीवर्दन्याय**" से काव्यों में उनकी प्रधानता को बतलाने के लिये हैं।

अर्थः—(**उक्त कारिका को स्पष्ट करते हैं**) क्योंकि लोक में जो रामादिनिष्ठ रति, हास आदिकों के (**यहाँ पर "आदि" पद से सीतादिकों का ग्रहण होता है अर्थात् रामसीतादि निष्ठरत्यादिकों के**) उद्बुद्ध करने के कारण सीतादि हैं। (**यहाँ "आदि" पद से रामादि का ग्रहण होता है**) (**अर्थात् रामादिनिष्ठ के उद्बोधक सीतादि, और सीतादिनिष्ठ रत्यादि के उद्बोधक रामादि हैं**) वे ही (**रामादि ही**) काव्य और नाटक में निवेशित किये हुये "विशेषरूप से भावित किये जाते हैं अर्थात् रसास्वाद की अङ्कुर की तरह उत्पत्ति के योग्य किये जाते हैं, सामाजिकनिष्ठ रत्यादि के भाव इनसे" इसप्रकार (**की व्युत्पत्ति से व्युत्पन्न**) "विभाव" कहलाते हैं। (**अर्थात् सीतादि के दर्शन या श्रवण से ही, सहृदयों के हृदय में वासनारूप से स्थित रत्यादि भाव रसरूप में परिणत होते हैं। यही "विभाव" शब्द का व्युत्पत्ति निमित्त अर्थ है।**) तदुक्तमिति—इसी प्रकार का (आचार्य) भर्तृहरि ने कहा है—

शब्देनेति—शब्दों से-अर्थात् काव्यान्तर्गत पदों से प्रकाशित किया है स्वरूप जिनका ऐसे (अतएव) बुद्धि की विषमता को प्राप्त हुये प्रसिद्ध कंसादिकों को (**वीर रस के आलम्बन विभावरूप से वर्तमान**) प्रत्यक्षवत् (**रसों के**) साधन रूप से (**वीर रस का निष्पादक होने के कारण (सहृदय)** समझने लगते हैं।

तद्भेदावाह—विभाव के दो भेद बतलाते हैं—

उसके (**विभाव के**) आलम्बन और उद्दीपन नाम वाले दो भेद कहे गये हैं। **अर्थात् विभाव के दो भेद होते हैं**—(१) आलम्बन विभाव और (२) उद्दीपन विभाव)

स्पष्टम् । तत्र—

आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोदगमात् ॥ २९ ॥

आदिशब्दान्नायिकाप्रतिनायिकादयः । अथ यस्य रसस्य यो विभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

तत्र नायकः—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥ ३० ॥

दक्षः क्षिप्रकारी । शीलं सद्वृत्तम् । एवमादिगुणसम्पन्नो नेता नायको भवति ।

तद्भेदानाह—

टिप्पणी—(१) अग्निपुराण में भी विभाव के दो भेदों का उल्लेख है—

"विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते ।
विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः ॥" इति ॥"

अर्थ—स्पष्टमिति—**(कारिका की व्याख्या) स्पष्ट है** । तत्रेति—**उनमें से (अर्थात् आलम्बन और उद्दीपन विभावों में से आलम्बन विभाव का वर्णन करते हैं)**—

अर्थ—आलम्बन नायकादि **(होते हैं) (यहाँ पर "आदि" पद से नायिकादिकों का भी ग्रहण हो जाता है)** (क्योंकि) उसका **(नायकादिका)** आश्रय लेकर रस का **(शृंगारादि का)** उद्गम होता है ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि नायक आदि का आश्रय लेकर रसोत्पत्ति होती है, अतः नायक आदि "**आलम्बन विभाव**" होते हैं ।

अर्थ—**(उक्त कारिक में)** "आदि" पद से **(शृंगार रस में सीतादि)** नायिकाओं और प्रतिनायिकाओं का ग्रहण होता है । यहाँ जिस रस का जो विभाव है वह उसी के **(उसी रस के)** स्वरूप वर्णन में कहा जायेगा ।

टिप्पणी—(१) **आग्नेयपुराण** में कहा भी है—

"रत्यादि भाववर्गोऽयं ययाजीव्योपजायते ।
आलम्बनविभावोऽसौ नायकादिभवस्तथा ॥ इति ॥"

(२) आलम्बन विभाव का लक्षण—**"रसप्रकृतिभूत रत्याद्याश्रयत्वमालम्बन-विभावत्वमिति"** ।

नायकनिरूपणम्—

अर्थ—तत्र नायकः उनमें से नायक (का लक्षण करते हैं) ।

त्यागी, **(दानशील दाता)** कृती **(वीर, कृतकार्य अथवा विद्वान्, पुण्यात्मा)**, कुलीन **(सत्कुलोत्पन्न)**, लक्ष्मीवान् अथवा शोभासम्पन्न, रूप; यौवन और उत्साह से युक्त, दक्ष **(क्षिप्रकारी)** जिसमें प्रजायें अनुरक्त हैं (Popular), तेजस्वी, चतुर और शीलवान् **(इन गुणों से युक्त)** नेता होता है ।

(कारिका के अन्दर आये हुये "कृती" और "दक्षः" तुल्य हैं अतः पुनरुक्ति सम्भव है, ऐसा सोचकर व्याख्या करते हैं) दक्ष इति—दक्ष का अर्थ क्षिप्रकारी है । ("क्षिप्रं करोतीति क्षिप्रकारी—**अर्थात् शीघ्र कार्य को करने वाला, आलस्य शून्य**) ।" "शीलनम" का अर्थ सद्वृत्त है । इत्यादि गुणों से सम्पन्न नेता नायक होता है ।

नायक-भेद-निरूपणम्—

तद्भेदानाह—उसके (नायक के) भेदों को कहते हैं—

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च ।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः ॥ ३१ ॥

स्पष्टम् ।

तत्र धीरोदात्तः—

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥ ३२ ॥

अविकत्थनोऽनात्मश्लाघाकरः । महासत्वो हर्षशोकाद्यनभिभूतस्वभावः । निगूढमानो विनयच्छन्नगर्वः । दृढव्रतोऽङ्गीकृतनिर्वाहकः । यथा—रामयुधिष्ठिरादिः ।

अथ धीरोद्धतः—

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः ।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ॥ ३३ ॥

यथा भीमसेनादिः ।

---

(१) धीरोदात्त (उदार प्रकृति) (२) धीरोद्धात (अविनीत प्रकृति) तथा (३) धीरललित (मृदु प्रकृति) और (४) धीरप्रशान्त (विनीत प्रकृति) ये (नायक के) प्रथम चार भेद हैं ।

टिप्पणी—अग्निपुराण में भी कहा है—

"धीरोदात्तो धीरोद्धतः स्याद्धीरललितस्तथा ।
धीरप्रशान्त इत्येवं चतुर्धा नायकः स्मृतः" ॥ इति ॥"

तत्र धीरोदात्त इति—उनमें से (उक्त चार प्रकार के नायकों में से सबसे पहले धीरोदात्त (का लक्षण करते हैं)—

अपनी प्रशंसा स्वयं न करने वाला (अनात्मश्लाघी), क्षमावान् (अपकार करने वाले के प्रति अपकार करने का सामर्थ्य होने पर भी उससे विपरीत क्षमा गुण से युक्त), अतिगम्भीर (दूसरे के द्वारा दुर्ज्ञेय अभिप्राय वाला), महासत्व (हर्ष और शोक से अनभिभूत चित्त वाला), स्थिर प्रकृति वाला, प्रच्छन्न मान वाला (निरभिमान) सत्यप्रतिज्ञ (अपनी बात का पक्का) धीरोदात्त नामक नायक कहा गया है ।

(कारिकागत शब्दों की व्याख्या करते हैं) अविकत्थन इति—अविकत्थनः = अपनी प्रशंसा न करने वाला । महासत्वः हर्ष, शोक आदि से जिसका चित्त अभिभूत नहीं होता है । निगूढमानः = विनय से प्रच्छन्न गर्ववाला । दृढव्रतः = स्वीकार की हुई बात का निर्वाह करने वाला । जैसे—राम (और) युधिष्ठिरादि ।

टिप्पणी—यथा-रामं प्रति—"आहूयस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥
इति ॥

अर्थ—अथ धीरोद्धतः—इसके बाद (धीरोदात्त का लक्षण करने के उपरान्त) धीरोद्धत का लक्षण करते हैं ।

अर्थ—मायावी—(दूसरे का वचन करने में तत्पर), उग्र प्रकृति वाला, चञ्चल (अस्थिर स्वभाव) अहंकार ("मैं महान् हूँ" इसप्रकार का ज्ञान विशेष अहंकार कहलाता है) और दर्प (शौर्यवान) की बहुलता वाला, अपनी प्रशंसा का गान करने वाला नायक धीरपुरुषों के द्वारा "धीरोद्धत" कहाता है । यथा—भीमसेनादि । शंका—यदि "धीरोद्धत" नायक के लक्षण में "मायापरः" अर्थात् दूसरे को प्रतारण करने में तत्पर—यह भी लक्षण मानेंगे तो भीमसेन ने तो कहीं पर भी दूसरे के

अथ धीरललितः—

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् ।

कला नृत्यादिका । यथा—रत्नावल्यादौ वत्सराजादिः ।

अथ धीरप्रशान्तः—

सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात् ॥३४॥

यथा—मालतीमाधवादौ माधवादिः ।

प्रतारण में तत्परता दिखाई नहीं है अर्थात् उसके अन्दर "मायापरः" यह विशेषण घटित नहीं होता है । अतः भीमसेन तो फिर धीरोद्धत नायक हुआ नहीं । अथवा रामचन्द्र जी ने अपने आपको छिपाकर बालि का वध किया था—अतः क्यों न उनका "धीरोद्धत" नायक की श्रेणी में ले आया जाये । इसीप्रकार "अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा" इस वाक्छल के द्वारा द्रोणाचार्य का वध युधिष्ठिर ने करवाया था,—अतः युधिष्ठिर भी "धीरोद्धत" नायक की कोटि में आते हैं। इन कारणों से "धीरोद्धतः" का किया हुआ लक्षण अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामक दोष से ग्रस्त होने के कारण दोषशून्य नहीं है । उक्त लक्षण में सदोषता आती है ।

उत्तर—तुम्हारा कहना ठीक है पर यहाँ केवल "धीरोद्धतः" के लक्षण के अन्दर स्वाभाविक अहंकार और दर्प के बाहुल्य का कथन था । अतः किसी अन्य प्रकार की चिन्तना नहीं करनी चाहिये । अपितु इस लक्षण को मान लेने पर "मुद्राराक्षसादि" के अन्दर प्रतिनायक मलयकेतु आदि भी "धीरोद्धत" नायक मान लिये जावेंगे ।

अर्थ—अथ धीरललितः—इसके बाद (धीरोद्धत नायक के लक्षणोपरान्त) धीरललित (का लक्षण करते हैं)—

निश्चिन्त (चिन्तारहित अर्थात् मन्त्रिवर्ग पर सम्पूर्ण राज्यभार को डालकर अपने आप में उद्वेगशून्य) ऋजु स्वभाव वाला (अप्रचण्डप्रकृति), निरन्तर (दिन-रात) नृत्यगीत आदि में संलग्न (नायक) "धीरललित" कहाता है । (कलापरः में प्रयुक्त) "कला" का अर्थ "नृत्य" आदि कलायें हैं, यथा—रत्नावली नाटिका आदि में वत्सराज आदि ।

टिप्पणी—पद्यं यथा—"राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ॥
प्रद्योतस्य सुतावसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्नाधृति
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥" इति ॥
(रत्नावली नाटिका)

अर्थ—अथ धीरप्रशान्तः—इसके बाद (धीरललित के लक्षणोपरान्त) धीरप्रशान्त (का लक्षण करते हैं)—

(त्यागी, कृति इत्यादिक कहे हुये नायक के) सामन्य गुणों से परिपूर्ण (भूयान्) ब्राह्मणादि धीरप्रशान्त नामक नायक होता है । (अर्थात् धीरोदात्तादि तीनों प्रकार के नायकों से भिन्न नायक धीरप्रशान्त होता है) यथा मालतीमाधवादि में माधवादि (यहाँ "आदि" पद से मृच्छकटिक में चारुदत्तादि का ग्रहण होता है) ।

एषां च शृङ्गारादिरूपत्वे भेदानाह—

एभिर्दक्षिणधृष्टानुकूलशठरूपिभिस्तु षोडशधा ।

तत्र तेषां धीरोदात्तादीनां प्रत्येकं दक्षिणधृष्टानुकूलशठत्वेन षोडशप्रकारो नायकः ।

एषु त्वनेकमहिलासु समरागो दक्षिणः कथितः ॥३५॥

द्वयोस्त्रिचतुःप्रभृतिषु नायिकासु तुल्यानुरागो दक्षिणनायकः ।

यथा—

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता, वारोऽङ्गराजस्वसु-
द्यूतै रात्रिरियं जिता कमलया, देवी प्रसाद्याद्य च ।

और इसके (**उक्त चार प्रकार के धीरोदात्तादि नायकों के** शृङ्गारादिरूप में (पुनः अवान्तर भेदों को बताते हैं ।

इनसे (**धीरोदात्तादि नायकों से**) दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ रूप से सोलह प्रकार के (नायक) होते हैं ।·(**अर्थात्** (१) **दक्षिण धीरोदात्त,** (२) **दक्षिण धीरोद्धत** (३) **दक्षिण धीरललित** (४) **दक्षिण धीरप्रशान्त-इसीप्रकार "धृष्ट" आदि की योजना से सोलह प्रकार के नायक होते हैं ।**]

टिप्पणी—शृङ्गाररस के अन्दर केवल सोलह प्रकार के नायक होते हैं । दूसरे रसों में तो चार प्रकार के ही नायक होते हैं ।

अर्थ—शृङ्गाररस से उन धीरोदात्तादि में से प्रत्येक के दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ इस रूप से (भेद होने के कारण) सोलह प्रकार के नायक होते हैं ।

अवतरणिका—दक्षिण नायक का लक्षण करते हैं—

इनमें से (**दक्षिण आदि चार प्रकार के नायकों में से**) अनेक स्त्रियों में (**नायिकाओं में**) तुल्य अनुराग रखने वाले को (साहित्य मर्मज्ञों ने) "दक्षिण" नायक कहा है । द्वयोरिति—दो (नायिकाओं में, अथवा तीन या चार इत्यादि नायिकाओं में तुल्य अनुराग रखने वाला "दक्षिण" नायक कहलाता है) ।

यथा—(**उदाहरण देते हैं**)—स्नातेति (**अन्तःपुर सञ्चारी किसी आप्त प्रतिहारी की किसी राजा के प्रति उक्ति है**) कुन्तलेश्वर की कन्या स्नान करके (**ऋतु स्नान करके**) (**अतः उसके पास अवश्य होना चाहिये**), निवृत्त हुई है (**किन्तु**) अङ्गराज की बहिन का (**सम्भोग के लिये नियत किया हुआ**) दिन है, कमला (**नाम की किसी राजपत्नी ने**) ने द्यूतक्रीड़ा के द्वारा यह आने वाली रात्रि जीत ली है (**पणत्वेन जीत ली है, अतः उसके यहाँ भी जाना है**) और आज (आपको) महारानी को भी मनाना है (**क्योंकि स्वयं अपराध किया है**) इसप्रकार [**अर्थात "ऋतौ भार्यामुपेयात्" इसप्रकार का विधान है, अतः जो कोई भी ऋतुस्नाता पत्नी है, उसका सम्मान करना चाहिये (उसके पास जाना ही चाहिये और फिर वह तो कुन्तलेश्वर की कन्या है अर्थात् उसके पास तो अवश्य जाना चाहिये । साधारण कामनियों के पास भी नियत समय पर अवश्य जाना चाहिये, और फिर अङ्गराज की बहिन का तो कहना ही क्या है ? साधारण व्यक्तियों के साथ सामान्य पराजय हो जाने पर भी उसकी वशवदता स्वीकार करनी पड़ती है, और फिर**

इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ।।

कृतागा अपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः ।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः ।।३६।।

यथा मम—

'शोणं वीक्ष्य मुखं विचुम्बितुमहं यातः समीपं ततः
पादेन प्रहृतं तया, सपदि तं धृत्वा सहासे मयि ।
किञ्चित्तत्र विधातुमक्षमतया बाष्पं सृजन्त्याः सखे,
ध्यातश्चेतसि कौतुकं वितनुते कोपोऽपि वामभ्रुवः ।।

लक्ष्मी की कान्ति से युक्त कमला के साथ तो जुआ खेलने से विशेष पराजय हुई है। अतः उसके यहाँ भी जाना ही चाहिये। इसप्रकार उत्तरोत्तर कार्यों के गुरु होने पर भी महामान्या महादेवी को अनुनय, विनय के द्वारा मनाना ही इन सब कार्यों में सर्वोपरि है—यह सूक्ष्म रहस्य निकलता है] मेरे द्वारा (**अन्तःपुर सञ्चारी कञ्चुकी के द्वारा**) अन्तःपुर की सुन्दरियों के विषय में जानकर (**अर्थात् जिसके विषय में जो कुछ भी कहना है वह सब जानकर**) निवेदन करने पर महाराज किंकर्तव्य विमूढ़ मन से दो तीन घड़ी तक (**कर्तव्य निश्चय करने के लिये चुप**) बैठे रहे।

टिप्पणी—(१) इस पद्य के अन्दर चारों ही नायिकाओं के अन्दर तुल्य स्नेह होने के कारण ही कर्तव्यविमूढ़ होने से राजा का "**दक्षिण नायकत्व**" है। अर्थात् इससे राजा का सभी रानियों में समान अनुराग प्रतीत होता है। यदि किसी में विशेष अनुराग होता तो इतने सोचविचार की आवश्यकता नहीं थी। कारण ऐसे हैं कि सभी के यहाँ जाना चाहिये, परन्तु अकेले राजा कहाँ किसके पास जायें, इसी की चिन्ता है।

अवतरणिका—क्रमप्राप्त "धृष्ट" नायक का लक्षण करते हैं:—

अर्थ—(**किसी कार्य से प्रिया के प्रति**) अपराध करने पर भी (**अपराध न करने पर तो कहना ही क्या**) निर्भय, (**प्रिया के द्वारा**) भर्त्सना किया जाता हुआ भी लज्जित न होने वाला (**तथा प्रिया के द्वारा**) दोष दीख जाने पर भी मिथ्या बोलने वाला, (**मैंने यह नहीं किया है, या मैं ऐसा नहीं हूँ—इसप्रकार अयथार्थ कहने वाला**) "धृष्ट" नायक कहलाता है।

अर्थ—जैसे मेरा (**अर्थात् अपना बनाया हुआ उदाहरण देते हैं**)—शोणमिति—(**प्रवास में धृष्ट नायक की अपने मित्र के प्रति यह उक्ति है**) (हे सखे!) मैं (**अपराध करने के उपरान्त भी**) (उसके) मुख को लाल (**मेरे अपराध से**) देखकर (**भी**) चुम्बन करने के लिये उसके पास गया, उसके बाद उसने (**क्रोधित मेरी पत्नी ने**) पैर से (**मेरे ऊपर**) प्रहार किया; उसी क्षण (**जैसे ही यादप्रहार किया उसी समय**) उस पैर को पकड़कर मेरे हसने पर उस विषय में (**पैर को छुड़ाने में**) कुछ करने में असमर्थ होने के कारण वाष्प बिन्दुओं को छोड़ती हुई सुन्दरी का (**मेरी प्रिया का**) क्रोध भी (**अनुराग के समय का तो कुछ कहना ही नहीं**) मन में याद आने पर आनन्द को उत्पन्न करता है।

अनुकूल एकनिरतः—

एकस्यामेव नायिकायामासक्तोऽनुकूलनायकः।

यथा—

अस्माकं सखि ! वाससी न रुचिरे, ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं,
नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं, नैवास्ति कश्चिन्मदः।

टिप्पणी—इस पद्य के अन्दर "धृष्ट नायक" के जो तीन विशेषण दिये हैं अर्थात् (१) **कृतागा अपि निःशंकः**, (२) **तर्जितोऽपि न लज्जितः** और (३) **दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्**—इनमें प्रथम दो के उदाहरण विद्यमान हैं। यहाँ पर स्वयं अपराध करके भी गुस्से से लाल हुये अपनी प्रिया के मुख का चुम्बन करने के लिये जाना उसकी निर्भयता (**निःशंकत्वम्**) सूचित करता है। तथा पादप्रहार से अपमान होने पर भी उसका (नायक का) पैर पकड़कर हंसना उसकी निर्लज्जता को सूचित करता है।

(२) अन्तिम "**दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्**"—का उदाहरण कहीं अन्यत्र "मालविकाग्निमित्रम्" इत्यादि में देखना चाहिये।

अवतरणिका—क्रमप्राप्त "अनुकूल" नायक का लक्षण करते हैं—

अर्थ—(जो नायक) एक ही नायिका में (**दो या दो से अधिक नायिकाओं में नहीं**) अनुरक्त रहे वह अनुकूल नायक (होता) है।

एक ही नायिका में आसक्त "**अनुकूल**" नायक (कहाता) है। जैसे—

अवतरणिका—अपने प्रिय पति के प्रेम के कारण अपने सौभाग्य को बताने वाली किसी नायिका की अपनी सखी से यह उक्ति है।

अर्थ—(हे) सखि ! मेरे दोनों वस्त्र (**परिधेय और उत्तरीय**) सुन्दर नहीं हैं, (**और**) न कण्ठ का आभूषण उज्ज्वल है (**रत्नजटित न होने के कारण शोभाशाली भी नहीं है**), गति (भी) वक्र भाव से युक्त नहीं है (**अर्थात् सविलास गति नहीं है**), हंसी भी उद्धत नहीं है (**प्रियतम के चित्त को आकर्षित करने में समर्थ नहीं है**) और न किसी प्रकार का मद ही (**सौभाग्य और यौवन से उत्पन्न होने वाला मनोविकार**) है (**तात्पर्य यह है कि प्रियतम को अपनी ओर आकर्षित करने वाली कोई भी बात मेरे अन्दर नहीं है अर्थात् न तो मेरे वस्त्र ही सुन्दर हैं, आभूषण भी मन को हरने वाले नहीं हैं, मेरी चाल के अन्दर किसीप्रकार का वैशिष्ट्य नहीं है, हंसी भी कोई विशेष आकृष्ट करने वाली नहीं है और न किसीप्रकार का मनोविचार ही है**) किन्तु (**तो भी**) दूसरे मनुष्य भी (**अपने व्यक्तियों का तो कहना ही क्या**) (**मुझे लक्ष्य कर**) कहते हैं (कि) सुन्दर होता हुआ भी (**अर्थात् देखने और सुनने मात्र से यह दूसरी कामिनियों के मनों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है**) अथवा मनोज्ञ भी इसका प्रिय किसी दूसरे पर (**अर्थात् अपनी प्रिया से भिन्न किसी अन्य स्त्री पर**, दृष्टि नहीं डालता है। इसप्रकार कहने से (यह सारा) विश्व दुःखी है (मुझे छोड़कर), इसप्रकार समझती हूँ। अथवा

किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो,
दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम् ॥

—शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति ॥ ३७ ॥

यः पुनरेकस्यामेव नायिकायां बद्धभावो द्वयोरपि नायिकयोर्बहिर्दर्शितानुरागोऽन्यस्यां नायिकायां गूढं विप्रियमाचरति स शठः।

यथा—

'शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः।

इयतेति—इतना मिथ्या कहने से सारा ही संसार (**आत्मीयजन और परकीयजन मेरे प्रति**) दुष्ट चित्त वाला है, ऐसा समझती हूँ। (**अर्थात् यह संसार दूसरे के सौभाग्य से आनन्दित होने वाला नहीं है अपितु दूसरे के सुख को देखकर ईर्ष्या करने वाला है**)।

टिप्पणी—इस पद्य के अन्दर "**नायक**" एक ही नायिका में अनुरक्त होने के कारण "**अनुकूल**" नायक है।

अवतरणिका—क्रमप्राप्त "शठ" का लक्षण करते हैं—

अर्थ—जो (नायक) एक नायिका के अन्दर (तो) प्रगाढ़रूपेण अनुरक्त है, (अतएव) दूसरी नायिका में दिखाया है (**भूषणदानादि के द्वारा प्रकट किया है**) बाह्य अनुराग जिसने (**सुरत के अतिरिक्त प्रेम जिसने**) ऐसा (होता हुआ) गुप्तरूपेण अनिष्ट करता है (वह) यह "शठ" नामक (नायक) होता है। जैसे—

जो (नायक) एक ही नायिका के अन्दर बद्ध अनुराग वाला होता (हुआ भी) दोनों ही नायिकाओं को बाह्यरूपेण दिखाया है अनुराग जिसने ऐसा दूसरी नायिका के विषय में गुप्तरूपेण अनिष्ट करता है उसे "शठ" नायक कहते हैं।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि **शठ** नायक वह होता है जो अनुराग तो किसी अन्य नायिका से करे परन्तु प्रकृत नायिका के अन्दर भी बाह्य अनुराग दिखलाता हुआ प्रच्छन्नरूपेण उसका अनिष्ट करता है।

अवतरणिका—नायिका का अनिष्ट करने वाले नायक की भर्त्सना करती हुई सखी की यह उक्ति है।

अर्थ—(हे) शठ ! दूसरी (**नायिका**) की काञ्चीमणि के शब्द को सुनकर (**मेरी सखी का**) आलिङ्गन न करते हुये ही झटिति (**आलिङ्गन को आरम्भ करने के समय ही**) जो (तू) अत्यन्तशिथिलबाहुपाश वाला हो गया था (**अर्थात् मेरी सखी का आलिङ्गन करने के समय ही दूसरी नायिका के काञ्चीमणि के शब्द को सुनकर, उसके प्रति मन की प्रवृत्ति के कारण जो तूने आलिङ्गन छोड़ दिया था**) वह यह (**तेरा अप्रिय कार्य**) किसके सामने कहूँ (**कहीं भी उस बात को कहने का उचितपात्र नहीं देखती हूँ**) (**मिले हुये**) घृत और मधु (शहद) के समान (**अर्थात् मिले हुये घी और शहद के समान पूर्णरूपेण मधुर बोलते हुये भी अन्ततोगत्वा अनिष्ट करने वाले**। जिस

तदेतत्क्वाचक्षे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो-
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥'

एषां च त्रैविध्यादुत्तममध्याधमत्वेन ।
उक्ता नायकभेदाश्चत्वारिंशत्तथाऽष्टौ च ॥ ३८ ॥

एषामुक्तषोडशभेदानाम् ।

अथ प्रसङ्गादेतेषां सहायानाह—

दूरानुवर्तिनि स्यात्तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु ।
किञ्चित्तद्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्यः ॥ ३९ ॥

प्रकार घृत और मधु पहले तो स्वाद में अमृत की तरह मधुर होते हैं, परन्तु परिणाम में विष की तरह अनिष्ट की उत्पत्ति करने वाले होते हैं; उसीप्रकार तुम्हारे वचन भी पहले तो बड़े सुन्दर मालूम देते हैं परन्तु पश्चात् मनः पीडादि अनिष्ट आचरणों के द्वारा अनर्थ को उत्पन्न करने वाले हैं।) तुम्हारे अनेक प्रकार के **(अनुनय के लिये कहे हुये)** वचनरूपी विष से विमोहित होती हुई (मेरी) सखी कुछ भी **(हित या अहित)** नहीं समझती है । **(अर्थात् क्या कार्य करना चाहिये और क्या कार्य नहीं करना चाहिये यह निश्चय नहीं कर पाती है, अन्यथा इसप्रकार तुम्हारे बाह्य अनुराग से रुक जाती)।**

टिप्पणी—इस पद्य के अन्दर आती हुई नायिका के प्रति बद्धानुराग होने के कारण केवल आलिङ्गनरूप बाह्य अनुराग को प्रकट करने से अपनी प्रकृत नायिका के प्रति प्रच्छन्नरूपेण अनिष्टाचरण कर रहा है । अतः इसकी **"शठनायकता"** है ।

अवतरणिका—पुनरपि नायक के भेदों को दिखाते हैं ।

अर्थ—इनके **(इन सभी सोलह प्रकार के शृङ्गारिक नायकों के)** उत्तम, मध्यम और अधम रूप से तीन प्रकार के होने के कारण नायक के चालीस और आठ अर्थात् अड़तालीस भेद कहे गये हैं ।

टिप्पणी—कामशास्त्र के अन्दर "दत्तादि" जाति भेद से चार प्रकार के नायक कहे हैं—

पुनश्चतुर्धा कथितः कामशास्त्रेषु जातितः ।
दत्तो भद्रः कूचिमारः पाञ्चाल इति सूरिभिः ॥
पद्मिनीवल्लभो दत्तो, भद्रः स्याच्चित्रिणीप्रियः ।
पाञ्चालकूचिमारौ तु पद्मिनीशंखिनीप्रियौ ॥
इति मन्दारमरन्दे शुद्धबिन्दौ ॥

अर्थ—एषामिति—इनके अर्थात् कहे हुये सोलह भेदों के ।

नायक-सहाय-निरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद **(नायकों के निरूपण के अनन्तर)** प्रसङ्ग प्राप्त इनके (नायकों के) सहायकों का वर्णन करते हैं ।

अवतरणिका—सहायकों में से **"पीठमर्द"** का लक्षण करते हैं ।

अर्थ—उस नायक के बहुदूरव्यापी **(अत्यन्त विस्तार पाने वाले)** प्रासङ्गिक इतिवृत्त में उस नायक के सामान्य गुणों से कुछ न्यून गुणों वाला **(प्रायः नायक की तरह गुणवान)** इस नायक का "पीठमर्द" नायक ("कार्यविशेषेऽधिकृतत्वात्पीठं मृद्नातीति पीठमर्दः" इत्यन्वर्थ संज्ञा) सहायक होता है ।

तस्य नायकस्य बहुव्यापिनि प्रसङ्गसंगते इतिवृत्तेऽनन्तरोक्तैर्नायकसामान्य-गुणैः किञ्चिदूनः पीठमर्दनामा सहायो भवति । यथा-रामचन्द्रादीनां सुग्रीवादयः ।

अथ शृङ्गारसहायाः--

शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः ।
भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः ॥ ४० ॥

आदिशब्दान्मालाकाररजकताम्बूलिकगान्धिकादयः ।

तत्र विटः—

संभोगहीनसंपाद्विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः ।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥ ४१ ॥

चेटः प्रसिद्ध एव ।

अर्थ—(कारिका की व्याख्या करते हैं (उस नायक के बहुदूरव्यापी प्रासङ्गिक इतिवृत्त में पूर्वोक्त (अनन्तरोक्तैः) नायक के सामान्य गुणों से (**त्यागित्व, कृतित्व आदि**) कुछ कम (**गुणों वाला**) "पीठमर्द" नामक सहायक होता है । जैसे—रामचन्द्र आदिकों के सुग्रीवादि । (**यहाँ "आदि" पद से** "मालतीमाधव" में "मकरन्द" **का ग्रहण होता है ।**) ।

टिप्पणी—सुग्रीव प्रासाङ्गिक इतिवृत्त के नायक हैं और श्री रामचन्द्र जी के सुदूरवर्ती चरित (रावण वधादि) में सहायक हैं । एवं श्री रामचन्द्र जी के कई गुण न्यूनाधिक मात्रा में इनमें मिलते हैं । अतः ये "**पीठमर्द**" नामक सहायक है ।

अर्थ—इसके बाद (**शृङ्गार रस के अतिरिक्त नायक के सहायक का निरूपण करने के उपरान्त**) शृङ्गार (रस में) (नायक के) सहायकों का वर्णन करते हैं ।

इसके (इस नायक के) अनुरक्त (**भक्त**) परिहास करने में निपुण (अत एव) कुपित कामनियों के मान को भङ्ग करने वाले शुद्ध (**नायक के कार्यों में उदासीनता आदि दोषों से रहित अथवा परस्त्रीगमन के दोषों से रहित**) विट, चेट (**और**) विदूषकादि ("**आदि" पद से माली आदि का ग्रहण होता है**) शृङ्गार रस में सहायक होते हैं । आदिशब्दादिति—(**इस कारिका के अन्दर**) "आदि" शब्द से माली, धोबी, तमोली और गन्धी आदि (का ग्रहण होता) है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर नायिकाओं के भी विटादि सहायक होते हैं; ऐसा समझना चाहिये । इसीलिये वसन्तसेना का सहायक विट "**मृच्छकटिक**" में है । कलहंस आदि चेट "**मालतीमाधव**" आदि में हैं, और "**शकुन्तला**" आदि में विदूषक सहायक है । (२) आग्नेयपुराण में भी कहा है—

पीठमर्दो विटश्चैव विदूषक इति त्रयः ।
शृङ्गारे नर्मसचिवा नायकस्यानुनायिकाः ॥ इति ॥

(३) "**विट**" शब्द की व्युत्पत्ति—(१) **वेश्यानागरिकयोः परस्परं सन्देशं वटति कथयतीति विटः ॥**

(२) **एकविद्यो विटश्चेटः संधानकुशलो मतः" इति मन्दारमरन्दे ॥**

अर्थ—उनमें से (**विट, चेट और विदूषकादि में से**) "विट" (**का लक्षण करते हैं**)—

सम्यक् भोग के द्वारा नष्ट कर दी है सम्पत्ति जिसने ऐसा, (**अथवा**) संभोग के अयोग्य है (**संभोगेहीना**) सम्पत्ति जिसकी ऐसा (**अर्थात् संभोग के साधन न होने के**

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः ।।४२।।

स्वकर्म हास्यादि ।

अर्थचिन्तने सहायमाह—

मन्त्री स्यादर्थानां चिन्तायां—

अर्थास्तन्त्रावापादयः ।

कारण अकिञ्चित्कर) (कुछ "नपुंसक" ऐसा अर्थ भी करते हैं), धूर्त (कपटी स्वभाव **वाला अथवा द्यूतव्यसनी)**, नृत्यगीतादि कलाओं के एक अंश को जानने वाला (**सभी अंगों को नहीं**), वेश्यालय में होने वाले उपचारों में कुशल, (**अथवा**) वेश को सजाने में कुशल (**नेपथ्य की कला में निपुण**), अच्छा बोलने वाला, मधुरभाषी और गोष्ठी में समादृत (पुरुष) "विट" कहाता है ।

चेट अर्थात् दास (तो) प्रसिद्ध ही (है) (यह चेटीपुत्र होता है) ।

अवतरणिकाः—क्रम प्राप्त "**विदूषक**" का लक्षण करते हैं:—

अर्थः—**(विदूषक का लक्षण)** (किसी) पुष्प (अथवा) वसन्तादि पर नाम वाला (**अर्थात् या तो किसी पुष्प के नाम को आधार मानकर नाम हो या फिर वसन्त-काल वाची नाम हो । "आदि" पद से किसी दूसरे प्रकार का भी नाम हो सकता है । यथा–पुष्प के आधार पर नाम वाला विदूषक** यथा–रसालकादि । **वसन्तकालवाचक शब्द के आधार पर नाम वाला यथा–"शाकुन्तलम्" में** माधव्य । **किसी अन्य प्रकार का नाम यथा–"मालविकाग्निमित्र" में गौतम** ।) (और जो अपनी) क्रिया से, शरीर से, (शारीरिक चेष्टा विशेष से) वेष से (तथा) भाषा आदि से (सबको) हँसाने वाला कलह में (**लड़ाई कराने में**) अनुराग वाला (और) अपने कर्म को (**अर्थात् सभी स्थानों पर हास्य एवं भोजनादि के विषय में अभिरुचि प्रकट करने के द्वारा सबको हंसाने वाला**) जानने वाला (नायक का सहायक) "विदूषक" कहाता है ।

(**उक्त कारिका का अर्थ स्फुट होने के कारण केवल** "स्वकर्म" शब्द की व्याख्या **करते हैं**) "स्वकर्म" = **हास्यादि** अर्थात् अपने हास्यादि के विषय में सदा सावधान । (**"आदि" पद से "धन" आदि का ग्रहण समझना चाहिये**)

अर्थः—**(राजा के)** कार्यों के (**अर्थ**) चिन्तन में सहायक बताते हैं:—

(नायक राजा के) कार्यों के (**अर्थ**) विचार में मन्त्री (**सहायक**) होता है ।

(कारिका के अन्दर आये हुये "अर्थ" शब्द की व्याख्या करता है) "अर्थ" शब्द का अर्थ है "प्रयोजन । और राजाओं के ये प्रयोजन 'तन्त्र' और "आवापादि" कहलाते हैं । (**अर्थात् "तन्त्र" और "आवाप" आदि की चिन्ता में राजा के मन्त्री सहायक होते हैं**) ।

टिप्पणीः—"**तन्त्र**" और "**आवाप**" की व्याख्या करते हैं ।

(१) तन्त्रणं तन्त्रम् । स्वाधीनतया स्वदेशे क्रियमाणं किमपि कर्म यत्तत्सर्वं तन्त्रशब्दवाच्यम्—अर्थात् स्वाधीन होने के कारण अपने देश में किया जाने वाला जो कोई भी कार्य है वह सभी "तन्त्र" कहलाता है । और—

(२) आवापः—आं समन्तात् वपन्तीतिकर्तव्यताबीजमत्रेत्यावापः । परमण्डले क्रियमाणं कर्म आवापः—अर्थात् शत्रु के राज्य में जो कुछ भी कार्य किया जाता है वह "**आवाप**" कहलाता है ।

यत्त्वत्र सहायकथनप्रस्तावे—'मन्त्री स्वं चोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने' इति केनचिल्लक्षणं कृतम्, तदपि राज्ञोऽर्थचिन्तनोपायलक्षणप्रकरणे लक्षयितव्यम्, न तु सहायकथनप्रकरणे।

'नायकस्यार्थचिन्तने मन्त्री सहायः' इत्युक्तेऽपि नायकस्यार्थत एव सिद्धत्वात्। यदप्युक्तम्—'मन्त्रिणा ललितः शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः' इति, तदपि स्वलक्षणकथनेनैव लक्षितस्य धीरललितस्य मन्त्रिमात्रायत्तार्थचिन्तनोपपत्तेर्गतार्थम्। न चार्थचिन्तने तस्य मन्त्री सहायः, किं तु स्वयमेव संपादकः, तस्यार्थचिन्तनाद्यभावात्।

अर्थः—(नायकों के सहायक प्रकरण के अन्तर्गत दशरूपककार धनञ्जय के मत का निराकरण करते हैं) यत्त्वत्रेति—सहायकों के कहने के अवसर पर यह जो किसी ने **(दशरूपककार ने)** लक्षण किया है (कि)—"उसके (नायक के) अर्थचिन्तन में मन्त्री अथवा अपने आप (स्वयं नायक) अथवा दोनों (मन्त्री और राजा) सहायक (सखा) होते हैं," वह (सहायक कथन) राजा के अर्थ चिन्तन के उपाय का लक्षण करने के अवसर पर कहना चाहिये था, **(प्रकरण के अनुसार वहीं पर करना ठीक था) (नायक के) सहायकों के कथन के प्रकरण में नहीं (कहना चाहिये) (राजा के सहायकों के बीच में राजा का भी नाम गिनाना ठीक नहीं है क्योंकि अपनी अपने आप सहायता करना असम्भव है। सहायता के लिये तो किसी भिन्न व्यक्ति को ही होना चाहिये)** "नायक के अर्थ चिन्तन में मन्त्री सहायक होता है" इतना कहने पर भी नायक का (राजा का) अर्थतः ग्रहण हो जाता है **(उसके पृथक् कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः उक्त लक्षण में "स्वं च" इतना अंश व्यर्थ है। अतः** "अर्थचिन्तने मन्त्री सहायः" **इतना कहना ही पर्याप्त था। इससे "स्वं चोभयञ्च" यह व्यर्थ ही है)। यदप्युक्त-** मिति—यह जो कहा है (कि)—"मन्त्रिणेति–धीरललित नायक की मन्त्री के द्वारा ही (अर्थ सिद्धि होती है) और शेष (धीरोदात्तादि) मन्त्रियों पर और अपने ऊपर आश्रित है अर्थ सिद्धि जिनकी ऐसे होते हैं" **(अर्थात् धीरोदात्तादि नायक मन्त्रियों के साथ मिलकर कार्य को देखते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि धीरललित के अतिरिक्त तीनों प्रकार के नायकों में से किसी की सिद्धि मन्त्री पर आश्रित होती है, किसी की स्वायत्तसिद्धि होती है और किसी की उभयायत्तसिद्धि (राजा और मन्त्री) होती है।) (इस लक्षण के अन्दर "मन्त्रिणा ललितः" यह अंश अनावश्यक है क्योंकि)** अपने लक्षण को कहने के साथ ही **(धीरललित के लक्षण के द्वारा)** "निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्" इस धीरललित के लक्षण में "निश्चिन्तः" निश्चिन्त होने के कारण अर्थ की चिन्तना मन्त्री के आधीन ही होती है, अतः उसके लिये मन्त्री की सहायता का कथन करना गतार्थ ही है। अर्थ चिन्तन में उसका **(धीरललित नायक का)** मन्त्री सहायक नहीं होता है अपितु (वह) स्वयं ही **(मन्त्री ही) (सभी कार्यों का)** सम्पादक होता है (क्योंकि) उसको **(धीरललित को)** अर्थ की चिन्ता का अभाव होता है। **(यदि धीरललित नायक अर्थ की चिन्ता करने लगे तो उसके लक्षण में कथित "निश्चिन्तः" पद व्यर्थ हो जायेगा)।**

अथान्तःपुरसहायाः—

तद्वदवरोधे ।

वामनषण्ढकिरातम्लेच्छाभीराः शकारकुब्जाद्याः ।।४३।।
मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः ।
सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः ।।४४।।

आद्यशब्दान्मूकादयः । तत्र षण्ढवामनकिरातकुब्जादयो यथा रत्नावल्याम्-

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्यत्रपा-
मन्तःकञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।

टिप्पणीः—कहने का सारांश यह है कि सहायकों के कथन के प्रकरण में मन्त्रियों का ही सहायकरूपेण कथन करना ठीक था, अपना (राजा) या दोनों (राजा और मन्त्री) का सहायक के रूप में कहना ठीक नहीं था क्योंकि अपनी सहायता कोई अपने आप नहीं कर सकता। पुनः राजा किसके साथ अर्थ चिन्तन करे–ऐसी आशंका होने पर ही कहीं मन्त्री के साथ, कहीं अपने आप और कहीं दोनों मिलकर अर्थ चिन्तन करें–यह कहना ठीक था। धीरललित नायक का निश्चिततत्वेन कथन होने के कारण उसकी अर्थ सिद्धि मन्त्री के ही आधीन होती है क्योंकि वह अपने आप तो सारा कार्य भार मन्त्री पर छोड़कर निश्चिन्त रहता है। परन्तु यह भी अर्थ चिन्तन के उपाय के प्रकरण में ही कहना चाहिये था, राजा के सहायकों के कथन के प्रकरण में नहीं। और धीरललित नायक का मन्त्री सहायक नहीं होता है अपितु उसका स्वयं ही सम्पादक होता है। यदि मन्त्री का सहायक के रूप में कथन किया जावेगा तो उसकी भी अर्थचिन्तना का प्रसङ्ग होगा जो कि धीरललित लक्षण को दुष्ट कर देगा।

अर्थः—इसके बाद अन्तःपुर के सहायकों का निरुपण करते हैं

उसीप्रकार अन्तःपुर में वामन (**बौने**), नपुँसक (शाम्यति पौरुषाभावात् **इति षण्ढः**), किरात, अहीर, शकार, (**इसका लक्षण करेंगे**) कुब्जाकृति वाले-इत्यादि (**नायक के अन्तःपुर के सहायक होते**) हैं। (शकार का लक्षण करते हैं) मदेति—मद **और** मूर्खता के कारण अभिमानी (**"मैं महान्" हूँ इस ज्ञान वाला**) अथवा मद, मूर्खता और अभिमान है जिसमें ऐसा, नीचकुलोत्पन्न, धन और समृद्धि से युक्त, अविवाहिता स्त्री का भाई (अतएव) राजा का श्याल (साला) इसप्रकार का "शकार" नामक (**अन्तःपुर का सहायक**) कहलाता है। आद्यशब्दादिति—"कुब्जाद्याः" यहाँ "आद्य" पद से मूकादिकों का ग्रहण होता है। (**क्योंकि ये सभी स्वभावतः स्त्रियों के लिये अनुराग के अयोग्य हैं**)। तत्रेति—उनमें से षण्ढ, वामन, किरात, कुब्जादिकों के उदाहरण रत्नावली में (इसप्रकार हैं):—

नष्टमिति—(**रत्नावली नाटिका के अन्दर वानरवेष से आते हुये विदूषक को देखकर अन्तःपुर स्थित नपुंसकों के भागने का वर्णन है**) मनुष्यों के अन्दर गणना न होने के कारण लज्जा को छोड़कर नपुंसक (वर्षवर = षण्ढ) (**तो**) भय से भाग निकले (**सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति न होने के कारण नपुंसकों की गणना मनुष्यों में नहीं होती है**), यह (पुरोवर्ती) वामन वृद्ध कञ्चुकी के (**यह अन्तःपुर का द्वारपाल**

पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥
शकारो मृच्छकटिकादिषु प्रसिद्धः । अन्येऽपि यथादर्शनं ज्ञातव्याः ।
अथ दण्डसहायाः—

दण्डे सुहृत्कुमाराटविकाः सामन्तसैनिकाद्याश्च ।

दुष्टनिग्रहो दण्डः । स्पष्टम् ।

ऋत्विक्पुरोधसः स्युर्ब्रह्मविदस्तापसास्तथा धर्मे ॥४५॥

ब्रह्मविदो वेदविदः, आत्मविदो वा ।

होता है) कञ्चुक के बीच में घुस रहा है, दूर सञ्चरण करने वाले किरातों ने अपने नाम के ("किरं पर्यन्तं अतन्ति सञ्चरन्ति" इस व्युत्पत्ति के **अनुकूल**) सदृश काम किया (**अर्थात् दूर भाग गये**), अपने देखे जाने की शंका से कुब्ज लोग और भी नीचे होकर धीमे धीमे चल रहे हैं।

शकार इति—"शकार" मृच्छकटिक आदि प्रकरणों में प्रसिद्ध है। दूसरे अवशिष्ट भी (**म्लेच्छ, आभीर आदि**) यथादर्शन (**नायक के विशेष कार्यों में सहायक**) समझ लेना चाहिये।

टिप्पणी—"**वर्षवर**" का लक्षण इसप्रकार है—

"ये त्वल्पसत्वाः कुशलाः क्लीवाश्च स्त्रीस्वभाविनः ।
जात्या न दुष्टाः कार्येषु ते वै वर्षवराः स्मृताः ॥ इति ॥
नाट्यशास्त्रं स्त्रीषु सोपचाराध्याये ।

अर्थ—इसके बाद (**अन्तःपुर के सहायकों के निरूपणानन्तर**) दण्ड के सहायकों का वर्णन करते हैं—

दुष्टों के दमन करने में मित्र, (**अपनी समान आयु वाले राजा**), राजकुमार **अपने वंशवर्ती राजाओं के पुत्र**), अथवा मित्रों के पुत्र, वनचारी (**आटविक**) सामन्त (**अपने वशवती राजा गण**) सैनिक आदि (सहायक होते हैं)। दुष्टों का निग्रह करना "दण्ड" कहलाता है। शेष स्पष्ट है।

टिप्पणीः—इनमें से रामायणादि में श्री रामचन्द्रादियों के हनुमानादि मित्र थे। महाभारतादि में युधिष्ठिरादियों के अभिमन्यु आदि कुमार थे। वनचारियों की सहायता इसप्रकार होती है कि यदि दण्डनीय व्यक्ति जंगल में भाग गया है तो वनचारी क्योंकि जंगल के अन्दर रहते हैं अतः वे वनों से पूर्णतया परिचित होने के कारण उन दण्डनीय व्यक्तियों को पकड़वाने में सहायक होते हैं, जिसप्रकार मुद्राराक्षसादि में कौलूतादि। "**सैनिकाद्याः**" इसमें "**आदि**" पद से सेनापति इत्यादि शत्रु की विजय करने में नायक के सहायक होते हैं।

अवतरणिकाः—धर्म सहायकों का वर्णन करते हैं—

अर्थ—धर्म कार्यों में ऋत्विक्, पुरोहित, वेदार्थज्ञानी (**वेदवित्**) अथवा ब्रह्म और आत्मा की एकता को जानने (वाले **आत्मवित्**) (ब्रह्म वेद तदध्ययनार्थ व्रतमपि ब्रह्म विदन्ति ये ते ब्रह्मविदः) (**अर्थात् ब्रह्मज्ञानी**), **तपस्वी (ये सब सहायक होते हैं)**।

टिप्पणी—इस कारिका के द्वारा सूचित होता है कि राजा को सदा धर्म के तत्त्व को जानने वालों के साथ कार्य अथवा अकार्य का निर्णय करके दण्डनीय व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिये और दूसरों के प्रति दया प्रदर्शन के द्वारा दयालु होना चाहिये।

अत्र च—

उत्तमाः पीठमर्दाद्याः—

आद्यशब्दान्मन्त्रिपुरोहितादयः ।

—मध्यौ विटविदूषकौ ।

तथा शकारचेटाद्या अधमाः परिकीर्तिताः ।। ४६ ।।

आद्यशब्दात्ताम्बूलिकगान्धिकादयः ।

अथ प्रसङ्गाद् दूतानां विभागगर्भलक्षणमाह—

निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा संदेशहारकः ।

कार्यप्रेष्यस्त्रिधा दूतो दूत्यश्चापि तथाविधाः ।। ४७ ।।

अवतरणिका—इसप्रकार नायक के सहायकों का निरूपण करके उनके भेदों को दिखाते हैं ।

अर्थ—इनमें से "पीठमर्द" आदिकों को उत्तम (**सहायक समझना चाहिये**)। "आदि" शब्द से मन्त्री, पुरोहितादिकों का ग्रहण होता है (**नायक के तुल्य गुण होने के कारण** "पीठमर्द" उत्तम हैं, **मन्त्री और पुरोहितों की उत्तमता उच्चजातीय होने के कारण तथा विद्यादि गुणों के कारण समझनी चाहिये**) मध्यदिति—विट और विदूषक को मध्यम (**सहायक समझना चाहिये**) (**वाग्मित्व, मधुरत्वादि गुणों से युक्त होने के कारण तथा धूर्ततादि दोष होने के कारण मध्यमता है, और विदूषक की मध्यमता विश्वस्तादि गुण होने के कारण तथा कलहप्रियादि दोषों से युक्त होने के कारण समझनी चाहिये**) तथेति—तथा शकार और चेट आदि अधम सहायक कहे गये हैं । 'आदि" शब्द से तमोली और गन्धी आदि का ग्रहण होता है । (**मद, मूर्खता आदि प्रबल दोषों से युक्त होने के कारण शकार की अधमता है । अत्यन्त निकृष्ट कार्य करने के कारण चेट, तम्बोली आदिकों की अधमता समझनी चाहिये ।**)

इसके बाद (**नायक के सहायकों के कथन**) प्रसङ्ग से दूतों के विभाग हैं मध्य में जिसके ऐसा लक्षण (**स्वरूप**) (**अर्थात् दूतों के विभाग और लक्षण**) कहते हैं—

कार्यों में प्रेष्य (**भेजने योग्य**) दूत (**नामक सहायक**) तीन प्रकार का (होता है) (१) निसृष्टार्थ (२) मितार्थ और (३) सन्देशहारक । उसीप्रकार से (**तीन प्रकार की**) दूती भी होती है । (**यथा—(१) निसृष्टार्था (२) मितार्था और (३) सन्देशहारिका**)।

टिप्पणी—(१) तीनों प्रकार के दूतों के नाम के अर्थ का निरूपण करते हैं—

(१) **निसृष्टार्थः**— रख दिया है अर्थ (प्रयोजन अथवा कार्यभार) जिस पर वह "**निसृष्टार्थ**" कहाता है ।

(२) **मितार्थः**—परिमित और प्रमा का विषयीभूत है अर्थ जिसका वह "**मितार्थ**" कहाता है ।

(३) **सदेशहारकः**—जिस किसी व्यक्ति से जिस किसी व्यक्ति को लक्ष्य करके अपने अभिप्राय को प्रकट करने के लिये कहे हुये वाक्य विशेष को (सन्देश को) **निर्दिष्ट स्थल तक पहुँचाने के लिये जो स्वीकार करता है वह** "**सन्देशहारक**" कहाता है। ये सभी दूत अन्वर्थनामा हैं ।

(२) इन दूतों के सामान्य गुणों का कथन करते हैं—

(१) **पटुता धाष्टर्यभिङ्गिताकारज्ञता प्रतारणकालज्ञा विषयह्यबुद्धित्वं लध्वी प्रतिपत्तिः सोपाया चेति दूतगुणाः ।**

तत्र कार्यप्रेष्यो दूत इति लक्षणम् ।
तत्र—

उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम् ।
सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः ॥ ४८ ॥

उभयोरिति येन प्रेषितो यदन्तिके प्रेषितश्च ।

---

(२) **दूसरे स्थान पर भी कहा है—**

"आत्मवान् मित्रवान् युक्तो भावज्ञो देशकालवित् ।
असाध्यमप्ययत्नेन कार्यं संसाधयेन्नरः" ॥ इति ॥

दूतों के विभाग और उनके गुणों का कथन करके दूती के भेदों का उल्लेख करते हैं—

(१) दूती के विशेष भेद इसप्रकार हैं—(१) निसृष्टार्था (२) परिमितार्था (३) पत्रहारी (४) स्वयंदूती (५) मूढ़दूती (६) भार्यादूती (७) मूकदूती (८) वातदूती । इनमें से प्रत्येक के लक्षण करते हैं—

(१) तत्र नायकस्य नायिकाश्च यथामनीषितमर्थमुपलभ्य स्वबुद्धया कार्यसम्पादिनी **निसृष्टार्था,** (२) इदं करणीयमित्येतावतोऽर्थस्य निसृष्टत्वान्निसृष्टार्थेति, कार्यैकदेशमभियौगैकदेशं चोपलभ्य शेषं सम्पादयतीति **परिमितार्था,** (३) सन्देशमात्रं प्रापयतीति **पत्रहारी,** (४) दौत्येन प्रहिता अन्यथा स्वयमेव नायकमभिगच्छेत्, अजानती नाम तेन सहोपभोगं स्वप्ने कथयेत्, गात्रस्खलितं भार्यां चास्य निन्देत्, तद्व्यपदेशेन स्वयमीर्ष्यां दर्शयेत् नखदर्शनचिह्नितं वा किंचिद्दद्यात्, भवतेऽहमादौ दातुं संकल्पितेति चाभिदधीत, मम भार्यायाः वा का रमणीयेति विविक्ते पर्यनुयुञ्जीत सा **स्वयंदूती,** (५) नायकभार्यां मुग्धां विश्वस्यामन्त्रणयानुप्रविश्य नायकस्य चेष्टानि पृच्छेत्, भोगान् शिक्षयेत्, साकारं मण्डयेत्, कोपमेनां ग्राहयेत्, एवं च प्रतिपद्यस्वेति श्रावयेत्, स्वयं चास्यां नखदशनपदाति निर्वर्तयेत्, तेन द्वारेण नायकमाव्यारपेत्सा **मूढ़दूती,** (६) स्वभार्यां वा मूढां प्रयोज्य तया सहयोजयित्वा तयैवाकारयेत्, आत्मनश्च वैचक्षण्यं प्रकाशयेत्सा **भार्यादूती,** बालां वा परिचारिकामदोषज्ञामदुष्टेनोपायेन प्रहिणुयात्, तत्र सजि कर्णपत्रे वा गूढलेखनिधानं नखदशनपरं वा सा **मूकदूती,** (८) पूर्वप्रस्तुतार्थलिङ्गसंवद्धमन्यजनाग्रहणीयं लौकिकार्थं द्वयर्थं वा वचनमुदासीना या श्रवणोत्सा **वातदूती । इति कविराज हृदयम् ।**

अर्थ—उसमें (**उक्त कारिका के अन्दर**) "कार्य प्रेष्यो दूतः" (**इतना दूत का**) लक्षण है । अर्थात् कार्य के लिये बात पहुँचाने के लिगे अथवा किसी को लाने के लिये जो नियुक्त किया जाय वह दूत कहलाता है । (**इसप्रकार किसी को बुलाने के लिये गये हुये का भी "दूतत्व" समझना चाहिये**) ।

अवतरणिका—निसृष्टार्थ आदिकों का क्रमशः लक्षण करते हैं ।

उनमें से (**निसृष्टार्थ का लक्षण**)—दोनों के **जिसने भेजा है और जिसके पास भेजा है उन दोनों के**) अभिप्राय को अपने आप ही अहापोह करके उत्तर दे देता है और अच्छी प्रकार कार्य को करता है वह निसृष्टार्थ (दूत) कहा गया है । अभयोरिति—दोनों का अर्थात् जिसने भेजा है और जिसके पास में भेजा है ।

टिप्पणी—अत्यन्त बुद्धिमान् होने के कारण और सम्यक्रूपेण कार्य सम्पादन करने से यह दूत सभी दूतों में श्रेष्ठ है । **शिशुपालवधम् में** शिशुपाल ने श्री कृष्ण के **पास में जो दूत भेजा था वह "निसृष्टार्थ"** दूत था ।

मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धकारी मितार्थकः ।
यावद्भाषितसंदेशहारः संदेशहारकः ।। ४९ ।।

अथ सात्त्विकनायकगुणाः—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसी ।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः ।। ५० ।।

तत्र—

शूरता दक्षता सत्यं महोत्साहोऽनुरागिता ।
नीचे घृणाधिके स्पर्धा यतः शोभेति तां विदुः ।। ५१ ।।

तत्रानुरागिता यथा—

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ।।

अवतरणिका—इसके बाद मितार्थ और सन्देशहारक दूत का एक ही कारिका के अन्दर लक्षण करते हैं—

अर्थ—परिमित अर्थ को कहने वाला (**अल्पभाषी**), (**और**) कार्य को सम्पन्न करने वाला "मितार्थक" (**नामक दूत होता**) है। (**यह निसृष्टार्थ की तरह प्रज्ञाशाली न होने के कारण उत्तम नहीं है, परन्तु कार्य को सम्पन्न कर लाने के कारण मध्यम दूत है**), (सन्देशहारक का लक्षण) (**स्वामी ने**) जितना कहा है उतना ही सन्देश ले जाने वाला सन्देशहारक" (**नामक दूत कहलाता**) है (**कार्य सिद्धि भी न कर सकने के कारण यह दूतों में अधम दूत है**)।

अथ नायक सात्विकगुण—निरूपणम्।

अर्थ—इसके बाद (**नायक के सहायकों का वर्णन करके**) नायक के सात्विक (**सत्वगुणों से उत्पन्न**) गुणों का वर्णन करते हैं।

टिप्पणी—यद्यपि आगे चलकर "**स्तम्भ स्वेद**" **आदि** गुणों को कहेंगे तथापि वे सात्विक गुण नायक और नायिका दोनों के होते हैं और ये "शोभादि" केवल नायक के ही होते हैं, नायिका के नहीं, यही इन दोनों में वैशिष्टय है। और यह विशेषता है। और इस विशेषता का प्रतिपादन कारिका के अन्दर "**पौरुषाः**" यह लिखकर किया है।

अर्थ—शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, तेज, ललित (**और**) औदार्य—ये आठ सात्विक (**सत्व गुणों से उत्पन्न**) गुण पुरुषों के (**नायक को आधार मानकर**) होते हैं।

अवतरणिका—अब क्रम से शोभादियों के लक्षण करते हैं।

अर्थ—उनमें से (**शोभा का लक्षण**)—शूरतेति—शूरता (**शौर्य**) सब कर्मों में कुशलता अथवा क्षिप्रकारिता, सत्य (**यथार्थ भाषण**), कार्यों में अतिशय उद्यम; साधारण व्यक्ति पर भी प्रेमवत्ता क्षुद्र पर दुर्बल पर दया (**घृणा**) बलवान् में **स्पर्द्धा** (**ये गुण**) जिससे (उत्पन्न होते हैं) उसे "शोभा" कहते हैं।

तत्रेति—**उनमें से अनुरागिता का उदाहरण देते हैं—**

अहमिति—(**रघुवंश के अन्दर राजा अज का वर्णन है**) प्रजाओं में अथवा मन्त्रिप्रभृत्तियों में सभी मनुष्य "मैं ही राजा (अज) का स्नेहपात्र होने के कारण अन्तरङ्ग हूँ" इस प्रकार सोचा करते थे (**इसप्रकार सोचने का कारण बताते हैं**) (**क्योंकि**) नदियों के समूह में समुद्र की तरह इसकी (अज की) कहीं भी (**किसी भी व्यक्ति में**)

एवमन्यदपि ।

अथ विलासः—

धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः ।

यथा—

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥

संक्षोभेष्वप्यनुद्वेगो माधुर्यं परिकीर्तितम् ॥ ५२ ॥

ऊह्यमुदाहरणम् ।

अवज्ञा (सामर्थ्य न होने के कारण अथवा आत्मगर्व के कारण) नहीं थी । (अर्थात् जिसप्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों से निकलकर आई हुई नदियाँ समुद्र के अन्दर एकाकार हो जाती हैं और इसके कारण समुद्र का प्रेम भेद लक्षित नहीं होता है, उसीप्रकार महाराज अज की भी प्रजाओं के अन्दर किसी भी प्रकार की अवज्ञा दृष्टिगत नहीं होती थी क्योंकि वे सभी पर समान स्नेह करते थे और समान व्यवहार करते थे ।] (निष्कर्ष—इससे मालूम पड़ता है कि अज "अनुरागितारूप शोभा नामक गुण" से युक्त था ।) ।

अर्थ—एवमन्यदपि—इसीप्रकार दूसरों के भी (शूरतादिकों के) उदाहरण जानने चाहिये ।

अथ विलासः—इसके बाद (शोभा के लक्षणोपरान्त) विलास (का लक्षण करते हैं)—

"विलास" में (विलास नामक सात्विक गुण होने पर) (पुरुष की) दृष्टि धीर (अचञ्चल) (होती है), गति आश्चर्यजनक, (और) वचन ईषद् हास्य से युक्त (होता है) । यथा—जिसप्रकार-दृष्टिरिति ("उत्तररामचरितम्" के अन्दर कुश के संग्राम-स्थल में उद्धतरूपेण आने को देखकर रामचन्द्र जी द्वारा किया हुआ यह वर्णन है ।) (इस कुश की) दृष्टि तृण की तरह तुच्छ कर दिये है तीनों लोकों के माहात्म्य (उत्साह) और बल को जिसने ऐसी है, (तथा) धीर (मन्थर) और उद्धत (सगर्व) गति पृथ्वी को झुकाये दे रही है, यह (कुछ) बाल्यावस्था में होने पर भी पर्वत की तरह गुरुता को धारण करता हुआ क्या (साक्षात्) वीर रस है अथवा यह (मूर्तिमान् साक्षात्) अहंकार चला रहा है ।

टिप्पणी—इस श्लोक के अन्दर कुश के, धीर दृष्टि के कारण और आश्चर्य कारक गति के कारण, "**विलास**" नामक सात्विक गुण का वर्णन किया है ।

अवतरणिका—क्रम प्राप्त "माधुर्य" का लक्षण करते हैं—

अर्थ—संक्षोभ (घबराहट) के कारण उपस्थित होने पर उद्वेग रहित रहना "माधुर्य" कहलाता है । ऊह्यमिति—(इसका) उदाहरण (अन्यत्र) देखना चाहिये ।

टिप्पणी—इसका उदाहरण—**यथा रामविलासे—**

"तन्निपीय कटु कर्णपद्धव्या खेदमाप न मनागपि रामः ।
शूलपाणिरिव घोरमुदग्रं कालकूटपटलं किल पूर्वम् ॥

इस पद्य के अनुसार विषपान के सदृश कठोर वाक्यों को सुनने के क्षोभ के कारणों के उपस्थित होने पर भी राम क्षुब्ध नहीं हुये, अतः "**माधुर्य**" है ।

भीशोकक्रोधहर्षाद्यैर्गाम्भीर्यं निर्विकारता ।

यथा—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥

व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्यपि ॥ ५३ ॥

यथा—

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन् हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥

अवतरणिका—क्रम प्राप्त **"गाम्भीर्य"** का लक्षण करते हैं—

अर्थ—भय, शोक (इष्ट व्यक्ति या धन के नष्ट होने से उत्पन्न दुःख), क्रोध, हर्ष (इष्ट जन की उन्नति आदि से उत्पन्न चित्तविकार) आदि के होने पर भी विकार-शून्य रहना "गाम्भीर्य" कहलाता है ।

यथा—जिसप्रकार-आहूतस्येति—

(राज्यभिषेक के समय श्री राम को सामने देखते हुये किसी व्यक्ति का किसी के प्रति कथन है कि) राज्याभिषेक के लिये (युवराज पद पर नियुक्त करने के लिये) बुलाये हुये (और उसके एकदम बाद ही) वन जाने के लिये आज्ञा दिये हुये उस राम के (अन्दर) थोड़ी भी आकार की विकृति (मुखादि के अन्दर विकार जिससे हर्ष शोकादि परिलक्षित होते हैं) मैंने नहीं देखी ।

टिप्पणी—यहाँ पर राज्याभिषेक की प्राप्ति के समय राम को जो हर्ष होना चाहिये था उस हर्ष का कोई भी चिह्न उनकी आकृति पर नहीं था और उसके एक दम बाद ही जब उनको वन जाने की आज्ञा मिली उस समय रामचन्द्र जी के मुख पर किसीप्रकार के शोक का चिह्न दिखाई नहीं पड़ रहा था । यही श्री रामचन्द्र जी की **"गम्भीरता"** है ।

अवतरणिका—क्रम प्राप्त **"धैर्य"** का लक्षण करते हैं—

अर्थ—बड़े से बड़े विघ्न के उपस्थित होने पर भी अपने व्यवसाय से (प्रारम्भ किये हुये कर्म से) विचलित न होना "धैर्य" कहाता है ।

यथा—जैसे—श्रुतेति—

(कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग के अन्दर शिवजी को मोहित करने के लिये इन्द्र के द्वारा भेजे गये कामदेव ने जिस समय अपनी माया कैलास पर फैलाई है, उस समय का वर्णन है) इस समय में (वसन्तकाल के आविर्भाव हो जाने पर भी) शिवजी अप्सराओं के गानों को सुनते हुये भी (अपनी) समाधि भावना में तत्पर रहे (अर्थात समाधि को भङ्ग करने के लिये अप्सराओं के गाने पर भी शिवजी की समाधि भङ्ग नहीं हुई) क्योंकि विघ्न जितेन्द्रिय व्यक्तियों के (मन को रोकने में समर्थ व्यक्तियों को) योग को कभी भी नष्ट करने में समर्थ नहीं होते है ।

टिप्पणी—यहाँ पर अप्सराओं के गान को सुनने रूप विघ्न के उपस्थित होने पर भी शिवजी की योग-समाधि का न टना उनके **"धैर्य"** को प्रकट करता है ।

अधिक्षेपापमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत् ।
प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम् ॥ ५४ ॥
वाग्वेषयोर्मधुरता, तद्वच्छृङ्गारचेष्टितं ललितम् ।
दानं सप्रियभाषणमौदार्यं शत्रुमित्रयोः समता ॥ ५५ ॥
एषामुदाहरणान्यूह्यानि ।
अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणा स्त्रीति ।
नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता ॥ ५६ ॥

अवतरणिका—अत्र क्रम प्राप्त "तेज", "ललित" और "औदार्य" का लक्षण करते हैं—

अर्थ—('तेज' का लक्षण) प्राणों के चले जाने पर भी दूसरे के द्वारा (शत्रु के द्वारा) किये हुये तिरस्कार (और) अनादर इत्यादि का ("आदि" पद से अपकारादि का ग्रहण होता है) जो न सहना है वह "तेज" कहलाता है ।

("ललित का लक्षण") वागिति—(जिसप्रकार) वाणी और वेष में मनोहरता (है) उसीप्रकार शृंङ्गारादि की चेष्टायें (पयोधरमर्दनादि) "ललित" (कहलाती हैं) ।

("औदार्य" का लक्षण") दानमिति—प्रिय भाषण के सहित दान (देना), (और) शत्रु और मित्र में समान भाव से देखने को "औदार्य" कहते हैं ।

एषामिति—इनके (तेज, ललित और औदार्य के) उदाहरण खोज लेने चाहियें ।

टिप्पणी—तेज, ललित और औदार्य के क्रमशः उदाहरण देते हैं—(१) "तेज" का उदाहरण—यथा रामविलासे—

"विस्फारस्फुरदोष्ठपल्लवमतिस्विन्नातिकान्तं क्रुधा,
किञ्चिल्लोहितलोचनाम्बुजयुगेनाकुञ्चितभ्रूलतम् ।
युक्तं तस्य दुरुक्तमुत्तरयितुं तेजोभरा दुद्यतं
नेत्रान्तेन निवर्त्य लक्ष्मणममुं प्रोचे स्वयं राघवः ॥

[२] "ललित" का उदाहरण यथा—
"वीक्ष्य तस्य रुचिरं कलेवरं सन्निशम्य मधुरञ्च भाषितम् ।
स्मारसारमुपलभ्य विभ्रमं दास्यमस्य कलयन्ति सुभ्रुवः ॥

[३] "औदार्य" का उदाहरण-यथा—
"दत्ते सहासवचनं सप्रियवचनञ्च भूपालः ।
रिपुरपि लभते मानं निरीतिभाजं धरा तस्मात् ॥" इति ॥

अथ नायिका-भेद-निरूपणम्

अवतरणिका—पहले "आलम्बनो नायकादिः" लिखा है । यहाँ पर "आदि" पद से नायिका प्रतिनायकों का ग्रहण होता है । सम्प्रति नायक के वर्णन के उपरान्त कुल प्राप्त नायिका का वर्णन करते हैं ।

अर्थ—(अब नायिकाओं का वर्णन करते हैं) इसके बाद (सहायक आदिकों के साथ नायक के निरूपणानन्तर, स्वकीया, परकीया (और) साधारण स्त्री (अर्थात् सर्वोपभोग्ययोग्य गणिका)—इस प्रकार तीन प्रकार की नायिका सम्भव नायक के गुणों में युक्त (नायक के सभी गुणों से युक्त नहीं,) अर्थात् दक्षता, उत्साह और तेज ये गुण नायिका के अन्दर नहीं वर्णन किये जाने चाहिये । इसीलिये नायक के ही दक्षतादि सात्विक गुणों का वर्णन किया है) होती है ।

नायिका पुनर्नायकसामान्यगुणैस्त्यागादिभिर्यथासम्भवैर्युक्ता भवति। सा च स्वस्त्री अन्यस्त्री साधारणस्त्रीति त्रिविधा।

तत्र स्वस्त्री—

विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया।

यथा—

लज्जापज्जत्तपसाहणाइं परभत्तिणिप्पिवासाइं।
अविणअदुम्मेधाइं धण्णाणं घरे कलत्ताइं॥
(लज्जापर्याप्तसाधनानि परभर्तृनिष्पिपासानि।
अविनयदुर्मेधानि धन्यानां गृहे कलत्राणि॥)

साऽपि कथिता त्रिभेदा मुग्धा मध्या प्रगल्भेति॥ ५७॥

नायकेति—नायिका तो नायक के सामान्य गुण "त्यागी कृती कुलीन" इत्यादि से यथासम्भव युक्त होती है। (अर्थात् दक्षता, उत्साह और तेज इन गुणों से रहित नायिका नायक के सभी गुणों से युक्त होती हैं) और वह (नायिका) स्वकीया स्त्री, परकीयास्त्री (और) साधारणस्त्री इसप्रकार तीनप्रकार की होती है।

टिप्पणी—नायिका तीन प्रकार की होती है—(१) स्वकीया, (२) परकीया (३) साधारण स्त्री-वेश्या।

अर्थ—तत्र स्वस्त्री—उनमें से [क्रम प्राप्त] स्वकीया नायिका [का लक्षण करते हैं]—

विनय (शिष्टाचार), सरलता आदि (निष्कपटता से रहना) ("आदि" पद से सदाचारादि गुणों का ग्रहण होता है) (गुणों) से युक्त घर के कार्यों में तत्पर पतिव्रता स्त्री "स्वकीया" नायिका कहलाती है।

टिप्पणी पतिव्रता का लक्षण—आर्तार्ते मुदिता हृष्टा क्रोधिते मलिनाकृशा मृतौ म्रियेत या पत्युः सा स्त्री ज्ञेयापतिव्रता।" यहाँ पर **"विनयार्जवादिसंयुक्ता"** इस कथन से अविनायादिकों की, **"गृह कर्म परए"** इससे तटस्थता की और **"पतिव्रता"** से कुटिलावृत्ति की व्यावृत्ति हो जाती है। **"विनयार्जवादि"** गुणों से युक्त स्त्रीविशेष ही **"स्वकीया"** नायिका कहलाती है। अविनय आदि दोषों से युक्त होने पर **"स्वकीयात्व"** नहीं कहलाता है। कहने का आशय यह है कि इन गुणों से रहित स्त्री **"स्वकीयानायिका"** होने की अधिकारिणी नहीं है।

अर्थ—(स्वीया नायिका का उदाहरण) यथा—

(पतिव्रता **की प्रशंसा करने वाले किसी किसी की उक्ति है)** लज्जेति—**लज्जा ही है पर्याप्त आभूषण जिनका ऐसी, पर पुरुषों के प्रति निरभिलाषिणी [तृष्णा से रहित] [और] जो अविनय के प्रति अनभिज्ञ हैं ऐसी, स्त्रियाँ धन्य जनों के घर में होती हैं।**

अर्थ—[स्वकीया नायिका के भेद] वह भी [स्वकीया नायिका भी] मुग्धा मध्या और प्रगल्भा इसप्रकार तीनप्रकार की कही गयी है।

टिप्पणी—कुछ "अपि" इस शब्द के प्रयोग से ऐसा अर्थ निकलते हैं कि परकीया और साधारण स्त्री के भी तीन प्रकार के भेद होते हैं।

तत्र—

प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥ ५८ ॥

तत्र प्रथमावतीर्णयौवना यथा मम तातपादानाम्—

मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं वक्षोजयोर्मन्दता
दूरं यात्युदरं च रोमलतिका नेत्रार्जवं धावति।
कन्दर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्षणा-
दङ्गानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठनं सुभ्रुवः ॥

प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा मम प्रभावतीपरिणये—

दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात्,
नोद्दामं हसति क्षणात्कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि।

अर्थ—उनमें से (मुग्धा नायिका)—

प्रथमेति—"प्रथमावतीर्णयौवना" = जिसमें पहले पहल यौवन का उद्गम हुआ हो, प्रथमावतीर्णमदनविकारा = जिसमें कामकलाओं के विकार पहले पहल आविर्भूत हुये हों, रतौ वामा = सुरत व्यापार में प्रतिकूल हो, माने मृदु = प्रणय कोप के अन्दर कोमल ('मध्या" नायिका की तरह तीक्ष्ण स्वभाव वाली न हो) और समधिकलज्जावती = अत्यन्त लज्जाशील हो (इसप्रकार पाँच प्रकार की) "मुग्धा" नायिका कहलाती है।

तत्रेति—(क्रमशः सबका उदाहरण देते हैं) उनमें से—(१) 'प्रथमावतीर्ण-यौवना" का उदाहरण जैसे मेरे पूज्य पिता का है—

मध्यस्येति—कामदेव को नवीन मनः नामक प्रदेश के राज्य पर अभिषिक्त देखकर क्षणभर में सुन्दर भौंहे वाली नायिका के अंग (नयन, जघन आदि) परस्पर (एक दूसरे के गुणों का) बलात् अपहरण मानों कर रहे हैं, तथाहि-(अर्थात् जिसप्रकार किसी नवीन राजा के अभिषेक के समय उसके अङ्ग (मन्त्री, पुरोहितादि) आनन्द में निमग्न होकर एक दूसरे की वस्तुओं का बलात् अपहरण करने लगते हैं उसीप्रकार नवीन मनोराज्य में कामदेव को राज्याभिषिक्त देखकर इस मुग्धा कामिनी के अङ्ग (नयन, जघनादि एक दूसरे के गुणों का बलाद् अपहरण करने लगे हैं) जघनस्थल (नितम्ब) कटिप्रदेश की विशालता को प्राप्त हो रहा है (अर्थात् शैशवावस्था में कटिप्रदेश के अन्दर जो विशालता थी, वह नितम्ब ने ग्रहण कर ली और नितम्ब की जो क्षीणता (पतलापन) थी वह कटिप्रदेश ने ग्रहण कर ली), दोनों स्तनों की मन्दता सर्वथा उदर को प्राप्त हो गई है (अर्थात् उदर के अन्दर जो स्थूलता थी वह दोनों स्तनों ने ले ली और उन दोनों से त्यक्ता क्षीणता उदर ने ले ली है अर्थात् स्तन स्थूल हो गये हैं और कमर पतली हो गई है), (तथा) रोमावली ने नेत्रों की सरलता को प्राप्त कर लिया है (अर्थात् नेत्रों की सरलता तो रोमावली ने ग्रहण कर ली है और रोमावली की कुटिलता अब नेत्रों ने ले ली है अर्थात् रोमावली सरल हो गई है और नेत्र कुटिल हो गये)।

(२) "प्रथमावतीर्ण मदनविकारा" का उदाहरण जिसप्रकार मेरे (ग्रन्थ) प्रभावतीपरिणय में है:—

दत्त इति—("प्रथमावतीर्णमदनविकारा" का उदाहरण)—वह (प्रभावती) पृथ्वी पर शनैः शनैः मन्थर चरण रखती है, अन्तःपुर से बाहर नहीं निकलती है, खिलखिलाकर (उद्दाम) हँसती नहीं है, क्षणभर में ही अनिर्वचनीय लज्जा से उत्पन्न

किंचिद्भावगभीरवक्रिमलवस्पृष्टं मनाग्भाषते,
सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम् ॥

रतौ वामा यथा—
'दृष्टा दृष्टिमधो ददाति, कुरुते नालापमाभाषिता,
शय्यायां परिवृत्त्य तिष्ठति, बलादालिङ्गता वेपते ।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते,
जाता वामतयैव संप्रति मम प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥'

माने मृदुर्यथा—
'सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥'

वेदना को अभिव्यक्त करती है, ईषद्······निगूढ अभिप्राय के कारण दुरूह वक्रोक्तिमय कुछ थोड़े से वचन बोलती है, (और) प्रिय पति की कथा का कथन करती हुई (अपनी) सखी को भृकुटि भङ्ग के द्वारा देखती है ।

(३) "रतिवामा" का (उदाहरण) यथा दृष्टेति—

(अपने मित्र के प्रति अपनी नवपरिणीता वधू के विषय में किसी की रहस्योक्ति है) अभिनव परिणीता प्रिया (मेरे द्वारा) देखी जाती हुई नीचे दृष्टि कर लेती है, (मेरे द्वारा) बोलने का प्रयत्न करने पर उत्तर नहीं देती है, शय्या के ऊपर मुंह फेरकर बैठ जाती है, (अर्थात् ममाभिमुख होकर शयन नहीं करती है), बलात् आलिंगन की जाती हुई कांपने लगती है, सखियों के निवास स्थान से बाहर निकलते हुये होने पर (यह भी बाहर ही जाना चाहती है (अतः) इस समय (नव समागम के समय) प्रतिकूल व्यवहार करने के कारण ही मेरे लिये परम प्रीति को उत्पन्न करती है ।

टिप्पणी—अभिनव परिणीता नायिकायें मुग्धा हुआ करती हैं और उनकी अतिशय लज्जा स्वाभाविक एवं प्रकृत्यनुकूल होने के कारण अतिशय शोभा देती है क्योंकि सामान्य प्रकृति के प्रतिकूल आचरण करने से दुःशीलता होती है ।

अर्थ—(४) "मानमृदु" का (उदाहरण) यथा सेति—

वह बाला (अपने) पति के प्रथम अपराध के समय (दूसरी नायिका के साथ संगम स्वरूप अपराध) (अपनी) सखियों के द्वारा प्रेमपूर्वक दिये गये उपदेश के बिना सविलास अङ्ग संचालन (नेत्र, भ्रू आदि की अपनी इच्छा को सूचित करने के लिये चलाना) तथा वक्रोक्ति के द्वारा (अपनी ईर्ष्या का) सूचन करना भी नहीं जानती है (अर्थात् यदि विभ्रम नहीं होगा तो पति के अपराध पर ईर्ष्या भी नहीं होगी), (अपितु) केवल अत्यन्त निर्मल सुन्दर कपोलों के मूलभाग से गिरते हुये, इधर-उधर हिलते हुये चञ्चल पूर्ण कुन्तलों से युक्त अश्रुओं से पूर्ण हैं नयनकमल जिसके ऐसी रोदन करती है । (भृकुटि बन्धनादिक किसी उपाय का अवलम्बन नहीं लेती है) ।

समधिकलज्जावती यथा—

'दत्ते सालसमन्थरम्—' इत्यत्र श्लोके।

अत्र समधिकलज्जावतीत्वेनापि लब्धाया रतिवामताया विच्छित्ति-विशेषवत्तया पुनः कथनम्।

अथ मध्या—

मध्या विचित्रसुरता प्ररूढस्मरयौवना।
ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिता मता ॥५६॥

विचित्रसुरता यथा—

'कान्ते तथा कथमपि प्रथितं मृगाक्ष्या चातुर्यमुद्धतमनोभवया रतेषु।
तत्कूजितान्यनुवदद्भिरनेकवारं शिष्यायितं गृहकपोतशतैर्यथाऽस्याः ॥'

---

(४) "समधिकलज्जावती" का (उदाहरण) यथा—

"दत्ते सालसमन्थरम्" यह पूर्वोक्त श्लोक जानना। (प्रश्न) "समधिक लज्जावती" तो रति प्रतिकूला हुआ करती है और इसका अन्तर्भाव "रतौ वामा"-इस नायिका के अन्दर हो सकता है तो फिर "समधिकलज्जावती" का पृथक् उपादान किसलिये किया है, (उत्तर) अत्रेति—यद्यपि 'समधिकलज्जावती' होने के कारण रतिवामता भी अवश्य होती है (तथापि) वैचित्र्य विशेष के कारण (इन दोनों नायिकाओं का) पृथक्-पृथक् कथन किया गया है।

इसके बाद (मुग्धा नायिका के लक्षणोदाहरण दिखाकर) मध्या नायिका (का भी उसीप्रकार वर्णन करते हैं):—

("मध्या" नायिका का सामान्य लक्षण यह है कि वह "मुग्धा" नायिका की अपेक्षा कुछ अधिक काम परवशा होती है। इसके भी पांच भेद होते हैं।)

मध्येति—(१) "विचित्रसुरता"=निपुणता के कारण रम्य है सुरत जिसका ऐसी (२) प्ररूढस्मरा"=अत्यन्त प्रबल है कामदेव जिसका ऐसी, (३) "प्ररूढयौवना" =विकसित यौवन वाली, (४) "ईषत्प्रगल्भवचना"=कुछ धृष्टता से युक्त हैं वचन जिसके ऐसी, (५) "मध्यमव्रीडिता"=अत्यन्त लज्जावती (इसप्रकार पाँच भेदों वाली) "मध्यानायिका" मानी गई है।

अवतरणिका—क्रमशः "मध्यानायिका" के पाँचों भेदों के उदाहरण देते हैं—

अर्थ—(मध्या नायिकाओं में से) (१) "विचित्रसुरता" (का उदाहरण)—यथा—कान्त इति—

प्रवृद्ध है कामदेव जिसका ऐसी मृगनयनी ने सुरत क्रीडाओं में (रतेषु" के अन्दर बहुवचन का प्रयोग कपोतों के द्वारा शिक्षण के लिये किया गया है, अन्यथा कबूतरों के अन्दर शिष्यता का आरोप नहीं किया जा सकता है) पति के विषय में किसीप्रकार उसप्रकार से चतुरता प्रकट की (अनन्त काम जनित भाव भंगिमा को प्रदर्शित किया) (कि) जिसप्रकार से अनेकशः उसके (नायिका के) अव्यक्त शब्द विशेषों का अनुकरण करते हुये (रतिक्रीडा के समय नायिका के द्वारा अव्यक्त शब्द करने के एकदम पश्चात् उसीप्रकार अनुकरण करते हुये) गृहस्थित अनेक कबूतरों ने इस नायिका के शिष्य की तरह आचरण किया।

टिप्पणी—(१) जिसप्रकार शिष्य गुरु के वचन सुनकर उसका अनुकरण करते हैं उसीप्रकार गृहस्थित पालित कबूतर भी नायिका के रमणकालीन अव्यक्त शब्दों को सुनकर उनका अनेक बार अनुकरण किया करते थे।

प्ररूढस्मरा यथात्रैवोदाहरणे ।
प्ररूढयौवना यथा मम—

नेत्रे खञ्जनगञ्जने, सरसिजप्रत्यर्थि पाणिद्वयं,
वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः ।
कान्तिः काञ्चनचम्पकप्रतिनिधिर्वाणी सुधास्यन्दिनी,
स्मेरेन्दीवरदामसोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटा ॥'

एवमन्यत्रापि ।

अथ प्रगल्भा—

स्मरान्धा गाढतारुण्या समस्तरतकोविदा ।
भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका ॥ ६० ॥

---

(२) "प्ररूढस्मरा" (का उदाहरण) यथा—इसी उदाहरण में। ('कान्ते तथा'—इत्यादि उक्त पद्य में "उद्गतमनोभवया" इसके द्वारा मध्या नायिका की अपेक्षा अधिक कामोद्दीप्ति का वर्णन होने के कारण स्पष्ट ही नायिका "प्ररूढस्मरा" भी हो सकती है। इसप्रकार इस पद्य के अन्दर "विचित्रसुरता और प्ररूढस्मरा"—इन दोनों का संकर रूप में ही उदाहरण है)।

(३) "प्ररूढयौवना" का उदाहरण) यथा-नेत्रे इति—

(किसी नायिका का वर्णन है) उस कामिनी के दोनों नयन खञ्जन पक्षी के नेत्रों को तिरस्कृत करने वाले हैं, दोनों हाथ कमलों के प्रतिस्पर्धी हैं (सौंदर्य से तिरस्कार करने वाले होने के कारण शत्रु हैं) (कमल से भी सुन्दर हैं) (उसके) दोनों स्तन हाथी के गण्डस्थल के भ्रम को पैदा करने वाली महोन्नति को प्राप्त हो रहे हैं (उसके शरीर की) कान्ति सुवर्ण और चम्पा नाम के पुष्प विशेष की प्रतिनिधि है, (उसकी) वाणी अमृतवर्षिणी है एवं) उसके कटाक्षों की परम्परा विकसित नीला कमलों की माला के सदृश स्वरूप वाली है।

इसीप्रकार (लक्षण के अनुसार) अन्यों के भी (अर्थात् ईषत्प्रगल्भवचना और मध्यमव्रीडिता के उदाहरण भी ऊहित कर लेना)।

टिप्पणी—(४) "किञ्चित् प्रगल्भवचना" यथा—

"सुभग ! कुरवकस्त्वं किं ममालिंगनोत्कः,
किमु मुखमदिरेच्छुः केसरो नो हृदिस्थः ।
त्वयि नियतमशोके युज्जते पादघातः,
प्रियमिति परिहासात् पेशलं काचिदूचे ॥

(५) "मध्यमव्रीडिता" यथा—

किञ्चिदाकुञ्चयत्यास्यं मन्दहासातिसुन्दरम् ।
दरमुद्रितनेत्रान्ता चुम्बतीशे नितम्बिनी ॥

अर्थ—इसके बाद (मध्या नायिका के वर्णनोपरान्त "प्रगल्भा" नायिका (का वर्णन करते हैं)।

("प्रगल्भा" नायिका छः प्रकार की होती है) (१) स्मरान्धा = कामवासना के प्रवृद्ध होने के कारण हिताहित ज्ञान से शून्य, (२) गाढतारुण्या = प्रवृद्ध यौवन वाली (३) समस्तरतकोविदा = सभी प्रकार की कामक्रीडाओं में पण्डित (४) भावोन्नता = भ्रूभङ्ग आदि सात्त्विक भावों से अतिशय सौंदर्यशालिनी (५) दरव्रीडा = अल्प लज्जाशीला (६) आक्रान्तनायका = नायक का अतिक्रमण करने वाली (इस प्रकार छः भेदों वाली "प्रगल्भा" नायिका (होती) है।

स्मरान्धा यथा---

'धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ॥

अर्थ—(१) "स्मरान्धा" (का उदाहरण) यथा-धन्येतिः—

अवतरणिका—सखियों के मध्य विद्यमान एक नायिका ने कहा कि "मैं रतिकाल के मध्य में बहुत सी चाटूक्तियाँ अपने पति के विषय में कहा करती हूं" ऐसा सुनकर दूसरी सखी उसको यह बतलाने के लिये कि तू बड़ी अरसिक है, अपने विषय की बात को बताती हुई उसके प्रति व्यंग्योक्ति करती है—

अर्थ—(हे सखि) जो तू प्रिय के समागम में सुरत के मध्य में भी विश्वास और धैर्य के साथ सैंकड़ों प्रिय वाक्यों को (चाटूक्तियों को) कहा करती है (वह तू) धन्य है (पहले तो प्रिय समागम में ही विलक्षण आनन्द होने के कारण किसी बात का कहना ही असम्भव है और उसमें भी सम्भोग के समय में, और सम्भोग के न तो आदि में और न अन्त में अपितु मध्य में और फिर उसका इस समय स्मरण रखना बड़ा ही आश्चर्यकारी है। (परन्तु) हे सखियो ! प्रिय के द्वारा नीवी बन्धन को खोलने के लिये हाथ ले जाने पर ही यदि कुछ भी स्मरण करती हूं तो (तुम्हारी) शपथ खाती हूं अर्थात् मैं तुम्हारी शपथ लेकर कहती हूं कि मुझे कुछ भी स्मरण नहीं रहता और फिर इसप्रकार की चाटूक्तियों का तो कहना ही क्या ?

टिप्पणी—यहाँ पर सुरत सम्भोग के समय विषयान्तर की अनुभूति के कारण अनुराग की कृत्रिमता का निवेदन करते हुये चाटूक्तियों द्वारा "त्वमधन्या" ऐसी व्यञ्जना होती है और इस पद्य के उत्तरार्ध के द्वारा प्रियतम के हाथ के स्पर्शमात्र से अतिशय आनन्द की अनुभूति के कारण स्वाभाविक प्रेम के आधिक्य को और विषयान्तर की अनुभूति के अभाव का सूचन करती हुई "अहं धन्या" मैं धन्य हूँ, ऐसी प्रतीति होती है।

(२) पूर्वार्ध में रहस्यमयी उक्ति में एक को सम्बोधन करने के कारण "धन्या" के अन्दर एकवचन का प्रयोग किया है। उसके बाद उत्तरार्ध में अपने उत्कर्ष के ख्यापन के लिये अनेक सखियों को अपनी ओर अभिमुख करने के लिये "सख्यः" के अन्दर बहुवचन है।

(३) इस पद्य के अन्दर नीवी बन्धन के मोचन के लिये प्रिय के कर स्पर्शमात्र से ही कामाधिक्य से संज्ञाहीन हो जाने से कहने वाली नायिका "स्मरान्धा" प्रतीत होती है।

(४) यद्यपि "शपामि" यहाँ पर ("शप उपालम्भने" इस वार्तिक के द्वारा) आत्मनेपद प्राप्त है तथापि शपथ लेने के प्रकाशन की विवशता का अभाव होने के कारण यहाँ पर आत्मनेपद नहीं हुआ।

गाढतारुण्या यथा—
'अत्युन्नतस्तनमुरो नयने सुदीर्घे, वक्रे भ्रुवावतितरां वचनं ततोऽपि ।
मध्योऽधिकं तनूरनूनगुरुर्नितम्बो मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः ॥'
समस्तरतकोविदा यथा—
'क्वचित्ताम्बूलाक्तः क्वचिदगुरुपङ्काङ्कमलिनः
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः ।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः
स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः ॥'
भावोन्नता यथा—
'मधुरवचनैः सभ्रूभङ्गैः कृताङ्गलितर्जनै-
रभसरचितैरङ्गन्यासैर्महोत्सवबन्धुभिः ।
असकृदसकृत्स्फारस्फारैरपाङ्गविलोकितै-
स्त्रिभुवनजये सा पञ्चेषोः करोति सहायताम् ॥'

अर्थ—(२) "गाढतारुण्या" (का उदाहरण) यथा—अत्युन्नतेति—

(उस) अद्भुत यौवना वाली कामिनी का वक्षस्थल अत्यन्त उन्नत है स्तन जहाँ पर ऐसा है, नेत्र अत्यन्त विशाल हैं, (उसकी) भौंहें कुटिल हैं, (उसके) वचन उसके भौंहों से भी अधिक कुटिल हैं, कटिप्रदेश अत्यन्त क्षीण है, नितम्ब अति-विशाल हैं, (उसकी) अनिवर्चनीय मस्त (हाथी की गति के सदृश) गति है।

टिप्पणी—(१) यह नायिका उन्नत स्तन होने के कारण तथा विशाल नितम्ब होने के कारण "गाढतारुण्या" है ।

अर्थ—(३) "समस्तरतकोविदा" (का उदाहरण) यथा क्वचिदिति—

(शय्या पर बिछाई जाने वाली चादर के वर्णन से नायिका के रतिविषयक विविध ज्ञान की सूचना मिलती है) शय्या पर बिछाये जाने वाला वस्त्र अर्थात् चादर (प्रच्छदपट) कहीं ताम्बूल की (पान की) लालिमा से रञ्जित है, (इससे "मार्जाररति" दिखाई गई है),कहीं पर (दोनों स्तनों के ऊपर लिप्त चन्दन विशेष के) कालागुरु के पंक से कलुषित है (इससे "धेनुकरति" सूचित की गई है), कहीं पर कपोलालक चूर्ण पड़ा है (इससे "स्वभाविकरति' सूचित की गई है) और कहीं पर महावर के राग से रञ्जित चरण (का निशान) है (इससे "रति विशेष" की सूचना दी गई है), (एक ओर) त्रिवलीभंग की पूर्णता के (निशान) हैं, ("रतिविशेष" का सूचन किया है) तथा अलकों से गिरे हुये (रति विमर्दन के द्वारा) इधर–उधर गिरे हुये पुष्पों से (इससे "पुरुषायित रति" सूचित की गई है) कामिनी की सब प्रकार की रति की सूचना चादर दे रही है ।

अर्थ—(४) "भावोन्नता" (का उदाहरण) यथा—मधुरवचनैरिति—

वह (कान्ता) पाँच हैं बाण जिसके ऐसे की अर्थात् कामदेव की त्रिभुवन के विजय में मधुर–मधुर वचनों से, कुटिल भृकुटि विलासों से, अंगुली के द्वारा किये

स्वल्पव्रीडा यथा—

'धन्यासि या कथयसि—' इत्यत्रैव ।

आक्रान्तनायका यथा—

'स्वामिन् भङ्गुरयालकं, सतिलकं भालं विलासिन् कुरु,
प्राणेश त्रुटितं पयोधरतटे हारं पुनर्योजय ।
इत्युक्त्वा सुरतावसानसमये सम्पूर्णचन्द्रानना,
स्पृष्टा तेन तथैव जातपुलका प्राप्ता पुनर्मोहनम् ।।'

मध्याप्रगल्भयोर्भेदान्तराण्याह—

ते धीरा चाप्यधीरा च धीराधीरेति षड्विधे ।

ते मध्याप्रगल्भे ।

गये तर्जनों से, झटिति किये हुये परम प्रीति को करने वाले (महोत्सवबन्धुभिः) अङ्ग सञ्चालनों से (तथा) पौनःपुन्येन अत्यन्त दीर्घ नयनकोरों के कटाक्षों से सहायता करती है ।

टिप्पणी—कामदेव के पाँच बाण इसप्रकार हैं—

"उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा ।
सम्मोहनश्च कामस्य पञ्च बाणाः प्रकीर्तिताः ।।"

अर्थ—(५) "स्वल्पव्रीडा" (का उदाहरण) "यथा–धन्यासि या कथयसि" इस प्रकार (पूर्वोक्त पद्य ही) इसका उदाहरण हैं ।

टिप्पणी—सखी समुदाय में अपनी रतिकालीन अवस्था का स्पष्ट प्रतिपादन करने से "धन्यासि या" इत्यादि पद्य का कथन करने वाली नायिका के अन्दर 'स्वल्पव्रीडा" भी है । अतः, इसप्रकार "स्मरान्धा" और "दरव्रीडा" का यह संकीर्ण उदाहरण है ।

अर्थ—(६) "आक्रान्तनायका" (का उदाहरण) यथा–स्वामिन्निति—

"(शृङ्गारतिलक" के अन्दर किसी भी नायिका की अपने में नितान्त अनुरक्त नायक के प्रति यह उक्ति है) पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाली रमणी ने रतिक्रीडा की समाप्ति पर (हे) स्वामिन् । मेरे चूर्ण कुन्तल को सम्हाल दीजिये (क्योंकि तुम्हारे ही रमण संघर्ष से मेरे कुन्तल बिगड़ गये हैं), (हे) विलासिन् ! (मेरे) ललाट को तिलक से अलंकृत कर दो (तुम्हारे ही ललाट की रगड़ से तिलक के छूट जाने से पुनरपि पूर्ववत् तिलक लगा दो), (हे) प्राणनाथ ! स्तन तट पर टूटे हुये हार को फिर से जोड़ दीजिये (तुम्हारे ही संघर्ष से टूटने के कारण पुनः जोड़ दो) इस प्रकार कह कर उस स्वामी के द्वारा उसीप्रकार से (जैसा कहा था उसीप्रकार अर्थात् वे वे कार्य करने से) स्पर्श की हुई (अतएव) रोमाञ्चित होकर पुनः मोहित हो गई अर्थात् प्रिय के स्पर्श करने के साथ ही पुनः सुरत के आनन्द का अनुभव करने के कारण संज्ञाहीन हो गई ।"

"मध्या" और "प्रगल्भा" के अन्य भेदों को बताते हैं ।

वे दोनों (मध्या और प्रगल्भा) धीरा, अधीरा और धीरा धीरा-इसप्रकार छः प्रकार की होती है ।

तत्र—

प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या धीरा दहेद्रुषा ॥ ६१ ॥
धीराधीरा तु रुदितैरधीरा परुषोक्तिभिः ।

तत्र मध्या धीरा यदा—

'तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः ।

टिप्पणी—जिसप्रकार "मध्या" तीन प्रकार की (१) धीरा (२) अधीरा और (३) धीराधीरा होती है उसी प्रकार "प्रगल्भा" भी तीन प्रकार की (१) धीरा (२) अधीरा और (३) धीराधीरा होती है।

अर्थ—(कारिका के अन्दर आये हुये "ते" की व्याख्या करते हैं) "ते" (इस शब्द से) "मध्या" (और) "प्रगल्भा" नायिकाओं का ग्रहण होता है।

टिप्पणी—यहाँ यह शंका पैदा होती है कि मुग्धादि नायिकाओं के मध्य में से "मुग्धा" नायिका के भेदों का वर्णन न करके "मध्या" और "प्रगल्भा" के भेदों का निरूपण "धीरा" "अधीरा" एवं "धीराधीरा" इस रूप में किसप्रकार कर दिया है ? इस शंका के निवारण के लिये ही कारिका के अन्दर "ते" पद का व्यवहार किया गया है क्योंकि "ते" इस पद से एक तो द्विवचनान्तता गृहीत होती है और दूसरे सन्निकृष्ट होने के कारण "मध्या" और "प्रगल्भा" का ही ग्रहण किया जायेगा किन्हीं अन्य दो नायिकाओं का नहीं।

अवतरणिका—क्रम प्राप्त "मध्या" नायिका के तीनों भेदों के (धीरा, अधीरा और धीराधीरा) लक्षण करते हैं।

अर्थ—उनमें से (मध्या और प्रगल्भा के भेदों में से) "मध्याधीरा" (शैशव और यौवन की मध्यावस्था को प्राप्त नायिका "मध्या" कहाती है) सपरिहास श्लिष्टवचनों के द्वारा प्रिय को क्रोध से (अन्य नायिका के अन्दर उसका प्रियआसक्त है, इस कारण उत्पन्न क्रोध से) सन्तप्त करती है "मध्याधीराधीरा" (किञ्चित् धैर्यशालिनी) नायिका रोदन से (अश्रुपात पूर्वक विलापों से) "मध्याधीरा" (सर्वथा त्यक्तधैर्या) नायिका कठोर वचनों से (अपने प्रिय को सन्तप्त करती है)।

टिप्पणी—ऊपर के श्लोक के अन्दर नायिकाओं के कार्यों का वर्णन है, लक्षण इसप्रकार हैं—

(१) मध्याधीरा—"स्मितपूर्वकवक्रोक्तिद्वाराप्रियसन्तापोत्पादिका मध्याधीरा।"
(२) मध्याधीराधीरा—"क्रन्दनद्वाराप्रियसन्तापोत्पादिका मध्याधीराधीरा।"
(३) मध्याधीरा—"कटुवचनद्वाराप्रियसन्तापोत्पादिका मध्याधीरा" इति।

अर्थ—उनमें से (१) "मध्या धीरा" (का उदाहरण) यथा—तदवितथेति

अवतरणिका—माघकृत "शिशुपालवधम्" के अन्दर दूसरी कामिनी के साथ रति सम्भोग करके और उसी के द्वारा उसी के दिये हुये वस्त्र को धारण कर आये हुये नायक के प्रति किसी नायिका की उक्ति है—

अर्थ—तदिति—"तुम मेरी प्रिया हो" ऐसा जो (तुमने) कहा था, वह ठीक ही है क्योंकि प्रियजन से (सपत्नी से) उपभुक्त वस्त्र को धारण करके (तुम) मेरे घर आये हो (अर्थात् तुम्हारी इस वस्त्र के धारण करने से विलक्षण शोभा हो गई है,

मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री-
व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥'

मध्यैव धोराधीरा यथा—

'बाले ! नाथ ! विमुञ्च मानिनि ! रुषं, रोषान्मया किं कृतं,
खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि ।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते,
नन्वेतन्मम, का तवास्मि, दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते ॥'

और तुम्हारे इस सौन्दर्य को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है अतः तुमने यह ठीक ही कहा है कि 'तुम मेरी प्रिया हो'' (इति)। क्योंकि कामीजनों की आभूषण धारण करने से उत्पन्न शोभा प्रिया के देख लेने से ही सफलता को प्राप्त होती है।

टिप्पणी—(१) इस पद्य के अन्दर "अवितथा" इसमें विद्यमान "अ" सम्बोधन करने के अर्थ में या फिर आक्षेप के अर्थ में है अर्थात् हे प्रिय ! आपने जो यह कहा था कि 'तुम मेरी प्रिया हो' = यह बात "वितथा" = असत्य है क्योंकि आप मुझे पीड़ा देने के लिये ही मेरी सपत्नी (प्रतिनायिका) के द्वारा उपभुक्त वस्त्र को धारण कर मेरे पास (घर) आये हो। यदि मैं तुमको प्रिय होती तो मुझे पीड़ा देने वाला यह कार्य न करते। यह सज्जनों की शोभा भी नहीं है और यदि यह तुम्हें सुन्दर लगता है तो इसके धारण करने से उत्पन्न शोभा को देखकर जो प्रसन्न होती है उसीको देखो मुझे आकर दिखाने से क्या लाभ ?

(२) परिहास पूर्वक श्लेष वक्रोक्ति के द्वारा प्रिय को सन्ताप पहुँचाने के कारण यह नायिका "मध्याधीरा" है।

अर्थ—(२) "मध्या धीराधीरा' (का उदाहरण) यथा-बाले इति—

अवतरणिका—यह श्लोक "अमरुकशतक" का है। इसके अन्दर नायक और नायिकाओं के प्रश्न-उत्तर के रूप में उक्ति-प्रत्युक्ति है।

अर्थ—बाले इति—(हे) बाले ! (नायक की उक्ति है), (हे) स्वामिन् ! (नायिका की प्रत्युक्ति है) (हे) मानवती ! क्रोध को छोड़ दो (नायक की उक्ति है); क्रोध का आश्रय लेकर मैंने क्या कर लिया ? (अर्थात् तुम्हारा कुछ भी तो अहित नहीं किया) (नायिका की प्रत्युक्ति है), (तुमने क्रोध करके) मुझे दुःखित कर दिया, (नायक की उक्ति है), आपका मेरे प्रति कोई अपराध नहीं है, सभी अपराध मेरे ही (हैं) (नायिका की प्रत्युक्ति है), तो फिर गद्गद् होकर क्यों रोती हो ? (नायक की उक्ति है), किसके सामने रोया जा रहा है (नायिका की प्रत्युक्ति है), देखो, मेरे ही सामने (रो रही हो) (नायक की उक्ति है), मैं तुम्हारी कौन हूँ (नायिका की प्रत्युक्ति है), (तुम मेरी) प्रियपत्नी हो (नायक की उक्ति है), (मैं तुम्हारी प्रेमपात्र) नहीं हूँ इसीलिये रो रही हूँ (नायिका की प्रत्युक्ति है)।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर प्रत्येक प्रश्न का उत्तर सोच समझकर दिया गया है, अतः धीर है और क्योंकि वह नायिका रो रही है अतः अधीरता भी प्रकट हो

इयमेवाधीरा यथा—

'सार्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त ! कान्ता
सैव स्थिता मनसि कृत्रिमहावरम्या ।
अस्माकमस्ति नहि कश्चिदिहावकाश-
स्तस्मात्कृतं चरणपातविडम्बनाभिः ॥'

प्रगल्भा यदि धीरा याच्छन्नकोपाकृतिस्तदा ॥६२॥
उदास्ते सुरते तत्र दर्शयन्त्यादरान्बहिः ।

तत्र प्रिये ।

रही है । इसप्रकार रोकर अपने प्रिय को सन्ताप पहुँचाने के कारण यह नायिका "मध्या धीराधीरा" है ।

अर्थ—इसी का ही (मध्या का ही) (३) "मध्याधीरा" (का उदाहरण यथा-सार्धमिति—

अवतरणिका—दूसरी नायिका के अन्दर अनुरक्त अपने पति को इस अपराध के कारण अपने चरणों में गिरा हुआ देखकर किसी नायिका की उक्ति है ।

अर्थ—सार्धमिति—(हे) धूर्त ! (दूसरों को प्रतारण करने में निपुण) **वही (जिस उपनायिका में तू अनुरक्त है) कृत्रिम हाव-भावों को दिखाने के कारण मनोहर (ऐसा कहकर अपनी स्वाभाविक हाव-भावों से मनोहरता ध्वनित की है) स्त्री सैंकड़ों मनोरथों के साथ (अर्थात् इसप्रकार उसके साथ विहार करूँगा, उसके साथ इस प्रकार वार्तालाप करूँगा, इसप्रकार उसके साथ एकान्त में होऊँगा इत्यादि अनेक प्रकार के मनोरथों से) (आपके) मन में बस गई है क्योंकि यहाँ (आपके मन में) हमारे लिये कुछ भी स्थान नहीं है । (सभी स्थान पर उसी कान्ता के व्याप्त होने के कारण) अतः (मेरे) चरणों पर गिरने की विडम्बनाओं से क्या लाभ ? (व्यर्थ में मेरे पैरों पर गिरकर मुझे क्लेश मत पहुँचाओ) ।**

टिप्पणी— यहाँ पर कठोर वचनों के द्वारा प्रिय को सन्तप्त करने के कारण यह नायिका **"अधीरा"** है ।

अवतरणिका—"मध्या" नायिका की तरह "प्रगल्भा" नायिका के भी तीन भेद (१) धीरा (२) धीराधीरा (३) अधीरा होते हैं । उनका क्रमशः वर्णन करते हैं ।

अर्थ—"प्रगल्भा" नायिका यदि "धीरा" **होती है तो (कृत्रिम हासादि के द्वारा) तिरोहित है कोप सूचक आकृति (मुखराग आदि) जिसकी ऐसी होती है (और) उसमें (प्रिय में) बाह्य (आन्तरिक नहीं) आदरों को दिखाती हुई सुरत में (प्रिय के साथ विलासादि में) उदासीन (अनुरागहीन अथवा अनुत्सुक) रहती है । (कारिकास्थ) "तत्र" का अर्थ "प्रिय में" है ।**

टिप्पणी—उपरि श्लोक में वर्णित इस "प्रगलभा धीरा" नायिका के कार्यों के प्रदर्शन से उसका लक्षण इसप्रकार हुआ— "छन्नकोपचिह्ना सती बहिरादर-प्रदर्शिनी सुरतोदासीना नायिका धीरप्रगल्भा" इति ।

यथा—

'एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद् दूरत-
स्ताम्बूलानयनच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्यान्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ॥

धीराधीरा तु सोल्लुण्ठभाषितैः खेदयत्यमुम् ॥६३॥

अमुं नायकम्।

यथा मम—

'अनलङ्कृतोऽपि सुन्दर ! हरसि मनो मे यतः प्रसभम्।
किं पुनरलङ्कृतस्त्वं सम्प्रति नखक्षतैस्तस्याः ॥'

अर्थ—(१) ("धीरप्रगल्भा" नायिका का उदाहरण) यथा—चतुर किसी नायिका ने (अपने) प्रिय को (विदेश से आये हुये को) बाह्य परिचर्या के द्वारा (प्रीति को उत्पन्न करने वाले व्यापारों को करके) (अपने) क्रोध को सफल कर लिया, तथाहि—दूर से ही (पति को आता हुआ देखकर) प्रत्युत्थान करने के व्याज से (अर्थात् पास में आये हुये अपने पति के सम्मान के लिये आसन से उठने के बहाने से) एक स्थान पर साथ बैठने का परिहार कर दिया, (अर्थात् प्रिया के साथ एक आसन पर बैठने की प्रियतम की इच्छा को पूरा नहीं होने दिया) ताम्बूल (पान) को लाने के बहाने से (पति के द्वारा) शीघ्रतापूर्वक (किये जाने वाले) आलिङ्गन में भी विघ्न डाल दिया (तथा) प्रिय के पास में परिजन को (अनुचर वर्ग को) नियुक्त करती हुई ने) (नायक की सेवा के लिये काम में नियुक्त करती हुई ने) सम्भाषण में भी (ठीक प्रकार से) उत्तर नहीं दिया (अर्थात् पास में स्थित अन्य पुरुषों के होने के कारण सम्यक् रूपेण बातचीत भी नहीं की)।

(२) "धीराधीरा प्रगल्भा" नायिका तो (कुछ धैर्यशालिनी और कुछ अधीरता वाली) आक्षेप युक्त वचनों द्वारा (अर्थात् ऊपर से प्रिय दिखाई पड़ने वाले पर वास्तव में अप्रिय) उसको (नायक को) सन्तप्त करती है।

(कारिकागत) 'अमुम्' का तात्पर्य "नायकम् = नायक को" है।

("प्रगल्भा धीराधीरा" नायिका का उदाहरण) यथा–मेरा—(अर्थात् ग्रन्थकार इसके उदाहरण में अपना बनाया हुआ श्लोक देते हैं) अनलङ्कृत इति—(दूसरी नायिका के नाखूनों के प्रहारों से युक्त नायक को देखकर किसी नायिका की उक्ति है) (हे) सुन्दर। (तुम) अलंकारों से अनलङ्कृत भी जब मेरे मन को बलात् आकर्षित कर लेते हो (तब) इस समय तो तुम उस नायिका के नख-क्षतों से शोभित हो अर्थात् मेरे मन को अवश्य आकर्षित करोगे इस विषय में तो फिर कहना ही क्या है।

टिप्पणी—यहाँ पर नख-क्षतों की अलंकारिता असम्भव होने के कारण इस उक्ति की कटुता (व्यंग्यता) स्फुट ही है।

तर्जयेत्ताडयेदन्या--

अन्या अधीरा । यथा-'शोणं वीक्ष्य मुखम्'-इत्यत्र । अत्र च सर्वत्र 'रुषा' इत्यनुवर्तते ।

—प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

कनिष्ठज्येष्ठरूपत्वान्नायकप्रणयं प्रति ।। ६४ ।।

ता अनन्तरोक्ताः षड्भेदा नायिकाः ।

अवतरणिका--(३) "प्रगल्भा अधीरा" नायिका का लक्षण करते हैं ।

अर्थ (३) दूसरी (प्रगल्भा अधीरा नायिका) (क्रोध से) (अपने पति का) तर्जन भी करती है (तथा) मारती भी है। [तथा च—जो नायिका क्रोध में आकर अपने प्रिय को मारती अथवा तर्जन करती है वह "अधीरा प्रगल्भा" नायिका कहलाती है ।] (कारिका के अन्दर आये हुये) "अन्या"--से तात्पर्य "अधीरा' (अधीराप्रगल्भा नायिका) से है । (इसका उदाहरण) यथा—"शोणं वीक्ष्य मुखम्"—यह श्लोक है । (इस पद्य की व्याख्या धृष्ट नायक के उदाहरण में की जा चुकी है, किन्तु "पादेन प्रहृतम्" इससे नायिका की अधीरता स्पष्ट व्यक्त हो रही है) और यहाँ पर सभी कारिकाओं में ("प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या" इस कारिका से लेकर सभी धीरा, अधीरादि पाँचों नायिकाओं के लक्षण में), "रुषा" की अनुवृत्ति होती है । (अर्थात् क्रोध आने पर ही उक्त नायिकाओं का तर्जन, ताडन, परुषभाषण आदि होता है, बिना क्रोध के नहीं) ।

टिप्पणी--"मध्या" और "प्रगल्भा" नायिकाओं के "धीरा, अधीरा, धीरा-धीरादि" भेद मान नामक विप्रलम्भ शृङ्गाररस के अन्दर ही होते हैं, अन्य रसों में नहीं ।

अवतरणिका--"मध्या" और "प्रगल्भा" नायिकाओं के छः भेदों को कहकर पुनः इनके दो भेद करते हैं ।

अर्थ—नायक के प्रणय के प्रति (नायक के कपट प्रेम के प्रति) कम (कनिष्ठ) और अधिक (ज्येष्ठ) प्रेम होने के कारण वे पूर्वोक्त नायिकाओं में से (अर्थात् (१) धीरा मध्या (२) अधीरा मध्या (३) धीराधीरामध्या (४) धीरप्रगल्भा (५) अधीरप्रगल्भा (६) धीराधीरा प्रगल्भा—ये छः प्रकार की नायिकायें) प्रत्येक दो प्रकार की होती हैं । अर्थात् नायक के प्रति अल्प प्रेम वाली नायिकायें "कनिष्ठा" नायिका होती हैं और अधिक प्रेम वाली "ज्येष्ठा" नायिका होती हैं । (कारिकागत अंश की व्याख्या करते हैं) ता इति-वे अर्थात् पूर्व प्रतिपादित धीरादि छः प्रकार की नायिकायें ।

टिप्पणी--(१) धीरा मध्या (२) अधीरा मध्या (३) धीराधीरा मध्या (४) धीर प्रगल्भा (५) अधीर प्रगल्भा और (६) धीराधीरा प्रगल्भा—इन छः नायिकाओं के पुनः दो भेद होते हैं—(१) कनिष्ठा नायिका (२) ज्येष्ठा नायिका ।

यथा —

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥'

मध्याप्रगल्भयोर्भेदास्तस्माद् द्वादश कीर्तिताः ।
मुग्धा त्वेकैव तेन स्युः स्वीया भेदास्त्रयोदश ॥ ६५ ॥
परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा ।

तत्र—

यात्रादिनिरताऽन्योढा कुलटा गलितत्रपा ॥ ६६ ॥

अवतरणिका—एक ही पद्य में कनिष्ठा और ज्येष्ठा नायिकाओं के उदाहरण देते हैं—

अर्थ—("कनिष्ठा" और "ज्येष्ठा" नायिका के उदाहरण) यथा—दृष्ट्वेकेति धूर्त (चतुर) पति एक ही आसन पर बैठी हुई दोनों प्रियाओं को देखकर पीछे से (धीरे से) आकर बड़े आदर के साथ (अपने प्रणय को दिखाने के ब्याज से) एक नायिका के स्वल्प प्रेम वाली नायिका के (अपने हाथों से) नेत्रों को बन्द करके किया है क्रीडा के बहाने छल जिसने ऐसे, किञ्चित् घुमाई है गर्दन जिसने ऐसे (पति ने) रोमाञ्चित होकर प्रेम से विकसित चित्त वाली, (और) आन्तरिक प्रसन्नता से शोभित हो रहे हैं कपोल जिसके ऐसी दूसरी नायिका को(अधिका प्रणयिनी नायिका को) चूम लिया ।

टिप्पणी—(१) इस पद्य में जिस नायिका की आंखे बन्द की गई हैं वह भी प्रिया है परन्तु प्रेम में कुछ कम होने के कारण "कनिष्ठा" नायिका है । और जिसके मुख का चुम्बन किया गया है वह नायक के प्रेम का पात्र अधिक होने के कारण "ज्येष्ठा" नायिका है ।

अवतरणिका—इसप्रकार "स्वकीया नायिका" के भेदों का वर्णन करके पुनः "सिंहावलोकन न्याय" से उनका प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—इसप्रकार (जैसा कि भेदों के लक्षण किये गये हैं) "मध्या" और "प्रगल्भा" नायिकाओं के बारह भेद कहे गये हैं । (और) "मुग्धा" नायिका तो एक ही प्रकार की होती है अतः "स्वकीया नायिका" के तेरह भेद हुये ।

टिप्पणी—"मध्या" नायिका के विषय में "रुद्रकवि" कहते हैं कि—

"एकाकारा मता मुग्धा पुनर्भूश्च यतोऽनयोः ।
अतिसूक्ष्मतया भेदः कविभिर्न प्रदर्शितः ॥"

अवतरणिका—"स्वकीया नायिका" के उपरान्त "परकीया नायिका" का वर्णन करते हैं ।

"परकीया" (नायिका) दो प्रकार की कही गई है । (१) परोढा (अन्य विवाहिता) और (२) कन्या (अविवाहिता) ।

यथा—

'स्वामी निःश्वसितेऽप्यसूयति, मनोजिघ्रः सपत्नीजनः,
श्वश्रूरिङ्गितदैवतं, नयनयोरीहालिहो यातरः ।
तद्दूरादयमञ्जलिः, किमधुना दृग्भङ्गिभावेन ते,
वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिक ! व्यर्थोऽयमत्र श्रमः ॥'

टिप्पणी—प्रश्न—कन्या का परकीयात्व किसप्रकार है ? **उत्तर**—पिता के आधीन होने के कारण कन्या का "परकीयात्व" है ।

अर्थ—तत्रेति—उनमें (परोढा और कन्या में) से (परोढा का लक्षण करते हैं) :—

("परोढा" का लक्षण)यात्रा, उत्सव आदिमें आसक्त (उत्सवादि की शौकीन) (यहाँ "आदि" पद से घर से बाहर रहना, अट्टालिकाओं के शिखर पर चढ़कर बड़े हाव-भाव के साथ राजमार्ग को देखना, लम्पट युवकों के समीपस्थ घर में जाना, अपने अङ्ग सौष्ठवादि के प्रकाशन आदिकों का ग्रहण होता है) (अतएव) कुलटा (व्यभिचाराय कुलानि परगृहाणि अटतीति कुलटा) (पर प्रसंङ्ग की कामना से इतस्ततः घूमना) नष्ट हो गयी है लज्जा जिसकी ऐसी "परोढा" नायिका कहाती है ।

अथवा—अन्योढा = परोढा नायिका दो प्रकार की होती है (१) गलितत्रपा = निर्लज्जा, यात्रादि उत्सवों में अभिरुचि वाली ("आदि" पद से दूती भेजकर नायकों के बुलाने आदि का ग्रहण होता है) (२) घर के अन्दर विद्यमान भी गलितत्रपा = निर्लज्जा और कुलटा–कुलमटति अतिक्रामति या सा कुलटा–परपुरुषगामिनी ।

टिप्पणी—इस "परोढा" नायिका को प्रधान रस में निबन्धन नहीं करना चाहिये । कहा है—

"अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाङ्गिरसे क्वचित् ।
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ॥ इति ॥

अर्थ—("परोढा" नायिका का उदाहरण) यथा–स्वामोति–(नायिका की उपनायक के प्रति उक्ति है) श्वास को छोड़ने पर भी स्वामी (पति) (प्रिय नहीं, इससे अपने पति में प्रेम के अभाव को प्रकट किया है) ईर्ष्या करते हैं (यह परपुरुष की अप्राप्ति के कारण दीर्घ उच्छ्वास छोड़ रही है,ऐसी कल्पना करके मुझसे ईर्ष्या करते हैं) सपत्नीजन (सौत) मेरे मन को सूंघती रहती है (मन के अन्दर आई हुई बात का भी अनुमान कर लेती हैं । यह किस परनायक का ध्यान कर रही है, यह देखती रहती हैं), सास इशारों की (हृद्गत भावों की, अभिप्राय को बताने वाले चेष्टा विशेष की) अधिष्ठात्री देवी है अर्थात् देवता की तरह सम्पूर्ण मनोगत भावों को समझ लेने वाली है) पति के ज्येष्ठ और कनिष्ठ भाइयों की पत्नियाँ नेत्रों की चेष्टाओं को परखने वाली हैं (नेत्र के इशारों और चेष्टाओं के विशेष अर्थों को जानने वाली हैं) (अतः) (हे) चतुरता के कारण मनोहर! (हे) सुरत व्यापारों में (प्रबन्ध) रसिक!

अत्र हि मम परिणेतान्नाच्छादनादिदातृतया स्वाम्येव न तु वल्लभः।

अथवा नैपुण्य के कारण मनोहर है सुरत व्यापार जिसका ऐसे हे रसिक! इस कारण से (ऊपर कहे हुये व्यवधान होने के कारण) दूर से ही (इससे मैं पास आने में समर्थ नहीं हूं-यह ध्वनित होता है) प्रणामाञ्जलि (नमस्कार) है, अब (इस समय) तुम्हारे नेत्रों के संकेत से क्या लाभ! (अर्थात् कोई लाभ नहीं) मेरी प्राप्ति के विषय में (अत्र) (तुम्हारा) यह परिश्रम (मुझे प्राप्त करने के उपाय) व्यर्थ है। (अर्थात् मैं इस समय तुम्हारे मनोरथ पूर्ण करने में असमर्थ हूं, किन्तु जब कभी, किसी प्रकार भी मनोरथ को पूर्ण कर दूंगी, कुछ समय तक प्रतीक्षा करो यह बात "अधुना" इस पद से व्यञ्जित होती है)। (अथवा यह अञ्जलि परमेश्वर के लिये की जा रही है कि वही जब मुझ पर प्रसन्न होगा तभी तुम्हारे साथ विहार करूंगी)।

टिप्पणी—कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई पति पागल नहीं है तो अपनी स्त्री के श्वास-प्रश्वास के विषय में असूया नहीं कर सकता, अतः यहाँ "निःश्वसित" शब्द लक्षणा से निःश्वास विशेष का सूचक है। इससे परपुरुष की अप्राप्ति से उत्पन्न विरह-निःश्वास से तात्पर्य है। **मनोजिघ्र इति**—"घ्रा" धातु का अर्थ है। सूँघना और सूँघी वही वस्तु जा सकती है जिसमें गन्ध हो। परन्तु मन अपार्थिव और गन्ध शून्य होने के कारण सूँघा नहीं जा सकता, अतः यहाँ "जिघ्र" शब्द लक्षणा से ज्ञानसामान्य का बोधक है और उस ज्ञान की विशेषता बतलाना यहाँ व्यंग्य प्रयोजन है। सपत्नियाँ मन को सूँघती रहती हैं अर्थात मानसिक भावों को सविशेष रूप से परखती रहती हैं। जैसे सूँघने से दूर से ही वस्तु की परीक्षा हो जाती है। इसीप्रकार मेरे मन को सपत्नियां दूर से ही पहिचान लेती हैं। इसी विशेषता को व्यक्त करने के लिये यहाँ "जिघ्र" शब्द का ग्रहण किया है। **इङ्गितदैवतमिति**—सास इशारों की देवता है अर्थात जिसप्रकार अधिष्ठात्री देवी से अधिष्ठित विषय की कोई बात छिपी नहीं रह सकती इसीप्रकार सास से किसी इशारे का कोई भाव छिपाया नहीं जा सकता, यह तात्पर्य है। "दैवत" शब्द लक्षणा से दैवत सदृश का बोधन करता है, क्योंकि सास साक्षात् देवता तो है नहीं। आँख आदि के सूक्ष्म इशारों का नाम "इङ्गित" है। **नयनयोरिति**—"लिह" धातु का अर्थ चाटना है और चाटी वही वस्तु जा सकती है जिसमें रस हो और जिसका जिह्वा से सम्बन्ध हो सके, परन्तु आँख के इशारों में न तो खट्टा, मीठा आदि कोई रस होता है और न उससे जिह्वा का सम्बन्ध हो सकता है, अतः यहाँ "जिघ्र" के समान लक्षणा जानना और ज्ञानगत विशषता को व्यंग्य प्रयोजन समझना चाहिये। हाथ, पैर, नेत्र आदि अङ्गों की स्थूल चेष्टाओं का नाम "ईहा" है।

अवतरणिका—यहाँ पर प्रश्न पैदा होता है कि जब उस नायिका ने "व्यर्थोऽयमत्र श्रमः" = तुम्हारा मुझे प्राप्त करने विषयक परिश्रम व्यर्थ है ऐसा कहकर परनायक के अन्दर विद्यमान रति का सर्वथा निषेध कर दिया है। अतः वह "कुलटा" नहीं है, तो फिर क्योंकर इसका "परोढा" के रूप में उदाहरण दिया है? इसका उत्तर देते हैं—

अर्थ—यहाँ पर (नायिका का तात्पर्य यह है कि) **मेरा पति अन्न, वस्त्र**

त्वं तु वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिकतया मम वल्लभोऽसीत्यादिव्यङ्ग्यार्थवशा-दस्याः परनायकविषया रतिः प्रतीयते ।

कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना ।

अस्याश्च पित्राद्यायत्तत्वात्परकीयात्वम् । यथा मालतीमाधवादौ मालत्यादिः।

धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका ॥ ६७ ॥
निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि ।
वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद्बहिः ॥ ६८ ॥

आदि देने के कारण (केवल) स्वामी ही है, प्रिय नहीं, और तुम तो निपुणता के कारण सुन्दर होने से, तथा सुरत व्यापारों में रसिक होने से मेरे प्रिय हो। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने के कारण इसकी (नायिका की) परनायक विषयक रति प्रतीत होती है।

टिप्पणी—इस पद्य के अन्दर विद्यमान "अधुना" और "अत्र" इन दो पदों से कालान्तर में और स्थानान्तर में तुम्हारा परिश्रम सफल हो सकता है। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने के कारण भी इस नायिका की परपुरुष के प्रति रति प्रतीत होती है।

अवतरणिका—इसप्रकार "परकीया" नायिका के अन्दर 'परोढा' नायिका का कथन करके अब "कन्या नायिका" का वर्णन करते हैं।

अर्थ—(२) ("कन्या" नायिका का लक्षण)— जिसकी शादी नहीं हुई है (अविवाहिता) (अतएव) लज्जाशीला, (और) नवयौवना "कन्या" (परकीया नायिका) (कहाती है)। (प्रश्न—इस लक्षण के अनुसार तो "कन्या" का परकीयात्व सिद्ध नहीं होता है। अतः कहा है कि) अस्याश्चेति— इसका (कन्या नायिका का) पिता आदि के आधीन होने के कारण परकीयात्व है। यथा— "मालतीमाधव" में मालती आदि।

अवतरणिका— नायिका के प्रमुख "स्वान्या साधारण स्त्री"—स्वकीया, परकीया और साधारणस्त्री—इन नायिकाओं में से "साधारणस्त्री" का वर्णन करते हैं।

अर्थ—("साधारण स्त्री" नायिका का लक्षण) धैर्यवती (अथवा सुरत पण्डिता) नृत्य गीत आदि ६४ कलाओं में अत्यन्त निपुण अथवा विलास कलाओं में (विव्वोक आदि विलास) अत्यन्त निपुण सामान्य नायिका "वेश्या" होती है।

टिप्पणी—६४ कलाओं का वर्णन "खिल-शुक्रनीति-शास्त्र" के द्वितीय अध्याय में है।

अवतरणिका—वेश्या के स्वभाव का वर्णन करते हैं।

अर्थ— (वह वेश्या) निर्गुण पुरुषों से भी द्वेष नहीं करती, (अर्थात् निर्गुणों के प्रति वह अपना द्वेष बाहर प्रकट नहीं करती क्योंकि उनसे धन मिलने की आशा

कामममङ्गीकृतमपि परिक्षीणधनं नरम्।
मात्रा निःसारयेदेषा पुनःसंधानकाङ्क्षया ॥ ६९ ॥
तस्कराः पण्डका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा।
लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या अस्याः प्रायेण वल्लभाः ॥ ७० ॥
एषापि मदनायत्ता क्वापि सत्यानुरागिणी।
रक्तायां वा विरक्तायां रतमस्यां सुदुर्लभम् ॥ ७१ ॥

होती है) (और) गुणिजनों में भी अनुरक्त नहीं होती है (गुणी व्यक्तियों के प्रति वह अपना अनुराग इसलिये प्रकट नहीं करती है कि कहीं फिर घनागम न बन्द हो जाये) (निर्गुण व्यक्ति का तो कहना ही क्या है) केवल धन को (जो कि उसको मिलना है) देखकर वह बाह्य अनुराग (आन्तरिक अनुराग नहीं) प्रदर्शित करती है (इससेयह सिद्ध होता है कि वेश्या केवल धन के लिये प्रत्येक मनुष्य को चाहती है) अच्छी प्रकार प्रियत्वेन स्वीकृत को भी (जिसको प्रियत्वेन नहीं मानती है, उनका तो कहना ही क्या है) सर्वतोभावेन क्षीण हो गया है धन जिसका ऐसे मनुष्य को (किसी और कारण से या वेश्या को दे देने से जिनके पास धन नहीं बचा है) पुनः (धनोपलब्धि के बाद) सुरत के समागम की अभिलाषा से (मुझमें अनुरक्त होकर यह सारा धन मुझे दे चुका है अतः यदि मैं इसको निकलवा दूंगी तो कहीं न कहीं से यह धन लाकर मुझे देगा-इस इच्छा से) माता के द्वारा (वेश सम्बन्धी शिक्षा देने वाली नारी के द्वारा) यह (वेश्या) घर से बाहर निकलवा देती है (वह वेश्या अपने आप क्षीणवित्त पुरुष को घर से बाहर नहीं निकालती है अपितु अपनी माता के द्वारा उसको निकलवा देती है क्योंकि यदि उस पुरुष के पास पुनः धन आजाय तो उसके धनापहरण के लिये माता को दोष देकर उससे पुनः मेल की इच्छा रखती है) (इसप्रकार की) इन वेश्याओं के चौर नपुंसक (रमण करने में असमर्थ होते हुये भी इन वेश्याओं के प्रिय होने की कामना से और अपने पौरुष के प्रख्यापन के लिये बहुत अधिक इनको धन दिया करते हैं) और मूर्ख, जिनसे धन आसानी से प्राप्त हो सकता है वे, अजितेन्द्रिय होने पर भी जो वेशमात्र से ब्रह्मचारी हैं वे (लिङ्गिनः), प्रच्छन्न कामुक (लोकापवाद के भय से गुप्तरूपेण गमन करते हैं) अथवा गुप्तनायक (गुप्तरूप से सुरत में निपुण होने के कारण अभिमत) प्रायः इसके प्रिय होते हैं। (कहीं कहीं) वेश्या भी काम के वश होकर वास्तविक अनुरागशालिनी होती है। (परन्तु) इस वेश्या में अनुरक्त होने पर या विरक्त होने पर रमण का आनन्द दुर्लभ होता है।

टिप्पणी—"चरकसंहिता" के अन्दर शारीर स्थल के अतुल्यगोत्रीय नामक दूसरे अध्याय में "पण्डक" का लक्षण इसप्रकार दिया है—

वाय्वग्निदोषात् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकपण्डकः सः "इति"

पण्डको वातपण्डाकदिः। छन्नं प्रच्छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः। तत्र रागहीना यथा लटकमेलकादौ मदनमञ्जर्यादिः। रक्ता यथा मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनादिः।

पुनश्च—

अवस्थाभिर्भवन्त्यष्टावेताः षोडश भेदिताः।
स्वाधीनभर्तृका तद्वत्खण्डिताऽथाभिसारिका ॥ ७२ ॥
कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितभर्तृका।
अन्या वासकसज्जा स्याद्विरहोत्कण्ठिता तथा ॥ ७३ ॥

तत्र—

कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम्।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका ॥ ७४ ॥

अवतरणिका— कारिकागत कुछ शब्दों की व्याख्या करते हैं।

अर्थ— "पण्डक" या षण्डक का अर्थ नपुंसक है (ये आठ प्रकार के होते हे)। प्रच्छन्न रूप से जो सुरत की कामना करते हैं वे "छन्नकामाः" होते हैं। उनमें से ("न रज्यति गुणिष्वपि" इसका उदाहरण दिखाते हैं) रागहीना यथा- लटकमेलकादि में (यहाँ "आदि" पद से "हास्यार्णवादि" का ग्रहण होता है) मदनमञ्जरी आदि (यहाँ 'आदि' पदसे "शशांकलेखा" आदि का ग्रहण होता है)("क्वापि सत्यानुरागिणी" इसका उदाहरण दिखाते हैं) रक्ता यथा— मृच्छकटिक आदि में (यहाँ "आदि" पद से "मालविकाग्निमित्रादि" का ग्रहण होता है) वसन्तसेना आदि (यहाँ "आदि" पद से "इरावती" आदि का ग्रहण होता है)।

अवतरणिका— नायिकाओं के अवस्था भेद से और भी भेद सम्भव हो सकते हैं। अतः उनका वर्णन करते हैं— पुनश्च इति—

अर्थ— पुनरपि (उनके-सोलह नायिकाओं के–१३ स्वीया, २ परकीया और एक सामान्या भेद दिखाते हैं।

ये (पूर्वोक्त मुग्धादि सोलह भेदों वाली नायिकायें अवस्था भेद से) (स्वाधीनभर्तृका रूप उपाधियों से) आठ प्रकार की होती हैं, यथा-, (१) स्वाधीनभर्तृका (२) उसीप्रकार खण्डिता (३) तथा अभिसारिका (४) कलहान्तरिता (५) विप्रलब्धा (६) पोषितभर्तृका (७) एक वासकसज्जा और (८) विरहोत्कण्ठिता होती है।

उनमें से (आठ नायिकाओं में से "स्वाधीनभर्तृका" का लक्षण करते हैं) (१) कान्त इति—पति रति गुण से आकृष्ट होकर जिसके सान्निध्य को नहीं छोड़ता है (अतएव) नानाविध विलास शैलियों से युक्त वह नायिका "स्वाधीनभर्तृका" होती हैं (स्वस्या अधीनोऽयत्तो भर्ता यस्याः सा स्वाधीनभर्तृका) अर्थात् जिसका पति अपने वश में है वह 'स्वाधीनभर्तृका' कहलाती है)।

यथा—'अस्माकं सखि वाससी—'इत्यादि ।

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंयोगचिन्हितः ।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥ ७५ ॥

यथा—'तदवितथमवादीः—' इत्यादि ।

अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा ।
स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका ॥ ७६ ॥

क्रमाद्यथा—

न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि ।
निपुणं तथैनमभिगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे ॥

"यथा"– "अस्माकं सखि वाससी—" इत्यादि (पूर्वोक्त पद्य) ।

टिप्पणी— इस पद्य के अन्दर "अस्याः प्रियो नान्यतो दृष्टि निक्षिपति"— इसका पति किसी अन्य नायिका की ओर दृष्टि विक्षेप नहीं करता है— ऐसा कहने से यह प्रतीत होता है कि उसका पति नायिका के रति गुण से आकृष्ट होकर उसके सन्निध्य को नही छोड़ता है । अतः वह "स्वाधीनभर्तृका" नायिका है ।

अर्थ—(२) ("खण्डिता" नायिका का लक्षण करते हैं) पार्श्वमेतीति जिसका प्रिय (पति) अन्य नायिका के संयोग चिह्न से युक्त होकर पास में आता है (अतएव) ईर्ष्या के कारण (सपत्नी नायिका के सौभाग्य को सहन न कर सकने के कारण मनोविकार विशेष से) दूषित हो गया है चित्त जिसका ऐसी वह (नायिका) पण्डितों के द्वारा 'खण्डिता' कही गई है । (उदाहरण) यथा— तदवितथमवादीः-इत्यादि ।

टिप्पणी— इस पद्य के अन्दर दूसरी नायिका के दुकूलवस्त्र रूप संयोग से चिह्नित पति के आने से ईर्ष्या वश कलुषित चित्त वाली नायिका 'खण्डिता' है ।

अवतरणिका– (३) 'अभिसारिका' का लक्षण करते हैं ।

अर्थ–काम के वशीभून होकर जो (अपने) प्रिय (नायक) को (दूती आदि के द्वारा अपने पास) अभिसरण कराती है अथवा (जो) अपने आप (अपने प्रिय नायक के पास) अभिसरण करती है, उसको पण्डितो ने "अभिसारिका" नायिका कहा है ।

टिप्पणी — "अभिसारिका" पद की व्युत्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है—
(१) अभिसारयिते और (२) अभिसरति वा । अतःयह नायिका भो दो प्रकार की हुई--
(१) अभिसारयित्री—जो नायक को अपने पास अभिसरण करावे । और
(२) अभिसारिणी– जो नायक के पास स्वयं अभिसरण करे ।

अर्थ–क्रम से (दोनों प्रकार की अभिसारिका नायिकाओं का उदाहरण देते हैं–

(१) ("अभिसारयित्री" नायिका का उदाहरण)—(कोई नायिका दूती से कह रही है) न चेति—वह (नायक) जिसप्रकार से मुझ पर (उसमें अनुरक्त नायिका पर) दया करे (असमय में रमण करने रूप दया को) और जिसप्रकार मेरी (एकमात्र उसी का आश्रय लेकर जीवित) तुच्छता को (काम के वशीभूत तुच्छता को) नहीं जानता है, उसप्रकार से इसके पास जाकर चतुराई से कहना, इसप्रकार से कोई नायिका (सामने उपस्थित) दूती को सन्देश दे रही है ।

टिप्पणी— (१) दूती के द्वारा नायक को अपने पास बुलाने के कारण यह पहली "अभिसारयित्री" नायिका है ।

(२) यह "शिशुपालवध" के नवम सर्ग का ५६ वाँ पद्य है ।

'उत्क्षिप्तं करकङ्कणद्वयमिदं, बद्धा दृढं मेखला,
यत्नेन प्रतिपादिता मुखरयोर्मञ्जीरयोर्मूकता ।
आरब्धे रभसान्मया प्रियसखि ! क्रीडाभिसारोत्सवे,
चण्डालस्तिमिरावगुण्ठनपटक्षेपं विधत्ते विधुः ॥'

संलीना स्वेषु गात्रेषु मूकीकृतविभूषणा ।
अवगुण्ठनसंवीता कुलजाऽभिसरेद्यदि ॥ ७७ ॥

अर्थ (२) ('अभिसारिणी' नायिका का उदाहरण)—(हे) प्रियसखि ! ये हाथ के दोनों कङ्कण ऊपर को कर लिये (जिससे इनका शब्द न हो), मेखला कसकर बांध ली (जिससे इनके बजने से शब्द न हो), और बड़े प्रयत्न से शब्द करते हुये नूपुरों की मूकता (शब्द न करना) प्रतिपादित की (इसप्रकार) उल्लास के साथ मैंने (जैसे ही) विहार के लिये अभिसरण रूप उत्सव को प्रारम्भ किया (वैसे ही चाण्डाल के सदृश क्रूर स्वभाव वाला (दूसरे के ईप्सित कार्य के अन्दर विघ्न डालने के कारण) चन्द्रमा (विध्यति पर ममति विधुः) अन्धकार रूपी अवगुण्ठन वस्त्र को हटा रहा है । (अर्थात् गुप्तरूपेण अभिसरण की कामना वाली मेरा सहसा चन्द्रमा निकल आने से सभी कुछ निष्फल हो गया ।

टिप्पणी—यहाँ पर नायिका स्वयं अभिसार के लिये गमन कर रही है, अतः अभिसारिणी" नायिका है ।

अवतरणिका— क्रम से प्राप्त कुलजादि के भेद से अभिसरण के क्रम का वर्णन करते हैं ।

अर्थ— यदि कुलीन (कामिनी) अभिसरण करेगी (तो) ("कन्या" या परोढा नायिका "स्वकीया अभिसारिणी नहीं हो सकती क्योंकि स्वकीया होने के कारण उसका अभिसारत्व सम्भव नहीं है) अपने अवयवों में अति संकुचित शरीर वाली, निःशब्द कर लिये हैं आभूषण जिसने ऐसी, अवगुण्ठन से आवृत शरीर वाली (होती है) ।" (यह तो केवल उपलक्षण है—कभी कभी शुभ्र माला आदि और अनुलेपन भी सारे शरीर पर लगा लिया जाता है । अन्धकार में नीलवस्त्रों से सारे शरीर को ढक लेती है और यदि चन्द्रिका छिटक रही है तो सारे शरीर पर चन्दन के द्रव का लेप कर लेती है ।

टिप्पणी — क्रम से उदाहरण—

"सितं वसनमर्पितं वपुषि नीलचेलभ्रमा-
न्मया मृगमदाशया मलयजद्रवः सेवितः ।
करेण परिबोधितः स्वजनशङ्कया दुर्जनः,
परं परमपुण्यतः सखि ! न लँघिता देहली ॥

तथा— "मल्लिकामालधारिण्यः सर्वाङ्गीणार्द्रचन्दनाः ।
क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः ॥

विचित्रोज्ज्वलवेषा तु रणन्नूपुरकङ्कणा ।
प्रमोदस्मेरवदना स्याद्वेश्याऽभिसरेद्यदि ।। ७८ ।।
मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना ।
आविद्धगतिसंचारा स्यात्प्रेष्याऽभिसरेद्यदि ।। ७९ ।।

तत्राद्ये 'उत्क्षिप्तम्'—इत्यादि । अन्ययोः ऊह्यमुदाहरणम् ।

अर्थ—(वेश्या के अभिसरण का निरूपण करते हैं)—यदि वेश्या अभिसरण करेगी (तो) विलक्षण और उज्वल है वेष जिसका ऐसी, निनादित हो रहे हैं नूपुर और कङ्कण जिसके ऐसी, (अर्थात् शब्दायमान नूपुरा) (तथा) आनन्द से (धनप्राप्ति-जन्य आनन्द से) प्रफुल्लित है मुख जिसका ऐसी होगी। (वेश्या दर्शकों के मनों को आकर्षित करने के लिये ऐसा करती है)।

(दासी के अभिसरण को दिखाते हैं) यदि दासी (प्रेष्या) अभिसरण करेगी (तो) आनन्द से स्खलित हो रहा है वार्तालाप जिसका ऐसी, विलास से विकसित हैं नेत्र जिसके ऐसी, उद्धतगति से है संकेत स्थान की प्राप्ति जिसकी ऐसी (मदोद्धतगति) होगी।

टिप्पणी—यद्यपि दासी का साक्षात् नायिकात्वेन कथन नहीं किया गया है तथापि "इतरा अप्यसंख्याताः" इस कथन से उसका भी नायिकात्व सूचित होता है।

अर्थ—उन अभिसारिकाओं के बीच में (तत्र) पहली दो के विषय में ("परोढा" और "कन्यका" रूप कुलजाओं के अभिसरण के विषय में) "उत्क्षिप्तं करकंकणद्वयमिदम्"······इत्यादि (उदाहरण हैं)। (कहने का तात्पर्य यह है कि "परोढा और कन्यका" इन दोनों नायिकाओं का अभिसरण के विषय में समान ही उदाहरण हैं क्योंकि दोनों ही कुलीन हैं)। अन्य दो नायिकाओं के (अर्थात् वेश्या और प्रेष्या के) उदाहरण खोजने चाहिये।

टिप्पणी—वेश्या और प्रेष्या के क्रमशः उदाहरण देते हैं:—

(१) वेश्याभिसारिका यथा—

"लोलच्चोलचमत्कृति प्रविचलत्काञ्चीलता झंकृति ।
न्यञ्चत्कञ्चुकबन्धबन्धुरचलद्वक्षोजकुम्भोन्नति ।।
स्फूर्जद्दीधिति विस्फुरत्प्रविचलच्चामीकरालंकृति ।
क्रीडाकुञ्जगृहं प्रयाति कृतिनः कस्यापि वाराङ्गना ।।

(२) प्रेष्याभिसारिका यथा—

"ताम्बूलाक्तं दशनमसकृद्दर्शयन्ती ह चेटी,
घोटीह्रेषात् विकृतिरुदितं हेतुहीनं हसन्ती ।
स्थानास्थानस्खलित पदविन्यासमाभाषमाणा,
यूनामग्रे सरति कुटिलं नर्तितोच्चैर्नितम्बम् ।।

प्रसङ्गादभिसारस्थानानि कथ्यन्ते—

क्षेत्रं वाटी भग्नदेवालयो दूतीगृहं वनम् ।
मालापञ्चः श्मशानं च नद्यादीनां तटी तथा ।। ८० ।।
एवं कृताभिसाराणां पुंश्चलीनां विनोदने ।
स्थानान्यष्टौ तथा ध्वान्तच्छन्ने कुत्रचिदाश्रये ।। ८१ ।।
चाटुकारमपि प्राणनाथं रोषादपास्य या ।
पश्चात्तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा ।। ८२ ।।

यथा मम तातपादानाम्—

'नो चाटश्रवणं कृतं, न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः,
कान्तस्य प्रियहेतो निजसखोवाचोऽपि दूरीकृताः ।
पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढया,
पाणिभ्यामवरुध्य हन्त ! सहसा कण्ठे कथं नार्पितः ।।'

अर्थ—(अभिसारिकाओं के) प्रसङ्ग से अभिसरण के स्थानों का वर्णन करते हैं—

(१) खेत (२) गृहोद्यान (३) खण्डित (अतः मनुष्यों के आवागमन से शून्य) देवस्थान (४) दूती का घर (अथवा मिलाने के काम में दक्षा का, कुट्टिनी का) (५) वन, (६) पुष्पोद्यान, (७) श्मशान और (८) नदी आदि का तट (यहाँ "आदि" पद से गुहा, निर्झरादिकों का ग्रहण होता है) । इसप्रकार किया है । अभिसार जिन्होंने ऐसी कुलटा (व्यभिचारिणी) नायिकाओं के विनोद के लिये आठ (क्षेत्रादि) स्थान (होते) हैं तथा अन्धकार से आवृत कहीं पर स्थान (समझना चाहिये) ।

टिप्पणी—कहा भी है— कि "स्थानान्यष्टौ प्रवदति मुनिः पुंश्चलीनां विनोदे" ।

अवतरणिका—अभिसारिकाओं के अनन्तर "कलहान्तरिता" नायिका का लक्षण करते हैं ।

अर्थ—(४) ("कलहान्तरिता" नायिका का लक्षण)—प्रिय वचन बोलने वाले भी अपने प्राणनाथ को (पति को) जो क्रोध के कारण हटाकर बाद में पश्चात्ताप को प्राप्त होती है वह "कलहान्तरिता" (नाम की नायिका) मानी गई है ।

('कलहान्तरिता" का उदाहरण) जैसे मेरे पूज्य पिता का (अर्थात् ग्रन्थकार अपने पिता का बनाया हुआ श्लोक उद्धृत करता है) नो इति—(क्रोध के कारण नायक का निरादर करके बाद में पश्चात्ताप करने वाली किसी नायिका की अपनी सखी के प्रति उक्ति है) मन्द बुद्धि वाली मैंने (प्रिय के द्वारा किये जाते हुये) चाटुकारी के वचनों को नहीं सुना, पास में (प्रिय के द्वारा मुझे प्रसन्न करने के लिये दिये हुए) रखे हुये हार को आँखों से भी नहीं देखा (उसका भी तिरस्कार कर दिया) प्रियतम का प्रिय चाहने वाली अपनी सखियों के वचनों को भी) (अनुनय वचनों को भी नहीं सुना । हन्त ! उस समय (मेरे) पैरों पर गिरकर जाते हुये उसको (प्रिय को) सहसा हाथों से उठाकर गले से क्यों नहीं लगा लिया ?

टिप्पणी— यहाँ पर अनुनय विनय में तत्पर अपने पति का निरादर करके बाद में अनुताप को प्राप्त हुई नायिका "कलहान्तरिता" है । (कलहेनअन्तरिता व्यवहिता या सा)

प्रियः कृत्वापि संकेतं यस्या नायाति संनिधिम् ।
विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता ॥ ८३ ॥

यथा —

'उत्तिष्ठ दूति, यामो यामो यातस्तथापि नायातः ।
या तः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः ॥'
नानाकार्यवशाद्यस्या दूरदेशं गतः पतिः ।
सा मनोभवदुःखार्ता भवेत्प्रोषितभर्तृका ॥ ८४ ॥

अर्थ— (५) ("विप्रलब्धा" नायिका का लक्षण)— प्रिय (कान्त) संकेत ("वहाँ तेरे साथ विहार करूंगा" ऐसी प्रतिज्ञा) करके भी जिसके पास नहीं आता है (उसी के द्वारा) नितान्त तिरस्कृत वह "विप्रलब्धा नायिका" समझनी चाहिये ।

टिप्पणी— "विशेषण प्रलब्धा— वञ्चिता इति विप्रलब्धा ।।"

अर्थ— ("विप्रलब्धा" का उदाहरण) यथा उत्तिष्ठ इति-(संकेत स्थान पर जाकर प्रिय को आया हुआ न देखकर किसी स्त्री की अपनी सखी के प्रति निराश उक्ति है, (हे) दूति ! उठो, (घर को) चलते है, प्रहर (उपचार प्रयोग से संकेत का समय) व्यतीत हो गया तथापि (वह प्रिय) नहीं आया है, इसके बाद भी जो (नारी) जियेगी उसका (उस नारी का) (वह) प्राणेश्वर (पति) होगा (मेरा नहीं, क्योंकि दुःसह कामवेदना के कारण मैं तो अब जीवित रह न सकूंगी जिससे वह मेरा हो सके) ।

टिप्पणी-(१) यहां संकेत करके भी प्रिय के न आने के कारण "विप्रलब्धा" नायिका है ।

अर्थ — ("प्रोषितभर्तृका" नायिका का लक्षण)— जिसका (स्त्री का) पति नानाविध कार्यों के कारण (शिक्षा, धनार्जन इत्यादि कारणों से, यहां पर "शाप" और "सम्भ्रम" का ग्रहण हो जायेगा जिससे उक्त उदाहरण के अन्दर "अव्याप्ति" नामक दोष न हो) दूर देश में चला गया हो वह कामपीड़ित (नायिका) "प्रोषित-भर्तृका कहाती है ।

टिप्पणी— 'प्रोषितः'— विदेशं प्राप्तः भर्त्ता यस्याः सा तादृशी "प्रोषित-भर्तृका" ।

यथा—

'तां जानीयाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥'

अर्थ— (प्रोषितभर्तृका का उदाहरण) यथा तामिति— (कालिदास कृत "मेघदूत" के अन्दर कुबेर के शाप से दूर देश में गये हुये यक्ष की मेघ के प्रति उक्ति है) सहचारी (प्रेमवश सभी स्थानों पर उसी के साथ विहार और पर्यटन आदि करने से, मुझ यक्ष के (परतन्त्र होने के कारण उससे आलिङ्गन करके) पृथक् होने पर चक्रवाकी की तरह (जिसप्रकार सहचर चक्रवाक के दूर हो जाने पर चक्रवाकी की अवस्था हो जाती है, उसीप्रकार) निस्सहाय (एकाकी) परिमित है जीवन कथा जिसकी ऐसी (थोड़ा सा जीवन अवशेष होने के कारण अर्थात् मृतप्राय) अथवा (मेरे वियोग के दुःख से) थोड़ा बोलने वाली उसको (मेरी प्रिया को) मेरा (इस समय किंचिदपि उसकी सहायता करने में असमर्थ मेरा) दूसरा जीवन समझो। (कहने का आशय यह है जिसप्रकार वह मेरे बिना परिमित कथा है उसीप्रकार उसके बिना मैं भी परिमित कथा वाला हो गया हूं। इसप्रकार वह मेरी दूसरी प्राण है, ऐसा तुम समझो) (यक्ष यह सोचकर कि मैं इस मेघ को अपनी प्रियपत्नी यक्षिणी के पास भेज तो रहा हूँ किन्तु यह उसको पहिचानेगा कैसे ? क्योंकि इसप्रकार की विरहावस्था के अन्दर आकृति के अन्दर वैषम्य हो सकता है, अतः उसको पहचानने की युक्ति बताता है) गाढेति-(प्रबल विरह की वेदना के कारण) प्रबल है (मुझसे मिलने की अभिलाषा जिसकी ऐसी बाला को (षोडशवर्षीया मेरी प्रिया को) (अतएव) इन (वर्तमान)(विरह वेदना के कारण दीर्घ प्रतीत होने वाले दिनों के व्यतीत होने पर शिशिर ऋतु के पाले से कुम्हलाई हुई कमलिनी की तरह (वा=इव) और की और हो गई (अन्यरूपां प्राप्ताम्) समझता हूं। (अतः ऐसी अवस्था में उसको कोई दूसरी न समझ लेना)।

टिप्पणी—(१) यहाँ कुबेर के शाप से यक्ष पति के दूरदेशस्थित होने के कारण यह यक्षिणी नायिका "प्रोषितभर्तृका" है।

(२) "उत्कण्ठितालक्षणम्" यथा—

' रागे त्वलब्धविषये वेदना महती तु या। संशोषिणी च गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः ।

कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि ।
सा तु वासकसज्जा स्याद्विदितप्रियसङ्गमा ॥ ८५ ॥

यथा राघवानन्दानां नाटके—

'विदूरे केयूरे कुरु, करयुगे रत्नवलयै-
रलं, गुर्वी ग्रीवाभरणलतिकेयं किमनया ।
नवामेकामेकावलिमयि मयि त्व विरचये-
र्न नेपथ्यं पथ्यं बहुतरमनङ्गोत्सवविधौ ॥'

आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति यत्प्रियः ।
तदनागमदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा ॥ ८६ ॥

अर्थ— (७) ("वासकसज्जा" नायिका का लक्षण) (शय्या, प्रदीपादिकों से कामक्रीडा के योग्य) परिष्कृत निवास स्थान पर जिसका प्रसाधन (शृंगार) (सखि-जनादि) करती हैं, (अर्थात् वासगृह को सजाकर सखियाँ जिसका शृंगार आदि करती हैं) (और) प्रिय समागम जिसका निश्चित है ऐसी वह (नायिका) (वासके—वासवेश्मनि सज्जा यस्याः तथोक्ता) "वासकसज्जा" होती है ।

("वासक सज्जा" का उदाहरण) जैसे राघवानन्द नाटक में— विदूरे इति-(वासगृह में नायक के समागम के लिये थोड़े शृंगार से सजाने के लिये प्रेरित करती हुई किसी नायिका की यह उक्ति है) (हे सखि !) (भुजाओं के मध्य धारण किये जाने वाले) दोनों केयूर नामक आभूषणों को (इसीको "अङ्गद" भी कहते हैं) दूर कर दे, हाथों में रत्नजटित कङ्कणों से क्या प्रयोजन (अर्थात् इनको भी मत पहना), यह कण्ठाभरण माला बहुत भारी है (आलिङ्गन में दुःख देने वाली है), इसकी क्या आवश्यकता है, (इसको भी धारण करने से कोई लाभ नहीं है), हे सखि, ! तू मुझे नवीन गुम्फित (अन्यथा आलिङ्गन में झटिति टूट जायेगी) केवल एकावली नामक हार को पहना दे (अन्यथा बड़ा हार आलिङ्गन के समय स्तनों के मर्दन में व्यवधायक होगा) (क्योंकि) कामदेव के उत्सव के समय अधिक आभूषण धारण करना उपयुक्त नहीं हैं ।

टिप्पणी— (१) यहाँ वासगृह के अन्दर शृंगारादि करने के कारण इस नायिका को "वासकसज्जा" समझना चाहिये ।

(२) "वासकसज्जा" का व्युत्पत्ति निमित्तक लक्षण—

"वासवेश्मनि सुकल्पिततल्पे या समागमविधिं विदधाना ।
तिष्ठति प्रियसमागमसज्जा तां मुनिवदंति वासकसज्जाम् ॥

अर्थ—(८) ("विरहोत्कण्ठिता" नायिका का लक्षण) जिसका प्रिय पति आने का निश्चित संकल्प करके भी दैववश नहीं आता है वह (नायिका) उसके (पति के) न आने से दुखिता "विरहोत्कण्ठिता" कहाती है ।

यथा—

'किं रुद्धः प्रियया कयाचिदथवा सख्या ममोद्वेजितः,
किं वा कारणगौरवं किमपि यन्नाद्यागतो वल्लभः।
इत्यालोच्य मृगीदृशा करतले विन्यस्य वक्त्राम्बुजं
दीर्घं निःश्वसितं, चिरं च रुदितं, क्षिप्ताश्च पुष्पस्रजः॥'

इति साष्टाविंशतिशतमुत्तममध्याधमस्वरूपेण ।

("विरहोत्कण्ठिता" का उदाहरण) यथा— किं रुद्ध इति—(सकेत-स्थल पर आई हुई नायिका की प्रिय के न आने पर यह वितर्कमयी सरणी है) क्या किसी (अन्य) प्रिया ने (मुझसे भी अधिक प्रेमवती किसी दूसरी नायिका ने) रोक लिया है, अथवा (किसी) मेरी सखि ने (ही) (मेरे अन्दर दोषों की उद्भावना करके उसको) दुःखित कर दिया है, अथवा किसी अनिर्दिष्ट कारण की गुरुता (हो गई) है जिससे आज मेरा प्रिय नहीं आया है। इसप्रकार तर्क, वितर्क करके (अपने अपराध का ही यह फल है ऐसा सोचकर पुनः निश्चय करके) (व्याकुल होने के कारण) मृगनयनी ने मुखकमल को हथेली पर रखकर, दीर्घ निःश्वास लिया, और बहुत देर तक रोई और (फिर बाद में) पुष्पमालाओं को (उतार कर) फेंक दिया।

टिप्पणी— यहाँ आने के लिये स्वीकृति देकर भी प्रिय के न आने के कारण दुःखपीड़ित यह नायिका "विरहोत्कण्ठिता" है। इसका दूसरा लक्षण—

"उद्दाममन्मथ महाज्वरवेपभानां रोमाञ्चकञ्चुकितमङ्गकमावहन्तीम्।
गाढानुरागवचनां पुरतः सखीनामुत्कण्ठितां वदति तां भरतः कवीन्द्रः॥"

इसका उदाहरण—

एणीदृशः प्रबलतापभयादिवास्याः श्वासानिलाः प्रतिमुहु प्रसरन्ति दूरम्।
बाष्पाम्बुवीचिषु निमज्जन कातरेव निद्रादृशोर्न सविधेऽपि पदंविधन्ते॥

अवतरणिका— सम्प्रति पुनः नायिका भेदों की परिगणना करते हैं।

अर्थ—इसप्रकार (नायिकाओं के) १२८ भेद होते हैं। (और) "उत्तम, मध्यम तथा अधम" (प्रत्येक के इस तीन भेदों से) स्वरूप से (ये भेद तिगुने होकर १२८ × ३) ३८४ नायिकाओं के भेद होते हैं।

टिप्पणी—"स्वकीया" नायिका तीन प्रकार की होती है—(१) मुग्धा (२) मध्या और (३) प्रगल्भा। इनमें से "मुग्धा" एक प्रकार की होती है। "मध्या" और "प्रगल्भा"— (१) धीरा (२) अधीरा और (३) धीराधीरा—इसप्रकार त्रिविधता से छः प्रकार की हुई। (१) धीरामध्या (२) अधीरामध्या (३) धीराधीरा मध्या (४) धीराप्रगल्भा (५) अधीराप्रगल्भा (६) धीराधीरा प्रगल्भा। ये छः प्रकार की नायिकायें—(१) ज्येष्ठा (२) कनिष्ठा भेद की द्विविधता के कारण १२ प्रकार की हुई। "मुग्धा" को मिलाकर कुल १३ भेद हुये। इतने ही भेद

चतुरधिकाशीतियुतं शतत्रयं नायिकाभेदाः ॥ ८७ ॥

"**स्वकीया**" के हैं। "**परकीया नायिका**" दो प्रकार की है—(१) **परोढा** और (२) **कन्यका**। "**सामान्या नायिका**" एक प्रकार की होती है। इसप्रकार ये तीन भेद मिल कर सोलह भेद हुये। (**स्वकीया = १३ + परकीया = २ + सामान्या = १, कुल = १६** भेद हुये)। इनमें से (१६ भेदों में से) प्रत्येक (१) स्वाधीन भर्तृका (२) खण्डिता (३) अभिसारिका (४) कलहान्तरिता (५) विप्रलब्धा (६) प्रोषितभर्तृका (७) वासक-सज्जा और (८) विरहोत्कण्ठिता—इन आठ प्रकार की अवस्था विशेष वाली होने के कारण आठ प्रकार की होने से (१६×८) १२८ भेद होते हैं। अथवा "**स्वकीया नायिका**" के भेद (१३×८=१०४) हुये। "**परकीया नायिका**" के भेद (२×८= १६) हुये। "गणिका" के भेद (१×८=८) हुये। ये सभी भेद मिलाकर नायि-काओं के (१०४+१६+८) १२८ भेद हुये। और इनके पुनः **उत्तम, मध्यम और अधम** भेद से (१२८×३) ३८४ भेद हुये। पुनः **दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य** भेद से (३८४×३) ११५२ भेद हुए। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि—लज्जा का प्राधान्य होने के कारण "**मुग्धा**", लज्जा और मन्मथ का अतिशय प्राधान्य होने के कारण "**मध्या**", प्रौढ़भाव के प्राधान्य होने के कारण "**प्रगल्भा**", धैर्य की प्रचुरता के कारण "**धीरा**", अधैर्य की प्रचुरता के कारण "**अधीरा**" धैर्य और अधैर्य की प्रचुरता के कारण "**धीराधीरा**", ज्येष्ठ नायिका पर प्रेमाधिक्य होने के कारण "**ज्येष्ठा**", कनिष्ठा नायिका पर प्रेम की न्यूनता होने के कारण "**कनिष्ठा**", रहस्य की प्रधानता होने के कारण "**परोढा**", मुग्धा की तरह लज्जा का प्राधान्य होने के कारण "**कन्यका**" और धन के अपहरण की प्रधानता के कारण "**गणिका**"—ये सभी नायिकायें आठ प्रकार की होती हैं, तथापि—

> **प्रस्थानं बलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतम् ,**
> **दृष्ट्वा न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।**
> **यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता,**
> **गन्तव्ये जीवितप्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥**

इस उदाहरण के अनुसार उत्तर क्षण में विदेश में जाने का निश्चय कर लेने पर एक नवमी नायिका "**प्रवत्स्यत् भर्तृका**" हो सकती है। इस "**प्रवत्स्यत् भर्तृका**" नायिका का "**प्रोषितभर्तृका विप्रलब्धा, और विरहोत्कण्ठिता**" आदि नायि-काओं के अन्दर अन्तर्भाव नहीं हो सकता है क्योंकि इस नायिका का पति इसके पास है, वह विदेश जाने की तैयारी कर रहा है, अभी गया नहीं है। "**कलहान्तरिता**" नायिका के अन्दर भी इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है क्योंकि न तो इसकी अपने पति से लड़ाई हुई है और न इसने पति का तिरस्कार ही किया है। "**खण्डिता**" नायिका के अन्दर भी इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है क्योंकि इसके पति में किसी अन्य नायिका के साथ किए हुए उपभोग चिन्हों का भी अभाव है और प्रियतमा के

इह च 'परस्त्रियौ कन्यकान्योढे संकेतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते: पश्चाद्विदूषकादिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके, कुतोऽपि संकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे, इति त्र्यवस्थैवानयोरस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् ।' इति कश्चित्

अन्दर किसीप्रकार के क्रोध के चिन्ह भी नहीं दिखाई पड़ रहे हैं। "वासकसज्जा" नायिका के अन्दर भी इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है क्योंकि पति की विदेश जाने की तैय्यारी करने पर आभूषणों से अलंकृत होने का अभाव है तथा अतिशय शोकोद्रेक का अवसर है। "स्वाधीनभर्तृका" नायिका के अन्दर भी इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है क्योंकि अगले ही क्षण प्रिय का वियोग होना है, इसप्रकार भर्ता के विषय में स्वाधीनता का अभाव होने के कारण। "अभिसारिका" नायिका के अन्दर भी इसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है क्योंकि इसके अन्दर आन्तरिक उल्लास का अभाव है तथा अन्तःकरण से दुःखित है। तथा "प्रवत्स्यत् भर्तृका" का लक्षण इसप्रकार है—

पतिः देशान्तरं यस्याः यास्यत्येवोत्तरक्षणे ।
प्रवत्स्यत्पतिका सा स्यात् प्रयाणच्छेदनोद्यमाः इति ॥

इसप्रकार रससागर की गम्भीरता का निरूपण करने वालों ने विवेचन किया है। अतः नवमी "प्रवत्स्यभर्तृका" नायिका स्वीकार करनी चाहिये। इसका स्पष्ट निरूपण विप्रलम्भ शृङ्गार के निरूपण के अवसर पर होगा।

अर्थ— (आचार्य धनिक के मत का निरूपण करते हैं) यहाँ पर (नायिकाओं के भेद के निरूपण के प्रकरण में) किसी का (आचार्य धनिक का) (कहना है कि "परकीया नायिका" के विषय में "कन्यका" और "परोढा" ("कन्यका" पिता के आधीन होती है और "परोढा" पति के आधीन होती हैं) ("परकीया" नायिका के ये ही दो भेद होते हैं) सुरत के लिये संकेत स्थल में जाने से पूर्व 'विरहोत्कण्ठिता' होती है (विरहावस्था में उत्कण्ठाशालिनी होती है) पश्चात् विदूषकादि के साथ (मिलकर) अभिसरण करने पर "अभिसारिका" होती है। (और फिर) किसी भी प्रतिबन्ध के कारण नायक के संकेतस्थल पर न आने पर "विप्रलब्धा" होती है। इस प्रकार इन दोनों की (कन्यका और परोढा) तीन ही अवस्थायें (१) विरहोत्कण्ठिता (२) अभिसारिका (३) विप्रलब्धा होती है। (क्योंकि) इन अस्वाधीन पतिकाओं की अन्य अवस्थायें न होने के कारण। (अर्थात् "परकीया नायिकाओं" की ("कन्यका और परोढा") स्वाधीनभर्तृकात्व, खण्डितात्व, कलहान्तरितात्व, प्रोषितभर्तृकात्व वासकसज्जात्व-- ये अन्य पाँच अवस्थायें नहीं हो सकती हैं।

टिप्पणी—तथाहि—(१) "परकीया नायिका" के पास में उसका प्रिय निरन्तर उसके पास नहीं रह सकता है अतः वह "स्वाधीनभर्तृका" नहीं हो सकती। (२) दूसरी नायिका के साथ किये हुए सम्भोग के कारण उत्पन्न ईर्ष्या के अभाव के कारण वह "खण्डिता" नायिका नहीं हो सकती। (३) दूसरी नायिका के साथ किये हुये सम्भोग दोष के कारण प्रिय के त्याग का असम्भव होने के कारण 'कलहान्तरिता'

क्वचिदन्योन्यसाङ्कर्यमासां लक्ष्येषु दृश्यते ।

यथा—

'न खलु वयममुष्य दानयोग्याः पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।
विट ! विटपममुं ददस्व तस्यै भवति यतः सदृशोश्चिराय योगः ।'

'तव कितव किमाहितैर्वृथा नः क्षितिरुहपल्लवपुष्पकर्णपूरैः ।
ननु जनविदितैर्भवद्व्यलीकैश्चिरपरिपूरितमेव कर्णयुग्मम् ।।'

भी नहीं हो सकती । (४) प्रिय पति के दूर देश में चले जाने के कारण उत्पन्न काम-जन्य दुःख का अभाव होने के कारण "प्रोषितभर्तृका" भी नहीं हो सकती । (५) दूसरे के देख लेने के डर से अलंकृत वासगृह में श्रृङ्गार न करने के कारण "वासक-सज्जा" भी नहीं हो सकती । इसप्रकार "कन्यका" और "परोढा" नायिकाओं की तीन अवस्थाये होने के कारण छः ही भेद हुये । आठ अवस्थाये होने के कारण १६ भेद नहीं । अतः नायिकाओं के कुल ३८४ भेद भी नहीं हुये । यह आचार्य धनिक का मत है ।

अर्थ— कहीं-कहीं (सर्वत्र नहीं) इनका (इन नायिकाओं के भेदों का--३८४ नायिकाओं का) परस्पर साँकर्य (एक नायिका के लक्षण के अन्दर दूसरी नायिकाओं के लक्षणों का सम्मिलन) महाकवियों के प्रयोग में (लक्ष्येषु) देखा जाता है ।

अवतरणिका— इस सांकर्य का लक्षण "माघकाव्य" से कलापक के द्वारा (चार श्लोकों के समूह को "कलापक" कहते हैं) दिया जाता है ।

अर्थ— (माघकाव्य के सप्तम सर्ग में विद्यमान ये चारों श्लोक हैं । वहाँ पर कुसुमित वृक्ष की शाखा को देते हुये अपने नायक के प्रति कुपित किसी नायिका की उक्ति है) (है) धूर्त ! हम उस वृक्ष के दान के योग्य नहीं हैं, (किन्तु) जो वह (तुम्हारी प्रिया) ("असकौ" के अन्दर 'क' तद्धित प्रत्यय से कुत्सितत्व की व्यञ्जना है) एकान्त में तुमको चूमती है, रक्षा करती है (अन्य रमणी सम्भोग से निवारण करती है) उसके लिये इस पुष्पित शाखा को अथवा पल्लव को (विद्वान् पातीति विटपम्) दे, जिससे समान रूप तुम दोनों का सम्मिलन चिरकाल तक होवे ।

टिप्पणी— आशय यह कि यह विटप है (विटं शाखां पातीति तथोक्तः) और वह विटपा है (विटं त्वां पिबति पातीति वा तथोक्ता) अतः तुम दोनों की तरह इन दोनों का भी सम्मिलन उचित है ।

अर्थ— (वृक्षपल्लव को कर्णभूषण के लिये देते हुये नायक के प्रति कुपित नायिका की उक्ति है) (हे) धूर्त ! व्यर्थ ही (मेरे कानों में) रखे हुए (क्योंकि उस कार्य के अन्यथारूपेण सिद्ध होने के कारण) तुम्हारे वृक्षों के पत्ते और पुष्परूप कर्णभूषणों से हमारा क्या प्रयोजन ? (कुछ भी सिद्ध नहीं होता है) (क्योंकि) मनुष्यो में विदित आपके असत्य और अप्रिय वचनों से दोनों कान नित्य परिपूरित ही है । (अतः कानों

'मुहुरुपहसितामिवालिनादैर्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
वसतिमुपगतेन धाम्नि तस्याः शठ ! कलिरेष महांस्त्वयाद्य दत्तः ॥'
'इति गदितवतो रुषा जघान स्फुरितमनोरमपक्ष्मकेसरेण ।
श्रवणनियमितेन कान्तमन्या सममसिताम्बुरुहेण चक्षुषा च ॥'

इयं हि वक्रोक्त्या परुषवचनेन कर्णोत्पलताडनेन च धीरमध्यताऽधीरमध्यताऽधीरप्रगल्भताभिः सकीर्णा ।

एवमन्यत्राऽप्यूह्यम् ।

के भरे हुये होने के कारण पुनः कर्णाभरण के रूप में पुष्पों को देने से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ भी नहीं)।

(इस कोरक के ऊपर बैठे हुये) भ्रमरों के शब्दों से पौनः पुन्येन उपहसित की जाती हुई इस कलिका को हमारे लिये क्यों देते हो (क्योंकि) (हे) शठ ! (विप्रियकारिन्) उसके (दुश्चरित्रत्वेन प्रसिद्ध अतः अगृहीतनामधेय तुम्हारी प्रिय के) घर में वास को प्राप्त हुये तुमने यह (वर्तमान) महान् कलह (हम दोनों का विवाद) अथवा कलिका दे दी। (पहले ही हम दोनों के अन्दर काफी कलह विद्यमान है फिर अन्य कलि (कलिका + कलह) से क्या लाभ ?

इसप्रकार कहती हुई दूसरी कामिनी ने (पूर्व कामिनी से भिन्न) क्रोध से विकसित अतएव सुन्दर पक्ष्म ही है केसर की तरह जिसके ऐसे नेत्र से, अथवा विकसित अतएव मनोहर पक्ष्म की तरह है केसर जिसका ऐसे कर्ण स्थित नीलकमल से एक साथ ही प्रिय को मारा (अर्थात् हस्तस्थित नीलकमल से और कटाक्ष से मारा)।

अर्थ—यह नायिका ("न खलु·········इत्यादि तीन पद्यों की कहने वाली नायिका) ("प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्याधीरा दहेद्रुषा"" इस लक्षण के द्वारा) वक्रोक्ति के कारण (विट शब्द की नानार्थ कल्पनारूप विचित्रोक्ति के कारण) "धीरा मध्या" है। ("अधीरा परुषोक्तिभिः" इस लक्षण के द्वारा) कठोर वचन कहने के कारण ("तव कितव किमाहितैः" आदि दो पद्यों के अन्दर कटु वाक्य होने के कारण) "अधीरामध्या" है। ("तर्जयेत्ताडयेदन्या" इस लक्षण के द्वारा) ("इति गदितवती" इत्यादि पद्य विवरण से) कर्णोत्पल के मारने से "अधीरा प्रगल्भा" है। (इन सभी नायिकाओं के परस्पर लक्षण मिलने के कारण) सांकर्य हे। इसीप्रकार अन्य स्थानों पर भी (उत्तररामचरित आदि में—वहाँ पर सीता जी पहले तो "स्वाधीनभर्तृका" और बाद में "प्रोषितभर्तृका" होने के कारण संकीर्णा हैं) समझ लेना चाहिये।

टिप्पणी—"संकीर्णा" का उदाहरण यथा—

"मधुप कितव बन्धो ! मा स्पृशाङ्‌घ्रि सपत्न्या ।
कुच विलुलितमालाकंकुमश्माश्रुभिन्नाः" ॥

इत्यादि उदाहरण में "परकीया" नायिकाओं का भी "सपत्न्यः" यह कह देने से "स्वकीयात्व" होने के कारण संकीर्णता है।

इतरा अप्यसंख्यास्ता नोक्ता विस्तरशङ्कया ॥ ८८ ॥

ता नायिकाः ।

अथासामलङ्काराः—

यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशतिसंख्यकाः ।
अलङ्कारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः ॥ ८९ ॥
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजाः ॥ ९० ॥
लीला विलासो विच्छित्तिर्विब्वोकः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः ॥ ९१ ॥
विहृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसितं चकितं केलिरित्यष्टादशसंख्यकाः ॥ ९२ ॥
स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि ।

अर्थ—(इनके अतिरिक्त नायिकाओं के) और भी (पद्मिनी, हस्तिनी इत्यादि और दिव्य, अदिव्य आदि) असंख्य नायिकायें) हैं (किन्तु) उनको (नायिकाओं को) विस्तार की आशंका से नहीं कहा है।

अथ नायिकालङ्कारनिरूपणम्--

अवतरणिका—नायिकाओं के भेदोपभेद के उपरान्त उनके अलङ्कारों का वर्णन करते हैं।

अर्थ— इसके बाद (नायिकानिरूपण के अनन्तर) इनके (नायिकाओं के अङ्गज अयत्नज और स्वभावज इन तीन प्रकार के) अलंकारों को (दिखाते हैं)।

उनके वर्णित नायिकाओं के) यौवनावस्था में २८ प्रकार के सत्वोगुणोत्पन्न अर्थात् सात्विक (रजोगुण और तमोगुण को तिरस्कृत करके उत्पन्न होने वाले सात्विक) अलंकार होते हैं। उनमें से (२८ प्रकार के अलकारों में से) (१) हाव, (२) भाव (३) हेला—ये तीन अलंकार "अङ्गज" (अङ्गों में उत्पन्न होने वाले, (होते) हैं।

(१) शोभा (२) कान्ति (३) दीप्ति (४) माधुर्य (५) प्रगल्भता (६) औदार्य (७) और धैर्य ये सात (अलङ्कार) "अयत्नज" (होते हैं) (ये बिना यत्न के पैदा होने वाले हैं अर्थात् अकृत्रिम हैं— (१) लीला (२) विलास (३) विच्छत्ति (४) विव्वोक (५) किलकिञ्चित (६) मोट्टायित्त (७) कुट्टमित (८) विभ्रम (९) ललित (१०) मद (११) विहृत (१२) तपन (१३) मौग्ध्य (१४) विक्षेप (१५) कुतूहल (१६) हसित (१७) चकित और (१८) केलि---ये संख्या में १८ (अलङ्कार) स्वभावसिद्ध है (किन्तु कृतिसाध्य होते हैं) (रत्यादि स्थायी भावों के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले हैं. "चकार" से कृत्रिम भी होते हैं, ऐसा समझना चाहिये)।

पूर्वे भावादयो धैर्यान्ता दश नायकानामपि सम्भवन्ति । किंतु सर्वेऽप्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्तिविशेषं पुष्णन्ति ।

तत्र भावः—

निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया ॥ ९३ ॥

जन्मतः प्रभृति निर्विकारे मनसि उद्‌बुद्धमात्रो विकारो भावः । यथा—

'स एव सुरभिः कालः स एव मलयानिलः ।
सैवेयमबला किंतु मनोऽन्यदिव दृश्यते ॥'

"भाव" आदि (अर्थात् ३ अङ्गज और ७ अयत्नज) दस (अलङ्कार) नायकों के भी होते हैं ।

अवतरणिका— "भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि" यहाँ पर प्रयुक्त "अपि" शब्द की योजना को स्पष्ट करते हैं ।

अर्थ— (इन परिगणित अलङ्कारों में से) प्रथम कहे हुये "भाव" आदि अर्थात् "भाव" से लेकर "धैर्य" तक (परिगणित) दस (अलङ्कार) नायकों के भी (केवल नायिकाओं के ही नहीं) होते हैं । किन्तु ये सभी (२८ प्रकार के अलङ्कार) नायिका का आश्रय लेकर ही विलक्षण वैचित्र्य की पुष्टि करते हैं । (अतएव "अथासामलङ्काराः" इसप्रकार उपक्रम करके कविराजों ने नायिकाओं के अलंकारों का वर्णन किया है) ।

अवतरणिका— "अङ्गज" अलङ्कारों में क्रमशः 'भावालंकार" का निरूपण करते हैं ।

अर्थ— (१) उनमें से (अङ्गज अलङ्कारों में से) "भाव" (का लक्षण) निर्विकारेति–निर्विकारात्मक (अविकृत) मन में प्रथम विकार (कामविकार—बालक होने से रति आदि से अपरिचित होने के कारण सर्वथा विकार से रहित चित्त में नायिका के या नायक के मन में सर्वप्रथम सम्भोगेच्छा का प्रादुर्भाव) "भाव" (कहलाता) है । (निर्विकारात्मकात् सत्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया–इति लक्षणान्तरम्) । जन्मत इति—(कारिका की व्याख्या करते हैं) जन्म से लेकर निर्विकार चित्त में उद्‌बुद्धमात्र (स्पष्ट प्रतीत होने वाला नहीं) कामविकार को भाव कहते हैं ।

(उदाहरण) यथा– स एवेति—वही (अनेक बार अनुभूत) वसन्त ऋतु है, वही (अनेक बार सेवित) मलयाचल से आने वाला समीर है, वही (जिसने वसन्त सुरभि और मलया समीर का सेवन किया है) यह स्त्री है किन्तु मन (कौमारभाव से) भिन्न सा प्रतीत हो रहा है । (यौवन के आविर्भाव से मन कुछ दूसरा ही हो गया है) ।

टिप्पणी—यहां "मन कुछ दूसरा ही दिखाई दे रहा है" इससे चित्त के अन्दर प्रथम काम विकाररूप "भाव" की प्रतीति हो रही है ।

अथ हावः—

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु सम्भोगेच्छाप्रकाशकः ।
हाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते ॥ ९४ ॥

यथा—

'विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥'

अथ हेला—

हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात् स एव तु ।

स एव भाव एव ।

अर्थ—(२) इसके बाद ("भाव" के लक्षणानतर) हाव (का लक्षण)—

भृकुटि (तथा) नेत्रादि के विकारों से (कौमारभाव में चञ्चलतादि से रहित नेत्रों का चाञ्चल्यरूप प्रकृति विकारों से) सम्भोग की (चुम्बन, आलिङ्गन आदि रूप) इच्छा का सूचक, किञ्चित् अनुमेय है विकार (कामविकार) जिसका ऐसा भाव ही (ईषल्लक्ष्यस्वभाव) "हाव" कहलाता है। (इस लक्षण के द्वारा "हेला" लक्षण की अतिव्याप्ति का निराकरण कर दिया)।

टिप्पणी—"हेवाकस्तु सशृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविलासकृत्" इति लक्षणान्तरम्।

अर्थ—("हाव" का उदाहरण) यथा–विवृण्वती–(तपस्या करते हुये शिवजी के पास में कामदेव के द्वारा धनुष के चढ़ा लेने पर पार्वती के हाव का वर्णन है)—

हिम... पर्वत की पुत्री (पार्वती) भी [केवल शिवजी ही नहीं—पार्वती भी–वहां पर शिवजी का वर्णन इसप्रकार है—

"हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यः चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे विम्बफलाधरोष्ठे व्यापारमामास विलोचनानि ॥
कुमारसम्भव—तृतीय सर्ग—६७ श्लोक ।

इससे शिवजी के "हाव" का स्मरण कराया गया है] विकसित कोमल कदम्ब के सदृश (रोमाञ्चित) अवयवों से (रति नामकमनोविकार) भाव को अभिव्यक्त करती हुई (शिवजी पर) डाली हुई दृष्टि के कारण (अतएव) अति सुन्दर मुख से ईषत् टेढ़ी होकर खड़ी हो गई।

टिप्पणी—(१) यहां पर शरीर के अवयवों का कोमल कदम्ब के सदृश वर्णन करने से पुलकित होने की अल्पता से "भाव" की अल्पता प्रतीत होती है। अतः "हाव" नामक अलङ्कार है।

अर्थ—(३) इसके बाद ("हाव" के लक्षण के अनन्तर) "हेला" का लक्षण-अत्यन्त स्फुट रूप से लक्षित हो रहा है मनोविकार जिसका ऐसा (उक्त लक्षण रूप) भाव ही "हेला" होता है। (कारिकागत "स एव" पद को स्पष्ट करते हैं)—स एव वह-भाव ही।

यथा—

'तह ते झत्ति पउत्ता बहुए सव्वङ्गविब्भमा सअला ।
संसइअमुद्धभावा होइ चिरं जह सहीणं पि ।।'
(तथा तस्या झटिति प्रवृत्ता बध्वाः सर्वाङ्ग विभ्रमाः सकलाः ।
संशिचत मुग्धभावा भवन्ति चिरं यथा सखीनामपि ।।)

अथ शोभा—

रूपयौवनलालित्यभोगाद्यैरङ्गभूषणम् ।। ६५ ।।
शोभा प्रोक्ता—

तत्र यौवनशोभा यथा—

'असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ।।'

टिप्पणी— 'भाव, हाव और हेला" इनके लक्षणों की विशेषतायें इसप्रकार है— [१] अन्तःप्रकाशितो जातमात्रो मनोविकारो भावः । [२] किञ्चिद्बहिः प्रकाशितो मनोविकारो हावः [३ वहिःसमस्तप्रकाशको मनोविकारो हेला ।।इति।।

अर्थ— ("हेला" का उदाहरण) यथा—तह इति—

उस (नवपरिणीता) वधू के सहसा ही सम्पूर्ण शरीर से सम्बन्धित विलास वैसे प्रवृत्त हुये जिनसे सखियों को भी (औरों का तो कहना ही क्या) बड़ी देर तक संदिग्ध हो गया है मुग्धा भाव जिसका ऐसी हो गई अर्थात् उसकी सखियों को भी उसके मुग्धात्व पर सन्देह होने लगा ।

टिप्पणी— यहां वधू नायिका के सम्पूर्ण विलासों का उसके सभी अङ्गों पर स्पष्टतया दीखने से उसका मनोविकार पूर्ण लक्षित होने के कारण "हेला" है ।

अर्थ—(४) अथ शोभा— इसके बाद ("हेला" के लक्षण के उपरान्त) अयत्नज "शोभा" (का लक्षण)—

सौन्दर्य, युवावस्था (और) अङ्गों की सुकुमारता, भोगादि से (पुष्प, चन्दनादि धारण करने से उत्पन्न सुख, "आदि" पद से वस्त्र और आभूषणादिकों का ग्रहण होता है) अङ्गों की (कर, चरण आदिकों की) सुन्दरता "शोभा" कहलाती है ।

उनमें से (रूप शोभा की प्रसिद्धि होने के कारण) "यौवन शोभा" (का उदाहरण देते हैं) यथा—असम्भृतमिति— इसके बाद (शैशव के अनन्तर) वह (पार्वती) शरीरयष्टि का अयत्न सिद्ध आभूषण है, आसव नाम से रहित अर्थात् आसव से भिन्न मद का कारण है (जो वस्तुतः सुरा न होते हुये भी मद को उत्पन्न करने वाला है), (तथा) कामदेव का पुष्प से भिन्न अस्त्र है (कामदेव पुष्पधन्वा है, ऐसा प्रसिद्ध है), (ऐसी) बाल्यावस्था से अग्रिम अवस्था को (यौवन को) प्राप्त हुई ।

टिप्पणी— यहाँ पार्वती के तारुण्य से ही शरीर की शोभा होने से 'शोभा' अलङ्कार है ।

एवमन्यत्रापि ।
अथ कान्तिः—

सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युतिः ।
मन्मथोन्मेषेणातिविस्तीर्णा शोभैव कान्तिरुच्यते ।

यथा—

'नेत्रे खञ्जनगञ्जने—' इत्यदि ।

अथ दीप्तिः—

कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते ॥ ६६ ॥

यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्—

'तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदो हासः ।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ॥'

अर्थ— एवमन्यत्रापि— इसीप्रकार अन्य स्थानों पर भी (रूप, लालित्य और भोगादि के विषय में भी यथासम्भव) समझ लेना चाहिये ।

अर्थ—(५) अथ कान्तिः—इसके बाद ("शोभा" के लक्षण के अनन्तर) "कान्ति" (का लक्षण)—

कामदेव से प्रवृद्ध है कान्ति जिसकी ऐसी वही (शोभा ही) "कान्ति" (कहलाती है) । (कारिका को स्पष्ट करते हैं) मन्मथेति—मन्मथ के (मनांसि मथ्ना-तीति मन्मथः) आविर्भाव से उत्पन्न शोभा ही "कान्ति" कहलाती है । यथा— ("कान्ति" का उदाहरण)—"नेत्रे खञ्जनगञ्जने"...... इत्यादि (पूर्वोक्त पद्य) ।

टिप्पणी—"नेत्रे खञ्जन"......इत्यादि पद्य के अन्दर प्रतिपादित नायिका की रूप सौंदर्य की वृद्धि कामदेव के आविर्भाव के कारण होने से "कान्ति" नामक अलङ्कार है ।

अर्थ—(६) अथ दीप्तिः—इसके बाद ("कान्ति" के लक्षण के अनन्तर) "दीप्ति" (का लक्षण)—

अत्यन्त विस्तीर्ण कान्ति ही "दीप्ति" कही जाती है ।

("दीप्ति" का उदाहरण) जैसे मेरी (ग्रन्थकार द्वारा निर्मित) "चन्द्रकला नामक नाटिका" के अन्दर "चन्द्रकला" का वर्णन—तारुण्यस्येति—(यह चन्द्रकला) यौवन का विलास है (आविर्भाव है) (अतिशय यौवन के आविर्भाव का स्थान है), अत्यधिक लावण्य सम्पत्ति का मधुर हास है (सौंदर्य सम्पत् का अतिशय विकास स्थान है), पृथ्वी का आभूषण है, (तथा) युवक जनों (के मनों को वश में करने के लिये) वशीकरण (मन्त्र) है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ "चन्द्रकला" के अन्दर अतिशय तारुण्य और विलासा-दिकों को द्योतन करने के कारण "दीप्ति" नामक अलङ्कार है ।

(२) "लावण्य का लक्षण इसप्रकार है—

"मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्य-मिहोच्यते ।

अथ माधुर्यम्—

सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता ।

यथा— 'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥'

अथ प्रगल्भता—

निःसाध्वत्वं प्रागल्भ्यम्—

यथा— 'समाश्लिष्टाः समाश्लेषैश्चुम्बिताश्चुम्बनैरपि ।
दष्टाश्च दशनैः कान्तं दासीकुर्वन्ति योषितः ॥'

---

(७) **अथ माधुर्यम्ः**—इसके बाद ("दीप्ति" के लक्षणोपरान्त "**माधुर्य**" (का लक्षण)—

अर्थ—सभी अवस्था विशेषों में (आभूषणादिकों के धारण किये हुये होने पर अथवा न होने पर) रमणीयता ("**क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति (तदेरूपं रमणीयतायाः" इत्युक्तलक्षणात्**) "**माधुर्य**" (कहलाती) है ।

("**माधुर्य**" का **उदाहरण) यथा—सरसिजमिति**—(कालिदासकृत अभिज्ञान शाकुन्तलम् के प्रथम अंक के अठाहरवें श्लोक के अन्दर शकुन्तला के वल्कल वस्त्र के धारण करते हुये होने पर भी अतिशय शोभा का अनुभव करते हुये राजा दुष्यन्त की यह विचार सरणी है) शैवल से (सिवार से) व्याप्त भी कमल सुन्दर (ही होता है), (तथा) चन्द्रमा का कलङ्क (लक्ष्म) मलिन होता हुआ भी शोभा को बढ़ाता है। (उसी प्रकार) यह (सामने दिखाई देने वाली, तीनों लोकों की सुन्दरियों में श्रेष्ठ) कृशाङ्गी (शकुन्तला) वल्कल-वस्त्र से भी (अत्यन्त तुच्छ वस्त्र से भी; उत्कृष्ट वस्तु का तो कहना ही क्या है) अत्यन्त मनोज्ञ (दिखाई दे रही है), क्योंकि स्वभाव से रमणीय आकृतियों के विषय में कौन सी वस्तु आभूषण नहीं (होती है) । (अपितु सभी वस्तुयें-तुच्छ या महत्—आभूषण होती हैं) ।

टिप्पणी—(१) कहने का आशय यह है कि जिसप्रकार शैवल और कलङ्क का सम्पर्क माधुर्य का विघातक होने पर भी कमल और चन्द्रमा की स्वाभाविक शोभा को क्षीण करने में समर्थ नहीं है उसीप्रकार वल्कल वस्त्र भी शकुन्तला की शोभा का अपकर्ष नहीं करते अपितु वृद्धि ही करते हैं ।

(२) यहाँ शकुन्तला के वल्कल धारण करने पर भी सौन्दर्य होने के कारण "**माधुर्य**" नामक अलंकार है ।

अर्थ (८) अथ प्रगल्भता—इसके बाद ("माधुर्य" के लक्षण के बाद) "**प्रगल्भता**" (का लक्षण)—

निर्भीकता (असंकोच—**निर्गतं साध्वसं-भयं यस्यात् तत्**—धृष्टाचरण में भय-रहित) "**प्रगल्भता**" (कहलाती है)। (**मनःक्षोभपूर्णकोऽङ्गसारः साध्वसं, तदभावः प्रागल्भ्यमिति भावः**) । ("**प्रगल्भता**" का उदाहरण) **यथा**—(**समाश्लिष्टा इति**— स्त्रियाँ (प्रिय से) आलिङ्गन की जाती हुई (स्वयं भी प्रिय को) आलिङ्गनों से; चुम्बन की जाती हुई (स्वयं प्रिय को) चुम्बन करने से, (अपने आप प्रिय के द्वारा दाँतों से अधरों पर) काटी जाती हुई (प्रिय को) दन्त के आघातों से प्रिय को दास की तरह अपने आधीन कर लेती हैं ।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रत्यालिङ्गन, चुम्बनादि से भय का राहित्य होने के कारण "प्रगल्भता" नामक अलङ्कार है ।

अथौदार्यम्—

औदार्यं विनयः सदा ॥ ९७ ॥

यथा—

'न ब्रूते परुषां गिरं वितनुते न भ्रूयुगं भङ्गुरं,
नोत्तंसं क्षिपति क्षितौ श्रवणतः सा मे स्फुटेऽप्यागसि ।
कान्ता गर्भगृहे गवाक्षविवरव्यापारिताक्ष्या बहिः
सख्या वक्त्रमभि प्रयच्छति परं पर्यश्रुणी लोचने ॥'

अथ धैर्यम्—

मुक्तात्मश्लाघना धैर्यं मनोवृत्तिरचञ्चला ।

अर्थ (९) अथौदार्यम्— इसके बाद ("प्रगल्भता के लक्षणोपरान्त) "औदार्य" (का लक्षण)—

सदा (सभी समय अपराध हो या न हो) विनय रखना (क्रोध प्रकट न करना अथवा नम्रता) "**औदार्य**" (नामक अलङ्कार है)। ("**औदार्य**" का उदाहृण) **यथा**— **न ब्रूत इति**— (अपने प्रिया के आचरण के विषय में अपने सहचर से कहते हुये किसी की उक्ति है) वह (धीराधीरा नायिका) मेरे अपराध के व्यक्त होने पर भी (दूसरी नायिका के उपभोग रूप अपराध के मालूम पड़ जाने पर भी) कठोर वाणी नहीं बोलती है (यदि बोलती भी है तो कोमल वाणी), भृकुटि युगल को कुटिल नहीं करती है, (तथा) कानों से अवतंस को (कर्णाभूषण को) पृथ्वी पर नहीं फेंकती है (क्योंकि भूमि पर फेंकना क्रोध का चिह्न है), (परन्तु) केवल घर के अन्दर (बैठी हुई) बाहर (देखने के लिये) गवाक्ष जाल से फेंकी हैं आँखें जिसने ऐसी (वह) कान्ता सखी के मुख को लक्ष्य करके अश्रुपूर्ण नेत्रों से दृष्टि डालती है अर्थात् केवल सखी को ही देखती है।

टिप्पणी—(१) नायिका गवाक्ष से बाहर दृष्टि डालकर सखी की तरफ इस आशय से देखती है कि यह सखी मुझे किसी अन्य वस्तु को देखने में लगी हुई समझ कर मेरी इस अवस्था को नहीं समझ पायेगी अन्यथा आत्मीय व्यक्ति के सामने दुःख का प्रवाह रोकने में असमर्थ होने के कारण तथा उस दुःख के कारण के प्रकट होने से विनय का विपर्यय होता है।

(२) यहाँ पर प्रिय के अपराध के कारण रुक्ष व्यवहार सम्भव होने पर भी वैसा न करने से प्रतिपादन नायिका का "औदार्य" अलङ्कार है।

अर्थ (१०) अथ धैर्यम्—इसके बाद ("औदार्य" लक्षणोपरान्त) 'धैर्य' (का लक्षण)—

आत्मश्लाघा से रहित (अपने गुणों के प्रकट करने से मुक्त) अचञ्चल मनोवृत्ति "धैर्य" (कहलाती है)। (**"चापलाविहिता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना" । चापलानुपहता मनोवृत्तिरात्मगुणानाख्यायिका धैर्यम्" ॥ तथा चोक्तम्—"शीलानुल्लंघनं धैर्यं कीर्त्यतेऽत्र मनीषिभिः ॥ इति लक्षणान्तरम् ॥**)।

यथा—

'ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी,
दहतु मदनः, किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।
मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥'

अथ लीला—

अङ्गैर्वेषैरलङ्कारैः प्रेमिभिर्वचनैरपि ॥ ९८ ॥
प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः ।

अर्थ—("धैर्य"—का उदाहरण) **यथा—ज्वलत्विति**—("**मालतीमाधव**" में गैरिका विवाह के समय कामोद्विग्न विरहिणी मालती की लवङ्गिका के प्रति उक्ति है) प्रत्येक रात्रि में आकाश में सम्पूर्ण कलाओं से युक्त चन्द्रमा प्रदीप्त होता रहे (विरही व्यक्तियों पर अग्नि तुल्य किरणों का विस्तार करे), कामदेव भी (मुझे) भस्म कर दे (पूर्ण चन्द्रमा की सहायता से कामदेव भी मुझको यथेष्ट जलावे), (कामदेव) मृत्यु से अधिक और क्या करेगा (मृत्युपर्यन्त ही उसके पराक्रम की सीमा है और मुझे अभीष्ट ही है) मेरा तो पति अभिमत है (और) पिता प्रशंसनीय है, (और) माता उच्चकुलोत्पन्ना है (विमल वंश वाली है), स्वामीकुल, पितृकुल और मातृकुल (कुलम्) निष्कलङ्क हैं। (परन्तु) यह व्यक्ति अर्थात् मैं स्थिर नहीं हूँ और न जीवन (ही स्थिर है)। (अतः अचिर स्थायी शरीर के लिये और अस्थिर जीवन के लिये पितृकुल, मातृकुल और भर्तृकुल को कलङ्कित करना अत्यन्त ही अनुचित है)।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर प्रबल विरह सन्ताप के होने पर भी मालती का "**न च जीवतम्**" यह कहना उसकी अचञ्चल मनोवृत्ति का परिचायक होने के कारण "**धैर्य**" नामक अलङ्कार है।

अवतरणिका—इसप्रकार तीन अङ्गज (१) **भाव** (२) **हाव** (३)**हेला** अलङ्कारों को, और सात अत्नयज (१) **शोभा** (२) **कान्ति** (३) **दीप्ति** (४) **माधुर्य** (५) **प्रगल्भता** (६) **औदार्य और** (७) **धैर्य** अलङ्कारों को जो नायिका और नायक दोनों के लिये सामान्य है उदाहरण और लक्षण सहित वर्णन करने के उपरान्त अब "स्वभावज" जो केवल नायिकाओं के अलङ्कार हैं और संख्या में कुल १८ हैं, वर्णन किया जाता है।

अर्थ—(**११**) **अथ लीला**—इसके बाद (तीन अङ्गज और सात अयत्नज अलङ्कारों के वर्णन के उपरान्त) ("स्वभावज"अलङ्कारों में से) "**लीला**" (का लक्षण)—

प्रेम से या आनन्द से प्रयुक्त किये हुये शरीर की चेष्टाओं से, वेष से (वस्त्रादि से), आभूषणों से (और) प्रीतिसूचक वचनों से भी प्रिय के अनुकरण को "**लीला**" कहते हैं।

टिप्पणी—"**लीला प्रियानुकरणं वाग्भिर्गत्याऽथ चेष्टितैः**" **इति लक्षणान्तरम्** ।

यथा—

मृणालव्यालवलया वेणीबन्धकपर्दिनी ।
परानुकारिणी पातु लीलया पार्वती जगत् ॥

अथ विलासः—

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् ॥९९॥
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिना ।

यथा—

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्तवैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
तद्भूरिसात्त्विकविकारमपास्तधैर्यमाचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥'

("**लीला**" का उदाहरण) **यथा—मृणालेति**—कमलनालरूपी सर्प है कङ्कण जिसका ऐसी, संथत केशपाश ही हैं जटाजूट जिसका ऐसी (अत एव) लीला से शिवजी का अनुकरण करने वाली पार्वती संसार की रक्षा करें ।

टिप्पणी—यहाँ पर व्यालवलय के तुल्य पार्वती का मृणालवलय है और कपर्द-तुल्य वेणी की रचना होने के कारण शिवजी का अनुकरण हो रहा है, अतः यह "लीला" अलङ्कार है ।

अर्थ—(१३) **अथ विलासः**—इसके बाद ("**लीला**" के लक्षण के उपरान्त) "**विलास**" (का लक्षण)—

(अपने) प्रियतम के दर्शन आदि से (यहाँ "आदि" पद से प्रिय का आना और श्रवण आदि का ग्रहण होता है) चलना, ठहरना (और) बैठना आदि को ("आदि" पद से शयनादि का ग्रहण होता है) (और) मुख, नेत्र आदि के व्यापारों की (मुख का कार्य जैसे पान चबाना, हँसना आदि) नेत्रों का कार्य जैसे सप्रेम, सलज्ज देखना आदि) विलक्षणता "**विलास**" होता है ।

टिप्पणी—"**तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियाऽऽदिषु" इति लक्षणान्तरम् ।**

अर्थ—("**विलास**" का उदाहरण) **यथा—अत्रान्तर इति**—("मालतीमाधव" के अन्दर व कुलवीथि से बैठे हुये माधव को देखकर हाथी से जाती हुई मालती की प्रसन्नता को मकरन्द से कहते हुये माधव की उक्ति है) इस समय (नायक को देखने के समय) विशाल नेत्र वाली मालती का अनिवर्चनीय वाक् शक्ति का अतिक्रमण करके स्थित गमनादि का है चातुर्य जिसका ऐसा, (अर्थात् जिसके वैचित्र्य का वर्णन नहीं किया जा सकता) प्रकट हो रहे हैं विलास जिसमें ऐसा, अत्यधिक सात्विक (स्तम्भ, स्वेद आदि) विकार हैं जिसमें ऐसा, नष्ट हो गया है धैर्य जिससे ऐसा (धैर्य का विध्वसंक), (अतएव) विजयशील (दूसरों से अजेय) (स्तम्भ, स्वेद आदि के कारण) प्रसिद्ध कामदेव सम्बन्धी आचार्य कर्म (अर्थात् भावादि की शिक्षा विशेष) प्रकट हुआ ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर माधव को देखकर अनेक प्रकार की नेत्रादि की भंगिमा की चतुरता से मालती का "**विलास**" नामक अलङ्कार है ।

अथ विच्छित्तिः—

स्तोकाप्याकल्परचना विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ।

यथा—

'स्वच्छाम्भःस्नपनविधौतमङ्गमोष्ठस्ताम्बूलद्युतिविशदो विलासिनानाम् ।
वासस्तु प्रतनु विविक्तमस्त्वितीयानाकल्पो यदि कुसुमेषुणा न शून्यः ॥'

अथ विव्वोकः—

विव्वोकस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः ॥१००॥

यथा—

'यासां सत्यपि सद्गुणानुसरणे दोषानुवृत्तिः परा,
याः प्राणान् वरमर्पयन्ति, न पुनः सम्पूर्णदृष्टिं प्रिये ।

अर्थ—विच्छित्तिः—इसके बाद ("विलास" के लक्षणोपरान्त)" विच्छित्ति (का लक्षण)—

थोड़ी भी शोभा को बढ़ाने वाली वेश रचना "**विच्छित्ति**" (अलङ्कार होता है)। ("विच्छित्ति" का उदाहरण) **यथा-स्वच्छ म्भाऽति**—(माघप्रणीत शिशुपालवध के अष्टम का सर्ग ७०वां श्लोक है) निर्मल जल के स्नान से विशुद्ध शरीर (हो), पान की रागिमा से रञ्जित अधर हों, (और) अत्यन्त सूक्ष्म और स्वच्छ वस्त्र हों, इसप्रकार इतना ही कामिनियों का वेषविन्यास पर्याप्त है (अन्य आभूषणों की आवश्यकता नहीं है) यदि वह (वेषविन्यास) कामवासना से शून्य न हो (अन्यथा उद्वेग वालों की तरह सोने के आभूषण भी भार प्रतीत होते हैं)।

टिप्पणी—(१) कहने का आशय यह है कि विलासिनी रमणियाँ जो कोई भी आभूषण धारण करें पर वह कामदेव के आविर्भाव से उत्पन्न भाव का व्यञ्जक होना चाहिये ।

(२) यहाँ पर शरीरादि के विधान से ही कामनियों की कान्ति को पुष्ट करने वाला होने के कारण "विच्छित्ति" नामक अलङ्कार है ।

अर्थ—(१४) **अथ विव्वोकः**—इसके बाद "**विच्छित्ति**" के लक्षणोपरान्त "**विव्वोक**" (का लक्षण)—

अति गर्व के कारण प्रिय वस्तु के विषय में भी अनादर "**विव्वोक**" (कहाता है)।

टिप्पणी—"गर्वाभिमानादिष्टेऽपि विव्वोकोऽनादरक्रिया ॥" **इतिलक्षणान्तरम् ।** **अभिनवगुप्तस्तु**—

"**उपकृतावपि गर्वादनादरस्तन्वयाः । स्खलनं प्रियस्य संयमिनताडनमत्राभिधायि विव्वोकः ॥**"

अर्थ—("विव्वोक" का उदाहरण) **यथा-यासामिति**—(विपरीत आचरण करने वाली नायिकाओं के विषय में किसी कामुक की अपने मित्र के प्रति उक्ति है) सद्गुणों के अनुसरण करने पर भी (अर्थात् दूसरे व्यक्तियों के द्वारा गुणों की उद्भावना करने पर भी) जिन स्त्रियों की केवल दोषदर्शन की ही प्रवृत्ति होती है (अर्थात् उल्टा देखने

अत्यन्ताभिमतेऽपि वस्तुनि विधिर्यासां निषेधात्मक-
स्तास्त्रैलोक्यविलक्षणप्रकृतयो वामाः प्रसीदन्तु ते ॥

अथ किलकिञ्चितम्—

स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम् ।
साङ्कर्यं किलकिञ्चितमभीष्टतमसङ्गमादिजाद्धर्षात् ॥१०१॥

यथा—

'पाणिरोधमविरोधितवाञ्छं भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः ।
कामिनः स्म कुरुते करभोरूर्हारि शुष्करुदितं च सुखेऽपि ॥'

के कारण जो गुणों के अन्दर भी केवल दोषों का ग्रहण करती हैं); जो (अपने) प्राणों को अनायास ही अर्पण कर देती हैं (परन्तु) पति के विषय में (अपनी) सम्पूर्ण दृष्टि (अर्पण) नहीं (करती हैं) (अर्थात् मान में हठी होने के कारण प्राण छोड़ देने में उनको कष्ट नहीं होता है परन्तु मान छोड़कर प्रिय की ओर स्नेहमयी दृष्टि से नहीं देखेगीं); अत्यन्त प्रिय वस्तु के विषय में भी (सम्भोग व्यापार में अथवा वस्त्रालंकारों में) जिसका निषेधात्मक व्यापार (रहता है) (यह नहीं देना है, यह नहीं करना है इसप्रकार निषेधात्मक विधि) (अतएव) तीनों लोकों में विलक्षण प्रकृति वाली वे स्त्रियाँ तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हों, (अनुकूल वस्तु के विषय में भी प्रतिकूल विचार वाली)।

टिप्पणी—यहाँ पर इष्ट अभिमत वस्तु के विषय में भी अनादर होने के कारण "विव्वोक" नामक अलङ्कार है।

अर्थ—(१५) अथ किलकिञ्चतम्—इसके बाद (**"विव्वोक"** के लक्षणोपरान्त) "किलकिञ्चित" (का लक्षण)—

(अपने) अभीष्ट प्रियतम के मिलन आदि से उत्पन्न हर्ष से, किंचित् हास शुष्करुदन (विना कारण के रुदन), हसना, भय, क्रोध, और श्रमादियों के मिश्रण को **"किलकिञ्चितम्"** (कहते हैं)। (**"क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः संकरः किलकिञ्चतम्" इति पाठान्तरम्**)।

(**"किलकिञ्चत" का उदाहरण) यथा-पाणिरोधमिति**—(माघप्रणीत शिशुपाल वध के दशम् सर्ग का ६९वां श्लोक है) हाथी की शुण्डा की तरह है ऊरु जिसका ऐसी कामिनी सुख के समय भी (अधरपानादि सुखातिशयसूचक होने पर भी) नहीं रोका है प्रिय की इच्छा को जिसमें ऐसी कामिनियाँ (प्रिय के) हाथ का अवरोध (वस्त्र खोलने आदि में प्रवृत्त नायक के हाथ को रोकना, अथवा नीवीबन्धन को खोलने में लगे हुये प्रिय के हाथ को हटाना) करती हैं; मधुर हास्य है गर्भ (मध्यमें जिसके ऐसी (मन्द हास्य से युक्त) तर्जना करती हैं); (तथा) मनोहर और शुष्करोदन (अश्रु रहित कृत्रिम रोदन) करती हैं। (स्त्रियों का यह स्वभाव होता है कि अभीष्ट वस्तु का भी अनिष्ट की तरह प्रतिषेध करके ही सुरत सुख के आनन्द का अनुभव करती हैं)।

टिप्पणी—यहाँ हास्य और शुष्क रोदन के मिश्रण से श्लोक के अन्दर प्रतिपाद्य नायिका का **"किलकिञ्चित"** अलङ्कार है।

अथ मोट्टायितम्—

तद्भावभाविते चित्ते वल्लभस्य कथादिषु ।
मोट्टायितमिति प्राहुः कर्णकण्डूयनादिकम् ॥१०२॥

यथा— 'सुभग ! त्वत्कथारम्भे कर्णकण्डूतिलालसा ।
उज्जृम्भवदनाम्भोजा भिनत्त्यङ्गानि साऽङ्गना ॥'

अथ कुट्टमितम्—

केशस्तनाधरादीनां ग्रहे हर्षेऽपि सम्भ्रमात् ।
आहुः कुट्टमितं नाम शिरःकरविधूननम् ॥१०३॥

यथा— 'पल्लवोपमितिसाम्यसपक्षं दष्टवत्यधरबिम्बमभीष्टे ।
पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलवलयेन करेण ॥'

अर्थ—(१६) **अथ मोट्टायितम्**—इसके बाद (''**किलकिञ्चित**'' के लक्षण के बाद)'' **मोट्टायित**'' (का लक्षण)—

प्रिय पति की कथादि के अन्दर (''आदि'' पद से जम्भाई, अङ्गड़ाई, चित्र-दर्शन, स्मरण आदि का ग्रहण होता है) (नायिका के) चित्त के प्रियतम के प्रेम से अभिव्याप्त होने पर कान खुजाने आदि (की चेष्टा) को ''**मोट्टायित**'' कहते हैं ।

(मोटायित का उदाहरण) यथा— सुभग इति—(किसी नायक की अपने मित्र के प्रति प्रेयसी के प्रणय की सूचिका यह सूक्ति है)—(हे) सुन्दर ! (नायिकाप्रिय !) वह कामिनी तुम्हारे विषयक बात (कथा) आरम्भ हाने पर (सखियों के साथ तुम्हारे चरित्रवर्णन करने पर) कान खुजाने में तत्पर (हो जाती है), जंभाई ले रहा है मुख-कमल जिसका ऐसी (हो जाती है अर्थात् जँभाई लेने लगती है) (और) अङ्गड़ाई लेने लगती है ।

टिप्पणी—यहाँ कामिनी के कान खुजाने, जँभाई आदि के कारण ''**मोट्टायित**'' नामक अलङ्कार है ।

(१७) **अथ कुट्टमितम्**—इसके बाद (''**मोट्टायित**'' लक्षण के उपरान्त)'' ''**कुट्टमित**'' (का लक्षण)—

(प्रिय के द्वारा) केश, स्तन (और) अधर आदि के (''आदि'' शब्द से हस्तादि का ग्रहण होता है) ग्रहण करने पर हर्ष होने पर भी (प्रिय के स्पर्श से) घबराहट के साथ शिर और हाथों के हिलाने को ''**कुट्टमित**'' कहते हैं ।

(''**कुट्टमित**'' का उदाहरण) **यथा—पल्लवोपमितीति** (—माघप्रणीत शिशुपाल वध के दशम सर्ग का ५३वां श्लोक है) प्रिय के (नायक के) पल्लव के सादृश्य से जो समानता है उसके समान (अर्थात् पल्लवतुल्य) अधरोष्ठ बिम्ब के चुम्बन करने पर कामिनी का जोर से शब्द करते हुये अत्यन्त चञ्चल कङ्कण वाला हाथ मानों व्यथा से झनझना उठा ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रतिपादित नायिका का हस्तकम्पन होने के कारण ''कुट्टमित'' अलङ्कार है ।

(२) ''भोजराज''स्तु सरस्वतीकण्ठाभरणे विपरीतमेव लक्षणमाह—

''केशस्तनाधरादीनां ग्रहाद्दुःखेऽपि यत्पुनः ।
सुखाविष्करणं तन्व्यास्तच्च कुट्टमितं मतम् ॥

अथ विभ्रमः—

त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु ।
अस्थाने विभ्रमादीनां विन्यासो विभ्रमो मतः ॥१०४॥

यथा— 'श्रुत्वायान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया ।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः ॥'

अथ ललितम्—

सुकुमारतयाङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत् ।

यथा— 'गुरुतरकलनूपुरानुनादं सललितनर्तितवामपादपद्मा ।
इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमन्थरं जगाम ॥'

अर्थ—(१८) **अथ विभ्रमः**–इसके बाद ("कुट्टमित" के लक्षणोपरान्त) "**विभ्रम**" (का लक्षण)—

प्रिय के आगमन आदि के विषय में (यहाँ "आदि" पद से उत्सवादि का ग्रहण होता है), आनन्द और अनुराग के कारण (हर्ष से उत्पन्न) शीघ्रता के कारण आभूषणादिकों का ("आदि" पद से तिलक, अञ्जन, लाक्षा और दुकूलादि का ग्रहण होता है) अयोग्य स्थान पर (जो आभूषण जिस स्थान पर उचित है उससे भिन्न स्थान पर) धारण करना "**विभ्रम**" कहलाता है ।

टिप्पणी—"**विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थान विपर्ययः ।" यथाह शाक्य भिक्षुः**—

"क्रोधः स्मितं च कुसुमाभरणादि याच्ञा ततर्जनं च सहसैव विडम्वनं च ।
आक्षिप्य कान्त वचनं लपनं सखीनां निष्कारणेच्छितगतं खलु विभ्रमः स्यात् ॥

अर्थ—("विभ्रम" का उदाहरण) श्रुत्वेति–बाहर प्रिय को आया हुआ सुनकर नहीं समाप्त किया है शृङ्गार जिसने ऐसी ने (किसी नायिका ने) मस्तक पर अञ्जन (जो नेत्रों में लगाना था), नेत्रों में लाक्षाराग (हाथ पैरों में लगाने योग्य) (और) कपोल स्थल पर तिलक (जो मस्तक पर लगाना था) कर लिया ।

टिप्पणी—यहाँ आनन्दातिरेक से अञ्जनादिकों को शीघ्रता के कारण अनुपयुक्त स्थानों पर लगा लेने से "**विभ्रम**" अलङ्कार है ।

अर्थ—(१९) **अथ ललितम्**—इसके बाद ("**विभ्रम**" के लक्षणोपरान्त) "**ललित**" (का लक्षण)—

सुकोमलता से अङ्गों का (हाथ, पैर आदि अवयवों का) विशेषरूप से रख "**ललित**" होता है । ("**ललित**" का उदाहरण) **यथा गुरुतरेति**-(माघप्रणीत शिशुपालवध के सप्तम सर्ग का १८वां श्लोक है) पुनः (अथ) (वह कामिनी) गम्भीर एवं मधुराव्यक्त नूपुर की ध्वनि करती हुई, अत्यन्त सुन्दरता से रखा है वाम चरणकमल जिसने ऐसी, (तथा) दूसरे अर्थात् दक्षिण पैर को शनैः शनैः रखती हुई काम के वशीभूत होने के कारण मन्द गति से गई ।

टिप्पणी—(१) यहाँ सुकुमार भाव से चरणकमलों के विन्यास से प्रतिपादित नायिका का "ललित" नामक अलङ्कार है ।

(२) "सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत्"–इति लक्षणान्तरम् ॥

अथ मदः—

मदो विकारः सौभाग्ययौवनाद्यवलेपजः ॥१०५॥

'यथा— मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न खलु भाजनमीदृशीनां
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥'

अथ विहृतम्—

वक्तव्यकालेऽप्यवचो व्रीडया विहृतं मतम् ।

अर्थ—(२०)—**अथ मदः**—इसके बाद ("**ललित**" के लक्षणोपरान्त) "**मद**" (का लक्षण)—

सौभाग्य (पति का प्रिय होना), यौवन आदि के ("आदि" पद से सुन्दर वस्त्र और अलङ्कारों का ग्रहण होता है) गर्व से उत्पन्न होने वाला मनोविकार "**मद**" (कहलाता है) । ("**मद**" का उदाहरण) **यथा-मागर्वमिति**-(सौभाग्य से गर्वित किसी नायिका के प्रति किसी की उक्ति है) (हे मदविह्वले सखि !) प्रिय के अपने हाथ से चित्रित रचना विशेष (मञ्जरी) मेरे कपोल स्थल पर शोभित हो रहा है (काम के वश में होकर पति अपनी कामिनी के कपोलों पर मञ्जरी आदि चित्रित करते हैं, ऐसा कवि-सम्प्रदाय का कहना है) इस कारण अभिमान को (पति के प्रेम रूपी सौभाग्य के कारण गर्व को) मत कर (तुझे गर्व करना ठीक नहीं है । संसार में केवल तू ही सौभाग्यशालिनी नहीं है, अपितु दूसरी भी हैं) (क्योंकि) यदि शत्रु (की तरह आचरण करने वाला) कम्प (पति के स्पर्श से उत्पन्न होने वाला सात्विक भाव विशेष) विघ्न स्वरूप न होता (मञ्जरी आदि के चित्र बनाने में प्रतिबन्धक न होता) तो दूसरी भी (मुझ सदृश भी) (स्त्रियाँ) इसप्रकार की (तुम्हारे कपोल तल पर चित्रित मञ्जरी के समान अनेक मञ्जरियों का) पात्र क्या न होतीं (अपितु अवश्य होतीं) । [तुम्हारे कपोल पर एक ही मञ्जरी यदृच्छया लिखित हो गई है अतः इसमें अतिशय सौभाग्य की कोई बात नहीं, अतः गर्व करना ठीक नहीं है । "ईदृशानाम्" इस बहुवचन प्रयोग से सौभाग्य की अतिशयित व्यञ्जना की गई है] ।

टिप्पणी—(१) यहाँ दोनों ही नायिकाओं के अन्दर [(१) कहने वाली और (२) जिससे कहा जा रहा है] सौभाग्य के अभिमान से उत्पन्न विकार होने के कारण "मद" नामक अलङ्कार है ।

(२) "**मद**" का दूसरा लक्षण इसप्रकार है—

"**मधुपानमदप्रायः तारुण्यातिशयोद्भवः । विकारो यौवने स्त्रीणां तं वदन्ति मदं बुधाः ॥ इति पाठान्तरम् ॥**

अर्थ—(२१)—**अथ विहृतम्**—इसके बाद ("**मद**" के लक्षण के उपरान्त "**विहृत**" (का लक्षण)—

कहने के अवसर पर भी लज्जा के कारण न कहना "**विहृत**" माना गया है ।

यथा—

'दूरागतेन कुशलं पृष्टा नोवाच सा मया किञ्चित् ।
पर्यश्रुणी तु नयने तस्याः कथयाम्बभूवतुः सर्वम् ॥'

अथ तपनम्—

तपनं प्रियविच्छेदे स्मरावेगोत्थचेष्टितम् ॥१०६॥

यथा मम—

'श्वासान्मुञ्चति भूतले विलुठति, त्वन्मार्गमालोकते,
दीर्घं रोदिति, विक्षिपत्यत इतः क्षामां भुजावल्लरीम् ।
किञ्च, प्राणसमान ! काङ्क्षितवती स्वप्नेऽपि ते सङ्गमं,
निद्रां वाञ्छति, न प्रयच्छति पुनर्दग्धो विधिस्तामपि ॥'

अर्थ—("**विहृत**" का उदाहरण) **यथा-दूरागतेनेति**—दूर से (प्रवास से) लौट कर आये हुये मेरे द्वारा पूछी जाती वह कुछ भी नहीं बोली, परन्तु उसकी (प्रिया की) आँसुओं से भरी हुई आँखो ने सब कुछ (मेरे प्रवास में दुःखातिशयता को और मेरे लौट कर आने पर हर्षातिरेक को) कह दिया ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पति के द्वारा पूछे जाने पर उत्तर देने का अवसर होने पर भी उत्तर न देने से "विहृत" नामक अलङ्कार है ।

(२) "**विहृत**" का दूसरा लक्षण—"**प्राप्तकालं न यत् ब्रूयात् व्रीडया विहृतं हि तत्" इति पाठान्तरम्**" ।

अर्थ—(२२) अथ तपनम्—इसके बाद ("**विहृत**" के लक्षणोपरान्त) "**तपन**" (का लक्षण)—

प्रियतम से विच्छेद होने पर कामोद्वेग से उत्पन्न चेष्टाओं को "**तपन**" कहते हैं । ("**तपन**" का उदाहरण) **यथा**—मेरा (बनाया हुआ) (अर्थात् ग्रन्थकार अपना बनाया हुआ श्लोक उद्धृत करता हैं) **श्वासानिति**—(प्रवासी प्रिय नायक के प्रति उसकी प्रेयसी की विरह चेष्टाओं का वर्णन करती हुई नायिका की दूती की यह उक्ति है) (हे) प्राणसमान ! (इस सम्बोधन से जैसे प्राणों के बिना जीवन व्यर्थ होता है वैसे ही तुम्हारे वियोग में उसका भी जीवन, जीवन नहीं है यह प्रतीत होता है) (वह तुम्हारी प्रिय नायिका) दीर्घ निःश्वासों को छोडती है, पृथिवी पर (शय्या पर नहीं) लेटती हैं, तुम्हारे (आने के) मार्ग को देखती है, (तुम्हारे दर्शन न होने पर) इधर उधर विरह से क्षीण भुजलता को फैंकती है तथा स्वप्न में भी (जागृत अवस्था का तो कहना ही क्या) तुम्हारे साथ समागम को चाहती हुई निद्रा को चाहती है किन्तु निर्दयी विधि (उसको) उसकोनींद भी नहीं देता है । (जहाँ तुमसे मिलन हो सके) । [तुम्हारा चिन्तन करती हुई निद्रा भी उसको सुख नहीं देती है । ऐसा प्रसिद्ध है कि दुःख और चिन्ता के अन्दर नींद का अनुभव नहीं होता है ।]

टिप्पणी—यहाँ काम के आवेग से निःश्वास छोड़ने आदि व्यापार के कारण प्रतिपादित नायिका का "तपन" नामक अलङ्कार है ।

अथ मौग्ध्यम्—

अज्ञानादिव या पृच्छा प्रतीतस्यापि वस्तुनः ।
वल्लभस्य पुरः प्रोक्तं मौग्ध्यं तत्त्ववेदिभिः ॥१०७॥

यथा— 'के द्रुमास्ते क्व वा ग्रामे सन्ति केन प्ररोपिताः ।
नाथ ! मत्कङ्कणन्यस्तं येषां मुक्ताफलं फलम् ॥'

अथ विक्षेपः—

भूषाणामर्धरचना मिथ्या विष्वगवेक्षणम् ।
रहस्याख्यानमीषच्च विक्षेपो दयितान्तिके ॥१०८॥

यथा—

'धम्मिल्लमर्धयुक्तं कलयति तिलकं तथाऽसकलम् ।
किञ्चिद्वदति रहस्यं चकितं विष्वग्विलोकते तन्वी ॥'

अर्थ—(२३) **अथ मौग्ध्यम्**—इसके बाद (''**तपन**'' के लक्षणोपरान्त) **''मौग्ध्य''** (का लक्षण)—

(पहले से) अवगत भी अथवा प्रसिद्ध भी वस्तु के विषय में (अज्ञात वस्तु के विषय में तो फिर कहना ही नहीं) अज्ञान की तरह प्रिय के सामने जो जिज्ञासा है अलङ्कार मर्मज्ञों ने उसको ''मौग्ध्य'' कहा है ।

(''**मौग्ध्य**'' का उदाहरण) **यथा–के इति**–(हे) नाथ ! मेरे कङ्कण में (अलङ्कार्य रूपेण) जड़ा हुआ मुक्ताफल जिन (वृक्षों का फल है, वे वृक्ष कौन से है ? (किस नाम वाले हैं) अथवा किस ग्राम में हैं ? अथवा किस (मालिक) ने लगाये है ?

टिप्पणी—(१) यहाँ शुक्तिकादि में उत्पन्न होने वाले मुक्ताफल का पहले पता होते हुये भी उसके विषय में अज्ञान की तरह नायिका के पुनः प्रश्न करने से **''मौग्ध्य''** नामक अलङ्कार है ।

(२) **आचार्यस्तु—''स्त्रीणां स्वभावमेव मौग्ध्यं मन्यते ।'' इति ॥**

अर्थ—(२४) **अथ विक्षेप**—इसके बाद (''**मौग्ध्य**'' के लक्षणोपरान्त) **''विक्षेप''** (का लक्षण)—

प्रिय के पास में भूषणों की आधी रचना करना, विना ही कारण के चारों ओर देखना, धीरे धीरे गुप्तरूपेण बातचीत करना ''**विक्षेप**'' माना गया है ।

(''**विक्षेप**'' का उदाहरण) **यथा**—कृश शरीरा (नायिका) केशपाश को आधा-युक्त रखती है (अर्थात् आधा भूषित करती है) तथा तिलक को अधूरा लगाती है (अर्थात् मस्तक पर आधी बिन्दु लगाती है) तथा (**देहली दीप न्याय से** अथवा **काकाक्षिगोलक-न्यास से** ''कलयति'' का दोनों स्थानों पर अन्वय हो जायेगा), कुछ रहस्य की बात कहती है (तथा) चारों ओर आश्चर्य चकित होकर देखती है ।

टिप्पणी—यहाँ पर केशपाशादि की आधी रचना करने से और सम्पूर्ण रूप से शृङ्गार न करने से नायिका का यौवन के कारण ''**विक्षेपत्व**'' स्पष्ट प्रतीत होता है ।

अथ कुतूहलम्—

रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुतूहलम् ।

यथा—

'प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥'

अथ हसितम्—

हसितं तु वृथा हासो यौवनोद्भेदसम्भवः ॥ १०६ ॥

यथा—

'अकस्मादेव तन्वङ्गी जहास यदियं पुनः ।
नूनं प्रसूनबाणोऽस्यां स्वाराज्यमधितिष्ठति ॥'

अर्थ—(२५) **अथ कुतूहलम्**—इसके बाद (**"विक्षेप"** के लक्षणोपरान्त) **"कुतूहल"** (का लक्षण)—

रमणीय वस्तु के देखने के विषय में सतृष्णता (अथवा औत्सक्य) **"कुतूहल"** होता है। (**"कुतूहल"** का उदाहरण) **यथा—प्रसाधिकेति**—(यह श्लोक "कुमारसम्भव के सप्तम सर्ग का ५८वाँ श्लोक है तथा "रघुवंश" के सप्तम सर्ग का श्लोक है) ("रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर के समय अज के पुरी में प्रवेश करने पर देखने की इच्छा वाली किसी स्त्री का वर्णन है, इसीप्रकार कुमारसम्भव के अन्दर पार्वती परिणय के अवसर पर आये हुये शिवजी को देखने की इच्छा वाली किसी स्त्री का वर्णन है) **प्रसाधिकेति**—किसी ने (पुर सुन्दरी ने) प्रसासिका के द्वारा (महावर लगाने वाली के द्वारा) (हाथ में) लिये हुये गीले लाक्षाद्रव से रञ्जित ही (जिसका लाक्षाद्रव अभी सूखा नहीं है) पैर के अग्रभाग को खींचकर (तथा) छोड़ दी है मन्थर गति जिसने ऐसी ने (अर्थात् त्वरित गति वाली) गवाक्षपर्यन्त मार्ग को लाक्षाद्रव से चिह्नित कर दिया।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर शिवजी के दर्शन के लिये अथवा अज को देखने के लिये स्त्री की उत्सुकता के कारण "कुतूहल" नामक अलङ्कार है।

(२) लक्षणान्तरम्—"अनुरागकाल एव प्रियतमोपसर्पणं कुतूहलम्" ॥

अर्थ—(२६) **अथ हसितम्**—इसके बाद ("कुतूहल" के लक्षणोपरान्त) **"हसितम्"** (का लक्षण)—

यौवनोद्गम से उत्पन्न निरर्थक हास **"हसित"** (माना गया है)। (**"हसित"** का उदाहरण) **यथा—अकस्मादिति**—(आकस्मिक रूप से हँसती हुई नवीन तरुणी को देखकर उत्प्रेक्षा के द्वारा किसी की उक्ति है) यह कृशाङ्गी (नायिका) अकस्मात् ही (बिना कारण के ही) जो हँस पड़ी (उससे मैं यह समझता हूँ कि) निश्चय से कामदेव ने इसके शरीर में (कृशाङ्गी नायिका में) स्वर्ग के राजा की तरह अधिकार कर लिया है। (अर्थात् कामदेव अपने स्वर्गीय राज्य का अनुभव कर रहा है)।

टिप्पणी— यहाँ उक्त नायिका के निष्प्रयोजन हँसने के कारण "हसित" नामक अलङ्कार है।

अथ चकितम्—

कृतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसम्भ्रमः ।

यथा—

'त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरूर्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य ।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतोर्लीलाभिः किमु सति कारणे तरुण्यः ॥'

अथ केलिः—

विहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिरुच्यते ॥ ११० ॥

यथा—

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः ।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी ॥'

अर्थ—(२७) **अथ चकितम्**—इसके बाद ("हसित" के लक्षणोपरन्त) **"चकित"** (का लक्षण)—

प्रिय के सामने अनिर्दिष्ट कारण के ही भय से व्यग्र होना **"चकित"** (कहा गया है)। (**"चकित"** का उदाहरण) **यथा—त्रस्यन्तीति**—(माघप्रणीत शिशुपालवध के अष्टम सर्ग का २४वाँ श्लोक है) (अपने प्रिय के साथ जलक्रीड़ा करती हुई नायिका की सखी के प्रति यह वर्णन है) (जल के मध्य में भ्रमणशील) चञ्चल मछलियों से टकरा गया है ऊरु जिसका ऐसी (अतएव) भयभीत होती हुई (सुन्दर जंघा वाली) कान्ता विलास की (शोभा विशेष की) अधिकता को प्राप्त हुई। (बड़ा ही) आश्चर्य है कि युवतियाँ कारण के बिना भी लीलाओं से (शृङ्गारिक चेष्टाओं से उत्पन्न चेष्टा विशेषों से) सहसा क्षुब्ध हो जाती हैं, (भय से व्याकुल हो जाती है) कारण के होने पर (तो) कुछ (कहना ही नहीं है)।

टिप्पणी—यहाँ नायिका के मछली के स्पर्शमात्र से भयभीत हो जाने के कारण "चकितम्" नामक अलङ्कार है।

अर्थ—(२८) **अथ केलिः**—इसके बाद (**"चकित"** के लक्षण के उपरान्त) **"केलि"** (का लक्षण)—

विहार के समय कान्त के साथ (कामिनी की) क्रीड़ा को (परिहास विशेष को) **"केलि"** कहते हैं। अथवा कान्त के साथ किये जाते हुये विहार के होने पर जो नायिका की क्रीड़ा होती है, उसे "केलि" कहते हैं। (**"केलि"** का उदाहरण) **यथा—व्यपोहितुमिति**—उन्नत और पुष्ट हैं स्तन जिसके ऐसी किसी ने (कामिनी ने) अपनी आँख से पुष्प जनित पराग को (ऊँची शाखा से पुष्प गिराने के समय आँख में पड़ जाने से) मुख की हवाओं से (फूंक से) निकालने में असमर्थ होते हुये (आँख के अन्दर फूंक मारने के लिये प्रिय के मुखकमल के पास में अपने मुख का योग होने से चुम्बन के लोभ को संवरण न कर सकने के कारण) (अपने) प्रिय को उत्कण्ठित होकर स्तन से वक्षःस्थल पर धक्का दिया।

टिप्पणी—यहाँ नायक के वक्षःस्थल में स्तन से मारने रूप खेलने से नायिका का "केलि" नामक अलङ्कार है।

अथ मुग्धाकन्ययोरनुरागेङ्गितानि—

दृष्ट्वा दर्शयति व्रीडां सम्मुखं नैव पश्यति।
प्रच्छन्नं वा भ्रमन्तं वातिक्रान्तं पश्यति प्रियम् ।। १११ ।।
बहुधा पृच्छ्यमानापि मन्दमन्दमधोमुखी ।
सगद्गदस्वरं किञ्चित्प्रियं प्रायेण भाषते ।। ११२ ।।
अन्यैः प्रवर्तितां शश्वत्सावधाना च तत्कथाम् ।
शृणोत्यन्यत्र दत्ताक्षी प्रिये बालानुरागिणी ।। ११३ ।।

अथ सकलानामपि नायिकानामनुरागेङ्गितानि—

चिराय सविधे स्थानं प्रियस्य बहु मन्यते ।
विलोचनपथं चास्य न गच्छत्यनलङ्कृता ।। ११४ ।।

अथ नायिकानुरागेङ्गितनिरूपणम्—

अवतरणिका—इसप्रकार केवल नायिकाओं के "**अङ्गज**", "**अयत्नज**" और "**स्वभावज**" अलङ्कारों का सलक्षणोदाहरण वर्णन करके अब नायिकाओं की अनुराग-सूचक चेष्टाओं का वर्णन करते हैं। नायिकाओं में से सबसे पहले "**मुग्धा और कन्याओं की**" अनुराग चेष्टाओं को बताते हैं।

अर्थ—इसके बाद (नायिकाओं के अलङ्कारों के वर्णन के उपरान्त) (पूर्व प्रतिपादित) मुग्धा और कन्याओं की अनुराग (सूचक) चेष्टाओं का (वर्णन करते हैं)—

प्रिय के प्रति अनुरागिणी मुग्धा या कन्या (बाला) (प्रिय को) देखकर लज्जा प्रकट करती है (मुख नीचा करके), सामने (विद्यमान) (नायक को) नहीं देखती है (लज्जावश), (किन्तु सामने से) गये हुये, (पास में विद्यमान लता गुल्म आदि से किञ्चित्) व्यवहित (पास में ही) भ्रमण करते हुये प्रिय को देखती है। अनेक प्रकार से पौनःपुन्येन (प्रिय से) पूछी जाती हुई भी नीचे मुख करके प्रायः प्रिय से अव्यक्त और अस्फुट से शनैः शनैः कुछ (वाक्य) कहती है। (**कामसूत्रेप्युक्तम्-पृष्टा च किञ्चित्सस्मितमव्यक्ताक्षरमनवसितार्थञ्च मन्दं मन्दमधोमुखी कथयति-इति**) (तथा) सावधान होकर (एकाग्र मन से) दूसरों के द्वारा चलाई हुई प्रिय की चर्चा को (गुणादि वर्णन को) दूसरी ओर आँख किये हुये ही निरन्तर सुनती है (जब कभी नहीं)।

टिप्पणी—इनके उदाहरण यत्किञ्चित् इसप्रकार हैं—

(१) "दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता ।।"
(२) "दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात् ।।"
(३) "**एवंवादिनी देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।**
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ।।"

अवतरणिका—सभी नायिकाओं की अनुराग सूचक काम चेष्टाओं का प्रतिपादन करते हैं।

अर्थ—इसके बाद (मुग्धा और कन्याओं की अनुराग चेष्टाओं के निरूपण के अनन्तर) सभी प्रकार की नायिकाओं के अनुराग (सूचक) चेष्टाओं का (निरूपण करते हैं)-

प्रिय के पास में चिरकाल तक ठहरना (अपना) सौभाग्य समझती है। बिना अलङ्कार किये इसके (प्रिय के) दृष्टिपथ में नहीं जाती है।

क्वापि कुन्तलसंव्यानसंयमव्यपदेशतः ।
बाहुमूलं स्तनौ नाभिपङ्कजं दर्शयेत् स्फुटम् ॥ ११५ ॥
आह्लादयति वागाद्यैः प्रियस्य परिचारकान् ।
विश्वसित्यस्य मित्रेषु बहुमानं करोति च ॥ ११६ ॥
सखीमध्ये गुणान् ब्रूते स्वधनं प्रददाति च ।
सुप्ते स्वपिति दुःखेऽस्य दुःखं धत्ते सुखे सुखम् ॥ ११७ ॥
स्थिता दृष्टिपथे शश्वत्प्रिये पश्यति दूरतः ।
आभाषते परिजनं सम्मुखं स्मरविक्रियम् ॥ ११८ ॥
यत्किञ्चिदपि संवीक्ष्य कुरुते हसितं मुधा ।
कर्णकण्डूयनं तद्वत्कबरीमोक्षसंयमौ ॥ ११९ ॥
जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं बालमाश्लिष्य चुम्बति ।
भाले तथा वयस्याया रचयेत्तिलकक्रियाम् ॥ १२० ॥

अर्थ—कोई-कोई (कामिनी) बालों को और उत्तरी-वस्त्र को बाँधने के व्याज से (अपने) बाहुमूल, स्तन (और) कमल की तरह मनोरम नाभि प्रदेश को सुव्यक्त रूप में (प्रिय को) दिखला देती है (अधोवस्त्र को ठीकप्रकार से पहनने के बहाने से नाभि-प्रदेश को)। मधुर वचनों के प्रयोगों आदि से ("आदि" पद से अन्न, वस्त्रादिकों के दान का भी ग्रहण होता है) प्रिय के भृत्यों को (अथवा दूतों को) वश में कर लेती है। इसके (प्रिय के) मित्रों पर विश्वास करती है और बहुत (उनका) समादर करती है। [**कामसूत्रेऽप्युक्तम्—परिजनानवष्टम्भ तास्ताश्च लीला दर्शयति, तन्मित्रेषु विश्वसिति, वचन चैषां बहु मन्यते करोति च, तत्परिचारकैः सह प्रीतिं संकथां द्यूतमिति च करोति।" इत्यादि**] सखियों के मध्य में (प्रिय के) गुणों का कथन करतीं है, और (प्रिय के लिये) अपने धन को (अपने पिता आदि से दिये हुये) दे देती है, (प्रिय के) सो जाने पर सोती है, इसके (स्वामी के) दुःख में दुःख का, सुख में सुख का अनुभव करती है। प्रिय के दूर से देखते हुये होने पर निरन्तर उसके (प्रिय के) दृष्टि पथ में स्थित हुई सामने (विद्यमान) परिजन से काम विकारों का कथन करती है। [**कामसूत्रेऽप्युक्तम्—"दूरे स्थिता, पश्यतु मामिति मन्यमाना परिजनं समदनविकारमाभाषते।" इति**] जो कुछ भी (अत्यन्त सामान्य जो हँसी का कारण भी नहीं है) देखकर व्यर्थ ही हँसती है, [**कामसूत्रेऽप्युक्तम्—"यत्किञ्चिद्दृष्ट्वा विहसितं करोति।"**] कान को खुजाती है, (और) उसीप्रकार केशों को खोलती है और बाँधती है (बँधे हुये केशपाशों का खोलना, और खुले हुये केशपाशों को बाँधना)। जँभाई लेती है, अङ्गड़ाई लेती है, बालक का आलिङ्गन करके (प्रिय के सामने उसका) चुम्बन लेती है [**कामसूत्रेऽप्युक्तम्—"बालस्याङ्कगतस्यालिङ्गनं चुम्बनं च करोति।" इति**] तथा (अपनी) सखी के मस्तक पर तिलक लगाती है।

अङ्गुष्ठाग्रेण लिखति सकटाक्षं निरीक्षते ।
दशति स्वाधरं चापि ब्रूते प्रियमधोमुखी ॥ १२१ ॥
न मुञ्चति च तं देशं नायको यत्र दृश्यते ।
आगच्छति गृहं तस्य कार्यव्याजेन केनचित् ॥ १२२ ॥
दत्तं किमपि कान्तेन धृत्वाङ्गे मुहुरीक्षते ।
नित्यं हृष्यति तद्योगे वियोगे मलिना कृशा ॥ १२३ ॥
मन्यते बहु तच्छीलं तत्प्रियं मन्यते प्रियम् ।
प्रार्थयत्यल्पमूल्यानि सुप्ता न परिवर्तते ।१२४॥
विकारान् सात्त्विकानस्य सम्मुखीनाधिगच्छति ।
भाषते सूनृतं स्निग्धमनुरक्ता नितम्बिनी ॥ १२५ ॥

अर्थ—(पैर के) अँगूठे के अग्र भाग से (भूमि को) कुरेदती है [यद्यपि भूमि को पैर के अँगूठे से कुरेदना अशुभ है, तथापि "श्रीमद्भागवत" में उसका वर्णन इसप्रकार है—

["कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्यद्बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः। अस्त्रैरुपात्तमधिभिः कुचकुङ्कुमानि तस्थुर्भजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥"] (प्रिय को) कटाक्ष के साथ देखती है, (अपने दाँतों से) अपने अधर का दंशन करती है और नीचे मुख करके प्रिय से बात करती है ।

[यथा शाकुन्तले—
"वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे ।
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥]

और जहाँ (खड़े होकर) नायक दिखाई देता है उस स्थान को नहीं छोड़ती है (किसीप्रकार वहीं ठहरना चाहती है) [यथा—
"अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥]

किसी कार्य के व्याज से उसके (प्रिय के) घर आती है ।
[यथा—यद्यपि विलसत्याखुस्तेन तनुर्विक्षता विपुलम् ।
तदपि कथं नहि यायां चिरपतितं नुपुरं नश्येत् ॥]

प्रिय के द्वारा दी हुई जिस किसी भी वस्तु को (तुच्छ वस्तु को भी) (अपने) शरीर पर धारण करके बार-बार देखती है । उसके (साथ) समागम होने पर हमेशा आनन्द का अनुभव करती है (और उसका) वियोग होने पर विवर्ण और कृश (हो जाती है) । उसके (प्रिय के) चरित्र का बहुत आदर करती है, उसकी प्रिय (वस्तु-जात को) (अपने लिये भी) प्रिय समझती है । अल्प मूल्य वाली (वस्तुओं को) माँगती है (कहीं उसको मनोव्यथा न हो), सोती हुई (प्रिय की ओर पीठ करके) करवट नहीं बदलती है । इसके (प्रिय के) सामने आये हुये सात्विक विकारों को (स्तम्भ, स्वेद आदि) प्रकाशित करती है । अनुरागिणी नितम्बिनी (रमणी) स्नेहपूर्ण, सत्य और प्रिय वाणी को बोलती है ।

एतेष्वधिकलज्जानि　चेष्टितानि नवस्त्रियाः ।
मध्यव्रीडानि मध्यायाः स्रंसमानत्रपाणि तु ॥ १२६ ॥
अन्यस्त्रियाः प्रगल्भायास्तथा स्युर्वारयोषितः ।

दिङ्मात्रं यथा मम--

'अन्तिकगतमपि मामियमनलोकयतीव हन्त ! दृष्ट्वापि ।
सरसनखक्षतलक्षितमाविष्कुरुते　भुजामूलम् ॥'

तथा--

लेख्यप्रस्थापनैः स्निग्धैर्वीक्षितैर्मृदुभाषितैः ॥ १२७ ॥
दूतीसम्प्रेषणैर्नार्या भावाभिव्यक्तिरिष्यते ।

अवतरणिका—मुग्धादि भेद से प्रतिपादित नायिकाओं की साधारण चेष्टाओं का नियम प्रदर्शित करते हैं—

अर्थ--एतेष्विति—इन चेष्टाओं में से नवोढा (नवपरिणीता कामिनियों की) की (मुग्धा की अथवा अभिनव समागम वाली और कन्या नायिकाओं की) चेष्टायें अधिक लज्जा वाली (होती हैं), मध्या (नायिका) की (चेष्टायें) अल्प लज्जा वाली ("मुग्धा" की अपेक्षा कम लज्जा वाली और "प्रगल्भा" की अपेक्षा अधिक लज्जा वाली) (होती हैं), परकीया की (अन्यस्त्रियः), प्रगल्भा की तथा (सामान्यस्त्री रूप) गणिका की (चेष्टायें) लज्जा से रहित होती हैं ।

अर्थ—(इसप्रकार नायिकाओं की अनुराग चेष्टाओं का वर्णन करके इनके उदाहरण में) कुछ (चेष्टाओं के उदाहरण में) अपना ही (बनाया हुआ श्लोक देते हैं)-

अवतरणिका—प्रिय की प्रेयसी की सखी के प्रति प्रेयसी की चेष्टाओं को दिखाने वाली यह उक्ति है—

अर्थ—हन्त ! यह (कामिनी) समीपवर्ती मुझको देखकर भी न देखे हुये की तरह (तथा) (सद्यः होने के कारण) गीले नखक्षत से अलंकृत (चिह्नित) बाहुमूल को दिखाती है (केशपाश को बाँधने के व्याज से दिखाती है)।

टिप्पणी—यहाँ पर "**अनलोकयतीव**" इससे अल्प लज्जा को प्रकट करने के कारण यह "**मध्या**" नायिका है ।

अर्थ—तथा—उसीप्रकार (पहले की तरह सभी नायिकाओं की भावाभिव्यक्ति बताते हैं)—

(प्रणयव्यञ्जक) पत्र के भेजने से, स्नेहमयी दृष्टि से देखने से, कोमल और मधुर वचनों से, (उच्च स्वर से बोलना वर्जित है) (अथवा लज्जा से या भय से कोमल और मन्द स्वर से अपने अभिप्राय को प्रकट करने से); (तथा) दूती को भेजने से कामिनी के (नायिका के उपलक्षण से नायक के भी) प्रेम भाव की अथवा अभिलाषा की अभिव्यक्ति होती है ।

अथ नायिका-दूति-निरूपणम्—

अवतरणिका—जिन दूतियों को भेजकर नायिकायें अपने मनोगत भावों को अभिव्यक्त करती हैं, उन दूतियों का वर्णन करते हैं ।

दूत्यश्च —

दूत्यः सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी ॥१२८॥
बाला प्रव्रजिता कारूः शिल्पिन्याद्याः स्वयं तथा ।

कारू रजकीप्रभृतिः। शिल्पिनी चित्रकारादिस्त्री । आदिशब्दात्ताम्बूलिक-गान्धिकस्त्रीप्रभृतयः । तत्र सखी यथा--'श्वासान्मुञ्चति--' इत्यादि ।

स्वयंदूती यथा मम--

'पन्थिअ पिआसिओ विअ लच्छीअसि जासि ता किमण्णत्तो ।
ण मणं वि वारओ इध अत्थि धरे घणरसं पिअन्ताणं ॥
(पथिक ! पिपासित इव लक्ष्यसे यासि तत्किमन्यत्र ।
न मनागपि वारक इहास्ति गृहे घनरसं पिबताम् ॥)

एताश्च नायिकाविषये नायकानामपि दूत्यो भवन्ति ।

अर्थ—और दूतियां (निम्न हैं)—

सखी, नर्तकी, दासी, धात्रीकन्या, पडौसिन, कन्या (जिसके मदन विकार अभी उत्पन्न नहीं हुआ है), संन्यासिनी (उपलक्षण से श्रमणा, क्षपणा, रक्तपट्टिका आदि-कों का ग्रहण होता है) कारू (अर्थात् धोबी, बढई, जुलाहा, नाई और चमार इनकी स्त्री "कारू" कहलाती हैं;

तथा च—"तक्षा च तन्तुवायश्च नापितो रजकस्तथा ।
पञ्कश्चर्मकारश्च कारवः शिल्पिनो मताः ॥]

शिल्पिनी आदि [चित्रकारिणी, रङ्गिणी (रंगरेजिन)] (स्त्रियाँ) दूती (होती हैं) तथा (कहीं कहीं) स्वयं (नायिकायें ही दूती होती है)।

अर्थ—(अप्रसिद्ध पदों के अर्थों का विवेचन करते हैं) कारू=धोबी इत्यादि । शिल्पिनी=चित्रकारादि की स्त्री; "आदि" शब्द से ताम्बूलिक और गान्धिक इत्यादि स्त्रियों (का ग्रहण होता है) । इनमें से "**सखी**" (का उदाहरण) **यथा—"श्वासा-न्मुञ्चति**—इत्यादि (पूर्वोक्त पद्य है) ।

टिप्पणी—ताम्बूलिक और गान्धिक आदि की स्त्रियाँ अत्यन्त प्रगल्भ, कार्य करने में चतुर और अप्रतिषिद्ध गति वाली होती है । **वात्स्यायनोप्याह**—

विधवे क्षणिका दासी भिक्षुकी शिल्पकारिका ।
प्रविशत्याशु विश्वासं दूती कार्यं च विन्दति ॥

अर्थ—"स्वयंदूती" (का उदाहरण) **यथा**—मेरा (अर्थात् ग्रन्थकार का अपना बनाया हुआ श्लोक उद्धृत करते हैं) **पन्थिअ इति**—

(सम्भोग की इच्छा वाले किसी पथिक को देखकर स्वच्छन्द विहारिणी किसी नायिका की उक्ति है) (हे) पथिक ! (कुछ) प्यासे से **अन्यत्र** सम्भोग के इच्छुक की तरह दिखाई पड़ रहे हो तो किसलिये दूसरे जलाशय में **अन्यत्र** गुरुजनों से परतन्त्र कामिनी के पास में जाते हो । इस (मेरे) घर में मेघ के जल का **अन्यत्र** सम्भोग के सुख का **अथवा** अत्यधिक है राग जिसमें ऐसे अधर का आस्वादन करो । (मनुष्यों को) किञ्चिदपि रोकने वाला नहीं है (अतः स्वेच्छया यथेष्ट आस्वादन करो) ।

टिप्पणी—यहाँ नायिका के स्वयं ही दूतीकार्य करने के कारण यह नायिका "स्वयंदूती" है ।

अर्थ—ये ही (पूर्व कही हुई सखी आदि दूतियाँ) नायिकाओं के विषय में नायकों की भी दूती होती हैं ।

दूतीगुणानाह—

कलाकौशलमुत्साहो भक्तिश्चित्तज्ञता स्मृतिः ॥१२९॥
माधुर्यं नर्मविज्ञानं वाग्मिता चेति तद्गुणाः ।
एता अपि यथौचित्यादुत्तमाधममध्यमाः ॥१३०॥

एता दूत्यः ।

अथ प्रतिनायकः—

धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः ।

यथा रामस्य रावणः ।

अथ नायिकादूतीगुणनिरूपणम्—

अर्थ—(प्रसङ्ग प्राप्त) दूती के गुणों का (वर्णन) करते हैं—

नृत्यगीतादि ६४ कलाओं में निपुण, उत्साह, भक्ति (स्वामी में अनुराग), (दूसरे के) अभिप्राय को समझना, स्मृति (कर्तव्य का स्मरण), मधुरता, हास्य कुतूहलादि का परिज्ञान, वाक् चातुर्य ये उसके (दूती के) गुण हैं। (किन्तु) ये (पूर्वोक्त दूतियाँ) भी योग्यता के अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम (तीन प्रकार की) होती हैं।

कारिका में प्रयुक्त एताः का अर्थ दूतियाँ है।

टिप्पणी—(१) ऊपर कहे हुये सम्पूर्ण गुणों से युक्त दूती उत्तम होती है, चार या पाँच गुणों से युक्त दूती मध्यम होती है और जो एक या दो गुणों से युक्त होती है वह अधम कहलाती है।

(२) "**वात्स्यायन**" ने दूती कर्मों का भी उल्लेख किया है। यथा—

"विद्वेषं ग्राहयेत्पत्यौ रमणीयानपि दर्शयेत् । चित्रान्सुरतसम्भोगानन्यासामपि दर्शयेत् ॥ नायकस्यानुरागञ्च पुनश्च रतिकौशलम् । प्रार्थनां चाधिकस्त्रीभिरवष्टभ्य च वर्णयेत् ॥

अर्थ—इसके बाद (नायक, नायिकाओं का वर्णन करने के उपरान्त) "**प्रतिनायक**" (का वर्णन करते हैं)—

("**प्रतिनायक**" का लक्षण)—धीरोद्धत ("**मायापरः......**" इत्यादि लक्षण से नायक के लक्षण में प्रतिपादित धीरोद्धत) अधर्माचारी, व्यसनी (मनु के द्वारा प्रतिपादित १८ प्रकार के व्यसनों में से किसी एक व्यसन वाला) (नायक का प्रतिपक्षी) "**प्रतिनायक**" (होता है)। ("**प्रतिनायक**" का उदाहरण) **यथा**—रामचन्द्र जी का (प्रतियोगी) रावण।

टिप्पणी—"**व्यसन**" दो प्रकार का होता है। (१) **कामज** और (२) **कोपज**। इन्हीं के योग से "**मनु**" ने "**व्यसनों**" का वर्णन इसप्रकार किया है—

"कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥
मृगयाक्षो दिवा स्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजश्च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ इति ॥

अवतरणिका—इसप्रकार सलक्षणोदाहरण **विभाव** के नायकादि **आलम्बन विभाव** नामक भेद का निरूपण करके "**आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ**" इस उद्देश क्रम से प्राप्त **उद्दीपन विभाव** नामक भेद का निरूपण करते हैं—

अथोद्दीपनविभावाः—

उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ॥१३१॥

ते च—

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ।

चेष्टाद्या इत्याद्यशब्दाद्रूपभाषणादयः । कालादीत्यादिशब्दाच्चन्द्रचन्दनकोकिलालापभ्रमरझंकारादयः ।

तत्र चन्द्रोदयो यथा मम—

'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमःपटलांशुके निवेश्य ।
विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः ॥'

अर्थ—इसके बाद (**"आलम्बन" नामक विभाव के निरूपण के उपरान्त**) **"उद्दीपनविभाव"** (निरूपित किये जाते हैं) ।

(**"उद्दीपन विभाव"** का लक्षण)—जो (पदार्थ **"आलम्बन विभाव"** से अंकुरित) रस को अतिशय परिपुष्टि को ले जाते हैं वे **"उद्दीपन विभाव"** (कहलाते हैं) ।

अवतरणिका—एतावन्मात्र कथन से यह उद्दीपन विभाव का लक्षण फलितार्थ होता है कि **"रसोद्दीपकत्वमुद्दीपनविभावत्वम्"**—ऐसा होने पर **"विभावादिना व्यक्तो रत्यादी रसः"** अर्थात् विभावादि से व्यक्त रत्यादि रस होता है और **"रसोद्दीपकश्चोद्दीपनविभावः**—रस के उद्दीपक उद्दीपन विभाव होते हैं। इसप्रकार ये दोनों अन्योन्याश्रय हुये । तथा **"अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्प्यन्ते"**—अन्योन्याश्रित कार्यों की कल्पना नहीं की जाती है । अतः इस "उद्दीपन विभाव" के लक्षण के अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं ।

अर्थ—और वे (**उद्दीपन विभाव**) आलम्बन नायकादि की (नायक, नायिका और प्रतिनायक प्रभृति की) चेष्टायें आदि (नेत्रविक्षेपादि) तथा देशकाल आदि (होते हैं) ।

टिप्पणी—**"आलम्बनस्य"** इसके अन्दर षष्ठी निर्देश के द्वारा भेद का ज्ञान कराने से—**आलम्बनभिन्नत्वे सति रत्याद्युद्दीपकत्वमुद्दीपनविभावत्वम्**—इस लक्षण को सूचित किया है । **"चेष्टाद्याः"** यह तो उक्त लक्षण को स्पष्ट करने के लिये कहा है । इसप्रकार **"रत्याद्युद्दीपका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः"**-इस सामान्य लक्षण की भी संगति समझनी चाहिये ।

अर्थ—(कारिकागत कठिन शब्दों की व्याख्या करते हैं)—**"चेष्टाद्याः"**—इस **आद्य** पद से रूप, भूषण आदि (समझने चाहिये) । **"कालादि"** इस **"आदि"** पद से चन्द्रमा-चन्दन, कोकिलों का आलाप (और) भ्रमरों की झंकार आदि (समझनी चाहिये)।

(**"उद्दीपन विभाव"** का उदाहरण)—उनमें चन्द्रोदय (का उदाहरण) मेरा (अर्थात् ग्रन्थकार का बनाया हुआ है) **करमुदयेति**—यह चन्द्रमा (चन्द्रमा की तरह सुन्दर नायक) (अपने प्रकाश से) गिरा हुआ अन्धकार का वितान ही है (तमः पटल की तरह है) वस्त्र जिसका ऐसे, उदयाचल ही है (उदयाचल की तरह है) स्तन जिसका ऐसे उसके अग्रभाग पर किरण को (हाथ को) रखकर (अर्थात् हाथ से स्तन के अग्रभाग का आश्रय लेकर) पूर्व दिशा के (नायिका के) विकसित कुमुद ही है (कुमुद की तरह है) नयन जिसके ऐसे अग्रभाग को (मुख को) चूम रहा है ।

यो यस्य रसस्योद्दीपनविभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

अथानुभावाः—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ॥१३२॥
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ।

यः खलु लोके सीतादिचन्द्रादिभिः स्वैः स्वैरालम्बनोद्दीपनकारणै रामादेरन्तरुद्बुद्धं रत्यादिकं बहिःप्रकाशयन् कार्यमित्युच्यते, स काव्यनाट्ययोः पुनरनुभावः ।

टिप्पणी—यद्यपि यहाँ पर चन्द्रमा (नायक) ही "उद्दीपन विभाव" है तथापि चन्द्रमा और दिशा का नायक, नायिका के रूप में वर्णन होने के कारण उद्दीप्त वक्ता के शृंगार का चन्द्रमा उद्दीपक है । इसका स्पष्ट उदाहरण यथा—

"कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौतदिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः ।
लीलाशिरोंऽशुकनिवेशविशेषक्लृप्तिव्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा ॥

अर्थ—जो जिस रस का "उद्दीपन विभाव" है वह (उद्दीपन विभाव) उस रस के स्वरूप के वर्णन में कहेंगे ।

अवतरणिका—"**विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा**" इस कारिका के अन्दर कहे हुये आलम्बन और उद्दीपन रूप विभाव के प्रतिपादन के अनन्तर क्रम प्राप्त "अनुभाव" का निरूपण करते हैं—

अथ अनुभावनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद ("**विभाव**" के निरूपण के अनन्तर) "**अनुभाव**" (का निरूपण करते हैं)—

("**अनुभाव**" का लक्षण)—अपने अपने कारणों से उद्बुद्ध (रामादि के हृदय में वासनारूप में विद्यमान रत्यादि) स्थायीभाव को बाहर (अन्य मनुष्यों पर) प्रकाशित करता हुआ लोक में (लौकिकावस्था में अर्थात् व्यवहारमार्ग में) जो कार्यरूप (स्थायी भाव से उत्पन्न स्वरूप) है वह काव्य और नाटक के अन्दर (विद्यमान) "**अनुभाव**" (कहा जाता है) । (इसप्रकार "**स्थायिभावजन्यत्वमनुभावत्वम्**" यह लक्षण फलितार्थ हुआ) ।

टिप्पणी—(१) इसप्रकार सहृदयों के हृदय में **रत्यादि स्थायीभाव की** अलौकिक रस स्वरूपता की अवस्था में "**अनुभाव**" भी कारण ही है यह बात "**लोके यः कार्यरूपः**" **इससे** द्योतित हो गई । इसलिये "**कार्यकारणसञ्चारी**"त्यत्र—विभावादिकों का कारण कहना संगत है ।

(२) **अनुभाव की व्युत्पत्ति—रत्यादीन् स्थायिनः अनुभावयन्ति—अनुभवविषयीकुर्वन्तीति अनुभावाः ।**"

(३) लक्षणान्तरम्—"**वागङ्गसत्वाभिनयैर्यस्मादर्थो विभाव्यते ।**
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तः सोऽनुभाव इति स्मृतः ॥

अर्थ—(कारिका की व्याख्या करते हैं)—लोक में (लौकिकावस्था में) सीतादि आलम्बन कारण (यहाँ "आदि" पद से शृङ्गार में शकुन्तलादिकों का और वीरादि में "रावणा"दिकों का ग्रहण होता है) अपने अपने चन्द्रादि उद्दीपन कारणों से (यहाँ "आदि" पद से शृङ्गार में स्रक्, चन्दन, ताम्बूलादिकों का और वीरादि में चेष्टादिकों

कः पुनरसावित्याह—

उक्ताः स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजाः ॥१३३॥
तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि ।

तद्रूपा अनुभावस्वरूपाः । तत्र यो यस्य रसस्यानुभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

तत्र सात्त्विकाः—

विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ॥१३४॥

सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्मः ।

का ग्रहण समझना चाहिये) रामादि के (यहाँ "आदि" पद से शृङ्गार में दुःष्यन्तादिकों का और वीरादि में युधिष्ठिर प्रभृतियों का ग्रहण होता है) अन्तःकरण में उद्‌बुद्ध रत्यादि को बाहर प्रकाशित करता हुआ "कार्य" कहलाता है, वही काव्य और नाटक के अन्दर पुनः "अनुभाव" कहा जाता है ।

अर्थ—पुनः वह (अनुभाव) क्या है ? अतः कहते हैं—

("**अनुभाव" का स्वरूप**)—स्त्रियों के "अङ्गज" (**अङ्गात् मनसो जायन्ते ये ते" अङ्गजाः**"—भावादि तीन) (और) "स्वभावज" (**स्वः-स्वकीयो नायिकासम्बन्धीति यावत् यो भावो मनोविकारस्तज्जाः**—नायिका सम्बन्धी मनोविकार से उत्पन्न होने वाले **अथवा** सतोगुण के प्राधान्य से उत्पन्न होने वाले "लीला" आदि अठारह (जो) अलङ्कार कहे हैं ("**यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशतिसंख्यकाः**" इत्यादि पूर्व प्रतिपादित) ("**शोभा कान्ति आदि, जो अयत्नज अलङ्कार हैं**—इनके अन्दर रत्यादि की प्रकाशकता का अभाव है, अतः "अनुभावरूपता" नहीं है) (तथा जो) सात्विक भाव, (स्तम्भ, स्वेद आदि जिनका आगे चलकर प्रतिपादन करेंगे) तथा सात्विक विकार से भिन्न (पराः) (नायक की नेत्र विक्षेपादि) चेष्टायें भी अनुभाव स्वरूप हैं ।

टिप्पणीः—(१) यहाँ "**स्त्रीणाम्**" इस उपलक्षण से "नायकों" के भी यथासम्भव अलङ्कारों का ग्रहण करना चाहिये । इसीलिये "**भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि**" यह पहले प्रतिपादित किया है ।

(२) "**अयत्नज**" शोभादि अलङ्कारों की व्यावृत्ति के लिये "**अङ्गजाश्च स्वभावजाः**" यह लिखा है ।

अर्थः—(कारिकागत शब्द की व्याख्या करते हैं) **तद्रूपाः**—अर्थात् अनुभाव स्वरूप । **तत्रेति**-उनमें जो जिस रस का अनुभाव है, उसका उसी के स्वरूप के वर्णन में कहेंगे ।

उनमें से "**सात्विक**" (का लक्षण) **विकारा इति**—सत्वगुण से उत्पन्न मनोविकार सात्विक भाव (आलङ्कारिकों के द्वारा) कहे गये हैं । ("**सत्व**" **के स्वरूप** का लक्षण यद्यपि "**रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते**"—किया जा चुका है तथापि पुनः "**सत्व**" का लक्षण करते हैं) **सत्वमिति**—अपनी आत्मा में ही है विश्राम जिसका ऐसे (रस) का अभिव्यञ्जक कोई आन्तरिक धर्म "सत्व" कहाता है । ("**सांख्यकारिका**" में भी कहा है कि—"**सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्**"—**इति**) ।

सत्त्वमात्रोद्भवत्वात्ते भिन्ना अप्यनुभावतः ।

'गोबलीवर्दन्यायेन' इति शेषः ।

के त इत्याह—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ॥१३५॥
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ।

अवतरणिका—यदि "सात्विक भाव" ही "अनुभाव" रूप हैं तो "**विभावा अनुभावाश्च सात्विका व्यभिचारिणः**" **इति**—इस पूर्व कारिका के अन्दर "**सात्विकाः**" इसका पृथक् ग्रहण क्यों किया है ? अतः कहते हैं:—

अर्थ—वे (सात्विक विकार) केवल सत्वगुण से उत्पन्न होने के कारण "अनुभाव" से भिन्न भी ("अपि" इस पद से "अभिन्नता" भी ध्वनित होती है, और "अभिन्न" होने के कारण "**तद्रूपाः सात्विका भावाः**" अर्थात् सात्विकभाव अनुभावरूप ही है–इसकी भी संगति लग जाती है) (कहे जाते हैं)। (यद्यपि सात्विक रत्यादि के कार्य होने के कारण अनुभाव ही हैं)।

अवतरणिका—व्याप्त वृत्ति वाले भेद और अभेद इन दोनों की एकत्र स्थिति असम्भव होने के कारण (अर्थात् भेद और अभेद किसी एक ही स्थान पर एक साथ नहीं रह सकते) अकेले सात्विक भाव की अनुभाव के साथ भिन्नता और उसी के साथ अभिन्नता का मेल कथमिव हो सकता है—इसप्रकार की शंका को मन में रखकर उसका समाधान करते हैं।

अर्थ—"गोबलीवर्दन्याय से" (स्वरूप से नहीं) (भिन्नता और अभिन्नता इन दोनों की स्थिति एकत्र सम्भव हो सकती है)–[अर्थात् जिसप्रकार गाय और वृषभ के [illegible] वैशिष्ट्य न होने पर भी किसी एक धर्म के अंश को लेकर भेद होता है उसी प्रकार सत्वादिकों का और निर्वेदादिकों का भावरूप होने के कारण अभिन्न होने पर भी सात्विक और असात्विक के अन्दर भेद होता है। इसीप्रकार "**विभावा अनुभावाश्च सात्विकाः व्यभिचारिणः**" इसके अन्दर "सात्विक भाव" का पृथक्रूपेण कथन करके "अनुभाव" से भिन्न शंका के निराकरण लिये पृथक् कहा है]

(अथ सात्विकभेदतत्स्वरूपनिरूपणम्)

अर्थ—के त इत्याह–वे (सात्विक भाव) कौन से हैं–यह बताते हैं।

("**सात्विक**" नाम परिगणन)–(१) **स्तम्भ** (जड़ीभाव), (२) **स्वेद** (३) **रोमाञ्च** (४) **स्वरभंग** (५) **वेपथु** (६) **वैवर्ण्य** (विकृत वर्णता) (७) **अश्रु** (और) (८) **प्रलय** ये आठ "**सात्विक**" कहे गये हैं।

अवरतिणका—क्रम से इन 'सात्विकों' के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

तत्र—

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयहर्षामयादिभिः ॥१३६॥
वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिधर्मश्रमादिभिः ।
हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया ॥१३७॥
मदसंमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गदं विदुः ।
रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ॥१३८॥
विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता ।
अश्रु नेत्रोद्भवं वारि क्रोधदुःखप्रहर्षजम् ।
प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः ॥१३९॥

अर्थः—उनमें से ("**स्तम्भ**" का लक्षण) भय (व्याघ्रादि को देखने से उत्पन्न आन्तरिक कम्पन का हेतु त्रास), हर्ष (पुत्रादि के जन्म से उत्पन्न होने वाला अन्तःकरण का उल्लास) (और) ज्वरादि व्याधि के कारण चेष्टा का व्याघात (शारीरिक और मानसिक व्यापार का विघात)" "**स्तम्भ**" (कहाता है)। (२) ("**स्वेद**" का लक्षण) सुरत क्रिया, आतप, (और) परिश्रम (अध्ययनादि व्यापार से उत्पन्न खेद) इत्यादि ("आदि" पद से ज्वर का ग्रहण होता है) कारणों से शरीर से जल का निकलना "**स्वेद**" (कहाता है), (३) ("**रोमाञ्च**" का लक्षण) आनन्द, आश्चर्य (अदृष्ट का दर्शन और अश्रुत का श्रवण इत्यादि) (और) भयादि ("आदि" पद से शीत का परिग्रहण होता है) कारणों से रोमविकार को "**रोमाञ्च**" (कहते हैं)। (४) ("**स्वरभङ्ग**" का लक्षण) मद (मत्तता), सम्यक् आनन्द, (और) पीड़ादि ("आदि" पद से अत्यन्त रुदन का परिग्रहण होता है) कारणों से अस्पष्टभाषण को (गद्गदम्) "**स्वरभङ्ग**" (कहते हैं)। (५) ("**वेपथु**" का लक्षण) अनुराग, वैर और परिश्रमादि कारणों से शरीर का कम्प "**वेपथु**" (कहलाता) है। (६) ("**वैवर्ण्य**" का लक्षण)—विषाद (विषण्णता), मद (मद्यपान से उत्पन्न विकार), क्रोधादि कारणों से अन्यवर्ण की प्राप्ति (वर्णविकार) "**वैवर्ण्य**" (विवर्णता कहाती है)। (७) ("**अश्रु**' का लक्षण) कोप, दुःख (मानसक्षोभ) (और) हर्ष (प्रकृष्ट आनन्द) से उत्पन्न होने वाला नेत्रों से उत्पन्न जल "**अश्रु**" (कहाता है)। (८) सुख से अथवा दुःख से चेष्टा (शारीरिक और मानसिक व्यापार) (और) ज्ञान का नष्ट हो जाना "**प्रलय**" (कहाता है)।]

टिप्पणी—"सात्विक भावों" के दूसरे यथासम्भव लक्षण देते हैं—

(१) **स्वेद** का लक्षणः—**वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतितापश्रमादिभिः ॥**

(२) **रोमाञ्च** का लक्षणः—"**रोमाञ्चः प्रोद्गमो रोम्णां रोमहर्षादिभिस्तनौ**"।

अत्राचार्यस्तु— **'यत्र यत्र रसोत्कर्षः श्रूयते दृश्यतेऽपि वा ।**
स्वप्रीत्यभिगमनेनासौ रोमाञ्चः सर्वभावजः ॥

(३) **स्वरभंग का लक्षण**—"**गद्गदो विस्वरत्वं च वैस्वर्यं प्रमदादिभिः ।**'

(४) **वेपथु** का लक्षण—"**रागरोषभयादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ।**"

(५) **प्रलय** का लक्षण—"**प्रलयो रागदुःखादेरिन्द्रियास्तमयो मतः ।**"

यथा मम—

'तनुस्पर्शादस्या दरमुकुलिते हन्त ! नयने
उदञ्चद्रोमाञ्चं व्रजति जडतामङ्गमखिलम् ।
कपोलौ घर्मार्द्रौ ध्रुवमुपरताशेषविषयं
मनः सान्द्रानन्दं स्पृशति झटिति ब्रह्म परमम् ॥'

एवमन्यत् ।

अथ व्यभिचारिणः—

अवतरणिका—इन (सात्विक भावों) में से कुछ सात्विक भावों के उदाहरण एक स्थान पर लाघव की दृष्टि से दिखाते हैं—

अर्थ—(**"सात्विक भाव"** का उदाहरण) **यथा**–मेरा (अर्थात् ग्रन्थकार का अपना बनाया हुआ श्लोक उदाहरण के रूप में देते हैं)—

तनुस्पर्शादिति—(नायक के अङ्ग स्पर्श से उत्पन्न नायिका के सात्विक भावों का वर्णन है) हन्त ! (बड़ा आश्चर्य है कि) इस (नायिका) के (नायक के) शरीर के स्पर्श से (उपचाररूपेण शरीर स्पर्श से उत्पन्न आनन्द के कारण) नेत्र किंचित् विकसित हो गये हैं, सम्पूर्ण शरीर उत्पन्न हो गया है रोमाञ्च जिसमें ऐसा जड़ता को प्राप्त हो रहा है, (इससे **स्तम्भ और रोमाञ्च** का प्रतिपादन कर दिया) कपोल (गण्डस्थल) पसीने के जल से युक्त (हो गये हैं) (इससे **"प्रस्वेद"** दिखा दिया है), (किं बहुना–अधिक क्या कहें) मन विरत हो गये हैं सम्पूर्ण बाह्येन्द्रियों के व्यापार जिसमें ऐसा सहसा निश्चितरूपेण अत्यन्त प्रगाढ़ आनन्द स्वरूप परब्रह्म के साक्षात्कार से उत्पन्न सुख की तरह सुख का अनुभव कर रहा है (स्पृशति) (अर्थात् परमानन्द रस का आस्वादन कर रहा है) (इससे **"प्रलय"** का वर्णन कर दिया)। **एवमिति**-इसप्रकार **अन्य** (उदाहरण भी समझना)।

[तथा च—**"वाले ! नाथ ! विमुञ्च मानिनि रुषम्**······" यहाँ स्वरभङ्ग। **"मा गर्वमुद्वह"**······ यहाँ वेपथु। **"शोणं वीक्ष्य**······" यहाँ वैवर्ण्य और अश्रु समझना चाहिये।]

टिप्पणी—इस पद्य के अन्दर स्तम्भ-स्वेद-रोमाञ्च और प्रलय का दिग्दर्शन करा दिया।

अथ व्यभिचारिभावनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद ("अनुभाव" के प्रतिपादन के अनन्तर) **"व्यभिचारीभावों"** (सञ्चारीभावों) का प्रतिपादन करते हैं।

टिप्पणी—व्यभिचारीभाव और सञ्चारीभाव समानार्थक हैं, अतः **"विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा"** इस कारिका के साथ किसी भी प्रकार की असङ्गति नहीं है क्योंकि कारिकागत **"सञ्चारी"** पद का यहाँ पर उद्देश क्रम से प्राप्त **"व्यभिचारी"** इस पद से निरूपण किया गया है।

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ॥ १४० ॥

स्थिरतया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः कथ्यन्ते ।

के त इत्याह—

अर्थ—(**"व्यभिचारीभाव"** का लक्षण) (**"व्यभिचारी"** यह **वि + अभि** उपसर्ग पूर्वक **चर्** का कर्ता में **"णिनि"** प्रत्यय से बनता है । अतः उपसर्ग के क्रम से **अर्थ का** निरूपण करते हुये **"व्यभिचारी" भाव** का लक्षण करते हैं) **विशेषादिति** (विभाव, **अनु**भाव की अपेक्षा) विशेषरूप से (यह **वि** उपसर्ग का अर्थ है) (आस्वाद की **अभिव्यक्ति** में) अनुकूल होने के कारण (सहायक होने से) (यह **अभि** उपसर्ग का अर्थ है) [(रति आदि में रस रूप से) उत्पन्न होते हुये (अर्थात् रस के अनुकूल होने के कारण रत्यादि में रसरूप से संयुक्त होते हुये) (रत्यादि) स्थायीभाव में (कभी बुद्बुद् की तरह झटिति प्रतीत हुये) आविर्भूत होने वाले (और कभी विलम्ब से प्रतीति के कारण) तिरोभूत होने वाले (जो धर्म हैं वे) "**व्यभिचारी**" (कहे जाते हैं)] [इसप्रकार **"विभावानुभावापेक्षया विषेशेण रसपुष्टिजनकभावत्वं व्यभिचारित्वम्" इति**—यह लक्षण फलितार्थ हुआ] उन व्यभिचारीभावों के भेद ३३ (तेंतीस) होते हैं ।

टिप्पणी—["**व्यभिचारीभावों**" के ३३ भेद होते हैं]—यह कह कर न्यून संख्या की व्यावृत्ति की है, अधिक संख्या की नहीं अर्थात् व्यभिचारीभाव कम से कम तो ३३ होते हैं और इससे अधिक भी हो सकते हैं । इसीलिये कहा है कि—**"हासक्रोधादयः शृंगारादौ व्यभिचारिणः" इति** । अर्थात् हास, क्रोध आदि (जो कि हास्य और **रौद्र** रस के स्थायीभाव हैं) शृंगारादि में व्यभिचारी हो जाते हैं । ये जो **व्यभिचारीभाव** ३३ बताये हैं ये तो केवल उपलक्षण हैं । क्योंकि **"रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः"** । अतः व्यभिचारीभाव केवल ३३ ही नहीं हैं, इससे अधिक भी हो सकते **हैं** ।

अर्थ—(कारिकागत कठिन अंश की व्याख्या करते हैं)—स्थिरता से (**स्थायी**भाव रूप से) (रसावस्थिति पर्यन्त स्थिर रहने वाले) विद्यमान रहने पर ही (**अविद्यमान सत्ता** की अवस्था में नहीं) (ऐसा कह कर दूसरे रसों के अन्दर स्थायीभाव से **अविद्यमान** सत्ता होने पर रत्यादिकों के भी स्थायीभाव का अभाव सूचित किया है) **निर्वेदादि** (३३ संख्या वाले निर्वेद–आवेग प्रभृति) (समुद्र में तरंग की तरह) आविर्भाव **और** तिरोभाव के द्वारा अनुकूल भाव से सञ्चारी होने के कारण **"व्यभिचारी" कहलाते हैं** ।

अर्थ—वे (व्यभिचारीभाव) कौन से हैं ? यह बताते हैं—

निर्वेदावेगदैन्यश्रममदजडता औग्रयमोहौ विबोधः
स्वप्नापस्मारगर्वा मरणमलसतामर्षनिद्रावहित्थाः ।
औत्सुक्योन्मादशङ्काः स्मृतिमतिसहिता व्याधिसंत्रासलज्जाः
हर्षासूयाविषादाः सधृतिचपलता ग्लानिचिन्तावितर्काः ॥१४१॥

तत्र निर्वेदः—

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत् ॥ १४२ ॥

तत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा—

'मृत्कुम्भबालुकारन्ध्रपिधानरचनार्थिना ।
दक्षिणावर्तशङ्खोऽयं हन्त ! चूर्णीकृतो मया ॥'

(''**व्यभिचारीभावों**'' का नाम्ना परिगणन)–(१) निर्वेद (२) आवेग (३) दैन्य (४) श्रम (५) मद (६) जडता (७) उग्रता (८) मोह (९) विबोध (१०) स्वप्न (११) अपस्मार (१२) गर्व (१३) मरण (१४) अलसता (१५) अमर्ष (१६) निद्रा (१७) अवहित्था (१८) औत्सुक्य (१९) उन्माद (२०) शंका (२१) स्मृति (२२) मति (२३) व्याधि (२४) संत्रास (२५) लज्जा (२६) हर्ष (२७) असूया (२८) विषाद (२९) धृति (३०) चपलता (३१) ग्लानि (३२) चिन्ता (३३) वितर्क । (ये ३३ व्यभिचारी अथवा सञ्चारीभाव होते हैं) ।

अवतरणिका—निर्वेदादि व्यभिचारी भावों के नामों का परिगणन करके क्रमशः लक्षण करते हैं ।

अर्थ—उनमें से ''**निर्वेद**'' (का लक्षण)—**तत्त्वेति**—यथार्थ ज्ञान (देहादि के अन्दर अनुपादेयता के ज्ञान से, जीवात्मा और परमात्मा के अभेद ज्ञान से नहीं) आपत्ति, (और) ईर्ष्यादि से (दूसरे की उन्नति को न सहन कर सकना) (यहाँ ''आदि'' पद से आधि, व्याधियों का ग्रहण होता है अथवा पुराणों के श्रवणादि का बोध होता है) (उत्पन्न) दीनता, चिन्ता, अश्रु, निःश्वास, विवर्णता (हर्षराहित्य का प्रत्यय कराने वाली आकृति) (और) उच्छ्वास आदि को करने वाला (यहाँ ''**आदि**'' पद से मृत्यु आदि की अभिलाषादि का ग्रहण होता है अथवा अपने कुचरितों को उत्पन्न करने आदि का ग्रहण होता है) अपने विषय में अवज्ञा ''**निर्वेद**'' (कहलाता है) ।

टिप्पणी—''**निर्वेद**'' का दूसरा लक्षण—''**चित्तस्य खेदो निर्वेदस्तत्त्वज्ञानोदयादिभिः**'' । **इति** ।

अर्थ—तत्वज्ञान से उत्पन्न होने वाले ''**निर्वेद**'' (का उदाहरण) **यथा—मृत्कुम्भेति**—(विषय भोग और सांसारिक सुखों के लिये सम्पूर्ण जीवन को विनष्ट करके बाद में किसी महात्मा के संसर्ग से तत्वज्ञान उत्पन्न होने पर अपने विगत कर्मों के प्रति अनुताप करते हुये किसी की उक्ति है) मृत्तिका से रचित घट के बालू की तरह छिद्र को बन्द करने की इच्छा से बड़े दुःख की बात है कि (हन्त !) मैंने (शरीररूपी) दक्षिणावर्त नामक बहुमूल्य शंख विशेष विनष्ट कर दिया । [कहने का यह आशय है कि सांसारिक विनाशशील सुख की कामना से मैंने परमार्थ को सिद्ध करने में समर्थ

अथावेगः—

आवेगः संभ्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डिताङ्गता।
उत्पातजे स्रस्तताङ्गे, धूमाद्याकुलताग्निजे ॥१४३॥
राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम्।
गजादेः स्तम्भकम्पादि, पांस्वाद्याकुलतानिलात् ॥१४४॥

होने के कारण अत्यन्त उपादेय दक्षिणावर्त शंख के तुल्य इस शरीर को विषयों में लगे रहने से मुद्गर तुल्य बुढ़ापे से विनष्ट कर दिया **अर्थात्** अत्यन्त तुच्छ मिट्टी से निर्मित घड़े के बालुका सदृश छिद्र को बन्द करने के लिये बहुमूल्य दक्षिणावर्त नामक शंख को चूर्ण करने की तरह ऐहिक स्वल्प दुःख के निराकरण के लिये कुकर्म करते हुये मैंने पारलौकिक अत्यन्त सुख को नष्ट कर दिया—इसप्रकार यथार्थ ज्ञान के कारण अपने चरित का तिरस्कार करने से **"निर्वेद" है]** **अथवा**–(मेघनाद की शक्ति के लगने से लक्ष्मण के मोह को प्राप्त हो जाने पर श्री रामचन्द्र की यह विलापमयी उक्ति है)–रावण का वधादि ही है मृत्तिका निर्मित घड़े के बालुका सदृश छिद्र का बन्द करना–उसकी रचना की इच्छा से यह लक्ष्मणरूपी दक्षिणावर्त शंख मैंने विनष्ट कर दिया। (चूर्णाख्य नामक द्रव्य विशेष कर दिया) [शंखादि को जलाकर "चूर्ण" नामक द्रव्य का निर्माण करना प्रसिद्ध है]।

टिप्पणी—(१) पहले अर्थ के अन्दर **"निदर्शनालंकार"** है और दूसरे अर्थ में "रूपकोपपादिकातिशयोक्ति" अलंकार है।

(२) यहाँ पर आपत्ति से उत्पन्न अपना तिरस्कार करने से **"निर्वेद"** है।

अर्थ—इसके बाद ("**निर्वेद**" के लक्षणोपरान्त) **"आवेग"** (का लक्षण)—

(भेदोपभेद सहित आवेग का वर्णन)–अकस्मात् उपस्थित घटना से उत्पन्न मनोवेग (सम्भ्रम) **"आवेग"** (कहलाता है) (**इति आवेगलक्षणम्**)। (आवेग का लक्षण कहकर उसके भेदों को दिखाते हैं) इनमें से (१) वर्षा से उत्पन्न आवेग के होने पर (मनुष्यों का) शरीर संकुचित (हो जाता है)। **यथा इन्द्र के कुपित हो जाने पर गोकुल की अवस्था।**

(२) उत्पात से उत्पन्न आवेग के होने पर [(१) **दिव्य २. नाभस और ३. भूमिज**–इन तीन प्रकार के उत्पातों से जनित होने पर। [इनमें से (१) बिना पर्व के चन्द्र और सूर्यादि का ग्रहण और आकस्मिक दिन में नक्षत्रों का दिखाई देना आदि **"दिव्य"** उत्पात हैं। (२) वज्र उल्कापात और निर्घातादि होना, **"नाभस"** उत्पात हैं। (३) और भूमि कम्पादि **"भूमिज"** उत्पात हैं।] शरीर के अन्दर शिथिलता (होती है) (३) अग्नि से उत्पन्न आवेग के होने पर धूमादि से (**"आदि"** शब्द से परिताप का ग्रहण होता है) आकुलता (होती है)। (४) राजाओं के उपद्रवादि से उत्पन्न आवेग के होने पर (युद्धों की योजनारूप उपद्रव से उत्पन्न होने पर) (अपनी रक्षा के लिये अथवा राजा की सहायता के लिये) शस्त्र, नागादियों का आयोजन (होता है) (**"आदि"** पद से अश्व आदि का ग्रहण होता है)। (५) गजादि से आवेग के उत्पन्न होने पर स्तम्भ और कम्पादि (होता है) (**"आदि"** पद से मूर्च्छा आदि का ग्रहण होता है)। (६) वायु से आवेग के उत्पन्न होने पर (आँधी और वायु से जनित आवेग के होने पर) धूलि आदि से (**"आदि"** पद से तृणपर्णादि का ग्रहण होता है) आकुलता रहती है।

इष्टाद्धर्षाः, शुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयाश्चान्ये यथायथम् ।

तत्र शत्रुजो यथा—

'अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।
क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकाम् ॥'

एवमन्यदूह्यम् ।

अथ दैन्यम्—

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत् ॥१४५॥

---

(७) अभिलषित अर्थ सिद्धि से आवेग के उत्पन्न होने पर (प्रिय संगमादि के निमित्त से उत्पन्न आवेग के होने पर) आनन्द (होता है)। **यथा-नन्द के कृष्ण के पैदा होने पर गोकुलवासियों को आनन्द हुआ।** (८) अनिष्ट से उत्पन्न आवेग के होने पर शोक (मुखसंकोच आदि अनुभाव) (होता है) और दूसरे आवेग भी यथावत् समझ लेने चाहिये।

टिप्पणी—**"सम्भ्रम आवेग" इत्यावेगस्य सामान्यं लक्षणम्।** वर्षजादि आवेग उसके भेद हैं। और ये असंख्य होते हैं। इनको यथावत् समझ लेना चाहिये।

अर्थ—उनमें से **"शत्रुजन्य"** (आवेग का उदाहरण) **यथा-अर्घ्यमिति**–(रघुवंश काव्य के अन्दर रामचन्द्र जी को विनष्ट करने में उद्यत परशुराम के कार्य का वर्णन है) वह (परशुराम) अर्घ्य (लो) अर्घ्य (लो) इसप्रकार कहते हुये राजा (दशरथ) को (रामचन्द्र जी के शत्रुभाव से उपस्थित परशुराम को देखकर दशरथ की सम्भ्रम के कारण उक्ति है) अनादृत करके जिस स्थान पर श्री रामचन्द्र जी (थे) उस स्थान पर क्षत्रियों के लिये क्रोधरूपी अग्नि की शिखास्वरूप प्रचण्ड पुतली वाली दृष्टि डाली। **एवमिति**-इसीप्रकार अन्य (भी स्थानों पर) समझना चाहिये।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर **"अर्घ्यमर्घ्यमिति"** वीप्सा के अन्दर प्रथम चरण में ही बार बार कहते हुये दशरथ का परशुराम रूप शत्रुज आवेग है।

(२) **"आवेग"** का अन्य उदाहरण—

इयं साक्षान्मम प्रिया रतिरूपेव तिष्ठति ।
शोचन्त्यश्रु विमुञ्चन्ती धर्मतो रक्ष हे सखे ॥

यहाँ पर विदेश में जाने की इच्छा वाले नायक का प्रिय प्रिया से पृथक् होने से उत्पन्न "आवेग" है।

अर्थ—इसके बाद ("आवेग" के लक्षणोपरान्त) **"दैन्य"** (का लक्षण)—

(**"दैन्य" का लक्षण**)–दारिद्र्यादि कारणों से (यहाँ **"आदि"** पद से क्षमा आदि का ग्रहण होता है) (मुखादि की) मलिनता आदि को करने वाली (यहाँ **"आदि"** पद से मनोव्यथादि का ग्रहण होता है) निस्तेजता को **"दैन्य"** (नामक व्यभिचारी भाव कहते हैं)।

टिप्पणी—(१) इसप्रकार दुःख दारिद्र्यादि महा अपराध से उत्पन्न होने वाली अपनी तुच्छता को बताने वाली मानसिक अवस्था विशेष को "दैन्य" कहते हैं।

**(२) उक्तं च—चिन्तौत्सुक्यान्मनस्तापाद्दौर्गत्याच्च विभावतः ।
अनुभावान्तु शिरसोऽप्यावृत्तेर्गात्रगौरवात् ॥
देहोपस्करणत्यागाद्दैन्यं भावं विभावयेत् ॥इति ॥**

यथा—

'वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः, स्थूणावशेषं गृहं,
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो।
यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति॥'

अथ श्रमः—

खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः।

अर्थ—(दैन्य" का उदाहरण) **यथा**—(वृद्ध, अन्धे और दरिद्र पति वाली तथा प्रोषित पुत्र वाली किसी स्त्री की विपन्नावस्था का वर्णन है) (मेरा) यह पति वृद्ध और अन्धा है (अतएव चलने में असमर्थ होने के कारण) खाट पर पड़ा है। (इससे उसके पति की परम असमर्थता और उठने की शक्ति का अभाव मालूम पड़ता है अतः उससे पोषण की सम्भावना का सर्वथा अभाव है) घर में केवल स्थूणा (छप्पर में टेक लगाने की लकड़ी) शेष है (अर्थात् वह भी अब गिरा चाहती है) (इससे उसके उद्धार करने में असमर्थता प्रकट करने के कारण निर्धनता सूचित होती है)। वर्षाकाल का समय पास आ रहा है (अतः ऐसे समय में उस घर के अन्दर रहना ही कठिन है), (धन कमाने के लिये बाहर गये हुये) पुत्र की कुशलमयी वार्ता भी नहीं (मिली है) (इससे शोक की अतिशय व्याकुलता ध्वनित होती है क्योंकि "**पुत्रशोको महाकष्टम्**" इति। बड़े प्रयत्न से (इधर-उधर माँगकर) सञ्चित की हुई तैल बिन्दुओं का छोटा सा घड़ा भी टूट गया (इससे पुरुषार्थ का अभाव सूचित होता है), इसप्रकार (अनेक आपत्तियों के उत्तरोत्तर आने के कारण) व्याकुल सास अपनी बधू को पूर्ण गर्भ-वाली (आसन्नप्रसवा) देखकर बहुत देर तक रोई।

टिप्पणी—इस पद्य के अन्दर "**दैन्य**" स्पष्ट ही है।

अर्थ—इसके बाद ("**दैन्य**" के लक्षणोपरान्त) "**श्रम**" (का लक्षण)—

("**श्रम**" का लक्षण) रति और मार्ग के गमन आदि से ("**आदि**" पद से व्यायामादि का ग्रहण होता है) श्वास और निद्रादि का ("**आदि**" से अङ्गपीडनादि का ग्रहण होता है) करने वाला खेद (अवसाद) "**श्रम**" (कहलाता है)।

टिप्पणी—(१) कहने का तात्पर्य यह है कि "**अनेकशारीरव्यापारोत्पन्ननिःश्वासाङ्गमर्दनिद्रादिकारणीभूतः खेदविशेषः श्रमः इति**"।

(२) **यदाहुः—अध्वव्यायामसेवाद्यैर्विभावैरनुभावकैः।
गात्रसंवाहनैरास्यसंकोचैरङ्गमोटनैः॥
निःश्वासैर्जृम्भितैर्मन्दैः पादोत्क्षेपैः श्रमो मतः॥ इति॥**

(३) "**श्रम**" और "**ग्लानि**" में अन्तर—

यह "श्रम" तो बल होने पर भी होता है, शरीर के व्यापार से भी होता है परन्तु "ग्लानि" उसप्रकार की नहीं है। यही इसकी ग्लानि से भिन्नता है।

यथा—

'सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
सीता जवात्त्रिचतुराणि पदानि गत्वा ।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥'

अथ मदः—

संमोहानन्दसंभेदो मदो मद्योपयोगजः ॥ १४६ ॥
अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति ।
अधर्मप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति ॥ १४७ ॥

अर्थ—("**श्रम**" का उदाहरण) **यथा**—**सद्य इति**—(महानाटक के अन्दर सीता के साथ रामचन्द्र जी के वन जाने का वर्णन है) शिरीष पुष्प के समान सुकोमल अवयवों वाली सीता ने पुरी के (अयोध्या के) पास में ही (कहीं वनादि में दूर नहीं) शीघ्रता से तीन या चार कदम चलकर ही उस समय "**कितना और चलना है**" इस प्रकार बार-बार कहते हुये राम के अश्रुओं का प्रथम अवतरण किया। (उससे पूर्व कभी भी किसी ने भी राम के नयनों में अश्रुओं का उद्गम किया था—किन्तु उस समय सीता ने ही किया—यह आशय है। सीता के हरण के बाद तो अतिशय अश्रु आये।)।

टिप्पणी—यहाँ सीता का "**कितना और चलना शेष है**"यह पौनः पुन्येन पूछने से पीड़ा की प्रतीति होने के कारण "**श्रम**" है। **यथा वा**—

"विधाय सा मद्वदनानुकूलं कपोलमूलं हृदये शयाना ।
चिराय चित्रे लिखितेव तन्वी न स्पन्दितुं मन्दमपि क्षमासीत् ॥"

अर्थ—इसके बाद ("**श्रम**" के लक्षणोपरान्त) "**मद**" (का लक्षण)—

("**मद**" का लक्षण)—मद्य के सेवन से उत्पन्न होने वाला सम्मोह और आनन्द को मिलाने वाला "**मद**" (कहलाता है) (**अर्थात् "आस्वाद्य पयोगोद्भवः समुल्लासाह्वः स्वापप्रहसितादिनिमित्तः मनोवृत्तिविशेषः मदः" इति**) ("**मद**" के तीन भेदों का वर्णन करते हैं) **अमुनेति**—(१) इस मद से उत्तम पुरुष शयन करता है। (२) मध्यम प्रकृति मनुष्य हँसता है और गाता है (और) (३) नीच प्रकृति मनुष्य कठोर बोलता है और रोता है। (अतः तीन प्रकार के अनुभाव के कारण यह मद भी तीन प्रकार का है)।

टिप्पणी—(१) "**नव्य मतानुसार**"—यह "**मद**" तरुण, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार का होता है।

(१) **तत्राव्यक्तासङ्गतवाक्यैः सुकुमारस्खलद्गत्या च योऽभिनीयते स आद्यः।**
(२) **भुजाक्षेपस्खलितघूर्णितादिभिर्मध्यमः** (३) **गतिभङ्गस्मृतिनाशहिक्काछर्द्यादिभिरधमः।**

(२) "प्रदीपकारास्त्वत्र"—

उत्तमसत्वः प्रहसति गायति, तद्वच्च मध्यमप्रकृतिः ।
परुषवचनाभिधायी शेते रोदित्यधमसत्वः ॥

यथा— 'प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां वक्रवाक्यरचनारमणीयः ।
गूढसूचितरहस्यसहासः सुभ्रुवां प्रववृते परिहासः ॥'

अथ जडता—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ॥ १४८ ॥

यथा मम कुवलयाश्वचरिते प्राकृतकाव्ये—

णवरिअ तं जुअजुअलं अण्णोण्णं णिहिदसजलमन्थरदिट्ठिं ।
आलेक्खओपिअं विअ खणमेत्तं तत्थ सट्ठिअं मुअसण्णं ॥'

(केवलं तद्युवयुगलमन्योऽन्यं निहितसजलमन्थरदृष्टिम् ।
आलेख्यार्पितमिव क्षणमात्रं तत्र स्थितं मुक्तसङ्गम् ॥)

अर्थ—("मद" का उदाहरण) **यथा-प्रातिभमिति—**(माघप्रणीत शिशुपाल-वध के दशम सर्ग का १२वाँ श्लोक है) तीन बार मद्य के पान से (तीन दौर से) (तीन बार शराब के पान से मद की पराकाष्ठा होती है—इसप्रकार की पानविधि है) प्रतिभा को (ज्ञान का बीजभूत संस्कारविशेष प्रतिभा कहलाता है) प्राप्त हुई रमणियों के श्लेषात्मक वाक्य रचना के द्वारा मनोहर, गुप्त रहस्यों को प्रकट करने वाले हास से युक्त (अर्थात् पहले लज्जा के कारण जो रहस्य अप्रकट थे वे अब मद के कारण प्रकट हो गये हैं) परिहास क्रीड़ा प्रारम्भ हो गई ।

टिप्पणी—यहाँ रमणियों के हास-परिहास के कारण "मद" स्पष्ट है ।

अर्थ—इसके बाद (**"मद"** के लक्षणोपरान्त) **"जडता"** (का लक्षण)—

(**"जडता"** का लक्षण)—प्रिय और अप्रिय के (पुत्र के जन्म और मरणादि से) दर्शन और श्रवण से किंकर्तव्यविमूढ होना **"जडता"** कहलाता है । (अर्थात्—"चिन्तोत्कण्ठाभयविरहेष्टानिष्टदर्शनश्रवणादिजन्यावश्यकर्तव्यार्थप्रतिसंधानविकला चित्तवृत्ति र्जडता" इति निष्कर्षः) इस "जडता" के अन्दर निर्निमेष नेत्रों से देखना और मौन रहना इत्यादि (होते हैं) । (**"आदि"** पद से निष्पन्दतादि का ग्रहण होता है) ।

टिप्पणी—यह "जडता" कभी मोह से पूर्व और कभी बाद में होती है ।

अर्थ—("जडता" का उदाहरण) जैसे मेरे (अर्थात् ग्रन्थकारकृत) "कुवलयाश्व-चरित" प्राकृतकाव्य के अन्दर-**णवरिअ इति**—

(चिरकाल के अनन्तर परस्पर मिलते हुये नायक और नायिका की अवस्था को देखने वाली किसी सखी की उक्ति है अथवा चिरकाल से बिछुड़े हुये अकस्मात् मार्ग में एक दूसरे को देखते हुये दो मित्रों के मिलने की अवस्था का किसी के द्वारा यह वर्णन है) **णवरिअ इति**—(उस समय) वह युवक और युवती का जोड़ा केवल एक दूसरे के ऊपर डाली है अश्रु पूर्ण निर्निमेष दृष्टि जिन्होंने ऐसे चित्र लिखित की तरह आसङ्ग-रहित क्षणमात्र खड़े रहे ।

टिप्पणी—यहाँ पर एक दूसरे के प्रिय के दर्शन से क्षणभर के लिये किंकर्तव्य-विमूढ हो जाने के कारण "जडता" है ।

अथोग्रता—

शौर्यापराधादिभवं भवेच्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १४९ ॥

यथा—

'प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै-
र्ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः
पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः ॥'

अर्थ—(७) इसके बाद ("जडता" के लक्षणोपरान्त) "**उग्रता**" (का लक्षण)—("**उग्रता**" का लक्षण) शूरता और अपराधादि से उत्पन्न ("**आदि**" शब्द से दूसरे से किये हुये अपकारादि का ग्रहण होता है) अत्यन्त असहिष्णुता (तीक्ष्ण) "**उग्रता**" होती है। ("**उग्रता**" के अनुभावों को दिखाते हैं) उस उग्रता के अन्दर प्रस्वेद, शिरःकम्प, तर्जना (और) ताडनादि ("**आदि**" पद से नेत्रों की रक्तिमा आदि का ग्रहण होता है) (अनुभाव होते हैं)।

टिप्पणी–(१) भरतकृत लक्षण–चौर्यग्रहणनिरोधान्नृपापराधा-त्ततोऽग्रता भवति ।
वधबन्धताडनादिभिरनुभावैरभिनयस्तस्याः ॥इति॥

(२) अन्यत्र त्वेवम्—"नृपापराधसद्दोषकीर्तनं चोरधारणम् ।
विभावाः स्युरथो बन्धो वधस्ताडनभर्त्सने ॥
एते यत्रानुभावास्तदौग्र्यं निर्दयात्मकम् ॥

(३) संक्षेपतस्तु—अधिक्षेपापमानादिप्रभवा किमस्य करोमीत्याद्याकारा चित्तवृत्तिरुग्रता ।

अर्थ—("**उग्रता**" का उदाहरण) यथा–प्रणयीति—("मालतीमाधव" के अन्दर मालती के वध के लिये उद्यत अघोरघण्ट नामक कापालिक के प्रति माधव की यह उक्ति है) जिस (मालती) का शरीर प्रणयिनी सखियों के सविलास परिहास के अन्दर अनुराग से प्राप्त किये हुये सुन्दर शिरीष के पुष्पों के प्रहारों से भी दुःखित हो उठता था उस (मालती के) शरीर पर वध करने के लिये शस्त्र को उठाते हुये तुम्हारे (अघोरघण्ट के) सिर पर यह (उठी हुई मेरी) भुजा असमय में ही यमराज के दण्ड के समान गिरे।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर मालती के शरीर पर शस्त्र प्रहार करते हुये अघोरघण्ट के अपराध के कारण माधव की "उग्रता" ध्वनित होती है।

(२) उदाहरणान्तरं यथा—

"अवाच्यभङ्गं खलु सङ्गराङ्गणे नितान्तमङ्गाधिपतेरमङ्गलम् ।
परप्रभावं मम गाण्डिवं धनुर्विनिन्दतस्ते हृदयं न कम्पते ॥

कर्ण से पराजित गाण्डीव की निन्दा करते हुये युधिष्ठिर के प्रति अर्जुन की यह उक्ति है।

अथ मोहः—

मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः ।
मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥१५०॥

यथा— 'तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥'

अथ विबोधः—

निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः ।
जृम्भाङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलोककृत् ॥१५१॥

अर्थ—(८) इसके बाद ("**उग्रता**" के लक्षणोपरान्त) "**मोह**" (का लक्षण)—

("**मोह**" का लक्षण)—भय और दुःख के निरन्तर चिन्तन करने से **अथवा** भय, दुःख, उद्वेग (**और**) अत्यन्त चिन्ता के कारणों से मूर्च्छा, अज्ञान शरीर का भूमि पर गिरना, चक्कर आना (और) अदर्शन (अन्तर्धान होना अथवा ईषद्दर्शन) आदि को करने वाली (जो) विचित्तता (विषय से चित्त का पृथक् हो जाना अर्थात् ज्ञान का लोप हो जाना) है (वह) "**मोह**" कहाता है ।

टिप्पणी—(१) संक्षेपतस्तु–भीतिविप्रयोगादिसम्पादिता यथार्थवस्तुतत्वज्ञानानवबोधिनी मनोवृत्तिः मोहः ।

(२) "अवस्थान्तरशवलिता चित्तवृत्तिः मोहः" इति नव्याः ।

अर्थ—("**मोह**" का उदाहरण) **यथा–तीव्रेति**–(कालिदासकृत "कुमारसम्भव" के तीसरे सर्ग के ७३ वें श्लोक के अन्दर कामदेव के भस्म होने के उपरान्त रति की अवस्था का वर्णन है) तीव्र (अपने पति कामदेव के निधन के) शोक के **प्रभाव से** इन्द्रियों के ("पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों—इसप्रकार दस इन्द्रियों के) **व्यापार** को रोकते हुये मोह ने (मूर्च्छा ने) (इससे मोह की अज्ञानक्रियता सूचित **होती है**) नहीं अनुभव किया है अपने पति कामदेव की विपत्तिरूपी मरण को जिसने ऐसी रति को थोड़े समय के लिये (जब तक मूर्च्छा रही तब तक) मानों उपकृत सा कर **दिया** ।

टिप्पणी—(१) यहाँ रति का अपने पति के मरने के दुःख से उत्पन्न **अज्ञान** को पैदा करने वाला "मोह" है ।

(३) यथा वा—विरहेण विकलहृदया विलपन्ती दयितदयितेति ।
आगतमपि तं सविधे परिचयहीनेव वीक्षते बाला ॥

अर्थ—इसके बाद ("**मोह**" के लक्षण के अनन्तर) "**विबोध** (का लक्षण)—

("**विबोध**" का लक्षण) निद्रा को दूर करने के कारणों से उत्पन्न (संगीतादि) जँभाई, अङ्गड़ाई, आँखों का बन्द करना, अपने शरीर को देखने को करने **वाले ज्ञान की** प्राप्ति को "**विबोध**" (निद्रा के नाश के बाद उत्पन्न होनेवाला ज्ञान) (कहलाता) है ।

टिप्पणी—कुछ अविद्या के विनाश से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को "**विबोध**" स्वीकार करते हैं । उनके मत में उदाहरण होगा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

यथा—

'चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणा-
मशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥'

अथ स्वप्नः—

**स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः ।
कोपावेगभयग्लानिसुखदुःखादिकारकः ॥१५२॥**

यथा—

'मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेन ।

अर्थ—("विबोध" का उदाहरण) **यथा–चिरेति**—(माघकृत शिशुपालवध के ११ वें सर्ग के १३ वें श्लोक के अन्दर किया हुआ प्रभात वर्णन है) बाद में (पति के सो जाने के अनन्तर) सोकर भी पहले ही (पति के जागने से पूर्व) जगी हुई (इसप्रकार इन कामिनियों का पतिव्रतात्व सूचित किया है)। (प्रिय की निद्रा के भंग होने के कारण भय से) निश्चल शरीर वाली (जगकर भी जो अपने शरीर को इधर-उधर नहीं हिला रही हैं) (इससे कामिनियों की पति के प्रति अतीव अनुराग लक्षित होता है– **"सुप्ते स्वपिति" इति "सुप्ता न परिवर्तते "इति च अनुरागलक्षणे कथितत्वात्)** कामिनियाँ चिर रमण करने के परिश्रम के कारण निाद्र सुख को अनुभव करते हुये प्रिय पतियों के प्रगाढ भुज ग्रन्थि के आलिङ्गन को शिथिल नहीं करती। [अपितु आलिङ्गन करके ही लेटी हुई है अन्यथा उनके पतियों की निद्रा भंग हो जावे। **"शयानं न प्रबोधयेत्"** (याज्ञ० आचा० अ० १३८) के अनुसार जागती हुई भी भुजा को खींच लेने से प्रियों की निद्रा भंग न हो जावे इसलिये उनको आलिङ्गन करके ही लेटी रहीं]।

टिप्पणी—यहाँ पर कामिनियों का समय के नियमन से नेत्रों को खोलने वाला ज्ञान **"विबोध"** है।

अर्थ—(१०) इसके बाद ("विबोध" के लक्षणोपरान्त) **"स्वप्न"** (का लक्षण)–

(**"स्वप्न"** का लक्षण) निद्रा को (सोने के लिये शय्या का आश्रय लेना) प्राप्त हुये (मनुष्य का) जो सुने हुये या देखे हुये पदार्थों का पुनः प्रत्यक्ष की तरह अनुभव करना है (वह) **"स्वप्न"** (कहलाता है), (वह स्वप्न) क्रोध, आवेग, भय, ग्लानि और सुख-दुःखादि का करने वाला है। (**"आदि"** पद से शोकादि का ग्रहण करना चाहिये। अतः कोपावेगादि यहाँ "अनुभाव" हैं)।

(**"स्वप्न"** का उदाहरण) **यथा-मामिति**-(कालिदासकृत मेघदूत के अन्दर यक्ष की मेघ के प्रति अपनी प्रिया के पास भेजे हुये सन्देश का कथन है) स्वप्न ज्ञान के अन्दर अथवा स्वप्न के देखने के समय में मेरे द्वारा बड़े प्रयत्न पूर्वक देखी हुई तुम्हारे

पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ।।'

अथापस्मारः—

मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः ।
भूपातकम्पप्रस्वेदफेनलालादिकारकः ।।१५३।।

'आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ।।'

प्रगाढ आलिङ्गन के लिये आकाश में फैलाई हुई बाहुओं वाले मुझको देखती हुई वन-देवताओं के मुक्ता की तरह स्थूल नेत्र बिन्दु वृक्षों के अभिनव पत्तों पर अनेक बार नहीं गिरते हैं ऐसी बात नहीं है अर्थात् गिरते हैं। अर्थात् इसप्रकार की अवस्था वाले मुझको देखकर वनदेवता भी रुदन करते हैं।

टिप्पणी—(१) यहाँ यक्ष का आकाश के अन्दर भुजा को फैलाने के कारण प्रियतमा रूप विषय का अनुभव "स्वप्न" है।

(२) यहाँ पर "महात्मगुरुदेवानामश्रुपातः क्षितौ यदि ।
देशभ्रंशो महादुःखं मरणञ्च भवेद् ध्रुवम् ।। इसके अनुसार पृथिवी पर देवताओं के अश्रुपात का निषेध होने के कारण यक्ष की मृत्यु का अभाव बताने के लिये वृक्षों के पत्तों पर गिर रहे हैं. ऐसा कहा है।

अर्थ—(११) इसके बाद ("**स्वप्न**" के लक्षणोपरान्त) "**अपस्मार**" (का लक्षण)—("**अपस्मार**" का लक्षण) सूर्यादि ग्रहों के ("**आदि**" पद से भूतादिकों का ग्रहण होता है) आक्रमण आदि से ("**आदि**" पद से धातु वैषम्य का ग्रहण होता है) उत्पन्न चित्त का विकार "**अपस्मार**" (मृगी) (कहाता है)। इसके अन्दर भूमि पर गिरना, कम्पन, प्रकृष्ट स्वेद, झाग (और) लार आदि का उद्गम होता है। "**आदि**" पद से अचैतन्य का ग्रहण होता है)। (अतः इसके अन्दर भूमिपतनादि अनुभाव समझने चाहिये)।

टिप्पणी—अत्र भरतः-भूतपिशाच स्मरणग्रहणानुच्छिष्टशून्यगृहगमनात् ।
कालान्तरातिपातादशुचेश्चभवेद्दद्यपस्मारः ।
सहसा भूमौ पतनं प्रकम्पनं वदनफेनमोक्षश्च ।
निसंज्ञाभ्युत्थानं रूपाण्येतान्यपस्मारे ।।

अर्थ—("**अपस्मार**" का उदाहरण) **आश्लिष्टेति**—(शिशुपालवध के अन्दर ३य सर्ग के ७२ वें श्लोक के अन्दर समुद्र का वर्णन है) उन्होंने (श्रीकृष्ण जी ने) आलिङ्गन की है भूमि जिसने ऐसे (इससे भूमि पतन को सूचित किया है), उच्च-स्वर से शब्द करते हुये, चञ्चल भुजाओं के सदृश हैं विशाल तरंगे जिसकी ऐसे, फेन का उद्वमन करते हुये, नदियों के पति समुद्र को अपसमार रोग से ग्रस्त (मृगीयुक्त) समझा।

टिप्पणी—अर्थात् भूमि पतन, जोर से शब्द करना, भुजाकार तरंगों और फेनादि के कारण समुद्र अपस्मार से ग्रस्त रोगी पुरुष की तरह दिखाई दे रहा था। मृगी वाला मनुष्य भी पृथिवी पर गिरकर कुछ अव्यक्त शब्द करता हुआ हाथ-पैर पटकता है और उसका मुख झाग से युक्त होता है। इसीलिये यहाँ "**अपस्मार**" ध्वनित होता है।

अथ गर्वः—

गर्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कुलतादिजः ।
अवज्ञासविलासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत् ॥१५४॥

तत्र शौर्यगर्वो यथा—

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः ।
यद्वा न सिद्धमस्त्रेण मम तत्केन साध्यताम् ॥'

अथ मरणम्—

शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत् ।

अर्थ—(१२) इसके बाद (''**अपस्मार**'' के लक्षणोपरान्त) ''**गर्व**'' (का लक्षण)-(''**गर्व**'' का लक्षण) प्रभाव (कोश, दण्ड आदि से उत्पन्न प्रताप), सम्पत्ति, विद्या (आन्वीक्षिकी आदि विद्याओं का ज्ञान), (तथा) कुलीनतादि से उत्पन्न (''**आदि**'' पद से सौन्दर्यादि का ग्रहण होता है) अहंकार (चित्त का विकार विशेष) ''**गर्व**'' (कहाता है) (और वह गर्व) अवज्ञा (लोगों के प्रति हेय बुद्धि) विलास रहित अङ्गों का देखना (तथा) अविनयादि का (अशिष्ट व्यवहारादिकों का) करने वाला होता हैं।

टिप्पणी—(१) भरतोऽपि—''विद्यायौवनरूपादैश्वर्यादथ धनागमाद्वापि ।
गर्वः खलु नीचानां दृष्ट्यङ्गविचारणैः कार्यः'' इति ।

(२) ''औद्धत्यसदृशावज्ञासहेलालोकनादिकृत् । प्रभावादिजन्यो मदो गर्वः'' इति ।

अर्थ—''**शौर्यगर्व**'' (का उदाहरण) यथा-धृतायुध इति-(वेणीसंहार के अन्दर कर्ण की ''अश्वत्थामा'' के प्रति यह उक्ति है) जब तक मैं शस्त्र को धारण करने वाला हूँ तब तक दूसरों के (मेरे द्वारा गृहीत आयुधों से भिन्न) शस्त्रों से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ भी नहीं (दूसरों का शस्त्रधारण करना व्यर्थ है)। जो कार्य मेरे शस्त्र से सिद्ध नहीं होता है वह (कार्य) किससे सिद्ध हो सकता है ? (यह बतलाओ) अर्थात् किसी से सिद्ध नहीं हो सकता है ।

टिप्पणी—यहाँ शौर्य से उत्पन्न आत्मश्लाघाकारी अहंकार ''गर्व'' है ।

अर्थ—(१३) इसके बाद (''गर्व'' के लक्षण के उपरान्त) ''**मरण**', (का लक्षण)—(''**मरण**'' का लक्षण) शस्त्र-प्रहारादि से (यहाँ ''**आदि**'' पद से रोग, शोक, सन्तापादि का ग्रहण होता है) (उत्पन्न) शरीर का भूमिपतन और रक्तपातादि करने वाला जीवन का त्याग (गौणरूप से उस समय की अवस्था, उससे पूर्व की अवस्था नहीं) ''**मरण**'' (कहलाता है) ।

टिप्पणी— (१) **भरतोऽपि**—''व्याधीनामेकभावो हि मरणाभिनयः स्मृतः ।
विषण्णगात्रैर्निश्चेष्टैरिन्द्रियैश्च विवर्जितः ॥

(२) उक्त रूप ''मरण'' व्यभिचारीभाव नहीं हो सकता है किन्तु केवल मरणमात्र का कथन करना ही व्यभिचारीभाव है। ''**रामगन्स्थेत्यादिकम्**''—मरणमात्र का ही उदाहरण है। व्यभिचारीभावरूप मरण का तो मरणप्राय के रूप में वर्णन करना चाहिये, ''**मरण**'' इस रूप में वर्णन नहीं करना चाहिये क्योंकि ''मृत्यु'' अपने आप में व्यभिचारी भाव नहीं हो सकती है ।

यथा—

'राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ।।'

अथालस्यम्—

अर्थ—("**मरण**" का उदाहरण) यथा—रामेति—(रघुवंश के अन्दर ताडका के वध का वर्णन है) दुःसह (सहने में असमर्थ) राम रूपी कामदेव **अन्यत्र** सुन्दर (रामः) कामदेव के बाण से हृदय में **अन्यत्र** मन में मारी हुई **अन्यत्र** विद्ध (अतएव) दुर्गन्ध से युक्त (गन्धवत्) रुधिर रूपी चन्दन से लिप्त **अन्यत्र** सुगन्धित कुङ्कुम (रुधिर) और चन्दन से लिप्त वह (विख्यात) राक्षसी ताडका **अन्यत्र** अभिसारिका नायिका (**निशासु चरतीति निशाचरी**) यम के **अन्यत्र** प्रिय नायक के वासस्थान पर चली गई ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर शराघात से ताडका का मरण स्पष्ट ही है ।

(२) **अत्राहुः प्रदीपकाराः**—जीवस्योद्गमनारम्भो मरणं परिकीर्तितम् ।
संमोहेन्द्रियसंग्लानि गात्रविक्षेपणादिकृत् ।।

(३) **रसगङ्गाधरोऽपि—"रोगादिजन्या मूर्च्छारूप मरणप्रागवस्था मरणम्"** । "रसगंगाधर" के अनुसार रोगादि से उत्पन्न मूर्च्छा रूप मरण से पहली अवस्था का नाम "**मरण**" है । यहाँ पर प्राणों से वियोग कराने वाले मुख्य मरण का ग्रहण करना ठीक नहीं है क्योंकि वह "मरण" चित्तवृत्ति वाले भावों के अन्दर गृहीत नहीं हो सकता है । और सभी भावों के अन्दर कार्य के सहवर्ति होने के कारण शरीर और प्राणों के संयोग की कारणता आवश्यक है, जो कि "मरण" के साथ नहीं हो सकती हैं । इसका उदाहरण—

"दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती शयने सम्प्रती या विलोकितासीत् ।
अधुना खलु हन्त सा कृशाङ्गी गिरमङ्गीकुरुते न भाषिताऽपि ।।

यहाँ पर प्रिय का विरह "विभाव" है, कुछ न बोलना "अनुभाव" है, हन्त ! पद यहाँ पर अतिशय उपकारक होने के कारण वाक्य व्यंग्य है । "**दयितस्य गुणान् अनुस्मरन्ती**" इससे व्यज्यमान चरमावस्था के अन्दर उसका "पति के गुणों का न भूलना' विप्रलम्भ शृंगार का अथवा शोक की चरमावस्था का पोतक है । कहने का आशय यह हैं कि अपने व्यंजक वाक्य के उत्तरवर्ती अन्य वाक्य के साथ सन्दर्भ होने के कारण नायिकादि के पुनः प्रत्युज्जीवन के वर्णन में विप्रलम्भ शृंगार का अन्यथा करुण रस का पोषण है । प्रायः कविजन इसका अमंगलजनक होने के कारण प्राधान्यरूप से वर्णन नहीं करते हैं ।

अर्थ—इसके बाद ("**मरण**" के लक्षणोपरान्त) "आलस्य" (का लक्षण)—

आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भासितादिकृत् ॥१५५॥

यथा—

'न तथा भूषयत्यङ्गं न तथा भाषते सखीम्।
जृम्भते मुहुरासीना बाला गर्भभरालसा ॥'

अथामर्षः—

निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता।
नेत्ररागशिरःकम्पभ्रूभङ्गोत्तर्जनादिकृत् ॥१५६॥

अर्थ—("**आलस्य**" का लक्षण) श्रान्ति (मार्ग चलने आदि से उत्पन्न थकावट) और गर्भादि से ("**आदि**" पद से प्रचुर भोजन और रात्रि जागरण आदि का ग्रहण होता है) उत्पन्न जंभाई, और बैठा रहना आदि को करने वाली ("**आदि**" पद से सोने आदि का ग्रहण होता है) शरीर की जडता (चलने में अनुत्साह, कर्म विमुखता) "**आलस्य**" (कहाता है)।

टिप्पणी—(१) अर्थात् "**अतितृप्तिगर्भव्याधिश्रमादिजन्या चेतसः क्रियानुन्मुखतालस्यम्**" इति।

(२) **आलस्य का ग्लानि और जडता सेभेद**—आलस्य के अन्दर न असामर्थ्य का अभाव है, और न कार्य और अकार्य की शून्यता है। इसलिये कार्य कारण रूप अनुभाव के समान होने पर भी इसका ग्लानि और जडता से भेद है। इति नव्याः।

अर्थ—("**आलस्य**" का उदाहरण) **यथा—न तथेति**—कामिनी गर्भ के भार से आलस्य युक्त (अपने) शरीर को न तो पहले की तरह अलंकृत करती है (और) नहीं पहले की तरह सखियों से बात करती है। केवल बैठी हुई बार बार जंभाई लेती है।

टिप्पणी—यहाँ पर गर्भ का भार आलम्बन विभाव वाला, आसन्न प्रसव वेदना का स्मरण उद्दीपन विभाव वाला, और मन्थर गमनादि अनुभाव वाला 'आलस्य' नामक संचारीभाव है।

अर्थ—(१५)–इसके वाद ("**आलस्य**" के लक्षणोपरान्त) "**अमर्ष**" (का लक्षण)–

अर्थ—("**अमर्ष**" का लक्षण) निन्दा (शान्तभाव से दोषों को निकालना), आक्षेप (उग्रभाव से भर्त्सना), (और) अपमान (गौरव की हानि करना) आदि से (उत्पन्न) ("**आदि**" पद से वित्त, क्षेत्र, कलत्रादि के हरण का ग्रहण होता है), नेत्रों की लालिमा, शिरःकम्पन, भ्रूभंग (और) तर्जनादि करने वाला ("**आदि**" पद से प्रतिज्ञा और मारना आदि का ग्रहण होता है) अत्यन्त आग्रह (अभिनिवेश) "**अमर्ष**" (माना गया है)।

यथा—

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥

अथ निद्रा—

चेतःसंमीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा ।
जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रभङ्गादिकारणम् ॥१५७॥

यथा—

'सार्थकानर्थकपदं ब्रुवती मन्थराक्षरम् ।
निद्रार्धमीलिताक्षी सा लिखितेवास्ति मे हृदि ॥'

अर्थ—("**अमर्ष**" का उदाहरण) **यथा—प्रायश्चित्तमिति**—(महावीरचरित के अन्दर वशिष्ठ आदिकों के प्रति परशुराम की यह उक्ति है) आदरणीय आपकी (वशिष्ठ, शतानन्द और विश्वामित्रादिकों की) (शस्त्र त्यागने के उपदेश रूप वचन के) आज्ञाभंग के कारण प्रायश्चित्त कर लूंगा (जिससे पूज्य पूजा व्यतिक्रम से उत्पन्न पाप नष्ट हो जाये) किन्तु इसप्रकार (आप के अनुरोध से) शस्त्र को ग्रहण करने रूप महाव्रत को (शत्रुओं को निर्बीज करने के लिये आरम्भ किये गये इस शस्त्र-ग्रहण रूप महाव्रत को) दूषित न करूंगा ।

टिप्पणी—(१) आप पूज्यजन मुझको शस्त्र-ग्रहण करने से रोक रहे हैं परन्तु मैं आपके इस अनुरोध को न मानकर इस समय शस्त्र-धारण करके शत्रु को नष्ट कर दूंगा और पश्चात् इस पूज्य पूजा व्यतिक्रमजन्य पाप का प्रायश्चित्त कर लूंगा । यह आशय है ।

(२) यहाँ पर रामचन्द्र जी द्वारा शिव जी के धनुष के भङ्ग कर देने से और परशुराम जी के गुरु का अपमान होने से रामचन्द्र जी के प्रति परशुराम का इस प्रकार का प्रतिकार करने वाला "अमर्ष" है ।

अर्थ—(१८)–इसके बाद ("**अमर्ष**" के लक्षण के उपरान्त) '**निद्रा**" (का लक्षण)–

("**निद्रा**" का लक्षण)—परिश्रम, क्लान्ति (मानसिक खेद) मद (शरावादि के पीने से उत्पन्न विकार) आदि से ("**आदि**" पद से भेषजादि का भक्षण गृहीत होता है) उत्पन्न जँभाई, आँखों को बन्द करना, दीर्घ निःश्वास, अङ्गडाई आदि का कारण ("**आदि**" पद से शयनादि का ग्रहण होता है), चित्त की निश्चलता "**निद्रा**" (कहलाती है)—

("**निद्रा**" का उदाहरण) **यथ–सार्थकेति**—(अपने मित्र के प्रति किसी नायक की उक्ति है) वह (मेरी प्रिया) नींद के कारण आधी बन्द हैं आँखे जिसकी ऐसी (अतएव) सार्थक और निरर्थक हैं पद जिसमें ऐसे असम्पूर्ण अक्षरों को कहती हुई मेरे हृदय में चित्रित सी है ।

टिप्पणी—यहाँ पर सम्भाव्यमान सुरत के श्रम से उत्पन्न नेत्रों को निमीलन करने वाली नायिका की "निद्रा" है ।

अथावहित्था—

भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था ।
व्यापारान्तरसक्त्यन्यथावभाषणविलोकनादिकरी ॥१५८॥

यथा—

'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥'

अर्थ—(१७)—इसके बाद ("निद्रा" के लक्षणानन्तर) "**अवहित्था**" (का लक्षण)—

("**अवहित्था**" का लक्षण) भय, गौरव, लज्जा आदि से उत्पन्न ("**आदि**" पद से धृष्टता आदि का ग्रहण होता है) किसी अन्य कार्य के प्रति आसक्ति, प्रसङ्ग शून्य बात को कहना, और (दूसरी तरफ) देखने आदि को करने वाला ("**आदि**" पद से हट जानादि क्रिया का ग्रहण होता है) हर्ष आदि आकारों को (उस उस भाव के सूचक विकारों को) छिपाना "**अवहित्था**" (कहलाता है)। ("**अवहिः स्थितिरवहित्था**" इति) [**तथा च**—"**व्रीडादिभिर्निमित्तैर्हर्षाद्यनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषोऽवहित्था**" इति]

टिप्पणी—तदुक्तम्—अनुभावपिधानार्थोऽवहित्थं भाव उच्यते ।
तद्विभाव्यं भयव्रीडाधाष्ट्र्यकौटिल्यगौरवैः ॥ इति ।

अर्थ—("अवहित्था" का उदाहरण) यथा—एवंवादिनीति—(कुमारसम्भव के षष्ठ सर्ग का ८४ वाँ श्लोक है। इसके अन्दर नारद और हिमालय की पार्वती की शादी के विषय में चल रही वार्ता के समय समीप स्थित पार्वती की क्रिया का वर्णन है)। देवर्षि नारद के इसप्रकार कहने पर (अर्थात् शिवजी के साथ पार्वती के परिणय विषयक बात कहने पर) पास में (स्थित) पार्वती नीचे मुख करके खड़ी हुई खेलने के लिये हाथ में रखे हुये कमल के पत्तों को गिनने लगी। (अर्थात् लज्जा के कारण कमल के पत्तों को गिनने के बहाने से अपने हर्ष को छिपा लिया)।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर अपने परिणय विषयक बातचीत को सुनने से मुखादि के विकार रूप हर्ष के आकार को लज्जा के कारण कमलपत्र को गिनने के बहाने से छिपाने से पार्वती का यह "अवहित्था" भाव है।

(२) इसीप्रकार महावीरचरित के अन्दर रावण का मन्दोदरी के पास भय को धृष्टता से छिपाना तथा नैषधीयचरित में नल का सभा के अन्दर दमयन्ती विषयक स्नेह का मूर्च्छादि के व्याज से छिपाना "अवहित्था" है।

(३) तदुक्तम्—"अवहित्था तु लज्जादेर्हर्षादाकारगोपनम्" ॥इति॥

अथौत्सुक्यम्—

इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता ।
चित्ततापत्वरास्वेददीर्घनिःश्वसितादिकृत् ।। १५९ ।।

यथा—

'यः कौमारहरः स एव हि वरः—' इत्यादि (१२ पृ०) ।

अत्र यत् काव्यप्रकाशकारेण रसस्य प्राधान्यमित्युक्तं तद्रसनधर्मयोगित्वाद्व्यभिचारिभावस्यापि रसशब्दवाच्यत्वेन गतार्थं मन्तव्यम् ।

अर्थ—(१८) —इसके बाद (''**अवहित्था**'' के लक्षणोपरान्त) ''**औत्सुक्य**'' (का लक्षण)—

(''**औत्सुक्य**'' का लक्षण)—अभिलषित पदार्थ की, **अथवा प्रिय संगम की** अप्राप्ति से (उत्पन्न) मानसिक ताप, शीघ्रता, प्रस्वेद, दीर्घनिःश्वास आदि **को करने** वाली, समय के विलम्ब की असहनशीलता ''**औत्सुक्य**'' (कहलाती है)। **अर्थात् इसी** समय मुझे अपनी प्रिय वस्तु की प्राप्ति हो जावे, यह इच्छा ''औत्सुक्य'' है। **इसके** अन्दर इष्ट का वियोग विभाव है, निद्रातन्द्रादि अनुभाव हैं।

(''औत्सुक्य'' का उदाहरण) जैसे—''**यः कौमार हर इति**'' **इत्यादि** ।

टिप्पणी—(१) इस पद्य की व्याख्या ''काव्यनिरूपण'' प्रकरण में (पृष्ठ १२) की जा चुकी है।

(२) यहाँ पर प्रतिपादित नायिका का रेवा के तट पर वेतस के वृक्ष के नीचे अभीष्ट विहार के पुनः प्राप्त न होने के कारण ''औत्सुक्य'' है।

अर्थ—शंका—इसी पद्य का उदाहरण देकर **काव्यप्रकाशकार आचार्य** मम्मट ने ''**अत्र रसस्य च प्राधान्यात्**'' ऐसा कहकर रस की प्रधानता स्वीकार की है अर्थात् उन्होंने इस पद्य के अन्दर रस का प्राधान्य माना है और यहाँ पर **उदाहरण** दिखाते हुये आपने (ग्रन्थकार ने) ''औत्सुक्य'' नामक व्यभिचारीभाव का प्राधान्य **माना** है। अतः ''**यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमिति**'' न्याय से आप्ततर के साथ विरोध उचित नहीं है। अर्थात् मम्मट के इसी श्लोक के अन्दर रस प्राधान्य मानने पर और यहाँ पर इसी के अन्दर ''व्यभिचारीभाव'' मान लेने पर दोनों के अन्दर विरोध आता है। यह विरोध करना ठीक नहीं है।

उत्तर—अत्र यदिति—इस उदाहरण के अन्दर ''काव्यप्रकाशकार'' ने जो ''रस की प्रधानता'' कही है वह रसनीय धर्म का आस्वादनाख्य व्यापार के साथ योग होने के कारण व्यभिचारीभाव का भी (व्यभिचारीभाव रूप औत्सुक्य का) ''रस'' शब्द से वाच्य होने के कारण गतार्थ समझना चाहिये। इसप्रकार अनुभाव से अपुष्ट **और** चमत्कार शून्य होने के कारण स्थायीभाव वाले रस की प्रधानता उन्होंने **(आचार्य** मम्मट ने) स्वीकार नहीं की है अपितु इसके अन्दर विद्यमान ''औत्सुक्य रूप **व्यभि-चारीभाव** का भी आस्वाद की योग्यता से रस रूप होने कारण ''**रसस्य च प्राधान्यात्**'' ऐसा कहकर उसप्रकार के रस की ही प्रधानता स्वीकार की है, अतः कुछ विरोध नहीं है।

अथोन्मादः—

चित्तसंमोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः ।
अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत् ॥ १६० ॥

यथा मम—

'भ्रातर्द्विरेफ ! भवता भ्रमता समन्तात्
प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम् ?
(झंकारमनुभूय सानन्दम् ।)
ब्रूषे किमोमिति सखे ! कथयाशु तन्मे
किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदृशीयम् ॥'

अर्थ—(१९)—इसके बाद ("**औत्सुक्य**" के लक्षणोपरान्त) "**उन्माद**" (का लक्षण)—

("**उन्माद**" का लक्षण)—काम, शोक (और) भयादि से ("**आदि**" पद से वात, पित्त आदि का ग्रहण होता है) (उत्पन्न) असमय में हँसी, रुदन, गान (और) प्रलाप आदि करने वाला ("**आदि**" पद से असम्बद्ध भाषणादि का ग्रहण होता है) चित्त का व्यामोह (चेतन और अचेतन के विशिष्ट ज्ञान को उत्पन्न करने की अक्षमता) "**उन्माद**" (कहाता है)।

टिप्पणी—इसका "व्याधि" के अन्दर अन्तर्भाव हो भी सकता था परन्तु इसकी व्याधि से वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने के लिये ही पृथक् कथन किया है।

अर्थ—("उन्माद" का उदाहरण) जैसे मेरा (ग्रन्थकार का निर्मित पद्य)—**भ्रातरिति**—(भ्रमर को सम्बोधित करके विरहोन्मत्त किसी नायक की उक्ति है) (हे) भाई भ्रमर ! चारों ओर (चारों दिशाओं में) भ्रमण करते हुये आपने मेरी प्राणों से भी अधिक प्रियतमा क्या देखी है ? (भ्रमर की) मधुर झंकार को स्वीकार करने के रूप में निश्चय करके (अनुभूय) आनन्द के साथ (यह कवि प्रयुक्त पूर्णांक है) (हे) सखे ! क्या कहते हो ? "ओम्" (हाँ) इसप्रकार (कहते हो) (अर्थात् क्या मैंने देखी है—यह कह रहे हो) तो शीघ्र मुझे बताओ, (यह) क्या-क्या कर रही है, कहाँ है और किस अवस्था में है।

टिप्पणी—(१) यहाँ भ्रमर के प्रत्युत्तर देने में असमर्थ होने से विशेष निर्धारण की असमर्थता के कारण वक्ता नायक का कामजनित "उन्माद" है।

(२) **यथा वा**—"हंस ! प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते"

अथवा—

"का त्वं चिकीर्षसि च किं मुनिवर्य ! शैले मायासि काऽपि भगवत्पर-देवतायाः ।
विज्ये बिभर्षि धनुषी सुहृदात्मनोऽर्थे किं वा मृगान् मृगयसे विपिने प्रमत्तान्" ॥

अथ शङ्काः—

परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शङ्काऽनर्थस्य तर्कणम् ।
वैवर्ण्यकम्पवैस्वर्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत् ।।१६१।।

यथा मम—

'प्राणेशेन प्रहितनखरेष्वङ्गकेषु क्षपान्ते
जातातङ्का रचयति चिरं चन्दनालेपनानि ।
धत्ते लाक्षामसकृदधरे दत्तदन्तावघाते
क्षामाङ्गीयं चकितमभितश्चक्षुषी विक्षिपन्ती ।।'

अर्थ—(२०)—इसके बाद ("उन्माद" के लक्षणोपरान्त) **"शंका"** (का लक्षण)—

("**शंका**" का लक्षण)—दूसरे की क्रूरता तथा अपने दोषादिकों से (उत्पन्न) ("**आदि**" पद से दुर्दैव से उत्पन्न उत्पातादि का ग्रहण होता है) विवर्णता, कम्पन, स्वरभङ्ग, इधर-उधर देखना और मुख को सुखाने वाली अनर्थ की सम्भावना **"शंका"** (कहलाती है)।

टिप्पणी—(१) **अत्र भरतोऽपि**—चौर्यादिजनिता शङ्का प्रायः कार्या भयानके ।
प्रियव्यलीकजनिता तथा शृङ्गारिणी मता ॥ इति ॥

(२) किमनिष्टं मम भविष्यतीत्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः शंका । इति ।

(३) शंका और चिन्ता में भेद-यह (शंका) भय आदि को उत्पन्न करने से कम्पन आदि को करने वाली होती है, चिन्ता नहीं । यही भेद है ।

अर्थ—("**शंका**" का उदाहरण) जैसे मेरा (ग्रन्थकार का निर्मित पद्य) **प्राणेशेनेति**—यह (पुरोदृश्यमान) कृशाङ्गी प्राणनाथ पति के द्वारा किये गये नखाघात वाले शरीरावयवों पर (स्तनादि पर) उत्पन्न हो गई है शंका (सखी आदि के उपहास रूप शंका) जिसको ऐसी रात्रि के अवसान पर (अर्थात् प्रातःकाल) चारों ओर चकित नयनों को पौनःपुन्येन डालती हुई चिरकाल तक (नखचिह्नों के गोपन के लिये) चन्दन के लेप को कर रही है (तथा) किया है दन्तक्षत जिस पर ऐसे अधर पर लाक्षा को रख रही है । [आशय यह है कि यदि मेरी सखियाँ या अन्य कोई मेरे इन अङ्गों को क्षत देख लेगा तो उनके पूछने पर मैं क्या उत्तर दूंगी ? उस समय उन सब के सामने मेरा रहस्य खुल जायेगा । अतः एकान्त में होकर बाहर निकलने से पूर्व उसको छिपाने के लिये यही सब कुछ किया समझना चाहिये ।]

टिप्पणी—यहाँ सखि आदि के उपहास रूप अनर्थ सम्भावना से सम्भोग के चिह्नों को छिपाने मैं ही विश्रान्ति है । अतः यहाँ "**शंका**" का ही प्राधान्य है । यहाँ पर उपहासादि का कारण नखक्षतादि ही उसका "आत्मदोष" समझना चाहिये ।

अथ स्मृतिः—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नयनादिकृत् ।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ।।१६२।।

यथा मम—

'मयि सकपटं किंचित्क्वापि प्रणीतविलोचने
किमपि नयनं प्राप्ते तिर्यग्विजृम्भिततारकम् ।
स्मितमुपगतामालीं दृष्ट्वा सलज्जमवाञ्चितं
कुवलयदृशः स्मेरं स्मेरं स्मरामि तदाननम् ।।'

अर्थ—(२१)—इसके बाद ("शंका" के लक्षणोपरान्त) "स्मृति" (का लक्षण)—

("स्मृति" का लक्षण)—समान वस्तु के ज्ञान के चिन्तनादि से (चिन्ता-भावनाख्य संस्कार । "आदि" पद से सम्बन्धि ज्ञानादि का ग्रहण होता है) (उत्पन्न) भ्रूकुटि समुन्नयनादि करने वाला ("आदि" पद से मुखभंगिमादि का ग्रहण होता है) पहले अनुभव किये हुये पदार्थ के (रूप, रसादिरूप) विषय का ज्ञान "स्मृति" कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) **अत्र च भरतः**—"स्मृतिर्नाम सुखदुःखकृतानां भावानामनुस्मरणं स्वास्थ्यजघन्यरात्रिनिद्राच्छेदसमानदर्शनोदाहरणचिन्ताभ्यासादिभिरुत्पद्यते । तत्र शिरःकम्पनावलोकनभ्रूसमुन्नयनप्रहर्षादय अनुभावाः" इति ।

(२) समान ज्ञानादि का ज्ञान संस्कार के उद्बोधन द्वारा होता है । अतः संस्कार की स्मृति के प्रति साक्षात् कारणता है ।

अर्थ—("स्मृति" का उदारण) जैसे मेरा (ग्रन्थकार द्वारा निर्मित पद्य) **मयीति**—(प्रोषित किसी नायक की अपने मित्र के प्रति यह उक्ति है) कपट के साथ किसी पर भी (अज्ञातानुराग कामिनी पर अथवा अज्ञात पदार्थ पर) ईषत् मेरे नेत्रों के डालने पर कुछ (कामिनीजन के अधरपान के लिये अनुज्ञा सूचक सूक्ष्म दृष्टिपात रूप वस्तु) कुटिल व्यवस्थापित की है कनीनिका जिसकी ऐसे नयनों के मेरे दृष्टिपथ होने पर (वहाँ पर स्थित) हंसती हुई सखी को देखकर (उस सम्पूर्ण चेष्टा को देखती हुई सखी को) लज्जा के साथ झुके हुये नील-कमलनयनी के पौनःपुन्येन हासयुक्त मुख को याद करता हूँ ।

टिप्पणी—यहाँ नायक के भावावेश के साथ पूर्वानुभूत नायिका के मुख का स्मरण करने से "स्मृति" संचारीभाव है ।

अथ मतिः—

नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः ।
स्मेरता धृतिसंतोषौ बहुमानश्च तद्भवाः ॥१६३॥

यथा—

'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥'

अथ व्याधिः—

व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत् ।

अर्थ—(२२) अथ मतिः— इसके बाद ("स्मृति" के लक्षणोपरान्त) **"मति"** (का लक्षण)—

("**मति**" का लक्षण) नीतिशास्त्र के अनुसरणादि के कारण से [**"आदि"** पद से अनुमानादि का ग्रहण होता है) पदार्थ का निर्णय **"मति"** (कहलाता है) [अर्थात् निगम और आगम की समालोचना से उत्पन्न तात्पर्य का निर्णय "मति" कहलाता है] ईषद् हास्य, धैर्य, सन्तोष और सत्कार (बहुमान) उससे (मति से) उत्पन्न होने वाले हैं।

("**मति** का उदाहरण) **असंशयमिति**–(यह "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" के प्रथम सर्ग का बीसवाँ श्लोक है। यहाँ शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त का अनुमान है) निःसन्देह (यह शकुन्तला) क्षत्रिय के द्वारा पत्नीत्वेन स्वीकार करने के योग्य है अर्थात् क्षत्रिय के विवाह के योग्य है। क्योंकि निर्दोष (आर्य) मेरा (विद्या-विनयादि गुणों से युक्त) मन इस शकुन्तला के विषय में (अज्ञात वंश वाली अथवा संशयित वंश वाली) अभिलाषी है क्योंकि सन्दिग्ध विषयों में सज्जनों की (जिन्होंने कभी भी पाप कर्म नहीं किये हैं उनकी) अन्तःकरण की (संकल्पादि) प्रवृत्तियाँ प्रमाण (होती हैं)।

टिप्पणी—(१) यहाँ दुष्यन्त के अनुमान से शकुन्तला का क्षत्रिय जाति के विवाह के योग्य होने का निश्चय होने के कारण "मति" है।

(२) **यद्यपि**—"**या विशेष्येषु दृश्यन्ते लिङ्गसंख्याविभक्तयः ।**
प्रायस्ता एव कर्त्तव्याः समानार्थे विशेषणे ॥" इसके अनुसार "**अन्तःकरणप्रवृत्तयः**" यह बहुवचन है और "**प्रमाणम्**" यहाँ एक वचन का प्रयोग किया गया है। परन्तु तथापि "**वेदाः प्रमाणम्**" इसकी तरह इसका भी समाधान कर लेना चाहिये।

अर्थ—(२३) **अथ व्याधिः**—इसके बाद ("मति" के लक्षणोपरान्त) **"व्याधि"** (का लक्षण)—

("**व्याधि**" का लक्षण) वात, पित्त, और कफ के प्रकोप से (उत्पन्न) भूमि पर शयन की इच्छा, (और) कम्पनादि करने वाला ("**आदि**" पद से श्वसित, प्रलपन, गात्र-विक्षेपण और तृषादिक का ग्रहण होता है) ज्वरादि (रोग) "**व्याधि**" (कहलाता है)। [अर्थात् रोग और विरह आदि से उत्पन्न मनस्ताप "व्याधि" कहलाता है। इसके अन्दर प्रिय का विरह, वात, पित्त और कफ का प्रकोप विभाव होते हैं, शरीर की शिथिलता और प्रश्वास की उत्पत्ति अनुभाव होते हैं।]।

तत्र दाहमयत्वे भूमीच्छादयः । शैत्यमयत्वे उत्कम्पनादयः । स्पष्टमुदाहरणम् ।

अथ त्रासः—

निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासः कम्पादिकारकः ॥१६४॥

यथा—

'परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः ।
उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवाः सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ॥'

अथ व्रीडा—

धाष्टर्याभावो व्रीडा वदनानमनादिकृद् दुराचारात् ।

यथा— 'मयि सकपटम्—' इत्यादि ।

अर्थ—("व्याधि" के कार्य को दिखाते हैं)—**तत्रेति**—उस व्याधि में दाह प्रचुरता होने पर भूमि पर शयन की इच्छा आदि होती है । शीत की प्रधानता होने पर **कम्पन** आदि होते हैं । उदाहरण स्पष्ट ही हैं ।

(२४)**अथ त्रासः**–इसके बाद ("**व्याधि**" के लक्षणोपरान्त) "**त्रास**" (का लक्षण)—

("**त्रास**" का लक्षण) वज्रनिर्घोष (निर्घात), विद्युत् (तथा) उल्कादिकों से (**उत्पन्न**) (आकाशगामी ज्योतिस्वरूप अग्निमान् पदार्थ विशेष) कम्प आदि को करने वाला ("**आदि**" पद से मूर्च्छादि का ग्रहण होता है) (भय ही) "**त्रास**" होता है ।

टिप्पणी—इसके रोमाञ्च, कम्प, स्तम्भ और भ्रम (चक्कर) आदि अनुभाव होते हैं ।

(२) यह त्रास भय से अलग होता है ! तदुक्तम्—

"**पूर्वापरविचारोत्थं भयं त्रासात्पृथग्भवेत्**" **इति** ।

अर्थ—("**त्रास**" का उदाहरण) **यथा-परिस्फुरदिति**–(भारविकृत किरातार्जुनीय के अन्दर जलक्रीड़ा का वर्णन है) (जलविहार के समय चारों ओर घूमती हुई मछलियों से टकरा गई हैं जङ्घायें जिनकी ऐसी, (अतएव) भय के कारण चञ्चल हैं दृष्टि जिनकी ऐसी, (तथा) कम्पित हैं करपल्लव जिनके ऐसी अप्सरायें (अपनी) सखियों की भी (प्रियजनों का तो कहना ही क्या है) (कौतुक से) दर्शनीयता को प्राप्त हुईं ।

टिप्पणी—यहाँ देवाङ्गनाओं का मछलियों से टकरा जाने से हाथ को कँपाने वाला "त्रास" है ।

अर्थ (२५)—**अथ व्रीडा**–इसके बाद ("**त्रास**" के लक्षणोपरान्त) "**व्रीडा**" (का लक्षण)—

("**व्रीडा**" का लक्षण) निकृष्ट आचार-व्यवहार से (उत्पन्न) (सहसा अपने कुच, नितम्ब आदि के प्रकाशन रूप दुष्टाचरण से अथवा किसी व्याज से किसी दूसरे के देखने रूप दुराचार से) मुख को नीचा कराने वाला निर्लज्जता का अभाव (सङ्कुचित होना) "**व्रीडा**" (कहलाता है) ।

("**व्रीडा**" का उदाहरण) **यथा"–मयि सकपटमिति**" इत्यादि (इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है) ।

टिप्पणी—यहाँ नायक को देखने से नायिका के मुख को नीचे करने वाली "व्रीडा" है ।

अथ हर्षः—

हर्षस्त्विष्टाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः ॥१६५॥

यथा—

'समीक्ष्य पुत्रस्य चिरात्पिता मुखं निधानकुम्भस्य यथैव दुर्गतः ।
मुदा शरीरे प्रबभूव नात्मनः पयोधिरिन्दूदयमूर्च्छितो यथा ॥'

अथाऽसूया—

असूयान्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ।
दोषोद्घोषभ्रूविभेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादिकृत् ॥१६६॥

अर्थ—(२६) अथ हर्षः—इसके बाद ("व्रीडा" के लक्षणोपरान्त) "हर्ष" का लक्षण)—

("हर्ष" का लक्षण) इष्ट वस्तु की प्राप्ति से आनन्दाश्रु और गद्गद्स्वरादि को करने वाला ("आदि" पद से हासादि का ग्रहण होता है) मन की प्रसन्नता "हर्ष" (कही जाती है)। (अर्थात् **"इष्टप्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्ष" इति ।**)

("हर्ष" का उदाहरण) **यथा–समीक्ष्येति**–(रघुवंश के तीसरे सर्ग के अन्दर रघु के मुख को देखकर दिलीप की प्रसन्नता का वर्णन है) निर्धन मनुष्य जिसप्रकार धन से परिपूर्ण घड़े को देखने से प्रसन्न होता है (उसीप्रकार) पिता (दिलीप) चिरकाल के अनन्तर (अनेक बार की हुई आराधना के अनन्तर) पुत्र के मुख को देखकर चन्द्रमा के उदय से प्रवृद्ध समुद्र की तरह (जिसप्रकार समुद्र चन्द्रमा के उदय से चञ्चल हो उठता है (ज्वार के समय) उसीप्रकार दिलीप भी पुत्रोत्पत्ति से हर्ष चञ्चल हो गये) हर्ष से अपने शरीर के अन्दर नहीं समा सके अर्थात् अपरिमित हर्ष हुआ ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर दिलीप का पुत्र प्राप्ति से "हर्ष" नामक व्यभिचारी भाव है।

(२) यथा वा—"युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥
शिशुपालवध–प्रथम सर्ग २३ श्लोक

अर्थ—(२७) **अथासूया**–इसके बाद ("हर्ष" के लक्षणोपरान्त) "**असूया**" (का लक्षण)–

("**असूया**" का लक्षण)—दूसरों के दोषों का कथन करना, भृकुटिभंग, अवज्ञा (अवहेलना) (और) कोपादि के लक्षण को करने वाली ("आदि" पद से कलहादि का ग्रहण होता है) उद्धत स्वभाव के कारण अथवा अहंकार के कारण दूसरों के गुणों को और ऐश्वर्य वृद्धि को सहन न करना "**असूया**" (कहलाती है)। [इसीलिये कहा है कि—**"परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दाऽदिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया" इति ।** इसीको "असहनादि" शब्दों से व्यवहार करते हैं!]।

यथा—

'अथ तत्र पाण्डुतनयेन सदसि विहितं मधुद्विषः ।
मानमसहत न चेदिपतिः परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम् ।।'

अथ विषादः—

उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्त्वसंक्षयः ।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ।।१६७।।

यथा मम—

एसा कुडिलघणेन चिउरकडप्पेण तुह णिबद्धा बेणी ।
मह सहि दारइ डंसइ आअसजट्टिव्व कालउरइव्व हिअअं ।।
[एषा कुटिलघनेन चिकुरकलापेन तव निबद्धा वेणी ।
मम सखि ! दारयति दशति आयसयष्टिरिव कालोरगीव हृदयम्]

अर्थ—("**असूया**" का उदहरण) **यथा-अथेति**–(शिशुपालवध के पन्द्रहवें सर्ग का प्रथम श्लोक है) इसके वाद (श्रीकृष्ण की पूजा के अनन्तर) उस सभा में (सम्पूर्ण संसार के पूजनीय महातमा जनों से मण्डित होने के कारण प्रसिद्ध) चेदि देश का अधिपति (शिशुपाल) युधिष्ठिर के द्वारा किये जाते हुये श्रीकृष्ण के सम्मान को सहन न कर सका (अर्थात् ईर्ष्या करने लगा) क्योंकि अहंकारियों का अथवा उद्धत स्वभाव वालों का मन दूसरों के अभ्युदय के विषय में विद्वेषी (असहिष्णु) होता है ।

टिप्पणी—अतिशय पूजनीय भगवान् श्रीकृष्ण जी के मान को सहन न कर सकने के कारण शिशुपालगत "**असूया**" व्यभिचारीभाव ध्वनित होता है ।

अर्थ—(२८) **अथ विषादः**—इसके बाद ("**असूया**" के लक्षणानन्तर) "**विषाद**" (का लक्षण)—

("**विषाद**" का लक्षण)—उपायों के (अनर्थ के निराकरण के कारणों के) न होने से है उत्पत्ति जिसकी ऐसा निःश्वास, उच्छ्वास, मानसिक सन्ताप (और) सहायकों के अन्वेषणादि को करने वाला ("**आदि**" पद से अश्रु-पतनादि का ग्रहण होता है) बल का ह्रास अथवा उत्साह का ह्रास "**विषाद**" कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) **नव्यास्तु—"इष्टासिद्धिराजगुर्वाद्यपराधजन्योऽनुतापो विषाद" इति वदन्ति ।**

(२) **भरतस्तु—"कार्या निस्तरणकृतशौर्यादिग्रहणराजदोषाद्यः ।**
दैवादिष्टो योऽर्थस्तदसम्प्राप्तौ विषादः स्यात् ।।" इत्यद्याह ।।

अर्थ—("**विषाद**" का उदाहरण) जैसे मेरा (ग्रन्थकारकृत पद्य) **एसा इति**—

(हे) सखि ! अतिशय कुटिल केशपाश से बाँधी हुई यह (पुरोदृश्यमान) तुम्हारी वेणी लोहदण्ड की तरह अथवा तलवार की तरह मेरे हृदय को विदीर्ण करती है तथा कृष्णसर्पिणी की तरह डसती है । (तुम्हारी विरह वेदना की व्यंजक होने के कारण) ।

टिप्पणी—यहाँ विरह सन्ताप के निराकरण के उपाय के न होने के कारण सखी का "विषाद" है ।

अथ धृतिः—

ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु संपूर्णस्पृहता धृतिः ।
सौहित्यवचनोल्लाससहासप्रतिभादिकृत् ॥१६८॥

यथा मम—

'कृत्वा दीननिपीडनं निजजने बद्ध्वा वचोविग्रहं
नैवालोच्य गरीयसीरपि चिरादामुष्मिकीर्यातनाः ।
द्रव्यौघाः परिसंचिताः खलु मया यस्याः कृते सांप्रतं
नीवाराञ्जलिनापि केवलमहो सेयं कृतार्था तनुः ॥'

अर्थ—(२६) **अथ धृतिः**—इसके बाद (**"विषाद" के लक्षणोपरान्त**) "**धृति**" (**का लक्षण**)—

("**धृति**" का लक्षण) तत्त्वज्ञान और अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से (उत्पन्न), तृप्ति, आनन्दपूर्ण वचनावली, हास्य से युक्त प्रतिभा (नव नवोन्मेषशालिनी बुद्धि) आदि को ("**आदि**" पद से शान्ति आदि का ग्रहण होता है) करने वाली पूर्णकामता (आप्तकामता) "**धृति**" (कहलाती है।)

टिप्पणी—(१) केचित्तु—"**लोभशोकभयादिजनितोपप्लवनिवारणकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृतिः" इति वदन्ति ।**

(२) भरतस्तु—"विज्ञानशौचविभवश्रुतिशक्तिसमुद्भवा धृतिः सद्भिः ।
भयशोकविषादाद्यैः रहिता तु सदा प्रयोक्तव्या ॥
प्राप्तानामुपभोगः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धानाम् ।
अप्राप्ते न हि शोको यस्यां हि भवेत् धृतिः सा तु ॥इति॥

अर्थ—("**धृति**" का उदाहरण) जैसे मेरा (अर्थात् ग्रन्थकारनिर्मित पद्य) **कृत्वेति**—[अपने जीवन की पूर्वावस्था के अन्दर असद् उपाय से धन को सञ्चित करके वृद्धावस्था के अन्दर संसार से विरक्त तपोवन में बैठे हुये अपनी पूर्वावस्था की निन्दा करते हुये किसी ज्ञानी की यह उक्ति है] दरिद्र मनुष्यों का (नानाप्रकार से विपद्ग्रस्त मनुष्यों का) (उत्कोचादि के द्वारा) पीडन करके (अर्थात् गरीबों का गला घोट कर), अपने बन्धु-बान्धवों के साथ वाक् कलह करके, चिरकालस्थायिनी अत्यधिक पारलौकिक यातना की भी (विविध नरक सम्बन्धी पीड़ा की भी) चिन्ता न करके मैंने जिस शरीर के लिये (उपभोग के लिये) धन-राशियों का इधर-उधर घूमकर सञ्चय किया था, वह यह (मेरा) शरीर इस समय (वृद्धावस्था में) (अथवा तत्त्वज्ञान की दशा में) केवल एक अञ्जलि परिमित तृणधान्य से भी (चावलों से भी) कृतकृत्य है, यह बड़े आश्चर्य की बात है।

टिप्पणी—यहाँ विरक्त पुरुष का यथाथ ज्ञान के कारण चावलों की एक परिमित अञ्जलि से पूर्णकाम होने के कारण "धृति" है।

अथ चपलता—

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥१६९॥

यथा—

'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमालिकायाः ॥'

अर्थ—(३०) **अथ चपलता**—इसके बाद ("धृति" के लक्षणोपरान्त) **'चपलता'** (का लक्षण)—

("**चपलता**" का लक्षण)—मत्सर (एक ओर पक्षपात होने के कारण दूसरी ओर की असूया मत्सरता कहाती है) द्वेष (और) अनुरागादि के कारण ("**आदि**" पद से "उन्माद" आदि का ग्रहण होता है) स्थिर न रहना (एक स्थान पर न रहना) "**चपलता**" (कहाती है)। उस चपलता के अन्दर भर्त्सना (दूसरों को धमकाना), कठोरता (और) स्वच्छन्द आचरण आदि ("**आदि**" पद से सन्त्रस्तता आदि का ग्रहण होता है) (होते हैं)।

("**चपलता**" का उदाहरण) **यथा–अन्यास्विति**—(किसी अप्राप्तयौवन कन्या के साथ रमण करने की इच्छा वाले किसी हठी कामुक के प्रति भ्रमर को उपदेश देने के बहाने किसी विरक्त की यह उक्ति है) (हे) भ्रमर ! **अन्यत्र** भ्रमर की तरह रसिक ! इससे भिन्न (अन्य) मधुपानकालीन चरणों के प्रहार को सहन करने में समर्थ **अन्यत्र** सम्भोगकालीन चुम्बन, आलिङ्गन आदि को सहन करने में समर्थ, पुष्पलताओं में **अन्यत्र** उदार चित्त वाली लताओं की तरह आमोद-प्रमोद की कारणभूत सुन्दरियों में, (तृप्ति पर्यन्त) चञ्चल **अन्यत्र** कामदेव के उद्रेक के कारण उद्धत (अथवा सतृष्ण) मन को (मधुपान के द्वारा **अन्यत्र** रति-सम्भोग के द्वारा) विनोदित करो। नवमालिका की (चमेली की) **अन्यत्र** नवीन परिणय वाली विलासिनी की, कोमल **अन्यत्र** कामकलाओं में अनभिज्ञ, परागशून्य (मधु के न होने के कारण) **अन्यत्र** अनुत्पन्न रजोधर्म वाली (उसका उपभोग अधर्म का कारण होने के कारण), कलिका को **अन्यत्र** कन्या को असमय में (मकरन्द के अभाव की अवस्था में) **अन्यत्र** बाल्यावस्था में किसलिये व्यर्थ में दूषित करते हो।

टिप्पणी—यहाँ वाच्य भ्रमर को और व्यंग्य नायक की अनुराग के कारण स्वेच्छाचारिता से मन की अस्थिरता रूप "चपलता" है।

अथ ग्लानिः—

रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसंभवा ।
ग्लानिर्निष्प्राणताकम्पकार्श्यानुत्साहतादिकृत् ॥१७०॥

यथा—

'किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनं
हृदयकुसुमशोषी दारुणो दीर्घशोकः ।
ग्लपयति परिपाण्डुक्षाममस्याः शरीरं
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम् ॥'

अथ चिन्ता—

ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

अर्थ—(३१) **अथ ग्लानिः**—इसके बाद ("चपलता" के लक्षणोपरान्त) "**ग्लानि**" (का लक्षण)—

("**ग्लानि**" का लक्षण) रति, परिश्रम, मानसिक सन्ताप, बुभुक्षा (और) पिपासादि से ("**आदि**" पद से क्लेश आदि का ग्रहण होता है) उत्पन्न होने वाली (तथा) कम्पन, कृशता, (और) अनुत्साह आदि को ("**आदि**" पद से चुप रहने आदि का ग्रहण होता है) करने वाली असामर्थ्य (शरीर की दुर्बलता) "**ग्लानि**" (कहलाती है)।

("**ग्लानि**" का उदाहरण) **यथा—किसलयमिवेति**–(उत्तररामचरित के अन्दर गोदावरी के जल से बाहर आती हुई सीता को देखकर मुरला की यह उक्ति है) शरद्कालीन सूर्य की धूप केतकी पुष्प के मध्यस्थित पत्ते की तरह हृदय रूपी पुष्प को सुखाने वाला अथवा हृदयपुष्प के आकार वाले मध्य स्थान को सुखाने वाला (अतएव) भयंकर दीर्घ शोक (चिरकालव्यापी होने के कारण जिसका पार नहीं पाया गया है ऐसा विरहजन्य खेद) वृन्त से (उत्पत्तिस्थान से) च्युत सुन्दर पत्ते की तरह स्थित इस सीता के पाण्डुवर्ण वाले कृश शरीर को सुखा रहा है।

टिप्पणी—(१) यहाँ मानसिक ताप से उत्पन्न कृशता को करने वाली शरीरकृशता रूप सीता की "ग्लानि" है।

(२) निष्प्राणता, ओजःशून्यता तथा सत्व को क्षीण करने वाली बल की हानि रूप होने पर भी कारण की विभिन्नता होने के कारण **ग्लानि, दैन्य और विषाद में भेद समझना चाहिये** ।

अर्थ—(३२) **अथ चिन्ता**—इसके बाद ("**ग्लानि**" के लक्षणोपरान्त) "**चिन्ता**" (का लक्षण)—

("**चिन्ता**" का लक्षण) हित की अप्राप्ति के कारण (उत्पन्न) शून्यता (संसार की शून्यता की प्रतीति) श्वास और ताप को करने वाला (जो) ध्यान (भावना) है (वह) "**चिन्ता**" (कहलाती है)।

यथा मम—

'कमलेण विअसिएण संजोएन्ती विरोहिणं ससिबिम्बं ।
करअलपल्लत्थमुही किं चिन्तसि सुमुहि अन्तराहिअहिअआ ॥'
[कमलेन विकसितेन संयोजयन्ती विरोधिनं शशिबिम्बम् ।
करतलपर्यस्तमुखी किं चिन्तयसि सुमुखि ! अन्तराहितहृदया ॥]

अथ वितर्कः—

तर्को विचारः संदेहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः ॥१७१॥

यथा—

'किं रुद्धः प्रियया—' इत्यादि ।

'एते च त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभेदा' इति यदुक्तं तदुपलक्षणमित्याह—

अर्थ—("चिन्ता" का उदाहरण) जैसे मेरा (ग्रन्थकारकृत पद्य) **कमलेण इति**—(प्रियतम का चिन्तन करती हुई प्रोषितपतिका के प्रति सखी की यह उक्ति है) (हे) सुमुखि ! (सुन्दर मुख वाली) अन्दर ही रखा है हृदय जिसने ऐसी (यहाँ "हृदय" शब्द से हृदयगत नायक की अभिव्यक्ति होती है) (तथा) करतल पर (हथेली पर) रखा है मुख जिसने ऐसी (अतएव) विकसित कमल के साथ स्वभाव से वैरी चन्द्र-बिम्ब को संयुक्त करती हुई क्या सोचती हो ?

टिप्पणी—यहाँ हथेली (करतल) कमल है, मुख चन्द्र–बिम्ब है । हथेली के ऊपर कपोल को रखना "शोकमुद्रा" की सूचक है । इसप्रकार प्रोषितपतिका नायिका की नायक के प्रति उत्सुक होने के कारण "चिन्ता" अभिव्यक्त होती है ।

अर्थ—(३२) **अथ वितर्कः**–इसके बाद ("चिन्ता" के लक्षणोपरान्त) "**वितर्क**" (का लक्षण)—

("**वितर्क**" का लक्षण)—सन्देह से (उत्पन्न) भ्रू, शिर और अङ्गुलियों का सञ्चालक (चलाने वाला) विविध ज्ञान (विचार) "**वितर्क**" (है)। अर्थात् **सन्देहाद्य-नन्तरं जायमान ऊहस्तर्क इति**-सन्देह के अनन्तर होने वाला विचार तर्क कहाता है ।

("वितर्क" का उदाहरण) **यथा-किं रुद्धः प्रियया** इत्यादि (पूर्वोक्त पद्य) ।

टिप्पणी—यहाँ नायिका का प्रियतम के न आने के विषय में विविध ज्ञान के कारण "वितर्क है" ।

अथ स्थायिनो व्यभिचारित्वनिरूपणम्—

अर्थ—और ये (व्यभिचारीभाव) (संख्या में) ३३ व्यभिचारीभाव के भेद होते हैं–यह जो (पहले) कहा है (व्यभिचारीभाव के लक्षण में कहा है कि "**त्रयस्त्रिशद् च तद्भिदाः**" **इति**) वह केवल उपलक्षण मात्र है, क्योंकि कहा है कि—

टिप्पणी—(१) भरतमुनि ने भी "**त्रयस्त्रिशदिमे भावा विज्ञेया व्यभिचारिणः**"-३३ही व्यभिचारीभाव स्वीकार किये हैं ।

रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः ।

(२) शंका—इन संचारीभावों की ३३ संख्या क्यों कर नियत की गई है क्योंकि **"मात्सर्योद्वेगदम्भेर्ष्याविवेकनिर्णयक्लैव्यक्षमाकुतुकोत्कण्ठाविनयसंशयधार्ष्ट्यादीनामपि–"** इनका भी व्यभिचारीभाव के लक्षण के अन्दर लक्षण घटित हो जाता है अतः इनकी भी गणना व्यभिचारीभाव के अन्दर करनी चाहिये ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि अन्य व्यभिचारीभाव इन व्यभिचारीभावों से पृथक् नहीं है अपितु इनका अन्तर्भाव इन्हीं व्यभिचारीभावों के अन्दर हो जाता है, अतः इनके पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है। **यथा**—(१) असूया के अन्दर मात्सर्य का, (२) त्रास के अन्दर उद्वेग का (३) अवहित्था के अन्दर दम्भ का, (४) अमर्ष के अन्दर ईर्ष्या का (५) मति के अन्दर विवेक और निर्णय का, (६) दैन्य के अन्दर क्लीवता का, (७) धृति के अन्दर क्षमा का, (८) औत्सुक्य के अन्दर कौतुक और उत्कण्ठा का, (९) लज्जा के अन्दर विनय का, (१०) तर्क के अन्दर संशय का, (११) चपलता के अन्दर धृष्टता का अन्तर्भाव हो जाता है। अतः इनको पृथक् मानना व्यर्थ ही है। इन संचारीभावों के बीच में कुछ किन्हीं के विभाव और अनुभाव हो जाते हैं। **तथाहि**—ईर्ष्या निर्वेद के प्रति विभाव है और असूया के प्रति अनुभाव है। चिन्ता निद्रा के प्रति विभाव है और औत्सुक्य के प्रति अनुभाव है। इसीप्रकार अन्य भी समझने चाहिये।

(३) उपलक्षण की व्याख्या—"उपलक्षणं नाम स्वप्रतिपादकत्वे सति इतर-प्रतिपादको धर्मविशेषः" ॥ इति ॥

अर्थ—अनियत—अनिर्धारित अर्थात् अपनी स्थिति के नियम से रहित रस में (अपने से अतिरिक्त स्थायीभाव वाले रस में) रत्यादि स्थायीभाव भी (निर्वेदादिकों का तो कहना ही क्या) व्यभिचारी (संचारी) हो जाते हैं। अर्थात् कहने का आशय यह है कि एक रस के अन्दर अन्य रस का स्थायी भी संचारीभाव हो जाया करता है। अतः संचारीभावों की ३३ से अधिक संख्या सम्भव हो सकती है परन्तु **"त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः"** यह पूर्वोक्त संख्या अन्यूनता की उपलक्षण है अर्थात् इससे कम व्यभिचारीभाव नहीं हो सकते हैं, अधिक सम्भव हैं।

तथाहि—

शृङ्गारेऽनुच्छिद्यमानतयावस्थानाद् रतिरेव स्थायिशब्दवाच्या, हासः पुनरुत्पद्यमानो व्यभिचार्येव, व्यभिचारिलक्षणयोगात् ।

तदुक्तम्—

'रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते ॥' इति ।

तत्कस्य स्थायिनः कस्मिन् रसे सञ्चारित्वमित्याह—

शृङ्गारवीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मतः ॥१७२॥
शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः ।
इत्याद्यन्यत्समुन्नेयं तथा भावितबुद्धिभिः ॥१७३॥

अर्थ—तथाहीति—शृङ्गार रस के अन्दर अन्त तक अविच्छिन्नरूपेण अवस्थित रहने के कारण रति (दम्पती का अनुरागविशेष) ही (हासादि नहीं) "स्थायीभाव" शब्द का वाचक होता है (अर्थात् जब तक शृङ्गार रस रहता है तब तक रति भी विद्यमान रहती है। अतः वहाँ पर रति स्थायीभाव इस शब्द की वाच्य है, हासादि की अवस्थिति रति की तरह नहीं होती है अतः वे स्थायी शब्द से अभिहित नहीं होते हैं। परन्तु हास कभी उत्पन्न होता हुआ (और कभी विलीन होता हुआ) व्यभिचारी ही होता है (केवल स्थायी ही नहीं)। (क्योंकि) उसमें व्यभिचारी का लक्षण घटित होता है (**"विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः" इति लक्षणात्**)। **"तदुक्तमिति**— यही कहा है कि—

रसावस्थ इति—केवल वही भाव (रत्यादि) रस की अवस्था को प्राप्त होकर (रस पर्यन्त पुष्ट होकर) स्थायीभाव को प्राप्त करता है।

(प्रश्न) (अच्छा) तो किस स्थायीभाव का किस रस के अन्दर संचारित्व है? अर्थात् कौन सा स्थायीभाव किस रस के अन्दर संचारीभाव हो जाता है, यह बताते हैं—

शृङ्गारवीरयोरिति—शृङ्गार और वीर रस के अन्दर (गौण रूप से अद्भुत रस के अन्दर भी) हास (हास्य रस का स्थायीभाव व्यभिचारी रूप से प्राचीनों ने माना है), तथा वीररस के अन्दर (उपलक्षणरूपेण शृङ्गार रस में भी) क्रोध (रौद्र रस का स्थायीभाव, उपचार रूप से राग भी व्यभिचारी के रूप में) माना गया है। पुनः शान्त रस के अन्दर जुगुप्सा (बीभत्स रस का स्थायीभाव व्यभिचारी रूप से) कही गई है (उपचार से शोक भी व्यभिचारी रूप से कहा गया है) इत्यादि और भी परिपक्व बुद्धि वालों को (काव्यशास्त्र के निष्णात व्यक्तियों को) (स्वयं) समझ लेना चाहिये। [**इसी-प्रकार** हास्य में विस्मय व्यभिचारी है, करुण रस में भय, रौद्र रस में हास्य, भयानक में शोक यथासम्भव व्मभिचारी होते हैं।]।

टिप्पणी—अल्प विभावों से उत्पन्न होने वाले ही रत्यादि व्यभिचारी होते हैं और जब प्रधान रस की पुष्टि के लिये वह भी बहु विभावों से उत्पन्न होता है तब "स्थायीभाव" होता है। **तदुक्तं रत्नाकरे—**

रत्याद्यः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः ।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः ॥ इति ॥

अथ स्थायिभावः—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः ॥१७४॥

अथ स्थायीभावनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद (**"व्यभिचारीभाव"** के **प्रतिपादन के अनन्तर "विभावेनानुभावेन"** इत्यादि कारिका के अन्दर अवशिष्ट उद्देश क्रम प्राप्त) स्थायीभाव का (अब निरूपण किया जाता है)।

(**"स्थायीभाव"** का लक्षण) अविरुद्ध अर्थात् अनुकूल (विरुद्ध भावों के द्वारा स्थायीभाव का तिरोहित न होना) अथवा विरुद्ध अर्थात् प्रतिकूल (भाव) जिस (भाव) को छिपाने के लिये असमर्थ है (अपने आप अप्रधान होने के कारण असक्त हैं) (तथा) आस्वादरूप रस के अङ्कुर का मूलभूत है, वह भाव (अन्तःकरण की वृत्ति स्वरूप) **"स्थायी"** (इस नाम से) माना गया है।

टिप्पणी—इसप्रकार चन्द्र, चन्दन और रोलम्बादि उद्दीपन विभाव, शोभा, विलासादि अनुभाव अथवा आवेग, दैन्य और श्रमादि व्यभिचारी भाव अनुकूल होते हुये भी अविच्छिन्नरूप से प्रवर्तमान रति को कभी भी तिरोहित करने योग्य नहीं होते हैं। इसीप्रकार ही भयानक रस में विद्यमान हिंस्रचेष्टादि उद्दीपन विभाव, प्रलयादि अनुभाव अथवा मरणादि सञ्चारीभाव प्रतिकूल होते हुये भी रतिभाव को तिरोहित करने में समर्थ नहीं होते हैं, इसीलिये रति **"स्थायीभाव"** है। रति भाव कामाविष्ट स्त्री और पुरुषनिष्ठ ही शृङ्गार का स्थायीभाव है अन्यथाप्रकारेण नहीं क्योंकि स्थायीभाव का लक्षण न घट सकने के कारण। **एवं हि स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायीभावः"**—अर्थात् स्त्री और पुरुष का अन्योन्याश्रित आलम्बन रूप प्रेम नाम की चित्तवृत्तिविशेष रति स्थायीभाव है। कहने का आशय यह है कि अन्तःकरणवृत्तिस्वरूप रत्यादि के शीघ्र क्षय हो जाने पर भी संस्कार रूप से चिरकाल तक वर्तमान रहने के कारण तथा रस की प्रतीति के समय पुनः अनुसन्धान होने के कारण **"स्थायिता"** है। **तदुक्तम्**

"विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥
चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ॥

तथा— सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान् ।
यावद्रसं वर्तमानः स्थायीभाव उदाहृतः ॥ इति ॥

नाट्यशास्त्रेऽप्युक्तम्—

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥

निष्कर्ष—इसका सार यह है कि समान लक्षण वाले और समान अङ्ग प्रत्यङ्ग वाले भी (जिनके पाणि, पाद और उदर समान हैं) पुरुष कुल, शील, विद्या, कर्म और

यदुक्तम्—

'स्रक्सूत्रवृत्त्या भावानामन्येषामनुगामकः ।
न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम् ॥' इति ।

तद्भेदानाह—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥१७५॥

शिल्प में विलक्षणता से युक्त राजत्व को प्राप्त करते हैं और उन्हीं में से मन्दबुद्धि वाले अनुचर होते हैं उसीप्रकार विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव स्थायीभाव का आश्रय लेते हैं । उनमें से गूढाश्रय वाले मुख्य रूप से स्वामी रूप से स्थायीभाव होते हैं और अन्य भाव गौण रूप से उनके आश्रय रहते हैं, व्यभिचारीभाव परिजनरूप से हैं । जिसप्रकार राजा बहुजन परिवार वाला होकर ही राजा नाम को प्राप्त करता है, कोई अन्य सुमहान् पुरुष नहीं । उसीप्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव से घिरा हुआ स्थायीभाव ही रस नाम को प्राप्त करता है ।

अवतरणिका—उक्त अर्थ को प्राचीन प्रमाण से पुष्ट करते हैं—

अर्थ—कहा भी है कि—मालान्तर्गत सूत्र न्याय से (जिसप्रकार माला के अन्दर एक ही सूत्र अनुगत होता है, उसप्रकार) अन्य भावों के अन्दर (अनुभावादि भावों का) अनुगत होने वाला स्थायीभाव (अन्य भावों से) तिरोहित नहीं होता है (अपितु) उन भावों के द्वारा केवल पुष्ट होता है । (रसरूपता को ले जाया जाकर प्रवृद्ध किया जाता है) ।

टिप्पणी—जिसप्रकार मणियाँ अपने आधारभूत सूत्र का तिरस्कार नहीं करतीं हैं अपितु उसे भूषित करती हैं उसीप्रकार अन्य भाव स्थायीभाव का तिरस्कार नहीं करते हैं अपितु उसे परिपुष्ट करते हैं । यहाँ पर रस मालास्थानीय है, स्थायीभाव सूत्र-स्थानीय है और अनुभावादि मणिस्थानीय हैं ।

स्थायीभावभेदलक्षणनिरूपणम्—

अर्थ—उनके (**स्थायीभावों के**) भेदों को बताते हैं—(१) **रति**, (२) **हास** (३) **शोक** (४) **क्रोध** (५) **उत्साह तथा** (६) **भय**, (७) **जुगुप्सा और** (८) **विस्मय-ये आठ (स्थायीभाव) कहे हैं और** (९) **शम भी** (स्थायीभाव होता है) ।

टिप्पणी—यहाँ पर रसों को आठ प्रकार का मानने के कारण स्थायीभाव भी (ग्रन्थकार के मत में) आठ ही हैं, इसी को ध्वनित करने के लिये "**अष्टौ प्रोक्ताः**" यह कहा है । और बाद में "**शमोऽपि च**" यह कहा है । "**अपि च**" इससे "वत्सल" का भी ग्रहण समझना चाहिये । अत्यन्त प्रामाणिक होने के कारण भरत मतानुसार "शम और वत्सलता" को स्थायीभावेन स्वीकार किया गया है । ये शृङ्गारादि रसों के यथासंख्य स्थायीभाव हैं । और वे वासनारूप में विद्यमान चित्तवृत्ति विशेष हैं ।

तत्र—

रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् ।
वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते ॥१७६॥
इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक् ।
प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ॥१७७॥
कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते ।

अवतरणिका—क्रमशः रति आदि स्थायीभावों का लक्षण करते हैं:—

अर्थ—(१) उनमें से (स्थायीभावों में से **"रति" का लक्षण**)—**मन का प्रिय** (अनुकूल) वस्तु के विषय में प्रेमपूर्ण उन्मुखीभाव का नाम **"रति"** है। **अर्थात् प्रेम से** मन का आर्द्र हो जाना "रति" कहलाता है।

टिप्पणी—"काव्यमाला" के अन्दर "रति" का लक्षण इसप्रकार है—

(क) **"मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः ।
आसंप्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते ॥" इति ॥**

(ख) "रसगंगाधर" के अन्दर—

"स्त्रीपुंसयोरन्योऽन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः ।"

(ग) "भरतमुनि" के अनुसार—"**रतिर्नाम आमोदात्मको भावः ऋतुमाल्यानुलेपनाभरणप्रियजनपरभवनानुभावनाप्रातिकूल्यादिर्भिविभावैः समुत्पद्यते, स्मितवचनमधुरवचनभ्रूक्षेपकटाक्षादयस्तत्रानुभावा भवन्ति ।**" लक्षण है।

अर्थ(२) (**हास का लक्षण**)—वचोभङ्गिमादिओं के ("आदि" पद से वेश का ग्रहण होता है) विकार से चित्त का विकास "**हास**" कहलाता है।

टिप्पणी—(क) "रसगंगाधर" के अनुसार—

"वागंगादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः ।"

अर्थ—(३) ("**शोक**" का **लक्षण**)—प्रिय के नाशादि के कारण चित्त का व्याकुल होना "**शोक**" शब्द को प्राप्त करता है अर्थात् "शोक" कहलाता है।

टिप्पणी—"रसगंगाधर" के अनुसार—

"पुत्रादिवियोगमरणादिजन्मा वैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः ।"

अर्थ—(४) ("**क्रोध**" **का लक्षण**)—विरोधियों के विषय में उत्कट अपकार **करने** के ज्ञान को उत्पन्न करने वाला चित्तविकार विशेष "**क्रोध**" कहलाता है। [**रसगंगाधरे**—"**गुरुबन्धुवधादिपरमापराधजन्मा प्राज्वलनाख्यः "क्रोधः"**। यह "**क्रोध**" **दूसरे के** विनाश का कारण, क्षुद्र अपराध से उत्पन्न होने वाला और कठोर वचन कहलाने **का** कारण होता है। यही क्रोध "**अमर्ष**" नामक व्यभिचारीभाव है।]।

अर्थ—(५) ("**उत्साह**" का **लक्षण**)—कार्य के आरम्भ करने में स्थिरतर उत्कट आवेश (संरम्भ) "**उत्साह**" कहलाता है। ["**रसगंगाधरे—परपराक्रमदानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः ।**"]।

रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम् ॥१७८॥
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्भवा ।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ॥१७९॥
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।
शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ॥१८०॥

---

(६) (**"भय" का लक्षण**)—शत्रुओं के तीव्र सामर्थ्य के दर्शन से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता को करने वाला (मनोवृत्ति विशेष) "भय" (होता है)। [**रसगंगाधरे—व्याघ्रदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैक्लव्याख्यः स भयम्।**" परम अनर्थ की विषयता का अभाव होने पर यही भय "त्रास" नामक व्यभिचारीभाव है। **अपरे तु—औत्पातिकप्रभवस्त्रासः, स्वापराधोत्थं भयमिति भेदमाहुः ॥**]।

(७) (**"जुगुप्सा" का लक्षण**)—दोषदर्शनादि के कारण भोग्यवस्तुओं में उत्पन्न होने वाली कुत्सा (घृणा) "जुगुप्सा" (कहलाती है)। [**रसगंगाधरे—"कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा।"**]।

(८) (**"विस्मय" का लक्षण**)—नानाप्रकार के लोक की सीमा का अतिक्रमण करने वाले अर्थात् अलौकिक पदार्थों में चित्त का जो विकास है, वह "**विस्मय**" कहा गया है। [**रसगंगाधरे—"अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा आश्चर्याख्यो विस्मयः।"** हास से इसका भेद है।]।

(९) (**"शम" का लक्षण**)—निःस्पृहता (किसीप्रकार की इच्छा न होने) की दशा में चित्त में विश्राम से उत्पन्न (अर्थात् अनेक प्रकार की विषय वासनाओं से पराङ्मुख होने के कारण सम्पूर्ण क्लेश की निवृत्ति करने का कारण) सुख "शम" (कहलाता है)।

टिप्पणी—(१) "शमो निरीहावस्थायाम्" इत्यादि का यह तात्पर्य है कि "शान्त नामक नवम रस का अनुभव सिद्ध होने के कारण अपलाप नहीं किया जा सकता।" और न इस शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद हो सकता है क्योंकि उसका विषयों में (१) अलं प्रत्यय रूप होने के कारण अर्थात् शान्त रस के अन्दर प्रकृतिजन्य विषयों की अनुभूति नहीं होती और अथवा (२) आत्मज्ञान रूप होने के कारण अर्थात् शान्तरस के अन्दर केवल मात्र आत्मा की अनुभूति हुआ करती है। शान्तरस का सम्पूर्ण विषयों के परिहार से उत्पन्न केवल आत्मा के विश्राम के आनन्द के उत्पन्न होने के कारण उसका अनुभव होता है। **कृष्णद्वैपायन** ने कहा है कि:—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥" इति ॥

अतएव "सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों के विराम वाला निर्वेद इसका स्थायीभाव है"—

यथा मालतीमाधवे रतिः। लटकमेलके हासः। रामायणे शोकः। महाभारते शमः। एवमन्यत्रापि।

एते ह्येतेष्वन्तरा उत्पद्यमानैस्तैस्तैर्विरुद्धै रविरुद्धैश्चभावैरनुच्छिन्नाः प्रत्युत परिपुष्टा एव सहृदयानुभवसिद्धाः।

इसका निराकरण हो गया। क्योंकि अभाव का (सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों के विराम का) "स्थायित्व" के साथ अयोग (सम्बन्ध न) होने के कारण। अतः इस शान्त रस का शम स्थायीभाव है और निर्वेदादि व्यभिचारीभाव हैं। शम का लक्षण ऊपर कारिका में किया जा चुका है। इसप्रकार "**निर्वेद स्थायीभाव वाला शान्त भी नवम रस है**" इसका प्रतिपादन करने वाले **काव्यप्रकाशकार** का निराकरण हो गया।

(२) "**प्रदीप**" में कहा है कि वह शम निस्पृह अवस्था में आनन्द वाला है, क्योंकि उस समय चित्त में विषय वासनाओं का विश्राम हो जाता है।

(३) "**तर्कवागीश**" भी शान्त रस में निर्वेद को व्यभिचारीभाव से ही स्वीकार करते हैं।

अवतरणिका—स्थायीभावादिकों के उदाहरण देते हैं—

अर्थ—(उदाहरण) **यथा**—"**मालतीमाधव**" (नामक भवभूतिकृत प्रकरण) में "रति" प्रधान है (अर्थात् मालती और माधव की परस्पर आलम्बन रूप रति है)। (शंखधर विरचित) "**लटकमेलक**" (**लटकानां-दुर्जनानां मेलको यत्र तस्मिन्**) नामक प्रकरण में "हास", (वाल्मीकि विरचित) "**रामायण**" (महाकाव्य) के अन्दर (राम दशरथादियों के विरह से उत्पन्न) "**शोक**" (और) "महाभारत" (महाकाव्य) के अन्दर (पाण्डवों का) "**शम**" प्रधान है। इसीप्रकार अन्यत्र भी (समझ लेना चाहिये)।

टिप्पणी—**यथा**—तथाहि—"**माघकाव्य के अन्दर**" पन्द्रहवें सर्ग में "**क्रोध**", "**वेणीसंहार**" में "**उत्साह**", "**मालतीमाधव**" के ५म अंक के श्मशान के अन्दर "**जुगुप्सा**", "**उत्तररामचरित**" के सप्तम अंक में "**विस्मय**" और "**रघुवंश**" के तृतीय सर्ग के अन्दर प्रायः "**वात्सल्य**" स्थायीभाव है।

अर्थ—(अवसर प्राप्त "**अविरुद्धा विरुद्धा वा**" इत्यादिक कारिका की व्याख्या करते हैं) **एते हीति**—ये (रत्यादिक स्थायीभाव) इन (शृङ्गारादि रसों) के मध्य में उत्पन्न होने वाले उन उन विरुद्ध और अविरुद्ध (अनुकूल) भावों से (उद्दीपनादिकों से) उच्छिन्न नहीं होते अपितु परिपुष्ट होते हुये ही सहृदय पुरुषों के अनुभव सिद्ध होते हैं। [तात्पर्य यह है कि जैसे "महाभारत" में "शम" प्रधान भाव है क्योंकि आदि से अन्त तक उसकी अविच्छिन्न रूप से विद्यमानता है और बीच बीच में रति, हास, क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि भी बहुधा वर्णित हैं परन्तु वह "शम" (जो "शान्त" रस का स्थायी है) अपने विरुद्ध भाव, क्रोध और रति आदि से अथवा अविरुद्ध जुगुप्सा, भय, विस्मय आदि से उच्छिन्न नहीं होता। ये सब भाव आते हैं और थोड़ी देर तक अपनी चमक दिखाकर चलते बनते हैं, अतः ये सब वहाँ संचारी हैं और आद्यन्त विद्यमान "**शम**" स्थायीभाव है। इसीप्रकार अन्यत्र भी जानना।]।

किं च—

नानाभिनयसंबन्धान् भावयन्ति रसान् यतः।
तस्माद्भावा अमी प्रोक्ताः स्थायिसंचारिसात्त्विकाः ॥१८१॥

यदुक्तम्—

'सुखदुःखादिभिर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।'

अथ रसस्य भेदानाह—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ॥१८२॥

अर्थ—किं चेति–क्योंकि ("भावों" के विशेष लक्षणों का वर्णन करके सामान्य लक्षण बताते हैं) **नानेति**–अनेक प्रकार के अभिनयों से (दृश्यकाव्य के अन्दर वेश चेष्टादि नायक के सदृश अभिनयों से और श्रव्यकाव्य में पढ़ने और सुनने आदि से) व्यक्त होने वाले (नानाप्रकार के) रसों को व्यञ्जित करते हैं अतः ये स्थायीभाव— सञ्चारी और सात्विकभाव "भाव" कहलाते हैं। (इसी बात को प्रमाण से पुष्ट करते हैं) **यदुक्तिमिति**—कहा भी है कि—

सुखेति–शम (सुख) शोक (दुःख) आदि ("आदि" पद से "रत्यादि" का ग्रहण होता है) स्थायीभावों से (सामाजिकों को) उस रस का (भाव) बोध होता है (अतः) (विभावादि समुदाय) "भाव" कहलाता है। (अर्थात् **भावयति-सामाजिकान् सुखित्व-दुःखित्वादिरूपेण परिणमयतीति व्युत्पत्तिलभ्यो भावः। भरतस्तु—**

"यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं तथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेषु भावा व्यवस्थिताः॥
विभावेनाहृतो योऽर्थस्त्वनुभावेन गम्यते।
वागंगसत्वाऽभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥
वागङ्गमुखरागैश्च सत्वेनाऽभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्चते॥" इत्याह॥)

रसभेदनिरूपणम—

अर्थ—इसके बाद (विभावादि रस व्यंजक समुदाय के निरूपण के अनन्तर) (प्रसंग की संगति से प्राप्त) रस के भेदों को बताते हैं—

(१) शृङ्गार (२) हास्य (३) करुण (४) रौद्र (५) वीर (६) भयानक (७) वीभत्स (८) और अद्भुत इसप्रकार आठ रस (माने गये हैं), (जिसप्रकार ये रस माने गये हैं) उसीप्रकार (९) **शान्त** (रस) माना गया है।

टिप्पणी—कारिका के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि शृङ्गार रस से लेकर शान्त रस पर्यन्त नौ रस हैं। उनमें से नाटक के अभिप्राय से आठ रसों का पहले निर्देश कर दिया है और शान्त रस का बाद में पृथक् रूप से उल्लेख किया है।

अतः किसी-किसी के मतानुसार शान्त रस का स्वरूप से असद्भाव है ऐसा सूचित होता है। "सिंहावलोकन न्याय" से "तथा" यह कहकर शान्त रस की स्वीकृति से दूसरों के मत से असहमति सूचित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ के मतानुसार शान्त नामक नवम रस नहीं है, तथाहि—

"शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात्।
अष्टावेव रसा नाट्ये शान्तस्तत्र युज्यते ॥"

ऐसा कहते हैं। परन्तु इस मत को दूसरे स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि "नटेशमाभावात्"–नट के अन्दर शम स्थायीभाव के न होने के कारण शान्त रस नहीं है यह युक्ति असंगत है। क्योंकि नट के अन्दर रस की अभिव्यक्ति को हम स्वीकार नहीं करते हैं। और सहृदय सामाजिकों के शमशाली होने के कारण उसके अन्दर रसाभिव्यक्ति का बाध नहीं हो सकता है। और क्योंकि नट के अन्दर शम स्थायीभाव का अभाव है अतः शान्त रस के अभिनय की व्यंजकता असम्भव है यह नहीं कहना चाहिये क्योंकि ऐसा मान लेने पर तो नट के अन्दर भय, क्रोधादि के अभाव से उनके अभिनय की चातुरी से उस रस की उत्पत्ति की असंगति हो जायेगी। क्योंकि नट के अन्दर क्रोधादि के अभाव से वास्तविक वध, बन्धनादि कार्यों की उत्पत्ति के असम्भव होने पर भी कृत्रिम रूप से उन कार्यों की शिक्षा और अभ्यास से उत्पत्ति के अन्दर किसीप्रकार की बाधा नहीं होती ऐसा देखा जाता है, इसीप्रकार यद्यपि नट के अन्दर शम नहीं है तथापि शिक्षा और अभिनय की चातुरी से उनके कार्य शान्त रस की उत्पत्ति के अन्दर किसीप्रकार की भी बाधा नहीं होगी। और यदि यह कहोगे कि नाटक के अन्दर गीत वाद्यादि विरोधी भावों के होने के कारण सामाजिकों के अन्दर विषय की विमुखता वाले आत्मा के अन्दर शान्त रस का उद्रेक किसप्रकार होगा ? तो इस विषय में यह कथन है कि नाटक के अन्दर शान्त रस का अनुभव करते हुये फल के बल से उन गीत वाद्यादि की विरोधिता की कल्पना करनी पड़ेगी। विषयों की चिन्तना आदि को विरोध रूप में स्वीकार करने पर शान्त रस का आलम्बन संसार की अनित्यतादि, उसके उद्दीपन विभाव—पुराणों का श्रवण, सत्संग, पुण्य वन, तीर्थादिकों के अवलोकन से विरोधिता का अभाव होगा। इसीलिये "शान्त रस नाटक

तत्र शृङ्गारः—

> शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
> उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते ॥१८३॥
> परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम् ।
> आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ॥१८४॥
> चन्द्रचन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम् ।

के अन्दर नहीं है" ऐसा जो मानते हैं, वे भी प्रबोधचन्द्रोदय, महाभारत आदि प्रबन्ध-काव्यों को देखकर शान्त रस को स्वीकार करते हैं । अतः सम्पूर्ण मनुष्यों के अनुभव-सिद्ध होने के कारण दृश्य और श्रव्यात्मक दोनों प्रकार के काव्यों में शान्त रस को अवश्य स्वीकार करना चाहिये । इसीलिये अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः" इसके बाद ही शान्तोऽपि नवमो रसः" इसप्रकार राजानक मम्मटाचार्य काव्यप्रकाशकार ने सूचित किया है ।

अथ शृङ्गाररस-निरूपणम्—

अर्थ—उनमें से (८ रसों में से) शृङ्गार (का लक्षण करते हैं) शृङ्गं हीति—कामदेव का उद्रेक शृङ्ग कहलाता है (मन्मथोद्भेद का शृंग दूसरा नाम है) ("शृङ्ग" की व्युत्पत्ति—शृणाति दशमदशया हि [illegible] शृङ् इति ।) (अर्थात् कामदेव के उद्रेक से मृत्यु की दशा को प्राप्त कराने वाला व्यापार "शृङ्ग" कहलाता है) उसके (शृङ्ग के) आगमन का कारण "शृङ्गार" रस ("शृङ्गार" की व्युत्पत्ति—शृङ्गमृच्छति कारणत्वेन प्राप्नोतीति, शृङ्गेणार्यते प्राप्यते सामाजिकैः असाविति वा, शृङ्गमाराति समन्ततो ददातीति वा शृङ्गारः) (वीतराग व्यक्तियों के अन्दर इस रस की उत्पत्ति नहीं होती है) (और वह) प्रायः उत्तम प्रकृति वाला होता है ["प्रायः" शब्द से यह सूचित होता है कि अधम के आलम्बन से भी शृङ्गार की उत्पत्ति होती है परन्तु शृङ्गाराभास कहलाता है] इस शृङ्गार के अन्दर परकीया (इससे कन्या का भी ग्रहण हो गया है) और अनुराग शून्य वेश्या को छोड़कर (क्योंकि वेश्याविषयक शृङ्गार रस शृङ्गाराभास होता है) (अन्य सभी) नायिकायें तथा दक्षिण, अनुकूल, धृष्ट और शठादि नायक "आलम्बन" विभाव होते हैं । चन्द्रमा, चन्दन (और) भ्रमर की झंकारादि ("आदि" पद से रहःस्थान, यौवन, कोयल का कूजन और देशकालादि का ग्रहण होता है) "उद्दीपन" विभाव माना गया है ।

भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः ॥१८५॥
त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः ।
स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः ॥

यथा—

'शून्यं वासगृहम्—'इत्यादि । अत्रोक्तस्वरूपः पतिः, उक्तस्वरूपा च बाला आलम्बनविभावौ । शून्यं वासगृहम्—उद्दीपनविभावः । चुम्बनम्—अनुभावः । लज्जाहासौ—व्यभिचारिणौ । एतैरभिव्यक्तः सहृदयविषयो रतिभावः शृङ्गाररसरूपतां भजते ।

अर्थ—(नायक, नायिका का) भ्रकुटिभंग और कटाक्षादि ("आदि" पद से मुख का विकसित होना और हाथ के संकेतादि का ग्रहण होता है) "अनुभाव" कहे गये हैं । उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा (वीर रस की स्थायीभाव रूप घृणा) को छोड़कर (अन्य सभी निर्वेदादि भाव) 'व्यभिचारी" भाव होते हैं । रति स्थायीभाव है । यह रस (शृङ्गार) श्यामवर्ण वाला है, विष्णु देवता वाला कहा गया है । (तथोक्तं नाट्यशास्त्रे—"शृङ्गारो विष्णुदेवः" इति "श्यामो भवति शृङ्गारः" इति च)

अवतरणिका—शृङ्गार रस का लक्षण करके अब उसको घटाते हैं:—

अर्थ—(शृङ्गार रस का उदाहरण) यथा—"शून्यं वासगृहम्—इत्यादि" । यहाँ पर उक्त स्वरूप ("निद्राव्याजमुपागतस्य" इसके द्वारा जिसका स्वरूप कहा गया है) पति और उक्त स्वरूपा वाला (पत्नी) ("शयनादुत्थाय" इसके द्वारा जिसका स्वरूप कहा गया है) आलम्बन विभाव है । "शून्यं वासगृहम्" उद्दीपन विभाव है । चुम्बन अनुभाव है । लज्जा और हास व्यभिचारीभाव हैं । इन सबसे अभिव्यक्त होकर सहृदय सामाजिकों का विषय रतिभाव शृङ्गार रस की स्वरूपता को प्राप्त करता है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर संभोगशृङ्गार है ।

(२) 'रति' की ६ उत्तरोत्तर निम्न विकासावस्था मानी गईं हैं—

१. प्रेम—स प्रेमा भेदरहितं यूनोर्यद्भावबन्धनम् ।

२. मान—यत्तु प्रेमानुबन्धेन स्वातन्त्र्याद्धृदयङ्गमम् ।
बध्नाति भावकौटिल्यं सोऽयं मान इतीर्यते ॥

३. प्रणय—बाह्यान्तरोपचारैर्यत् प्रेममानोपकल्पितैः ।
बध्नाति भावविस्रम्भं सोऽयं प्रणय उच्यते ॥

४. स्नेह—विस्रम्भे परमां काष्ठामारूढे दर्शनादिभिः ।
यत्र द्रवत्यन्तरङ्गं स स्नेह इति कथ्यते ॥

५. राग—दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव रज्यते ।
येन स्नेहप्रकर्षेण स राग इति गीयते ॥

६. अनुराग—राग एव स्वसंवेद्यदशां प्राप्याप्रकाशितः ।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेदनुराग इतीरितः ॥

तद्भेदावाह—

विप्रलम्भोऽथ संभोग इत्येष द्विविधो मतः ॥१८६॥

तत्र—

यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ ।

शृङ्गाररसभेदनिरूपणम्—

अर्थ—उसके (शृङ्गार के) भेदों को बताते हैं।

यह (शृङ्गार) विप्रलम्भ और सम्भोग इसप्रकार दो प्रकार का स्वीकार किया गया है।

टिप्पणी—"शृङ्गार" दो प्रकार का होता है-(१) सम्भोग और (२) विप्रलम्भ।

"संभोग" की व्युत्पत्ति—सम्युज्यतेऽन्योन्यमुपभुज्यते यत्र स सम्भोगः ईर्ष्या-राहित्याविनाऽत्र रतेरुन्मेषो लक्षणया तन्मूलो रसः।

"विप्रलम्भ" की व्युत्पत्ति—विप्रलभ्यते मदनेन प्रतार्यते नायको 'नायिका च यत्र स विप्रलम्भः विशेषेण प्रलम्भ ईर्ष्यादिना रतेरुच्छदो लक्षणया तन्मूलरस इति।

"सम्भोग" का लक्षण- संयोगकालावच्छिन्नत्वेन प्रकृष्टरतिविषयः सम्भोगः।

"विप्रलम्भ" का लक्षण—वियोगकालावच्छिन्नत्वेन विप्रलम्भो नाम शृङ्गारः।

यहाँ पर नायक और नायिकाओं के सामानाधिकरण्य भाव से अथवा वैयधिकरण्य भाव से "संयोग" और "वियोग" नामक शृङ्गार स्वीकार नहीं किये गये हैं। भिन्न शय्याओं पर अथवा एक शय्या पर सोने पर भी प्रेम और ईर्ष्यादि के कारण सम्भोग और विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन किया जाता है। इस कारण से ये दोनों ही संयोग और वियोग नामक शृङ्गार रस अन्तःकरण की वृत्ति के भेद हैं जिससे मैं संयुक्त हूँ, मैं वियुक्त हूँ-इसप्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है।

विप्रलम्भरसनिरूपणम्--

अर्थ--उनमें से ("विप्रलम्भ" का लक्षण) यत्रेति--जिस शृङ्गार के अन्दर रति (नायक और नायिका का पारस्परिक अनुराग) तो प्रकरणादि के द्वारा अति प्रवृद्ध है किन्तु प्रिय को (नायक को अथवा नायिका को) (किसी कारण से) प्राप्त नहीं होता है वह विप्रलम्भ शृङ्गार है। (अर्थात् उपभोगाभावसंवलितप्रकृष्टरतिविषयो रसो विप्रलम्भ-इत्याशयः।)।

टिप्पणी--(१) करुणादि रस के अन्दर शोक के उद्दीपन होने के कारण और रतिभाव की विद्यमानता के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्दर अतिव्याप्ति के निवारण के लिये "प्रकृष्टा" लिखा है।

अभीष्टं नायकं नायिकां वा ।

स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ।।१८७।।

तत्र—

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः ।
दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते ।।१८८।।

---

(२) संभोगशृङ्गार के अन्दर अतिव्याप्ति के निवारण के लिये "**उपभोगाभाव**" लिखा है ।

(३) विप्रलम्भ के समान विषय वाले दूसरे ज्ञान के अन्दर अथवा संस्कार के अन्दर अतिव्याप्ति के निवारण के लिये "रसः" यह लिखा है ।

(४) दूसरे कुछ—"**नायिकादि भिरभीष्टंनोपति न संगच्छते । तथा चाभीष्ट-विच्छेदसंवलिता रतिर्यत्र स विप्रलम्भः**"—इसप्रकार की व्याख्या करते हैं । यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रणयमान आदि में अभीष्ट विच्छेद का अभाव होने से अव्याप्ति नामक दोष आता है ।

(५) इसीप्रकार कुछ—"**संयोगः सुखसम्भिन्नो विप्रलम्भस्तु दुःखयुक् ।**
रतिस्तयोः प्रकर्षः स्यादाधिक्यात्सुखदुःखयोः ।।"
इसके द्वारा "दुःख से युक्त रति स्थायी भाव वाला रस विप्रलम्भ होता है" ऐसा मानते हैं । यह मानना ठीक नहीं है । क्योंकि प्रणयमान के अन्दर दुःख के न होने के कारण अव्याप्ति नामक दोष होता है ।

अर्थ—(कारिकागत "अभीष्टं" पद की व्याख्या करते हैं) अभीष्ट को–प्रिय को–नायक या नायिका को ।

विप्रलम्भभेदनिरूपणम्—

अर्थ—वह विप्रलम्भ शृङ्गार (१) पूर्वराग, (२) मान, (३) प्रवास और (४) करुण, (इन भेदों से) चार प्रकार का होता है ।

टिप्पणी—"चतुर्धा" यह केवल उपलक्षणमात्र है । इसलिये **विरहोपाधिक** ५वाँ इसका दूसरा भी भेद समझना चाहिये । और वह भेद दूसरे देशों में जाने आदि से उत्पन्न होने पर भी गुरु आदि के परतन्त्र होने के कारण एक स्थान पर विद्यमान होते हुये भी प्रिय के विच्छेद से उत्पन्न होता है । **यथा—"किं रुद्धः प्रियया" इत्यादि ।**

अवतरणिका—क्रमशः विप्रलम्भ के भेदों का वर्णन करते हैं—

अर्थ—उनमें से (पूर्व प्रतिपादित पूर्वरागादिकों में से) ("पूर्वराग" का लक्षण)—**श्रवणादिति**—सुनने से (सौन्दर्यादि गुणों के सुनने से) अथवा रूप के दर्शन से परस्पर उत्पन्न अनुराग वाले (नायक-नायिका का) परस्पर समागम न होने पर जो अवस्था विशेष होती है वह "पूर्वराग" कहलाता है । (**प्राप्तेः पूर्वस्मिन् काले रागः पूर्वरागः**—अर्थात् परस्पर प्राप्ति से पहली अवस्था का नाम "पूर्वराग" है) ।

टिप्पणी—यह पूर्वराग कन्या रूप ही नायिका के अन्दर हो सकता है । **यथा**—नल और दमयन्ती का, उषा और अनिरुद्ध का तथा मालती और माधव का पूर्वराग है ।

श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतबन्दीसखीमुखात् ।
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम् ॥१८९॥
अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥१९०॥
अभिलाषः स्पृहा चिन्ता प्राप्त्युपायादिचिन्तनम् ।
उन्मादश्चापरिच्छेदश्चेतनाचेतनेष्वपि ॥१९१॥

अर्थ—उसके अन्दर (पूर्वराग के अन्दर) दूत, बन्दिजन (स्तुतिपाठ करने वाले) (यहाँ पर दूत पद दूती का और बन्दि पद द्विजादिकों का उपलक्षण है) और सखियों के मुख से गुणों का श्रवण होता है। और दर्शन इन्द्रजाल में, चित्र में साक्षात् ही अथवा स्वप्न में होता है।

टिप्पणी—श्रवणादिकों का क्रमशः उदाहरण—

(१) नैषध में नल और दमयन्ती ने दूत और स्तुतिपाठकों के मुख से परस्पर एक दूसरे के गुणों को सुना था।

(२) मालतीमाधव में बुद्धिरक्षिता की सखी के मुख से मकरन्द की सखी मदयन्तिका ने सुना था।

(३) "कथमीक्षे कुरङ्गाक्षीम्" इस पद्य के अन्दर प्रियतम ने प्रियतमा का इन्द्र जाल में दर्शन किया है :

(४) मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र ने चित्र में मालविका को देखा है।

(५) शाकुन्तलम् में दुष्यन्त और शकुन्तला का परस्पर साक्षात् दर्शन था।

(६) श्रीमद्भागवत में उषा ने अनिरुद्ध का स्वप्न में दर्शन किया था।

अवतरणिका—विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्दर होने वाली दस काम-दशाओं का वर्णन करते हैं।

अर्थ—(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मृति, (ध्यान) (४) गुणकथन, (५) उद्वेग (व्याकुलता), (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता (निश्चेतनता) और (१०) मरण ये दस प्रकार की कामदेव के उद्रेक से उत्पन्न होने वाली अवस्थायें इसमें (पूर्वराग में) होती हैं :

अवतरणिका—उक्त कारिका के अन्दर अपनी दृष्टि के अस्पष्ट पदों की ग्रन्थकार व्याख्या करते हैं।

अर्थ—(१) (अभिलाषा का लक्षण) (नायक-नायिकाओं का एक दूसरे के प्रति) अभीष्ट प्राप्ति की इच्छा (का नाम) "अभिलाष" है। (२) (चिन्ता का लक्षण) प्राप्ति के उपायादि को सोचने का नाम 'चिन्ता" है। (३) (उन्माद का लक्षण) जड़ और चेतन पदार्थों के विषय में भी विवेक न रहना (विशेषता के निर्धारण का अभाव) "उन्माद" है (यहाँ पर आयुर्वेद के अन्दर प्रतिपादित उन्माद का लक्षण इष्ट नहीं है)।

अलक्ष्यवाक्प्रलापः स्याच्चेतसो भ्रमणाद् भृशम् ।
व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वासपाण्डुताकृशतादयः ॥१६२॥
जडता हीनचेष्टत्वमङ्गानां मनसस्तथा ।

शेषं स्पष्टम् ।

क्रमेणोदाहरणानि—

'प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।

---

(४) (प्रलाप का लक्षण) अत्यधिक चित्त के अभीष्ट के प्रति जाने से जो लक्ष्य शून्य वचन है वह "प्रलाप" होता है । (५) (व्याधि का लक्षण) दीर्घ निःश्वास, पाण्डुता, शरीर की कृशता आदि ("आदि" पद से मुख का श्रीविहीन हो जाना आदि है) "व्याधि" कहलाती है (आयुर्वेदोक्त विषम-ज्वरादि व्याधि का ग्रहण नहीं है)। (६) (जड़ता का लक्षण) अङ्गों का (हाथ पैर आदि अवयवों का) तथा मन का (बुद्धि का) निश्चेष्ट होना (अपने अपने कार्यों में असमर्थ होना) "जड़ता" कहलाता है। शेष (७) स्मृति (८) गुणकथन (९) उद्वेग और (१०) मरण स्पष्ट हैं (अतः व्याख्या नहीं की है ।) ।

टिप्पणी—ग्रन्थकार से अनुक्त स्मृत्यातिकों के लक्षण—

(१) स्मृति का लक्षणः—द्वेधो यत्राऽन्यकार्येषु तदेकाग्रं च मानसम् ।
श्वासैर्मनोरथैश्चापि चेष्टास्ता स्मृतिरुच्यते ॥

(२) गुणकीर्तन का लक्षणः— सौन्दर्यहसितालापैर्नास्त्यन्यस्तत्समो युवा ।
इति वाणी भवेद्यत्र तदुक्त गुणकीर्तनम् ॥

(३) उद्वेग का लक्षणः—यस्मिन् रम्यमरम्यं वा न च हर्षाय जायते ।
प्रद्वेषः प्राणितव्येऽपि स उद्वेगोऽभिधीयते ॥

विप्रलम्भभेदोदाहरणनिरूपणम्—

अर्थ—(इसप्रकार अभिलाषादिकों की व्याख्या करके) क्रम से (अभिलाषादि कामदशाओं के) उदाहरण (दिये जाते हैं) ।

अवतरणिका—(१) साक्षात् दर्शन से उत्पन्न "अभिलाषा" का उदाहरणः—

प्रसंग—"मालतीमाधव" के ५म अङ्क में मालती को प्राप्त करने के लिये श्मशान साधन में प्रवृत्त माधव का यह अभिलाष है ।

अर्थ—सुन्दर नयनों वाली (मालती) प्रेम से (आन्तरिक स्नेह विशेष से) पगी, (अर्थात् प्रेमाभिव्यंजक) (अतएव) प्रणयपरिपूर्ण, पौनःपुन्येन दर्शनादि व्यापार से (परिचयात्) प्रगाढ़ अनुराग का (सुरतेच्छा का) आविर्भाव है जिसमें ऐसी, स्वभाव से मनोज्ञ वे वे (पूर्वानुभूत) चेष्टायें (शृङ्गार चेष्टायें) मुझ पर बार बार होवें । जिन

यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-

दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥'

अत्र मालतीसाक्षाद्दर्शनप्ररूढरागस्य माधवस्याभिलाषः ।

'कथमीक्षे कुरङ्गाक्षीं साक्षाल्लक्ष्मीं मनोभुवः ।

इति चिन्ताकुलः कान्तो निद्रां नैति निशीथिनीम् ॥'

अत्र कस्याश्चिन्नायिकाया इन्द्रजालदर्शनप्ररूढरागस्य नायकस्य चिन्ता ।

इदं मम ।

'मयि सकपटम्'—इत्यादौ नायकस्य स्मृतिः ।

'नेत्रे खञ्जन गञ्जने'—इत्यादौ गुणकथनम् ।

'श्वासान्मुञ्चति'—इत्यादौ उद्वेगः ।

चेष्टाओं में मनोरथ से संकल्प के विषयीभूत होने पर भी क्षणमात्र में (मनोरथ की कल्पनामात्र से ही) बाह्येन्द्रियों (चक्षुरादि) के व्यापार को (अपने-अपने विषय को ग्रहण करने को) रोकने वाले (बाह्येन्द्रिय के सम्बन्ध का प्रतिबन्धक) अन्तःकरण का (मन का) सान्द्र आनन्द में विलय हो जाता है। अत्रेति—यहाँ पर (इस पद्य के अन्दर) मालती के साक्षात् दर्शन से उत्पन्न अनुराग वाले माधव का (मालती विषयक) "अभिलाष" है ॥

टिप्पणी—इस पद्य के अन्दर मालती आलम्बन विभाव है, उसकी चेष्टाओं का स्मरण करना उद्दीपन विभाव है, आशंसा अनुभाव है, उत्कण्ठा व्यभिचारीभाव है और रति स्थायीभाव है।

अवतरणिका—(२) "चिन्ता" का उदाहरणः—

प्रसंग—इन्द्रजाल के अन्दर देखी हुई नायिका के प्रति कामी दूती की यह उक्ति है।

अर्थ—साक्षात् (मूर्तिमती) कामदेव की शोभास्वरूप मृगनयनी को किसप्रकार मैं देखूंगा ? इसप्रकार चिन्ता से व्याकुल कान्त सम्पूर्ण रात्रि नींद को प्राप्त नहीं करता है अर्थात् नहीं सोता है। अत्रेति—यहाँ पर (इस पद्य में) किसी नायिका को इन्द्रजाल में देखने से प्ररूढ़ राग वाले नायक की चिन्ता (व्यक्त होती है)।

अवतरणिका-(३) स्मृति, (४) गुणकथन और (५) उद्वेग के क्रमशः उदाहरण-

अर्थ—यह मेरा (अर्थात् ग्रन्थकार का अपना बनाया हुआ पद्य उदाहरण रूप से देते हैं) है। "**मयि सकपटम्**" इत्यादि पद्य में नायक की "स्मृति" है। "**नेत्रे खञ्जनगंजने**" इत्यादि पद्य में "गुणकथन" है। (यहाँ पर नेत्रादिकों के खञ्जन-गञ्जनत्वादि रूप से वर्णन करने से **गुणवर्णन** स्पष्ट है)। "**श्वासान् मुञ्चति**" इत्यादि पद्य में "उद्वेग" है। (इसप्रकार तपन और उद्वेग में ऐक्य अभिव्यञ्जित होता है)।

'त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।
क्व नीलकण्ठ ! व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठर्पितबाहुबन्धना ॥'

अत्र प्रलापः ।

'भ्रातर्द्विरेफ'—इत्यादौ उन्मादः ।

'पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥'

अत्र व्याधिः ।

अवतरणिका—(६) "प्रलाप" का उदाहरण तथा (९) "उन्माद" का उदाहरण देते हैं—

प्रसंग—"कुमारसम्भव" के ५म सर्ग के ५७ वें श्लोक में पार्वती की सखी विजया की जटिल वेष में प्रच्छन्न शिवजी के प्रति यह उक्ति है।

अर्थ—तीन भाग अवशिष्ट रात्रियों में (पार्वती) क्षणभर के लिये (निद्रा से) नेत्रों को बन्द करके हे नीलकण्ठ ! कहाँ जाते हो ? इसप्रकार बिना ही लक्ष्य के वाणी वाली स्वप्न का विषय होने के कारण असत्य (शिवजी के) कण्ठ में, अथवा स्वप्नमात्र, में उद्‌भासित होने वाले अलीक शिव के कण्ठ में डाला है बाहु-बन्धन जिसने ऐसी अथवा आलम्बन के असत्य होने के कारण मृषा ही कण्ठ में डाला है बाहु-बन्धन जिसने ऐसी सहसा ही उठ जाया करती थी। (आशय यह है कि विरह के कारण पार्वती को निद्रा ही नहीं आती थी और यदि कभी आती भी थी तो स्वप्न में भी शिव जी को ही देखा करती थी)।

अत्रेति—यहाँ पर (अनुरक्त पार्वती का) "प्रलाप" है।

"भ्रातर्द्विरेफ" इत्यादि पद्य में "उन्माद" है। (इसप्रकार दोनों "उन्मादों" के अन्दर अभिन्नता प्रतिपादित की है।)"

अवतरणिका—"व्याधि" का उदाहरण—

प्रसंग—मालतीमाधव के अन्दर मालती के प्रति उसकी विरहावस्था को पूछती हुई लवङ्गिका की यह उक्ति है। परन्तु प्रचलित पाठ के अन्दर यह उपलब्ध नहीं होता हैं, अतः अविवाहित अपनी अभिलाषा को प्रकट करने में असमर्थ सखी के प्रति सखी की उक्ति है:—

अर्थ—हे सखि, तुम्हारा पाण्डुवर्ण इसीलिये अशोभन कृश मुख, प्रेम परिपूर्ण हृदय और सभी विषयों में अनुत्सुक (अलसं) शरीर, हृदय के अन्दर (विद्यमान) नितान्त मृत्यु पर्यन्त स्थित रहने वाले रोग को (असाध्य-चिकित्सा रहित) सूचित कर रहा है। **अत्रेति**—इस पद्य के अन्दर (कही अनुरक्त बाला की) ,'व्याधि" है।

'भिसणीअलसअणीए निहिअं सव्वं सुणिच्चलं अङ्गं ।
दीहो णीसासहरो एसो साहेइ जीअइत्ति परं ॥'
(बिसनीदलशयनीये निहितं सर्वं सुनिश्चलमङ्गम् ।
दीर्घो निःश्वासभर एष साधयति जीवतीति परम् ॥)

अत्र जडता । इदं मम ।

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते ॥१९३॥
जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकाङ्क्षितं तथा ।
वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः ॥१९४॥

अवतरणिका—(९) जड़ता का उदाहरणः—

प्रसङ्ग—अपने प्रिय नायक का स्मरण करके विरह से आसन्नमृत्यु वाली सखी की अवस्था को देखकर किसी सखी की यह उक्ति है ।

अर्थ—कमलिनी के पत्रों से निर्मित शय्या पर पड़ा हुआ सम्पूर्ण शरीर निश्चल है (अर्थात् मृत व्यक्ति के तुल्य है) परन्तु यह (अनुभव किया जाता हुआ—जिसको लक्ष्य करके यह वर्णन है उसको देखकर) दीर्घ उच्छ्वास जी रही है यह सिद्ध करता है । अत्रेति—इस पद्य के अन्दर (किसी नायक के प्रति अनुरक्त कामिनी की "जड़ता" है । यह मेरा (ग्रन्थकार द्वारा निर्मित पद्य) है ।

अवतरणिका—(१०) काम की दशम अवस्था "मरण" के विषय में विवेचन करते हैं ।

प्रसङ्ग—शङ्का-कामदशाओं के अन्दर मरण दशा का अन्तिर्भाव होने के कारण कवियों ने उसका आदर क्यों नहीं किया—इसका उत्तर देते हैं:—

अर्थ—रति के (रहस्य) विनाश का कारण होने के कारण (यदि मरण का वर्णन किया जायेगा तो रति के आश्रय की मृत्यु से रति का विनाश हो जायेगा । इस प्रकार का मरण रूप अनुभाव के कारण रतिभाव के मिलन के अभाव से रस उत्पन्न नहीं हो सकता है किन्तु शृङ्गार को नष्ट करके करुण रस का आविर्भाव होता है, जो कि शोक स्थायीभाव की उपलब्धि से होता है) "मरण" (कवियों के द्वारा) वर्णन नहीं किया जाता है । (यदि मरण दशा का वर्णन नहीं करते हैं तो कामदशाओं के अन्दर "मरण" की गणना क्यों की जाती है ? इसका उत्तर देते हैं कि) वह (मरण दशा यदि) मरण तुल्य हो (तो उसका) वर्णन कर देना चाहिये तथा (यदि मरण) चित्त से आकांक्षित (मरण का भी वर्णन कर देना चहिये) यदि पुनः शीघ्र ही पुनर्जीवित होना हो (तो मरण का भी) वर्णन करते हैं [क्योंकि प्रत्युज्जीवनावस्था की अवस्था में उत्पन्न होने वाला शोक क्षणिक होने के कारण तथा दुर्बल होने के कारण धाराप्रवाह रूप प्रबल रतिभाव को नष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकता है । अतः वहाँ पर शृंगार रस ही होता है यह ग्रन्थकार का आशय है ।] ।

तत्राद्यं यथा—

'शेफालिकां विदलितामवलोक्य तन्वी
प्राणान् कथंचिदपि धारयितुं प्रभूता ।
आकर्ण्य संप्रति रुतं चरणायुधानां
किं वा भविष्यति न वेद्मि तपस्विनी सा ॥'

टिप्पणी—(१) कुछ प्राचीन मत वाले उस क्षणिक मृत्यु की अवस्था में भी करुण रस को ही स्वीकार करते हैं। इसका विशद वर्णन आगे चलकर "करुण-विप्रलम्भ" रस के समय करेंगे । (२) कामदशा के अन्दर विद्यमान "मरण" की चार अवस्थायें होती हैं :—(१) प्रत्युज्जीवनाशाशून्यम् । (२) जातप्रायमरणम् (३) आकांक्षितमरणम् और (४) समीपवर्तिपुनरुज्जीवनकपरम् । इनमें से पहली "प्रत्युज्जीवनाशून्यम्" के अन्दर रसभङ्ग होने के कारण उसका वर्णन नहीं करते हैं और शेष के अन्दर रसभङ्ग का अभाव होने के कारण वर्णन किया जाता है ।

अवतरणिका—इसप्रकार मरण की शेष तीन अवस्थाओं के क्रमशः उदाहरण देते हैं :—

अर्थ—(१) उनमें से (मरण की तीन अवस्थाओं में से) प्रथम मरण का (जातप्रायणम् का उदाहरण) शेफालिकामिति—(प्रबल विरह सन्ताप से सन्तप्त आसन्नमरणा नायिका के द्वारा उसी समय नायक को बुलाने के लिये भेजी हुई दूती की नायक के प्रति उक्ति) वह बेचारी (तपस्विनी) (नायिका) (तुम्हारे विरह में भोजन और आभूषणों को छोड़कर विषयों से विमुख होकर तपस्या करने के कारण तपस्विनी) (अतएव) कृश शरीर वाली (अर्थात् अस्थिमात्र शेष रह गया है शरीर जिसका ऐसी) शेफालिका को (हरसिंगार के पुष्प को) विकसित (इससे मध्यरात्रि सूचित होती है) देखकर जिस किसीप्रकार प्राणों को धारण करने में समर्थ हो सकी (यद्यपि उसी समय प्राण निकलने के लिये तैयार थे, परन्तु आधी रात्रि के शेष होने के कारण दूती के साथ नायक के आने की आशा के कारण किसीप्रकार बड़े प्रयत्न से प्राणों को रोक सकी) (परन्तु) इस समय (रात्रि के आधे प्रहर के शेष होने पर) कुक्कुटों की आवाज को सुनकर किसप्रकार की अवस्था वाली होगी (यह मैं) नहीं जानती हूँ अर्थात् इस समय यदि उसका शरीर भस्मसात् हो जाये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

टिप्पणी—(१) "शेफालिका" पुष्प रात्रि के मध्य भाग में विकसित हुआ करते हैं, अतः उनको देखकर रात्रि के शेष होने के कारण नायक के आने के प्रति आशा सम्भव थी परन्तु मुर्गों की आवाज तो प्रातःकाल की सूचक होने के कारण वह निराश हो गई है ।

(२) यहाँ पर "किं वा भविष्यति" इस पद से आसन्नमृत्यु सूचित होती है ।

द्वितीयं यथा—

'रोलम्बाः परिपूरयन्तु हरितो भङ्कारकोलाहलैः
मंन्दं मन्दमुपैतु चन्दनवनीजातो नभस्वानपि ।
माद्यन्तः कलयन्तु चूतशिखरे केलीपिकाः पञ्चमं
प्राणाः सत्वरमश्मसारकठिना गच्छन्तु गच्छन्त्वमी ॥'

ममैतौ ।

तृतीयं यथा—

कादम्बर्यां महाश्वेतापुण्डरीकवृत्तान्ते । एष च प्रकारः करुणविप्रलम्भ-विषय इति वक्ष्यामः ।

अर्थ—(२) दूसरे (**चेतसाऽऽकाङ्क्षितं मरणम्**) का (उदाहरण) **यथा—रोलम्बा इति**—(प्रिय के विरह में कामपीडित नायिका की उक्ति है) भ्रमर अपने झंकार के कोलाहलों से दिशाओं को परिपूर्ण कर दें, चन्दन के वनों से उत्पन्न (अर्थात् चन्दन की सुगन्धि से मनोहर दाक्षिणात्य) पवन भी धीरे-धीरे बहे, खेलने के लिये घर के अन्दर पाली हुई कोयलें आम्रवृक्ष के शिखर पर (बैठी हुई), मस्त होती हुईं पञ्चम स्वर से गान करें, ये मेरे लोह के सदृश कठोर प्राण शीघ्र ही चले जायें। (इससे प्राणों की नितरां अनावश्यकता सूचित होती है)। ये दोनों पद्य मेरे अर्थात् श्री विश्वनाथ जी द्वारा बनाये हुये हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर कामपीडा को सहन करने में असमर्थ नायिका ने स्वतः मरण की आकांक्षा की है।

अर्थ–(३) तीसरे (**मरणात् परं प्रत्युज्जीवनम्**) का (उदाहरण) **यथा-कादम्बर्यामिति**—(बाणभट्ट द्वारा चरित गद्यकाव्य) कादम्बरी में महाश्वेता और पुण्डरीक के वृतान्त में। (पहले पुण्डरीक की मृत्यु हो चुकी है किन्तु शीघ्र ही पुनः जीवित हो गया है। तथापि ग्रन्थ के अन्दर बहुत दूर चलकर ही पुण्डरीक के जीवित हो उठने का वर्णन है तथापि कथानक की दृष्टि से शीघ्र ही जीवित हो उठा है, ऐसा समझना चाहिये), **एष चेति**—यह भेद "करुणविप्रलम्भ" विषयक है, इसका (आगे चलकर) वर्णन करेंगे।

टिप्पणी—महाश्वेता और पुण्डरीक का वर्णन कादम्बरी में इसप्रकार है:—

'हंसाख्यगन्धर्वराजतनया महाश्वेताभिधाना, श्वेतकेतोर्विप्रमूर्धन्यस्य पुण्डरीक इत्यभिधस्तनयश्चास्ताम्। कदाचित् समवलोक्य जातपरस्परानुरागोऽनन्तरं पुण्डरीको वियुज्य वर्तमानस्तपोधनमुख्योऽपि कामवेदनया जर्जरीकृतः प्राणान् मुमोच। एवं—विधोदन्तमुपलभ्य तद्दुःखदुःखितायां तथैव विधातुमुद्यतायां महाश्वेतायाम् आकाश-वाण्या चैवमुपदिष्टम्—वत्से ? महाश्वेते ? न त्वाज्याास्त्वया प्राणाः पुनरपि तवानेन भविष्यति समागमः। अनेन समीपवर्ति पुनरुज्जीवनं पुण्डरीकस्य स्पष्टमेव।

केचित्तु—

'नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः ।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ॥
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ।' इत्याहुः ।

तत्र च—

आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः ।

अवतरणिका—कुछ आचार्य ऊपर निर्दिष्ट कामदशाओं से भिन्न काम की १० अवस्थाओं को स्वीकार करते हैं । अतः उनके मत को दिखाने के लिये पक्षान्तर उठाते हैं ।

अर्थ—कुछ (रतिरहस्यकार वात्स्यायनादि) तो (१) पहले (गुणों को सुनने के समय ही) **नयनानुराग** (नायिका को देखकर सम्भोगेच्छारूप काम के पश्चात् नेत्र सानुराग वाले हो जाते हैं) (२) उसके बाद (अभीष्ट विषय की उपलब्धि न होने पर) **मन की परस्पर आसक्ति** (३) इसके बाद (नायिका के अन्दर चित्त के आसक्त हो जाने पर) **संकल्प** ("इसको किसप्रकार प्राप्त करूँगा और प्राप्त करके ऐसा करूँगा" इस प्रकार का मनोरथ विशेष) (४) उसके बाद (संकल्प का ध्यान करते हुये) **निद्रानाश** (५) (निद्रा के विनष्ट हो जाने से) **शरीर की कृशता** (६) (उसके बाद) **बाह्य विषयों से विमुखता** (नायिका के अन्दर अत्यन्त मन के आसक्त हो जाने से अन्य विषय दावाग्नि से दग्ध वनों की तरह नहीं पास आते हैं) (७) विषयों से विरक्त हो जाने से) **निर्लज्जता** (निर्लज्ज हो जाने से पूजनीयों से भी लज्जा नहीं करता है ।) (८) (निर्लज्ज हो जाने से) **उन्माद** (९) (उसके बाद) **मूर्च्छा** (जागने पर भी बाह्येन्द्रियों की व्यापार की शून्यावस्था) (१०) (उसके बाद) **मरण** (प्राणों से वियोग), इस प्रकार ये दस ही कामजन्य अवस्थायें होती हैं, ऐसा कहते हैं ।

अवतरणिका—नायक और नायिकाओं में से "पूर्वराग" पहले किसका वर्णन करना चाहिए ? इसका समाधान करते हैं ।

अर्थ—उसमें (पूर्वराग के विषय में) पहले स्त्री का (नायिका का) (नायक के प्रति अनुराग वर्णन करना चाहिये, तदनन्तर उसकी (नायिका की) **चेष्टाविशेषों से** (नेत्रविक्षेपादि से) पुरुष के (नायक के) (अनुराग का वर्णन करना चाहिये) ।

इङ्गितान्युक्तानि। यथा रत्नावल्यां सागरिकावत्सराजयोः। आदौ पुरुषानुरागे संभवत्यप्येवमधिकं हृदयङ्गमं भवति।

नीली कुसुम्भं मञ्जिष्ठा पूर्वरागोऽपि च त्रिधा ॥१९५॥

तत्र—

न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम्।
तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः ॥१९६॥

अर्थ— **इङ्गितानीति**—इङ्गितों को ("अभिलाषा" आदिरूप अनुराग चेष्टाओं को) पहले कह चुके हैं। [दृष्ट्वा दर्शयति व्रीडाम् [इत्यादि।] यथा-(श्रीहर्षदेव रचित) रत्नावली नाटिका में सागरिका और वत्सराज का (अनुराग)। (यहां पर सागरिका का पहले "अनुराग" प्रदर्शित किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सिंहलेश्वर की कन्या वासवदत्ता की सखी रत्नावली के अतिरिक्त सागरिका नाम वाली थी। और वासवदत्ता का पति "वत्सराज" नाम का था। उन दोनों के परस्पर प्रेमसूचक इङ्गितों को रत्नावली नाटिका के अन्दर बताया गया है। **आदाविति**–प्रारम्भ में पुरुषानुराग के सम्भव होने पर भी इसप्रकार (नायिका के पूर्वराग को पहले वर्णन करने से) (काव्य) अधिक मनोहर होता हैं।

अवतरणिका—पूर्वराग के भेद दिखाते हैं।

अर्थ—"पूर्वराग" भी तीन प्रकार का होता है। (१) नीलीराग (२) कुसुम्भराग और (३) मञ्जिष्ठाराग।

अवतरणिका— क्रमशः तीनों पूर्वरागों का लक्षण करते हैं।

अर्थ—उनमें से (१) नीलीराग (२) कुसुम्भराग (३) मञ्जिष्ठाराग–इन तीनों में से (१) ("नीलीराग का लक्षण) **न चेति**-(नायक और नायिका के) हृदय के अन्दर विद्यमान जो प्रेम (किसी भी कारण से हृदय से) नष्ट नहीं होता है और नहीं (चेष्टादिक बाह्य भावों को प्रकाशित करके अथवा अपनी सखियों के मध्य में धैर्य और लज्जा के कारण) अति मनोहरता को प्राप्त होता है, उसको "नीलीराग" (कविजन कहते हैं। (अर्थात् जिस प्रकार नीलवृक्ष के द्रव से रञ्जित वस्त्रादि का रंग जलादि मे न तो नष्ट होता है और न ही अत्यधिक शोभा पाता है उसी प्रकार यह "नीलीराग" नामक पूर्वराग है) जिस प्रकार श्री रामचन्द्र जी और सीता जी का।

टिप्पणी—विवाह से पूर्व श्रीराम और सीता जी का श्रवणादि के द्वारा उत्पन्न पारस्परिक प्रेम शिवजी के धनुष भङ्ग रूप विघ्न से भी नष्ट नहीं हुआ और न ही धैर्य और लज्जा के कारण सखियों के मध्य में अतिशय व्यक्त ही हुआ। अतः यह अनुराग "नीलीराग" कहलाता है।

कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते।
मञ्जिष्ठारागमाहुस्तद् यन्नापैत्यतिशोभते ॥१९७॥

अथ मानः —

मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः।
द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि ॥१९८॥
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं विना।

अवतरणिका—(२) "**कुसुम्भराग**" का लक्षण और "**मञ्जिष्ठाराग**" का लक्षण:—

अर्थ—(२) ("कुसुम्भराग" का लक्षण) (नायक और नायिका का) जो (प्रेम) (किसी कारण से हृदय से) नष्ट हो जाता है (किन्तु बाह्य भावों के प्रकाशित होने से सखियों के मध्य में) अतिशय शोभित होता है। (अर्थात् जो शोभित बहुत हो पर हृदय से जाता रहे) उसको (आलङ्कारिक) "कुसुम्भराग" कहते हैं। [जिसप्रकार कुसुम्भफल के द्रव से रञ्जित वस्त्रादि का रंग जलादि से विनष्ट हो जाता है किन्तु अपनी सत्ता के समय अतिशय शोभित होता है उसीप्रकार यह **कुसुम्भराग भी होता है। यथा**-देवहूति और तपस्वी कर्दम का अनुराग। (३) ("**मञ्जिष्ठाराग**" का लक्षण) (नायक और नायिका का) जो (प्रेम विशेष विघ्नों के उपस्थित होने पर हृदय से नहीं जाता है (और) अतिशय शोभित होता है (बाहर अतिशय भावों को प्रकट करने के कारण सखियों के मध्य अति शोभा पाता है) उसको "**मञ्जिष्ठाराग**" (आलङ्कारिक) कहते हैं। जिसप्रकार प्रसिद्ध मंजीठ के द्रव से रञ्जित वस्त्रादिकों का रङ्ग किसी प्रकार भी दूर नहीं होता है और अत्यधिक शोभित होता है उसी प्रकार यह "**मञ्जिष्ठाराग**" पूर्वराग भी है। यथा—श्रीकृष्ण और राधिका का अनुराग)।

टिप्पणी—"**मञ्जिष्ठाराग**" के अन्य उदाहरण:—

(१) जिसप्रकार रघु के पुत्र अज का इन्दुमति के साथ अनुराग। अथवा (२) जिसप्रकार निषधाधिपति नल का विदर्भराजपुत्री दमयन्ती के साथ अनुराग। इन दोनों उदाहरणों में दोनों का पारस्परिक अनुराग यावज्जीवन विद्यमान रहा।

अर्थ—इसके बाद (विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रथम भेद "पूर्वराग" के वर्णन के अनन्तर) (क्रम प्राप्त) "**मानः**" का (निरूपण करते हैं।)—

कोप (मूलक विप्रलम्भ) "**मान**" (कहलाता है), (और) वह (मान) दो प्रकार का होता है (१) प्रणय से उत्पन्न होने वाला (**प्रणयमान**), (और) (२) ईर्ष्या से **उत्पन्न होने** वाला (सपत्नी आदि के उत्कर्ष को सहन न करने के कारण) (**ईर्ष्यामान**)। (१) (**प्रणयमान का लक्षण**) **द्वयोरिति**—दोनों के (नायक और नायिका के) (पारस्परिक

द्वयोरिति नायकस्य नायिकायाश्च उभयोश्च प्रणयमानो वर्णनीयः। उदाहरणम्। तत्र नायकस्य यथा—

'अलिअपसुत्तअ णिमिलिअच्छ देसु सुहअ मज्झ ओआसं।
गण्डपरिउम्बणपुलइअङ्ग! ण पुणो चिराइस्सं ॥

(अलीकप्रसुप्तक निमीलिताक्ष देहि सुभग मह्यमवकाशम्।
गण्डपरिचुम्बनपुलकिताङ्ग न पुनश्चिरयिष्यामि ॥)

मिलन से उत्पन्न होने वाले) अधिक आनन्द के होने पर भी (शङ्का—आनन्द के होने पर कोप सम्भव ही नहीं होता है तो किसप्रकार वहाँ "मान" का लक्षण घटित होगा ? इसप्रकार की शङ्का का समाधान करते हैं कि प्रेम्ण इति—) प्रेम के कुटिल गामी होने के कारण (नायिकादि की वक्र वृत्ति होने के कारण अथवा स्वभाव के दुरबोध होने के कारण) कारण के (कोप के स्वाभाविक कारण अपराधादि के) बिना भी जो कोप होता है वह "प्रणयमान (प्रणये सति मानः = प्रणयमानः) कहलाता है।

अर्थ—(कारिकागत "द्वयोः" इस पद से किसका ग्रहण होता है, यह दिखाते हैं) द्वयोरिति—दोनों का, अर्थात् नायक का, नायिका का और दोनों का (नायक-नायिका का) "प्रणयमान" का वर्णन करना चाहिये। इसप्रकार "प्रणयमान' तीन प्रकार का हो गया (१) नायक प्रणयमान (२) नायिका का त्रणयमान और (३) नायक और नायिका—दोनों का प्रणयमान)।

अवतरणिका—इसप्रकार प्रणयमान के तीन प्रकार के हो जाने पर क्रमशः सबका उदाहरण देते हैं:—

अर्थ—उनमें से (नायिका के सम्बन्ध से तीन प्रकार के "प्रणयमान" में से) नायक का (प्रणयमान) उदाहरण—**यथा अलिअ इति**—

प्रसङ्ग—गाथासप्तशती के अन्दर नायिका के देर करते हुये होने पर सारी शय्या को घेर कर मिथ्या सोये हुये नायक के कपोल का चुम्बन करके नायिका की सानुनय उक्ति है।

अर्थ—हे कपटरूप से सोये हुये ? हे आँखों को बन्द करने वाले ? प्रियतम ? मेरे लिये (अनुनय-विनय में तत्पर मुझे सोने के लिये) स्थान दे दो। हे कपोल चुम्बन से पुलकित अङ्ग वाले ! (मैं) फिर (सोने के लिये) विलम्ब नहीं करूँगी। (ऐसा मालूम पड़ता है कि मेरे विलम्ब से आने से तुम क्रोधित हो गये हो, फिर विलम्ब नहीं करूँगी)।

टिप्पणी—यहाँ नायिका के विलम्ब से आने से नायक का प्रणयकोप रूप "मान" है

नायिकाया यथा कुमारसम्भवे संध्यावर्णनावसरे।

उभयोर्यथा—

'पणअकुविआणँ दोण्ह वि अलिअसुत्ताणँ माणइल्लाणं।
णिच्चलणिरुद्धणिसासदिण्णअण्णाणँ को मल्लो ॥'

**(प्रणयकुपितयोर्द्वयोरलीकप्रसुप्तयोर्मानविज्ञयोः।
निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥)**

अनुनयपर्यन्तासहत्वे त्वस्य न विप्रलम्भभेदता, किन्तु संभोग सचार्याख्य-भावत्वम्।

अवतरणिका—इसप्रकार नायक के "प्रणयमान" को दिखाकर नायिका के "प्रणयमान" को दिखाते हैं—

अर्थ-(२) नायिका के (प्रणयमान का उदाहरण) यथा-कुमारसम्भव के (अष्टम सर्ग में सन्ध्यावन्दन के लिये महेश के चले जाने पर शैलसुता पार्वती का "प्रणयमान") सन्ध्यावर्णन के अवसर पर (हुआ है)।

**टिप्पणी—यथा-सन्ध्ययाकमलयोनिकन्यया या तनुः सुतनु ! पूर्वमुज्झिता।
सेयमस्तमुदयञ्च सेवते तेन मानिनि मभात्र गौरवम् ॥**

यह सन्ध्यावर्णन के अवसर पर वर्णन किया गया है।

अर्थ—(३) दोनों का (नायक और नायिका का उदाहरण) **यथा**-पणअ इति—

प्रसङ्ग—गाथासप्तशती के अन्दर परस्पर रुष्ट नायक-नायिका के स्वरूप को देखती हुई किसी अन्तःपुर सञ्चारिणी की यह वितर्कमयी उक्ति है।

अर्थ—प्रेम के कारण कुपित हुये (अतएव) मिथ्यारूपेण सोये हुये परस्पर मान करने में कुशल ("मैं पहले इससे नहीं बोलूंगी, मैं इसके साथ पहले नहीं बोलूंगा" इसप्रकार दृढ़ निश्चय किये हुये) (तथा) रोके हुये श्वास पर लगाये हैं कान जिन्होंने ऐसे इन दोनों में से कौन मान भंग करने में समर्थ है अर्थात् कोई भी नहीं।

टिप्पणी—यहाँ दोनों ही नायक और नायिका का प्रणय कोप रूप "मान' है।

अवतरणिका—इसप्रकार केवल "मान" करने की चेष्टामात्र ही "मान" न हो जाये, इसलिये कहते हैं—

अर्थ—अनुनय ("**प्रियवचनादिरूपमानभङ्गानुकूलव्यापारोऽनुनयः**") पर्यन्त न ठहरने पर (अर्थात् अनुनय-विनय के बिना ही नष्ट हो जाने पर) इसकी (प्रणयमान की) विप्रलम्भ शृङ्गार से भेदता नहीं है (अर्थात् यदि अनुनय से पूर्व ही मान विनष्ट हो जाये तो विप्रलम्भशृङ्गार का भेद इसको नहीं समझना चाहिये) अपितु सम्भोग शृङ्गार के अन्दर विद्यमान सञ्चारी रूप (असूया नामक) भाव ही (समझना चाहिये) (असूया

यथा—

'भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते ।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने ॥'

यथा वा—

'एकस्मिञ्शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।

का ही व्यभिचारित्वेन परिगणन समझना चाहिये) [अनुनय रूप फल के न होने के कारण उसप्रकार की मान चेष्टा "प्रणयमान" नामक विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं है अपितु सम्भोग शृङ्गार नामक रस ही है। क्योंकि असूया नामक व्यभिचारीभाव रूप चेष्टा से तो सम्भोग शृङ्गार ही पुष्ट होता है। अतः प्रणयकोप के अनुनय-विनय पर्यन्त स्थिर रहने पर ही उसकी "प्रणयमानता" है अन्यथा नहीं, यह ग्रन्थकार का आशय है।]।

अवतरणिका—"सम्भोग सञ्चारी" भाव नामक भाव का उदाहरण देते हैं—

प्रसङ्ग—"अमरुकशतक" में मान की रक्षा करने में असमर्थ नायिका की मान का उपदेश देने वाली सखी के प्रति उक्ति है।

अर्थ—(मान की द्योतक) भृकुटि को (बड़े परिश्रम से) कुटिल कर लेने पर भी (मेरी) दृष्टि अधिक उत्कण्ठा पूर्ण होकर देखती है। वाणी के (बलपूर्वक) रोक लेने पर भी यह मेरा दग्धमुख (स्त्रियों की कोप के समय यह स्वाभाविक गाली है) मुस्कराहट से युक्त हो जाता है। (तथा) चित्त की कठोरता को प्राप्त हो जाने पर भी (मेरा) शरीर पुलकित हो जाता है। (अतएव) उस प्रियतम के देख लेने पर किस-प्रकार प्रणयकोप का निर्वाह होगा अर्थात् किसीप्रकार भी नहीं हो सकता है।

टिप्पणी—यहाँ पर दर्शनादि अनुभावों से परिपुष्ट रति सम्भोग शृङ्गार का ही अवलम्बन करती है। भ्रूभङ्गिमादि से अभिव्यञ्जित ईर्ष्या उसकी साधक ही है, विघटक नहीं। यहाँ पर नायक द्वारा सम्पाद्यमान अनुनय के पूर्व ही नायिका का मान-भंग हुआ समझना चाहिये।

अर्थ—(दूसरा उदाहरण देते हैं) अथवा—**एकस्मिन्निति**—("अमरुकशतक" का पद्य है) एक शय्या पर एक दूसरे से विपरीत मुख करके (लेटे हुये) विरत हो गई है उक्ति-प्रत्युक्ति जिस कर्म में ऐसे (मन ही मन) दुःखित होते हुये एक दूसरे के हृदय में अनुनय करने की इच्छा के विद्यमान होने पर भी (अपने अपने) गौरव की रक्षा

दंपत्योः शनकैरपांगवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
भंग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहः ॥"

पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते ॥ १९९ ॥
ईर्ष्यामानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा ।
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनसम्भवा ॥ २०० ॥

तत्र दृष्टे यथा—

'विनयति सुदृशो दृशोः परागं प्रणयिनि कौसुममाननानिलेन ।
तदहितयुवतेरभीक्षणमक्ष्णोर्द्वयमपि रोषरजोभिरापुपूरे ॥'

करते हुये (तथा) शनैः शनैः कटाक्ष वीक्षण से संयुक्त हो गये हैं नेत्र जिनके ऐसे (आँखें चार होते ही) दम्पती के द्वारा हासपूर्वक झटिति किया गया है आलिङ्गन जिसमें ऐसा मानकलह नष्ट हो गया ।

टिप्पणी—यहाँ पर भी नायक और नायिका का एक दूसरे के अनुनय से पूर्व ही मान का भङ्ग समझना चाहिये ।

अवतरणिका—इसप्रकार "**प्रणयमान**" का वर्णन करके "**ईर्ष्यामान**" का निरूपण करते हैं ।

अर्थ—("**ईर्ष्यामान**" का लक्षण) पति की दूसरी प्रियतमा के अन्दर आसक्ति के देखने पर, अनुमान कर लेने पर तथा सुन लेने पर स्त्रियों का (जो प्रणयकोप होता है, वह) "**ईर्ष्यामान**" होता है । (यह "**ईर्ष्यामान**" स्त्रियों का ही हो सकता है नायकों का नहीं—यह सूचित करने के लिये "**स्त्रीणाम्**" यह कहा है । क्योंकि पुरुष के अन्दर तो पत्नी को अन्य पुरुष में आसक्त देखकर, अनुमान करके अथवा सुन लेने पर प्रणय को छोड़कर केवल "कोप" की ही उत्पत्ति होने के कारण रति के अभाव में शृङ्गार का ही सर्वथा अभाव होगा) उनमें से (उन दर्शन, अनुमित तथा श्रुत में से) "अनुमान" तीन प्रकार का होता है । **(१) स्वप्न में अन्य नायिका के सम्बन्ध की बातें बड़बड़ाने से (उत्स्वप्नायितम्), (२) नायक में उसके सम्भोग चिह्न देखने से (भोगाङ्कः) (३) तथा अचानक नायक के मुख से अन्य नायिका का नाम निकल जाने से (गोत्रस्खलनम्) ।**

टिप्पणी—"अनुमिति" तीन प्रकार की होती है-(१) **उत्स्वप्नायित सम्भवा (२) सम्भोगचिह्नदर्शनसम्भवा (३) और गोत्रस्खलनसम्भवा ।**

अर्थ—(१) उनमें से (अन्यप्रिया में आसक्त नायक के) देख लेने पर ("ईर्ष्यामान" का उदाहरण) **यथा—विनयतीति**—(माघकृत शिशुपालवध के सप्तम सर्ग का ५७वां पद्य है) प्रियतम के अपने मुख की फूंक से सुन्दर नयनों वाली (दूसरी नायिका के) नेत्र से (एक नेत्र से) पुष्प सम्बन्धी रज को निकालने पर उस प्रतिपक्ष नायिका के दोनों नेत्र (नायक के अपराध से उत्पन्न) क्रोध की रज से भर गये ।

टिप्पणी—यहाँ पति को अन्य नायिका में अनुरक्त देख लेने पर दूसरी नायिका का "**ईर्ष्यामान**" है ।

सम्भोगचिह्नेनानुमिते यथा—

'नवनखपदमंगं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसंगशंसी विसर्प-
न्नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥'

एवमन्यदपि ।

साम भेदोऽथ दानं च नत्युपेक्षे रसान्तरम् ।
तद्भङ्गाय पतिः कुर्यात् षडुपायानिति क्रमात् ॥ २०१ ॥

अर्थ—(२) सम्भोग चिह्न से "**अनुमिति**" कर लेने पर "**ईर्ष्यामान**" का उदाहरण **यथा—नवनखपदमिति**—(माघकाव्य के ११वें सर्ग के ३४वें श्लोक में सपत्नी के साथ घर आये हुये नायक के प्रति मानिनी की यह उक्ति है) (अन्य नायिकों के) नवीन नखक्षत के चिह्न वाले शरीर को वस्त्रों से छिपाते हो, (तथा) (अन्य नायिका के द्वारा) दांतों से दष्ट ओष्ठ को हाथ से छिपा रहे हो, (किन्तु) प्रत्येक दिशा में अन्य स्त्री के साथ सम्भोग की सूचना देने वाली सर्वतोभावेन फैलने वाली नवीन परिमल की गन्ध को किसप्रकार से छिपाने में समर्थ हो सकते हो ? अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं । इसीप्रकार अन्यत्र भी (समझना चाहिये) ।

टिप्पणी—(१) यद्यपि अन्य नायिका के साथ समागम से चिह्नित नखक्षतादि को वस्त्रादि से छिपा सकते हो तथापि नवीन परिमल की सुगन्धि किसप्रकार छिपाई जा सकती है ?

(२) यहाँ सम्भोग के चिह्नों को देखने से नायक का अन्य नायिका में आसक्ति का अनुमान कर लेने पर "**ईर्ष्यामान**" है ।

(३) इसीप्रकार नायक के अन्य प्रिया में अनुरक्त होने पर (१) **उत्स्वप्नायितेनानुमिते** (२) **गोत्रस्खलितेनानुमिते**, (३) **श्रुते**—आदि में उदाहरण समझना चाहिये ।

अवतरणिका—इसके बाद अवसर प्राप्ति से "**मानभङ्ग**" के उपायों को बताते हैं—

अर्थ—पति उसको (मान को) भङ्ग करने के लिये (१) **साम** (सान्त्वना), (२) **भेद** (मानिनी नायिका की सखी को वश में करके उसके द्वारा अपराध का अन्यथाप्रकारेण कहलवाना) (३) **दान** (किसी बहाने से कङ्कणादिका देना), (४) **नति** (चरणों में गिरकर प्रसन्न करना), (५) **उपेक्षा** (अवहेलना से सामादि प्रयोगों का उपयोग न करना), (६) **रसान्तर** (अन्य रस की अवतारणा करना) इन छः उपायों को क्रमशः (अर्थात् पूर्व पूर्व के विफल होने पर बाद के उपायों का आश्रय लेना) अवलम्बन करे ।

टिप्पणी—स्त्रियों के मान को भङ्ग करने के लिये नायक इन्हीं छः सामादि उपायों का आश्रय ले । किन्तु पहले उपाय से मान के भङ्ग न होने पर दूसरे उपाय का आश्रय लेना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये कि बाद के उपाय से मान के भङ्ग न होने पर पहले उपाय का आश्रय लिया जाये क्योंकि पिछले उपाय की अपेक्षा पहला उपाय कम प्रभाव डालने वाला है।

तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः, पादयोः पतनं नतिः ॥ २०२ ॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥ २०३ ॥

यथा—

'नो चाटुश्रवणं कृतम्—' इत्यादि। अत्र सामादयः पञ्च सूचिताः। रसान्तरमूह्यम् ।

अवतरणिका— क्रमशः सभी उपायों का वर्णन करते हैं—

अर्थ—(१) उनमें से (मानवती नायिका के प्रति) प्रिय वाक्य (कहना) "**साम**" है। (२) उसकी (नायिका की) सखी को वश में करना "**भेद**" है। (३) छल से आभूषणादि का देना "**दान**" है। (४) (मानिनी नायिका के) चरणों पर गिरना "**नति**" है। (५) सामादि के (साम, भेद, दान और नति) सर्वथा विफल हो जाने पर (अर्थात् उसके बाद) अवज्ञा से कुछ भी न करना "**उपेक्षा**" कहलाती है। (६) (इसके भी क्षीण हो जाने पर) आवेग, भीति, हर्ष आदि से मान का भंग हो जाना "रसान्तर" नामक (उपाय) है।

अर्थ—("**सामादि**" के उदाहरण) **यथा**—"**नो चाटु श्रवणं कृतम्**" इत्यादि। ["कलहान्तरिता" नायिका का उदाहरण है। यहाँ पर "**नो चाटु**' इससे मानभंग करने के लिये पति का "**साम**" सूचित किया है। "**न च दृशा**" इससे "**दान**" सूचित किया है। "**निजसखीवाचोऽपि दूरीकृतः**" इससे सखियों को अपने वश में करना रूप "**भेद**" सूचित किया है। "**पादान्तः**" इससे "**नति**" सूचित की है। "**गच्छन्**" इससे "**उपेक्षा**" सूचित की है।] यहाँ पर "**सामादि**" पाँच उपायों को सूचित किया है। 'रसान्तरम्" ऊहित कर लेना चाहिये।

टिप्पणी—"**रसान्तरम्**" का उदाहरण, यथा—

(१) "**कथं ममोरसि कृतपक्षनिस्वनः शिलीमुखोऽपतदिति जल्पति प्रिये ।**
विवृत्य किं किमिति सजल्पया तया ससाध्वसं कुपितममोचि कान्तया ॥"

यहाँ पर प्रिय के वक्षःस्थल पर बाण के गिरने की शंका से मानभङ्ग है।

(२) अथवा "मालविकाग्निमित्र" के चतुर्थ अंक के अन्दर "वसुलक्ष्मी" के द्वारा वानरकृत त्रास की कथा से ही इरावती का मानभङ्ग हो गया।

अथ प्रवासः—

प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात् ।
तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः ॥ २०४ ॥
निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते ।

किञ्च—

अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः ॥ २०५ ॥
अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः ।
मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह ॥ २०६ ॥

अर्थ–(३) इसके बाद (विप्रलम्भ शृंगार के (१) **पूर्वराग** (२) **मान** (३) **प्रवास** **और** (४) **करुण रूप** चार प्रकार के कहने के कारण **पूर्वराग** और **मान** को समाप्त करके) "**प्रवास**" (का निरूपण करते हैं)।

("**प्रवास**" का लक्षण) किसी कार्य से (अभीष्ट फल प्राप्ति के कारण से अथवा नौकरी आदि के प्रसङ्ग से), शाप से और उपद्रवादि के भय से (दोनों नायक और नायिका का) भिन्न देशों में रहना (एक स्थान पर रहने का अभाव) "**प्रवास**" नामक (विप्रलम्भ शृंगार होता है) है। [यही "**प्रवास**" कवियों के द्वारा "**विरह**" कहलाता है] ("**प्रवास**" के अनुभावों का वर्णन करते हैं) **तत्रेति**—उसमें ("प्रवास" के अन्दर) शरीर की और वस्त्रों की मलिनता, सिर पर एक वेणी की धारणता (सुगन्धित तैलादि के अभाव के कारण जटिलता को प्राप्त वेणी को धारण करना), दीर्घनिःश्वास, उच्छ्वास, रुदन और भूमि पर गिरना आदि ("**आदि**" पद से उत्कण्ठादि का ग्रहण होता है) (यथासम्भव नायक और नायिकाओं के) होता है।

अवतरणिका—दूसरे मत के अनुसार ग्यारह कामदशाओं का वर्णन करते हैं—

अर्थ—तथा।

इस प्रवास में (१) **अङ्गों में असुन्दरता** (२) **सन्ताप** (३) **पाण्डुवर्णता** (४) **कृशता** (काम की दस अवस्था मानने वाले "**पाण्डुता कृशता**" इसे एक पद स्वीकार करके "**पाडुतया संवलिता कृशता**" इसप्रकार व्याख्या करते हैं) (५) **अरुचि** (विषयों के प्रति वितृष्णता) (६) **धैर्य का अभाव** (७) **अस्थिरता** (सर्वशून्यता) (८) **तन्मयता** (९) **उन्माद** (१०) **मूर्च्छा** और (११) **मरण**—ये ("असौष्ठवादि" से लेकर "मृति" पर्यन्त) ग्यारह (दस) कामदशायें उत्तरोत्तर (होने वाली) समझनी चाहिये। ["**ज्ञेया दश**" यहाँ पर "**एकादश**" यह पाठ कल्पना कर लेना चाहिये अन्यथा "अङ्गेष्वसौष्ठवम्" से लेकर "मृतिः" पर्यन्त संगति नहीं लग सकती है।]।

अवतरणिका—क्रमशः "**असौष्ठवादि**" का लक्षण करते हैं।

असौष्ठवं मलापत्तिस्तापस्तु विरहज्वरः ।
अरुचिर्वस्तुवैराग्यं सर्वत्रारागिता धृतिः ॥ २०७ ॥
अनालम्बनता चापि शून्यता मनसः स्मृता ।
तन्मयं तत्प्रकाशो हि बाह्याभ्यन्तरतस्तथा ।

शेषं स्पष्टम्—

एकदेशतो यथा मम तातपादानाम्—

'चिन्ताभिः स्तिमितं मनः, करतले लीला कपोलस्थली,
प्रत्यूषक्षणदेशपाण्डु वदनं, श्वासैकखिन्नोऽधरः ।

अर्थ—(१) मलों की प्राप्ति अर्थात् मलिनता (का नाम) **"असौष्ठव"** है । (२) विरह से (उत्पन्न होने वाले) ज्वर को **"ताप"** कहते हैं । [(३)**पाण्डुवर्णता**—दुःख से शरीर के निस्तेज हो जाने के कारण मलिन व श्वेत हो जाना **"पाण्डुता"** है तथा (४) **"कृशता"**—दुर्वलता—ये दोनों प्रसिद्ध हैं अतःलक्षण नहीं किया है । अन्य मतानुसार **"पाण्डुतासंवलिता कृशता"** यह एक ही पद है ।] । (५) वस्तुओं के प्रति स्पृहा का न होना **"अरूचि"** है । (६) सभी वस्तुओं में (स्नान, भोजन और विहारादिको में) अनुराग न होना **"अधृति"** है । (७) मन की शून्यता (विषयों को ग्रहण न करना) **"अनालम्बनता"** मानी गई है । (८) तथा वाह्य इन्द्रियों से ग्रहण करने पर और मन से ग्रहण करने पर उस अभीष्ट (नायक) का (सर्वत्र अध्यास के कारण) अलीक-दर्शन **"तन्मयता"** है (स्वप्न की तरह असत्य होने पर भी प्रतीत होना) ।[(९) **उन्माद** (१०) **मूर्च्छा** (११) **मरण**—ये प्रसिद्ध हैं, अतः लक्षण नहीं किया है ।] ।

शेष (**उन्माद, मूर्च्छा और मृति**) ये तीनों स्पष्ट ही हैं । (अतः मूलपाठ में इनकी व्याख्या नहीं की है—यह ग्रन्थकार का आशय है ।) ।

(असौष्ठवादि दस प्रकार की काम**दशाओं में से**) कुछ के (**ताप, पाण्डुता और अनालम्बनादिकों** के उदाहरण) यथा—मेरे (श्री विश्वनाथ के) पिता का (बनाया हुआ पद्य देते हैं, औरों के उदाहरण स्वयमेव देख लेने चाहिये)—**चिन्ताभिरिति**—(दूर देश में विद्यमान पति के विषय में हथेली पर कपोल को रखकर चिन्तन करती हुई विरहिणी की दशा को देखकर किसी के प्रति उसकी सखी की यह उक्ति है) इसका (अपने सौन्दर्य से रति को भी तिरस्कृत करती हुई कामिनी का) प्रार्थना क्रिया जाता हुआ भी दुर्लभ (इसमें अननुरक्त) कौन (मनुष्य) है (जिसके लिये यह) इसप्रकार की दीन अवस्था को (विपत्ति को) सहन कर रही है । (कैसी ? इसका वर्णन करते हैं) (इसका) मन चिन्ताओं से (नायक का ध्यान करने से) निश्चल हो गया है (दूसरे

अम्भःशीकरपद्मिनीकिसलयैर्नापैति तापः शमं,
कोऽस्याः प्रार्थितदुर्लभोऽस्ति सहते दीनां दशामीदृशीम् ॥'

भावी भवन्भूत इति त्रिधा स्यात्तत्र कार्यजः ॥ २०८ ॥

कार्यस्य बुद्धिपूर्वकत्वात्त्रैविध्यम् ।

विषयों में सञ्चार करने में असमर्थ है) [इससे "**अनालम्बनता**" सूचित होती है ।], कपोलस्थल हथेली पर स्थित है, मुख प्रातःकालीन चन्द्रमा (क्षणदा + ईश = चन्द्रमा) की तरह पाण्डुवर्ण का हो गया है (प्रभाशून्य है) [इससे "**पाण्डुता**" का कथन किया है ।] अधर दीर्घ निःश्वास से अत्यन्त खिन्न (शुष्क) हैं (पति के द्वारा दन्तक्षत से नहीं), शारीरिक सन्ताप जल-बिन्दुओं से (तथा) कमलिनी के पत्रों से **अथवा** जल-बिन्दुओं से युक्त पद्मिनी के पत्रों से शान्ति को प्राप्त नहीं होता है (इससे "**ताप**" का वर्णन किया है ? ।

अवतरणिका—प्रवास "**कार्यात्, शापात्** और **सम्भ्रमात्**" इसप्रकार तीन प्रकार का होता है । उनमें से '**कार्यात्**'' तीन प्रकार का होता है, यह बताते है ।

अर्थ—(१) उनमें से (**कार्यज, शापज और सम्भ्रमज** रूप तीन प्रकार के प्रवास में से) "**कार्यज**" (कार्यवश उत्पन्न हुआ) प्रवास (१) **भावी** (भविष्यत्), (२) **भवन्** (वर्तमान), (और) (३) भूत—इसप्रकार तीन प्रकार का होता है ।

अवतरणिका—शंका—केवल "**कार्यज**" प्रवास ही क्यों तीन प्रकार का होता है ? **शापज और सम्भ्रमज** क्यों नहीं ? क्योंकि इन प्रवासों का भी अतीतादि तीन कालों से सम्बन्ध होता है । इसका उत्तर देते हैं ।

अर्थ— कार्य के बुद्धिपूर्वक होने के कारण (अपनी इच्छा से होने के कारण) ("**कार्यज**" प्रवास) तीन प्रकार का होता है ।

टिप्पणी—यदि कार्य अतीतकाल में स्वेच्छया हुआ है तो "**भूतकालीन प्रवास**" होगा, वर्तमान कालिक कार्य होने पर '**वर्तमान प्रवास**" होगा और यदि भविष्यत् काल के अन्दर कार्य होगा तो "**भविष्यत् प्रवास**" होगा । परन्तु "**शापज**" **और "सम्भ्रमज**" प्रवास इसप्रकार का नहीं होता है क्योंकि इनके अन्दर दूसरेकी इच्छा प्रधान होती है और स्वेच्छा का अभाव होता है । अतः केवल परेच्छानुसारी होने के कारण तत्तत्काल सम्बन्धी होता है । अतः ये तीन प्रकार के न होकर एक ही प्रकार के होते हैं । इसप्रकार "**कार्यज**" प्रवास भिन्न देश में जाने की सम्भावना होने पर "**भावी**", निश्चय होने पर "**वर्तमान**" और हो जाने पर "**भूत**" प्रवास होता है । इन दोनों—"**शापज और सम्भ्रमज**"—प्रवास के अन्दर सम्भावना और निश्चय का अभाव होने के कारण ये एकप्रकार के होते हैं ।

तत्र भावी यथा मम—

'यामः सुन्दरि, याहि पान्थ, दयिते शोकं वृथा मा कृथाः,
शोकस्ते गमने कुतो मम, ततो वाष्पं कथं मुञ्चसि ।
शीघ्रं न व्रजसीति, मां गमयितुं कस्मादियं ते त्वरा,
भूयानस्य सह त्वया जिगमिषोर्जीवस्य मे संभ्रमः ।।'

अर्थ—(१)उनमें से (''**कार्यज**'' प्रवास के तीन भेदों—भावी, वर्तमान, भूत में से) ''भावी'' प्रवास (का उदाहरण) यथा—मेरा (श्री विश्वनाथ जी द्वारा निर्मित पद्य है)—**याम इति**—

प्रसंग—विदेश को जाने की इच्छा वाले नायक के विरह को सहन करने में असमर्थ नायिका की उक्ति-प्रत्युक्ति है।

अर्थ—(हे) सुन्दरि ! (हम) जाते हैं (नायक की उक्ति है), (हे) पथिक ! जाओ (नायिका की उक्ति है), (जाने की सम्भावनामात्र से जो ''**पान्थ**'' यह सम्बोधन किया है, यह अपने विषय में नायक की अनुरक्ति का अभाव सूचित करने के लिये है। यह समझकर शीघ्र ही नायक ने ''**दयिते**'' इससे सम्बोधन किया है), (हे) प्रिये ! व्यर्थ ही दुःख मत करो (अर्थात् मैं शीघ्र ही लौट आऊंगा) (यह नायक की उक्ति है), तुम्हारे जाने में मुझे दुःख किसलिये ? (यह नायिका की प्रत्युक्ति है), तो फिर (यदि मेरे जाने से दुःख नहीं है तो) किसलिये आसुओं को छोड़ती हो (रोती हो) (यह नायक की उक्ति है), (तुम) शीघ्र नहीं जाते हो इसलिये (रोती हूँ) (यह नायिका की प्रत्युक्ति है), मुझे भेजने के लिये तुम्हारी इतनी व्यग्रता क्यों है ? (नायक की उक्ति है), तुम्हारे साथ जाने की इच्छा वाले मेरे इन प्राणों की महती व्यग्रता है (इसलिये मुझे भी तुमको भेजने की व्यग्रता है अर्थात् तुम्हारे अवश्य जाने पर भी तुम्हारे देर करने पर मेरे प्राण कण्ठ में अवरुद्ध हुये व्यथित हो रहे हैं क्योंकि उन्होंने भी तुम्हारे साथ ही चले जाने का निश्चय कर रखा है) (यह नायिका की प्रत्युक्ति है)।

टिप्पणी—यहाँ पर नायक का भविष्यत् काल में होने वाला प्रवास ''**यामः सुन्दरि**'' इससे द्योतित होता है।

भवन् यथा—

'प्रस्थानं बलयैः कृतं, प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं,
धृत्या न क्षणमासितं, व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित ! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥'

अर्थ—वर्तमानकालिक प्रवास (का उदाहरण) **यथा—प्रस्थानमिति**—(प्रियतम के प्रवास का निश्चय करके अपने जीवन के प्रति निराश नायिका की यह उक्ति है) (हे) प्राण ! (तुमसे भी अधिक प्रिय) प्रियतम के (विदेश) जाने के लिये दृढ़ निश्चय करने पर कङ्कणों ने (हाथ के आभूषणों ने) प्रस्थान कर दिया (अर्थात् प्रियतम के भावी विरह की चिन्ता से शरीर के कृश हो जाने से हाथ से कङ्कण निकल गया), (तथा मेरे) प्रियबन्धु (निरन्तर एक स्थान पर रहने से अथवा इसप्रकार के दुःख में आँसुओं के पतन से ही जीवन धारण होता है अतः अपनी रक्षा करने वाले होने के कारण प्राण-प्रिय) आँसुओं ने निरन्तर गिरना शुरू कर दिया (विरह वेदना के पूर्व ही अश्रु प्रवाह होने लगा) (**"समप्राणः सखा मतः"** इस उक्ति के अनुसार मित्र के जाने पर मित्र का भी जाना उचित ही है) **अथवा** नित्य अश्रुओं के प्रवाह के कारण उनका भी विलय हो गया है अर्थात् इस समय आँसू नहीं गिरते हैं, (इन अश्रुओं के अन्दर प्रिय सखा की कल्पना करना अत्यन्त प्रिय होने की सूचना के लिये है। कुछ की सम्मति में—अश्रु और जीवन—इनकी हृदय में अवस्थिति होने के कारण अत्यन्त प्रियता है क्योंकि नाड़ी विशेष के द्वारा हृदय-कोष से अश्रुओं का निर्गमन होता है), धैर्य क्षणमात्र भी नहीं स्थित रहा (विरह को न सह सकने के कारण धैर्य नष्ट हो गया), चित्त ने (प्रियतम के) पूर्व ही जाने का निश्चय कर लिया, इसप्रकार (मेरे आश्रित) सभी कङ्कणादि एक साथ ही अथवा प्रियतम के साथ ही चल पड़े, (अतः तुम्हारा भी एक समय अवश्य जाना निश्चित होने पर तुम) प्रिय मित्रों के समुदाय को (कङ्कणादि को) क्यों छोड़ रहे हो अर्थात् अपने मित्रों का साथ छोड़ना ठीक नहीं है, तुम भी उन्हीं के साथ चले जाओ। [प्रिय मित्रों के साथ प्रयाण करने में अधिक कष्ट नहीं होगा अतः प्रियतम के जाने पर जाने के लिये उद्यत बलय आदि मित्रोचित कर्म करते हैं और यदि तुम प्रिय के मित्र हो तो तुम अवश्य उनका अनुगमन करोगे, इसलिये तुम्हारा भी इसी समय जाना न्याय्य है।]।

टिप्पणी—यहाँ पर नायिका की रति का नायक आलम्बन है, विरहावस्था में एकाकित्वेन रहना उद्दीपन है, इसप्रकार का कहना अनुभाव है, अश्रुपात होना और हृदय का ताप आदि व्यभिचारी भाव हैं, इसप्रकार सहृदय सामाजिकों के हृदय में रस की उत्पत्ति है।

भूतो यथा—'चिन्ताभिः स्तिमितम्—' इत्यादि ।

शापाद्यथा—'तां जानीयाः–' इत्यादि ।

संभ्रमो दिव्यमानुषनिर्घातोत्पातादिजः ।

यथा—

विक्रमोर्वश्यामुर्वशीपुरूरवसोः ।

अर्थ—(३) भूतकालिक (प्रवास का उदाहरण) **यथा–"चिन्ताभिः स्तिमितम्"** इत्यादि । [इस पद्य की पहले व्याख्या हो चुकी है । यहाँ पर अपने प्रियतम के साथ मिलन न होने पर विरहिणी की दशा का वर्णन है । अतएव यहाँ पर "भूतकालिक प्रवास" है ।] ।

(२) शाप से उत्पन्न ("**शापज**" प्रवास का उदाहरण) **यथा—"तां जानीथाः"** इत्यादि । [इस पद्य की भी पहले व्याख्या की जा चुकी है । यह "प्रोषितभर्तृका" नायिका का उदाहरण है । यहाँ पर यक्षेश कुबेर के शाप से यक्ष का प्रवास स्पष्ट ही है ।]।

अवतरणिका—"**सम्भ्रमज**" प्रवास के उदाहरण के लिये **"सम्भ्रम"** का परिचय आवश्यक होने के कारण पहले सम्भ्रम के कारणों को स्पष्ट करते हैं ।

अर्थ—(३) दिव्य (देवता, विद्युत् और उल्कादि), मानुष (मर्त्यलोक में होने वाले भूकम्पादि) और निर्घात (वायु से ताड़ित—यह उपलक्षण है अतः नाभस का भी ग्रहण होना चाहिये) के उत्पात (अनिष्ट के सूचक देवकृत प्रकृति विपर्यास) आदि से ("आदि" पद से उन्माद आदि का ग्रहण होता है) उत्पन्न होने वाला "**सम्भ्रम**" (त्वरा) कहलाता है । (उनमें से "**दिव्य सम्भ्रमजप्रवास**" का उदाहरण देते हैं) **थथा**—(महाकवि कालिदासकृत) "विक्रमोर्वशीय" (नामक त्रोटक के "चतुर्थ अंक") में उर्वशी और पुरूरवा का ।

टिप्पणी—उर्वशी और पुररूवा का कथानक इसप्रकार है—

पहले कभी उर्वशी मित्रावरुण के शाप से मनुष्यलोक को प्राप्त करके पुरुरवा के घर में "आपको यदि सुरत समय के अतिरिक्त नग्न देखूंगी, तो तुमको छोड़कर चली जाऊंगी और तुम मेरे दो मेषों की रक्षा करना" यह दो बातें निश्चित करके रहने लगी । इसके बाद देवताओं ने प्रगाढान्धकार में उन दोनों मेषों को चुरा लिया । उनकी चोरी को सुनकर पुरुरवा झटिति वस्त्रों को बिना धारण किये ही तलवार हाथ में लेकर मेष को चुराने वाले के पीछे दौड़ा। इसी बीच में विद्युत् के प्रकाश से उसको वस्त्रशून्य नग्न देखकर उर्वशी स्वर्ग को चली गई।

(२)यहाँ पर देवताओं के द्वारा किया हुआ मेषापहरण रूप दिव्य उत्पात से पुरुरवा को "सम्भ्रम" हुआ, जिससे उर्वशी का भिन्न देश में रहना (प्रवास) समझना चाहिये ।

अत्र पूर्वरागोक्तानामभिलाषादीनामत्रोक्तानां चाङ्गासौष्ठवादीनामपि दशानामुभयेषामप्युभयत्र सम्भवेऽपि चिरन्तनप्रसिद्ध्या विविच्य प्रतिपादनम्।
अथ करुणविप्रलम्भः—

यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
विमनायते यदैकस्ततो भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः ॥२०६॥

यथा—

कादम्बर्यां पुण्डरीकमहाश्वेतावृत्तान्ते ।

अवतरणिका—**शंका**—"**पूर्वराग**" में अभिलाषादिकों का "प्रवास" में अङ्ग-सौष्ठवादिकों के नियम में क्या आधार है क्योंकि दोनों ही स्थानों पर दोनों ही साथ हो सकते हैं। इसलिये कहते हैं—

अर्थ—यहाँ पर "**पूर्वराग**" में कहे हुये "अभिलाषादिक" और यहाँ कही हुई "अङ्गसौष्ठवादिक" (दस प्रकार की) कामदशाओं के दोनों स्थानों पर ("**पूर्वराग**" और "**प्रवास**" में) हो सकने पर भी प्राचीन आलंकारिक सम्प्रदाय में प्रसिद्धि के कारण पृथक्-पृथक् रूप से विवेचन करके प्रतिपादित किये हैं।

इसके बाद ("**प्रवास**" का लक्षण करके) "**करुणविप्रलम्भ**" (का लक्षण करते हैं)—

("**करुणविप्रलम्भ**" का लक्षण) दम्पती में से (नायक और नायिका में से) किसी एक के (नायक के अथवा नायिका के) परलोक को चले जाने पर अर्थात् मर जाने पर (जीवित व्यक्ति के द्वारा उसी शरीर से) पुनः प्राप्य होने पर (उनमें से कोई) एक (जीवित व्यक्ति) जब उसके शोक से व्याकुल होकर विलापादि करता है तब (उसके शोक से मिले हुये रति के स्थायीभाव होने से) "**करुणविप्रलम्भ**" नामक शृङ्गार होता है।

("**करुणविप्रलम्भ**" शृङ्गार का उदाहरण) यथा—("बाणभट्ट" कृत गद्यकाव्य) कादम्बरी में (वर्णित) पुण्डरीक और महाश्वेता के वृतान्त में।

टिप्पणी—"कादम्बरी" गद्यकाव्य के पूर्वभाग में "पुण्डरीक" की मृत्यु हो गई, पुनः थोड़ी ही दूर चलकर "महाश्वेता" के अतिशय विलाप करने पर वह पुण्डरीक पुनः प्राप्त हो गया। इसप्रकार यद्यपि वहाँ पर "पुण्डरीक" की मृत्यु और तदनन्तर पुनः जीवन की प्राप्ति में पर्याप्त दूरी है तथापि कथानक के अन्दर समीप होने से **"वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः"** इत्यादि उक्त कारिका के साथ किसीप्रकार का विरोध नहीं होता है।

पुनरलभ्ये शरीरान्तरेण वा लभ्ये तु करुणाख्य एव रसः ।

किञ्चात्राकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव शृङ्गारः, संगमप्रत्याशया रतेरुद्भवात् । प्रथमं तु करुण एव, इत्यभियुक्ता मन्यन्ते ।

यच्चात्र 'सङ्गमप्रत्याशानन्तरमपि भवतो विप्रलम्भशृङ्गारस्य प्रवासाख्यो भेद एव' इति केचिदाहुः, तदन्ये 'मरणरूपविशेषसम्भवात्तद्भिन्नमेव' इति मन्यन्ते ।

अर्थ—(**"करुणविप्रलम्भ"** की व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं) (मृत व्यक्ति के) पुनः (इस जन्म में जीवितावस्था में) प्राप्त न होने पर अथवा दूसरे शरीर से (जन्मान्तर में) प्राप्त होने पर (शुद्ध) **"करुण"** नामक ही रस होता है, **"करुण-विप्रलम्भ"** शृङ्गार नहीं । (क्योंकि उस अवस्था में मिलने की आशा न होने से, रति-भाव के विनष्ट हो जाने से और उत्कट शोक के सम्भव होने के कारण **"करुण"** रस ही होता है, **"करुण-विप्रलम्भ"** शृङ्गार नहीं) । (पुण्डरीक और महाश्वेता के वृतान्त में **"करुण" रस** ही है इस विषय में प्राचीनों की सम्मति दिखाते हैं) **किञ्चेति**—तथा यहाँ ("कादम्बरी" के अन्दर चन्द्रापीड के प्रति अपने प्रिय पुण्डरीक के वृत्तान्त को कहती हुई "महाश्वेता" के वाक्यों में) आकाशवाणी के अनन्तर ही (**"वत्से ! महाश्वेते ! न परित्याज्यास्त्वया प्राणाः, पुनरपि तवानेन भविष्यति समागमः"** इसप्रकार से आकाशस्थित पुरुष के वाक्य कहने के अनन्तर ही) (अपने प्रियतम "पुण्डरीक" के साथ) मिलन की आशा होने पर (महाश्वेता की) रति के अंकुरित होने से **"शृङ्गार रस"** होता हैं । पहले तो (महाश्वेता का प्रारम्भिक भाव तो अर्थात् अपने प्रिय "पुण्डरीक" की मृत्यु से लेकर आकाशवाणी सुनने तक केवल शोक के ही स्थायीभाव होने के कारण) **"करुणरस"** ही है, इसप्रकार प्रामाणिक व्यक्ति मानते हैं । [**इस मत का उत्तर**–कादम्बरी के अन्दर पहले महाश्वेता का रतिमूलक शोक था, तथा आकाश-वाणी सुनने के अनन्तर पुनः रति का उद्रेक हुआ, इसप्रकार आदि और अन्त में उत्पन्न रति के मध्यवर्ती शोक के स्थायीरूप से दृढ़ न होने के कारण शोक स्थायीभाव वाला "करुणरस" किसी भी अंश में नहीं प्राप्त होता है । अपितु आदि से अन्त तक वृत्तान्त को जानने वाले सहृदय सामाजिकों के हृदय में शोक से मिले हुये रतिभाव के स्थायीभाव रूप से प्राप्त होने के कारण तथा "करुण-विप्रलम्भ" के लक्षण के सम्बन्ध से सर्वांश में ही **"करुणविप्रलम्भ"** है । क्योंकि शोक से मिश्रित रति के स्थायीभाव होने से ही इसका नाम " **करुण-विप्रलम्भ"** समझना चाहिये । **"उत्तररामचरित"** के अन्दर और **"कुवलयाश्व"** के अन्दर भी इसीप्रकार से **"करुण-विप्रलम्भ"** प्रधान रस हैं ।] [दो अन्य मतों को उठाते हैं] **यच्चेति**–और जो यहाँ (कादम्बरी में महाश्वेता और पुण्डरीक के वृत्तान्त में) मिलने की आशा (को उत्पन्न करने वाली आकाशवाणी

अथ सम्भोगः—

दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ ।
यत्रानुरक्तावन्योन्यं संभोगोऽयमुदाहृतः ॥२१०॥

आदिशब्दादन्योन्याधरपानचुम्बनादयः ।

के सुनने के) के बाद भी उत्पन्न होने वाले "विप्रलम्भशृंगार" का "प्रवास" नामक भेद ही है (क्योंकि नायक-नायिका के परस्पर भिन्न स्थान में स्थित होने के कारण "प्रवास" का लक्षण घटित हो जाता है, "करुणविप्रलम्भ" शृंगार का नहीं इस प्रकार कुछ (आचार्य धनिकादि) कहते हैं, (अर्थात् उनका कहना है कि कादम्बरी के अन्दर पहले "करुण" रस है और फिर आकाशवाणी सुनने के अनन्तर "प्रवासशृङ्गार" है)। **(इस मत का उत्तर)** इस बात को दूसरे (इस मत से भिन्न मत वाले) "मरण रूप विशेष दशा के सम्भव होने से उससे ("करुणविप्रलम्भ" और "प्रवास" से) भिन्न ही है" इसप्रकार मानते हैं (अर्थात् "करुण" रस ही मानते हैं)।

टिप्पणी—स्वमत स्थापन—(१) नायक और नायिका के वियोग होने पर जीवित होने की ज्ञान की अवस्था में विक्लवता से पोषित रति के प्रधान होने से "**विप्रलम्भ**" शृंगार है, और विक्लवता सञ्चारीभाव है। (२) मृत्यु के ज्ञान की अवस्था में रति से पोषित विक्लवता की प्रधानता है, अतः "**करुण**" रस है। (३) और जब मृत्यु के ज्ञान के होने पर भी देवता के प्रसादादि से किसीप्रकार पुनरुज्जीवन हो जावे तो आलम्बन के अत्यन्त निरास के अभाव होने के कारण चिरप्रवास की तरह "**करुणविप्रलम्भ**" ही है, "करुण" रस नहीं, **इति नव्याः** ॥

अर्थ—(२) इसके बाद ("**विप्रलम्भ-शृंगार**" के अनन्तर) "**सम्भोगशृंगार**" (का लक्षण)—

("**सम्भोग**" का लक्षण) जहाँ परस्पर (किसी एक के भी अनुराग के अभाव होने पर "**शृंगाराभास**" होगा, अतः उसके निवारण के लिये "**अन्योऽन्यम्**" पद लिखा है) अनुरक्त भोग सुख की लालसा वाले दम्पती (नायक और नायिका) दर्शन, स्पर्शन आदि करते हैं, यह "**सम्भोगशृंगार**" (कवियों द्वारा) कहा गया है। "आदि" शब्द से पारस्परिक अधरपान और चुम्बन आदि का (ग्रहण होता) है।

"**टिप्पणी**—निष्कर्ष यह है कि अनुरक्त नायक और नायिका के प्रत्यक्ष भोग का अनुभव कराने वाला रतिभाव "**सम्भोगशृंगार**" कहाता है। "**विप्रलम्भशृंगार**" के अन्दर अतिव्याप्ति के निवारण के लिये दर्शन, स्पर्शनादि का ग्रहण किया है। "**पूर्वराग**" और "**मान**" के अन्दर कभी दर्शनादि के हो जाने पर भी उसकी उत्कण्ठा

यथा—'शून्यं वासगृहम्—' इत्यादि ।

संख्यातुमशक्यतया चुम्बनपरिरम्भणादिबहुभेदात् ।
अयमेक एव धीरैः कथितः सम्भोगश्शृङ्गारः ॥ २११ ॥
तत्र स्यादृतुषट्कं चन्द्रादित्यौ तथोदयास्तमयः ।
जलकेलिवनविहारप्रभातमधुपानयामिनीप्रभृतिः ॥ २१२ ॥
अनुलेपनभूषाद्या वाच्यं शुचि मेध्यमन्यच्च ।

की आकुलता के कारण वास्तविक भोग का अभाव होने के कारण उनमें भी अति-व्याप्ति नहीं है । उदासीन स्त्री-पुरुष के परस्पर दर्शनादि हो जाने पर भी "**अनुरक्तौ**" यह कहने से अतिव्याप्ति नहीं है । किसी एक के भी अनुराग के अभाव में "**शृंगारा-भास**" होगा, अतः उसके निवारण के लिये "**अन्योऽन्यम्**" इस पद का कथन किया है ।

टिप्पणी—कुछ तो "**अन्योऽन्यम्**" इसका इसप्रकार अर्थ करते हैं कि कभी एक, और कभी दोनों दर्शनादिक करते हैं । अतः एक के दर्शनादिक में भी "सम्भोग" मानना चाहिये । "**शून्यं वासगृहम्**" यहाँ पर तो दोनों ही नायक और नायिका का दर्शनादि है ।

अर्थ—("सम्भोग" का उदाहरण) यथा—"**शून्यं वासगृहम्**" इत्यादि । [इस पद्य की व्याख्या की जा चुकी है । इसके अन्दर नायिका का किंचित् धीरे से उठकर अपने प्राणप्रिय को चुम्बन करने आदि से और बहाने से सोते हुये नायक के रोमा-ञ्चित हो जाने आदि अनुभाव से अनुराग ही स्पष्टरूपेण प्रतिभासित होता है । तथा इससे तन्मूलक "**सम्भोग**" भी स्पष्ट ही है ।] ।

अवतरणिका—शंका—यह "**सम्भोगश्शृंगार**" एक ही है अथवा इसके भेद भी हैं, ऐसी जिज्ञासा का समाधान करते हैं ।

अर्थ—चुम्बन और आलिङ्गनादिक (अनुभावों) के ("आदि" पद से विभाव, अनुभाव आदि की विचित्रता का ग्रहण होता है) असंख्य भेद होने के कारण ("**सम्भोग**" **शृंगार** के भेद) गिनने में असमर्थ होने के कारण सहृदयों ने यह "**सम्भोग शृंगार**" एक प्रकार का ही कहा है ।

टिप्पणी—"काव्यप्रकाशकार" ने भी कहा है कि—"**तत्र आद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य एक एव गण्यते**" इति ।

अवतरणिका—इसके ("**सम्भोग शृंगार**" के) उद्दीपनविभावों का निरूपण करते हैं :—

अर्थ—उसमें ("**सम्भोग शृंगार**" के अन्दर) वसन्तादि छः ऋतु, चन्द्रमा और सूर्य तथा इन दोनों का उदय और अस्त, जलक्रीडा, वनविहार, प्रभात, मद्यपान रात्रि आदि ("प्रभृति" पद से क्षौमादिकों का ग्रहण होता है) (तथा) (चन्दनादि का) अनुलेपन, भूषण आदि ("आदि" पद से वस्त्रादि का ग्रहण होता है), (तथा) निर्मल, पवित्र और जो कुछ (दर्शनीय शय्या, गृह आदि हैं उन सबका उद्दीपनविभाव रूप से) वर्णन करना चाहिये ।

टिप्पणी—तथा चोक्तम्—ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवनतः
उपवनगमनविहारैः शृंगाररसः समुद्भवति ॥

तथा च भरतः—'यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तत्सर्वं शृङ्गारेणोपमीयते (उपयुज्यते च)' इति ।

किञ्च—

कथितश्चतुर्विधोऽसावानन्तर्यात्तु पूर्वरागादेः ॥ २१३ ॥

यदुक्तम्—

'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते ।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते ॥' इति ।

तत्र पूर्वरागानन्तरं सम्भोगो यथा कुमारसम्भवे पार्वतीपरमेश्वरयोः ।

अवतरणिका—शुचि और पवित्रता की "**सम्भोग शृंगार**" के उद्दीपन में योग्यता किसप्रकार है, इसका उत्तर देते हैं—

अर्थ—भरतमुनि ने भी कहा है कि संसार ने जो कुछ भी निर्मल (दर्पणादि), पवित्र (चन्दनादि), उज्ज्वल (अलङ्कारादि) अथवा दर्शनीय (चित्रादि) हैं, वे सभी शृङ्गार के अन्दर उद्दीपन रूप से उपस्थापित करने चाहिये ।

टिप्पणी—निर्मलादि पदार्थों के अन्दर शृङ्गार रस के अन्दर उद्दीपन की योग्यता होने के कारण प्रत्यक्ष अनुभूतिशील भरतमुनि के द्वारा वर्णित होने के कारण मैंने भी (ग्रन्थकार ने भी) वर्णित कर दिये यह, ग्रन्थकार का आशय है ।

अवतरणिका—इसप्रकार "**सम्भोगशृङ्गार**" की अनन्त संख्या होने के कारण एकविधता ही स्वीकार करने का औचित्य होने पर भी, प्रधानरूप से जो "**सम्भोग शृङ्गार**" के भेद गिने जा सकते हैं, वे चार प्रकार के होते हैं ।

अर्थ—तथा ।

("**सम्भोगशृङ्गार**" के भेद) वह (**सम्भोगशृङ्गार**) "**पूर्वराग**" आदि के ("**आदि**" **पद** से **मान, प्रवास और करुण का ग्रहण** होता है) अनन्तर होने के कारण चार प्रकार का [(१) **पूर्वराग अनन्तर सम्भोग** (२) **मान अनन्तर सम्भोग** (३) **प्रवास अनन्तर सम्भोग** और **करुण अनन्तर सम्भोग**] कहा गया है ।

कहा भी है कि (प्राचीनों की सम्मति दिखाते हैं) "**विप्रलम्भशृङ्गार**" के विना "**सम्भोगशृंगार**" परिपुष्टि को नहीं प्राप्त होता है (अर्थात् "**विप्रलम्भ**" पूर्वक ही "**सम्भोग**" शृङ्गार प्रकृष्ट होता है) क्योंकि वस्त्रादि के (पहले कुछ) कषायित कर लेने पर (बहुत से रंगों में रंगने से पहले अनार के छिलकों के काढ़े में कपड़े को भिगोते हैं । इसीको "कषायित" करना कहते हैं) रंग अत्यधिक चढ़ता है। [इससे "**पूर्वरागादि**" के विना भी "**सम्भोग**" शृङ्गार हो सकता है, यह सूचित होता है । तथा "**प्रकृष्ट और अप्रकृष्ट**" भेद से "**सम्भोग**" दो प्रकार का हुआ । (१) **विप्रलम्भ** के अनन्तर होने वाला "**सम्भोग**" **प्रकृष्ट** है । और वह "**विप्रलम्भ**" पूर्वरागादि केचार प्रकार के होने से चार प्रकार का है । इससे विपरीत "**सम्भोग**" अप्रकृष्ट होता है ।]

उनमें से (१) **पूर्वराग के अनन्तर सम्भोग** (का उदाहरण) यथा–(कालिदासकृत) कुमारसम्भव में (मदनदाह के अनन्तर विवाह होने पर) पार्वती और शिव का । (इसी-प्रकार मालती और माधव का भी समझना चाहिये) ।

प्रवासानन्तरं सम्भोगो यथा मम तातपादानाम्—

'क्षेमं ते ननु पक्ष्मलाक्षि !–किसअं खेमं मदङ्गं दिढं,
एतादृक्क्कशता कुतः –तुहपुणो पुट्ठं सरीरं जदो ।
केनाहं पृथुलः प्रिये!– पणाइणीदेहस्स सम्मेलणात्,
त्वत्तः सुभ्रु ! न कापि मे,–जइ इदं खेमं कुदो पुच्छसि ॥'

(क्षेमं ते ननु पक्ष्मलाक्षि ? कृशकं क्षेमं मदङ्गं दृढं
एतादृक् कृशता कुतः ? तव पुनः पुष्टं शरीरं यतः ।
केनाहं पृथुलः प्रिये ? प्रणयिनीदेहस्य सम्मेलनात्
त्वत्तः सुभ्रु ? न कापि मे, यदि इदं क्षेमं कुतः पृच्छसि ॥

एवमन्यत्राप्यूह्यम् ।

अर्थ—(२) **प्रवास के अनन्तर सम्भोग** (का उदाहरण) यथा—मेरे पिता का (अर्थात् श्रीविश्वनाथ के पिता का बनाया हुआ पद्य है) **क्षेममिति**—

प्रसङ्ग—यहाँ नायक और नायिका की उक्ति-प्रत्युक्ति है । इसके अन्दर प्रवास से आये हुये पति की संस्कृत में उक्ति है और उसकी पत्नी की प्राकृत में प्रत्युक्ति है । पहले संस्कृत में अपने विरह से कृश होती हुई प्रियतमा के प्रति नायक की जिज्ञासा है और बाद में प्राकृत में नायिका का उत्तर है । इसीप्रकार उत्तरोत्तर समझना चाहिये ।

अर्थ—(हे) सुन्दर पलकों से युक्त नेत्रवाली ! तुम्हारा कुशल तो है ? (यह नायक की उक्ति है ।) अत्यन्त क्षीण जो मेरे अङ्ग हैं वही (मेरी) कुशलता है (अर्थात् मेरे अङ्गों की कृशता ही मेरी कुशलता है) (यह नायिका की प्रत्युक्ति है)। इसप्रकार की शरीर दुर्बलता क्यों हो गई है । (अर्थात् तुम इतनी कृश क्यों हो गई हो ?) (यह नायक की उक्ति है)। क्योंकि तुम्हारा शरीर पुष्ट हो गया है (इसीलिये मेरा शरीर कृश हो गया है) (यह नायिका की प्रत्युक्ति है)। (हे) प्रिये ! मैं किस कारण से स्थूल (हो गया हूँ) (यह नायक की उक्ति है)। (अन्य) प्रणयिनी (कान्ता) के शरीर के आलिङ्गन से(प्रवास में ही किसी अन्य प्रिया के शरीर के आलिङ्गन से तुम स्थूल होगये हो । अथवा प्रणयिनी मेरे शरीर के कृश हो जाने के कारण अर्थात् इतने दीर्घकाल तक तुम्हारे विदेश में रहने से तुम्हारे निश्चित प्रेम से क्योंकि मैं कृश हो गई हूँ, इसलिये मुझे कृश करके मेरे मांस से तुम्हारा शरीर पुष्ट हुआ है) (यह नायिका की उक्ति है)। (हे) सुभ्रू ! तुम्हें छोड़कर मेरी कोई भी (प्रणयिनी नहीं है) (यह नायक की उक्ति है) यदि यह बात है (अर्थात् तुम ही मेरी प्रणयिनी हो—यदि यही तुम्हारा अभिमत है तो)कुशल क्यों पूछते हो ?(यदि मैं ही तुम्हारी प्रणयिनी हूँ तो क्यों मुझे छोड़कर दूर चले गये थे जिसके कारण तुम्हारा यह कुशल प्रश्न है । प्रणयी के वियोग में प्रणयिनी की कुशलता का अभाव होने के कारण और इस बात को सभी जानते हैं अतः तुम्हारा इसप्रकार से प्रश्न करना ठीक नहीं है ।) (यह नायिका की प्रत्युक्ति है) ।

एवमिति—इसीप्रकार अन्य स्थानों पर भी (३) **मानानन्तरसम्भोगे** (४) **और करुणानन्तरसम्भोगे**) (उदाहरण) समझ लेने चाहिये ।

अथ हास्यः—

> विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत् ।
> हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः ॥ २१४ ॥
> विकृताकारवाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः ।
> तदत्रालम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥ २१५ ॥
> अनुभावोऽक्षिसङ्कोचवदनस्मेरतादयः ।
> निद्रालस्यावहित्थाद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिणः ॥ २१६ ॥

---

(२) अथ हास्यरसनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद (**"शृंगाररस"** के भेदोपभेद सहित वर्णन करने के उपरान्त) **"हास्य रस"** (का निरूपण करते हैं।)

(**"हास्य"** का लक्षण) विकृत है (स्वाभाविकता से विपरीत है) आकार (स्वरूप), वाणी, वेष और चेष्टादि (हाथ, पैर की भंगिमा। **"आदि"** पद से चिह्लादि का बोध होता है) जिसके ऐसे (विस्मय उत्पन्न करने वाले) नट से (यह केवल उपलक्षण है, अतः विकृताकार आदि विषयक श्रव्यकाव्य से भी "हास्य रस" का ग्रहण समझना चाहिये) **"हास्य रस"** (का आविर्भाव) होता है। [कहा भी गया है कि—

> विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
> विकृतैरङ्गविकारैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥ इति ॥]

(उसका) स्थायीभाव हास है, (अतएव) श्वेत वर्ण है (प्रश्न—**"हास्य रस"** का श्वेत वर्ण है यह कैसे जाना ? **उत्तर—"धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः"** ऐसी कवि प्रसिद्धि है। कहा भी है कि "**"सितो हास्यः प्रकीर्तितः"** इति) शिवगण (इसके) अधिष्ठात्री देवता हैं (कहा भी है कि **"हास्यःप्रमथदैवतः"** इति **प्रमथगणस्य हासकुतूहहलनिरतत्वात्**।) जिस विकृत आकार, वाणी और चेष्टा वाली वस्तु को देखकर मनुष्य हंसे, उसको इस रस में **आलम्बनविभाव** कहते हैं। उसकी (विकृताकारादि वाले पुरुष की) चेष्टायें **"उद्दीपनविभाव"** मानी गई हैं। नेत्रों का संकुचित हो जाना और मुख का विकसित होना आदि (**"आदि"** पद से मुख का आवरणादि का ग्रहण होता है) (इसमें) **अनुभाव** है। निद्रा, आलस्य (और) अवहित्थादिक (**"आदि"** पद से श्रम आदि का ग्रहण होता है) इसके अन्दर ("हास्य रस" **में**) **व्यभिचारिभाव** (होते) हैं।

टिप्पणी—निष्कर्ष यह है कि ""**हासस्थायिभावको विकृतकृदालम्बनको वैकृताद्युद्दीपितो गल्लफुल्लाद्यनुभावितः श्रमादिसंचारितो हास्यः** "इति।" ।

ज्येष्ठानां स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च ।
नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदेष षड्भेदः ।। २१७ ।।
ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात् स्पन्दिताधरम् ।
किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः ।। २१८ ।।
मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम् ।
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं च भवत्यतिहसितम् ।।२१९।।

अवतरणिका—हास्य रस के स्थायीभाव **"हास्य"** के पात्र के भेद से भेदों को बताते हैं—

अर्थ—(१) उत्तम प्रकृति वाले व्यक्तियों के **स्मित** और **हसित** (होते) हैं। (२) मध्यम प्रकृति वाले व्यक्तियों के **विहसित** और **अवहसित** (होते) हैं। (३) अधम प्रकृति वाले व्यक्तियों के **अपहसित** और **अतिहसित** (होते) हैं। इसप्रकार ("हास" के छः भेद होने से) इस (हास्य रस) के छः भेद होते हैं।

अवतरणिका— स्मितादिकों का क्रमशः लक्षण करते हैं—

अर्थ—(१) उनमें ("हास्यों" के मध्य में से) किञ्चित् विकसित हैं नेत्र जिसमें ऐसा, तथा स्पन्दनशील है अधर जिसमें ऐसा (हास्य) "**स्मित**" (कहाता) है। (२) किञ्चित् दिखाई दे रहे हैं दाँत जिसमें ऐसा (हास्य) विद्वानों ने "**हसित**" कहा है। मनोहर ध्वनि है जिसमें ऐसा (हास्य) "**विहसित**" (होता) है (४) स्कन्ध और शिर के कम्पन सहित (हास्य) को "**अवहसित**" (कहते) हैं। (५) अश्रुपूर्ण नेत्रों वाला (हास्य) "**अपहसित**" और (६) विक्षिप्त हो गये हैं अङ्ग जिसमें ऐसा (हास्य) "**अतिहसित**" होता है।

टिप्पणी—इस विषय में कहा भी है कि—

(१) **आत्मस्थः** (२) **परसंस्थश्चेत्यस्य** भेदद्वयं मतम् ।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः ।।
हसन्तमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते ।
योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः परस्थः परिकीर्तितः ।।
(१) "**उत्तमानां** (२) **मध्यमानां** (३) **नीचानामाप्यसौ** भवेत् ।
त्र्यवस्थः कथितस्तस्य **षड्भेदा** सन्ति चापरे ।।
(१) **स्मितं** च (२) **हसितं** प्रोक्तमुत्तमे पुरुषे बुधैः ।
भवे (३) **विहसितं** (४) **चोपहसितं** मध्यमे नरे ।।
(५) नीचेऽ**पहसित** चाति (६) **हसितं** परिकीर्तितम् ।
ईषत्फुल्लकपोलाभ्यां कटाक्षैरप्यनुल्बणैः ।।
अदृश्यदशनो हासो मधुरः (१) **स्मितमुच्यते** ।
वक्त्रनेत्रकपोलैश्चेदुत्फुल्लैरुपलक्षितः ।।
किञ्जितलक्षितदन्तश्च तदा (२) हसितमिष्यते ।

यथा—

'गुरोर्गिरः पञ्च दिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च ।
अमी समाघ्राय च तर्कवादान्समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः ।।'

अस्य लटकमेलकप्रभृतिषु परिपोषो द्रष्टव्यः ।

सशब्दं मधुरं कालगतं वदनरागवत् ।।
आकुञ्चिताक्षि मन्द्रं च विदुर्विहसितं बुधाः ।
निकुञ्चितांसशीर्षश्च जिह्मदृष्टिविलोकनः ।।
उत्फुल्लनासिको हासो नाम्नोपहसितं मतम् ।
अस्थानजः साश्रुदृष्टिराकम्पस्कन्धमूर्धजः ।।
शार्ङ्गदेवेन गदितो हासोऽपहसिताह्वयः ।
स्थूलकर्णः कटुध्वानो वाष्पपूरप्लुतेक्षणः ।।
कक्षोपगूढपार्श्वश्च हासोऽतिहसितं मतम् ।। इति ।

अर्थ—("हास्य" रस का उदाहरण) **यथा**—मेरा (अर्थात् ग्रन्थकार अपना बनाया हुआ पद्य देते हैं) **गुरोरिति—**

प्रसङ्ग—किसी कुक्कुट नामक व्यक्ति को आते हुये देख कर शास्त्र की विवेचना में तत्पर मित्रमण्डली में किसी की सकौतुक उक्ति है ।

ये कुक्कुटमिश्र, भट्ट प्रभाकर के मीमांसा शास्त्रों को पाँच दिन के अन्दर ही पढ़कर और शारीरिक मीमांसा ग्रन्थों को केवल तीन दिन के अन्दर अध्ययन करके (एवं) (न्याय-शास्त्र के समस्त) तर्कशास्त्रों को सूंघ कर (पढ़कर नहीं) आ गये हैं । ("अतः प्रधानाचार्य के योग्य आसन इन्हें दो"—यह वक्ता का अभिप्राय है ।) ।

टिप्पणी—यहाँ पर कुक्कुट मिश्र **आलम्बन** हैं । इनके शास्त्रों के अध्ययन न करने पर भी सभा में अधीत शास्त्रों की तरह आना और इसप्रकार से स्मरण किया जाना **उद्दीपन** है । दन्तविकासादि **अनुभाव** हैं । हर्षादि **संचारीभाव** हैं । इसप्रकार इन सबके संयोग से सामाजिकों के हृदयों में "**हास्य रस**" की अभिव्यक्ति होती है ।

अर्थ—इसका (**हास्य रस का**) "लटकमेलक" प्रभृति में ("प्रभृति" पद से "हास्यार्णव" आदिकों का ग्रहण होता है) परिपुष्टि (बाहुल्य) देखना चाहिये ।

अवतरणिका—रस के अन्दर नायक का अभेद सामाजिकों के हृदयों में प्रतीत होता है, और वह अभेद इस "**गुरोर्गिरः**" श्लोक के अन्दर नहीं हुआ है । अतः किस प्रकार से उसके अभेद का आरोप होगा ? इसका समाधान करते हैं—

अत्र च—

> यस्य हासः स चेत् क्वापि साक्षान्नैव निबध्यते ।
> तथाप्येष विभावादिसामर्थ्यादुपलभ्यते ॥ २२० ॥
> अभेदेन विभावादिसाधारण्यात्प्रतीयते ।
> सामाजिकैस्ततो हास्यरसोऽयमनुभूयते ॥ २२१ ॥

एवमन्येष्वपि रसेषु बोद्धव्यम् ।

अथ करुणः—

> इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।
> धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः ॥ २२२ ॥

अर्थ—और यहाँ पर (अर्थात् "**हास्य रस**" के अन्दर। "चकार" से अन्यत्र भी)।

यस्येति—जिस (नायक) का हास (वर्णन किया जाता है) यदि वह कहीं पर भी (अर्थात् किसी भी उदाहरण में) साक्षात् (अभिधायकत्वेन) वर्णित नहीं किया जाता है तथापि यह (नायक) विभावादिकों के सामर्थ्य से (सामाजिकों के द्वारा) उपलब्ध किया जाता है। (तथा सामाजिकों के) साधारणीकरण व्यापार से विभावादि तादात्म्यरूप से (अपने से अभिन्नरूपेण) प्रतीत होते हैं। उसके बाद (साधारण्य ज्ञान से) सामाजिकों के द्वारा यह "**हास्य रस**" अनुभव किया जाता है। [इसप्रकार से श्रव्यकाव्य के अन्दर भी अनुपपत्ति नहीं होगी क्योंकि जिस उदाहरण के अन्दर रस का साक्षात् निबन्धन नहीं होता है, वहाँ आक्षेप से उसका उपादान कर लिया जाता है।]।

एवमिति—इसीप्रकार अन्य रसों के विषय में भी समझ लेना चाहिये। [बोधनप्रकार पूर्व ही "**व्यापारोऽस्ति विभावादेः**" इत्यादि में और "**सद्भावश्चेद्विभावादेः**" इत्यादि में स्पष्ट कर दिया है।]।

(३) **करुणरसनिरूपणम्**—

अर्थ—इसके बाद ("**हास्य रस**" के निरूपण के अनन्तर) "**करुण रस**" (का लक्षण करते हैं)।

("**करुण रस**" का लक्षण) प्रिय वस्तु के अथवा पुत्रादि के विनष्ट होने से अथवा मृत्यु होने से तथा अनिष्ट की प्राप्ति से "**करुण**" नामक रस होता है। ["प्रदीपकार" ने कहा भी है कि—

> "इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि ।
> एभिर्भावविशेषैः करुणरसौ नाम सम्भवति" ॥ "इति"]

इसको पण्डितों ने कपोत वर्ण वाला (कपोत की तरह धूसर कान्ति वाला) (तथा) यम है देवता जिसका ऐसा कहा है। [इससे शोक का यमराज से पैदा होने वाला दिखाया है। कहा भी है कि "**कपोतः करुणश्चैव**", "**करुणो यमदैवतः**" इति च]।

शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ।
तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २२३ ॥
अनुभावा दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादयः ।
वैवर्ण्योच्छ्वासनिःश्वासस्तम्भप्रलपनानि च ॥ २२४ ॥
निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥ २२५ ॥

शोच्यं विनष्टबन्धुप्रभृति ।
यथा मम राघवविलासे—

'विपिने क्व जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः ।
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्त्तनम् ॥'

अर्थ—इसमें ("**करुणरस**" में) शोक (मृत प्रिय व्यक्ति आदि से उत्पन्न होने वाला अन्तःसन्ताप) "**स्थायीभाव**" होता है। शोच्य (शोक की विषयभूत) वस्तु (मृत सुहृत् और बान्धव आदि) **आलम्बन** माने गये हैं। उस (शोच्य) की दाहादिक अवस्था **उद्दीपन** (होती) है। अदृष्ट (दैव) की निन्दा, भूलुण्ठन, रोदन और विलापादि, विवर्णता, दीर्घ निःश्वास, अन्तर्मुख श्वास, जड़ता, प्रलपन (इसके अन्दर) **अनुभाव** (होते) हैं। निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम विषाद, उड़ता, उन्माद और चिन्ता आदि **व्यभिचारीभाव** (समझने चाहिये)। **शोच्यमिति**—शोच्य का तात्पर्य है विनष्ट बन्धु प्रभृति।

टिप्पणी—सारांश यह है कि—'**अत्र शोकस्थायिभावको मृताद्यालम्बनकस्तद्गुणाद्युद्दीपितो रोदनाद्यनुभावितो दैन्यादिसञ्चारितः करुण इति**"।

अर्थ—("**करुणरस**" का उदाहरण) **यथा**—मेरा (अर्थात् ग्रन्थकार द्वारा निर्मित) "राघवविलास" में—**विपिन इति**—

प्रसङ्ग-वन जाने के लिये उद्यत श्री राम के प्रति दशरथ की यह उक्ति है।

(हे पुत्र।) गहन वन के अन्दर (जाकर) कहाँ तुम्हारा (ऋषियों के व्रत को धारण करने के लिये) जटा धारण करना, (और) कहाँ तुम्हारायह अति मनोहर (कोमल) शरीर। (इन दोनों में ही महान् अन्तर है। इसप्रकार के सुकोमल शरीर से उसप्रकार का ऋषि मुनि तुल्य कठिन तपस्या करना अत्यन्त ही असम्भव है।) भाग्य के द्वारा इन दोनों की (जटाधारण और श्री राम के शरीर की) एकत्र सृष्टि करना स्पष्ट ही निश्चय से तलवार से शिरीष के अति कोमल पुष्प को काटना है।

टिप्पणी—(१) कहने का आशय यह है कि बड़े आश्चर्य की बात है कि इस प्रकार के सुकोमल शरीर द्वारा मुनियों के व्रत के अनुष्ठान की व्यवस्था शिरीष पुष्प पर खड्ग के प्रहार की तरह अत्यन्त ही अशक्य है। अतः विधाता का भी निश्चय ही अविवेकित्व प्रतीत होता है।

(२) यहाँ श्री रामचन्द्र जी **आलम्बनविभाव** हैं, उनके वन जाने के लिये प्रस्थान करना **उद्दीपनविभाव** है, इसका अध्याहार करना चाहिये। दैव-निन्दा **अनुभाव** है। ग्लानि, विषाद आदि **व्यभिचारीभाव** हैं, जिनका अध्याहार कर लेना चाहिये। यहाँ प्रकरण से नायक दशरथ प्रतीत होते हैं।

अत्र हि रामवनवासजनितशोकार्तस्य दशरथस्य दैवनिन्दा। एवं बन्धुवियोगविभवनाशादावप्युदाहार्यम्। परिपोषस्तु महाभारते स्त्रीपर्वणि द्रष्टव्यः। अस्य करुणविप्रलम्भाद् भेदमाह—

शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः सम्भोगहेतुकः ॥ २२६ ॥

अर्थ—यहाँ पर (इस उदाहृत पद्य के अन्दर) रामचन्द्र जी के वनवास से उत्पन्न शोक से व्याकुल दशरथ की दैवनिन्दा है। इसीप्रकार "बन्धुओं के वियोग" और विभव के नाशादि के भी उदाहरण समझ लेने चाहियें। (इसकी) परिपुष्टि तो महाभारत के स्त्रीपर्व में देखनी चाहिये।

टिप्पणी—क्रम से उदाहरण—(१) **बन्धुवियोगो यथा-रघुवंशे**—

"गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥"

यहाँ पर इन्दुमती की मृत्यु से उत्पन्न शोक से विह्वल अज की "मृत्यु निन्दा" है।

(२) **वित्तनाशो यथा**—

प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती, सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी।
यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति, यच्चेतसापि न कृतं तदिहाभ्युपैति ॥

यहाँ राज्य के चले जाने पर श्री राम का विलाप है।

(३) **अनिष्टप्राप्तौ यथा**—

नाथ ! प्रार्थनया कया न हि मया भूयो भवानर्थितः
कस्यां वा भवता कृपां कलयता नालस्य मध्यासितम्।
निर्लज्जोऽस्मि तथाप्यनन्यशरणः श्रीमन्तमभ्यर्थये
कालव्यालमुखान्तरालपतितं गोपाल ! मां पालय ॥

अर्थ—इसका ("**करुण रस**" का) "**करुण-विप्रलम्भ**" शृंगार से भेद बताते हैं।

टिप्पणी—क्योंकि "करुण-विप्रलम्भ" शृंगार के अन्दर भी शोक की विद्यमानता होने के कारण "करुण" रस का लक्षण वहाँ पर भी घटित न हो जावे। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारण के लिये इन दोनों में भेद प्रदर्शित करते हैं।

अर्थ—यह ("करुण") रस शोक के स्थायी होने के कारण "करुणविप्रलम्भ" शृंगार से भिन्न है। "करुण-विप्रलम्भ" शृंगार में पुनः सम्मोग की सम्भावना का हेतु होने के कारण रति "स्थायीभाव" है।

टिप्पणी—"**करुण-विप्रलम्भ**" **शृंगार** के अन्दर सम्भोग की सम्भावना का हेतु "**रति**" स्थायी भाव है। इसके अन्दर शोक गौणरूपेण केवल "रति" का सहचर है। परन्तु "**करुण रस**" के अन्दर शोक की प्रधानता है, यहाँ रति तो है ही नहीं। यहा इन दोनों में भेद है।

अथ रौद्रः—

रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः ।
आलम्बनमरिस्तस्य तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ।। २२७ ।।
मुष्टिप्रहारपातनविकृतच्छेदावदारणैश्चैव ।
संग्रामसंभ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत् प्रौढा ।। २२८ ।।
भ्रूविभङ्गौष्ठनिर्दंशबाहुस्फोटनतर्जनाः ।
आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च ।। २२९ ।।
अनुभावास्तथाक्षेपक्रूरसंदर्शनादयः ।
उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवो मदः ।। २३० ।।
मोहामर्षादयस्तत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः ।

---

(४) अथ रौद्ररसनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद (**"करुण रस"** के निरूपण के अनन्तर) **"रौद्र रस"** (का निरूपण)—

अर्थ—(**रौद्र रस** का लक्षण) "**रौद्र रस**" में क्रोध **"स्थायीभाव"** (होता) है। (इसका वर्ण) लाल (होता) है (क्योंकि क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होता है और रजोगुण **"अजामेकां लोहितशुक्लवर्णाम्"** इस श्रुति के अनुसार तथा **"काम एष क्रोध एष रजो गुणसमुद्भवः"** इस गीता के कथन के अनुसार लोहित वर्ण का होता है।) रुद्र (इसके) अधिष्ठात्री देवता हैं। उसमें (**रौद्र रस** में) शत्रु **"आलम्बनविभाव"** है। उसकी (शत्रु की) चेष्टायें **उद्दीपनविभाव** मानी गई हैं। (शत्रु को चेष्टाओं का वर्णन करते हैं) मुष्टिप्रहार (शरीर के अङ्गों द्वारा प्रहारमात्र का उपलक्षण है), आक्रमण अथवा गिराना, विरुद्धाचरण, (तलवारादि से सेना को) काटना, (शूलादि के द्वारा सेना का) भेदन करना तथा युद्ध की व्यग्रता आदि से इसकी (**"रौद्र रस"** की) अतिशय उद्दीप्ति होती है। अर्थात् मुष्टि-प्रहारादि इसके **उद्दीपनविभाव** हैं। भृकुटिभङ्ग, ओष्ठ-दंशन, भुजाओं को फैलाना, तर्जन करना (डराने के लिये डांटना), अपने किये हुये वीर कर्मों की प्रशंसा करना और अस्त्रों का प्रहार करना तथा तिरस्कार, क्रूर दृष्टि से देखना आदि **अनुभाव** (होते) हैं (**"आदि"** पद से क्रूर प्रतिज्ञा करना, क्रूर कर्म में प्रवृत्त होना, क्रूर मनुष्यों का सङ्ग करना, अपनी सेना की प्रशंसा करना आदि का ग्रहण होता है)। इसमें (**"रौद्र रस"** में) उग्रता, आवेग, रोमांच, स्वेद, कम्पन (वेपथु), मोह, मद, अमर्षादि भाव **"व्यभिचारीभाव"** होते हैं।

टिप्पणी—निष्कर्ष यह है कि—**"क्रोधस्थायिभावको द्विषदालम्बनकस्तदपकाराद्युद्दीपितो भ्रूविभङ्गाद्यनुभावितः उग्रतादिसञ्चारितो रौद्र इति"**।

यथा—

'कृतमनुमतं हष्टं वा यैरिदं गुरु पातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥'

अर्थ—("रौद्र रस" का उदाहरण) **यथा-कृतमिति—**

प्रसङ्ग—("वेणीसंहार नाटक" के अन्दर धृष्टद्युम्न द्वारा किये हुये द्रोणाचार्य जी के शिरच्छेदम से क्रुद्ध अश्वत्थामा की दुर्योधन के पास में अर्जुन को सम्बोधित करके कही हुई यह उक्ति है) ।

जिन मर्यादाशून्य (युद्ध के अन्दर शस्त्ररहित को मारने में युद्धकी मर्यादा भङ्ग होती है—ऐसा नियम है) (अतएव) (विवेकहीन होने के कारण) पशुतुल्य मनुष्यों ने, शस्त्र ग्रहण किये हुये आपने, यह (मेरे पिता के शिरच्छेदन रूप) महान् पाप (शस्त्रादि को छोड़कर और युद्ध से विरत होकर समाहितचित्त होकर बैठे हुये आचार्य को मारने वाला ब्रह्महत्या के समान महापाप) (धृष्टद्युम्न ने) किया है, (द्रुपदादि ने) अनुमति दी है अथवा (तुमने) देखा है, नरकासुर के शत्रु श्रीकृष्ण के साथ (विद्यमान) भीम और अर्जुन के सहित उन सब के रुधिर, चर्वी और मांस से यह मैं दिशाओं को (दिशाओं में स्थित भूतों को) बलि देता हूँ अर्थात् दिशाओं को पूजता हूँ ।

टिप्पणी—(१) यद्यपि धृष्टद्युम्न को लक्ष्य करके कही हुई यह उक्ति उचित है तथापि महापातकी होने के कारण उसके नाम का उच्चारण करना अनुचित है, ऐसा सोचकर पराक्रम के उचित अरे रे अर्जुनार्जुन? सात्यके सात्यके ! ऐसा सम्बोधित करके यह उक्ति है ।

(२) यहाँ पर "**नरकरिपु**" इस पद के उपादान से नरकासुर को मारने वाले को और गुरु को मारने रूप पाप करने वाले को मार डालूँगा—यह सूचित करने से मेरे क्रोध में सारा संसार ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा, यह सूचित होता है। तथा उद्यत शस्त्र वाले दुर्योधनादि के द्वारा देखे जाने से किन्तु धृष्टद्युम्न को निवारण न कर सकने के कारण अपराधी होने के कारण उनके प्रति भी वचनभंगिमा से यह उक्ति है, ऐसा समझना चाहिये ।

(३) यहाँ पर क्रुद्ध अश्वत्थामा के अपकारी अर्जुनादि **आलम्बनविभाव** हैं। पिता को मारना और शस्त्रादि को उठाना **उद्दीपनविभाव** हैं। इस उक्ति रूपेण गर्जना **अनुभाव** है। आवेगादि **संचारीभाव** हैं। क्रोध **स्थायीभाव** है। सामाजिकों के हृदय में "**रौद्ररस**" की अभिव्यक्ति होती है।

अस्य युद्धवीराद्भेदमाह—

रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः ॥ २३१ ॥

अथ वीरः—

उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः ।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ॥ २३२ ॥
आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः ।
विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।

अवतरणिका—शंका-रौद्र और **युद्धवीर** रस के अन्दर शत्रु **आलम्बनविभाव** है। अतः इन दोनों के अन्दर अभेद पैदा होता है ? इसके समाधान के लिये उन दोनों में भेद दिखाते हैं।

अर्थ—इसका (**रौद्र रस का**) "**युद्धवीर**" से भेद दिखाते हैं।

इसमें (**रौद्र रस में**) मुख और नेत्रों का लाल वर्ण का होना ही युद्धवीर से पृथक् करने वालाहै।

टिप्पणी—युद्धवीर के अन्दर मुख और नेत्र लाल नहीं होते हैं किन्तु यहां **रौद्र रस** में नायक के मुख और नेत्रों की लालिमा का व्यंजक "**क्रोध**" है। यही इ दोनों में अन्तर है। दोनों ही रसों में शत्रु के आलम्बन रूप होने पर भी क्रोध के आविर्भाव होने पर **रौद्र**, और उत्साह के आविर्भाव होने पर **युद्धवीर** होता है। उत्साह के अन्दर मुखादि की रक्तवर्णता नहीं होती है क्योंकि यह सात्विक होता है और तामसिकता का इसके अन्दर अभाव होता है। यही इन दोनों में भेद है।

(५) अथ वीररसनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद ("**रौद्र रस**" का निरूपण करके) "**वीररस**" (का निरूपण करते हैं)—

("**वीर रस**" का लक्षण) उत्कृष्ट धीरोदात्तरूपा प्रकृति वाला नायक है जिसका ऐसा (अर्थात् उत्कृष्ट जननिष्ठ), उत्साह है **स्थायीभाव** जिसका ऐसा, महेन्द्र है देवता जिसका ऐसा, (महेन्द्र के समग्र वीराधिपति होने के कारण) सुवर्ण की तरह है वर्ण जिसका ऐसा (महेन्द्र का भी यही वर्ण है) यह (**वीररस**) कहा गया है। उस (रस के "**आलम्बनविभाव**" विजेतव्यादि (प्रतिनायकादि) (यहाँ "**आदि**" पद से कर्त्तव्य कर्म का ग्रहण होता है) माने गये हैं। [उनमें से **युद्धवीर** में विजेतव्य प्रतिपक्षी है, **दानवीर** में दान के पात्र विप्रादि, **धर्मवीर** में धर्म और **दयावीर** में दुःस्थितादि **आलम्बनविभाव हैं**] विजेतव्यादिकों की चेष्टायें आदि (प्रतिनायिकादिकों की चेष्टादि) (यहाँ "**आदि**" पद से कर्त्तव्य कर्म और उसको सिद्ध करने के उपाय के ज्ञानादि का ग्रहण होता है अथवा प्रथम "**आदि**" पद से दानीय, धर्म्य और अनुकम्पनीयादिकों का द्वितीय "**आदि**" पद से **दान** में गुणविशेष के उद्रेक का, धर्म में धर्मशास्त्र अध्ययनादि का, **दया** में दीन की कातरोक्ति का ग्रहण होता है) उद्दीपनविभाव हैं

अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः ॥ २३३ ॥

सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः ।

स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ॥२३४॥

स च वीरो दानवीरो, धर्मवीरो, युद्धवीरो, दयावीरश्चेति चतुर्विधः ।

अर्थ—उसमें **(वीररस में)** सहायकों का अन्वेषणादि (यहाँ "आदि" पद से अपने पराक्रम की उद्भावनादि का ग्रहण होता है) पुनः **अनुभाव** होते हैं। [**युद्ध** में सैन्य, **दान** में वित्त, **धर्म** में द्रव्यमंत्रादि, **दया** में त्यागादि सहायक होते हैं। "आदि" पद से **युद्धवीर** में सहायक के अन्वेषण के भेद के प्रयोगादि, **दानवीर** में त्यक्त वित्त का संग्रहादि, **धर्मवीर** में यागानुष्ठानादि, **दयावीर** में शान्तिवचनादि **अनुभाव** होते हैं] (तथा) धृति, मति (कर्त्तव्य निश्चय), गर्व, स्मृति, तर्क और रोमांच **व्यभिचारीभाव** है। (इसप्रकार **वीररस** का लक्षण करके इसके भेदों को बताते हैं) **स चेति**—और वह **(वीररस) (१) दान** (२) **धर्म** (३) **युद्ध** और (४) **दया** से युक्त होता हुआ चार प्रकार का होता है।

टिप्पणी—इस "**वीररस**" का "**स्थायीभाव**" उत्साह है। और उत्साह राग-द्वेष से शून्य होने पर चित्त का उत्कर्षविशेष है। इसीलिये इसका देवराज देवता है, और निष्कलङ्क होने के कारण स्वर्ण सदृश वर्ण है। उत्तम प्रकृति वाला है और अधर्म के व्यंजक मुखादि की लालिमा से शून्य है। दानादि चारों के उत्साह विषयक होने के कारण चार प्रकार के निर्देश से पलायनवीरादि प्रभेदों को भी इसके स्वीकार हुये पण्डितराजादिक निरस्त हो गये। क्षमावीरादि तो धर्मवीर के ही भेद हैं।

अवतरणिका—"**वीररस**" के भेदों का परिगणन करते हैं—

अर्थ—और वह **वीररस** (१) **दानवीर** (२) **धर्मवीर** (३) **युद्धवीर** और (४) **दयावीर** इसप्रकार चार प्रकार का होता है।

टिप्पणी—"**वीररस**" चार प्रकार का है यह नियम संगत नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि "**राज्यञ्च वसुदेहश्च**" इत्यादि में "**तं प्रकामं विप्लवन्तां मा भूत् सत्यस्य विप्लवः**" इसप्रकार इसके विपर्यास से पद्यान्तरता को प्राप्त होने पर "**सत्यवीर**" के भी सम्भव हो जाने से अर्थात् "**सत्यवीर**" भी एक "वीररस" का भेद हो जावेगा। केवल "**सत्यवीर**" ही इसका ५वां भेद नहीं है अपितु **बलवीर**—**पाण्डित्यवीर** इत्यादि अन्य भी भेद यथास्थान समझ लेने चाहिये। इसीलिये "रसगङ्गाधरकारादि" अनेक सहृदयधुरीणों ने ये चार भेद ही स्वीकार किये हैं। **दानवीर** और **दयावीर** के **धर्मवीर** के अन्दर अन्तर्भाव के उचित होने पर भी सम्प्रदाय के अनुरोध से पृथक् अभिधान कर दिया है।

तत्र दानवीरो यथा परशुरामः—

'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः' इति ।

अत्र परशुरामस्य त्यागे उत्साहः स्थायिभावः, संप्रदानभूतब्राह्मणैरालम्बनविभावैः सत्त्वाध्यवसायादिभिश्चोद्दीपनविभावैर्विभावितः, सर्वस्वत्यागादिभिरनुभावैरनुभावितो, हर्षधृत्यादिभिः संचारिभिः पुष्टिं नीतो दानवीरतां भजते ।

अर्थ–(१) उनमें से [(१) दानवीर (२) धर्मवीर (३) युद्धवीर और (४) दयावीर इन चार प्रकार के "वीर रस" के भेदों में से] **"दानवीर"** (का उदाहरण) **यथा,**— परशुराम) **त्याग इति**–[यह पद्य का तृतीय चरण है, समस्त पद्य इसप्रकार है—

उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान् देवः पिनाकी गुरुः
वीर्यं यन्तु न तद्गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत्कर्मभिः ।
त्यागः सप्तसमुद्रमुदितमहीनिर्व्याजदानावधिः
सत्यब्रह्म तपोनिधेर्भगवतः किं वा न लोकोत्तरम् ॥

प्रसङ्ग—यह "महावीरचरित" के द्वितीय अङ्क में रामचन्द्र जी के द्वारा परशुराम की प्रशंसा है ।

अर्थ—(परशुराम जी की) उत्पत्ति जमदग्नि मुनि से है, वह प्रसिद्ध भगवान् पिनाकी देव (महेश) गुरु (ज्ञान देने वाला) है । (और परशुराम जी का) जो पराक्रम है, वह वाणी का विषय नहीं है (अतिशय पराक्रम होने के कारण कहा नहीं जा सकता है), वह पराक्रम कार्यों से (इक्कीस वार क्षत्रिय वर्ग को नष्ट करने से संसार में) प्रसिद्ध है । **सात समुद्रों से आवेष्टित जो पृथ्वी है उसका अकपट रूप से दान देना ही है (दान की) सीमा जिनकी ऐसे** (अतएव) यथार्थ व्यवहार रूप वेद और विविध तपस्याओं के आश्रय भगवान् (जामदग्नि) का कौन सा कर्म लोकोत्तर नहीं है, अपितु सभी कर्म लोकोत्तर हैं ।

(उदाहरण की संगति वैठाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (उदाहृत पद्यांश) में परशुराम के दान में उत्साह (उदारभाव से चित्तप्रवृत्ति) **स्थायीभाव** है । (अतः यह स्थायीभाव) (विद्या विनयार्जवादि से) दान की पात्रता को प्राप्त ब्राह्मण रूप **आलम्बनविभाव** से, सत्व अर्थात् सौम्यतादि गुण विशेष के उद्रेक आदि से ("आदि" पद से प्ररोचनादि का ग्रहण होता है) **उद्दीपनविभावों** से विभावित होकर, सर्वस्वत्यागादि **अनुभावों** से अनुभावित होकर (कार्यरूप में परिणत होकर), हर्ष, धृति, औत्सुक्यादि **सञ्चारीभावों** से पुष्टि को ले जाया जाता हुआ **"दानवीररसत्व"** को प्राप्त होता है ।

टिप्पणी—वस्तुतः ग्रन्थकार द्वारा उदाहृत **"त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमही"** यह पद्य ठीक नहीं प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ पर वाक्यार्थ के परशुराम के प्रशंसापरक होने के कारण व्यंग्य के गुणीभूत हो जाने से ध्वनि के उदाहरण में ठीक घटित नहीं होता है ।

धर्मवीरो यथा युधिष्ठिरः—

'राज्यं च वसु देहश्च भार्या भ्रातृसुताश्च ये ।
यच्च लोके ममायत्तं तद् धर्माय सदोद्यतम् ॥'

युद्धवीरो यथा श्रीरामचन्द्रः—

'भो लङ्केश्वर ! दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते
कोऽयं ते मतिविभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किंचिद्गतम् ।
नैवं चेत् खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किलः
पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः ॥'

अर्थ—(२) **धर्मवीर** (का उदाहरण) **यथा**–युधिष्ठिर । **राज्यमिति**–राज्य, धन, शरीर, भार्या और जो भाइयों के (भीमसेनादिकों के) पुत्र हैं अथवा भाई और पुत्र हैं (अधिक क्या कहें) संसार में जो (उद्यानादिक) मेरे आधीन हैं वह (राज्यादिक सभी) धर्म के लिये सदा उपस्थित है ।

टिप्पणी—यहाँ वक्ता युधिष्ठिर का वैदिक कर्म के अन्दर उत्साह **स्थायीभाव** है। धर्म **आलम्बनविभाव** है । **"स्वर्गकामो यजेत," "धर्मान्न प्रमदितव्यम्"** इत्यादि स्वर्ग को दिलाने वाली श्रुति **उद्दीपनविभाव** है। इसप्रकार की उक्ति **अनुभाव** है। हर्ष, धृति आदि **व्यभिचारीभाव** है। अङ्गाङ्गिभाव को प्राप्त समुदाय से आस्वादन किया जाता हुआ सहृदय सामाजिकों को "धर्मवीर" रस रूप को प्राप्त होता है ।

अर्थ—(३) **युद्धवीर** का (उदाहरण) यथा—श्री रामचन्द्र जी । **भो इति**–

प्रसङ्ग–"बालरामायण" के अन्दर रावण के प्रति श्री रामचन्द्र जी की यह उक्ति है ।

हे लङ्केश्वर रावण ! सीता (मुझे) लौटा दो, राम (बालि को मारने वाला रामनाम से प्रसिद्ध) स्वयं अपने आप (दूत आदि के द्वारा नहीं, जिससे विश्वास न हो) याचना कर रहा है । यह तेरा क्या कोई बुद्धि विभ्रम है ? नीति का स्मरण करो (**"बलवद्विरोधिता दुरन्ता भवति"** इस नीति को सोचो, सन्मार्ग का अवलम्बन करो) अब भी (तुम्हारा) कुछ नहीं बिगड़ा है । यदि इसप्रकार (मैंने जो कुछ भी तुम्हारे कल्याण के लिये कहा है, वह यदि) नहीं (करते हो तो) (अर्थात् यदि मोहवश मेरे वचन को ठीक नहीं मानते हो तो) खर, दूषण और त्रिशिरा के कण्ठ के रुधिर से मलिन (लिप्त) धनुष मौर्वी-बन्धन से बन्धु की तरह किया हुआ अर्थात् प्रत्यंचा से युक्त किया हुआ मेरा यह बाण (तुमको) सहन नहीं करेगा । (अर्थात् मेरा बाण शीघ्र ही तुम्हारे जीवन को विनष्ट कर देगा) । [यद्यपि यहाँ पर अपना असहन रूप धर्म है तथापि बाण के अन्दर आरोप कर शत्रु के हनन में उसके प्रधान साधन को सूचित किया है ।]

टिप्पणी— यहाँ रावण **आलम्बनविभाव** है। रावण के द्वारा किया हुआ सीतापहरण **उद्दीपन** है। इसप्रकार की उक्ति **अनुभाव** है। **"न सहिष्यते"** इत्यादि गर्व **सञ्चारीभाव** है । इसप्रकार विभावादिकों के समुदाय से आस्वादन किया जाता हुआ श्री राम का युद्धोत्साह **स्थायीभाव** सामाजिकों के हृदयों में **"युद्धवीररसत्व"** को प्राप्त करता है ।

दयावीरो यथा जीमूतवाहनः—

'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।

तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ॥'

एष्वपि विभावादयः पूर्वोदाहरणवदूह्याः ।

अथ भयानकः—

भयानको भयस्थायिभावो कालाधिदैवतः ।

स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः ॥ २३५ ॥

अर्थ—(४) **दयावीर** (का उदाहरण) यथा–**शिरामुखैरिति**–

प्रसङ्ग–"**नागानन्द नाटक**" में गरुड़ के द्वारा भक्षण किये जाते हुये सर्प की रक्षा करने के लिये उसको (गरुड़ को) खाने के लिये अपने शरीर को देने के उपरान्त उसके खाने से अतृप्त गरुड़ के प्रति जीमूतवाहन की यह उक्ति है ।

(हे) गरुड़ ! (तुम्हारे चञ्चुप्रहार से) छिन्न नाड़ियों के मुख से रक्त निकल ही रहा है (तथा) अब भी मेरे शरीर में मांस है, (और) तुम्हारीभी (मेरे मांस को खाकर क्षुधा निवृत्ति से) तृप्ति (उदरपूर्ति से उत्पन्न सन्तोष को) को नहीं देखता हूँ । (तथापि) क्यों तुम (मेरे मांस को) खाने से विरत हो गये हो । [यह गरुड़ श्येनरूपधारी इन्द्र है । अतः उसको लक्ष्य करके "गरुत्मन्" यह सम्बोधन किया गया है ।

एष्विति—इनमें भी (धर्मवीरादिकों में भी) विभावादि पहले के उदाहरण की तरह ("दानवीर" के उदाहरण की तरह) ऊह्य कर लेने चाहिये ।

टिप्पणी—(१) यहाँ नाग **आलम्बनविभाव** है । उसकी (नाग की) कातर उक्ति **उद्दीपनविभाव** है । जीमूतवाहन की इसप्रकार की उक्ति **अनुभाव** है । धृत्यादि **व्यभिचारीभाव** है । इन सब विभावादिकों के परस्पर मिलने से आस्वादन किया जाता हुआ जीमूतवाहन का कपोतरूपधारी धर्म के दुःख को दूर करने के लिये उत्साह **स्थायीभाव** सहृदय सामाजिकों के हृदय में रसत्व को प्राप्त होता है ।

(६) **अथ भयानकरसनिरूपणम्**:—

अर्थ—इसके बाद ("**वीररस**" के निरूपण के अनन्तर) "**भयानक रस**" (का निरूपण करते हैं) ।

("**भयानक**" का लक्षण) भय है **स्थायीभाव** जिसका ऐसा, यमराज है अधिष्ठात्री देवता जिसका ऐसा, ("**कालदेवो भयानकः**" **इति भरतोक्तेः**), स्त्रीजाति, अधम मनुष्य है आश्रय जिसका ऐसा (अर्थात् स्त्री नीच नायक वाला । "**बालस्त्रीनीचनायकः**" इति, **रुद्रभट** की उक्ति से इसका "बालनायकत्व" भी समझना चाहिये । भयानक के उत्तम पात्राश्रित होने पर "भयानकाभास" समझना चाहिये ।),

अस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम् ।
चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २३६ ॥
अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्गदस्वरभाषणम् ।
प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पदिक्प्रेक्षणादयः ॥ २३७ ॥
जुगुप्सावेगसंमोहसंत्रासग्लानिदीनताः ।
शङ्कापस्मारसम्भ्रान्तिमृत्य्वाद्या व्यभिचारिणः ॥ २३८ ॥

यथा—

'नष्टं वर्षवरैः—' इत्यादि ।

कृष्ण वर्ण वाला (रस) अलंकारशास्त्र के तत्वज्ञों ने "**भयानक**" नाम वाला कहा है। (**तथोक्तं – कृष्णश्चैवभयानकः**" इति)। जिससे भय उत्पन्न होता है, इस (रस) में वह "**आलम्बनविभाव**" माना गया है। उसकी (भय के आलम्बन की) अत्यन्त भीषण चेष्टायें पुनः **उद्दीपनविभाव** होती है। इसमें (**भयानक रस में**) विवर्णता, गद्गद् स्वर से भाषण, नष्ट चित्तता अथवा नष्ट चेष्टता, **स्वेद**, रोमाञ्च, कम्प और (सहायक खोजने के लिये अथवा पलायन के लिये) इधर-उधर कातर दृष्टि से दृष्टि डालनादि **अनुभाव** (होते) हैं। जुगुप्सा (घृणा, वीभत्सरस का स्थायीभाव), आवेग, सम्मोह, सन्त्रास, ग्लानि, दीनता, शङ्का, अपस्मार, सम्भ्रान्ति (उन्माद), मृत्यु आदि ("आदि" पद से व्याधि का भी ग्रहण होता है) **व्यभिचारीभाव** (होते) हैं।

टिप्पणी—(१) निष्कर्ष यह है कि—"**भयस्थायिभावको विकटाद्यालम्बनकस्तद्विकटकर्माद्युद्दीपितः पलायनाद्यनुभावितो जडतादिसंचारितो भयानक इति**"।

(२) **तथोक्तं प्रदीपकृता**—

भयानके भयं स्थायी कालो देवोऽस्य सम्मतः ।
कृष्णो वर्णो नीचपात्रो भीम आलम्बनं मतम् ॥
चेष्टा तस्योद्दीपनं स्यादनुभावो विवर्णता ।
गद्गदस्वरभूपातमूर्च्छाश्च प्रलपादयः ॥
सन्त्रासावेगसम्मोहा व्यभिचारिण ईरिताः ॥ इति ।

अर्थ—("**भयानक**" का उदाहरण) **यथा**—"**नष्टं वर्षवरैः**" **इत्यादि**। [इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।]।

टिप्पणी—यहाँ पर वर्षवरादि नीच व्यक्तियों का भय **स्थायीभाव** है। अकस्मात् अन्तःपुर में प्रविष्ट वानरवेषी विदूषक **आलम्बनविभाव** है। इसके उल्लम्फनादिक व्यापार **उद्दीपनविभाव** है। त्रासादि **व्यभिचारीभाव** हैं। पलायनादि **अनुभाव** है। इन सभी विभावादिकों से मिलकर आस्वादन किया जाता हुआ **भय** स्थायीभाव सहृदय सामाजिकों के हृदय में रस की अनुभूति को उत्पन्न करता है।

(२) कहीं पर "**ग्रीवाभङ्गाभिरामम्**" यह उदाहरण दिखाई देता है।

अथ बीभत्सः—

जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः ।
नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः ॥ २३९ ॥
दुर्गन्धमांसरुधिरमेदांस्यालम्बनं मतम् ।
तत्रैव क्रमिपातद्यमुद्दीपनमुदाहृतम् ॥ २४० ॥
निष्ठीवनास्यवलननेत्रसङ्कोचनादयः ।
अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ॥ २४१ ॥
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादयः ।

यथा—

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोथभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।

---

(७) **अथ बीभत्सरसनिरूपणम्**:—

अर्थ—इसके बाद ("**भयानक**" रस का निरूपण करके) "**बीभत्सरस**" (का निरूपण करते हैं)—

("**बीभत्सरस**" का लक्षण)—जुगुप्सा (घृणा) है **स्थायीभाव** जिसका ऐसा रस **बीभत्स** कहलाता है। यह ("**बीभत्सरस**") नीलवर्ण वाला (धूम्रवर्ण वाला) [धूम्रवर्ण वाला होना तो "**महाकालं यजेद्देव्या दक्षिणे धूम्रवर्णम्**" इस स्मृति के द्वारा जाना जाता है।] (तथा) महाकाल (कात्यायनी) है देवता जिसका ऐसा कहा गया है। [**'नीलवर्णस्तु बीभत्सः,' बीभत्सश्च महाकालः इति च भरतः**] दुर्गन्धित मांस, रुधिर और चर्बी **आलम्बन** मानी गई है। उसमें (दुर्गन्धित मांसादि में) ही कीड़े पड़नादि ("आदि" पद से दुर्गन्धादि का ग्रहण होता है) **उद्दीपनविभाव** कहा गया है। थूकना, मुख फेर लेना, आँखों को बन्द कर लेना आदि ("आदि" पद से वान्तादि का ग्रहण होता है) **अनुभाव** माने गये हैं। तथा मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि, मरणादि ("आदि" पद से ग्लानि आदि का ग्रहण होता है) **व्यभिचारीभाव** होते हैं।

टिप्पणी— सारांश यह है कि **जुगुप्सास्थायीभावको दुर्गन्धाद्यालम्बनको मांसादौ कृमिपाताद्युद्दीपितो निष्ठीवनाद्यनुभावितो ग्लान्यादिसञ्चारितो महाकाल-दैवतो नीलवर्णो बीभत्सो रसः ।**

अर्थ— ("**बीभत्स रस**" का उदाहरण) **यथा—उत्कृत्येति—**

प्रसङ्ग—"मालतीमाधव" के ५म अंक में श्मशान के अन्दर शव का भक्षण करते हुये दरिद्र प्रेत को देखकर माधव की यह उक्ति है।

दरिद्र प्रेत पहले (शव के) चर्म को (नखों से) पौनःपुन्येन काटकर (खा रहा है), इसके बाद महान् शोथ रोग से सूजे हुये प्रचुर स्कन्ध, नितम्ब, पीठ, पिंडली आदि ("आदि" पद से उरु आदि का ग्रहण समझना चाहिये) अवयवों में सुलभ उत्कट दुर्गन्ध वाले मांसों को खाकर (बैठा हुआ) (तथा) दुःखित (क्षुधा से पीड़ित) (अतएव) इधर-उधर डाली हैं आँखें जिसने ऐसा (कोई आकर

आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥'

अथाद्भुतः—

अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः ॥२४२॥
पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम्।
गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २४३ ॥
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चगद्गदस्वरसंभ्रमाः।
तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ॥ २४४ ॥
वितर्कावेगसंभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः।

बलात् छीनकर ले न जाये इस भय से जिसकी नेत्रदृष्टि चारों तरफ घूम रही है) (तथा) निकाले हैं दाँत जिसने ऐसा, अङ्क में रखे हुये शव के शरीर से (करङ्कात्) अस्थि में लगे हुये (तथा) जोड़ों में घुसे हुये (स्थपुटगत) भी कच्चे मांस को निःशङ्क होकर खा रहा है' [क्रम से खाने से तथा अव्यग्रता के कारण खाने का क्रम दिखाया है]।

टिप्पणी:—(१) जुगुप्सास्थायिभावको विण्मूत्राद्यालम्बनको दुर्गन्धाद्युद्दीपितो निष्ठीवनाद्यनुभावितो ग्लान्यादिसंचारितो बीभत्स इति निष्कर्षार्थः।

(२) यहाँ शव या दरिद्र प्रेत **आलम्बन विभाव** है। उसका शव को काटना और मांस का खाना **उद्दीपन विभाव** है। उसको देखने वाले व्यक्ति का नाक भौं सिकोड़ना, मुख फेरना, हिलाना, थूकनादि **अनुभाव** हैं। उद्वेग, ग्लानि आदि **व्यभिचारीभाव** हैं। इन सभी विभावादिकों से परिपुष्ट होकर आस्वादन किया जाता हुआ जुगुप्सा **स्थायीभाव** सामाजिकों के हृदय में रसता को प्राप्त होता है।

(३) अत्र स्थपुटगतस्थापकर्षणादार्त्तत्वम्, कश्चिदाच्छिद्य नेष्यतीति भयात् पर्यस्तनेत्रम् तदाकर्षणार्थं च दशनप्रकटनम्। भोजनसमाप्तिभयाच्छनैरिति। यावत्क्तिसत्वमुत्कीर्तनम्।

(८) अथाद्भुतरसनिरूपणम्:—

अर्थ—इसके वाद (**"बीभत्स रस"** के निरूपण के अनन्तर) **"अद्भुत रस"** (का निरूपण करते हैं)—

(**अद्भुतरस**" का लक्षण) **"अद्भुत रस"** विस्मय है स्थायीभाव जिसका ऐसा, गन्धर्व है देवता जिसका ऐसा (**"मानादिना विस्मयोत्पादनं गन्धर्वैः क्रियते"**—ऐसा पुराणों में आता है। **"अद्भुतो ब्रह्मदैवत** इति भरतः"), पीतवर्ण वाला (गन्धर्वों का पीत-वर्ण होने के कारण इसका भी पीतवर्ण है) (होता) है, (तथा **चोक्तम्—"पीतश्चैवाद्भुतं स्मृतः"** इति)। अलौकिक वस्तु (इन्द्रजालादिक) **आलम्बन विभाव** मानी गई है। उसके ("अद्भुत" के आलम्बन के) गुणों की महिमा पुनः **उद्दीपन विभाव** होती है। **स्तम्भ, स्वेद**, रोमाञ्च, गद्गद स्वर, सम्भ्रम तथा नेत्रविकासादि (**"आदि" पद से** निर्निमेष देखना आदि का ग्रहण होता है) **अनुभाव** कहे गये हैं। वितर्क, आवेग, सम्भ्रान्ति (जडता), हर्षादि ("आदि' पद से औत्सुक्यादि) **व्यभिचारीभाव** (होते) हैं।

टिप्पणी—सारांश यह है कि—**"विस्मयस्थायिभावको विस्मयजनककर्म-कर्त्रालम्बनको विस्मयकर्माद्युद्दीपितश्चकिताद्यनुभावितो हर्षादिसञ्चारितोऽद्भुत इति।"**

यथा:—

'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति' ॥

अथ शान्तः—

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ॥ २४५ ॥
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ।
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या ॥ २४६ ॥
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ।

अर्थ—("**अद्भुत रस**" का उदाहरण) **यथा—दोर्दण्डेति**—[**महावीरचरित** के अन्दर राम के धनुष के भग्न कर देने पर दीर्घकालव्यापी शिवजी के धनुष की टंकार से विस्मित लक्ष्मण की उक्ति है] भुजदण्ड से खींचे हुये शिवजी के धनुष के टूटने से उत्पन्न, आर्य (श्री राम) के बाल्यचरितों की प्रस्तावना में डिण्डिम रूप टंकार ध्वनि झटिति गिरे हुये कपाल सम्पुट = ढकने के पात्र विशेष से (अर्थात् ढकने के पात्र के आकार वाले ब्रह्माण्ड का ऊपर का भाग) मिलते हुये (मानों) ब्रह्माण्ड रूपी भाण्ड (स्थाली आदि की तरह पात्र विशेष) के मध्य भाग में घूमते हुये (अतएव) एकत्रित हो गई है प्रचण्डता जिसकी ऐसी अब भी (उपचार से धनुष टूटने के बाद बहुत समय व्यतीत हो जाने पर भी) क्यों नहीं रुक रही है। (किसी बर्तन से ढके हुये मुखवाले बर्तन के अन्दर उत्पन्न होने वाला शब्द बहुत होता है—इसी अभिप्राय से ऐसा कहा है)। यह बड़े आश्चर्य की बात है।

टिप्पणी—यहाँ धनुष की टंकार **आलम्बन विभाव**, उसकी विशालता **उद्दीपन विभाव**, उसका इसप्रकार वर्णन करना **अनुभाव** और हर्षादि **व्यभिचारी-भाव** तथा लक्ष्मण का विस्मय **स्थायीभाव** है। इन सबसे मिलकर स्थायीभाव सहृदय सामाजिकों के द्वारा "अद्भुतरसता" को प्राप्त होता हुआ अनुभव होता है।

(९) **अथ शान्तरसनिरूपणम्**:—

अर्थ—इसके बाद ("**अद्भुत रस**" के निरूपणानन्तर) "**शान्तरस**" (का निरूपण करते हैं)—

("**शान्तरस**" का लक्षण) शम है **स्थायीभाव** जिसका ऐसा, उत्तम है नायक जिसका ऐसा, कुन्द (पुष्प विशेष) और चन्द्रमा की तरह है सुन्दर कान्ति जिसकी ऐसा (अर्थात् कुन्दवर्ण और चन्द्रवर्ण वाला। अत्यन्त धवलवर्ण वाला। "**शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः**" इति श्रीमदभागवतानुसार सत्ययुग में विष्णु के भी शुभ्ररूप होने के कारण। अथवा "**तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकम्**" इति गीतानुसार शम को उत्पन्न करने वाले सतोगुण के शुभ्र होने के कारण तथा स्फटिक की तरह प्रकाशक होने के कारण शम की भी शुभ्र वर्णता है।) लक्ष्मी सहित नारायण हैं (**नारा आप अयनं-स्थानं यस्य स नारायणः**) देवता जिसके ऐसा "**शान्तरस**" है। अनित्यत्वादि के कारण सम्पूर्ण पदार्थों की (वित्त, पुत्रादि पदार्थों की) जो निस्सारता है, अथवा परमात्मस्वरूप उसका ("शान्तरस" का) **आलम्बन विभाव** कहाता है।

पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ॥ २४७ ॥
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।
रोमाञ्चाद्याश्चानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ॥ २४८ ॥
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः ।

तथा—

'रथ्यान्तश्चरतस्तथा धृतजरत्कन्थालवस्याध्वगैः
सत्रासं च सकौतुकं च सदयं दृष्टस्य तैर्नागरैः ।
निर्व्याजीकृतचित्सुधारसमुदा निद्रायमाणस्य मे
निःशङ्कः करटः कदा करपुटीभिक्षां विलुण्ठिष्यति ॥'

पुष्टिस्तु महाभारतादौ द्रष्टव्या ।

अर्थ—पुण्याश्रम (चित्रकूटादि), हरिक्षेत्र (श्री क्षेत्रादि), तीर्थ (प्रयागादि), रमणीक वन आदि (नैषारण्यादि । "आदि" पद से वैद्यनाथधामादि) (तथा) महापुरुषों का सङ्गादि ("आदि") पद से मोक्ष देने वाले शास्त्रों को सुनना और मननादि) उसके ("शान्त रस" के) "**उद्दीपन विभाव**" हैं । रोमांचादि ("आदि" पद से दयादिकों का ग्रहण है) **अनुभाव** हैं तथा निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, प्राणियों पर दयादि ("आदि" पद से औत्सुक्यादि) "**व्यभिचारीभाव**" होते हैं ।

टिप्पणी—सारांश यह है कि—"**शमस्थायिभावक अनित्यत्वाद्यालम्बनकः पुण्याश्रमाद्युद्दीपितः रोमाञ्चाद्यनुभावितः निर्वेदादिसञ्चारितश्शान्तो रसः" इति**" ।

अर्थ—("शान्त रस" का उदाहरण) **यथा-रथ्यान्तरिति**-(प्रसङ्ग—जिसको निर्वेद उत्पन्न हो गया है ऐसे किसी शान्त चित्त वाले व्यक्ति की उक्ति है)—कब कौआ (करटः) गली के बीच में (भिक्षा के लिये) घूमते हुये तथा (कन्धे पर) धारण किया है जीर्ण कन्था का टुकड़ा जिसने ऐसे, मार्ग में चलने वाले उन (पूर्व परिचित) नगर निवासियों से (बीभत्स वेष को देखने के कारण) भय सहित, (अनुपादेय कन्था को धारण करने के कारण) कौतुक सहित, (मेरे दीन होने के कारण) और दया के साथ देखे जाते हुये, [मुझे देखकर "**क्षिप्तोऽयम्**" अतः कुछ को भय, "**किमनेन क्रियते**" अतः देखने की इच्छा से किन्हीं को कौतुक, "**अहो कथमसौ क्लेशमनुभवति**" अतः किन्हीं के हृदय में दया का संचार होगा] (तथा कामादि के नाश से) निष्प्रतिबन्धक ज्ञान रूपी अमृत के रसास्वाद के आनन्द से (वास्तविक ज्ञान रूपी अमृत के पान करने की परितृप्ति से उत्पन्न आनन्द से) मुद्रित नेत्र वाले (समाधिमग्न होते हुये । बाह्य विषयों से इन्द्रियों का निरोध करते हुये) मेरी हथेली पर रखी हुई भिक्षा को (अन्नादि को) निःशङ्क होकर (मारे जाने के भय से रहित होकर) ले जायेगा । [मैं उस समय को चाहता हूँ—यह भाव है] **पुष्टिरिति**—इस (**शान्त रस**) की पुष्टि तो महाभारत के (शान्तिपर्व) आदि में देखनी चाहिये ।

टिप्पणी—यहाँ पर समस्त सुखों के कारण की उपेक्षा कर देने से, सम्पूर्ण वस्तुओं की निस्सारता का अनुभव **आलम्बन विभाव** है । नगर निवासियों के द्वारा उक्त प्रकार से देखना **उद्दीपन विभाव** है । भिक्षादि का अवलुण्ठन **अनुभाव** है और रोमाञ्च व हर्ष **व्यभिचारी भाव** हैं । कहने वाले भिक्षुक का शम **स्थायीभाव** है । ये सब मिलकर सामाजिकों के हृदयों में **शान्त रस** रूप में परिणित हो जाते हैं ।

अस्य दयावीरादेः सकाशाद् भेदमाह—

निरहङ्कारारूपत्वाद् दयावीरादिरेष नो ॥ २४६ ॥

दयावीरादौ हि नागानन्दादौ जीमूतवाहनादेरन्तरा मलयवत्याद्यनुरागादेरन्ते च विद्याधरचक्रवर्तित्वाद्याप्तेर्दर्शनादहङ्कारोपशमो न दृश्यते। शान्तस्तु सर्वाकारेणाहङ्कारप्रशमैकरूपत्वान्न तत्रान्तर्भावमर्हति। ततश्च नागानन्दादेः शान्तरसप्रधानत्वमपास्तम्।

अवतरणिका—प्रश्न—इस **"शान्त रस"** के अन्दर भी प्राणियों के प्रति दया और धर्मादि के विषय में उत्साह के विद्यमान होने के कारण तथा उसप्रकार के उत्साह के ही "स्थायीभाव" रूप प्राप्त होने के कारण इसका भी ("शान्त रस" का भी) **"दयावीर"** आदि के अन्दर अन्तर्भाव हो सकता है। अतः पृथक् रूप से "शान्त रस" को मानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—अर्थ—इस **"शान्त रस"** का "दयावीर" आदि से भेद दिखाते हैं।

अर्थ—(इस "शम" **स्थायीभाव** के उत्पन्न होने पर शान्त व्यक्ति के) सर्वथा अहंकार शून्य होने के कारण (**"अहमिदं विधास्यामि"**, **"एतानि वस्तूनि मम"** इसप्रकार के सम्पूर्ण अहंकार से रहित होने से) यह **"शान्त रस"** दयावीरादि (के अन्तर्गत) नहीं (हो सकता)। ("आदि" पद से धर्मवीर, देवता विषयक रति प्रभृतियों का ग्रहण होता है)।

टिप्पणी—"दयावीर" आदि में दया अहंकार युक्त होती है परन्तु "शान्तरस" में दया के अन्दर अहंकार का सर्वथा अभाव होता है। अर्थात् अहंकार से युक्त दया आदि दयावीरादि की प्रयोजिका होती है तथा अहंकार शून्य शुद्ध दया **'शान्त रस"** की प्रयोजिका होती है। यही इन दोनों में भेद है।

अवतरणिका—कारिका के आशय को स्पष्ट करते हैं।

अर्थ—(श्रीहर्षप्रणीत) दयावीर आदि प्रधान नागानन्द नामक नाटकादि में (नागानन्द नाटक के नायक) जीमूतवाहन आदि के हृदय में (इस नाटक की नायिका) मलयवती आदि के अनुरागादि की (विद्यमानता रहती है) [यहाँ प्रथम "आदि" पद से धर्मवीरादि का, द्वितीय "आदि" पद से धर्मराज युधिष्ठिर आदि का, तृतीय "आदि" पद से राज्यप्राप्त्यादि का, चतुर्थ "आदि" पद से शत्रु के अपकारादि का, पंचम "आदि" पद से भारत साम्राज्यादि का ग्रहण होता है] और अन्त में विद्याधरों के साम्राज्य की प्राप्त्यादि के देखने से (जीमूतवाहन के) अहंकार का उपशम भी दिखाई नहीं देता है (क्योंकि यदि अहंकार का सर्वथा उपशम हो जायेगा तो मलयवती नायिका के प्रति अनुरागादि सम्भव नहीं हो सकता) और **"शान्तरस"** तो सब प्रकार के अहंकार की निवृत्ति रूप लक्षण वाला होने से उसमें (दयावीरादि में) अन्तर्भाव होने के योग्य नहीं है। अतः नागानन्दादि की "शान्त रस" प्रधानता निरस्त हो जाती है।

ननु—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः ॥'

इत्येवंरूपस्य शान्तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तत्र सञ्चार्यादीनामभावात् कथं रसत्वमित्युच्यते—

युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन् सञ्चार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा॥२५०॥

अवतरणिका—"**शान्त रस**" नहीं है इसप्रकार की शंका उठाते हैं ?

अर्थ—प्रश्न ? क्योंकि जहाँ (जिस रस में) न दुःख (**आत्मनः प्रतिकूलतया वेदनीयम्।**), न सुख ("**आत्मनोऽनुकूलतया वेदनीयम्**" अर्थात् विषयों से उत्पन्न सुख), न चिन्ता (कामिनी और काञ्चनादि विषयिणी भावना), न द्वेष (शत्रुओं का अपकार करने की इच्छा), न राग (प्रियों के प्रति अनुरक्ति, मित्रों के प्रति उपकार करने की इच्छा) और न कोई भी इच्छा है (किसी भी विषय को लेकर वैषयिक सुख को प्राप्त करने को अभिलाषा) (तथा) सभी (लोष्ठ, अश्म और काञ्चनादि) पदार्थों के होने पर (भी) (रागद्वेष से शून्य) समान प्रतीति जिसमें होती है ऐसा वह रस भरत प्रभृति महर्षियों ने "**शान्त**" कहा है।

इत्येवंरूपस्येति—इसप्रकार से निर्दशित स्वरूप वाले "**शान्त रस**" का मुक्ति दशा में ही अपने (जीव की) परमात्म स्वरूपत्व की प्राप्ति रूप अवस्था के (अर्थात् परमात्मा में लय हो जाने की अवस्था में) उत्पन्न होने से उसमें (मुक्तावस्था में) संचारी आदिकों के ("आदि" पद से आलम्बन—उद्दीपन और अनुभावों का ग्रहण होता है) न होने से कैसे "**शान्त रस**" हो सकता है ? [यह भी नहीं कहा जा सकता कि अन्य स्थलों की तरह यहाँ पर भी आक्षेप से "आलम्बनादिकों" का ग्रहण हो जायेगा क्योंकि मोक्षावस्था में शान्त व्यक्ति के अहंकार के सर्वथा समाप्त हो जाने से आलम्बनादिकों का आक्षेप ही सम्भव नहीं है। इसीलिये कुछ '**शान्त रस**" की रसता को ही नहीं स्वीकार करते हैं।] **इत्युच्यते**—इस आक्षेप का समाधान करते हैं।

उत्तर—युक्त ("**विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य साक्षात्कर्तव्ये वस्तुनि मनो निधाय वर्तमानश्चिन्तासन्तानवान् युक्तः**" अर्थात् रूपादि विषयों से मन को हटाकर साक्षात् करणीय वस्तु में मन को एकाग्र करके स्थित चिन्तन करते हुये योगी को **युक्त** कहते हैं।), वियुक्त ("**यस्य योगजधर्मसहकृतेन मनसा जिज्ञासितवस्तुसाक्षात्कारो जायते। यश्च भूतेन्द्रियजयी अणिमाद्याः कामसिद्धीर्दूरश्रवणाद्याश्चेन्द्रियसिद्धीरासादितवान् समाध्यन्वितो वियुक्तः**"—अर्थात् जिसे अणिमादि सिद्धियाँ योग बल से प्राप्त हैं और समाधि भावना करते ही सब जिज्ञासित वस्तुओं का ज्ञान जिसके अन्तःकरण में भासित होते लगता है, उसे **वियुक्त** कहते हैं।) और युक्त—वियुक्त ("**यस्य च योगजधर्मसहकृतानि बाह्येन्द्रियाणि स्वे स्वे विषये महत्वसंनिकर्षादि सहकारिनिरपेक्षाणि**

यश्चास्मिन्सुखाभावोऽप्युक्तस्तस्य वैषयिकसुखपरत्वान्न विरोधः। उक्तं हि—
'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥'

वर्त्तन्ते स एव युक्तवियुक्तः" अर्थात् जिसको यहाँ तक सिद्धि प्राप्त है कि उसके चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियगण, महत्व एवं उद्भूत रूप आदि प्रत्यक्ष ज्ञान के कारणों की अपेक्षा न करके सब अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात्कार कर सकते हैं, वह योगी **युक्त-वियुक्त** कहाता है।] अवस्था में (पुरुष का) जो शम अवस्थित (रहता) है, वह ("शम") ही **(स्थायी भाव)** क्योंकि रसता को प्राप्त होता है, (मोक्षावस्था को "शम" नहीं) इस कारण से इस **(शान्त रस)** में सञ्चारी आदि भावों की ("आदि" पद से **आलम्बन-उद्दीपन और अनुभावों** का भी ग्रहण होता है) स्थिति विरुद्ध नहीं है। [पुरुष की उस समय भी संसार के अन्दर आसक्ति होने के कारण निर्वेदादि संचारीभाव हो सकते हैं।]।

अवतरणिका—प्रश्न ? पहले "**शमो निरीहावस्थायाम्**" ऐसा कहकर शम की सुखरूपता का प्रतिपादन किया है और "**न यत्र दुःखम्**" ऐसा कहकर सुख का अभाव (शम का) प्रतिपादित किया है, अतः इन दोनों में परस्पर विरोध पैदा होता है। इसका समाधान करते हैं—

अर्थ—इसमें ("**न यत्र दुःखं न सुखम्**" इत्यादि श्लोक में) जो सुख का अभाव भी कहा है उसका (सुख का) विषयजन्य सुख होने के कारण (अर्थात् शान्त दशा में विषयजन्य सुख के अभाव का प्रतिपादन किया है—ऐसा नहीं कि किसीप्रकार का सुख उस समय होता ही नहीं) विरोध नहीं है। [अर्थात् "शान्त रस" का सुख विषयों से उत्पन्न सुख से भिन्न तथा तृष्णा के क्षय हो जाने से उत्पन्न होता है। और "**न यत्र दुःखं न सुखम्**" इससे कामिनी के सम्भोग आदि से उत्पन्न सुख के अभाव को कहा है, ब्रह्म सुख के अभाव को नहीं, अतः इन दोनों में परस्पर विरोध नहीं है।] **उक्तं हि**-क्योंकि कहा (भी) है—**यच्चेति**—

इस संसार में जो काम सुख है (कामिनी के सम्भोगादि विषयों से उत्पन्न होने वाला सुख है), और जो दिव्य (यागादि क्रिया से उत्पन्न पारलौकिक) महासुख है। ये (कामसुख और दिव्य महासुख) तृष्णा के क्षय से उत्पन्न सुख की (**शम सुख की** अर्थात् ब्रह्मानुभवजन्य आनन्द की) सोलहवीं कला (अंश) को भी नहीं प्राप्त करते हैं।

टिप्पणी—कहने का तात्पर्य यह है कि **तृष्णाक्षयो हि**—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं, रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

इसप्रकार के परमात्मा के साक्षात्कार के अनन्तर होने वाले सुख के **सामने ऐहिक** और आमुष्मिक सम्पूर्ण सुख विरत हो जाते हैं। इस विषय में सभी श्रुतियाँ **प्रमाण** हैं।

सर्वाकारमहङ्काररहितत्वं व्रजन्ति चेत् ।
अत्रान्तर्भावमर्हन्ति दयावीरादयस्तथा ॥'

आदिशब्दाद्धर्मवीरदानवीरदेवताविषयकरतिप्रभृतयः ।

तत्र देवताविषया रतिर्यथा—

कदा वाराणस्यामिह सुरधुनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम् ।
अये गौरीनाथ ! त्रिपुरहर ! शंभो ! त्रिनयन !
प्रसीदेति क्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥'

अवतरणिका—"**शान्त रस**" का "**दयावीरादि**" रसों में अन्तर्भाव कथमपि नहीं हो सकता है, परन्तु हाँ, यदि **दयावीरादि** रसों के पात्र सर्वथा अहंकार सामान्य से रहित हो जायें तो **दयावीरादि** रस ही "**शान्त रस**" के अन्दर अन्तर्भूत हो जायेंगे। इसकी स्थापना करते हैं—

अर्थ—यदि (दयावीरादि रस के नायक) सब प्रकार के (देहेन्द्रियादि विषयक) अभिमान से शून्य हो जाते हैं, ["**अभिमानश्च देहेन्द्रियेष्वहमित्यारोपः देहादिसम्बन्धिनि पुत्रादौ ममेत्यारोपश्च**"] तो **दयावीरादि** रस इसमें ("**शान्त रस**" में) अन्तर्भूत हो जाते है अर्थात् **शान्तस्वरूप** हो जाते हैं। [अतः **शान्त रस** नामक पृथक् रस स्वीकार करना चाहिये यह निर्विवाद सिद्ध है।]। **आदि शब्दादिति**—"आदि" शब्द से **धर्मवीर-दानवीर-देवताविषयक रतिप्रभृति** का ["प्रभृति" पद से गुरु-विप्र–मुनि–राजविषयक रतिभाव का] ग्रहण होता है।

तत्रेति—उनमें से ("**शान्त रस**" के अन्दर अन्तर्भूत दयावीरादि रसों में से) ("**शान्त रस**" के अन्दर अन्तर्भूत) देवताविषयक रति (का उदाहरण) **यथा**—

कदेति—[प्रसङ्ग–मोक्षावस्था के अन्दर विद्यमान किसी शैव की उक्ति है] मैं कब काशी के अन्दर गंगा के किनारे रहता हुआ कौपीन को धारण किये हुये [यहाँ कौपीन को धारण करने की इच्छा से "अहंकार" की निवृत्ति प्रतीत होती है।] (तथा) सिर पर अञ्जलिपुट को लगाये हुये अये पार्वतीवल्लभ ? त्रिपुरहर ! ("**त्रिपुराणां स्थूलसूक्ष्मकारणभेदात् त्रिप्रकाराणां देहानां वा हरः**" अर्थात् स्थूल–सूक्ष्म और कारण भेद से तीन प्रकार के शरीरों को हरण करने वाला) शम्भो ! त्रिनयन ! (विरूपाक्ष) (सूर्य,चन्द्र और अनल रूप तीन नेत्रों वाले) प्रसन्न होइये इसप्रकार तारस्वर से उच्चारण करता हुआ दिनों को क्षण की तरह (सुखमग्न होकर) बिताऊँगा।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर कौपीनादि विशेषणों से सुखादि राहित्य की प्राप्ति से सब प्रकार से अहंकार शून्य हो जाने के कारण देवताविषयक रति भी "**शान्त रस**" को प्राप्त होती है।

(२) यहाँ पर कौपीन धारण करने मात्र से प्रतीत होने वाला शम **स्थायीभाव** है, वाराणसी के अन्दर गंगा के किनारे रहने के माहात्म्य का सुनना **उद्दीपन विभाव** है, भगवान् शिव **आलम्बन विभाव** है, संसार से विरक्त होकर स्थित रहना **अनुभाव** है, हर्षादि **व्यभिचारीभाव** हैं। इन सभी विभावादिकों से परिपुष्ट **स्थायीभाव शम** "**शान्त रस**" **रूप में** सामाजिकों को अनुभव होता है। यहाँ पर भगवद्विपयक रति का भी इसी के अन्दर अन्तर्भाव हो जाता है।

अथ मुनीन्द्रसंमतो वत्सलः—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥ २५१ ॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः ।
आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम् ॥ २५२ ॥
पुलकानन्दबाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।
सञ्चारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः ॥ २५३ ॥
पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः ।

यथा—

'यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥'

अथ मतान्तरेण वत्सलरसनिरूपणम्:—

अर्थ—(१०)इसके बाद ("शान्त रस" के निरूपणानन्तर) (अत्यन्त प्राचीन आलंकारिक) श्री भरतमुनि द्वारा अभिमत "**वत्सल रस**" (का प्रतिपादन करते हैं)—

("**वत्सल रस**" का लक्षण) प्रकटरूपेण चमत्कारक होने के कारण (भरतादि) "**वत्सल रस**' को मानते हैं। [कुछ इसके भाव काव्यत्व को चाहते हैं, यह ठीक नहीं है क्योंकि अतिशय चमत्कारक होने से इसका "रसत्व" ही ठीक है।] वात्सल्य स्नेह **स्थायीभाव** है। [लालन-पालन की इच्छा "वत्सलता" कहलाती है।] पुत्रादि ("आदि" पद से अनुज और तनुज आदि का ग्रहण होता है।] **आलम्बन विभाव** माना गया है। उस (पुत्रादि) की चेष्टायें (खेलना, कूदना और हास्यादि), विद्या (शास्त्रादि ज्ञान), वीरता, दयादि **उद्दीपन विभाव** (होते) हैं। आलिङ्गन, अङ्ग-स्पर्श, शिरोचुम्बन, देखना, रोमाञ्च, आनन्दाश्रु आदि ("आदि" पद से वस्त्र और भूषणों का देनादि) **अनुभाव** कहे गये हैं। अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व आदि ("आदि" पद से धृति आदि) **संचारीभाव** माने जाते हैं। कमल के गर्भ की कान्ति के समान है कान्ति जिसकी ऐसा वर्ण है। (अर्थात् शुभ्रपीत सदृश वर्ण है), (गौरी आदि सोलह) लोकमातायें अधिष्ठात्री देवियाँ हैं (उनका अत्यधिक स्नेह होने के कारण)।

("**वत्सल रस**" का उदाहरण) **यथा–यदाहेति**–[प्रसङ्ग—रघुवंश के अन्दर रघु की शैशवावस्था का वर्णन है।] धाय के पहले कहे हुये वचनों को ("**तात प्रणमामि**" इत्यादि रूप) जो कहा करता था, उसकी (धाय की) अङ्गुली को पकड़ कर जो चला करता था, विनम्र होने की शिक्षा से (नमस्कार विधान के उपदेश से, "**एवमेव प्रणामादि कार्यम्**" इस शिक्षा से) जो नम्र हुआ, उससे (उस कारण से) वह शिशु (रघु) पिता के (राजा दिलीप के) हर्ष को बढ़ाता था।

एतेषां च रसानां परस्परविरोधमाह—

टिप्पणी—(१) यहाँ पर रघु **आलम्बन विभाव** हैं। प्रथम तीन चरणों में कही हुई रघु की चेष्टायें **उद्दीपन विभाव** हैं। अध्याहार से प्राप्त आलिङ्गनादि **अनुभाव** हैं। हर्षादि **व्यभिचारीभाव** हैं। इन सब से मिलकर आक्षेप से प्राप्त दिलीप का **स्थायीभाव स्नेह** सहृदयों के हृदयों में "**वत्सल रस**" को उत्पन्न करता है।

(२) "**काव्यप्रकाशकार**" के अनुयायियों का, जो इसका भाव काव्यत्व स्वीकार करते हैं किन्तु रसता को नहीं, कहने का अभिप्राय यह है कि—"**यदाह धात्र्या**" इत्यादि में वात्सल्य लक्षण रति ही प्रतीत होती है, उससे **वत्सल रस** की प्रतीति नहीं होती है, अतः "वत्सल रस" को नहीं मानना चाहिये क्योंकि उसकी उपलब्धि तो भाव से ही हो जाती है। और यदि उसप्रकार की रति वाला "वत्सल" भी रस है तो भगवान् रूप आलम्बन विभाव वाला, रोमाञ्च आदि अनुभाव वाला, हर्ष आदि सञ्चारीभाव वाला तथा भागवतादि के सुनने के समय में भगवद्भक्तों के द्वारा स्पष्ट अनुभव किया जाता हुआ "भक्तिरस" क्यों नहीं पृथक् रस स्वीकार किया जा सकता ? यहाँ भगवद् विषयक अनुराग रूप "भक्ति" स्थायीभाव है। **भक्तिर्नाम**—

"द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते" ॥ इति ॥

इसका (भक्ति का) "शान्त रस" के अन्दर अन्तर्भाव नहीं हो सकता है क्योंकि भक्तिरस के अन्दर विद्यमान अनुराग "शान्त रस" के अन्दर विद्यमान वैराग्य के विरुद्ध है। अतः भक्तिरस को भी पृथक् रस स्वीकार करने में क्या हानि है ? **उत्तर**—यदि "भक्तिरस" को पृथक् रस स्वीकार कर लेंगे तो भरतमुनि के शासन के **अतिक्रमण से रसों** की नियत संख्या से अधिक कल्पना करने में (अर्थात् ९ रसों से अधिक रस स्वीकार करने में) कोई प्रमाण नहीं है। अतः "भक्तिरस" को पृथक् रस स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अथ रसविरोधप्रदर्शनम्

अर्थ—इन (ऊपर वर्णित दस) रसों का परस्पर विरोध बताते हैं—

टिप्पणी—"एतत् शब्दस्य तत्रैव शक्तेः, तथाहि—

इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥ इति ॥

प्रकरणवश यहीं विरोध दिखाने से आगे "सप्तम परिच्छेद" में **परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः**" इससे विरोधी रसों के दोष विवेचन में सरलता होगी।

आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः ॥ २५४ ॥
भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक् ।
करुणो हास्यशृङ्गाररसाभ्यामपि तादृशः ॥ २५५ ॥
रौद्रस्तु हास्यशृङ्गारभयानकरसैरपि ।
भयानकेन शान्तेन तथा वीररसः स्मृतः ॥ २५६ ॥
शृङ्गारवीररौद्राख्यहास्यशान्तैर्भयानकः ।
शान्तस्तु वीरशृङ्गाररौद्रहास्यभयानकैः ॥ २५७ ॥
शृङ्गारेण तु बीभत्स इत्याख्याता विरोधिता ।

आद्यः शृङ्गारः । एषां च समावेशप्रकारा वक्ष्यन्ते ।

अर्थ—(१) प्रथम रस अर्थात् **शृङ्गार रस** करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक के साथ (विरोधी होता है) । (**"प्रतिबन्धकत्वमेव विरोधो नाम"**—यद्यपि वह प्रतिबन्धकता स्थायीभावों की ही होती है तथापि स्थायीभावों के ही रस रूप में परिणत होने के कारण परस्पर रसों में ही विरुद्धता हो जाती है अतः रस ही विरोधी होता है-ऐसा समझना चाहिये । इसप्रकार शोक, जुगुप्सादि स्थायीभाव के होने पर शृङ्गार के स्थायीभाव रति की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है, अतः शृङ्गार का करुणादिकों के साथ विरोध होता है ।) (२) **हास्यरस** भयानक और करुण के साथ विरोधी होता है। (३) **करुण** हास्य और शृङ्गार के साथ भी वैसा अर्थात् विरोधी (होता) है । (४) **रौद्र** तो हास्य, शृङ्गार और भयानक रसों के साथ, (५) तथा **वीररस** भयानक और शान्त के साथ (विरोधी) स्मरण किया गया है । (३) **भयानक** शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त रस के साथ, (७) **शान्त रस** तो वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक के साथ (८) **बीभत्स रस** शृङ्गार के साथ (विरोधी होता है) । इसप्रकार (इन रसों का) परस्पर विरोध वर्णित कर दिया । [संशय को दूर करने के लिये कारिकास्थ **"आद्यः"** पद को स्पष्ट करते हैं] **आद्य इति**–आद्यः अर्थात् शृङ्गारः ।

टिप्पणी—इन उपर्युक्त रसों में परस्पर विरोध को इसप्रकार समझा जा सकता है—

(१) शृङ्गार के विरोधी रस हैं—करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक।
(२) हास्य के विरोधी रस हैं—भयानक और करुण ।
(३) करुण के विरोधी रस हैं—हास्य और शृङ्गार ।
(४) रौद्र का विरोध हास्य, शृङ्गार और भयानक रस से है ।
(५) वीररस का विरोध भयानक और शान्तरस से है ।
(६) भयानकरस शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त से विरुद्ध पड़ता है।
(७) शान्तरस वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक का विरोधी है । और
(८) बीभत्स रस का विरोधी रस शृङ्गार है ।

अर्थ—एषामिति—इन (परस्पर विरोधी) रसों के परस्पर एकत्र स्थिति के उपाय (समावेशप्रकाराः) (अन्तिम दोष परिच्छेद में) कहेंगे ।

अवतरणिका—शंका–शृङ्गारादि में "रत्यादि" स्थायीभाव की तरह "उन्माद" आदि के भी होने से क्योंकि जहाँ उन्मादादि की प्रतीति होती है वहाँ उन्मादादि के भी स्थायीभावरूप होने पर, रत्यादि स्थायीभावों की नियतता कैसे सम्भव हो सकती है ? इसका समाधान करते हैं—

कुतोऽपि कारणात्क्वापि स्थिरतामुपयन्नपि ।। २५८ ।।
उन्मादादिर्न तु स्थायी न पात्रे स्थैर्यमेति यत् ।

यथा विक्रमोर्वश्यां चतुर्थेऽङ्के पुरूरवस उन्मादः ।

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ ।। २५९ ।।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ।

रसनधर्मयोगित्वाद्भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः ।

अर्थ—किसी भी कारण से किसी भी रसविशेष में (क्वापि) (किसी भी प्रकार से) बहुत काल तक स्थिरता को प्राप्त होता हुआ भी उन्मादादि ("आदि" पद से निर्वेदादि) "स्थायीभाव" नहीं कहा जा सकना । क्योंकि (आधारभूत नायकादि) पात्र में (वह उन्मादादि) स्थिरता को प्राप्त नहीं होता है । [स्थिरता से विद्यमान होता हुआ ही स्थायित्व को प्राप्त होता है, उन्मादादि (सञ्चारीभाव होने के कारण) स्थिररूप से नहीं रहते हैं । अतः वे स्थायीभाव नहीं हो सकते । इसके विपरीत रत्यादि कहीं तिरोभूत होता हुआ और कहीं प्रकटरूप से उपलब्ध होता हुआ रहता है, अतएव इसके नियत रहने के कारण स्थायित्व है ।] ।

(इसका उदाहरण देते हैं) **यथा—विक्रमोर्वशीय** के चतुर्थ अङ्क में पुरूरवा का उन्माद ।

टिप्पणी—विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा के उर्वशी के प्रति रतिभाव के स्थिर होने के कारण रति की "स्थायीभावता" है, उन्माद की तो चतुर्थ अङ्क पर्यन्त ही स्थिरता होने के कारण वह "स्थायीभाव" नहीं है, ऐसा समझना चाहिये ।

अवतरणिका—यदि "**रसात्मकं वाक्यमेव काव्यम्**" है तो भावादि प्रधान काव्य नहीं कहलाये जा सकते ? अतः कहते हैं:—

अर्थ—(१) **रस** (२) **भाव** (३) **रसाभास** (४) **भावाभास** (**तदाभासौ**) (५) **भावप्रशम** (६) **भावोदय** (७) **भावसन्धि** और (८) **भावशबलता**—ये सभी (आठ प्रकार के) आस्वादित होने से "रस" (कहाते) हैं । [रस विभावादिकों से अभिव्यक्त हुआ आनन्दचिन्मयरूप को प्राप्त होता है और भावादि तो लौकिक कार्य-कारणों से आनन्द-मयता को प्राप्त होता है—यही विशेषता है ।] ।

रसनधर्मयोगित्वादिति—(काव्य और नाटक के अन्दर) आस्वादनरूप रसनधर्म का योग होने के कारण भावादिकों में भी "रस" पद का लक्षणा से प्रयोग होता है, यह तात्पर्य है ।

टिप्पणी—"भावादिष्वपि"— यहाँ "आदि" पद से "भावादि" इन निर्दिष्ट सात का ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि रस के अनुबन्धि होने के कारण उसमें ही गौणरूप से प्रयोग होने का औचित्य है । तथा "**रस्यते इति रसः**" इस व्युत्पत्ति के योग से भी उसी के ग्रहण में तात्पर्य है । इसप्रकार 'आदि' शब्द से अथवा "इस व्युत्पत्ति" के आधार पर काव्यभेद के निरूपण के अवसर पर वस्तु-अलंकार-ध्वनि का ग्रहण नहीं होता है । यह सूक्ष्म दृष्टि से समझना चाहिये । "**उपचारात्**" का तात्पर्य है **रत्यादि स्थायिभावानामसत्वेन मुख्यलक्षणायोगात्** । और "देवादि विषयक रति" के होने के कारण स्थायीभाव का अभाव कैसे होगा—यह भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि कान्तादि-विषयक रतिभाव के ही "स्थायीभाव" रूप ग्रहण करने के कारण । इसप्रकार "**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**" यहाँ सामान्यरूप से दो प्रकार से ही रस का बोध होगा ।

भावादय उच्यन्ते—

सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ॥ २६० ॥

उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ।

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।

परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः ॥'

अथ भावादिनिरूपणम्:—

अर्थ—भावादिकों का (स्वरूप) बताते हैं—

(''**भाव**'' का लक्षण) प्रधानभूत (रत्यादि की अपेक्षा प्रधानरूप से अभिव्यक्त) सञ्चारीभाव (निर्वेदादि सञ्चारीभाव) (तथा) देवादि विषयक रति (भक्ति आदि पद से व्यवहृत अनुराग) और किञ्चित् प्रतीत होते हुये (उद्बुद्धमात्र) (विभावादिकों से परिपुष्ट नहीं) स्थायी रत्यादि (स्थायीभाव की तरह वाच्य, स्थायीभाव को प्राप्त नहीं) ''**भाव**'' कहलाते हैं ।

टिप्पणी—जिसप्रकार विभावादिकों से अभिव्यक्त रत्यादि चिदानन्द चमत्कार-रूप से परिणत हुआ ''रसना'' को प्राप्त होता है, उसप्रकार अपने कार्य कारणों से अभिव्यक्त देवादिविषयक रत्यादि चिदानन्दस्वरूपता को अप्राप्त ''भावत्व'' को प्राप्त करता है । चमत्कार होना और न होना—यही इन दोनों में भेद है । यद्यपि देवादि-विषयक रति का भी आस्वादन किया जाता है परन्तु उसको ''स्थायी'' शब्द से व्यवहृत नहीं करते हैं । क्योंकि नायकादि विषयक रत्यादि का ही ''स्थायी'' शब्द से अभिधान करना उचित है ।

अवतरणिका—कारिका की व्याख्या करते हुये ''सञ्चारीभावों'' की प्रधानता का प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—(निर्वेदादिकों में से किसी भी एक) भाव से रहित रस (शृंगारादि) नहीं होता हैं । (क्योंकि भावों के ही सामान्य गुणों के योग से रस उत्पन्न होते हैं) (इसीप्रकार) रस से रहित भाव (निर्वेदादि व्यभिचारीभाव भी) नहीं होता है । इन दोनों रस और भाव की निष्पत्ति एक दूसरे से सम्पन्न होती है । [अर्थात् भाव से रस पुष्ट होता है और रस भाव से पुष्ट होता है ।] ।

टिप्पणी—कहा भी है—

''योऽर्थो हृदयसम्वादी तस्य भावो रसोद्भवः ।

शरीरं व्याप्यते तेन शुष्ककाष्ठमिवाग्निना ॥''

इत्युक्तदिशा परमालोचनया परमविश्रान्तिस्थानेन रसेन सहैव वर्तमाना अपि राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवदापाततो यत्र प्राधान्येनाभिव्यक्ता व्यभिचारिणो देवमुनिगुरुनृपादिविषया च रतिरुद्बुद्धमात्रा विभावादिभिरपरिपुष्टतया रसरूपतामनापद्यमानाश्च स्थायिनो भावा भावशब्दवाच्याः ।

तत्र व्यभिचारी यथा—

'एवंवादिनि देवर्षौ—' इत्यादि । अत्रावहित्था ।

देवविषया रतिर्यथा मुकुन्दमालायाम्—

'दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक ! प्रकामम् ।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥'

अर्थ—इसप्रकार (भरतादि के) उक्त मार्ग से सूक्ष्म दृष्टि से सोचने पर परम विश्रान्तिधाम रस के साथ ही विद्यमान होते हुये भी राजा से अनुगत विवाह में प्रवृत्त भृत्य की तरह (राजा से अनुगत भृत्य के अप्रधान होने पर भी विवाह के अवसर पर शिविका पर चढ़ना, उच्चासन पर बैठने आदि से भृत्य की तात्कालिक प्रधानता अभिव्यक्त होती है, उसीप्रकार) आपाततः जहाँ पर प्रधानभाव से अभिव्यक्त हुये व्यभिचारीभाव, (तथा) देव-मुनि-गुरु और नृपादि विषयक रति ("नृपादि" यहाँ "आदि" पद से मित्रादि का ग्रहण है, कुछ के अनुसार "आदि" पद से पुत्रादि का भी ग्रहण होता है--किन्तु ऐसी बात नहीं है क्योंकि तद्विषयक रति को ग्रन्थकार ने वात्सल्यरस के रूप में प्रदर्शित किया है।) उद्बुद्धमात्र (अतः) विभावादिकों से परिपुष्ट न होने के कारण रसरूप को अप्राप्त स्थायीभाव (भी) "भाव" शब्द से व्यवहृत होते हैं ।

(उदाहरण देते हैं) उनमें से (व्यभिचारीभावादि तीन प्रकार के भावों में से) **व्यभिचारीभाव** (का उदाहरण) यथा– **"एवंवादिनि देवर्षौ"** इत्यादि ।

यहाँ पर (शिवजी के प्रसङ्ग से उत्पन्न हर्षसूचक मुख की लालिमादि का लज्जा के द्वारा छिपाने से) **अवहित्था** (नामक व्यभिचारीभाव) है ।

टिप्पणी—यह "अवहित्था" नीचे मुख करने से व्यंग्य लज्जा से तथा कमल के पत्तों को गिननेरूप दूसरे व्यापार में प्रसक्ति के कारण प्रधानरूप से झटिति अभिव्यक्त होकर "भाव" शब्द की व्याख्या को प्राप्त करता है। विभावादिकों के अत्यन्त तिरस्कृत होने के कारण "शृङ्गार" की अप्रधानता समझनी चाहिये ।

अर्थ—देवविषयक रति (का उदाहरण) **यथा** "मुकुन्दमाला" (नामक स्तोत्र) में- **दिवीति**—

(हे) नरकासुर का संहार करने वाले (कृष्ण) ?(**अथवा-नास्ति रमणं यत्रासौ नरकः तन्नाम्नः लोकविशेषः तस्य अन्तकः** विनाशकः इति) । स्वर्ग में, पृथ्वी पर अथवा नरक में मेरा सम्यक् वास हो (इसमें मेरी कुछ हानि नहीं है क्योंकि), मृत्युकाल में भी (अपने सौंदर्य से) तिरस्कृत कर दिये हैं शरद्कालीन कमल जिन्होंने ऐसे आपके चरणों का (मैं) ध्यान करता हूँ ।

टिप्पणी—यहाँ वक्ता की श्रीकृष्ण विषयक भक्तिरूप रति है ।

मुनिविषया रतिर्यथा—

'विलोकनेनैव तवामुना मुने ? कृतः कृतार्थोऽस्मि निर्बर्हितांहसा ।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥'

राजविषया रतिर्यथा मम—

'त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपङ्किलाम् ।
न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः ॥'

एवमन्यत् ।

उद्बुद्धमात्रः स्थायिभावो यथा—

अर्थ—मुनिविषयकरति (का उदाहरण) यथा—**विलोकनेनेति**—

प्रसङ्ग—"शिशुपालवधम्" के प्रथम सर्ग के २९वें श्लोक के अन्दर नारद के प्रति श्रीकृष्ण की उक्ति है ।

(हे) मुने ! दूर कर दिया है पाप जिसने ऐसे आपके इस (सानुकम्प) दर्शन से ही कृतार्थ हो गया हूँ तथापि (आपके देखने से कृतार्थ होने पर भी) मैं गौरवयुक्त वचनों को सुनने की इच्छा वाला हूँ अथवा कौन मनुष्य कल्याण के विषय में तृप्त होता है ? अर्थात् कोई भी नहीं (मङ्गल के प्राप्त होने पर दूसरे मङ्गल की अभिलाषा हृदय में जागृत होती है—यह भाव है ।) ।

टिप्पणी—यहाँ श्रीकृष्ण जी की मुनिविषयक रति प्रतीत होती है ।

अर्थ—राजविषयक रति (का उदाहरण) यथा—**त्वद्वाजीति**—

प्रसङ्ग—किसी राजा के प्रति किसी की यह उक्ति है ।

(हे राजन् !) शिवजी अत्यन्त भार (से उत्पन्न) भय के कारण शिर से आपके घोड़ों के समूहों से (युद्ध के लिये जाने के समय) उत्थापित धूलि समूह से पङ्किल गङ्गा को नहीं धारण करते हैं । (इसीलिये संसार को पवित्र करने के बहाने से उसको अपनी जटाजूट से बाहर निकाल रहे हैं ।) ।

एवमिति—इसीप्रकार अन्य (गुर्वादि विषयक रति के भी उदाहरण समझ लेने चाहिये ।) ।

टिप्पणी—(१) कहने का तात्पर्य यह है कि आपके सैनिकों के घोड़ों की टापों से उठी धूलि ने गङ्गा को कीचड़मय बना दिया है, जिससे गङ्गा का भार बहुत अधिक हो गया है, अतएव उसे शिवजी सिर पर नहीं रख सकते ।

(२) यहाँ पर स्वतः ही संसार को पवित्र करने के लिये उल्लसित भगवती भागीरथी का अन्यथाप्रकार से वर्णन करने के कारण राजविषयक रतिरूप भाव अभिव्यक्त होता है ।

अर्थ—(नायिकागत आलम्बनविभाव के भी रतिभाव के विभावादिकों से परिपुष्ट न होने पर) **उद्बुद्धमात्र स्थायिभाव** (का उदाहरण) यथा—**हर इति**—

'हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥'

अत्र पार्वतीविषया भगवतो रतिः ।

ननूक्तं प्रपाणकरसवद्विभावादीनामेकोऽत्राभासो रस इति । तत्र सञ्चारिणः पार्थक्याभावात्कथं प्राधान्येनाभिव्यक्तिरित्युच्यते—

यथा मरिचखण्डादेरेकीभावे प्रपाणके ॥ २६१ ॥
उद्रेकः कस्यचित्क्वापि तथा सञ्चारिणो रसे ।

(**प्रसङ्ग—कुमारसम्भव** के तृतीय सर्ग के ६७वें श्लोक के अन्दर कामदेव के धनुष चढ़ा लेने पर, असमय में वसन्तकाल के हो जाने पर तपस्या करते हुये शिवजी के पार्वती को देखकर किञ्चिद् विनष्ट धैर्य का वर्णन है।) चन्द्रमा के उदय होने के प्रारम्भ में समुद्र की तरह किञ्चिद् विनष्ट धैर्य वाले शिवजी ने बिम्बाफल की तरह हैं अधरोष्ठ जिसके ऐसे पार्वती के मुख पर (अपने) नेत्रों को (साभिलाष) प्रेरित किया अर्थात् पार्वती के मुख की ओर देखा। **अत्रेति**—यहाँ पर पार्वती विषयक भगवान् (शिव) की रति है।

टिप्पणी—यहाँ पार्वती के मुख को देखने रूप अनुभावमात्र से उद्दीपन-विभावादिकों से पूर्ण परिपुष्टि के न होने के कारण रति रसत्व को प्राप्त नहीं होती है, अतः "भाव" इस पद के व्यवहार के ही योग्य है अर्थात् यह "रति" "भाव" ही कहलायेगी।

अवतरणिका—"**सञ्चारिणः प्रधानानि**" यह पहले कहा जा चुका है। अतः प्रधान होते हुये ही "व्यभिचारीभाव" की "भावसंज्ञा" कही गई है। किन्तु रस की अनुभूति के समय विभावादिक सभी की एकता कही जा चुकी है, अतः वहाँ पर व्यभिचारीभाव की पृथक्रूप से प्रधानता की प्रतीति हो ही नहीं सकती है। इसलिये "एवंवादिनि" यहाँ पर "अवहित्था व्यभिचारीभाव" की प्रधानतया प्रतीति किस प्रकार की होगी? ऐसी शंका उठाते हैं—

अर्थ—प्रश्न—(पहले यह) कहा जा चुका है कि "प्रपाणक रस की तरह विभावादिकों की एकरूप में प्रतीति होना" "रस" है। इति। [**उक्तं हि—**

"ततः संवलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ।
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ॥" इति]।

(अतः) वहाँ पर "सञ्चारीभावों" की पृथक्ता का अभाव होने के कारण कैसे प्रधानरूप से अभिव्यक्ति हो सकती है? इसका उत्तर देते हैं—

जिसप्रकार प्रपाणकरस में मिर्च और खाँड आदि का एकीकरण होने पर (भी) किसी वस्तु की (खाँड की अथवा मिर्च की) कभी अधिकता (हो जाती है) उसीप्रकार (विभावादिकों के एक ज्ञान का विषय होने पर भी) किसी रस में किसी सञ्चारीभाव की [काव्यबन्धन की विचित्रता से) (प्राधान्येन अभिव्यक्ति होती है), अतः "**सञ्चारिणः प्रधानानि**" यह कहा है।]।

अथ रसाभासभावाभासौ—

अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः ॥ २६२ ॥

अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्रीरहितत्वे सत्येकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम् ।

अथ रसाभास-भावाभासनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद (भावादि निरूपण के अनन्तर) **रसाभास और भावाभास** (का निरूपण करते हैं ।) ।

(**रसाभास** और **भावाभास** का लक्षण) रस और भाव के अनुचितभाव से वर्तमान होने पर (लोकशास्त्रादि के विरुद्ध वर्तमान होने पर) **रसाभास और भावाभास** (दोष होते) हैं । [अर्थात् कहीं तो अयोग्य आलम्बन के विषय में स्थिर रहने वाला अथवा कहीं भावमात्र का अयोग्य पात्र के अन्दर रहने से रस और भाव का आभास होता है ।] ।

टिप्पणी—निष्कर्षलक्षणं तु—

(१) अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम् ।
(२) अनुचितविषयत्वं भावाभासत्वमिति ।

अयोग्यत्वञ्च कदाचित् धर्मशास्त्रनिषेधादसम्भवात्तत्वज्ञानासमर्थत्वाच्च ।

अवतरणिका—"अनौचित्य" पद के अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—"अनौचित्य" को यहाँ पर ("रस और भाव" के विषय में) भरत (भोजराज) आदिकों से (अति प्रामाणिकों से) लक्षित है लक्षण जिनका ऐसे (अतः ऐसे लक्षणों के विषय में प्रामाणिकता के अन्दर सन्देह नहीं है) रसों के (शृङ्गारादिकों के और निर्वेदादिकों के) सामग्री से रहित होने पर (पात्रों की आलम्बनादिकों की योग्यता के कारण के समुदाय का अभाव होने पर अर्थात् विभावादिरूप कारण के न होने पर) एकदेशयोगित्व के (स्थायीभावादिकों के किञ्चिद् अंश में लक्षण से सम्बन्ध होने के) उपलक्षण का प्रत्यायक जानना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) अर्थात् कुछ अंश में तो लक्षण घटित होता हो और कुछ अंश में लक्षण घटित न होता हो अर्थात् जहाँ भरतादि प्रणीत रस, भावादि के लक्षण पूर्णरूप से संगत न हों किन्तु विभावादि के सर्वथा रहित अथवा न्यूनता के कारण कुछ एक अंश से ही सम्बन्ध रखते हों, वहाँ रस और भाव का "अनौचित्य" समझना चाहिये ।

(२) जहाँ पात्रों की आलम्बन विभावादिकों की योग्यता नहीं है किन्तु केवल स्थायीभाव या उद्दीपन विभाव है—उस अवस्था को "अनौचित्य" समझना चाहिये ।

तच्च बालव्युत्पत्तये एकदेशतो दर्श्यते—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ।।२६३।।
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते ।

अर्थ—और उसको (**रसों के अनौचित्य को**) अज्ञों के ज्ञान के लिये कुछ अंशों में (कुछ स्थलों पर) दिखाते हैं—

उपनायकेति—(१) (विवाहित नायिका की) रति के (अनुराग के) उपनायक विषयक होने पर (अर्थात् नायक के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष में यदि नायिका का अनुराग हो तो) "शृङ्गाररस" में अनौचित्य (होता) है [क्योंकि उपनायक विषयक रति का धर्मशास्त्र के अन्दर निषेध होने से अयोग्य आलम्बनविभाव का विषय हो जाती है, अतः "अनौचित्य" है। "**उपनायकसंस्थायाम्**" यहाँ पर आगे प्रतिपादित सम्बन्धी आदि से भिन्न उपनायक का ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा "**बहुनायकविषयायाम्**", "**प्रतिनायकनिष्ठत्वे**" इन दोनों का ही उपादान करना असंगत हो जायेगा। इस शृङ्गाररस के अन्दर "**दक्षिणाद्याश्च नायकाः**" हैं]। (नायक की रति के) मुनिपत्नी और गुरुपत्नीगत होने पर (शृङ्गार में अनौचित्य होता है) ["चकार" से सम्बन्धी आदिकों की पत्नी का ग्रहण होता है। उसकी भी रति के अयोग्य आलम्बन के विषय होने से "अनौचित्य" है।], (परिणीता नायिका की) रति के बहुनायक विषयक होने पर ("शृङ्गार" रस में अनौचित्य है।) [क्योंकि अनेक नायकों के विषय में एक नायिका का समग्ररूपेण रस को उत्पन्न करने वाली रति के असम्भव होने से "अनौचित्य" है। तथा (रति के) नायक और नायिका में से किसी एक के अन्दर निष्ठ होने पर ("शृङ्गार रस" में "अनौचित्य" है) [नायक की नायिका के प्रति रति तो हो परन्तु नायिका की नायक के प्रति रति न होने पर अथवा नायिका की नायक के प्रति रति हो परन्तु नायक की नायिका के प्रति रति न हो तो शृङ्गार में अनौचित्य है। क्योंकि उस अवस्था में रति पूर्ण रूप से रस के उपयोगी नहीं हो सकती है।]। (नायिका की रति के) प्रतिनायक निष्ठ होने पर (शृङ्गार में अनौचित्य है) [क्योंकि उस नायिका की रति के पति के विरुद्धाचरण से असद्वृत्ति होने के कारण तथा पति के भय से रति के पूर्ण न होने से "अनौचित्य" हैं।]। उसीप्रकार रति के अधमपात्र के प्रति होने पर (असत्कुलोत्पन्न किरातादि नीच नायक के प्रति होने पर) (तथा) तिर्यगादि गत [मनुष्येतर जन्तुओं में (पशु पक्षी प्रभृति) और तापसादिगत] होने पर (शृङ्गार में अनौचित्य है।) [क्योंकि उनके अन्दर नायक के लक्षणों का अभाव होने से और अनुराग के तत्व के ज्ञान में असमर्थ होने से।]।

शृङ्गारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे ।।२६४।।
शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये ।
ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे ।।२६५।।
उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र ।

---

(२) गुरु आदि गत (गुरु, पिता, मुनि और सुरादि विषयक) कोप के होने पर "रौद्र रस" में ("अनौचित्य" होता है) [क्योंकि गुरु आदि के प्रति क्रोध का धर्मशास्त्रों के अन्दर निषेध है तथा अयोग्य आलम्बन का विषय होने से अनौचित्य है।

क्रोधात्मको भवेद्रौद्रः प्रतिशूरैरर्धर्षितः।
रुक्षप्रायो भवेदत्र नायकोऽत्युग्रविग्रहः ।।

इसके अनुसार "रौद्ररस" में शत्रु से उत्पन्न क्रोध नायक के लिये ठीक है, गुरु आदि से उत्पन्न क्रोध ठीक नहीं।]।

(३) "**शान्तरस**" के अन्दर (रति के) हीननिष्ठ होने पर (अधमजातीय पात्रगत होने पर) ("अनौचित्य" होता है) [क्योंकि उसप्रकार के पात्र के शम के तत्वज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण तथा "**गतेच्छो नायकस्तत्र तमोरागपरिक्षयात्**" इति, उक्त नायक के विपरीत होने से अनौचित्य है।]।

(४) गुरु आदि के आलम्बन होने पर "**हास्यरस**" के अन्दर (अनौचित्य होता है)। [उसप्रकार के हास्य का धर्मशास्त्र के विरुद्ध होने से तथा अयोग्य आलम्बन के विषय होने के कारण गुरु आदिकों की हास्य के आलम्बन होने पर अवज्ञा प्रतीत होती है। इसीलिये कहा है कि "**न हसेत्, न प्रतिवदेत्, न पृष्ठं दर्शयेत् नोच्चैरासीत**" **इत्यादि**]।

(५) ब्रह्मवधादि (के प्रति) ("आदि" पद से पिता आदि के वध के प्रति) (अनधिकारी के प्रति दान और दया के और कृत्रिम धर्म के विषय में) उत्साह होने पर "**वीररस**" के अन्दर (अनौचित्य है) [उसप्रकार के उत्साह के धर्मशास्त्र के अनुसार निषिद्ध होने से और अयोग्य आलम्बन का विषय होने से] तथा (उत्साह के) अधम पात्रगत होने पर ("वीररस" के अन्दर अनौचित्य होता है)।

(६) (तथा भय के) उत्तम पात्रगत होने पर "भयानक रस" में (अनौचित्य) है। [क्योंकि वहाँ पर भी अयोग्यपात्रगत होने से भय की असम्भवनीयता है। "**बाल-स्त्रीनीचनायकः**" इसके अनुसार "भयानकरस" के अन्दर बालादि का नायक होना ही उचित है।]। **एवमन्यत्रेति**-इसीप्रकार अन्य रसों के अन्दर भी समझना चाहिये (जो जो औचित्य से रहित प्रतीत होता है वह सम्पूर्ण अनौचित्य स्वयमेव समझ लेना चाहिये।

तत्र रतेरुपनायकनिष्ठत्वे यथा मम—

'स्वामी मुग्धतरो वनं घनमिदं बालाऽहमेकाकिनी
क्षोणीमावृणुते तमालमलिनच्छाया तमःसन्ततिः ।
तन्मे सुन्दर ! मुञ्च कृष्ण ! सहसा वर्त्मेति गोप्या गिरः
श्रुत्वा तां परिरभ्य मन्मथकलासक्तो हरिः पातु वः ॥'

टिप्पणी—अत्रेदमवबोध्यम्—

"अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् । प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा" । इसप्रकार "ध्वनिकार" (आचार्य मम्मट) के कथनानुसार "यावताऽनौचित्येन रसस्य भावस्य परिपुष्टिर्न भवेत् परिपुष्टिर्वापहीयेत तावत्तत्रानौचित्यं परिहरणीयं विरुद्धायाः सर्वथा निषिद्धत्वात्" ।

अवतरणिका—रसों में अनौचित्य के उदाहरण किंचिदंशों में देते हैं ।

अर्थ—(१) उनमें से (रसों के अनौचित्य में से) रति के उपनायकनिष्ठ होने में (उदाहरण) यथा–मेरा (ग्रन्थकार का अपना बनाया हुआ श्लोक है) स्वामीति—

प्रसङ्ग—संध्या समय मार्ग को रोककर खड़े हुये श्रीकृष्ण के प्रति गोपी की उक्ति है ।

(हे) कृष्ण ! (मेरा) स्वामी (प्रिय नहीं) अत्यन्त मूढ़ है (मूर्खता से पति सुरत के विषय में अनभिज्ञ है, अतः मेरी कामतृप्ति नहीं होती है, और विलम्ब होने पर कोप के कारण प्रहारशीलता ध्वनित होती है ।) यह वन (नगर नहीं) घना है (अनेक वृक्षों के समुदाय से ग्रथित है । इससे वन की भयानकता तथा घना होने के कारण किसी मनुष्य के दिखाई न पड़ने से यह स्थान कामक्रीड़ा के योग्य है, यह सूचित होता है ।), मैं अकेली बाला हूँ ("बाला" होने के कारण जाने से डरती हूँ अतः विलम्ब करना ठीक नहीं है । और कोई प्रतिबन्ध न होने के कारण मेरे साथ स्वच्छन्द रमण करो, यह ध्वनित होता है ।) । तमाल वृक्ष की तरह है मलिन कान्ति जिसकी ऐसा अन्धकार समूह पृथ्वी को व्याप्त कर रहा है । (इससे जाने में सहायता की प्रार्थना है और ऐसे में कोई हम दोनों को नहीं देख सकता, यह सूचित होता है ।) अतः (हे) सुन्दर ! (रूप के आधिक्य से मेरे मन को मोहित करने वाले ?) (इससे मार्ग में छोड़ने के लिये प्रार्थना है, तुमको छोड़कर मैं नहीं जा सकती हूँ । तुमने मेरे हृदय को हर लिया है, यह सूचित होता है ।) मेरे मार्ग को छोड़ दो (इससे राजमार्ग को तथा परस्त्री के स्पर्श के अभावरूप सदाचार को छोड़ दो यह ध्वनित होता है ।) इसप्रकार (किसी) गोपी के वचनों को सुनकर उसको (गोपी को) बलात् आलिङ्गन करके काम-व्यापार में आसक्त श्रीकृष्ण जी तुम्हारी रक्षा करें ।

टिप्पणी—यहाँ पर श्रीकृष्ण के नन्द के पुत्र होने के कारण सम्बन्धी होने से गोपी का वह अनुराग अनुचित है–यह भाव है ।

बहुनायकनिष्ठत्वे यथा—

'कान्तास्त एव भुवनत्रितयेऽपि मन्ये
येषां कृते सुतनु ! पाण्डुरयं कपोलः ।'

अनुभयनिष्ठत्वे यथा—मालतीमाधवे नन्दनस्य मालत्याम् ।

'पश्चादुभयनिष्ठत्वेऽपि प्रथममेकनिष्ठत्वे रतिराभासत्वम्' इति श्रीमल्लोचनकाराः ।तत्रोदाहरणं यथा—रत्नावल्यां सागरिकाया अन्योन्यसंदर्शनात्प्राग्वत्सराजे रतिः ।

प्रतिनायकनिष्ठत्वे यथा—हयग्रीववधे हयग्रीवस्य जलक्रीडावर्णने ।

अर्थ—(२) (रति के) बहुनायकनिष्ठ होने पर (उदाहरण) **यथा-कान्ता इति**-

(हे) सुतनु ! (शोभाङ्गि !) तीनों लोकों में वे ही (मनुष्य) सुन्दर हैं, जिनके लिये यह (तुम्हारा) कपोल (विरह के कारण) पाण्डुवर्णवाला (हो गया है) (ऐसा) मै समझता हूँ ।

टिप्पणी—इस पद्य का पूर्वार्ध इसप्रकार है:—

"सङ्केतितेषु सुभगेषु रता त्वमेव भूत्वाऽप्यहो धनवधूरत एव नूनम् ।" इति ।

यहाँ पर **"येषां" "ते"** और **"कान्ताः"** इन तीन के बहुवचन में होने के कारण नायिका की बहुनायकनिष्ठ रति का ज्ञान होता है ।

अर्थ—(३) (रति के) अनुभयनिष्ठ होने पर (उदाहरण) **यथा-"मालतीमाधव"** में (मालती और माधव के अनुराग वर्णन का आश्रय लेकर श्री भवभूति महाकवि द्वारा विरचित प्रथम अङ्क के प्रकरण में) नन्दन का मालती में (अनुराग था परन्तु मालती का नन्दन के प्रति अनुराग नहीं था ।) ।

[नायक और नायिका में से जब तक किसी एक की ही रति है तब तक भविष्य में होने वाले सम्बन्ध के होने पर भी शृङ्गार की योग्यता नहीं होती है । इस अभिप्राय से अभिनवगुप्तपादाचार्य के मत को दिखाते हैं ।] । **पश्चादुभयनिष्ठत्वे इति**-

"पहले (विवाह से, दोनों के परस्पर गुणश्रवण से तथा परस्पर अवलोकनादि से पूर्व) रति के एकनिष्ठ होने पर बाद में (रति के) उभयनिष्ठ हो जाने पर भी (रति का) रसाभास ही है ।" यह श्रीमद् (ध्वन्यालोक की) लोचन नामक व्याख्याकार अभिनवगुप्तपादाचार्य जी का मत है । **तत्रेति**—उसमें (रति के औचित्य के अभाव में) उदाहरण **यथा-रत्नावली** में (वत्सराजविषयक अनुराग को आधार मानकर श्रीहर्ष कवि द्वारा निर्मित नाटिका में) सागरिका का (रत्नावली का) परस्पर देखने से पूर्व वत्सराज के प्रति (रति के विद्यमान होने पर) अनुराग (अनुचित) है ।

(४) (रति के) प्रतिनायकनिष्ठ होने पर (उदाहरण) **यथा "हयग्रीववध"** में (हयग्रीवनामक दैत्य को विष्णु ने मारा था—इस आख्यान का आश्रय लेकर काश्मीरी कवि "भर्तृमेण्ठ" द्वारा प्रणीत महाकाव्य में) हयग्रीव का (प्रतिनायक का) ललनाजनों के साथ, जलक्रीड़ा वर्णन के अवसर पर ।

अधमपात्रगतत्वे यथा—

'जघनस्थलनद्धपत्रवल्ली गिरिमल्लीकुसुमानि कापि भिल्ली।
अवचित्य गिरौ पुरो निषण्णा स्वकचानुत्कचयाञ्चकार भर्त्रा॥'

तिर्यगादिगतत्वे यथा—

'मल्लीमतल्लीषु वनान्तरेषु वल्ल्यन्तरे वल्लभमाह्वयन्ती।
चञ्चद्विपञ्चीकलनादभङ्गीसंगीतमङ्गीकुरुते स्म भृङ्गी॥'

आदिशब्दात्तापसादयः।

रौद्राभासो यथा—

'रक्तोत्फुल्लविशाललोलनयनः कम्पोत्तराङ्गो मुहु-
र्मुक्त्वा कर्णमपेतभीर्धृतधनुर्बाणो हरेः पश्यतः।

अर्थ— (५) (रति के) अधमपात्रगत होने पर (उदाहरण) **यथा-जघनेति**— जघनस्थल पर (कटि के पश्चाद् भाग पर) बांधी है पत्रलता जिसने ऐसी कोई भी (कोई अज्ञात नाम वाली) भीलिनी पर्वत पर कुटज के पुष्पों को चुनकर (अपने पति के) सामने बैठी हुई स्वामी से अपने बालों को अलंकृत करा रही थी।

टिप्पणी—यहाँ रति के तत्वज्ञान के विषय में असमर्थ होने के कारण अधम-नायक और नायिकागत होने के कारण "शृङ्गाराभास" है।

अर्थ—(६) (रति के) तिर्यगादिनिष्ठ होने पर (उदाहरण) **यथा-मल्लीति**—भ्रमरी ने मल्लिकापुष्प के तरुओं से सुन्दर वन के बीच में दूसरी लता में (अपनी लता से भिन्न लता में मधुपान के लिये स्थित) (अपने) पति को (भ्रमर को) (सुरत के लिये) बुलाते हुये प्रवाह की तरह निरन्तर (चञ्चत्) वीणा के मधुर और अस्फुट शब्द के अनुसार संगीत को (स्मर के उद्दीपन के लिये) गाना प्रारम्भ किया।

आदिशब्दादिति—"तिर्यगादिगतत्वे" यहाँ पर "आदि" शब्द (के ग्रहण) से तापसादि (का ग्रहण होता है।)।

टिप्पणी—यहाँ पर रति के तत्वज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण तथा तिर्यग् निष्ठ होने के कारण "शृङ्गाराभास" है।

अथ रसाभासनिरूपणम्—

अवतरणिका—इसप्रकार दिङ्मात्ररूप में "शृङ्गाररस" में अनौचित्य को दिखाकर "रौद्ररस" में दिखाते हैं।

अर्थ—(७) रौद्राभास (का उदाहरण) **यथा—रक्तोत्फुल्लेति**—

प्रसङ्ग—युद्ध के अन्दर कर्ण को मारने में असमर्थ गाण्डीवादि की निन्दा करते हुये युधिष्ठिर को मारने के लिये अर्जुन के उद्यत होने पर सेवक वर्ग की यह उक्ति है।

वह अर्जुन (क्रोध से) रक्तवर्ण वाला तथा विस्फारित हैं विशाल और चञ्चल नयन जिसके ऐसा, पौनःपुन्येन कम्पित हैं अङ्ग जिसके ऐसा, निर्भय, धनुषबाण को धारण किये हुये (युधिष्ठिर की) कटूक्तियों से दग्ध, श्रीकृष्ण के देखते-देखते (अर्थात्

आध्मातः कटुकोक्तिभिः स्वमसकृद्दोर्विक्रमं कीर्तय-
न्नंसास्फोटपटुर्युधिष्ठिरमसौ हन्तुं प्रविष्टोऽर्जुनः ।।'

भयानकाभासो यथा—

'अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः ।।'

स्त्रीनीचविषयमेव हि भयं रसप्रकृतिः । एवमन्यत्र ।

देखते हुये श्रीकृष्ण का अनादर करके), पुनः पुनः अपने भुज विक्रम का कीर्तन करता हुआ (तथा) स्कन्ध को (हाथ से) ताड़ने में तत्पर (सूतपुत्र) कर्ण को (प्रहार करते हुये) छोड़कर युधिष्ठिर को मारने के लिये (स्कन्धावार में) घुस गया ।

टिप्पणी—(१) एकबार कौरव-पाण्डवों के संग्राम में नित्य-"आज ही मैं कौरवों को मार डालूंगा" इसप्रकार अपने पराक्रम की बड़ाई करते हुये, प्रतिज्ञा को पूरी करने में असमर्थ अर्जुन की युधिष्ठिर ने "यदि तू कौरवों को मारने में असमर्थ है, तो गाण्डीव का असम्मान मत कर, इसका त्याग कर दे, श्रीकृष्ण को सौंप दे" इसप्रकार निन्दा की । इस निन्दा को सहन न करते हुये अर्जुन ने "जो मुझे शस्त्र छोड़ने के लिये कहेगा, अथवा तिरस्कार करेगा, मैं उसको मार डालूँगा" इसप्रकार अपनी पूर्व प्रतिज्ञा को स्मरण करके अत्यन्त पूज्य भी युधिष्ठिर को मारने में प्रवृत्त हो गया" इसप्रकार की पौराणिकी कथा है ।

(२) यहाँ पर अर्जुन का गुरुतुल्य ज्येष्ठ भाई के प्रति क्रोध के अनुचित होने के कारण "रौद्ररसाभास" है ।

अर्थ—(८) भयानकाभास (का उदाहरण) **यथा-अशक्नुवन्निति**—["शिशुपालवध' महाकाव्य के प्रथम सर्ग का ५३वाँ श्लोक है ।] इन्द्र ("उल्लू" यह ध्वन्यार्थ है) सूर्य की तरह जिस (रावण) के दर्शन करने में असमर्थ था (अतएव) (भय के कारण) चञ्चल नेत्र वाला डरता हुआ सुमेरु पर्वत की कन्दरा रूपी घर के अन्दर प्रवेश करके दिनों को बिताता था [यहाँ पर शब्दशक्तिमूला उपमाध्वनि है । अर्थात् जिसप्रकार उल्लू सूर्य से डर कर कन्दरा में घुस पर अपने दिन बिताता है उसीप्रकार अधीरनेत्र वाला तथा दिवान्ध होने के कारण उल्लू की तरह इन्द्र अपने दिन गुजारता था । वह उपमा ध्वनि है ।] ।

स्त्रीनीचेति—(**प्रश्न**-इस उक्त उदाहरण में क्या दोष है जो "भयानकरसाभास" कहते हो ? इसका उत्तर देते हैं ।) **उत्तर**—क्योंकि स्त्री जाति और अधम मनुष्य हैं विषय (आश्रय) जिसका ऐसा "भयानक रस" का मूल (स्थायीभाव होता) है । ["**स्त्रीनीचप्रकृतिः**" ऐसा कहकर यहाँ पर भय का उत्तम पात्रगत होना ही अनौचित्य के कारण दोष है । अतः "भयानक रसाभास" है ।] **एवमिति**—इसीप्रकार अन्य स्थानों पर ("शमादीनां हीननिष्ठत्वादौ" में उदाहरण समझ लेना चाहिये) ।

भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात् ॥२६६॥

स्पष्टम् ।

भावस्य शान्तावुदये संधिमिश्रितयोः क्रमात् ।
भावस्य शान्तिरुदयः संधिः शबलता मता ॥ २६७ ॥

टिप्पणी—शंका–रसाभास और भावाभासादिकों का असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य होना ग्रन्थकार आगे चलकर स्वयमेव कहेंगे। और उस स्थायीभाव व्यंग्य के बोध क्रम के अपरिचय से ही, इस श्लोक में स्थायीभाव भय के "बिभ्यत्" यह कहने से व्यंग्यता नहीं आती है। फिर व्यंग्यक्रम के अपरिचय के अधीन असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यता का तो कहना ही क्या ? अतः यहाँ पर रसाभासध्वनि न होकर उपमाध्वनि ही है। "भयानक रसाभास" का उदाहरण तो निम्न श्लोक है—

"जातिदुष्टोऽपि संश्लाघ्यः स कालयवनो नृपः ।
युद्धोद्युक्तं यमालोक्य श्रीकृष्णोऽपि पलायितः ॥"

अर्थ—(९) लज्जादिक (सञ्चारीभाव) के ("आदि" पद से चिन्तादिकों का ग्रहण होता है)। वेश्यादिनिष्ठ होने पर ("आदि" पद से "अनुरागिणी" आदि का बोध होता है।) "**भावाभास**" होता है। स्पष्ट (ही) है।

अथ भावशान्त्यादिनिरूपणम्—

अवतरणिका—इसप्रकार भावाभास को निरूपित करके "**भावशान्त्यादि**" का निरूपण करते हैं।

अर्थ—("**भावशान्त्यादिकों**" का निरूपण करते हैं)—(१) भाव के (जिस किसी भी व्यभिचारी भाव के) शान्त होने पर (उत्पन्न हुये भाव, का विरुद्ध सामग्री के बल से तिरोभाव हो जाना' 'शान्ति" कहलाता है। "**विरुद्धसामग्रीबलात् प्रशमावस्था**" "**भावशान्तिः**" (नामक काव्य की आत्मा होती) है। (२) (किसी) भाव की उत्पत्ति होने पर (**स्वसामग्रीमाहात्म्येनोद्गमावस्था**—अपनी सामग्री के बल से उत्पन्न होने की अवस्था) "**भावोदय**" (नामक काव्य की आत्मा होती है) [उदय व्यभिचारीभाव का ही होता है, स्थायीभाव का नहीं।]।

(३) (किन्हीं दो भावों की सन्धि होने पर ["**उभयसामग्रीयोगेन परस्पर-विमर्दः। स च परस्परविमर्दयोरेकनाशे चान्योत्पत्तिरित्येवंरूपः**"=दोनों भावों की सामग्री की प्रबलता के कारण परस्पर अतिरस्कृत अथवा परस्पर तिरस्करण की योग्यता के कारण एक स्थान पर रहना सन्धि है। कुछ की सम्मति में—"**विरुद्धयो-रेकस्मिन्नेकदैवावच्छेदकभेदेन स्थितिः सन्धिः**" यह सन्धि का लक्षण है। किन्तु यह लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर दिये हुये उदाहरण के अन्दर असङ्गति पैदा हो जायेगी।] "**भावसन्धि**" (नामक काव्य की आत्मा होती है)। (४) (अनेक) भावों के (समानभाव से) मिश्रित होने पर ["**शबलता नाम पूर्वपूर्वोपमर्देन उत्तरोत्पत्तिः। मिश्रितं च बाध्यबाधकभावापन्नानामुदासीनानां वाऽन्योन्यान्तर्गतत्वं, पूर्वपूर्वस्य बाध्यत्वेन उत्तरो-**

क्रमेण यथा—

'सुतनु ! जहिहि कोपं पश्य पादानतं मां
न खलु तव कदाचित्कोप एवंविघोऽभूत् ।
इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्ष्या
नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किञ्चित् ।।'

अत्र बाष्पमोचनेनेर्ष्याख्यसञ्चारिभावस्य शमः ।

चरणपतनप्रत्याख्यानात्प्रसादपराङ्मुखे
निभृतकितवाचारेत्युक्त्वा रुषा परुषीकृते ।

तरस्य बाधकत्वेनैकत्र काव्ये निबन्धनम् । अत्रापि बाध्यत्वं नाम विरोधिसामग्रीस्थगित-परिपुष्टिकत्वम्, बाधकत्वञ्च विरोधि ।] "भावशबलता" (नामक काव्य की आत्मा) क्रमशः मानी गई है ।

टिप्पणी—"भावशान्ति" के अन्दर एक ही भाव का नाश होता है । "भावोदय" के अन्दर एक ही भाव की उत्पत्ति होती है । 'भावसन्धि' में दोनों ही भावों का विनाश और उत्पत्ति होती है । भावशबलता के अन्दर अनेक भावों का विनाश और उत्पत्ति होती है । कुछ की सम्मति में—"भावानामुत्तरोत्तरबलवत्वं शबलत्वं बलवत्समूहो वा" शबलता कहलाती है परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि वक्ष्यमाण उदाहरण के अन्दर दो-दो में भावों में से बाद के भाव की ही प्रबलता होती है, ऐसी बात नहीं है कि बाद के जितने भी भाव हों उन सबकी प्रबलता हो ।

अवतरणिका—क्रमशः "भावशान्त्यादिकों" के उदाहरण देते हैं—

अर्थ—(१) क्रम से ("भावशान्ति" का उदाहरण) **यथा–सुतन्विति**—[प्रसङ्ग-यह "अमरुशतक" का पद्य है ।] (हे) सुन्दरि ? क्रोध को छोड़ दो, (तुम्हारे) चरणों में प्रणत मुझे देखो, कभी (भी) तुम्हारा क्रोध इसप्रकार का नहीं हुआ था । इसप्रकार पति के कहने पर कुटिल भाव से ईषद्मुद्रित हैं नेत्र जिसके ऐसी (किसी नायिका) ने आँसू (तो) बहुत बहाये परन्तु कहा कुछ नहीं । **अत्रेति**–इस पद्य में अश्रु छोड़ने से ईर्ष्या नामक संचारीभाव की शान्ति (दिखाई) है । [क्योंकि अश्रुओं के प्रवाहित होने पर सभी जगह ईर्ष्या की समाप्ति देखी जाती है ।] ।

अर्थ—(२) ("भावोदय" का उदाहरण) **यथा**–(हे) प्रच्छन्न धूर्ताचार ! [गुप्त है कपट आचरण जिसका ऐसा ?) ऐसा कह कर (नायिका के द्वारा) क्रोध से,चरणों पर गिरने पर भी तिरस्कार करने से (दयिता के प्रति) प्रसन्नता सेरहित (प्रसन्नता रूप फल के विषय में निराश) (अतएव) स्नेह शून्य पति के (नायिका को छोड़कर) जाने पर (किसी नायिका ने) दीर्घ निःश्वास लेकर (और) छाती पर हाथ रख कर ("**हृदय ! मा स्फुट इति हृदयाश्वासः**"] सखियों की ओर अश्रुपूर्ण दृष्टि डाली । [इससे यौवन का अचिर स्थायित्व, चरणों पर गिरने पर भी मैंने अपने पति का तिरस्कार कर दिया—यह बड़ा ही अनुचित किया—यह ध्वनित होता है ।]

व्रजति रमणे निःश्वस्योच्चैः स्तनस्थितहस्तया
नयनसलिलच्छन्ना दृष्टिः सखीषु निवेशिता ॥'

अत्र विषादस्योदयः ।

'नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम् ।
रूपमिदं मदिराक्ष्या मदयति हृदयं दुनोति च मे ॥'

अत्र हर्षविषादयोः संधिः ।

'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा,
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो, कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।

अत्रेति—यहां पर (नायक का तिरस्कार करने के कारण) विषाद का उदय (हुआ) है [यह व्यञ्जित होता है। क्योंकि विषाद के उदय के अभाव में दृष्टि का अश्रुपूर्ण होना असम्भव है।]।

अर्थ—(३) ("**भावसन्धि**" का उदाहरण) **यथा-नयनेति**—दोनों नेत्रों को तृप्त करने वाला, मन की वृत्ति से भी (संसार में विरत होने के कारण) अप्राप्य (अर्थात् मनोरथ का भी अविषय) खञ्जन पक्षी की तरह (मदिर) अत्यन्त चञ्चल हैं नेत्र जिसके ऐसी का [**अन्यत्र-मदिरा**—दृष्टि विशेष। इसका लक्षण "**संगीतकलिका**" में इसप्रकार है:—

**"सौष्ठवेन परित्यक्ता स्मरापाङ्गमनोहरा ।
वेपमानान्तरा दृष्टिर्मदिरा परिकीर्तिता"** ॥ इति ॥

हरिविजयव्याख्याकारेणापि तथैवोक्तम्—

**"आघूर्णमालमध्या या क्षामा चाञ्चिततारका ।
दृष्टिर्विकसितापाङ्गा मदिरा तरुणे मदे ॥ इति"**]

(अतः) **अन्यत्र**–मदिरा–दृष्टिविशेष युक्त हैं नेत्र जिसके ऐसी का यह सौन्दर्य मेरे हृदय को आनन्दित कर रहा है और (दुर्लभ होने के कारण) सन्तप्त कर रहा है। **अत्रेति**–यहाँ पर (एक ही कामिनी का सौन्दर्य नेत्रों को तृप्त करने के कारण आनन्दजनक है और अप्राप्य होने के कारण सन्तापजनक है। (अतः) हर्ष और विषाद की सन्धि है।

अर्थ—(४) ("**भावशबलता**" का उदाहरण) **यथा-क्वाकार्यमिति**"—[प्रसङ्ग—"**विक्रमोर्वशीय**" के चतुर्थ अङ्क में उर्वशी के विरह में मरने में प्रवृत्त पश्चात् निवृत्त पुरुरवा की यह उक्ति है।] (१) (यह) अकार्य (निषिद्ध आचरण) [अर्थात् स्त्री के वियोग में आत्महत्यारूप अनुचित आचरण] कहाँ? और कहाँ चन्द्रचिह्नित (अर्थात् चन्द्रवंशीय) कुल? [चन्द्रवंशीय होकर मैं आत्मघात करूंगा इसप्रकार के असदृश की सूचना देने के लिये दो "**क्व**" का प्रयोग किया है।] (यहाँ शान्तरस का संचारी "**वितर्क**" का आगम है।) (२) वह (अद्भुत सुन्दरी उर्वशी) फिर भी ("**अपि**" के

किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः, स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि, कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ॥'

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता ।

इति साहित्यदर्पणे रसादिनिरूपणो नाम तृतीयः परिच्छेदः ।

प्रयोग से सम्भावना की उत्कटता द्योतित होती है।) (क्या?) दृष्टिगोचर होगी? (यहाँ व्यंग्य से शृंगार रस के सञ्चारी औत्सुक्य से शान्त रस के संचारी "वितर्क" का बाध है। (३) दोषों को (अनुचित कार्यों के अनुष्ठान को) शान्त करने के लिये मेरा शास्त्रज्ञान अथवा शास्त्रों का श्रवण (था)[अर्थात् शास्त्रों को जानकर मैं कैसे इस अनुचित कार्य को कर रहा हूँ] (यह बड़ी ही) आश्चर्य (की बात) है। (यहां शान्त रस के संचारी औत्सुक्य का बाध है।) (४) (अहा!) क्रोधित होने पर भी (उसका) (वह) सुन्दर मुख? (यहाँ व्यंग्य से शृंगार संचारी स्मरण से पूर्वोक्त मति का बाध है) (५) निष्पाप (और) परिणत बुद्धि वाले (विद्वान्) (इसप्रकार अनुचित कार्य करने वाले मुझको लक्ष्य करके) क्या कहेंगे? (अर्थात् मेरे प्रति घृणा दिखायेंगे।) (यहाँ व्यंग्य से शान्त के संचारी शंका से पूर्वोक्त स्मरण का बाध है) (६) वह (उर्वशी अब) स्वप्न में भी दुर्लभ है। (यहाँ व्यंग्य से शान्त के सञ्चारी अभिमत की अप्राप्ति से प्रयुक्त दैन्य से पूर्वोक्त शंका का बाध है।) (७) (हे) चित्त! शान्ति को प्राप्त हो (सुस्थिर हो।) (यहाँ व्यंग्य से शान्त के संचारो धृति से पूर्वोक्त दैन्य का बाध है।) (८) (न जाने) कौन पुण्यवान् युवक (उर्वशी के) (मेरी तरह मन्दभागी नहीं) अधरों का पान करेगा। (यहाँ व्यंग्य से शृंङ्गार संचारी चिन्ता से पूर्वोक्त धृति का बाध है)।

अत्रेति—इस पद्य में (१) (पहले वाक्य से) वितर्क, (२) (दूसरे वाक्य से) औत्सुक्य, (३) (तीसरे वाक्य से) मति, (४) (चौथे वाक्य से) स्मरण, (५) (पाँचवें वाक्य से) शङ्का, (६) (छठे वाक्य से) दैन्य, (७) (सातवें वाक्य से) धृति, और (८) (आठवें वाक्य से) चिन्ता इत्यादि भावों की अभिव्यक्ति होने से शबलता है। [अतः अनेक संचारीभावों के मिश्रण से यह पद्य "**भावशबलता**" का उदाहरण है।]।

टिप्पणी—इस पद्य के प्रथम चरण में (१) वितर्क और (२) औत्सुक्य संचारी भाव हैं। **यथा हि**—"**कुलम्**" इससे चन्द्रकुल में उत्पन्न होने के कारण स्त्री विरह में आत्महत्या करना अनुचित है, इसप्रकार का विचार **वितर्क** है; "**सा**" इससे "**औत्सुक्य**" प्रतीत होता है। दूसरे चरण में (३) मति और (४) स्मरण सञ्चारीभाव हैं। **यथाहि**—"**श्रुतम्**" इससे उर्वशी के प्रति अनुराग सर्वथा दोष के लिये ही है इसप्रकार की निश्चयात्मक विचार वालो '**मति**" है, "**मुखम्**" इससे मुख की सुन्दरता का **स्मरण**" है। तृतीय चरण में (५) शंका और (६) दैन्य सञ्चारीभाव हैं, **यथाहि**—"**कृतधियः**" इससे शंका '**दुर्लभा**" इससे अपने अनौजस्वरूप "**दैन्य**" प्रतीत होता है। चतुर्थ चरण में (७) धृति और (८) चिन्ता सञ्चारीभाव है। **यथाहि-उपैहि**—इससे धृति "**पास्यति**" इससे चिन्ता व्यंग्य होती है। यहाँ पर जिसप्रकार अन्य पदार्थ के आस्वाद को विनष्ट न करते हुये नारियल के जलादि पदार्थों के साथ मिश्रित होने पर विलक्षण

आस्वाद को उत्पन्न करते हैं, उसीप्रकार पृथक्-पृथक् अभिव्यक्त होते हुये भी ये भाव महावाक्य के अर्थ बोध में मिलकर अपूर्व चमत्कार को उत्पन्न करते हैं। **तदुक्तम्**—

"नारिकेलजलक्षीरसिताकदलमिश्रणे।
विलक्षणो यथास्वादो भावानां संहतौ तथा"। इति।

(२) यहाँ इस पद्य के अन्दर दो-दो भावों में से पहला-पहला भाव आने वाले भाव से बाध्य होता है और बाध्य करने वाला भाव बाधक होता है। इसीप्रकार सम्पूर्ण पद्य के अन्दर भाव समुदाय का बाध्य-बाधक भाव से मुख्य रूप से आस्वादन किया जाता है। अतः **"भावशबलता"** का ही प्राधान्य है।

———

इति साहित्यदर्पणे रसादिनिरूपणो नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥

मूलकारिका = २६७ कुल कारिकायें = २९०

उदाहरणश्लोक = १४३ कुल उदाहरण श्लोक = १५८

इति तृतीयः परिच्छेदः

चतुर्थः परिच्छेदः

अथ काव्यभेदावाह—

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम् ।

तत्र—

वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ॥ १॥

अवतरणिका–"काव्यस्वरूप" का वर्णन करने के उपरान्त **काव्य** के भेदों को दिखाते हैं।

अर्थ—इसके बाद (काव्य के घटक रसादि के निरूपण के उपरान्त) [वह काव्य कितने प्रकार का है ? अर्थात् काव्य के कितने भेद हैं, इस जिज्ञासा के उत्पन्न होने पर **"उपोद्घातादिभिन्नत्वे सति स्मरणप्रयोजक सम्बन्धत्वं प्रसङ्गत्वम्"** इस प्रसङ्ग संगति के अनुसार उस] काव्य के (**"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"** इस उक्त लक्षण वाले विशेष काव्य के) भेदों को (ग्रन्थकार) बताते हैं।

काव्य दो प्रकार का माना गया है। (उनमें से पहला) (१) **ध्वनि** और (दूसरा) (२) **गुणीभूतव्यंग्य** इति।

टिप्पणी—**"गुणीभूतव्यंग्य"** का लक्षण-**"गुणीभूतं वाच्यार्थादुत्कर्षाधायकत्वात् प्रधानीभूतं व्यङ्ग्यं प्रतीयमानोऽर्थो यस्मिन् इति गुणीभूतं काव्यम्"**। इसके वैशिष्टय को प्रतिपादित करेंगे।

(२) **शंका**—**"काव्यम्"** तो नपुंसकलिङ्ग है और **"ध्वनि"** पुंल्लिग है। यह कैसे ?

उत्तर—दोनों ही अजहल्लिङ्ग होने के कारण (क्योंकि इन दोनों में से कोई भी अपने लिङ्ग का परित्याग नहीं कर सकता अतः) **"कलत्रं दाराः"** इसकी तरह कोई दोष नहीं आयेगा।

अर्थ—**तत्र**—उनमें से (ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य में से)—

(१) (**"ध्वनि"** का लक्षण) अभिधावृत्ति से प्रतिपाद्य अर्थ से (वाच्यात्) व्यञ्जनावृत्ति से प्रतिपाद्य अर्थ के (व्यंग्ये) अधिक चमत्कार जनक होने पर (अतिशयिनि) उत्तम (गुणीभूतव्यंग्य और निर्व्यंग्यात्मक—इन दो प्रकार के काव्य में से) काव्य होता है, (और) वह **'ध्वनि काव्य'** (कहलाता) है।

टिप्पणी—(१)वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के अधिक चमत्कार जनक होने पर **"उत्तम काव्य"** होता है।

(२) किसी भी कारण से व्यंग्यार्थ के विद्यमान होने के कारण गुणीभूतव्यंग्य काव्य **"मध्यम काव्य"** कहलाता है।

(३) तथा सर्वथा व्यंग्यार्थ की अविद्यमानता के कारण व्यंग्यशून्य काव्य **"अधम-काव्य"** कहलाता है। यह ग्रन्थकार का आशय है।

अवतरणिका—**"वाच्यातिशयिनि**—इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुये **"ध्वनि"** शब्द की योगरूढता को स्पष्ट करते हैं।

वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम् ।

अर्थ—वाच्य से अधिक चमत्कारक (तात्पर्य विषय से बोधगम्य) व्यंग्यार्थ के होने पर "**ध्वन्यते—व्यञ्जनया व्यज्यतेऽस्मिन्–वाच्चार्थसमुदाये काव्ये इति ध्वनिः**" इस व्युत्पत्ति के द्वारा "**ध्वनि नामक**" उत्तम काव्य (होता) है।

टिप्पणी—वस्तुतः "**ध्वन्यते-व्यज्यते अस्मिन्-वाक्यार्थसमुदाये काव्ये इति ध्वनिः**" यह व्युत्पत्ति गुणीभूतव्यंग्य के अन्दर भी संभव हो सकती है तथापि ध्वनि पद के उक्त रुढि सापेक्षता के कारण उसका "**गुणीभूतव्यंग्य**" के अन्दर व्यवहार नहीं होता है। ध्वनि शब्द अनेकार्थक है; तथाहि–**ध्वन्यतेऽस्मै इति ध्वनिः**, **रसादिरर्थः**, जो ध्वनित हो, इस व्युत्पत्ति से रस का बोधक,) **ध्वनती ध्वनिः शब्दवाच्यादिरर्थो वा** (जो ध्वनित करे, इस व्युत्पत्ति से शब्दार्थ का वाचक) ध्वन्यतेऽनया ध्वनिः (इस व्युत्पत्ति से व्यञ्जना का वाचक), **ध्वननं ध्वनिः** (इस विग्रह से व्यंग्यार्थ का वाचक), **ध्वन्यतेऽस्मिन् इति ध्वनिःकाव्यमिति** (जिसमें ध्वनि हो, इस व्युत्पत्ति से काव्य का वाचक है)। इसप्रकार व्युत्पत्तिभेद से ध्वनि पदार्थ का भेद समझना चाहिये। इसलिये अधिक चमत्कारी व्यंग्य काव्य "**ध्वनि**" कहलाता है, यह फलितार्थ है। वस्तुतः वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि के अन्दर काव्य घटकता का अभाव होने पर भी काव्य के उत्कर्ष के कारण उसके व्यञ्जक शब्द और अर्थ का ध्वनित्व है, यह समझना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ अभिधावृत्ति के द्वारा प्रतिपाद्य वाच्य के अभिधेय अर्थ की अपेक्षा व्यञ्जना वृत्ति से प्रतिपाद्य व्यंग्य के अभिधेय अर्थ की अधिक चमत्कारिता होगी, वह "**ध्वनिकाव्य**" कहलायेगा। और वह काव्य वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होने के कारण "**उत्तम काव्य**" कहलायेगा। अथवा "वाच्य" यह पद "लक्ष्य" का भी उपलक्षण है अतः वाच्य की अपेक्षा और लक्ष्य की अपेक्षा अथवा वाच्य यह पद लक्ष्य की तरह जहाँ व्यंग्य से व्यंग्यान्तर की भी व्यंग्यता होगी, वहाँ दूसरे व्यंग्य का व्यञ्जक पहले व्यंग्य का भी उपलक्षण होगा, अतः वाच्य की अपेक्षा, लक्ष्य की अपेक्षा और पूर्व व्यंग्य की अपेक्षा जहाँ व्यंग्य की अधिक चमत्कारिता होगी "**वह उत्तम काव्य**" होता है। **ध्वनिकार** ने कहा भी है कि—

"**प्रथमे हि विद्वांसो वैय्याकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्, ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति**" इति। अभिनवगुप्त कहते हैं कि—

"**श्रोत्रशष्कुलीसन्तानेनागता अन्त्याः शब्दाः श्रूयन्ते इति प्रक्रियायां शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तं, तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं तावदस्ति, ते च ध्वनिशब्देनोक्ताः**"।

जैसा कि भगवान् भर्तृहरि ने वाक्यपदीय (प्रथम खण्ड) में कहा है कि—

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजायते।
स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः॥

अर्थात् इन्द्रियों के (कण्ठ और तालु के) संयोग और वियोग से जो शब्द

भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ ।
अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च ॥ २ ॥

तत्राविवक्षितवाच्यो नाम लक्षणामूलो ध्वनिः । लक्षणामूलत्वादेवात्र वाच्यमविवक्षितं बाधितस्वरूपम् ।

विवक्षितान्यपरवाच्यस्त्वभिधामूलः । अत एवात्र वाच्यं विवक्षितम् । अन्य-

---

निकलता है, वह स्फोट शब्द है । इस स्फोट शब्द से जो शब्द उत्पन्न होते हैं, वे ध्वनि शब्द से कहे जाते हैं । इसप्रकार घण्टादि के झङ्कार स्थानीय अनुरणनात्मा से उपलक्षित व्यंग्यार्थ भी ध्वनि रूप से व्यवहृत किया है । इसप्रकार यह प्रकार अव्यक्त-शब्दों के लिये है । व्यक्त शब्दों के उसीप्रकार सुनने वाले जो वर्ण नाद शब्द से व्यवहृत होते हैं तथा अन्तिम रूप से बुद्धि से ग्रहण करने योग्य हैं और स्फोट के अभिव्यञ्जक हैं, वे "ध्वनि" शब्द से कहे जाते हैं ।

अथ ध्वनिभेदनिरूपणम्

अवतरणिका—काव्य की आत्मा ध्वनि के भेद से ही **"ध्वनिकाव्य"** के भेदों को बताते हैं—

प्रसङ्ग—यहाँ यद्यपि वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया है तथापि रसादि की प्रकर्षता के कारण ही उनकी काव्यात्मकता है ? इस अभिप्राय से साधारणेन ध्वनि के भेदों का निरूपण करते हैं ।

अर्थ—**"ध्वनि"** के भी (१) **लक्षणामूलक** और (२) **अभिधामूलक** दो भेद कहे हैं । (अर्थात् "**ध्वनि**" के दो भेद होते हैं (१) **लक्षणामूलकध्वनि** और (२) **अभिधामूलकध्वनि** ।) (उनमें से पहली अर्थात् (१) **लक्षणामूलकध्वनि**) (१) **अविवक्षितवाच्य** ("न विवक्षितम्-उपयुक्तम् अन्वयार्हं वा वाच्यं—वाच्योऽर्थः यत्र सः ध्वनिः अविवक्षितवाच्यः) और दूसरी (**अर्थात् अभिधामूलकध्वनि**) (२) **विवक्षितान्यपरवाच्य** ("विवक्षितं–वाच्यताऽवच्छदेकरूपेणान्वयबोधकः, तस्मात् अन्यपरं–व्यंग्यपरं व्यंग्योपसर्जनीभूतं वा वाच्यं–वाच्योऽर्थो यत्र स विवक्षितान्यपरवाच्यः") (कहलाती) है ।

प्रसङ्ग—कारिका के पूर्वभाग के सुगम होने के कारण उसकी उपेक्षा करके उसके उत्तर भाग की व्याख्या करते हैं ।

अर्थ—उनमें से (**अविवक्षितवाच्य** और **विवक्षितान्यपरवाच्य** इन दोनों में से) (पहली) "**अविवक्षितवाच्य**" नामक ध्वनि लक्षणामूलक है । (क्योंकि) लक्षणामूलक होने के कारण ही (**लक्षणामूलं यस्य तस्य भावस्तत्वं, तस्मात् तथोक्तात्**) इसमें वाच्यार्थ अविवक्षित अर्थात् बाधित स्वरूप होता है । (अर्थात् लक्षणा मुख्य अर्थ के बाध में ही होती है–**मुख्यार्थबाधविषयिणी वृत्ति र्हि लक्षणा**) । (और दूसरी) **विवक्षितान्यपरवाच्य** (नामक ध्वनि) अभिधामूलक होती है । (अर्थात् अभिधा का आश्रय लेकर ध्वनि का आविर्भाव होता है) इसीलिये ही (अभिधामूलक होने के कारण ही) इसमें (विवक्षितान्यपरवाच्य में) वाच्य (अभिधेय) अर्थ विवक्षित होता है । [यदि अभिधेय अर्थ विवक्षित न रहे तो वह ध्वनि अभिधामूलक ही न हो सके । परन्तु विवक्षित होने

परं व्यङ्ग्यनिष्ठम्। अत्र हि वाच्योऽर्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यङ्ग्यार्थस्य प्रकाशकः। यथा—प्रदीपो घटस्य। अभिधामूलस्य बहुविषयतया पश्चान्निर्देशः। अविवक्षितवाच्यस्य भेदावाह—

अर्थान्तरं संक्रमिते वाच्येऽत्यन्तं तिरस्कृते।
अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनिर्द्वैविध्यमृच्छति ॥ ३ ॥

पर भी यहाँ अभिधेय अर्थ "अन्यपरक अर्थात् व्यंग्यार्थ को प्रधानतया द्योतन करने में व्यापृत रहता है। अतएव इसे "विवक्षितान्यपरवाच्य" कहते हैं। [विवक्षितान्यपरवाच्य शब्द के अन्तर्गत "अन्यपरं" शब्द की व्याख्या करते हैं।] **अन्यपरम् अर्थात्** व्यंग्यनिष्ठ (ऐसा कहकर "गुणीभूतव्यंग्य" से व्यवच्छेद कर दिया।) [वाच्यार्थ की व्यंग्यपरता का प्रतिपादन करते हैं] **अत्र हीति**—इसमें (विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में) वाच्य अर्थ अपने स्वरूप का प्रकाश करता हुआ ही व्यंग्यार्थ का प्रकाश करता है। (अर्थात् वाच्य अर्थ अपनी उपस्थिति के द्वारा ही शब्द बोध के प्रति कारण होता है) **यथा**—जिसप्रकार दीपक घट का ("घट" केवलमात्र उपलक्षण है, अतः घट, पटादि का ग्रहण हो जावेगा। अर्थात् जिसप्रकार दीपक अपने स्वरूप को प्रकाशित करना हुआ ही घट पटादि को प्रकाशित करता है उसीप्रकार वाच्यार्थ अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ ही व्यंग्यार्थ को प्रकाशित करता है।]। [शंका—कारिका के अन्दर "विवक्षितान्यपरवाच्य" अभिधामूलक होने के कारण और पहले बुद्धि का विषय होने के कारण उसका प्रथम उपादान करना चाहिये था बाद में उसका उपादान क्यों? इसका उत्तर देते हैं।] **अभिधामूलस्येति**–["अभिधामूलक ध्वनि" के बहुविषयक होने के कारण बाद में निर्देश किया है। (और "लक्षणामूलक ध्वनि" के अल्प विषयक होने के कारण "**सूचीकटाहन्याय**" से पहले निर्देश किया है)।

टिप्पणी—यद्यपि, "अविवक्षितवाच्य" में शब्द ही व्यञ्जक है तथापि अर्थ की भी सहकारिता विनष्ट नहीं होती है, नहीं तो अज्ञात अर्थवाला भी शब्द उसका व्यञ्जक हो जावेगा और "विवक्षितांन्यपरवाच्य" में शब्द की भी सहकारिता होती ही है क्योंकि विशिष्ट शब्द की अभिधेयता के विना उस अर्थ की व्यञ्जकता का अभाव होगा। अतः सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वनन व्यापार होता है।

अवतरणिका—पूर्वोक्त क्रम के अनुसार "लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनि" के भेदों को दिखाते हैं।

अर्थ—(१) (लक्षणामूलक) **अविवक्षितवाच्यध्वनि** (अविवक्षितो वाच्यो–मुख्यार्थो यत्र तस्य) के भेदों को दिखाते हैं।

(लक्षणामूलक) **अविवक्षितवाच्यध्वनि** भी (१) वाच्य के (मुख्यार्थ के) अर्थान्तर में संक्रमित होने पर (अर्थात् उपादानलक्षणा से अपने विशेष अर्थ को प्राप्त होने पर **अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य**) और (२) वाच्य के (मुख्यार्थ के) सर्वथा तिरस्कृत होने पर (किसी भी रूप से अन्वय में प्रविष्ट न होने पर अर्थात् लक्षण-लक्षणा से सर्वथा ही प्रतीति का अविषय होने पर **अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य**) द्विविधता को प्राप्त होती हैं।

अविवक्षितवाच्यो नाम ध्वनिरर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्विविधः।

यत्र स्वयमनुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्वविशेषरूपेऽर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपार्थान्तरसंक्रमितत्वादर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वम्।

यथा—

'कदली कदली, करभः करभः, करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥'

टिप्पणी—(१) काकाक्षिगोलकन्याय से "वाच्यम्" का सम्बन्ध दोनों ओर लगता है।

(२) लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद हैं—(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य।

अर्थ—"अविवक्षितवाच्य" नामक ध्वनि (१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और (२) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य इसप्रकार दो प्रकार की होती है। (१) (अर्थान्तरसंकुमितवाच्य का लक्षण) जहाँ (प्रकृत अन्वय में) किसी कारण से अपने अन्वय के बोध को उत्पन्न करने में असमर्थ होता हुआ वाच्य (मुख्य) अर्थ अपने विशेषस्वरूप अर्थान्तर में (उपादानलक्षणा के द्वारा) परिणमित होता है (विशेष रूप से भासित होता है), वहाँ मुख्य (वाच्य) अर्थ के (अपने स्वरूप से प्रकृत अन्वय में अनुपयुज्यमान (बाधित) अभिधा के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ के) अपने विशेष रूप अर्थान्तर में सक्रमित होने के कारण (विशेष रूप से भासित होने के कारण) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (कहलाता) है। [एतेन मुख्यार्थस्य मुख्यताऽवच्छेदकरूपेण प्रकृतान्वयानुपयोगित्वं बाधः, तस्यैव विशेषान्तररूपेण बोधः इतीयमुपादानलक्षणा इति सूचितम्।] (यह अन्वर्थ संज्ञा है।)।

("अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि" का उदाहरण) यथा-कदलीति—प्रसङ्ग—"प्रसन्नराघव" में किसी रमणी को देख कर किसी रसिक व्यक्ति की उक्ति है।

अर्थ—कदली (केला) कदली है (अर्थात् अत्यन्त शीत है) (अतः वह कदली अनुष्णशीतरूप इसके उरुयुगलों का सादृश्य नहीं कर सकती है।) करभ (पाणिपार्श्व-भाग) (आमणिबन्धात् कनिष्ठाऽन्तो हस्तस्य बाह्यभागः=हाथ की छोटी अँगुली से पहुंचे तक हथेली के बाहरी भाग को "करभ" कहते हैं] करभ है (अर्थात् अत्यन्त ह्रस्व है) (अतः वह अत्यन्त ह्रस्व पाणिपार्श्व भाग यथासम्भव विस्तृत इसके उरुयुगल की समानता नहीं कर सकते।], श्रेष्ठ हाथी की शुण्डा करिश्रेष्ठ शुण्डा ही है (अर्थात् अत्यन्त कर्कश है) [अतः वह हाथी की श्रेष्ठ शुण्डा भी अतिमृदुल इसकी उरुयुगल की समानता नहीं कर सकती) (इस कारण से) अजिनयोगिमृग विशेष की (चमूरु) आँखों के समान हैं आँखे जिसकी ऐसी के (अर्थात् मृगलोचना नायिका के) ये उरुयुगल तीनों लोकों में भी (एक या दो लोकों का तो कहना ही क्या है।) सादृश्य को नहीं धारण करती हैं। [रमणी के उपमेय उरुयुगलों का तीनों लोकों में भी कदली-करभ-करिराजशुण्डा तथा इतर उपमानों के अन्दर सादृश्य का अभाव होने के कारण वे निरुपमेय हैं, ऐसा आशय है।]।

अत्र द्वितीयकदल्यादिशब्दाः पौनरुक्त्यभिया सामान्यकदल्यादिरूपे मुख्यार्थे बाधिता जाड्यादिगुणविशिष्टकदल्यादिरूपमर्थं बोधयन्ति । जाड्याद्य-तिशयश्च व्यङ्ग्यः ।

यत्र पुनः स्वार्थं सर्वथा परित्यजन्नर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्या-त्यन्ततिरस्कृतत्वादत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम् ।

अवतरणिका—शंका–कदली आदि पदों का अतिशीतता आदि अर्थ कहाँ से निकल आया क्योंकि उस अर्थ का संकेत कहीं से भी उपलब्ध नहीं हो रहा है ? इसका उत्तर देते हैं ।

अर्थ—यहाँ पर (उदाहृत पद्य के अन्दर) दूसरी बार पढ़े हुये (जिनके अतिशीततादि अर्थ प्रतिपादित किये हैं) कदली आदि शब्द ("**आदि**" पद से करभ और करिराजशुण्डा का ग्रहण होता है) पुनरुक्ति दोष के भय से (ऐसा कहकर मुख्यार्थबाध के प्रति हेतु का प्रतिपादन कर दिया) सामान्य कदली आदि रूप मुख्य (वाच्य) अर्थ में बाधित होकर (प्रकृत अन्वय में अनुपयोगिता को प्राप्त होकर) (यह हेतु लक्षणा में दिखाया है) शैत्य है (जाड्यम्) आदि में जिसके ऐसे (अर्थात् शैन्य, ह्रस्वत्व और कर्कशत्वरूप) गुण से विशिष्ट कदली आदि रूप अर्थ को (उपचार से) बोधित करते हैं । [यद्यपि शैत्यादि जलादि में ही हैं तथापि उसकी परम्परा से कदली आदि में भी शैत्यादि को समझ लेना चाहिये । और यह भी नहीं कहना चाहिये कि शैत्यादिकों के अन्यत्र भी होने के कारण कदल्यादि के अन्दर व्याप्यता कैसी है ? क्योंकि शैत्यादि विशेष का ही यहाँ कथन किया गया है] और शैत्यादि ('आदि' पद से ह्रस्वत्व और कर्कशत्व का ग्रहण होता है) का अतिशय व्यंग्य है अर्थात् प्रयोजन-मूला लक्षणा के बोध का विषय है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर सभी स्थलों पर मुख्यार्थ का अभेद सम्बन्ध है । और इसप्रकार कदली अत्यन्त शीत है, करभ अत्यन्त ह्रस्व है और करिराज की शुण्डा अत्यन्त कर्कश है इसप्रकार चमूरु के नयनों के समान नयनों वाली का यह उरुयुगल सादृश्य रहित है ।

(२) यहाँ व्यतिरेकालंकार व्यंग्य समझना चाहिये ।

अवतरणिका—इसप्रकार "**अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि**" भेद का प्रतिपादन करके "**अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि**" भेद का प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—( ) (**अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि**" का लक्षण) जहाँ फिर (शब्द) अपने अर्थ को (अपने संकेतित अर्थ को) सर्वथा छोड़ते हुये (गौणरूप से भी प्रतिपादन न करता हुआ) अर्थान्तर में (मुख्य अर्थ से भिन्नार्थ में) (लक्षणलक्षणा से) परिणमित होता है वहाँ मुख्यार्थ के अत्यन्ततिरस्कृत होने के कारण (सर्वथा बाध होने के कारण । **अत्यन्तः तिरस्कृतः—अग्रहीतसम्पर्कः वाच्यः–मुख्यार्थो यत्र तस्य भावस्तत्वम्**) "**अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि**" है ।

यथा

निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।

अत्रान्धशब्दो मुख्यार्थे बाधितेऽप्रकाशरूपमर्थं बोधयति, अप्रकाशातिशयश्च व्यङ्ग्यः।

("अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि"[1] का उदाहरण) यथा–निःश्वासान्ध इति—

प्रसङ्ग—वाल्मीकीय रामायण के अरण्यकाण्ड के १६वें सर्ग में शूर्पणखा के होने वाले कोमोद्दीपन के द्योतन के लिये लक्ष्मण के मुख से हेमन्त वर्णन के अवसर पर पञ्चवटी में राम की उक्ति है। सम्पूर्ण श्लोक इसप्रकार है।

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥ इति।

अर्थ—निःश्वास से (मुख और नासिका से निकली हुई वायु से) अन्धे (मलिन) दर्पण की तरह (कुहरे में) चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता है।

यहाँ पर (प्रकृत उदाहरण में) अन्ध शब्द मुख्य अर्थ में (लोचनहीन रूप अर्थ में) बाधित होकर (अपने स्वरूप से उपस्थित न होकर) (दृष्टिशक्ति का न होना अचेतन दर्पण में असम्भव है, अतः यहाँ पर मुख्यार्थ का बाध समझना चाहिये) अप्रकाश रूप (बिम्ब को ग्रहण करने की शक्ति से शून्य) अर्थ को (लक्षणलक्षणा से) प्रतिपादित करता है। (**प्रश्न**—तो फिर "अप्रकाश" शब्द का ही ग्रहण क्यों नहीं कर दिया?) **उत्तर**—और अप्रकाशत्व का आधिक्य व्यंग्य है (प्रयोजनमूलालक्षणा का प्रयोजनरूप अर्थ है।)।

टिप्पणी–(१) यद्यपि "**अन्धं स्यात्तिमिरे क्लीवे चक्षुर्हीनेऽभिधेयवत्**" इति "मेदिनीकोष" कार के अनुसार "**अन्धं तमस्यपि**" इति "अमरकोष" कार के अनुसार "**अन्धः**" शब्द प्रकाश के अभावरूप तिमिर के अर्थ में भी निर्दिष्ट प्राप्त होता है तथापि उस अर्थ वाले "अन्ध" शब्द का केवल नपुंसकलिंग के अन्दर ही प्रयोग स्वीकार किया गया है, अतः इस प्रकृत उदाहरण के अन्दर "अन्धः" शब्द का तिमिर अर्थ करना अनुपयोगी है।

(२) **लोचनकार** का मत दिखाते हैं—"अन्ध" शब्द का अर्थ है उपहतदृष्टि होना और उपहतदृष्टि जन्म के अनन्तर किसी कारण से हो जाती है। **प्रश्न**—अच्छा तो फिर जात्यन्ध होने पर "अन्ध" शब्द का कैसे व्यवहार होगा? **उत्तर**—जात्यन्ध की भी दृष्टि का उपहत होना गर्भ में ही हो जाने के कारण "अन्ध" शब्द का व्यवहार हो जाता है और जो अनुपहतदृष्टि वाले के प्रति भी "**अन्धोऽयं पुरो न पश्यति**" का प्रयोग होता है वह केवल उस व्यक्ति के तिरस्कार को द्योतन करने के लिये प्रमाद के कारण मुख्यार्थ का बाध होता है। परन्तु यहाँ प्रकृत उदाहरण में दर्पण के अन्दर "अन्धत्व" का आरोप भी सहन नहीं हो सकता है क्योंकि दर्पण के अन्दर दृष्टि का सर्वथा अभाव है। अतः यहाँ "अन्ध" शब्द का मुख्यार्थ बाधित होने के कारण उससे

लक्षणा द्वारा "अप्रकाश रूप" अर्थ बोधित होता है। "**भट्टनायक**" ने जो इसप्रकार अन्वय किया है कि "**निःश्वासान्ध इव य आदर्शस्तद्रूपश्चन्द्रमाः**" यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ पर दर्पण और चन्द्रमा का सादृश्य "**इव**" शब्द द्योतित कर रहा है। "निःश्वासान्धः" यह "आदर्शः" का विशेषण है। "इव" शब्द के "अन्ध" के साथ जोड़ने पर दर्पण और चन्द्रमा उदाहरण हो जायेंगे और यह "**इव**" शब्द की योजना क्लिनष्ट है। और नहीं "**निःश्वासेनान्ध इवादर्शः स इव चन्द्रमाः**" इस अन्वय की योजना ठीक है क्योंकि यह योजना जैमिनीयसूत्र में तो ठीक हो सकती है, काव्य के अन्दर नहीं।

अवतरणिका—शंका—यहाँ पर "अन्ध" शब्द के अर्थ से सामर्थ्य के अवच्छेदक से भिन्न अप्रकाशत्व रूप अर्थ का बोध होने से अर्थान्तरसंक्रमित होने से "**अर्थान्तर-संक्रमितवाच्यध्वनि**" क्यों नहीं है? इसका **उत्तर** देते हैं—

अर्थ—अन्धत्व (नेत्रों से रहित होना) और अप्रकाशत्व (चमक से रहित अर्थात् मलिन) (यहाँ चाक्षुष ज्ञान के उत्पन्न न होने रूप एक धर्म से मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध समझना चाहिये) का सामान्य-विशेषभाव न होने से (अर्थात् व्यापक-व्याप्यभाव न होने से) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता नहीं है।

टिप्पणी(१)-अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि वहीं होती है जहाँ मुख्यार्थ के अवच्छेदक और लक्ष्यार्थ के अवच्छेदक का सामान्य-विशेषभाव होता है अर्थात् मुख्यार्थ व्यापक हो और लक्ष्यार्थ व्याप्य हो। **यथा—"त्वामस्मि वच्मि"** इत्यादि में। यहाँ प्रकृत उदाहरण में लक्ष्यता का अवच्छेदक "अप्रकाशत्व" सामान्य है और 'अन्धत्व" विशेष हैं, अतः वैसा न होने से "अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य" नहीं है। और न काव्यप्रकाशकार द्वारा दिया हुआ उदाहरण ही—

"यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति" ।।इति।

हो सकता है क्योंकि मित्रत्वादि मुख्यता के अवच्छेदकों का लक्ष्यता के अवच्छेदक आश्वस्तत्व—नियन्त्रणीयत्व और स्नेहपात्रत्वों के साथ सामान्य और विशेष-भाव का अभाव है। क्योंकि यहाँ पर "आश्वस्तादि विशेष" के ही विवक्षित होने के कारण।

(२) **अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य** और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य में अन्तरः—

(१) **यत्र सामान्यार्थे तद्विशेषार्थस्य** प्रतीतिस्तत्र अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम्।

(२) **मुख्यार्थस्य** सर्वथा परित्यागे तु अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम् इत्यनयोर्भेदः।

अवतरणिका— "भम धम्मिअ"—इत्यादि में विपरीतलक्षणा के न होने से लक्षणामूलक "अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि" का यह उदाहरण हो सकता है। इसप्रकार संशयालु के प्रति कहते हैं—

यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो, सो सुणओ अज्ज मारिओ देण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥
[भ्रम धार्मिक! विस्रब्धः स श्वाऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥]

अत्र 'भ्रम धार्मिक—' इत्यतो भ्रमणस्य विधिः प्रकृतेऽनुपयुज्यमानतया भ्रमणनिषेधे पर्यवस्यतीति विपरीतलक्षणाशङ्का न कार्या । यत्र खलु विधिनिषेधावुत्पत्स्यमानावेव निषेधविध्योः पर्यवस्यतस्तत्रैव तदवसरः ।

अर्थ—(अभिधामूलकध्वनि से उक्त लक्षणामूलक **"अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि"** का भेद दिखाने के लिये सन्दिग्ध उदाहरण देते हैं ।) **यथा-भमेति**—

प्रसङ्ग—आश्रमनिवासिनी किसी व्यभिचारिणी की गोदावरी के कुञ्ज वाले संकेत स्थल पर प्रतिदिन पुष्पों का चयन करने से संकेत के भङ्ग हो जाने पर तथा अपने मनोरथ को भङ्ग करने वाले, अपने पाले हुये कुत्ते के उपद्रव से भी पुष्पावचयन से न रुकने वाले किसी धार्मिक के प्रति उसी की दूसरे दिन यह उक्ति है—

अर्थ—(हे) धार्मिक ! (धर्मं धरतीति धार्मिक; तत्सम्बुद्धौ) निःशङ्क होकर (कुत्ते के उपद्रव के न होने के कारण आश्वस्त होकर पुष्प चयन करने के लिये) घूम, आज वह कुत्ता (जो प्रतिदिन तुमको परेशान किया करता था) गोदावरी के किनारे पर विद्यमान कुञ्ज के अन्दर रहने वाले उस (प्रसिद्ध) प्रचण्ड सिंह ने मार दिया ।

टिप्पणी—कहने का आशय यह है कि अभी तक तो तुम्हारे लिये केवल कुत्ते का ही उपद्रव था परन्तु आज साक्षात् दृप्त सिंह आ गया है। ऐसी अवस्था में यदि वहाँ पर पुष्पचयन के लिये जाओगे तो तुम्हारा मरण निश्चित है, अतः वहाँ पुष्प चयन करने के लिये घूमने मत जाओ ।

अवतरणिका—उक्त उदाहरण के अन्दर "**भ्रम**" इसका "**न भ्रम**" इस अर्थ में तात्पर्य के कारण लक्षणलक्षणात्मक विपरीत लक्षणा से **अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि** है । इसप्रकार की आशंका करने वालों के आशय का निराकरण करते हैं ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण के अन्दर) "(हे) धार्मिक ! (निःशङ्क होकर) भ्रमण करो" ऐसा कहने से भ्रमण करने की विधि (घूमने के लिये अनुज्ञा) प्रकृत में (कुलटा के तात्पर्य के विषयीभूत स्वच्छन्द विहार करने में) अनुपयुक्त होने के कारण भ्रमण करने के निषेध में (भ्रमण नहीं करना चाहिये, इस कथन में) परिणत होती है । अतः (इस कारण से) विपरीत लक्षणा की (विरुद्ध अर्थ की प्रतिपादिका लक्षणा की) (अर्थात् लक्षणामूलक अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि की) आशंका (सम्भावना) नहीं करनी चाहिये) (**प्रश्न**—"लक्षणामूलक अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि" की आशंका क्यों नहीं करनी चाहिये ? फिर इसका विषय क्या है ? इसका **उत्तर** देते हैं ।] जिस वाच्य में विधि और निषेध, उत्पन्न होते ही (वाक्य के अर्थबोध की उत्पत्ति की दशा में ही) निषेध और विधि में परिणत हो जाते हैं (अर्थात् विधिवाक्य सुनने के साथ ही निषेध का और निषेधवाक्य सुनने के साथ ही पुनः विधि का बोध करा देता है) वहीं (उसीप्रकार के स्थल पर) उसका(विपरीत लक्षणामूलक अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का) अवसर है । [इसप्रकार यहाँ लक्षणामूलकध्वनि का अवसर नहीं है ।] ।

यत्र पुनः प्रकरणादिपर्यालोचनेन विधिनिषेधयोर्निषेधविधी अवगम्येते तत्र ध्वनित्वमेव ।

तदुक्तम्—

'क्वचिद् बाध्यतया ख्यातिः क्वचित्ख्यातस्य बाधनम् ।
पूर्वत्र लक्षणैव स्यादुत्तरत्राभिधैव तु ॥'

टिप्पणी—(१) वाक्य के अर्थ के बोध की उत्पत्ति की दशा में अन्वयबोध से पूर्व "विधि" का निषेध में पर्यवसान का उदाहरण-यथा—

**"गच्छ गच्छसि चेत्कान्त ? पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयात् यत्र गतो भवान् ॥"**

यहाँ **"गच्छ"**=जाओ के विधि-ज्ञान के समय ही **"न गच्छ"**=मत जाओ-इस निषेध की प्रतीति से **"विपरीत लक्षणामूलक अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य"** रूप ध्वनि है ।

(२) इसीप्रकार निषेध का विधि में पर्यवसान—**यथा**—

**"श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवस एव प्रविलोकय ।
मा पथिक ! रात्र्यन्धक ? शय्यामावयोर्निमङ्क्ष्यसि" ॥**

यहाँ स्वयंदूती की उक्ति में गमन निषेध का अपनी शय्या पर आगमन विधि में लक्षणा से पर्यवसान है ।

अर्थ—और जहाँ (**भ्रम धार्मिक ? इत्यादौ**) पुनः प्रकरणादिकों के पर्यालोचन से विधि और निषेध के अन्दर (क्रमशः) निषेध और विधि प्रतीत होते हैं, वहाँ (अभिधामूलक) "ध्वनि" ही होती है (लक्षणामूलक ध्वनि नहीं) ।

टिप्पणी—इसप्रकार **"भम धम्मिअ"** इत्यादि में पहले भ्रमण की विधि ही प्रतीत होती है किन्तु बाद में ही उस कुलटा के प्रकरणादि से प्रतीति होने पर **"न भ्रम"** इसप्रकार का भ्रमण में निषेध व्यञ्जना के द्वारा ही प्रतीत होता है । अतः **"अभिधामूलकवस्तुध्वनि"** ही है । **"उपकृतं बहु तत्र"** इत्यादि की तरह **"विपरीत लक्षणामूलक अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि"** नहीं समझनी चाहिये ।

अवतरणिका—उक्त अर्थ के विषय में प्राचीनों की सम्मति दिखाते हैं—

अर्थ—कहा भी है कि—कहीं (किसी प्रयोग के अन्दर) बाध्य होने से (अनुपपन्न होने के कारण विपरीत अर्थ में पर्यवसान होने से) ख्याति अर्थात् अन्वय-ज्ञान होता है । [**यथा**—**"गंगायां घोषः"** इत्यादि में घोष के रहने का अथवा **"उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते"** ऐसा अपकारी के प्रति कह कर उपकार का पहले ही बाध्य होने के कारण **अन्वयबोध** होता है ।] कहीं (किसी प्रयोग के अन्दर) ख्याति का (उपपन्न होने के कारण अन्वय बोध के विषयीभूत का) बाध (विपरीत अर्थ में पर्यवसान) होता

अत्राद्ये मुख्यार्थस्यार्थान्तरे संक्रमणं प्रवेशः, न तु तिरोभावः। अत एवात्रा-जहत्स्वार्था लक्षणा। द्वितीये तु स्वार्थस्यात्यन्तं तिरस्कृतत्वाज्जहत्स्वार्था।

है। [**यथा—"निःशेषच्युतचन्दनम्"** इत्यादि में)। (उन दोनों में से) प्रथम स्थल पर (**यत्र बाध्यतया ख्यातिः**) लक्षणामूलक ध्वनि ही होती है। (वहाँ पर लक्षणा के बिना अन्वयबोध के असम्भव होने से लक्षणामूलक व्यञ्जना से प्रतिपाद्य ध्वनि ही उचित होती है।) (और) दूसरे स्थल पर (**ख्यातस्य बाधनम्**)अभिधामूलकध्वनि ही होती है। (वहाँ पर अभिधा से ही अन्वयबोध के उत्पन्न होने पर लक्षणाश्रित अर्थ के अयुक्त होने के कारण अभिधामूलकव्यञ्जना से प्रतिपाद्य ध्वनि ही न्याय्य है।) [इसप्रकार निषेध और विधि की व्यंग्यता ही प्रदर्शित की है।]।

टिप्पणी—इसप्रकार प्राचीनों की सम्मति में भी "**गच्छ गच्छसि चेत्कान्त** ?" इत्यादि में सर्वथा ही प्रियतम के वियोग को न सहन करने वाली नायिका का उसके वियोग के घटक जाने की सम्मति के अत्यन्त असम्भव होने के कारण "**गच्छ**" इस विधि की प्रतीति के समय ही बाध ज्ञान से विपरीत लक्षणा के द्वारा "**न गच्छ**" इस निषेध प्रतीति से लक्षणमूलकव्यञ्जना से प्रतिपाद्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि ही है। "'**भम धम्मिअ**" इत्यादि में तो '**भ्रम**" इस विधि के सुनने के समय में बाधज्ञान के अभाव होने से उसके भ्रमण में अपने स्वच्छन्द आनन्द विहार में बाधा है—इसप्रकार प्रकरण की पर्यालोचना के अनन्तर बाधज्ञान की उत्पत्ति से "**भ्रम**" इस वाच्य रूप भ्रमण के विरोधी रूप अर्थ के "**न भ्रम**" इसप्रकार निषेध रूप व्यंग्यार्थपरक होने से विवक्षितान्यपरवाच्य इस व्युत्पत्ति के होने से यहाँ अभिधामूलकध्वनि ही न्याय्य है। यह पूर्वापर ग्रन्थ के सन्दर्भ का आशय है।

अवतरणिका—इसप्रकार **लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनि** के **अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य** और **अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य** रूप से दो प्रकार के भेदों का कथन करके और उनके उदाहरण देने के उपरान्त उन दोनों की परिभाषा के मूलबीज को दिखाते हैं।

अर्थ—यहाँ अर्थात् लक्षणामूलकध्वनियों में से पहली में (**अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य लक्षणामूलकध्वनि में**) मुख्यार्थ का (**कदली कदली** इत्यादि में दूसरे "कदली" आदि पदों का सामान्य कदली आदि रूप अभिधेयार्थ का) अर्थान्तर में (शैत्यादि गुण वैशिष्ट कदली आदि रूप में) संक्रमण (प्रवेश) हो जाता है, (मुख्यार्थ का) तिरोभाव नहीं होता है। अतएव **अजहत्स्वार्थालक्षणा** है। [**स्वार्थं स्वाश्रयशब्दस्य मुख्यार्थम् अजहती उपस्थापयन्ती अजहत्स्वार्था**] और दूसरी में तो (**अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि में**) अपने अर्थ के ("**निःश्वासान्धः**" इत्यादि में दृष्टि शक्ति के राहित्य रूप अन्ध पद के वाच्य अर्थ के) अत्यन्त तिरस्कृत होने के कारण (किसी भी रूप में बोधित न होने के कारण) **जहत्स्वार्थालक्षणा** है। (**स्वार्थं जहती अनुपस्थापयन्ती जहत्स्वार्था**]।

विवक्षिताभिधेयोऽपि द्विभेदः प्रथमं मतः ।
असंलक्ष्यक्रमो यत्र व्यङ्ग्यो लक्ष्यक्रमस्तथा ।।४।।

विवक्षितान्यपरवाच्योऽपि ध्वनिरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-श्चेति द्विविधः।

अवतरणिका—(२) लक्षणामूलकध्वनि[(१) **अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (२) अत्य-न्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि**] का प्रतिपादन करके **अभिधामूलकविवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि** का प्रतिपादन करते हैं।

अर्थ—विवक्षित है (व्यंग्यार्थपरक होने के कारण वक्तव्य है अर्थात् अबाधित स्वरूप है) अभिधेय (मुख्यार्थ) जिसका ऐसी (ध्वनि) भी (**विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि** भी) पहले दो प्रकार की मानी गई है(बाद में पुनः दूसरे भेदों का कथन किया जायेगा, ऐसा भाव है) [उन भेदों को दिखाते हैं] जिसमें (**विवक्षिताभिधेयध्वनि में**) व्यंग्य (व्यञ्जना से बोध्य अर्थ) सम्यक् रूपेण लक्षित नहीं हो रहा है पौर्वापर्य क्रम जिसका ऐसा, वह **असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य** होता है तथा जिसमें व्यंग्य का पौर्वापर्य क्रम लक्षित होता है वह **संलक्ष्यक्रमव्यंग्य** कहाता है।

टिप्पणी—(१) **असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य** की व्युत्पत्ति—**सम्यङ् न लक्षयितुं शक्यः क्रमः पौर्वापर्यः यस्य तादृशो व्यंग्यो यस्मिन् सः असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यः**" अर्थात् जहाँ स्फुट प्रकरण में शीघ्र ही विभाव-अनुभाव और व्यभिचारीभावों के प्रतीत होने पर सहृदयों में धुरीण प्रमाता के द्वारा थोड़े ही समय में प्रतीत हो जाते हैं इसप्रकार पौर्वापर्य क्रम के असंलक्षित होने के कारण "**असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य**" कहा जाता है।

(२) **संलक्ष्यक्रमव्यंग्य** की व्याख्या—जहाँ पर प्रकरण विचार से जाना जाता है अथवा जहाँ पर विभावादि उन्नेय होते हैं वहाँ सामग्री के विलम्बाधीन होने के कारण चमत्कृति की मन्थरता से **संलक्ष्यक्रमव्यंग्य** होता है।

अवतरणिका—"**विवक्षिताभिधेय**"—इसके अर्थ को दिखाते हैं—

अर्थ—"**विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि**" भी (१) **असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और** (२) **संलक्ष्यक्रमव्यंग्य**" इसप्रकार दो प्रकार की होती है।

टिप्पणी— सरस काव्य में झटिति आस्वादपर्यन्त पहुंच जाने के कारण रसादिकों की प्रतीति में विलम्ब नहीं होता है, परन्तु नीरस काव्य में प्रतीति के अन्दर विलम्ब होने से उसकी सजातीयता से "संलक्ष्यक्रम" का व्यवहार होता है। **प्रश्न**—सभी स्थलों पर भाव के निरूपण के अनन्तर अभाव का निरूपण होता है: अतः यहाँ पर भी संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के निरूपण के अनन्तर ही असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का भी निरूपण करना उचित था। पुनः किसलिये असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के निरूपण के अनन्तर संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का निरूपण किया है।? **उत्तर**—ठीक है। क्योंकि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य तो केवल एक प्रकार का है और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य १५ प्रकार का है, अतः सूचीकटाहन्याय से असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का ही पहले निरूपण किया है। **अथवा** दोनों का ही विषय समान है अतः उक्त न्याय की प्रवृत्ति के अनुसार यहाँ पर भाव और अभाव के अन्दर पौर्वापर्य के नियम से असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के आनन्दस्वरूप होने के कारण और सहृदय हृदयों को प्रिय होने के कारण तथा इसकी प्रधानता के कारण इसका पहले निरूपण किया है, ऐसा समझना चाहिये।

तत्राद्यो रसभावादिरेक एवात्र गण्यते।
एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात् संख्येयस्तस्य नैव यत् ॥५॥

उक्तस्वरूपो भावादिरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः। अत्र व्यङ्ग्यप्रतीतेर्विभावादिप्रतीतिकारणकत्वात् क्रमोऽवश्यमस्ति किन्तूत्पलपत्रशतव्यतिभेदवल्लाघवान्न संलक्ष्यते। एषु रसादिषु च एकस्यापि भेदस्यानन्तत्वात्संख्यातुमशक्यत्वादसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिनाम काव्यमेकभेदमेवोक्तम्। तथाहि–एकस्यैव शृङ्गारस्यैकोऽपि संभोगरूपो भेदः परस्परालिङ्गनाधरपानचुम्बनादिभेदात् प्रत्येकं च विभावादिवैचित्र्यात्संख्यातुमशक्यः, का गणना सर्वेषाम्।

अवतरणिका—अभिधामूलक **विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि** के दो भेद बताकर उनमें से पहली **असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि** के स्वरूप को सहेतुक दिखाते हैं।

अर्थ—(१) उनमें से (**असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य** और **संलक्ष्यक्रमव्यंग्य** इन दोनों में से) पहला (**असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य**) रसभावादि ('आदि' पद से रसाभासादि का ग्रहण होता है) एक प्रकार का ही यहाँ (काव्यभेदों की गणना के समय) गिना जाता है। (**प्रश्न**—जितने रसभावादि हैं उतने ही इसके प्रकार हो जावें, केवल एक प्रकार का क्यों कहा है? इसका उत्तर देते हैं) **एक इति**—क्योंकि उसका (व्यंग्य का) एक भी भेद अनन्त होने के कारण गिना नहीं जा सकता है। (फिर सबका वर्णन करना तो दूर की बात है) (इसीलिये **रसभावादि** नामक **असंक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि** एक प्रकार की ही होती है।]

उक्तेति—जिसका लक्षण पहले कह आये हैं वे भावादि **असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य** (होते) है। **अत्रेति**—यहाँ व्यंग्य की ("**असंलक्ष्यक्रम**" रूप से अभिमत व्यंग्य की) प्रतीति के विभावादिकों की प्रतीति के कारण होने के कारण क्रम अवश्य है। [कहने का आशय यह है कि व्यंग्य की प्रतीति का कारण विभावादिकों की प्रतीति है और विभावादिकों की प्रतीति के अन्दर क्रम है अर्थात् विभाव की प्रतीति के अनन्तर अनुभाव की प्रतीति होती है, अनुभाव की प्रतीति के अनन्तर सञ्चारीभाव की प्रतीति होती है इसप्रकार का क्रम अवश्य है क्योंकि "**प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते**" तथा "**तत्समूहालम्बनप्रतीतिस्तु रस एव**" इसप्रकार प्रत्येक रस की प्रतीति में कारण है।] किन्तु कमल के सौ पत्तों के छेद की तरह रस भावादि की अत्यन्त शीघ्र प्रतीति होने के कारण(लाघवात्) (उसप्रकार के कार्य कारण का पौर्वापर्य सम्यक्तया) लक्षित नहीं होता है। [कहने का भाव यह है कि जिसप्रकार कमल के अनेक पत्तों को एक सुई के द्वारा छिद्र करने से एक समय में ही छिद्र हो जाने से किस पत्ते के अन्दर पहले छिद्र हुआ और किसके अन्दर पीछे छिद्र हुआ, यह छिद्र करने वाला भी युगवत् हो जाने के कारण समझ नहीं सकता है उसीप्रकार कारण-कार्यभूत विभावादि की प्रतीति और रसभावादि की प्रतीति के एक समय ही उत्पन्न होने के कारण सहृदय सामाजिक भी क्रम का निर्धारण नहीं कर सकते हैं।] **एष्विति**—और इन रसादिकों में से एक भी भेद के अनन्त होने के कारण परिगणना न हो सकने से "**असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि**" नामक काव्य का एक ही भेद कहा है। (इसी की पुष्टि

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थे व्यङ्ग्येऽनुस्वानसन्निभे ।
ध्वनिर्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्त्रिविधः कथितो बुधैः ॥६॥

करते हैं । **तथाहीति**—एक ही शृंगार का एक भी सम्भोग रूप भेद परस्पर आलिङ्गन, अधरपान और चुम्बनादि के भेद से और प्रत्येक की विभावादि की विचित्रता के कारण गिना नहीं जा सकता है, फिर यहाँ सबकी (रसों के भेदों की) गणना करने की बात ही क्या ?

अवतरणिका—इसप्रकार **"असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य"** का निरूपण करके **"संलक्ष्य-क्रमव्यंग्यध्वनि"** के भेदों को दिखाते हैं ।

अर्थ--(२) अनुरणन (प्रतिध्वनि) (प्रतिध्वनि से उत्पन्न हुये शब्द के पश्चात् उत्पन्न होने वाला क्रम प्रतीत होता है) के अनुरूप व्यंग्य के शब्द की, अर्थ की और शब्दार्थ की शक्ति से (व्यंजना से) उत्पन्न होने पर (अर्थात् शब्दशक्ति से उत्पन्न होने पर, अर्थशक्ति से उत्पन्न होने पर और शब्दार्थशक्ति से उत्पन्न होने पर) **लक्ष्यक्रम-व्यंग्यध्वनि** विद्वानों ने तीन प्रकार की (अर्थात् (१) **शब्दशक्त्युद्भवध्वनि** (२) **अर्थ-शक्त्युद्भवध्वनि** और (३) **शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवध्वनि**) कही है ।

टिप्पणी—(१) जिसप्रकार घण्टे के बजने पर प्रधान शब्द की प्रतीति के अनन्तर मन्द-मन्द दूसरा उसका प्रतिशब्द उत्पन्न होता है उसीप्रकार जहाँ शब्द की प्रतीति के अनन्तर ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वह (१) **शब्दशक्तिमूलध्वनि** होती है, जहाँ अर्थ की प्रतीति के अनन्तर ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वह (२) **अर्थ-शक्तिमूलध्वनि** होती है, और जहाँ शब्दार्थ की प्रतीति के अनन्तर ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वह (३)**शब्दार्थोभयशक्तिमूलध्वनि** होती है ।

(२) जिसप्रकार ध्वनि और प्रतिध्वनि का क्रम लक्षित होता है उसीप्रकार जहाँ वाच्य और प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति का क्रम लक्षित होता है, वह **"संलक्ष्यक्रम-व्यंग्यध्वनि"** कहलाती है ।

(३) यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि (१) **शब्दपरिवृत्यसहत्वेन शब्दशक्तिमूलत्वम्** (२) **शब्दपरिवृत्तिसहत्वेनार्थशक्तिमूलत्वम्** (३) **अवच्छेदकभेदेन** (**अंशभेदेन**) **तदसहत्व-सहत्वाभ्यां तूभयशक्तिमूलत्वमिति** ।

(४) **प्रश्न**—यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि जहाँ शब्दशक्ति (अभिधा) से दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ यदि ध्वनि का प्रकार मान लिया जावेगा तो शब्दशक्ति से दूसरे अर्थ की प्रतीति कराने वाले श्लेषालंकार का विषय ही समाप्त हो जावेगा क्योंकि श्लेषालंकार का विषय तो पुनः शब्दशक्तिमूलध्वनि से आक्रान्त हो जायेगा । ? **उत्तर**—इसका उत्तर यह है कि जहाँ शब्दनिष्ठशक्ति से साक्षात् अनुत्थापित किसी अन्य अर्थ का आक्षेप किया जाता है वह सम्पूर्ण ध्वनि का विषय होता है और जहाँ शब्दनिष्ठशक्ति से साक्षात् उत्थापित अन्य अर्थ होता है वह सम्पूर्ण श्लेषालंकार का विषय होता है । ध्वनिकार ने भी कहा है—

"आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः" ॥

इसप्रकार यह ध्वनि श्लेष से भिन्न होती है ।

क्रमस्य लक्ष्यत्वादेवानुरणनरूपो यो व्यङ्ग्यस्तस्य शब्दशक्त्युद्भवत्वेन, अर्थशक्त्युद्भवत्वेन, शब्दार्थशक्त्युद्भवत्वेन च त्रैविध्यात्संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यनाम्नो ध्वनेः काव्यस्यापि त्रैविध्यम् ।

तत्र—

वस्त्वलङ्काररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।

अलङ्कारशब्दस्य पृथगुपादानादनलङ्कारं वस्तुमात्रं गृह्यते । तत्र वस्तुरूपः शब्दशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो यथा—

अवतरणिका—कारिका के अन्दर आये हुये **'अनुस्वानसन्निभ'** शब्द की व्याख्या करते हैं ।

अर्थ—क्रम के (व्यंग्यप्रतीति के पौर्वापर्य के)स्फुट प्रतीयमान होने के कारण ही प्रतिध्वनि तुल्य (अनुरणनरूप) जो व्यंग्य है उसके (१) **शब्दशक्युद्भवरूप से** (२) **अर्थशक्त्युद्भवरूप से और** (३) **शब्दार्थशक्त्युद्भवरूप से** त्रिविध होने के कारण **संलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक ध्वनिकाव्य** भी तीन प्रकार का होता है।

(१) उनमें से (**संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि** के तीन भेदों में से) (१) **शब्दशक्त्युद्भवव्यंग्य** (१) वस्तुरूप और (२) **अलंकाररूप** होने से दो प्रकार का होता है। अर्थात् **शब्दशक्त्युद्भवव्यंग्य** के दो भेद हुये—(१) **शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनि** और (२) **शब्दशक्तिमूल अलंकारध्वनि** ।

टिप्पणी—कहने का आशय यह है कि जहाँ कुछ भी अलंकारशून्य प्रतीत होता हुआ चमत्कृत करता है, वहाँ वह **वस्तुध्वनि** कहलाती है । **यथा—"पंथिअ" इत्यादौ**। और जहाँ चमत्कृति का कारण अलंकार प्रतीत होता है वहाँ वह **अलंकारध्वनि** कहलाती है । **रसगंगाधरकार** ने कहा भी है कि—

"अलंकारप्रतीतिश्चेत् स्वयं यत्र चमत्कृतेः ।
अलंकारध्वनिस्तत्र स्याच्चमत्कारकारणम् ॥
यत्र तु स्यादलंकारशून्यमेव चमत्कृतेः ।
तत्र वस्तुध्वनिर्ज्ञेयो भेदस्तु पिककाकवत् ।" इति ॥

अवतरणिका—प्रश्न—"वस्तु" के केवलान्वयी होने से पदार्थमात्र में वस्तुधर्म के होने से अलंकार भी "वस्तु" है, तो फिर भेद किसप्रकार हुआ ? इसका उत्तर देते हैं—

अर्थ—अलंकार शब्द के पृथक् ग्रहण करने से अलंकार रहित वस्तुमात्र का ग्रहण होता है । [अर्थात् सामान्य-विशेष न्याय से वस्तु पद से अलंकार भिन्न समस्त वस्तु का ग्रहण होता है । वस्तुध्वनि में अलंकार रूप वस्तुध्वनि के वैचित्र्य की विशेषता से मुख्यत्व के द्योतन के लिये गोवलीवर्दन्याय से अलंकार का पृथक् ग्रहण किया है। यहाँ **"न विद्यते अलंकार उपमादिकृता शोभा यत्रेति अनलंकारः—"** इस व्युत्पत्ति के अनुसार बहुव्रीहिसमास मानना चाहिये ।] । **तत्रेति**—उनमें से (**वस्तु और अलंकार** ध्वनि में से) (१) **वस्तुरूपशब्दशक्त्युद्भवध्वनि** (अर्थात् शब्दशक्तिमूला वस्तुध्वनि का उदाहरण) **यथा–पंथिअ इति**—

'पन्थिग्र ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
उण्णग्र पग्रोहरं पेक्खिग्र ऊण जह वससि ता वससु ॥'
**(पथिक ! नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस ॥)**
ग्रत्र सत्थरादिशब्दशक्त्या यद्युपभोगक्षमोऽसि तदास्स्वेति वस्तु व्यज्यते ।

प्रसंग—रात्रि में ठहरने के लिये प्रार्थना करते हुये पथिक के प्रति स्वच्छन्द विहारिणी स्वयंदूती की यह उक्ति है—(**स्वयंदूती** का लक्षण—**द्वचर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु**'' इति कामशास्त्र के ग्रनुसार पथिक के प्रति द्वचर्थक पदों से रहस्य को छिपाकर कहती है] ।

ग्रर्थ—(हे) पथिक ! इस पाषाणबहुल ग्राम में थोड़ा (भी) ग्रासन (विस्तर पर बिछाने के वस्त्र) नहीं हैं (हम सब यहाँ पत्थर पर ही सोते हैं ग्रौर किसीप्रकार का शय्याविधान नहीं है ।) (ग्रतः सोने की सामग्री के ग्रभाव में भी) उठे हुये मेघों को देखकर (शीघ्र ही वर्षा होगी ऐसा सोचकर) यदि रहना चाहते हो, तो ठहर जाग्रो (यहाँ किसीप्रकार की रुकावट नहीं है, यह भाव है ।) ।

टिप्पणी—(१) यहाँ निवास के उपयुक्त सोने के वस्त्रादि नहीं है परन्तु यदि वर्षा के कारण जाना ग्रभिमत नहीं है तो यदि ठहरना चाहते हो तो ठहर जाग्रो । इसप्रकार का भाव प्रतीत होता है ।

व्यंग्यार्थस्तु—(२) पाषाणों के बाहुल्य से ग्रध्यवसित मूर्खों के ग्राम में सत्थर (**परदारान्न गच्छेत्** इत्यादि) धर्मशास्त्र ग्रथवा सत्थर (कामशास्त्र) किंचिदपि नहीं है । साहित्य का तो कहना ही क्या है । ग्रतः ग्राकारेङ्गितादि के ज्ञान से रहित होने के कारण निःशङ्क होकर उन्नत (ग्रनुपभुक्त) स्तनों को ग्रौर कामोद्दीपक मेघ को देखकर यदि उपभोग करने में समर्थ हो तो रमण करो । ''प्रस्तरस्थले'' इससे शय्या की ग्रपेक्षा भी नहीं है, यह ध्वनित होता है ।

ग्रर्थ—(ग्रभिधामूलक व्यंग्य से प्रतिपाद्य वस्तुरूप व्यंग्य दिखाते हैं) यहाँ (उदाहृत पद्य में) सत्थरादि (''ग्रादि ''पद से'' **पत्थर–पग्रोहर**'' शब्दों का ग्रहण होता है ।) शब्दशक्ति से यदि तुम (देशदेशान्तरों में सञ्चरण करने से प्राप्त कर लिया है सम्पूर्ण इंगितादि ज्ञान जिसने ऐसे) उपभोग करने में समर्थ हो (ग्रर्थात् परस्त्रीगमन के रहस्य को जानने के कारण ग्रथवा घूमने के श्रम से ग्रातुर न होने के कारण ग्रथवा प्रियतमा से रहित होने के कारण ग्रथवा कामपीड़ा से व्याकुल होने के कारण कामिनी की प्राप्ति की इच्छा के कारण रमणी के ग्रामोद को बढ़ाने में समर्थ हो) तो (क्षणभर) **रमण** करो, इसप्रकार की वस्तु ग्रभिव्यक्त होती है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि सत्थर शब्द प्राकृतभाषा में शयनीय ग्रर्थ का वाचक ग्रौर परस्त्रीगमन के निषेधपरक शास्त्र ग्रर्थ का वाचक होने से श्लिष्ट है । **पत्थर**

अलङ्काररूपो यथा—'दुर्गालङ्घितविग्रहः' इत्यादि ।

अत्र प्राकरणिकस्योमानाममहादेवीवल्लभभानुदेवनामनृपतेर्वर्णने द्वितीयार्थसूचितमप्राकरणिकस्य पार्वतीवल्लभस्य वर्णनमसम्बद्धं मा प्रसाङ्क्षीदितीश्वरभानुदेवयोरुपमानोपमेयभावः कल्प्यते । तदत्र "उमावल्लभ उमावल्लभ इवे" त्युपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

यथा वा—

'अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद प्रभो ।
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥'

(प्रस्तर) शब्द संस्कृत भाषा में पाषाण का वाचक और लक्षणा से तत्सदृश जड़ का वाचक होने से श्लिष्ट है । **पओहर** (पयोधर) शब्द भी इसीप्रकार प्राकृत और संस्कृत भाषा के अन्दर स्तन और मेघार्थक होने से श्लिष्ट है । इसप्रकार इन (स्रस्तर) **पत्थर** (प्रस्तर) **पओहर** (पयोधर) शब्दों के प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में **स्रस्तर** आदि अनेक अर्थ होने के कारण यहाँ शयनीय और परस्त्रीगमन का दोष नहीं है, यह प्रस्तरप्राण (पाषाणबहुल) और मूर्खप्राय देश है, अतः यदि पयोधर (मेघोपस्थिति की) सम्भावना करके आगे नहीं जाना चाहते हो अथवा यदि स्तनमण्डल को ऊपर उभरे हुये देखकर उतने से ही उनके सौन्दर्य आदि का अनुमान कर रमण करना चाहते हो, तो जब तक सायं समय, और जब तक अन्धकार नहीं हो जाता है, तब तक कामिनी के विरह से दूसरी कामिनी विषयक अपनी उत्सुकता रोको । इसप्रकार अपनी प्रार्थनीय वस्तु को स्वयंदूती कोई नायिका किसी पथिक के सामने व्यक्त कर रही है ।

अर्थ—(२) **अलंकाररूपशब्दशक्त्युद्भवध्वनि** (अर्थात् शब्दशक्तिमूला अलंकार ध्वनि का उदाहरण) **यथा**—"**दुर्गालङ्घितविग्रहः**" इत्यादि ।

अत्रेति—यहाँ (उदाहृत पद्य के अन्दर) प्रकरणगत उमा नामक महादेवी के पति भानुदेव नामक राजा के (स्तुति के) वर्णन में द्वितीय शब्दों से सूचित (दुर्गा आदि से) अप्रकरणगत पार्वती के पति (शंकर) का वर्णन असम्बद्ध न हो जावे अतः ईश्वर (शंकर) और भानुदेव का उपमानोपमेयभाव कल्पित किया जाता है। अतः यहाँ उमावल्लभ (राजा) उमावल्लभ (शंकर) के सदृश हैं यह उपमालंकार व्यंग्य है ।

अथवा (**शब्द शक्तिमूल अलङ्कार** का दूसरा उदाहरण) **यथा-अमित** इति-

(हे) प्रभो ! (हे) मित्रों को हर्ष देने वाले ! (**हर्षं ददाति मित्रेभ्यः इति हर्षद**) (हे) शत्रुओं के हर्ष को नष्ट करने वाले ! (**हर्षं द्यति विनाशयति शत्रूणाम्** इति) (समित्) युद्ध से प्राप्त उत्कर्षों से (अतिशय विजयों से) (तुम) अपरिमित (अमित) हो । (अतः) पवित्र कीर्ति से युक्त हैं (और) दुष्टों के (दण्ड देने के कारण) शत्रु हैं।

टिप्पणी—(१) यहाँ पदों के अभङ्ग होने पर भी विरोध है । **यथा**—(१) **अमितः**—परिमाणरहित, **समितः**–परिमाण सहित । **अथवा**—**अमितः**—**मितं मानं तद्रहितः** अर्थात् मान से रहित और **समितः**–मान सहित ।

(२) **अहितः**—हित रहित और **सहितः**–हित सहित । [**अर्थात् अमितस्य समितत्वमिति, अहितस्य सहितत्वमिति विरोधः**] ।

अत्रामित इत्यादावपिशब्दाभावाद्विरोधाभासो व्यङ्ग्यः । व्यङ्ग्यस्यालङ्कार्यत्वेऽपि ब्राह्मणश्रमणन्यायादलङ्कारत्वमुपचर्यते ।

वस्तु वालङ्कृतिर्वापि द्विधार्थः सम्भवी स्वतः ॥ ७ ॥
कवेः प्रौढोक्तिसिद्धो वा तन्निबद्धस्य चेति षट् ।
षड्भिस्तैर्व्यज्यमानस्तु वस्त्वलङ्काररूपकः ॥ ८ ॥
अर्थशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो याति द्वादशभेदताम् ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहृत पद्य में) "**अमितः**" इत्यादि में (**समितः** और **अहितः, सहितः** में) "अपि" शब्द के (प्रयोगों के) अभाव के कारण (अर्थात् विरोधाभास के वाच्य होने पर पदों के समान विभक्तिक वाले "अपि" और "च" शब्द अपेक्षित होते हैं । परन्तु यहाँ पर इन दोनों में से किसी का भी प्रयोग नहीं है । अतः समान विभक्ति न होने के कारण) "'**विरोधाभास**' व्यंग्य है । (यद्यपि अलङ्कार वह होता है जो दूसरे को भूषित करे । रस की प्रकर्षता के कारण उपमादि जब **गौण** होते हैं तभी उनकी आलङ्कारिकता होती है, ऐसा बाद में निरूपित किया जायेगा । परन्तु व्यंग्य अलङ्कार स्वयं भूषित होते हैं, किसी अन्य को भूषित नहीं करते क्योंकि व्यंग्यार्थ आस्वाद्य होने के कारण सबसे मुख्य होता है, तो इसकी अलङ्कारिता कैसे है ? ऐसी आशंका करके कहते हैं ।) । **व्यंग्यस्येति**—व्यंग्य के अलङ्कार्य होने पर भी "**ब्राह्मणश्रमणन्याय**" से (व्यंग्य दशा में भी) अलङ्कार का उपचार प्रयोग होता है ।

टिप्पणी—'**ब्राह्मणश्रमणन्याय**" को स्पष्ट करते हैं—जिसप्रकार जब कोई ब्राह्मण संन्यासी हो जाता है तो संन्यासी की अवस्था में उसके ब्राह्मणत्व का अभाव हो जाता है पुनरपि पूर्वावस्था के अनुसार "**ब्राह्मणोऽयं श्रमणकः**" का प्रयोग कर देते हैं उसीप्रकार यहाँ अलंकार्य के भी व्यंग्यता की दशा में अलङ्कारत्व का अभाव होने पर भी वाच्य अवस्था वाले "अलङ्कार" का आश्रय लेकर अलङ्कार का प्रयोग हो जाता है ।

अवतरणिका—(२) **अर्थशक्त्युद्भवध्वनि** का निरूपण करते हैं—

अर्थ—(**अर्थशक्त्युद्भवध्वनि** के भेदों का परिगणन करते है) वस्तुस्वरूप और अलंकारस्वरूप (इसप्रकार) दो प्रकार के पदार्थ (अर्थ) (व्यञ्जक) (होते) हैं । (१) स्वतःसम्भवी (जिनका स्वरूप काव्य से बाहर भी सम्यक्तया देखा जा सकता है, केवल वाग्विन्यास से ही निष्पन्न आत्मा वाले नहीं अपितु स्वभावसिद्ध) । (२) कवि की प्रौढोक्ति से सिद्ध (बाहर विद्यमान न होते हुये भी कवि की प्रतिभा से कल्पित (यथा-कीर्ति-की धवलिमादि) "**अत्यन्ता सत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि**" इति नयात् ।] (३) (तथा) कविनिबद्धपात्र की प्रौढोक्तिसिद्ध-इसप्रकार (पदार्थ) छः प्रकार का होता है (दो के तीन से गुणा करने से) । इन छः से प्रतीयमान **अर्थशक्त्युद्भवव्यंग्य** पुनः (१) वस्तुरूप और (२) अलंकाररूप होने से बारह भेदों को प्राप्त होता है ।

स्वतः सम्भवी, औचित्याद् बहिरपि सम्भाव्यमानः। प्रौढोक्त्या सिद्धः, न त्वौचित्येन।

तत्र क्रमेण यथा—

टिप्पणी—तथाहि—व्यञ्जक अर्थ तीन प्रकार का है। (१) स्वतःसम्भवी (२) कविप्रौढोक्तिसिद्ध (३) कविवर्णितपात्रादिप्रौढोक्तिसिद्ध—इसप्रकार तीन भेद हुये। ये तीन भेद पुनः (१) वस्तुरूप और (२) अलंकाररूप से दो भेद होने पर ६ प्रकार के हुये। इन ६ भेदों में से प्रत्येक के (१) वस्तु व्यंग्य (२) और अलंकार व्यंग्य भेद से कुल मिलाकर १२ भेद हुये। क्रम से परिगणन—

(१) स्वतःसम्भविना वस्तुना वस्तुध्वनिः। (२) स्वतःसम्भविनावस्तुना अलंकारध्वनिः। (३) स्वतःसम्भविना अलंकारेण वस्तुध्वनिः। (४) स्वतःसम्भविना अलंकारेण अलंकारध्वनिः। (५) कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना वस्तुध्वनिः। (६) कविप्रौढोक्तिसिद्धेनालंकारेण वस्तुना अलंकारध्वनिः। (७) कविप्रौढोक्तिसिद्धेनालंकारेण वस्तुध्वनिः। (८) कविप्रौढोक्तिसिद्धेनालंकारेण अलंकारध्वनिः। (९) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुनावस्तुध्वनिः। (१०) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना अलंकारध्वनिः। (११) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेनालंकारेण वस्तुध्वनिः। (१२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेनालंकारेण अलंकारध्वनिः।

अर्थ—(कारिकास्थ **स्वतःसम्भवी** और **प्रौढोक्तिसिद्ध** पद की क्रमशः व्याख्या करते हैं)**स्वतः सम्भवी**—यथार्थरूप से (औचित्यात्) (काव्य के) बाहर भी (उसप्रकार के शब्द के अतिरिक्त प्रमाण से भी) ("अपि" पद से) तथा काव्य के अन्दर भी प्रतीयमान अर्थ (स्वतःसम्भवी कहलाता है)[रूपकालंकार में रूप्य-रूपक अभेद के मिथ्या होने पर भी उन दोनों के सादृश्य की लोक में प्रसिद्धि होने के कारण "**स्वतःसम्भवित्व**" है। अतएव "**अधरम्लानकमलदलम्**" यह रूपक "स्वतःसम्भवी" होने के कारण काव्यप्रकाश में दिया है। "**धम्मिल्ले नवमल्लिकासमुदयः**" इति सादृश्य की अप्रसिद्धि से **प्रौढोक्तिसिद्ध** रूपक को उदाहृत करेंगे।] **प्रौढोक्त्येति**—कवि के वर्णनमात्र से निष्पन्न की तरह प्रतीत होने वाला अर्थ ("**प्रौढोक्तिसिद्ध**") कहलाता है, वास्तविक रूप से वह नहीं होता है।

(१) उनमें से (**शब्दशक्त्युद्भवव्यंग्य** के १२ भेदों में से) क्रमशः (**स्वतःसम्भविना वस्तुना वस्तुध्वनि** का उदाहरण) **यथा—दृष्टिमिति**—

प्रसङ्ग—नदी से जल लाने के मार्ग में पड़ने वाले वन में संकेतानुसार परपुरुष के साथ रमण करने के लिये पानी लाने के व्याज से अभिसार को चाहती हुई किसी व्यभिचारिणी की अपने घर के समीप रहने वाली (पड़ौसिन) किसी स्त्री के प्रति भावी नखक्षत चिह्नों की गोपनात्मक यह उक्ति है।

'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि ! क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ॥'

अत्र स्वतःसम्भविना वस्तुमात्रेणैतत्प्रतिपादिकाया भाविपरपुरुषोभोगजनखक्षतादिगोपनरूपं वस्तुमात्रं व्यज्यते ।

'दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥'

अत्र स्वतःसम्भविना वस्तुना रवितेजसो रघुप्रतापोऽधिक इति व्यतिरेकालङ्कारो व्यज्यते ।

अर्थ—(हे) मेरे घर के पास रहने वाली ! (पड़ौसिन !) क्षणभर (मेरे लौटकर आने तक) यहाँ (अपने घर की तरह) मेरे घर पर भी दृष्टि रखना (जिससे बिल्ली आदि घुस कर कोई उपद्रव न करें) । इस (मेरे) शिशु का पिता (कुलटा होने के कारण अपने पतित्वेन नहीं कहा) (अर्थात् मेरा पति) प्रायः (हमेशा नहीं) ये स्वाद रहित अपेय कुये के पानी को नहीं पीता है । ("कौपीरपः" ऐसा कहने से मेरी बीमारी की अवस्था में पी लेगा यह ध्वनित होता है ।) अतः यहाँ से अकेली भी मैं शीघ्र तमाल नामक वृक्षों से वेष्टित नदी को जाती हूँ । (वहाँ भले ही) अत्यन्त घने (और) कठिन हैं अग्रभाग जिनके ऐसी नलों की (तृण विशेषों की) ग्रन्थियाँ (मेरे) शरीर को खण्डित कर दें । (उनसे मुझे कोई क्षति नहीं होगी) ।

(उक्त पद्य के अन्दर व्यंग्य को दिखाते हैं ।) **अनेनेति**—इस (वाक्यार्थ के द्वारा) स्वतः सम्भवी (स्वभावसिद्ध अर्थात् लोकप्रसिद्ध) (अलंकार शून्य) वस्तुमात्र द्वारा इस वाक्यार्थ को कहने वाली का होने वाले परपुरुष के साथ उपभोग से उत्पन्न नखक्षतादि के चिह्नों की गोपनरूप वस्तु (नायिका के वैशिष्ट्य के कारण) ध्वनित होती है । (यह भविष्यत् रति की गोपना है)।

(२) (स्वतः सम्भविना वस्तुना अलंकारध्वनि का उदाहरण) यथा-दिशीति—

प्रसङ्ग—रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में रघु के दिग्विजय का यह वर्णन है ।

अर्थ—दक्षिण दिशा में(दक्षिणायन होने पर) सूर्य का भी तेज मन्द हो जाता है, उसी (दक्षिण दिशा) में पाण्ड्य देश के राजा रघु के प्रताप को सहन न कर सके अर्थात् सूर्य को जीतने वालों का भी जेता रघु है, भाव यह है ।

(उक्त पद्य के अन्दर व्यंग्य को दिखाते हैं) **अनेनेति**—इससे (इस वाक्यार्थ के द्वारा) स्वतः सम्भवी वस्तु से सूर्य के तेज से (मृदुत्वरूप व्यञ्जक अर्थ से) रघु का प्रताप अधिक है—ऐसा व्यतिरेकालंकार ध्वनित होता है ।

टिप्पणी—व्यतिरेकालंकार का लक्षण—"**आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा व्यतिरेकः**—

प्रकृत पद्य में उपमान सूर्य के तेज से उपमेय रघु के तेज के आधिक्य से "**व्यतिरेकालंकार**" है और न सह सकने के कारण वही व्यंग्य है ।

'आपतन्तममुं दूरादूरीकृतपराक्रमः ।
बलोऽवलोकयामास मातङ्गमिव केसरी ॥'

अत्रोपमालङ्कारेण स्वतःसम्भविना व्यञ्जकार्थेन बलदेवः क्षणेनैव वेणुदारिणः क्षयं करिष्यतीति वस्तु व्यज्यते ।

'गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः ।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन्युधि रुषा निजाधरम् ॥'

अत्र स्वतःसम्भविना विरोधालङ्कारेणाधरो निर्दष्टः, शत्रवो व्यापादिताश्चेति समुच्चयालङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

अर्थ—(३) (**स्वतःसम्भविना अलंकारेण वस्तुध्वनि** का उदाहरण) **यथा-आपतन्तमिति**—

प्रसङ्ग—माघकाव्य के १९वें सर्ग के अन्दर युद्ध वर्णन का दूसरा श्लोक है।

अर्थ—स्वीकृत किया है पराक्रम जिसने ऐसे अर्थात् पराक्रम करने के लिये उद्यत बलराम जी ने दूर से अपनी ओर आते हुये उसको (वाणासुर के पुत्र वेणुदारी को) देखा, जिसप्रकार सिंह हाथी को (देखता है)। [विपुल पराक्रम के कारण बलराम का सिंह के समान और मदान्ध होने के कारण वेणुदारी नामक असुर का हाथी के समान होना लोक प्रसिद्ध ही है।]।

(उक्त पद्य के अन्दर व्यंग्य को दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ पर (प्रकृत पद्य के अन्दर) उपमालंकार रूप स्वतःसम्भवी (लोकप्रसिद्ध। "इव" पद की योग्यता के कारण) व्यंग्य के बोधक अर्थ से "**बलदेव जी क्षणभर में ही वेणुदारी नामक असुर को नष्ट कर देंगे**" यह वस्तु ध्वनित होती है।

(४) "**स्वतःसम्भविना अलंकारेण अलंकारध्वनिः** का उदाहरण) **गाढेति**—

प्रसङ्ग—किसी राजा के प्रभाव का यह वर्णन है।

अर्थ—जिस (राजा) ने युद्ध में क्रोध से अपने ओष्ठ को चबाते हुये शत्रुओं के स्त्रीसमाज के ओष्ठ रूप प्रवाल के (मूंगे के) दलों को प्रगाढ़ पति के दन्तक्षतों की व्यथा रूपी विपत्ति से छुड़ा दिया। [अर्थात् क्रोध से अपने ओठों को चबाते हुये शत्रु के मारने पर उनकी स्त्रियों के अपने पति के साथ रतिक्रीड़ा के समय अधरदंशनादि की समाप्ति हो जाती है। यहाँ पर अधरदंशन से पीड़ा ही होती है, उससे मुक्ति नहीं है यह, आपाततः विरोध है किन्तु आश्रय के भेद होने पर विरोध नहीं है, ऐसा समझना चाहिये।]।

(उक्त पद्य के अन्दर व्यंग्य दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत पद्य के अन्दर) स्वतःसम्भवी विरोधाभासालंकार से [अधरदंशकत्व और अधरमोचकत्व के अन्दर वस्तुगति के कारण विरोध न होने पर भी आपाततः विरोध के प्रतीत होने के कारण '**विरोधाभास**' अलंकार है।

तथाहि—जो अपने ओष्ठों को चबाता है वह दूसरों के अधरों को दुःख से कैसे मुक्त करेगा यह विरोध है क्योंकि ओष्ठत्वेन सामानाधिकरण्य का कथन किया गया है परन्तु आश्रय के अन्दर भेद होने के कारण यहाँ विरोध का अभाव ही है।'] "(इधर) ओष्ठ चबाये और (उधर) शत्रुओं को मार दिया" यह **समुच्चयालंकार व्यंग्य है**।

'सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे ।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स सरे ॥'
**(सञ्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान् ।
अभिनवसहकारमुखान् नव पल्लवपत्रलान् अनङ्गस्य शरान् ॥)**

अत्र वसन्तः शरकारः, कामो धन्वी, युवतयो लक्ष्यम्, पुष्पाणि शरा इति कविप्रौढोक्तिसिद्धं वस्तु प्रकाशीभवद् मदनविजृम्भणरूपं वस्तु व्यनक्ति ।

टिप्पणी—ओष्ठ दंशन से ओष्ठ की व्यथा का मोचन करना यह विरुद्ध है, तथा ओष्ठदंशन और व्यथामोचन इन क्रियाओं के कार्य और कारण का भी समकालिक होना विरुद्ध है क्योंकि कार्य और कारण विभिन्न कालीन होंगे, समकालीन नहीं । अतः अपने अधरों का दंशन करना और शत्रुओं को मारने के समानकालीन रूप कार्य के सम्बन्ध से **समुच्चयालंकार** है । उसका लक्षण—

**"समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके ।
खलेकपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ॥
गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये"** ॥ 'सा०द० दशम परि०

निर्दशन—इसके वर्तमानकालिक प्रयोग होने से उस समय मोचन करने से और उस मोचन के कारणभूत शत्रु के व्यापादन की भी तात्कालिकता प्राप्त होती है, **यद्यपि** शत्रु को मारना और अधरदंशन के कार्य कारण की समकालीनता बाधित है **तथापि**—आहार्य की प्रतीति का विषय ही शीघ्रकारिता का व्यंग्य है, ऐसा समझना चाहिये । यहाँ समुच्चयार्थक "चकार" के अभाव से शत्रुव्यापादनक्रिया से "अधरों को काटने के साथ ही शत्रुओं को मार दिया" इस अर्थ के व्यंग्य होने से एक स्थान पर युगपत् अधर काटना और शत्रु का व्यापादान करना इन क्रियाओं के समाविष्ट होने से "**समुच्चयालंकार**" की व्यंग्यता सिद्ध होती है ।

अर्थ–(५) (**कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु** से **वस्तुध्वनि** का उदाहरण)**यथा-सज्जेहीति**-

प्रसङ्ग—वसन्त के प्रारम्भ का वर्णन है ।

अर्थ—वसन्तमास (चैत्रमास) युवती समुदाय ही है लक्ष्य जिनका ऐसे मुखों वाले, नवीन मुकुलित अत्यन्त सौरभयुक्त आम्रमुखवाले, नवीन पल्लवरूपी पत्र (पक्ष) को ग्रहण करने वाले कामदेव के वाणों को प्रस्तुत ही नहीं कर रहा है (अपितु कामदेव के लिये) अर्पण (भी) कर रहा है । (यह सब कुछ मिथ्या है किन्तु कवि की प्रतिभा से उत्थित होने के कारण "**कविप्रौढोक्तिसिद्ध**" है ।] ।

(**उक्त पद्य के अन्दर व्यंग्य दिखाते हैं**) **अत्रेति**—यहाँ (उक्त उदाहरण के अन्दर) वसन्त (चैत्र और वैशाख से उपलक्षित ऋतुविशेष) बाण बनाने वाला है (**शरान् करोतीति रचयतीति शरकारः ।**), कामदेव धनुर्धर है (**अनङ्गस्य शरान्**—इस सम्बन्ध निर्देश से), युवतीजन लक्ष्य है, पुष्प (आम्रादिकों के) बाण हैं (**सहकारमुखान्** और **अनङ्गस्य शरान्** तुल्यविभक्तिक होने के कारण) इसप्रकार "कविप्रौढोक्तिसिद्ध" वस्तु वर्तमान की तरह प्रतीत होती हुई कामोद्दीपन रूप वस्तु को व्यञ्जित करती है ।

'रजनीषु विमलभानोः करजालेन प्रकाशितं वीर ।
धवलयति भुवनमण्डलमखिलं तव कीर्तिसन्ततिः सततम् ।।'

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना कीर्तिसन्ततेश्चन्द्रकरजालादधिककाल-प्रकाशकत्वेन व्यतिरेकालङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

'दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः ।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ।।'

टिप्पणी—यहाँ पर "वसन्त" अचेतन है, कामदेव शरीर रहित है, युवतियाँ कोमलाङ्गी हैं और पुष्प कोमल हैं। इसप्रकार क्रमानुसार इनका शरकारत्वादिक होना मिथ्या ही है परन्तु पुनरपि कवि की प्रतिभा के बल से सिद्ध की तरह प्रतीत होता हुआ कामोद्दीपन रूप वस्तु को ध्वनित कर रहा है।

अर्थ—(६) (**कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से अलंकारध्वनि** का उदाहरण) **यथा**—**रजनीष्विति**—

प्रसङ्ग—किसी राजा की प्रशंसा है।

अर्थ—(हे) वीर ? रात्रि में उज्ज्वल किरणों वाले चन्द्रमा की किरण समूह से प्रकाशित सम्पूर्ण भुवनमण्डल को तुम्हारी यशोराशि अहर्निश (दिन-रात) प्रकाशित करती है। (चन्द्रमा केवल रात्रि में ही सम्पूर्ण भुवनमण्डल को प्रकाशित करता है किन्तु तुम्हारी यशोराशि तो दिन-रात ही भुवनमण्डल को प्रकाशित करती है। ("**अखिलम्**" इससे अधिक देश की प्रकाशकता को समझना चाहिये।)।

(उक्त पद्य के अन्दर व्यंग्य दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "कविप्रौढोक्तिसिद्ध" वस्तु से (वास्तविक वस्तु से नहीं) यशोराशि के (केवल प्रशंसामात्रपरक होने से सम्पूर्ण भुवनमण्डल को शुभ्र करना असम्भव होता है।) चन्द्रमा के किरण समुदाय से अधिक समय तक प्रकाश करने के कारण "**व्यतिरेकालंकार**" व्यंग्य है।

टिप्पणी—उपमानभूत चन्द्रमा की किरणजाल की अपेक्षा उपमेयभूत यशोराशि के अधिक काल तक प्रकाशक होने के कारण आधिक्य का वर्णन होने से "**व्यतिरेकालंकार**" है। और वह साक्षात् वाचक पद के अभाव होने से व्यंग्य है, यह भाव है।

अर्थ (७)—(**कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तुध्वनि** का उदाहरण) **यथा**—**दशाननेति**—

प्रसङ्ग—रघुवंश में दशम सर्ग में श्री रामचन्द्र जी के जन्म का वर्णन है।

अर्थ—उस समय (जिस समय श्री रामचन्द्रजी पृथ्वी पर अवतीर्ण हुये उस समय) रावण के (दसों) मुकुट से मणियों के गिरने के बहाने राक्षसों की (रावणपालित दुष्ट प्रकृति वाले राक्षसों की) लक्ष्मी के अश्रु भूमि पर गिर पड़े। [अर्थात् रावण के मुकुट से मणियाँ पृथ्वी पर गिर पड़ीं। मणियों का मुकुट से गिरना अमंगलसूचक माना जाता है।]।

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेनापह्नुत्यलङ्कारेण भविष्यद्राक्षसश्रीविनाशरूपं वस्तु व्यज्यते ।

'धम्मिल्ले नवमल्लिकासमुदयो हस्ते सिताम्भोरुहं
हारः कण्ठतटे पयोधरयुगे श्रीखण्डलेपो घनः ।
एकोऽपि त्रिकलिङ्गभूमितिलक ! त्वत्कीर्तिराशिर्ययौ
नानामण्डनतां पुरन्दरपुरीवामभ्रुवां विग्रहे ॥'

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन रूपकालङ्कारेण भूमिष्ठोऽपि स्वर्गस्थानामुपकारं करोषीति विभावनालङ्कारो व्यज्यते ।

अर्थ—(उक्त पद्य के अन्दर व्यंग्य दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "कविप्रौढोक्तिसिद्ध" (यथार्थ नहीं। सम्पत्तिमात्र स्वरूप राक्षसों की लक्ष्मी के अश्रुबिन्दु असंभव होने से) "**अपह्नुति अलंकार** से(प्रकृत मणियों के प्रतिषेध से अप्रकृत अश्रुबिन्दुओं की स्थापना करने से "**अपह्नुति अलंकार**" है)भविष्य में होने वाली राक्षसों की लक्ष्मीविनाश रूप "वस्तु" ध्वनित होती है।

टिप्पणी—**अपह्नुति अलंकार** का लक्षणः—

प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः । सा० दर्पण १०म परिच्छेद ।

अर्थ—(८) (**कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकारध्वनि** का उदाहरण)**यथा**—

धम्मिल्ल इति—

प्रसङ्ग—किसी राजा की प्रशंसा है।

अर्थ—(हे) तैलङ्ग देश के तिलक ! (राजन्) अकेली भी आपकी यशोराशि इन्द्रपुरी में निवास करने वाली सुन्दरियों के शरीर पर अनेकविध आभूषणता को प्राप्त हुई। (तथाहि) गुँथे हुये केशपाश में नवीन मल्लिकाओं का समूह (हो गई)(उसी तरह चमकने के कारण), हाथ में शुभ्र कमल; ग्रीवा में हार; (तथा) दोनों स्तनों पर श्वेत चन्दन का प्रलेप (हो गई)।

(उक्त पद्य के अन्दर व्यंग्य दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) कविप्रौढोक्तिसिद्ध (यथार्थ नहीं। कीर्तिराशि के अतिशय प्रशंसामात्र होने से नवमल्लिकादि के साथ सादृश्य के अयथार्थ होने से तन्मूलक रूपकालंकार भी अयथार्थ है।) रूपकालंकार से (कीर्ति राशि में नवमल्लिकादि के समुदाय का आरोप करने से) "भूमि पर स्थित होते हुये भी स्वर्ग निवासियों का उपकार करते हो" यह **विभावनालंकार** ध्वनित होता है।

टिप्पणी—(१) स्वर्ग के अन्दर निवास करना ही स्वर्गनिवासियों का उपकार करने में कारण है क्योंकि ऐसा नियम है कि कार्य और कारण का सामानाधिकरण्य होना चाहिये। इस सामानाधिकरण्य का अभाव होने पर भी स्वर्गनिवासियों के उपकार करने रूप फल की अभिव्यक्ति रूप "विभावनालंकार" है। और वह स्वर्ग के अन्दर स्थिति के अभाववाचक शब्द के न होने से व्यंग्य है।

(२) **विभावनालंकार** का लक्षणः—

"**विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते**" ॥ सा० दर्पण, १०म परिच्छेद ।

'शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
सुमुखि ! येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥'

अत्रानेन कविनिबद्धस्य कस्यचित्कामिनः प्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना तवाधरः पुण्यातिशयलभ्य इति वस्तु प्रतीयते ।

'सुभगे ! कोटिसंख्यत्वमुपेत्य मदनाशुगैः ।
वसन्ते पञ्चता त्यक्ता पञ्चतासीद्वियोगिनाम् ॥'

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन कामशराणां कोटिसंख्यत्वप्राप्त्या निखिलवियोगिमरणेन वस्तुना शराणां पञ्चता शरान् विमुच्य वियोगिनः श्रितेवेत्युत्प्रेक्षालङ्कारो व्यज्यते ।

अर्थ—(९) (कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण)।
यथा—शिखरिणीति—

प्रसङ्ग—अपने चञ्चुपुट से बिम्बाफल का भक्षण करने वाले किसी तोते के बच्चे को देखकर किसी कविकल्पित वक्ता की किसी सुन्दरी के प्रति यह उक्ति है।

अर्थ—(हे) सुमुखि ! उस शुकशावक ने (शैशवावस्था में भी युवजनोचित आचार की प्राप्ति तप के योग से ही होती है, ऐसा सहृदयों का विचार है) किस पर्वत पर, कितने समय तक, किस नाम वाला तप किया था (यहाँ मैं सम्भावना करता हूँ) जिससे (तपस्या के फल से) तुम्हारे अधरों के समान रक्त वर्ण वाले बिम्बाफल का (निरवच्छिन्न रूप से) स्वाद ले रहा है । [केवल बुभुक्षित की तरह खा नहीं रहा है । रसज्ञतादि विना तपस्या के सम्भव नहीं होते हैं । तुम्हारे अधर तुल्य वस्तु का भक्षण करना भी तपस्या का परिणाम है—यह श्लोक का भाव है] ।

(उक्त पद्य के अन्दर व्यंग्य दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) इस (श्लोक के पूर्वार्ध के अर्थ से) कविकल्पित किसी कामी के प्रौढोक्तिसिद्ध (वास्तविक नहीं क्योंकि शुकशावक का तपस्या करना असम्भव है) वस्तु से "तुम्हारा अधर (पान) अतिशय पुण्यों से प्राप्य है" यह वस्तु (अलंकारशून्य) प्रतीत होती है ।

टिप्पणी—जिस तुम्हारे अधर के सदृश उत्कृष्ट वस्तु (बिम्बाफल) का स्वाद लेने के लिये किसी सुदूर पर्वत पर अनन्त काल तक घोर तपस्या शुकशावक को करनी पड़ी, तो केवल मात्र तुम्हारे अधरों के पान करने के लिये कितनी कठोर तपस्या की आवश्यकता है—इसका तो कहना ही क्या है ?

अर्थ—(१०) (कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलंकारध्वनि का उदाहरण)
यथा—सुभगे इति—(हे) सुभगे वसन्त ऋतु में कामदेव के बाणों ने असंख्यत्व को प्राप्त करके पञ्चता (संख्या में पाँच होना) छोड़ दी (किन्तु) वियोगियों को पञ्चता (मृत्यु—मरणकालीन पञ्चभूतविश्लेष) प्राप्त हो गई । अर्थात् वियोगी कामदेव के बाणों से व्याकुल होकर मृत्यु को प्राप्त होने लगे ।

(उक्त पद्य के अन्दर व्यंग्य दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (उदाहृत पद्य में) [**सुभगे** ! इस सम्बोधन से यहाँ कोई कामुक ही वक्ता प्रतीत होता है, कवि नहीं] कविनिबद्ध-

'मल्लिकामुकुले चण्डि ! भाति गुञ्जन्मधुव्रतः ।
प्रयाणे पञ्चबाणस्य शङ्खमापूरयन्निव ।।'

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेनोत्प्रेक्षालङ्कारेण कामस्यायमुन्मादकः कालः प्राप्तस्तत्कथं मानिनि मानं न मुञ्चसीति वस्तु व्यज्यते ।

'महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।
अणुदिणमणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ ।।'

**(महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग ! सा अमान्ती ।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तनुकमपि तनूकरोति ।।)**

वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध (वास्तविक नहीं क्योंकि कामदेव के वाण से सम्पूर्ण विरहियों का मरना असम्भव होने के कारण) कामदेव के बाणों के असंख्यत्व की प्राप्ति से सम्पूर्ण वियोगियों के मरण रूप वस्तु से बाणों की पञ्चता (कामदेव के बाणों की संख्या पाँच होती है) बाणों को छोड़कर मानों वियोगियों को प्राप्त हो गई, इसप्रकार **उत्प्रेक्ष लंकार** व्यंग्य होता है । [उत्प्रेक्षा के वाचक "इव" शब्द के न होने से व्यञ्जना है ।] ।

टिप्पणी—उत्प्रेक्षालंकार का लक्षण—

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।। सा० द० १०म परि०

अर्थ—(११) (**कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तुध्वनि** का उदाहरण) **यथा–मल्लिकेति**—

प्रसङ्ग—मानवती के प्रति मानभङ्ग करने के लिये पति का उक्ति है ।

(हे) अत्यन्त कोपनशीले ! मल्लिका की कली पर झङ्कार करता हुआ भ्रमर कामदेव की यात्रा में मानों शंख को बजाता हुआ शोभित हो रहा है । [भ्रमर की गुञ्जार के शंखके शब्द के समान होने के कारण अथवा मल्लिका की कली केशंखाकार होने के कारण यह उत्प्रेक्षा की गई है ।] ।

(उक्त पद्य के अन्दर व्यंग्य दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) **कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध** (यथार्थ नहीं क्योंकि कामदेव के शंख न होने से ही और उसके भरने की संभावना के भी असम्भव होने के कारण) "उत्प्रेक्षालंकार" से यह (युवकों के) कामोद्दीपन का समय (वसन्त) आ गया है, अतः (हे) मानिनी ! (तुम क्यों मान को नहीं छोड़ती हो ? यह वस्तु ध्वनित होती है ।

(१२) (**कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकारध्वनि** का उदाहरण) **यथा**—महिलेति—

प्रसङ्ग—गाथासप्तशती के चतुर्थ शतक में बहुनायिका की भावना के दुःख से कृश नायिका की अवस्था को नायक को कहती हुई उसकी सखी की यह उक्ति है ।

अर्थ—(हे) सुभग ! (सौभाग्ययुक्त) वह (अकृत्रिम स्नेहशीला नायिका) सहस्रों स्त्रियों से पूरित (इससे स्थान का अभाव सूचित होता है) तुम्हारे हृदय में स्थान को प्राप्त न करती हुई प्रतिदिन (लक्षणा से निरन्तर) अन्य कर्मो को छोड़कर अत्यन्त कृश भी (अपने) शरीर को कृश बना रही है । [वह नायिका जिस किसीप्रकार भी तुम्हारे हृदय में प्रवेश पाने के लिये अपने शरीर को कृश बना रही है, यह भाव है । अथवा तुम्हारे विरह में अत्यन्त कृश हो गई है, अतः इसको स्वीकार कर लीजिये, अपना बना लीजिये] ।

अत्रामाअन्तीति कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तत इति विशेषोक्त्यलङ्कारो व्यज्यते। न खलु कवेः कविनिबद्धस्येव रागाद्याविष्टता, अतः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिः कविप्रौढोक्तेरधिकं सहृदयचमत्कारकारिणीति पृथक्प्रतिपादिता।

टिप्पणी—यहाँ **सुभग** ! इस सम्बोधन से तुम ही नायिका के अनुराग का विषय हो, तुम्हारे अनुराग का विषय नायिका नहीं—यह ध्वनित होता है। इसीप्रकार **महिलासहस्र** इत्यादि से तुम्हारे अनुराग का विषय वे रमणियाँ है, तुम उनके अनुराग का विषय नहीं हो, यह व्यञ्जित होता है। **तनूकरोति**—इस वर्तमानकालिक निर्देश से यह प्रतीत होता है कि वह अब भी तुम्हारे विरह में कृश होती जा रही है।

अर्थ—(उक्त पद्य के अन्दर व्यंग्य दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकट उदाहरण में) "**अमाअन्ती**" (न समा सकने के कारण) [मन के अणु होने के कारण और उपलब्ध न होने के कारण वहाँ अवकाश ही नहीं हो सकता है, उसकी प्राप्ति का तो प्रश्न ही कहाँ ? पदार्थ होने के कारण हेतु कह दिया है।] कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध (**हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते**") **काव्यलिङ्गालंकार** से ("अमान्ती" यहाँ पर सहस्रों महिलाओं से भरा होना कारण है और शरीर को कृश करने में "अमान्तीत्व" हेतु है अतः यहाँ "काव्यलिङ्ग अलंकार" है।] "शरीर के कृश करने पर भी तुम्हारे हृदय में नहीं आती है" यह **विशेषोक्ति अलंकार** व्यंग्य होता है। [अर्थात् स्वल्प अवकाश वाले हृदय में स्थान प्राप्ति के लिये शरीर को कृश करने रूप कारण के होने पर भी स्थान प्राप्तिरूप कार्य के न होने से **विशेषोक्ति अलंकार** है। उसका लक्षण—

सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा" ॥ सा० द०, १०म परि०।

और वह "विशेषोक्ति" साक्षात् प्रतिपादक के अभाव के कारण ध्वनित होती है] [**प्रश्न** "कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति" का भी "कविप्रौढोक्तिसिद्धत्व" है ही, पुनः उसका पृथक् उपादान क्यों किया है ? इसका उत्तर देते हैं] **न खल्विति**—कविनिबद्धवक्तृ की तरह कवि की (तो) अनुरागादि से ("आदि" पद से उत्साहादि पद का ग्रहण होता है) युक्तता होती नहीं है अतः कविप्रौढोक्ति की अपेक्षा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति अधिक सहृदयों के (हृदयों को) चमत्कृत करने वाली होती है, इसलिये (उसका) पृथक् प्रतिपादन किया है। [**प्रश्न**—रूपण ही रूपकालंकार है, उत्प्रेक्षण ही उत्प्रेक्षालंकार है, व्यतिरेचन ही व्यतिरेकालंकार है, अतः जहाँ रूपकालंकार की व्यंग्यता है वहाँ रूप्यमाण वस्तु के उदाहरण की क्या आवश्यकता है ? इसीप्रकार उत्प्रेक्ष्यमाण और व्यतिरिच्यमाण वस्तुओं के भी उदाहरण की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् जहाँ अलंकार की व्यञ्जकता कही है वहाँ अलंकार्य वस्तु की व्यञ्जकता है ही, पुन अलंकार का पृथक् उपादान क्यों किया है ? इसका उत्तर देते हैं।]।

एषु चालङ्क्रृतिव्यञ्जनस्थले रूपणोत्प्रेक्षणव्यतिरेचनादिमात्रस्य प्राधान्यं सहृदयसंवेद्यम्, न रूप्यादीनामित्यलङ्कृतेरेव मुख्यत्वम् ।

एकः शब्दार्थशक्त्युत्थे—

एषु चेति—इन (पूर्व कहे हुये बारह "अर्थशक्त्युदभव" भेदों में से) अलंकार व्यञ्जक स्थलों में (अर्थात् जहाँ अलंकार व्यंजक है वहाँ पर) **रूपण** [**"धम्मिल्ले नवमल्लिकासमुदय:"** इत्यादि में रूपकालंकार के घटक कीर्तिराशि में नवमल्लिका के समुदयत्वादिकों का आरोप विधान, **उत्क्षेपण** [**"सुभगे कोटिसंख्यत्वम्"**—यहाँ उत्प्रेक्षालंकार के घटक कामदेव के ५ बाणों में पञ्चत्व के त्याग से वियोगियों के अन्दर पञ्चत्व की सम्भावना करना, इसीप्रकार **"मल्लिकामुकुलेचण्डि"** इत्यादिकों में भी ऊहित कर लेना चाहिये] **व्यतिरेचन**[उपमान से उपमेय का आधिक्य से अथवा न्यूनता से पृथक् करना, **यथा—"दिशि मन्दायते तेजः"** इत्यादि में]आदि की प्रधानता सहृदय संवेद्य है, आरोप्यमाण आदिकों की नहीं (**नवमल्लिका समुदयः**—प्रभृतियों की प्रधानता नहीं है) ("आदि" पद से **उत्प्रेक्षणीय** और व्यतिरेचनीयादिकों का ग्रहण होता है) इस कारण से अलंकार की मुख्यता है। [अतः मुख्यों के पृथक् स्वीकारौचित्य से अलंकारों की भी व्यञ्जकता का पृथक् ग्रहण स्वीकार किया है।]।

अवतरणिका—(३) **शब्दार्थोभय शब्दशक्त्युद्भवध्वनि** का निरूपण करते हैं।

अर्थ—शब्द और अर्थ की शक्ति से (व्यंग्य के) उत्पन्न होने पर ("ध्वनि का) एक (भेद) होता है। अर्थात् **"शब्दार्थोभयशब्दशक्त्युद्भव"** संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का एक ही भेद होता है।

टिप्पणी—कहने का आशय यह है कि यद्यपि "शब्दशक्तिमूलक ध्वनि" के होने पर अर्थ की, और "अर्थशक्तिमूलकध्वनि" के होने पर शब्द की व्यञ्जकता है, अतः "शब्दार्थोभयमूलध्वनि" सर्वत्र ही है क्योंकि उन दोनों के (शब्द और अर्थ के) परामर्श के अभाव में व्यंग्य की स्फुरणा ही नहीं हो सकती है तथापि वहाँ गुणों के प्रधान भाव से उस (शब्द या अर्थ) शक्ति का ग्रहण हो जाता है। यहाँ तो दोनों की ही (शब्दार्थ की) प्रधानता से व्यञ्जकता है, अतः उभयशक्तिमूलध्वनि है। तथाहि—परिवर्तन को सहन न करने वाले शब्दों का आधिक्य होने पर उनसे प्रयुक्त प्राधान्य के कारण विद्यमान भी अर्थशक्ति की अप्रधानता से व्यंग्य का "शब्दशक्तिमूलकत्वेन" ही व्यवहार होता है। परिवर्तन को सहन करने वाले शब्दों का आधिक्य होने पर अर्थशक्ति की ही प्रधानता से विद्यमान भी शब्दशक्ति के प्राधान्य के अनुसार अर्थ होने के कारण भट्टपल्लीग्रामादि की तरह मुख्यरूप से ही निर्देश समझना चाहिये। और जहाँ परिवर्तन को सहन करने वाले और सहन न करने वाले शब्दों में से एक जातीय शब्दों का प्राचुर्य नहीं है किन्तु साम्य ही है वहाँ दोनों के ही (शब्द और अर्थ के) प्राधान्य से व्यंग्य की स्थिति होती है, अतः वह **"शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवध्वनि"** कहलाती है। इस ध्वनि को किसी एक शक्तिमूलक नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसके लिये कोई भी प्रमाण नहीं है।

उभयशक्त्युद्भवे व्यङ्ग्ये एको ध्वनेर्भेदः ।

यथा—

'हिममुक्तचन्द्ररुचिरः सपद्मको मदयन् द्विजाञ्जनितमीनकेतनः ।
अभवत्प्रसादितसुरो महोत्सवः प्रमदाजनस्य स चिराय माधवः ॥'

अत्र माधवः कृष्णो माधवो वसन्त इवेत्युपमालङ्कारो **व्यङ्ग्यः** ।

अर्थ—(कारिका को स्पष्ट करते हैं) शब्द और अर्थ की (उभय) शक्ति से व्यंग्य के उत्पन्न होने पर (शब्दार्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) ध्वनि का एक भेद (होता) है । (उदाहरण देते हैं) **यथा—हिममुक्तेति**—

प्रसङ्ग—माघकाव्य के १३वें सर्ग के ३८ वें श्लोक के अन्दर श्रीकृष्ण जी के इन्द्रप्रस्थ आने पर स्थिति का यह वर्णन है ।

अर्थ—तुषार के आवरण से मुक्त (अर्थात् निर्मल) चन्द्रमा की तरह मनोहर **वसन्तपक्ष में**—शीतकाल से (हिम) मुक्त चन्द्रमा से देदीप्यमान, लक्ष्मी सहित **वसन्त पक्ष में** विकसित कमलपुष्पों से युक्त, द्विजों को (द्वाभ्यां संस्काराभ्यां जाता द्विजाः—अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्यों को) **वसन्तपक्ष में** कोकिलादि पक्षियों को, (विनय सम्भाषणादि से) हर्षित करते हुये **वसन्तपक्ष में** स्वभाव से ही मस्त बनाता हुआ, उत्पन्न किया है प्रद्युम्न नामक पुत्र (मीनकेतन) जिसने ऐसे **वसन्तपक्ष में** उत्पन्न की है सुरतं की अभिलाषा जिसने ऐसा, (असुर वधादि से) प्रसन्न किये हैं देवता जिसने ऐसे **वसन्तपक्ष में** विमल की है सुरा जिसने ऐसा, वह श्रीकृष्ण जी अन्यत्र वसन्त चिरकाल तक नारीजनों के लिये महान् आनन्दस्वरूप हुये ।

टिप्पणी—यहाँ "माधवः" पद की शक्ति वसन्त का ज्ञान कराने में शब्दशक्ति है, और "प्रमदाजनस्य" यहाँ शिलष्ट शब्द के न होने से अर्थशक्ति है, अतः "उभय-शक्तिमूलकध्वनि" है । यहाँ उभय शक्ति से व्यंग्य वसन्त की उपमा उभयशक्ति से व्यंग्य है । तथाहि—प्रमदाजन के महोत्सव को उत्पन्न करने में वसन्त की ही सामर्थ्य है क्योंकि **"यदर्थे यस्य प्रसिद्धिस्तत्रैव तदर्थस्य सामर्थ्यम्"** इस नियम से अर्थ की सहकारिता से "माधवः" पद से वसन्त ही ध्वनित होता है, कोई अन्य अर्थ नहीं क्योंकि अन्य अर्थ को द्योतन करने में "माधवः" पद की सामर्थ्य का अभाव है । और न यहाँ पर शब्दार्थोभय श्लेष के होने से शब्दार्थोभयशक्तिमूला व्यंग्योपमा है, यह कहना चाहिये क्योंकि ऐसा होने पर "दुर्गालंघित" यहाँ पर भी उभयश्लेष होने से उभयशक्ति व्यंग्यता हो जायेगी ।

अर्थ—(उक्त पद्य के अन्दर व्यंग्य दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण **में**) कृष्ण (माधव) वसन्त (माधव) के समान है, यह उपमालंकार व्यंग्य है । (**"दुर्गालंघितविग्रहः"** इत्यादि की तरह वसन्त के अप्राकरणिक होने से और उसके ज्ञान का प्रकृत में अनुपयोग होने से **"वसन्त इव कृष्णः"** यह उपमालंकार चन्द्र, पद्म **आदि** शब्दों के विनिमय में अक्षम होने के कारण, हिममुक्तादि शब्दों के विनिमय में **क्षम होने के कारण** दोनों के ही प्राधान्य से व्यञ्जक होने से उभयशक्तिमूलकध्वनि **है और** वह ध्वनि वाचक शब्द के अभाव के कारण व्यंग्य ही है]

एवं च व्यङ्ग्यभेदादेव व्यङ्ग्व्यञ्जकानां काव्यानां भेदः ।

तदष्टादशधा ध्वनिः ॥ ६ ॥

अविवक्षितवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्विविधः विवक्षितान्यपरवाच्यस्तु असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेनैकः । संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन च शब्दार्थोभयशक्तिमूलतया पञ्चदशेत्यष्टादशभेदो ध्वनिः ।

एषु च—

वाक्ये शब्दार्थशक्त्युत्थस्तदन्ये पदवाक्ययोः ।

एवञ्चेति—और इसप्रकार (उक्त रीति से) व्यंग्य के भेद से ही व्यञ्जक काव्यों का भेद होता है। [वाच्यभेद से जिसप्रकार वाचकभेद होता है उसीप्रकार व्यंग्य के भेद से व्यञ्जक काव्यों का भी भेद होता है।]।

अवतरणिका—काव्यभेदों का परिगणन करते हैं—

अर्थ—इसप्रकार (उक्त क्रम से) ध्वनि अठारह प्रकार की है।

टिप्पणी—जितने प्रकार के व्यंग्यार्थ होते हैं, उतने ही प्रकार के काव्य भी होते हैं, इस सिद्धान्त के अनुसार ध्वनि के १८ प्रकार होने पर काव्य के भी १८ प्रकार हुये। यह सारांश है।

अर्थ—(ध्वनि के १८ भेद गिनाते हैं) अविवक्षितवाच्यध्वनि (लक्षणामूलध्वनि) (१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (२) और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-इसप्रकार से दो प्रकार की है। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (अभिधामूलकध्वनि) (३) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रूप से एक प्रकार की है। और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य से शव्द, अर्थ और उभयशक्तिमूलक होने से पन्द्रह (प्रकार की होती) है। [तथाहि-शव्दशक्तिमूलकध्वनि के दो भेद, अर्थशक्तिमूलक के बारह भेद और उभयशक्तिमूलक ध्वनि का एक भेद—इसप्रकार कुल (२+१२+१) १५ भेद हुये] (पूर्व तीन भेदों को मिलाकर) इसप्रकार ध्वनि के १८ भेद (होते) हैं।

टिप्पणी—ध्वनि के स्पष्टतया १८ भेद इसप्रकार हैं—

(क) **लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनि** के दो भेद—

(१) **अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य** ध्वनि (२) **अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य** ध्वनि

(ख) **अभिधामूलकविवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के १६ भेद**—

(१) **असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य** = १

(२) **संलक्ष्यक्रमव्यंग्य** के भेद—**शब्दशक्तिमूलक** के २ भेद, **अर्थशक्तिमूलक** के १२ भेद और **उभयशक्तिमूलक** का १ भेद = १५

इसप्रकार कुल मिलाकर(२+१६) १८ भेद हुये।

अर्थ—इनमें से (उक्त अठारह प्रकार की ध्वनियों में से) **शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवध्वनि** (केवल) वाक्य में (ही होती है) उससे भिन्न ("शब्दार्थोभयशक्युद्भव" से भिन्न "अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य" आदि १७ भेद) (कहीं) पदगत और (कहीं) वाक्यगत (होती) हैं (नियामक के अभाव के कारण)।

तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः पदगतो यथा—

'धन्यः स एव तरुणो नयने तस्यैव नयने च।
युवजनमोहनविद्या भवितेयं यस्य संमुखे सुमुखी ॥'

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्तादिगुणविशिष्टनयनपरः ।

टिप्पणी—(१) **भाव यह है कि**—जहाँ एक ही पद की प्रधानता से व्यंग्यार्थ के ज्ञान में कृतित्व होगा, और अन्यों की सहकारितामात्र होगी वहाँ **"पदगतता"** सिद्ध है । और जहाँ नाना पदों के प्राधान्य से व्यंग्यार्थ के ज्ञान में कारणता होगी वहाँ **"वाक्यगतता"** होती है । **कहा भी है**:—

(क) **"यत्रैकस्य पदस्य शक्तेः प्राधान्यमन्येषामानुगुण्यमात्रं तत्र पदाश्रयता ।**

(ख) **यत्र तु नानापदानां क्रियाकारकरूपाणां शक्तेस्तुल्यता तत्र वाक्याश्रयतेति-भावः"** ॥इति॥

(२) **अतः** "शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवध्वनि" का एक ही भेद है । और दूसरे सत्रह भेद (१) पदगत और (२) वाक्यगत दो प्रकार के होने से ३४ प्रकार के हुये। इसप्रकार कुल मिलाकर ३५ भेद हुये ।

अर्थ—(१) उनमें से (पदगत और वाक्यगत इन १७ भेदों में—"अविवक्षित-वाच्यध्वनि" के भेदों में से) **अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि** का **पदगत** (उदाहरण) **यथा**—**धन्य इति**—

प्रसङ्ग—किसी परम सुन्दरी कुमारी को देखकर किसी की सस्पृह उक्ति है।

अर्थ—वही युवक धन्य है (पुण्यशाली है) और उसी के (युवक के) नेत्र सार्थक नेत्र हैं (धन्य हैं) जिसके **सन्मुख** युवकजनों को मोहित करने वाली विद्यारूप यह (लोकोत्तर सौभाग्यशालिनी) सुन्दरी (सुन्दर होने के कारण दर्शनीय) होगी ।

टिप्पणी—यद्यपि **"कदली-कदली"** इत्यादि में **पदगत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यार्थ-ध्वनि** का उदाहरण दे दिया था **तथापि** दूसरा उदाहरण देना उसीको दृढ करने के लिये है ।

अर्थ—(इस ध्वनि के लक्षणामूलक होने से लक्ष्यार्थ दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) दूसरा नयन शब्द (अनुपयुक्त होने के कारण) "अविवक्षित-वाच्य" होता हुआ) भाग्यवत्तादि गुणों से विशिष्ट नयन परक (लक्षणा से बोधित करता) है । [इससे नायक का उचित व्यवहारत्वादि व्यंग्य उपादानलक्षणा का फल है । यहाँ लक्षणा के अन्दर सामान्य और विशेष भाव सम्बन्ध समझना चाहिये । यहाँ पर वाक्य के अर्थों का प्रत्येक स्थल पर विश्राम हो जाने से एक वाक्यता नहीं है, अतः उस वाक्य में विद्यमान "नयन" इस एक पद की ही व्यञ्जकता है, सम्पूर्ण वाक्य की नहीं, अतः यह **"पदगत" ध्वनि** है । **"त्वामस्मि वच्मि"** यहाँ पर तो व्यंग्यार्थ की उपस्थिति एक वाक्य के अन्दर विद्यमान सभी पदों से है, अतः **"वाक्यगत"** ध्वनि है । यही इन दोनों में भेद है ।] ।

वाक्यगतो यथा–

'त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ।।'

अत्र प्रतिपाद्यस्य संमुखीनत्वादेव लब्धे प्रतिपाद्यत्वे त्वामिति पुनर्वचनमन्यव्यावृत्तिविशिष्टं त्वदर्थं लक्षयति। एवं वच्मीत्यनेनैव कर्तरि लब्धेऽस्मीति पुनर्वचनम्। तथा विदुषां समवाय इत्यनेनैव वक्तुः प्रतिपादने सिद्धे पुनर्वच्मीति वचनमुपदिशामीति वचनविशेषरूपमर्थं लक्षयति। एतानि च स्वातिशयं व्यञ्जयन्ति। एतेन मम वचनं तवात्यन्तं हितं तदवश्यमेव कर्तव्यमित्यभिप्रायः। तदेवमयं वाक्यगतोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः।

अर्थ—(**अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि** का) **वाक्यगत** (उदाहरण) **यथा-त्वामस्मीति**—

प्रसङ्ग—विद्वत्सभा के अन्दर आने वाले किसी के प्रति किसी आप्त की उक्ति है।

अर्थ—(मैं उपदेश के योग्य) तुमको कहता हूँ (उपदेश देता हूँ कि) यहाँ विद्वानों का समूह बैठा है। इसलिये अपने लिये हितकारी बुद्धि का आश्रय लेकर यहाँ (विद्वत्समुदाय में) (अपने) कर्त्तव्य निश्चय को करो।

टिप्पणी—अर्थात् जो मैं तुमसे कहता हूँ वह अवश्य करो अन्यथा तुम्हारा महान् अनर्थ होगा, यह आशय है।

अर्थ—(यहाँ लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) बोद्धव्य के (उपदेश के योग्य के) (कहने वाले के) सामने विद्यमान होने से ही बोद्धव्यत्व के प्राप्त होने पर "**त्वाम्**" इस पद को पुनः कहना अन्यों से पृथक् विशिष्ट "**त्वत्**" पद का अर्थ लक्षित करता है। **एवमिति**—इसीप्रकार "**वच्मि**" इससे ही कर्ता के (**अहं** के) प्राप्त हो जाने पर "**अस्मि**" यह पुनः कहना (वक्ता में हितचिन्तन की विशेषता द्योतित होती है) अन्यों से पृथक् विशिष्ट "**मत्**" पद का अर्थ लक्षित करता है। **तथेति**—तथा "**विदुषां समवायः**" इत्यादि कहने से ही वक्ता का (इस श्लोक के प्रतिपादन करने वाले के) प्रतिपादन (बोद्धव्य के बोधनीय अर्थ को कथन करने में) सिद्ध होने पर पुनः "**वच्मि**" यह कहना "**उपदिशामि**" (उपदेश करता हूँ) इस कथनविशेष रूप अर्थ को लक्षित करता है। **एतानीति**–(व्यंग्यार्थ स्पष्ट करते हैं) और ये(त्वाम्, **अस्मि, वच्मि**—ये तीन पद लक्षणा के प्रतिपादक हैं) अपने अतिशय को [त्वत्—इससे वाद जल्पादि क्षम होना, **मत्**—इससे अत्यन्त हितकारी होना, **वच्मि**—इससे कथन की अलंघनीयता-इन अर्थों को] व्यंजना से बोधित करते हैं। [प्रत्येक पद की व्यंग्यता दिखाकर वाक्य की व्यंग्यता दिखाते हैं] **एतेनेति**—इस (पद्य समूह) से "मेरा वचन तुम्हारे लिये अत्यन्त हितकारी है अतः अवश्य ही करना चाहिये" यह अभिप्राय है। [निष्कर्ष दिखाते हैं] **तदिति**--इससे (व्यंग्यार्थ के अनेक पदनिष्ठ होने से) इसप्रकार यह "**वाक्यगत अर्थान्तर-संक्रमितवाच्यध्वनि**" है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः पदगतो यथा—'निःश्वासान्ध–' इत्यादि। वाक्य-गतो यथा–'उपकृतं बहु तत्र–' इत्यादि। अन्येषां वाक्यगतत्वे उदाहृतम्। पदगतत्वे यथा—

'लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः।
तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान्॥'

अवतरणिका—(२) लक्षणामूलक "अविवक्षितवाच्यध्वनि के प्रथम भेद **अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि** के पदगत और वाक्यगत उदाहरणों को दिखाकर **द्वितीय भेद "अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य"** के पदगत और वाक्यगत उदाहरण दिखाते हैं:—

अर्थ—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का पदगत (उदाहरण) **यथा**—**"निःश्वासान्ध इव"** इत्यादि। [यहाँ केवल **"अन्ध"** पद के कारण **"पदगतता"** समझनी चाहिये] (**अन्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि** का) **वाक्यगत** (उदाहरण) **यथा**—**"उपकृतं बहु तत्र"** इत्यादि। [यहाँ **"उपकृतम्"**, **"सुजनता"**, **"सुखितम्"** इत्यादि अनेक पदगत होने के कारण **"वाक्यगतता"** समझनी चाहिये।] [यहाँ लाक्षणिक पदों के "एक वाक्यस्थ" होने के कारण "वाक्यत्व" से ही व्यञ्जकता है। यद्यपि उपकृतादि लाक्षणिक पदों की प्रत्येक वाक्य के अन्दर विद्यमानता है तथापि महावाक्य-गत होने से "एकवाक्यस्थत्व"समझना चाहिये। **अन्येषामिति**—अन्यों के (**असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य** के भेदों के) **"वाक्यगत"** उदाहरण दिये जा चुके हैं। [**"शून्यं वासगृहम्"** इत्यादि **असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का** और **"पन्थिअ ण एत्थ"** इत्यादि **संलक्ष्यक्रमव्यंग्य** के उदाहरण दे दिये गये हैं।]।

अर्थ—(१) (**असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि** का) **पदगत** (उदाहरण) **यथा—लावण्य-मिति—**

प्रसङ्ग—किसी वियोगी की उक्ति है।

अर्थ–वह लावण्य। (अङ्गप्रभाविशेष), वह कान्ति! (उज्ज्वलता),वह रूप! वह वचनभङ्गिमा, उस समय (नायिका के संयोग काल में अर्थात् सम्भोग के अवसर पर) अमृतस्थानीय थे (अमृत की तरह सुख का अनुभव कराने वाले थे)। किन्तु अब (नायिका के विरह की अवस्था में) महान् व्याधि (के समान अतिशय सन्तापजनक हो गये) हैं। [सम्पूर्ण शरीर को सन्तप्त करने के कारण]।

टिप्पणी—(१) लावण्य का लक्षण—सर्वावयवगतो विदग्धनयनोत्सवहेतुः कोऽप्यतिशयो लावण्यम्।

तदुक्तम्—"मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमुदाहृतम्॥

अत्र लावण्यादीनां तादृगनुभवैकगोचरताव्यञ्जकानां तदादिशब्दानामेव प्राधान्यम्, अन्येषां तु तदुपकारित्वमेवेति तन्मूलक एव ध्वनिव्यपदेशः।

---

(२)कान्ति का लक्षण–**प्रत्येकमवयवानां संस्थानसौभाग्यं कान्तिरिति चण्डीदासः।**

(३) **प्रदीपकारस्तु—"अवयवस्थसंस्थानसौष्ठवं रूपम्** ("रूप" का लक्षण)। "**अवयविनस्तदेव लावण्यम्**" ("लावण्य" का लक्षण)।

अवतरणिका—शंका—यहाँ प्रकृत उदाहरण में विभावादि से व्यंग्य विप्रलम्भ-शृङ्गार के होने पर लावण्यादि पदों की सहायता से ही "तत्" आदि पदों की व्यञ्जकता होने से ही ध्वनि की "**वाक्यगतता**" है, पुनः "**पदगत**" रूप से क्यों उदाहरण दिया है? इसका उत्तर देते हैं—

अर्थ–यहाँ '(प्रकृत पद्य में) लावण्यादि उसप्रकार के (अनिर्वचनीय) अनुभव रूप एकमात्र गोचरता (प्रत्यक्ष ज्ञान) के व्यञ्जक "तत्" आदि शब्दों का ही ("आदि" पद से "असौ,तद् और सः" इनका ग्रहण होता है।)प्राधान्य है। [अर्थात् उत्कृष्ट विप्रलम्भ-शृङ्गार की व्यञ्जना करने में लावण्यादि की अलौकिकता के द्योतक "तत्" आदि शब्दों का ही प्राधान्य है।] दूसरों की (विभावादिकों की अथवा लावण्यादिकों की) तो "तत्" आदि पदों की (व्यञ्जकता में) सहकारिता है, इसकारण से (इति) पद-मूलक ही (वाक्यमूलक नहीं) ["**प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति**" इति न्यायात्]"ध्वनि" की संज्ञा है। [अर्थात् अत्यन्त सन्तोष को देने वाली वस्तु के स्मरण करने से विरहियों को अतिशय दुःख होता है, यह "अतिशय विप्रलम्भता"ध्वनित होती है। अतः यह **पदगता-संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि** का ही उदाहरण ठीक है।]।

टिप्पणी—शंका—"तत्" आदि पदों का अनुभव गोचर होने पर वाच्यता ही है, व्यञ्जना किसप्रकार है? **उत्तर**—ऐसी बात नहीं है। "**अनुभवगोचरता**" इससे अनिर्वचनीयता का कथन करने के कारण दोष नहीं आता है। **चण्डीदास** ने कहा भी हैं कि—"**अनुभवैकगोचरास्तत्कालचमत्कारिणो निर्वक्तुमशक्याः सर्वस्वव्ययप्राणपणा-दिभिरपि प्रार्थनीयाः**" इति॥ भाव यह है कि देही व्यक्तियों की तरह काव्यों की संघटनाविशेष से साध्य सौन्दर्य की प्रतीति अन्वयव्यतिरेकी के द्वारा संघटना के भागों में समर्थित होती है। इस कारण से पदों का भी (केवल वाक्यों का नहीं) व्यञ्जकत्व के द्वारा ध्वनिव्यवहार सिद्ध है। यह ध्वन्यालोक में स्पष्ट किया है।

तदुक्तं ध्वनिकृता—

'एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी ।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ।।'

एवं भावादिष्वप्यूह्यम् ।

'भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः ।
कस्य नानन्दनिष्यन्दं विदधाति सदागमः ।।'

अवतरणिका—ननु—दूसरों की सहायता के विना पद की व्यञ्जकता सम्भव नहीं है। और न प्राधान्य और अप्राधान्य से निर्वाह है अतः उसके विवेचन से कोई लाभ नहीं। ऐसा होने पर सर्वत्र वाक्य की ही व्यञ्जकता उपपन्न है। पदगत ध्वनि का प्रभेद तो प्राचीनों के मत के अनुसार है, अतः प्राचीन मत दिखाते हैं—

अर्थ—ध्वनिकार ने भी कहा है (कि)**—एकेति—**(यद्यपि सभी ध्वनियां वाक्यव्यंग्य ही हैं तथापि अन्वयं व्यतिरेक के द्वारा जिस पद या वाक्य में सौन्दर्य अधिक उत्पन्न हो जाता है उसी की व्यञ्जकता का प्रतिपादन करते हैं) एक अङ्ग में स्थित आभूषण से (नासिकास्थ गजमुक्तादि से) सुन्दरी की तरह पद से व्यंग्य ध्वनि अर्थ से सुकवि की वाणी (श्रोत्रग्राह्य वाक्य व्यंग्य स्फोटध्वनि) (अर्थात् सम्पूर्ण वाक्य ही) रमणीयता को प्राप्त होती है।

टिप्पणी—जिसके अन्दर विद्यमान पद से व्यंग्य चारुतया प्रकाशित होता है उसी का "ध्वनित्व" है। केवल सर्वनामादि पदों की ही रसादि व्यञ्जकता नहीं है किन्तु दूसरों की भी सम्भोग आदि में समझनी चाहिये।

अर्थ—इसीप्रकार भावादिकों में भी (पदगतध्वनि का उदाहरण) समझ लेना चाहिये। [उनके भी "**असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि**"त्वेन उदाहरण देना उचित है। जिसप्रकार पद से व्यंग्य रस रूप असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य काव्यों के उदाहरण दिये हैं उसीप्रकार भावरूप असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के भी पद व्यंग्य के उदाहरण ढूँढ़ लेने चाहिये।](**भावादिषु**-यहाँ "आदि" पद से रसाभासादिकों का ग्रहण होता है)।

अर्थ—(२) (**शब्दशक्त्युद्भवसंलक्ष्यक्रमव्यंग्य पदगत वस्तु से वस्तुध्वनि** का उदाहरण) यथा—भुक्तीति—

प्रसङ्ग—दूसरे व्यक्ति के सन्मुख उपनायक के आने पर शास्त्रों की प्रशंसा के ध्याज से अपने हर्ष को सूचित करती हुई किसी नायिका की उक्ति है।

अर्थ—भोग (स्वर्गादि सुख) और अपवर्ग को करने वाला (कर्मकाण्ड और वेदान्त इन दोनों के उपाय को बताने के कारण) (तथा) एकान्त में तत्त्वोपदेश में तत्पर (निर्जन स्थान पर ही उपासनादि करनी चाहिये, ऐसा शास्त्रीय विधान है) सच्छास्त्र (वेद-पुराणादिक) किसके (आस्तिक मनुष्य के) आनन्द प्रवाह को नहीं करता है, अपितु सभी के लिये आनन्द को करने वाला है। **इति वाच्यार्थः।**

व्यंग्यार्थ—सुरत सुख सम्भोग (भुक्ति) और गृहकर्म त्याग (मुक्ति) को करने वाला, जनशून्य संकेत स्थान के उपदेश देने में तत्पर अथवा बहु लीलाओं के उपदेशों को करने वाला (आप सदृश) सत्पुरुष का आगम किसके (मुझ सदृश के) आनन्द प्रवाह को (आनन्दातिशय को) नहीं करता है, अपितु सभी को करता ही है।

अत्र सदागमशब्दः सन्निहितमुपनायकं प्रति सच्छास्त्रार्थमभिधाय सतः पुरुषस्यागम इति वस्तु व्यनक्ति। ननु सदागमः सदागम इवेति न कथमुपमाध्वनिः ? सदागमशब्दयोरुपमानोपमेयभावाविवक्षणात्। रहस्यस्य सङ्गोपनार्थमेव हि द्व्यर्थपदप्रतिपादनम्। प्रकरणादिपर्यालोचनेन च सच्छास्त्राभिधानस्यासम्बद्धत्वात्।

अर्थ–[यहाँ शिलष्ट "**सदागमः**" पद की प्रधानता से व्यंजकत्व है और दूसरों के सहकारी होने से पदव्यंग्य का व्यवहार है, इस आशय से कहते हैं) **अत्रेति**–यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**सदागमः**" शब्द (सखीजनादि के पास) उपस्थित उपनायक के प्रति "**सच्छात्र**" अर्थ को अभिधावृत्ति से बोधन करके "**सतः पुरुषस्यागमः**" इस वस्तु को ध्वनित करता है [यहाँ वक्तृबोद्धव्य के वैशिष्ट के बल से "**सदागमः**" पद के प्राधान्य से उपपति की स्तुति रूप वस्तु व्यंग्य होती है। इसीलिये–**प्रदीपकार** कहते हैं–**काचित् संकेतदायिनमेवं मुख्यया वृत्या शंसति तत्र सदागमपदेन स्तुतिर्व्यज्यते**', इति। **यद्यपि** भुक्ति, मुक्ति और एकान्त पदों की भी व्यञ्जकता है **तथापि** उनके अभाव में भी केवल **सदागमः** पद व्यंग्य के बोधन में समर्थ है किन्तु इस पद से रहित होकर वे व्यंग्य बोधन में समर्थ नहीं है। अतः **सदागम** पद की प्रधानता है, अतः पद व्यञ्जकता है। "**पन्थिअ ण**" इत्यादि में तो अनेक पदों से प्रतिपाद्य वस्तु व्यंग्य है अतः वहाँ वाक्यव्यंजकता ही है। यही उससे इसका भेद है। "**सदागम**" पद के परिवर्तन में अक्षम होने के कारण "शब्दशक्तिमूलत्व समझना चाहिये।] (सत्पुरुषागम और सत् शास्त्र के अन्दर उपमाध्वनि की आशंका उठाते हैं) **नन्विति**–"**सदागमः सदागम इव**" वेदादिक उत्तमशास्त्र सत्पुरुष के आगमन की तरह हैं," इसप्रकार की "**उपमाध्वनि**" क्यों नहीं है ? ("**दुर्गालंघितविग्रहः**" इसकी तरह) (**इसका समाधान करते हैं**) **सदागमशब्दार्थयोरिति**—सच्छास्त्र और सत्पुरुषागम-इनके अन्दर उपमानोपमेय भाव की विवक्षा न होने के कारण (उपमाध्वनि नहीं है) (क्योंकि) रहस्य को छिपाने के लिये ही (उपनायक के प्रति अपने अनुराग का गोपन करने के लिये ही उपमानोपमेयभाव के बोधन के लिये नहीं) द्व्यर्थक पदों का प्रयोग है। [**प्रश्न**—"**तदर्थं कृतमेतदर्थं भवति**" इस न्याय से उपमानोपमेय का बोधक क्यों नहीं हो जावे ? इसका **उत्तर** देते हैं) **प्रकरणादिति**—प्रकरणादि के ("आदि" पद से वयोऽवस्थादि का ग्रहण होता है) अनुसन्धान से सच्छास्त्र के कथन करने का प्रकृत में सम्बन्ध न होने के कारण।

टिप्पणी—तथा च—जहाँ वाच्यार्थ प्रकृत में उपयुक्त हो और व्यंग्यार्थ असम्बद्ध हो वहीं अगत्या उन दोनों के उपमानोपमेयभाव की कल्पना कर ली जाती है। यहाँ पर तो व्यंग्यार्थ की ही प्रकृत में उपयोगिता है और वाच्यार्थ उसका अङ्गमात्र है, अतः उपमानोपमेय का अवसर नहीं है। यहाँ उपनायक के प्रति अनुराग का गोपन करना ही विवक्षित है, उपमानोपमेय का बोधन करना विवक्षित नहीं है।

(२) यहाँ शिलष्ट **सदागम** पद का ही व्यञ्जकत्व में प्राधान्य है, अन्य पदों की तो उसके साहाय्य से व्यञ्जकता है।

'अनन्यसाधारणधीर्धृताखिलवसुन्धरः ।
राजते कोऽपि जगति स राजा पुरुषोत्तमः ॥'

अत्र पुरुषोत्तमः पुरुषोत्तम इवेत्युपमाध्वनिः । अनयोः शब्दशक्तिमूलौ संलक्ष्यक्रमभेदौ ।

अर्थ—(३) (**शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यंग्य पदगत अलंकारध्वनि** का उदाहरण) **यथा–अनन्येति**—

प्रसङ्ग—परोक्ष में राजा की स्तुति का वर्णन है ।

अर्थ—असाधारण है बुद्धि जिसकी ऐसा, पालन की है अथवा कच्छप रूप से धारण की है सम्पूर्ण पृथिवी जिसने ऐसा, मनुष्य श्रेष्ठ अथवा नारायण [पुरुषोत्तमत्वं नारायणे कथमिति **गीतायां** भगवत एव उक्तिः—

"यस्मात्क्षरमतीतोऽहमीश्वरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मिन् लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ इति"]

संसार में (तीनों लोकों में) अनिर्वचनीय (कोऽपि) राजा (शासकरूप से) शोभित हो रहा है । [अथवा "**तमेव भान्तमनुभान्ति सर्वे**" इत्यादि श्रुति प्रसिद्धत्वेन शोभित हो रहा है ।] ।

टिप्पणी—यहाँ पुरुषोत्तम की प्रधानता है, अतः पदव्यंग्य उपमाध्वनि समझनी चाहिये ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "पुरुष श्रेष्ठ विष्णु की तरह है" यह उपमा ध्वनि है । (यहाँ वाच्यार्थ राजा के प्रकरणगत होने के कारण ही उपमाध्वनि है—यह समझना चाहिये) । ये दोनों ("**भुक्तिमुक्तिकृत् और अनन्यसाधारणधीः**") "**शब्दशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रम**" **के भेद** हैं ।

टिप्पणी— शंका—यदि यहाँ पूर्वार्ध में भी श्लेष होने से "**दुर्गालङ्घितविग्रहः**" की तरह वाक्य व्यंग्य को ही उपमानोपमेय मान लिया जाय तो ? **उत्तर—ठीक है**, अनेकार्थक पुरुषोत्तम पद के सार्थक करने के लिये, एकार्थक भी "**अनन्यसाधारणधीः**" पदों की द्व्यर्थकता की कल्पना की जाती है, अतः पुरुषोत्तम पद की ही **प्रधानता है** । "**दुर्गालङ्घितविग्रहः**" इत्यादि में तो अनेक पदों की स्वभाव से ही **अनेकार्थकता है**, यही इसका उससे भेद है । **प्रश्न**—संज्ञा में ही ("**संज्ञायाम्**" २।१।४४ **पा० इस सूत्र से**) समास होने से पुरुषोत्तम पद की अनेकार्थकता कैसे है ? और सप्तमी समास का ही संज्ञा में विधान न होने से **षष्ठी** समास से पुरुष श्रेष्ठ की वाच्यता है, यह कहना चाहिये क्योंकि ("**न निर्धारणे**" २।२।१० **पा० इस सूत्र** से) निर्धारण में विहित षष्ठी समास का निषेध है । **उत्तर—पुरुषम् उत्तमयति–संसर्गेण उत्कृष्टं करोतीति**" व्युत्पत्ति से वह पुरुषश्रेष्ठ का वाचक है ।

'सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः ।
आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्तासि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥'

अत्र स्वतःसम्भविना वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्तासीति वस्तु व्यज्यते । तच्चाधुना क्लान्तासि, न तु पूर्वं कदाचिदपि तवैवंविधः क्लमो दृष्ट इति बोधयतोऽधुनापदस्यैवेतरपदार्थोत्कर्षादस्यैव पदान्तरापेक्षया वैशिष्ट्यम् ।

अर्थ—(१) (अर्थशक्तिमूलकस्वतःसम्भवी वस्तु से पदगत वस्तुध्वनि का उदाहरण) यथा–सायमिति—

प्रसङ्ग—मार्ग में उपनायक के साथ सुरत क्रीडा करके, उससे उत्पन्न श्रम को दूर करने के लिये स्नानादि से निवृत्त सखी के प्रति, जिसे रहस्य मालूम पड़ गया है ऐसी किसी, विदग्धा की उक्ति है ।

अर्थ—(तूने अभी) सायकाल (सूर्य के अस्तोन्मुख होने पर । इससे स्नानोपरान्त किसी अन्य कार्य को न करना प्रतीत होता है) स्नान (बड़े यत्न से चिरकाल तक) किया है; (सायंकालीन स्नान करने से श्रम की निवृत्ति हो जाती है और साथ ही सारे दिन घर के कार्य की थकावट की भी निवृत्ति हो गई), (सुगन्धित) चन्दन से शरीर को चारों ओर से अच्छी प्रकार लिप्त कर लिया (अतः चन्दन लेप से उत्पन्न श्रम का भी अवकाश नहीं है क्योंकि चन्दन का स्वतः लेप नहीं किया है, किसी से करवाया है—यह भाव है), सूर्य अस्ताचल के शिखर (को पारकर) चला गया (अर्थात् रात्रि हो गई । इससे सायंकाल सूर्य के अस्त हो जाने पर अंश भर भी उष्णता नहीं है, यह भाव सूचित होता है ।) (तथा) यहाँ (मेरे पास में) स्वच्छन्द होकर (निःशङ्क होकर) आई है (इससे मार्ग में शीघ्र चलने के कारण या भय के कारण थकावट आ गई हो, ऐसी बात भी नहीं है) (तथापि) तुम्हारी सुकुमारता (कोमलता) आश्चर्यजनक है (असाधारण है) जिस सुकुमारता से अभी (थकावट की सामग्री के अभाव होने पर तथा थकावट को हटाने वाली सामग्री के होने पर) (इससे पूर्व नहीं) अन्दर और बाहर दोनों तरफ से (अभितः) थक गई है । (क्योंकि) तेरे नयन युगल बन्द होने के सम्पर्क से रहित (**न विद्यते मीलनस्य मुद्रणस्य व्यतिकरः–पौनःपुन्येन प्रवृत्तिः-सम्बन्धो वा यस्मिन् तत् तथोक्तम् मीलनसम्पर्करहितम्**) स्थिर रहने में समर्थ नहीं है । (आँखों का बन्द होना सर्वात्मना थकावट की सूचना देता है किन्तु यहाँ नेत्रों में चाञ्चल्य है ।) । (अतः वह श्रम जन्य सामग्री के अभाव होने से केवल सुकुमारता के कारण ही है—अतः संसार से विलक्षण आश्चर्यकारी तुम्हारी सुकुमारता है ।) ।

यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) स्वतःसम्भवी (स्वभाव से सम्भावना करने के योग्य) वस्तु से (**"तव सौकुमार्यमाश्चर्यं येनाधुना क्लान्तासि"** इस वाक्यार्थ से) **"परपुरुष के सङ्ग से क्लान्त हुई है"** यह वस्तु (**"अधुना"** पद की प्रधानता से) व्यंग्य होती है । [**शंका**–इसप्रकार के अर्थ के वाक्य से व्यंग्य होने पर यह "वाक्यगतध्वनि" है, "पदगत ध्वनि" नहीं ? इसका **समाधान** करते हैं] । **तच्चेति**—और वह (व्यंग्य) [**पर पुरुष के सङ्ग से क्लान्त हुई है**] **"इस समय क्लान्त हुई है, इससे पूर्व तुम्हारी कभी भी इसप्रकार की क्लान्तता नहीं देखी"** है । [यदि सुकुमारता के कारणइसप्रकार की क्लान्ति

'तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥' (युग्मकम्)

है तो वह दूसरे दिन भी होनी चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है अतः "अधुना" पद से आधुनिक क्लान्ति की ओर निर्देश किया है ।] इसप्रकार (का अर्थ) बोधन करते हुये "अधुना" पद की ही [शंका—"अधुना" पद के प्राधान्य से ही यह व्यंग्य ध्वनित होता है, यह कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि अपने-अपने अर्थ का प्रतिपादन करते हुये अन्य पदों की भी व्यञ्जकता सम्भव हो सकती है ? इसका समाधान करते हैं ।] दूसरे पदों के ["क्लान्ता असि" इन पदों के] अभिधेय अर्थ की उत्कृष्टता से (उसप्रकार के अर्थ के प्रतिपादन में सामर्थ्य की अधिकता से इस समय ही थक गई, इससे पूर्व कभी नहीं, इसप्रकार के अर्थ के प्रतिपादन से ही) प्राधान्य है । [अतः "प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति" इस न्याय से "अधुना" पद के अर्थ के प्राधान्य से यह "पदगत" ध्वनि है । "दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि" इत्यादि में इसप्रकार के पद नहीं हैं अतः वहाँ "वाक्यगत" ध्वनि ही है । यही इसका उससे भेद है ।]

टिप्पणी—यहाँ शब्दों के परिवृत्ति सह होने के कारण "अर्थशक्तिमूलक" ध्वनि समझनी चाहिये । इसीप्रकार अग्रिम उदाहरण में भी समझना चाहिये ।

अर्थ—(२) (अर्थशक्तिमूलक स्वतःसम्भवी वस्तु से पदगत अलङ्कारध्वनि का उदाहरण) यथा—तदप्राप्तीति—

प्रसङ्ग—रास के उत्सव में गुरुजनों की रुकावट से कृष्ण के पास जाने में असमर्थ भी गोपकन्या की मुक्ति प्राप्ति का यह वर्णन है ।

अर्थ—श्रीकृष्ण जी की अप्राप्ति से अत्यन्त महादुःख (के भोग) से विनष्ट हो गये हैं सम्पूर्ण (अनेक जन्म सञ्चित) पाप जिसके ऐसी (भोग से ही पाप और पुण्यों का क्षय होता है और दुःख का भोग किसी पाप का फल ही होता है; उसके भोग से ही पाप का क्षय होगा, इसी के प्रतिपादन के लिये "महादुःख" का प्रतिपादन किया है ।) तथा श्रीकृष्ण जी के चिन्तन से (अहर्निश ध्यान करने से) उत्पन्न महान् आनन्द (के भोग) से नष्ट हो गया है पुण्यों का समूह जिसका ऐसी [सुख का उपभोग करना किसी पुण्य का फल होता है, उसके भोग से ही पुण्य का विनाश होगा । "प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः" इति यह भाव है] संसार की है उत्पत्ति जिससे ऐसे परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण का ध्यान करती हुई (ध्यान से साक्षात्कार करती हुई) वह (जो गुरुजनों के अवरोध के कारण श्रीकृष्ण के पास जाने में असमर्थ भी) गोपिका निःश्वास शून्य होने के कारण अथवा प्राणों के रोक लेने के कारण ["न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति" बृहदारण्यकोपनिषद् ४ अध्याय ४ ब्राह्मण ६ मन्त्र, "अत्रैव समवलीयन्ते" बृह० उप० ३ अ० २ ब्रा० ११ मन्त्र इस श्रुति के अनुसार] मुक्ति को प्राप्त हो गई (श्रीकृष्ण के वियोग से मुक्त हो गई) । [क्योंकि मुक्ति के प्रति ब्रह्मज्ञान और पाप-पुण्यों का एक साथ ही नष्ट हो जाना कारण होता है ।]

अत्राशेषचयपदप्रभावादनेकजन्मसहस्रभोग्यदुष्कृतसुकृतफलराशितादात्म्याध्यवसिततया भगवद्विरहदुःखचिन्ताह्लादयोः प्रत्यायनमित्यतिशियोक्तिद्वयप्रतीतिरशेषचयपदद्वयद्योत्या।

प्रसङ्ग—उक्त उदाहरण के अन्दर श्रीकृष्ण जी के वियोग के दुःख और चिन्तन के आह्लाद के सम्पूर्ण पाप और पुण्य के फल से अध्यवसित ज्ञान वाले दो अतिशयोक्ति अलङ्कार "अशेष" और "चय" के प्राधान्य से ध्वनित होते हैं, इसका प्रतिपादन करते हैं।

अर्थ—(पाप और पुण्य का सम्पूर्ण लाभ) यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "अशेष" और "चय" पद के (सामस्त्य वाचक) सामर्थ्य से (क्योंकि कारण सामस्त्य से फल सामस्त्य की प्रतीति होनी उचित ही है) अनेक जन्म-जन्मान्तरों में (भोग्य) पाप और पुण्य की राशि के अभेद से (तादात्म्येन) अध्यवसित होने के कारण (आरोप का विषय होने के कारण) भगवद्विरह दुःख और चिन्तन के सुख (अ:ह्लाद) की (प्रकरण वैशिष्टय से) प्रतीति होना इसप्रकार दो अतिशयोक्ति अलङ्कार का ज्ञान "अशेष" और "चय" इन दो पदों से व्यक्त होता है।

टिप्पणी—[तथाहि—भगवद्विरह दुःख सम्पूर्ण पापों का फल है और भगवान् के चिन्तन का आह्लाद सम्पूर्ण पुण्यों का फल है। इसको अतिशयोक्ति का प्रयोजक समझना चाहिये अर्थात् अनेक जन्म भोग्य पाप फल के साथ विरह दुःख का अभेदाध्यवसाय करने से पहला और अनेक जन्मभोग्य पुण्य फल (सुख) के साथ चिन्ताजन्य आह्लाद का अभेदाध्यवसान करने से दूसरा अतिशयोक्ति अलङ्कार व्यक्त होता है। अतिशयोक्ति अलङ्कार का लक्षण है—"सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते" इति साहित्यदर्पण १० परि०। भाव यह है कि "विषय (उपमेय) का निगरण होने से विषयी (उपमान) के तादात्म्य का आरोप "अतिशयोक्ति" होता है।" प्रकृत उदाहरण में अनेक जन्मों में भोग्य अनेक दुःखों का तत्कालीन विरह दुःख के अन्दर भेद होने पर भी "विलीनाशेषपातकाः" यहाँ पर "चय" पद के सामर्थ्य से उन दोनों के अन्दर अभेद के आरोप से "अतिशयोक्ति अलङ्कार" है। और यह अतिशयोक्ति "अशेष और "चय" इन दो पदों से प्रतीत होती है। यहाँ "अशेष" और "चय" पद के एक वाक्यस्थ होने पर भी दोनों से दो व्यंग्यों की व्यञ्जना से भिन्न वाक्यता होने से व्यञ्जकता है, अतः पदगत व्यञ्जकता (अलङ्कारध्वनि) है। "दिशि मन्दायते" इत्यादि में तो उसप्रकार का कोई पद नहीं है, अतः वाक्यगत ही ध्वनि है। भाव यह है कि—जो इसप्रकार की अनुपपत्ति की (अतिशयोक्ति अलङ्कार घटित नहीं हो सकता) शङ्का करते हैं कि प्रकृत में अभिधेय के ज्ञानानन्तर सुख-दुःख रूप भोग विशेष से सम्पूर्ण पुण्य और पाप का क्षय किसप्रकार सम्भव है। उनके प्रति यह समाधान है कि व्यञ्जना के द्वारा सम्पूर्ण सुख-दुःख के भोग से उत्पन्न सम्पूर्ण पुण्य-पाप का क्षय होता है. ऐसी प्रतीति होती है। यहाँ "अशेष" और "चय" पदों से विषयी सुख-दुःख राशि की वाच्य की तरह व्यञ्जना से झटिति प्रतीति हो जाती है। और प्रकरण वैशिष्टय से प्रकृत भगवद् विरह

अत्र च व्यञ्जकस्य कविप्रौढोक्तिमन्तरेणापि संभवात्स्वतःसंभविता ।

'पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वद्दानजलवाहिनीम् ।
देव ! त्रिपथगाऽऽत्मानं गोपयत्युग्रमूर्धनि ॥'

इदं मम । अत्र पश्यन्तीति कविप्रौढोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण न केऽप्यन्ये दातारस्तव सदृशा इति व्यतिरेकालङ्कारोऽसंख्यपदद्योत्यः । एवमन्येष्वप्यर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमभेदेषूदाहार्यम् ।

दुःख और चिन्तन के आह्लाद की प्रतीति इन दो अतिशयोक्ति अलङ्कारों की व्यंग्यता है । और यह भी नहीं कहना चाहिये कि अध्यवसायमात्र से अनुपपत्ति का निरास कैसे हो सकता है क्योंकि एक कार्यकारित्व रूप सादृश्य के पर्यवसान से उसका निरास हो जाता है । तथा भगवान् के चिन्तन और विरह से सुख-दुःख के उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण उपभोग से सम्पूर्ण सुख-दुःख के भोग के नाश का पुण्य और पाप के समुदाय का नाश हो गया । इसी को सूचित करने के लिये "महत्त्व" और "विपुल" दुःख और आह्लाद (सुख) के विशेषण है ।

अर्थ—("स्वतः सम्भवित्व" सिद्ध करते हैं) यहाँ व्यञ्जक के (वाक्यार्थ के अर्थात् व्यञ्जना द्वारा उक्त दो अतिशयोक्ति के बोधक "अशेष और चय" इस दो पद रूप वाक्यार्थ के) कविप्रौढोक्ति (कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति) के बिना भी सम्भव होने से (अनेक जन्म-जन्मान्तरों के सञ्चित पाप-पुण्य विशेषण के सम्भव होने से (व्यञ्जक की) स्वतः सम्भविता है ।

अर्थ—(कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से पदगत अलङ्कारध्वनि का उदाहरण) पश्यन्तीति—

प्रसङ्ग—यह राजा की स्तुति है ।

अर्थ—(हे) राजन् ! तुम्हारे दान जल से उत्पन्न नदी को (नाना दिशाओं में दान करने से) अनन्त मार्गगामिनी देखती हुई त्रिमार्गगामिनी (भागीरथी) अपने आप को शिवजी के सिर पर (लज्जा से) छिपाती है । [अर्थात् तुम्हारे दानवारि से प्रवाहित होने वाली नदी के अनन्त पथगामी होने के कारण त्रिमार्गगामिनी गंगा की लज्जा स्वाभाविक है ।]

यह मेरा (अर्थात ग्रन्थकार का बनाया हुआ पद्य) है । अत्रेति—यहाँ पर (प्रकृत पद्य के अन्दर) "पश्यन्ति" (इसी पदार्थ हेतुता के कारण) इस कविप्रौढोक्तिसिद्ध (वास्तविक नहीं) काव्यलिङ्ग अलङ्कार से "अन्य कोई भी दान देने वाले आपके समान नहीं है" यह "व्यतिरेक अलङ्कार" "असंख्य" इस पद से व्यंग्य है । [इसीलिये "पद गत" है । "धम्मिल्ले नवमल्लिकासमुदयः" इत्यादि में इसप्रकार का कोई भी पद नहीं है, अतः "वाक्यगत" ही है । यही दोनों में भेद है ।] एवमिति—इसप्रकार अन्यों में भी (उदाहृतों से भिन्न स्वतः सम्भवी अलङ्कार से वस्तुध्वन्यादिकों में) अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम के भेदों में उदाहरण दे लेने चाहिये ।

तदेवं ध्वनेः पूर्वोक्तेष्वष्टादशसु भेदेषु मध्ये शब्दार्थशक्त्युत्थो व्यङ्ग्यो वाक्यमात्रे भवन्नेकः। अन्ये पुनः सप्तदश वाक्ये पदे चेति चतुस्त्रिंशदिति पञ्चत्रिंशद्भेदाः।

प्रबन्धेऽपि मतो धीरैरर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः ॥१०॥

प्रबन्धे महावाक्ये। अनन्तरोक्तद्वादशभेदोऽर्थशक्त्युत्थः। यथा महाभारते गृध्रगोमायुसंवादे—

टिप्पणी—(१) काव्यलिङ्ग का लक्षण—यथा—
"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते" सा० द० १० म परिच्छेद ॥
(२) व्यतिरेकालंकार का लक्षण—यथा—
"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा। व्यतिरेकः ॥ सा० द० १० म परि०
(३) यहाँ दानवारि के नदी रूप में स्वतः असम्भव होने के कारण "कविप्रौढोक्ति" से सिद्ध है। यहाँ उत्प्रेक्षा भी व्यंग्य है।

अवतरणिका—पुनः ध्वनि की संख्या का परिगणन करते हैं।

अर्थ—इसप्रकार ध्वनि के पूर्वोक्त १८ भेदों में से [लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद—(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (२) और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। इसीप्रकार अभिधामूलक विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के दो भेद—(१) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और (२) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। अभिधामूलक असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि (३) का केवल एक भेद। अभिधामूलक संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के तीन भेद—(१) शब्दशक्त्युद्भव (२) अर्थशक्त्युद्भव और शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव। इनमें "शब्दशक्त्युद्भव" के दो भेद, अर्थशक्त्युद्भव के १२ भेद और शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव का एक भेद। शब्दार्थोभयशक्तिमूलकव्यंग्यध्वनि वाक्यगत होने के कारण एक प्रकार की है। शेष पुनः सत्रह वाक्यगत और पदगत दोनों में होने से ३४ प्रकार के हैं। इसप्रकार (कुल मिलाकर १+३४=३५) ३५ भेद हैं।

अवतरणिका—इसप्रकार ध्वनि के ३५ भेदों का वर्णन करके प्रकारान्तर से भेदों का निरूपण करते हैं—

अर्थ—अर्थशक्त्युद्भवध्वनि (पूर्वोक्त १२ प्रकार की) विद्वानों ने प्रबन्ध में भी (महावाक्य में भी—प्रबन्ध का लक्षण—संघटितनानावाक्यसमुदायः। स च ग्रन्थरूपस्तदवान्तरप्रकरणरूपश्चेति) (केवल पद और वाक्य में ही नहीं) कही है। [इसप्रकार पूर्वोक्त ३५ प्रकार की ध्वनियों के साथ ये १२ प्रबन्ध काव्य के अन्दर होने वाली ध्वनियाँ मिलकर ४७ प्रकार की होती हैं।] [कारिकागत "प्रबन्ध" पद की व्याख्या करते हैं) प्रबन्ध इति—प्रबन्धे=महावाक्य में। [भोजराजकृत प्रबन्ध का लक्षण—

"पदं चैव पदार्थश्च वाक्यं वाक्यार्थ एव च।
विषयोऽस्याः प्रकरणं प्रबन्धश्चाभिधीयते ॥" इति"]

("अर्थशक्त्युद्भव" को स्पष्ट करते हैं) अनन्तरोक्तेति—पूर्वोक्त १२ प्रकार की अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि। यथा—महाभारत में गृध्रगोमायु के सम्वाद में—

'अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले ।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥'

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य श्मशाने मृतं बालमुपादाय तिष्ठतां तं परित्यज्य गमनमिष्टम् ।

अलमिति—(दो पद्यों वाले प्रबन्ध में स्वतः सम्भवीवस्तु से वस्तुध्वनि का यह उदाहरण है)—

प्रसङ्ग—महाभारत के आपद्धर्म के १५३ वें अध्याय में मृत शिशु को सायंकाल श्मशान में लाया हुआ देखकर दिन में मांस भक्षण में समर्थ, रात्रि में अन्धे हो जाने के कारण असमर्थ गृद्ध की उसके बन्धुवर्ग को छोड़कर चले जाने के लिये दो पद्यों में उक्ति है ।

अर्थ—गृद्ध और शृगालों से व्याप्त, शरीर के अस्थिपञ्जरों से युक्त, (अतएव) सभी प्राणियों के लिये भयंकर, (तथा) दारुण इस श्मशान में (तुम्हारे) ठहरने से क्या लाभ ? (अर्थात् तुमको अब यहाँ नहीं ठहरना चाहिये)। (सम्भव है बालक पुनः जीवित हो जावे—इसी आशा में ठहरे रहें—इसलिये कहते हैं कि) मृत्यु को प्राप्त होने वाला प्रिय हो, शत्रु हो अथवा कोई तटस्थ (भी) इस (श्मशान) में (आजतक) जीवित नहीं (हुआ) है (मृत व्यक्ति का जीवित होना असम्भव है) (क्योंकि) प्राणियों की इसप्रकार की अवस्था होती है अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होकर कोई भी पुनः जीवित नहीं होता । "स्वभावो दुरतिक्रमः" के अनुसार परिताप नहीं करना चाहिये ।

[इसके अन्दर व्यंग्यार्थ दिखाते हैं] **इतीति**—इसप्रकार दिन में (रात्रि में अन्धे होने के कारण दिन में ही शवमांस को भक्षण करने में) समर्थ गृद्ध के लिये, श्मशान में मृत बालक को लेकर बैठे हुओं का दिन में उस (मृत बालक) को छोड़कर चले जाना इष्ट है। (यह "वाक्य समूह से द्योतित होता है" इति अग्रेणान्वयः)।

टिप्पणी—अर्थात् बालक को छोड़कर तुम सब चले जाओ यह वस्तु स्वतःसम्भवी वस्तु रूप उक्त प्रबन्धार्थ का व्यंग्य है । तथा च स्वतःसम्भवी वाच्यार्थरूप वस्तु से पुरुष विसर्जन रूप वस्तु ध्वनित होती है और उसका व्यञ्जक यह दो पद्यों वाला गृद्ध वचन रूप प्रबन्ध ही है । उसके अन्दर विद्यमान कोई पद या वाक्य नहीं, अतः यहाँ "प्रबन्धगतता" ही है । **तदप्राप्तिमहादुःख** इत्यादि दोनों श्लोकों के महावाक्य होने पर भी वहाँ व्यञ्जक दो पदों के होने से उसकी व्यंग्यता का ही उदाहरण दिखाया है—ऐसा समझना चाहिये ।

अवतरणिका– इसप्रकार गृद्ध के सम्वाद के अन्दर वस्तुध्वनि का उदाहरण देते हैं ।

प्रसङ्ग—उपरोक्त गृद्ध के वचनानुसार मृत बालक के शव को छोड़कर जाने के लिये उत्सुक उनके प्रति रात्रि में ही शव के मांस को खाने में समर्थ वहीं पर विद्यमान शृगाल की मृत बालक के बन्धुओं को श्मशान में रात्रि होने तक ठहरने के लिये यह वचन है ।

'आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥'

इति निशि समर्थस्य गोमायोर्दिवसे परित्यागोऽनभिलषित इति वाक्य-समूहेन द्योत्यते । अत्र स्वतःसंभवी व्यञ्जकः । एवमन्येष्वेकादशभेदेषूदाहार्यम् । एवं वाच्यार्थस्य व्यञ्जकत्वे उदाहृतम् । लक्ष्यार्थस्य यथा—'निःशेष-च्युतचन्दनम्—' इत्यादि ।

अर्थ—(हे) मूर्खो ! (गृद्ध के कथन मात्र से ही चलने के लिये तैयार हो जाने के कारण यह सम्बोधन है ।) यह भास्कर विद्यमान है (आदित्य की विद्यमानता से तुमको रात्रि के अन्दर भ्रमण करने वाले जीव जन्तुओं से भी इस समय भय नहीं है—यह सूचित किया है) (अतः तुम) इस समय स्नेह को (अर्थात् इस पुत्र के वियोग-कालिक तथा उसके वियोग को न सहन सकने रूप विलापादि प्रेम को) कर लो [मृत व्यक्ति का पुनः जीवित होना असम्भव होने से यहाँ ठहरना अब निष्फल ही है—इसलिये कहते हैं ।] यह (सन्ध्याकालिक) मुहूर्त बहुत विघ्नों वाला है (अर्थात् सम्भावित भूतादिकों से आविष्ट होने वाला है । इस मुहूर्त के हट जाने पर) सम्भव है कि (बालक) जी जावे (इससे प्रतीत होता है कि बालक मरा नहीं है अपितु भूत से ग्रस्त है, इससे जीवन की आशा व्यक्त होती है) सुवर्ण की कान्ति की तरह कान्ति वाले (कनक वर्ण की आभा होने के कारण उसके रूप के अन्दर अभी विकार भी नहीं आया है, अतः जीने की आशा है यह ध्वनित होता है) किशोर इस बालक को (केवल) गृद्ध के कहने से सर्वथा निःशङ्क होकर (उसके जीने की आशा छोड़कर अथवा लोकापवाद की शङ्का से रहित होकर) क्यों छोड़कर जा रहे हो ?

(इसके अन्दर व्यंग्यार्थ दिखाते हैं) इसप्रकार (दिवान्ध होने के कारण) रात्रि में ही (शव के मांस भक्षण में) समर्थ शृगाल के लिये दिन में (मृत बालक का) परित्याग करना अनभिलषित है, यह वाक्य समूह से द्योतित होता है । [तथा च स्वत-सम्भवी वाच्यार्थ रूप वस्तु से मनुष्यों का न लौटने रूप वस्तु की प्रतीति होती है) **अत्रेति**—यहाँ स्वतः सम्भवी (वाक्यार्थ) व्यञ्जक (वाच्य) है । [अर्थात् दो पद्यों वाला शृगाल का वचन रूप प्रबन्ध ही व्यञ्जक है, उसके अन्दर विद्यमान पद या वाक्य नहीं, अतः प्रबन्धगतता ही है ।] [**अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के १२ भेदों में से एक का ही उदाहरण दिया है । अन्य ११ भेदों के उदाहरण क्यों नहीं दिये—इसलिये कहते हैं**] **एवमिति**—इसीप्रकार ("दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि" इत्यादि) वाच्यार्थ की व्यञ्जकता में (ये सब) उदाहरण दिये हैं । **लक्ष्यार्थस्येति**—लक्ष्यार्थ की (व्यञ्जकता का उदाहरण) **यथा**—"निःशेषच्युतचन्दनम्"—इत्यादि । [इसके अन्दर "स्नातुमितो गताऽसि" इसका बोधन करती हुई बाद में "स्नातुं न गताऽसि" यह विपरीत लक्षणा से लक्ष्यार्थ रूप स्वतः सम्भवी वस्तु से रमण रूप वस्तु की अभिव्यक्ति होती है । इसीप्रकार "भम धम्मिअ" इत्यादि में "तदन्तिकमेव रन्तुं गतासि" उसके पास ही रमण करने के लिये गई थी यह "अधम" पद से वस्तुध्वनि द्योतित होती है । और नायक का अधमत्व नीचस्त्रीगमन से ही समझना चाहिये ।] ।

व्यङ्ग-चार्थस्य यथा—'उग्र णिच्चल–' इत्यादि । अनयोः स्वतःसंभविनोर्लक्ष्यव्यङ्ग्याथौं व्यञ्जकौ । एवमन्येष्वेकादशभेदेषूदाहार्यम् ।

पदांशवर्णरचनाप्रबन्धेष्वस्फुटक्रमः ।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिस्तत्र पदांशप्रकृतिप्रत्ययोपसर्गनिपातादिभेदादनेकविधः । यथा—

'चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।

व्यंग्यार्थस्येति—व्यंग्यार्थ की (व्यञ्जकता का उदाहरण) **यथा–"उग्र णिच्चल" इत्यादि ।** [यहाँ पर बलाका के गतिशून्य होने के कारण वाच्य से विश्वस्तता तथा अचेतन से उपमा देने के कारण निर्जनता प्रतीत होती है । इसप्रकार उस स्थान की निर्जनता रूप स्वतः सम्भवी वस्तु से यह संकेत स्थान है, यहाँ आना चाहिये, यह "निष्पन्द" पद से व्यंग्य वस्तुध्वनि है ।] **अनयोरिति**—इन दोनों (**"निःशेषच्युतचन्दनम्—"उग्र णिच्चल"** इत्यादि उदाहरणों के अन्दर) स्वतः सम्भवी (वाच्यार्थों) केलक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ व्यञ्जक हैं । **एवमिति**—इसीप्रकार अन्य ११ भेदों के अन्दर (**"स्वतः सम्भवी वस्तु से अलंकारध्वनि** इत्यादि भेदों में । ११ भेद तो लक्ष्य और व्यंग्य इनकी प्रत्येक की अपेक्षा से हैं, दोनों की अपेक्षा से तो २२ भेद समझने चाहिये ।) उदाहरण जानने चाहिये ।

अवतरणिका—**असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि** के भेदों का परिगणन करते हैं ।

अर्थ—न ही स्पष्ट है क्रम (व्यंग्य व्यञ्जक का पौर्वापर्य) जिसमें ऐसी **असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि** पदों के ("सुप्तिङन्तं पदम्" अर्थात् सुबन्त और तिङन्त रूपों के) अंश में (**प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग और निपातादिकों में**) वर्णों में (**मूर्ध्नि वर्गान्त्यगा युक्ताः'** इत्यादि से अष्टम परिच्छेद में वक्ष्यमाण अक्षरविशेषों में), रचना में ("वैदर्भी" आदि नाम वाली नवम परिच्छेद में वक्ष्यमाण रचना में अथवा दीर्घ समासादि रूप विन्यास विशेष में) (और) प्रबन्ध में (महावाक्यों में – बहुवचन के प्रयोग से पद और वाक्य में होती है इसप्रकार ६ प्रकार की है) (होती) है । उनमें से (पदांशादिकों में से) पदांश में रहने वाली ध्वनि **प्रकृति** (धातुरूप और नामरूप होने से दो प्रकार की), **प्रत्यय (प्रत्येति अर्थं बोधयतीति प्रत्ययः), उपसर्ग** (प्र, परादि), (और) **निपातादि** (अव्यय रूप । "आदि" शब्द से प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुषादिकों का ग्रहण होता है) भेद से अनेक प्रकार की होती है ।

(१) (**प्रकृतिरूप पदांशगतध्वनि** का उदाहरण) **यथा-चलापाङ्गामिति-प्रसङ्ग**—अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अङ्क के २१वें श्लोक के अन्दर शकुन्तला को व्याकुल करते हुये भ्रमर के प्रति दुष्यन्त की यह उक्ति है ।

अर्थ—(हे) भ्रमर ! हाथ को (तुमको हटाने के लिये) हिलाती हुई (इस शकुन्तला के) चञ्चल नेत्र वाली (तुम्हारे आने की आशङ्का से इधर-उधर सतर्क दृष्टि डालने से) अत्यन्त चपल दृष्टि को पौनःपुन्येन स्पर्श करते हो; गुप्त विषय को कहने

करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर, हतास्त्वं खलु कृती ॥'

अत्र 'हताः' इति न पुनः 'दुःखं प्राप्तवन्तः, इति हन्प्रकृतेः ।

वाले की तरह कानों के समीप जाकर धीरे-धीरे गुन्जार करते हो; [इससे कपोल चुम्बन विशेष की ध्वनि निकलती है। ऐसा प्रसिद्ध है कि कामीजन एकान्त में बात कहने के बहाने से कपोल का चुम्बन कर लेते हैं।] (तथा) रति सर्वस्व अथवा रति क्रीड़ा में सर्वस्व (इससे उसकी अभिलाषा व्यक्त होती है) अधर का पान करते हो; (अतः) तुम ही कृतार्थ हो (और) हम (अर्थात् मैं, इसप्रकार की इच्छा वाला भी उसकी दृष्टि और स्पर्शादि से रहित) [यहाँ "वयम्" का प्रयोग करने से अपने अन्दर गौरव की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् मैं प्रख्यात पुरुवंश में उत्पन्न हुआ हूँ, युवक हूँ, मानव हूँ, राजा हूँ तथा इसके सर्वथा योग्य हूँ—इत्यादि की अभिव्यञ्जना होती है।] तत्व का अन्वेषण करने से (अर्थात् क्या ब्राह्मण की औरस कन्या होने से मेरे परिणय के अयोग्य है अथवा क्षत्रिय की कन्या होने से मेरे परिणय के योग्य है इसप्रकार की खोज करने से) मृतप्राय हैं अर्थात् अत्यन्त दुःखित हैं (भाग्य से ठगे गये हैं)।

टिप्पणी—(१) यहाँ "त्वं कृती", "न वयमिति" व्यतिरेकालंकार व्यंग्य है। भ्रमर की स्वभावोक्ति होने से स्वभावोक्ति अलङ्कार, भ्रमर के कृतित्व में प्रथम तीन चरणों में विद्यमान वाक्य समूह हेतु है, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार और भ्रमर के कमल में ही अनुराग के उचित होने से शकुन्तला के मुख के विषय में कमलबुद्धि होने से भ्रमर की अनुरक्ति है, अतः भ्रान्तिमान् अलङ्कार व्यंग्य है।

अर्थ—यहाँ "हताः" का प्रयोग किया है "दुःखं प्राप्तवन्तः" का नहीं (क्योंकि "हताः" का प्रयोग करने से दुःखातिशय की व्यञ्जना होती है (तथा) "हताः" के स्थान पर "दुःखं प्राप्तवन्तः" के प्रयोग से प्रकृत में उपयुक्त दुःखातिशय की प्रतीति न होती] "हन्" धातु की प्रकृति की (ही प्रधानता से दुःखातिशय की व्यञ्जकता है)।

टिप्पणी—यहाँ मृत्यु के कथन करने से अतिशय विप्रलम्भ व्यंग्य होता है। यहाँ "हताः" इसके स्थान पर "क्त" प्रत्यय को रखकर "हन्" के स्थान पर कोई अन्य प्रकृति के प्रयोग करने से उसप्रकार की प्रतीति न होती जिसप्रकार की इस समय हो रही है। तथा "त्वं खलु" यहाँ इस "खलु" निपात से विना परिश्रम के ही तुम ही कृती हो, यह सिद्ध होता है। **तथाहि**—किसप्रकार से मैं इसके नेत्रों का विषय होऊँ, कैसे यह हमारे अभिप्राय को बताने वाले वचनों को एकान्त में सुने और किस प्रकार हठात् न चाहती हुई भी इसका चुम्बन कर सकूँ—यह जो कल्पना विस्तार हमारे मानस में उठ रहा है वह तुम्हारे लिये विना ही श्रम के प्राप्य है। क्योंकि भ्रमर नीलकमल की भ्रान्ति से उसकी (भ्रमर की) आशंका से कातर दृष्टि का पौनःपुन्येन स्पर्श कर रहा है, तथा नेत्रों विषयक शङ्का के निरस्त न होने से कानों के आस-पास घूमकर वहीं ध्वनि कर रहा है, स्वाभाविक सुकुमारता के कारण भय से कातर शकुन्तला के रति का कारणभूत विकसित मुखकमल की सुगन्धि से मधुर अधर का पान कर रहा है इसप्रकार भ्रमर की स्वाभाविकता के कारण "स्वभावोक्ति अलङ्कार" द्वारा अतिशय विप्रलम्भ शृङ्गार प्रकृत रस को प्राप्त हो गया है।

'मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥'

अत्र 'तु' इति निपातस्यानुतापव्यञ्जकत्वम् ।

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः—' इत्यादौ 'अरयः' इति बहुवचनस्य, 'तापसः' इत्येकवचनस्य, 'अत्रैव' इति सर्वनाम्नः, 'निहन्ति' इति 'जीवति'

अर्थ—(२) (निपातगत ध्वनि का उदाहरण) **प्रसङ्ग**—गौतमी के शकुन्तला को लेकर चले जाने पर दुष्यन्त के अनुताप का यह वर्णन है ।

अर्थ—शोभन पक्ष्मशाली हैं नेत्र जिसके ऐसी (शकुन्तला) के, बार-बार अंगुलियों से (मेरे चुम्बन को रोकने के लिये) छिपाया है अधरोष्ठ जिसका ऐसे, प्रतिषेध के अक्षर से (अर्थात् नहीं, नहीं-ऐसा मत करो, इसप्रकार चुम्बन के निषेध-वाचक शब्द के उच्चारण के अवसर पर) विह्वल अतएव रमणीय, अपने कन्धे की ओर (चुम्बन की आशंका से उसकी रक्षा के लिये अथवा लज्जा से ही) घुमाये हुये मुख को किसीप्रकार भी अर्थात् बड़े प्रयास से (आँख में पड़े हुये परागकण को निकालने के बहाने) ऊपर को उठाया (अर्थात् अंगुलियों से चुम्बन के लिये ऊपर करके रखा) किन्तु (मैं दुर्भाग्यशाली) चुम्बन नहीं कर सका । [यह बड़ा ही मेरा प्रमाद हो गया] ।

(व्यंग्यार्थ दिखाते हैं)—यहाँ "तु" इस निपात से ही अनुताप की व्यञ्जकता है ।

टिप्पणी—नायिका के बार-बार अपने मुख पर अंगुलियों को रखने और बार-बार मना करने से उसके निषेध की व्यञ्जना होती है । तथा कामशास्त्र के अन्दर ऊपर के ओष्ठ पर चुम्बन का विधान नहीं है, अतः अधरोष्ठ के प्राप्त होने पर भी "अधरपद" के उपादान से "**उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे**" इत्यादि की तरह उसकी पाट-लिमा, सुकुमारता और अतिशय माधुर्य की व्यञ्जना होती है । तथा नायिका के प्रति-कूल व्यवहार करने से नायक की काम वासना की वृद्धि की प्रतीति होती है । तथा यहाँ पर बलात् होने पर भी रोदन और भागना न होने के कारण केवल अंगुली से छिपाने के कारण सुरत के विषय में नायिका की अर्ध स्वीकारोक्ति व्यक्त होती है ।

अवतरणिका—(३) **प्रत्यय** और (४) **उपसर्गादिकों** की व्यंग्यता का उदाहरण दिखाते हैं ।

अर्थ—"**न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः**" इत्यादि (पद्य) में "**अरयः**" इस बहुवचन की (व्यञ्जकता) है; [अर्थात् "अरयः" के अन्दर बहुवचन से यह व्यञ्जित होता है कि एक भी शत्रु के होने पर जिसको क्रोध उत्पन्न हो जाता है, उसी मुझ रावण के राम, लक्ष्मण और सुग्रीवादि बहुत से शत्रु हो गये, अतः क्रोध की अवधि नहीं है अर्थात् एक भी शत्रु का होना ठीक नहीं है फिर बहुतों का तो कहना ही क्या] "**तापसः**" इस एकवचन की [अर्थात् एकवचन के प्रयोग से अत्यन्त तुच्छ होने की प्रतीति होती है अथवा प्रतिकार करने में असमर्थता की प्रतीति होती है ।] "**अत्रैव**"

इति च तिङः, 'अहो' इत्यव्ययस्य, 'ग्रामटिका' इति करूपतद्धितस्य, 'विलुण्ठन' इति व्युपसर्गस्य, 'भुजैः' इति बहुवचनस्य व्यञ्जकत्वम् ।

'आहारे विरतिः, समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा,
नासाग्रे नयनं तदेतदपरं यच्चैकतानं मनः ।

इस सर्वनाम की, [अर्थात् "यहाँ पर ही" इस सर्वनाम के प्रयोग से शत्रु के निग्रह में दूर जाने आदि का व्यापार नहीं है तथापि कुछ न कर सकने के कारण अपनी अत्यन्त अकर्मण्यता द्योतित होती है ।], "निहन्ति" इससे तिङ् की [अर्थात् तिङ् के प्रयोग से अपकार की वर्त्तमान काल में प्रतीति होती है और विलम्ब को सहन न कर सकने वाले रिपु के निग्रह में हमारी कोई प्रयत्नशीलता नहीं है यह तथा वह भी निश्चेष्ट होकर नहीं बैठा है, यह ध्वनित होता है], "जीवति" इस तिङन्त की [अर्थात् तिङ् के प्रयोग से वर्त्तमान काल के पता लगने से तथा इसप्रकार की अवस्था होने पर रावण का पूर्व ही मर जाना उचित था जिससे इसप्रकार का पराभव न होता], "अहो" इस अव्यय की [अर्थात् इस अव्यय के प्रयोग से रावण के मर जाने पर यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती तो कुछ भी आश्चर्य नहीं था, किन्तु जीते जी होवे यह तो महान् आश्चर्य है ।], "ग्रामटिका" इस टिकच् रूप तद्धित की [अर्थात् "ग्रामटी" शब्द अल्प ग्राम का वाचक प्रसिद्ध है, "क" प्रत्यय से "ग्रामटिका" शब्द बना है । अर्थात् अत्यन्त क्षुद्र ग्राम है । "नव्याः" ग्रामटिका के अन्दर टिकच् प्रत्यय को मानते हैं । इस "क" प्रत्यय के कारण इसप्रकार के बलवान् मेरे लिये विशाल स्वर्ग भी क्षुद्र ग्राम की तरह प्रतीत होता था यह व्यञ्जित होता है और अब वही एक तपस्वी से तिरस्कृत हो रहा है ।], "विलुण्ठन" इससे "वि" उपसर्ग की [अर्थात् "वि" उपसर्ग से यह मालूम पड़ता है कि थोड़ा ही लूटकर नहीं विरत हो गया अपितु विशेषरूप से लूटा था], "भुजैः" इससे बहुवचन की व्यञ्जकता है । [अर्थात् इसके अन्दर बहुवचन के प्रयोग से शत्रु के निग्रह करने में रावण का साधन सम्पन्नता होने पर भी कुछ भी करने में समर्थ नहीं है, अतः दुःख की परिसीमा नहीं है, यह प्रतीत होता है ।]

टिप्पणी—ध्वन्यालोककार ने भी—

"सुप्तिङ्न्तवचमसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ।"

इस कारिका के उदाहरण प्रसङ्ग में "न्यक्कारो ह्ययमेव" यही पद्य दिया है । यद्यपि ये "संलक्ष्यक्रमव्यंग्य" की वस्तुध्वनि ही प्रतीत होती है तथापि ये "असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य" के क्रोध नामक भाव की ही परिषोषिका है । अतः उसीसे ही इनका व्यपदेश किया है । यहाँ यह विशेषता है कि केवल रसादिध्वनि की ही पदांश में प्रकाशता नहीं है किन्तु वस्तु और अलङ्कार की भी है ।

अवतरणिका—इसप्रकार "प्रकृति" आदिकों की व्यञ्जकता का उदाहरण देकर प्रत्यय आदिकों की व्यञ्जकता का उदाहरण देते हैं ।

प्रसङ्ग—विरहिणी का उपहास करती हुई सखी की यह उक्ति है ।

अर्थ—(हे) सखि ! [यह प्रणय सूचक सम्बोधन है क्योंकि योगिनी का कहीं पर भी प्रणय नहीं होता है, तुम्हारा तो प्रणय है यह "सखि" इस पद से व्यक्त होता

मौनं चेदामदं च शून्यमधुना यद्विश्वमाभाति ते,
तद्ब्रूयाः सखि ! योगिनी किमसि, भोः किं वा वियोगिन्यसि ॥'

है] भोजन में (तुझे) अरुचि हो गई है; [अर्थात् योगिनी की तरह अनिष्ट का साधन होने के कारण या योग के प्रतिकूल मत्स्य, मांसादि के कारण तुम्हारी भोजन के प्रति अरुचि नहीं है, अपितु सर्वप्रकार के भोजन विषयक राग का अभाव ही है। कहा भी है "नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः" इति भगवद्गीता। इसप्रकार योगिनी की प्राणधारण के लिये अनुकूल आहार के प्रति तो प्रवृत्ति होती है, किन्तु तुम्हारी तो प्राणधारण के लिये भी भोजन के विषय में प्रवृत्ति नहीं है, यह भाव है।] सभी भोग्य पदार्थों के समूह में (तुम्हारी) (अर्थात् माल्य-चन्दनादि भोग्य पदार्थ समूह में) आत्यन्तिक निवृत्ति है। [यहाँ "समस्ता" और "परा" विशेषण से योगिनी की सभी विषयों से निवृत्ति नहीं मालूम पड़ती क्योंकि शरीर धारणोपयोगी वस्तुओं में उनकी प्रवृत्ति देखी जाती है। किन्तु तुझ वियोगिनी की तो सभी आवश्यक विषयों में भी प्रवृत्ति नहीं होती है।] योगिनी की निवृत्ति आत्यन्तिक भी नहीं होती है जबः वियोगिनी की निवृत्ति आत्यन्तिक होती है। योगिनी की योग साधन में और यदृच्छा होने पर विषय में प्रवृत्ति होती है, तुम्हारी तो सभी विषयों से निवृत्ति होने से पृथक्ता व्यञ्जित होती है।] दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर (रहती) है (चिन्ता से निश्चल होने के कारण) और जो मन की एकाग्रता है वह सबसे बढ़कर है [योगिनी के ध्यान के समय ही नासिका के अग्रभाग पर नयन रहते हैं और मन की एकाग्रता होती है, किन्तु वियोगिनी तुम्हारे तो ये दोनों ही हैं, यह "तदेतदपरं" पद व्यक्त करता है।] यह मौन है, [योगिनी मौन के समय में इशारे आदि से अपने अभिप्राय को प्रकट कर देती है, तथा दूसरे को आया देखकर बोलती भी है, तुम्हारी तो इशारे आदि से भी अभिप्राय की अभिव्यक्ति नहीं होती है और न मुझे देखकर कुछ बोलती ही हो। यह "इदं" इस पद से व्यक्त होता है।] और यह जो विश्व है (वह) तुझे शून्य प्रतीत होता है। [योगिनी को विश्व तत्त्वज्ञान के कारण असद् रूप में प्रतिभासित होता है किन्तु वियोगिनी को तो सद् भी विश्व प्रकृत में अनुपयोगी होने के कारण असद् की तरह प्रतिभासित होता है, यह "इदम्" पद से व्यञ्जित होता है। तथा योगिनी को संसार की शून्यता का ज्ञान ब्रह्म से पृथक् रूप में होता है परन्तु वियोगिनी को तो यह संसार ब्रह्म के साथ ही शून्य प्रतीत होता है, यह "आभाति" के "आङ्" उपसर्ग से व्यक्त होता है] (अतः) बतलाओ (कि) क्या तुम योगिनी हो अथवा (यह "अथवा" वियोगिनी ही हो "इस उत्तर पक्ष को दृढ़ करता है। अतः तुम योगिनी नहीं हो वस्तुतः वियोगिनी ही हो, यह व्यक्त करता है।] वियोगिनी हो? [यह परिहास सूचक प्रश्न है, उससे उपहास सूचक इस प्रश्न से योगिनी की तरह प्रतीत होती हो, किन्तु वैसी तुम हो नहीं इस बात की "असि" यह वर्तमानकालिक क्रिया प्रत्यक्षता का अनुभव कराती है।]

अत्र तु 'आहारे' इति विषयसप्तम्याः, 'समस्त' इति 'परा' इति च विशेषणद्वयस्य, 'मौनं चेदम्' इति प्रत्ययपरामर्शिनः सर्वनाम्नः, 'आभाति' इत्युपसर्गस्य, 'सखि' इति प्रणयस्मारणस्य 'असि भोः' इति सोपहासोत्प्रासस्य, किंवा' इत्युत्तरपक्षदार्ढ्यं सूचकस्य वाशब्दस्य, 'असि' इति वर्त्तमानोपदेशस्य च तत्तद्विषयव्यञ्जकत्वं सहृदयसंवेद्यम्।

वर्णरचनयोरुदाहरिष्यते। प्रबन्धे यथा—महाभारते शान्तः। रामायणे करुणः। मालतीमाधवरत्नावल्यादौ शृङ्गारः। एवमन्यत्र।

अवतरणिका—प्रत्ययादिकों की व्यञ्जकता दिखाने के उपरान्त उसको स्पष्ट करते हैं।

अर्थ—यहाँ (उक्त पद्य में) "आहारे" पद से विषय सप्तमी की, समस्त और परा इन दोनों विशेषणों की "मौनं चेदम्" इस पद से प्रतीति के वाचक सर्वनाम की, (अर्थात् सर्वादिगण के अन्तर्गत प्रातिपदिक "इदम्" शब्द की), "आभाति" इस पद के अन्दर आङ् उपसर्ग की, "सखि" यह पद प्रेम स्मारक की, "असि भोः" यह उपहास सहित कथन की, 'किंवा' यह उत्तरपक्ष को दृढ़ करने की सूचना की, "असि" यह पद वर्त्तमान काल की (इसप्रकार) उन-उनके (आहारादि विषयक विरति आदि प्रतिपाद्य रूपों के) विषयों की व्यञ्जकता सहृदयों के अनुभव का विषय है।

अर्थ—(२-३) वर्ण (माधुर्यादि गुणों के व्यञ्जक अक्षर विशेष) और रचना (दीर्घ समासादिरूप विन्यासविशेष—यह रचना भी माधुर्यादि की व्यञ्जिका होती है।) के उदाहरण (आगे अष्टम और नवम परिच्छेद में) दिये जायेंगे।

टिप्पणी—यहाँ पर वर्ण और रचना के उदाहरण इसलिये नहीं दिये हैं क्योंकि ये रसनिष्ठ माधुर्यादि गुणों के व्यञ्जक हैं, अतः गुणों का ज्ञान हो जाने पर ही उनका ज्ञान सम्यक्तया हो सकता है।

अर्थ—(४) प्रबन्ध में (उदाहरण) यथा—महाभारत में शान्तरस (व्यंग्य) है [महाभारत के अन्दर युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण को सुनने वाले के हृदय में युधिष्ठिर के शम स्थायीभाव के कारण "शान्तरस" समझना चाहिये।], रामायण में करुण रस (व्यंग्य) है, [रामायण को सुनने वाले के हृदय में रामचन्द्रजी के शोक को जानने पर करुणरस का संचार होता है।], मालतीमाधव और रत्नावली आदि में ("आदि" पद से शकुन्तलादि का ग्रहण होता है) शृङ्गाररस (व्यंग्य) है। [माधव और वत्सराज की रति का ज्ञान होने पर उन नाटकों को सुनने वालों के हृदय में शृङ्गार रस व्यञ्जित होता है।]। एवमिति—इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। [तथाहि—"किरातार्जुनीयम्" के ११वें सर्ग में सुरराज के प्रकरण में शान्तरस, पार्थोक्त प्रकरण में वीररस व्यंग्य है। "माघ" के शिशुपालवध के दूत से उक्त सन्धि के विषय में कहने पर वस्तुमात्र रूप विग्रह शब्दशक्तिमूलक प्रबन्ध व्यंग्य की प्रतीति होती है, ऐसा चण्डीदास का मत है।]।

तदेवमेकपञ्चाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः ॥ ११ ॥

अवतरणिका—अब "ध्वनि" का संकलन करते हैं।

अर्थ—इसलिये (असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के भी पद और पदांशगत होने से ६ प्रकार की होने से) इसप्रकार (उक्त रीति से) उस (पूर्वोक्त) ध्वनि के ५१ भेद माने गये हैं।

टिप्पणी—तथाहि—(१) लक्षणामूलकध्वनि—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इसप्रकार दो प्रकार की होती हुई भी पदगत और वाक्यगत होने से चार प्रकार की है। (२) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि—पदगत, पदांशगत, वर्णगत, रचनागत, वाक्यगत और महावाक्यगत होने से ६ प्रकार की है। (३) शब्दशक्त्युद्भवसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि—वस्तु और अलंकार रूप से दो प्रकार की होती हुई भी चार प्रकार की है। (४) अर्थशक्त्युद्भवसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि—वस्तु और अलंकार के स्वतःसिद्ध, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कवि निबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध होने के कारण ६ प्रकार की ध्वनि के वस्तु और अलंकार रूप से दोनों की व्यञ्जकता से १२ प्रकार की होती हुई भी पदगत, वाक्यगत और महावाक्यगत रूप की त्रिविधता से ३६ प्रकार की है। (५) उभयशक्त्युद्भवध्वनि—वाक्यगत होने के कारण केवल एक प्रकार की है। इसप्रकार सब मिलकर ध्वनि के ४+६+४+३६+१=५१ भेद हुये। [दूसरे प्रकार से ध्वनि के भेदों को गिनते हैं—पहले ध्वनि के ३५ भेद कहे जा चुके हैं। (१) अर्थशक्तिमूलकध्वनि के प्रबन्धगत होने के कारण १२ भेद हैं। (२) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के भी पदांश, वर्ण, रचना और प्रबन्धगत होने से चार भेद हैं। इसप्रकार ये मिलकर १२+४=१६ भेद हुये। पूर्व भेदों के साथ मिलकर ३५+१६=५१ कुल भेद हुये।] यद्यपि अर्थों के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य भेद से और पदांशों के प्रकृत्यादि भेद से ध्वनि के इससे भी अधिक भेद होते हैं तथापि सम्प्रदाय के अनुरोध से ५१ भेद ही प्रदर्शित किये हैं। इनका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—

(१) ध्वनिकाव्य के दो भेद—(१) लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनि
(२) अभिधामूलक विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि

(२) लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद—
(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य
(२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

(क) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के पुनः दो भेद—(१) पदगत (२) वाक्यगत
(ख) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के भी दो भेद—(१) पदगत (२) वाक्यगत
इसप्रकार लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनि के चार भेद हुये।

(२) अभिधामूलक विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के दो भेद—
(१) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य
(२) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य

(क) शब्दशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के दो भेद—
(१) वस्तुगत (२) अलङ्कारगत

पुनः इनके वाक्यगत और पदगत होने से चार भेद हुये।

(ख) अर्थशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के तीन भेद—(१) स्वतः सम्भवी
(२) कविप्रौढोक्तिसिद्ध
(३) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध

पुनः इनके वस्तुगत और अलंकारगत इसप्रकार दो प्रकार के होने से ६ भेद हुये।

पुनः इनके व्यंग्य और व्यंजक भेद से दो प्रकार के होने से १२ भेद हुये।

पुनः इनके प्रबन्धगत, वाक्यगत और पदगत इसप्रकार तीन भेद और होने से अर्थशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के कुल ३६ भेद हुये।

(ग) शब्दार्थोभयमूलकध्वनि के केवल वाक्यगत होने से एक भेद है।

इस प्रकार संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के कुल ४१ भेद हुए।

(क) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के ६ भेद हैं—(१) प्रबन्धगत (२) वाक्यगत (३) पदगत (४) पदांशगत (५) रचनागत और (६) वर्णगत। इसप्रकार अभिधामूलकविवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के ४१ + ६ = ४७ भेद हुये।

निष्कर्ष—ध्वनि के इसप्रकार लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनि के भेद = ४
अभिधामूलकविवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के भेद = ४७

कुल ध्वनि के भेद ४ + ४७ = ५१ हुये।

सारांश—ध्वनि के ५१ भेदों को नाम्ना प्रदर्शित करते हैं—

१. पदनिष्ठ अर्थान्तरसंक्रमितअविवक्षित वाच्यध्वनि।
२. वाक्यनिष्ठ अर्थान्तरसंक्रमितअविवक्षित वाच्यध्वनि।
३. पदनिष्ठ अत्यन्ततिरस्कृतअविवक्षितवाच्यध्वनि।
४. वाक्यनिष्ठ अत्यन्ततिरस्कृतअविवक्षितवाच्यध्वनि।
५. पदनिष्ठ शब्दशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रमवस्तुध्वनि।
६. पदनिष्ठ शब्दशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रम अलंकारध्वनि।
७. वाक्यनिष्ठ शब्दशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रम वस्तुध्वनि।
८. वाक्यनिष्ठ शब्दशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रम अलंकारध्वनि।
९. पदनिष्ठ स्वतःसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा वस्तुध्वनि।
१०. पदनिष्ठ स्वतःसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा अलंकारध्वनि।
११. पदनिष्ठ स्वतःसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा अलङ्कारध्वनि।
१२. पदनिष्ठ स्वतःसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा वस्तुध्वनि।
१३. वाक्यनिष्ठ स्वतःसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा वस्तुध्वनि।
१४. वाक्यनिष्ठ स्वतःसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा अलङ्कारध्वनि।
१५. वाक्यनिष्ठ स्वतःसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा अलङ्कारध्वनि।

१६. वाक्यनिष्ठ स्वतःसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा वस्तुध्वनि ।

१७. प्रबन्धनिष्ठ स्वतःसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा वस्तुध्वनि ।

१८. प्रबन्धनिष्ठ स्वतःसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा अलङ्कारध्वनि ।

१९. प्रबन्धनिष्ठ स्वतःसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा अलङ्कारध्वनि ।

२०. प्रबन्धनिष्ठ स्वतःसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा वस्तुध्वनि ।

२१. पदनिष्ठ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा वस्तुध्वनि ।

२२. पदनिष्ठ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा अलङ्कारध्वनि ।

२३. पदनिष्ठ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा अलङ्कारध्वनि ।

२४. पदनिष्ठ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा वस्तुध्वनि ।

२५. वाक्यनिष्ठ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा वस्तुध्वनि ।

२६. वाक्यनिष्ठ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा अलङ्कारध्वनि ।

२७. वाक्यनिष्ठ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा अलङ्कारध्वनि ।

२८. वाक्यनिष्ठ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा वस्तुध्वनि ।

२९. प्रबन्धनिष्ठ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा वस्तुध्वनि ।

३०. प्रबन्धनिष्ठ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा अलङ्कारध्वनि ।

३१. प्रबन्धनिष्ठ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा अलङ्कारध्वनि ।

३२. प्रबन्धनिष्ठ कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा वस्तुध्वनि ।

३३. पदनिष्ठ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा वस्तुध्वनि ।

३४. पदनिष्ठ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा अलङ्कार ध्वनि ।

३५. पदनिष्ठ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा अलङ्कारध्वनि ।

३६. पदनिष्ठ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा वस्तुध्वनि ।

३७. वाक्यनिष्ठ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा वस्तुध्वनि ।

३८. वाक्यनिष्ठ कविनिबिद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा अलंकारध्वनि ।

३९. वाक्यनिष्ठ कविनिबिद्धक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा अलंकारध्वनि ।

४०. वाक्यनिष्ठ कविनिबिद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलंकार द्वारा वस्तुध्वनि ।

सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्टया चैकरूपया ।
वेदखाग्निशराः (५३०४) शुद्धै रिषुबाणाग्निसायकाः (५३५५) ।। २।।
शुद्धैः शुद्धभेदैरेकपञ्चाशता योजनेनेत्यर्थः ।

---

४१. प्रबन्धनिष्ठ कविनिबिद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा वस्तुध्वनि ।

४२. प्रबन्धनिष्ठ कविनिबिद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक वस्तु द्वारा अलङ्कारध्वनि ।

४३. प्रबन्धनिष्ठ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा अलङ्कारध्वनि ।

४४. प्रबन्धनिष्ठ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार द्वारा वस्तुध्वनि ।

४५. प्रबन्धनिष्ठ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यरसादिध्वनि ।

४६. वाक्यनिष्ठ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यरसादिध्वनि ।

४७. पदनिष्ठ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यरसादिध्वनि ।

४८. पदैकदेशनिष्ठ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यरसादिध्वनि ।

४९. रचनानिष्ठ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यरसादिध्वनि ।

५०. वर्णनिष्ठ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यरसादिध्वनि ।

५१. वाक्यनिष्ठ शब्दार्थोभय शक्तिमूलकध्वनि ।

अर्थ [ती]न प्रकार के **संकर** से [दशम परिच्छेद के अन्दर "संकर" के तीन भेदों का वर्णन किया है—(१) अङ्गाङ्गिभाव (२) सन्देह और (३) एकाश्रयस्थिति । यथा—

"अंगांगित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।

सन्दिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पुनः ।।" इति ।। इसी के अनुसार यहाँ भी 'संकर" तीन प्रकार का समझना चाहिये । (१) जहाँ एक ही आश्रय (शब्द या अर्थ) में अनेक अलंकारों की स्थिति हो वहाँ **एकाश्रयस्थिति संकर**, (२) जहाँ साधक-बाधक प्रमाणों के अभाव से किसी एक का निश्चय न होने से "अयं ध्वनिः स ध्वनिर्वा" ऐसा सन्देह हो वहाँ **"संशय"** होता है, (३) जहाँ कई अलङ्कारों के अन्दर परस्पर अङ्गाङ्गिसम्बन्ध हो वहाँ **अंगांगिभावसंकर"** समझना चाहिये । **संकर और संसृष्टि में भेद**—"साक्षात्परम्परया वा यथा कथंचित् परस्परसापेक्षः संकरः तद्भिन्नः स संसृष्टिः"] और एक रूप वाली (परस्पर निरपेक्ष रूप से स्थित) संसृष्टि से (कहे हुये ध्वनि के ५१ भेद) (मिलकर) ५३०४ भेद होते हैं । अर्थात् वेद =४, ख=० अग्नि=३ और शर=५ इन संख्याओं का बोध होता है । तथा सजातीय अनेक संख्याओं के होने पर **"अङ्कानां वामतो गतिः"** इस नियम से ४, उसके बायें ०, उसके बायें ३ और उसके बायें ५ इसप्रकार ५३०४ ध्वनियाँ होती हैं ।]

(तथा) शुद्ध भेदों से (अर्थात् ध्वनि की ५१ संख्याओं की योजना से इषु=५, बाण=५, अग्नि=३ और सायक=५ (ये सभी ध्वनियाँ) ५३५५ प्रकार की होती हैं।

टिप्पणी—(१) प्रश्न—ध्वनि के ५१ भेद गिनाये हैं। इनको ३ प्रकार के **संकर** और एक प्रकार की **संसृष्टि** अर्थात् ३+१=४ से गुणा करने पर ५१×४=२०४ ही भेद होते हैं। पुनः उक्त संख्या कैसे सिद्ध होगी।

उत्तर—पूर्वोक्त ५१ प्रकार के भेदों में से **प्रथम भेद** एक तो अपने सजातीय के साथ संसृष्ट हो सकता है और ५० विजातीयों के साथ भी संसृष्ट हो सकते हैं, इसलिये प्रथम भेद की संसृष्टि **५१ प्रकार की** हुई। इसीप्रकार **दूसरा भेद** एक तो सजातीय के साथ और ४९ विजातियों के साथ संसृष्ट होता है, अतः उसके ५० भेद होते हैं। (पहले भेद के साथ इस भेद की संसृष्टि पहले ही आ चुकी है, अतः उसे फिर नहीं गिना जाता) इसीप्रकार **तृतीय भेद के** एक सजातीय के साथ और ४८ विजातियों के साथ संसृष्ट होने पर **४९ प्रकार** हुये। **चतुर्थ भेद के** एक सजातीय के साथ और ४७ विजातियों के साथ संसृष्ट होने पर ४८ प्रकार हुये। इसीप्रकार अन्यों के भी एक-एक कम करने से ४७ आदिक भेद होते हैं। इसप्रकार अन्त तक साधन करने पर अन्तिम भेद केवल सजातीय के साथ संसृष्ट होकर एक ही प्रकार का होता है। इसकी विजातीय भेदों के साथ संसृष्टि पूर्व भेदों में आ चुकी, अतः फिर उसका परिगणन नहीं होता। इसप्रकार इन सबके जोड़ने से केवल **संसृष्टिध्वनि** के ही तेरह सौ छब्बीस (१३२६) भेद होते हैं। इसी क्रम से **तीन प्रकार की संकरध्वनि** से मिलकर तीन हजार नौ सौ अठहत्तर (३९७८) भेद होते हैं। इन दोनों प्रकार के भेदों को मिलाने से अर्थात् **संसृष्टि के १३२६ भेद+तीन प्रकार की संकरध्वनि के ३९७८ भेद=वेदखाग्निशराः=१३२६+३९७८=५३०४** संख्या की उपपत्ति स्पष्ट ही है। अब ग्रन्थकार के मतानुसार निर्दिष्ट ध्वनि की विवृति इसप्रकार है—

सजातीयेनैकेन—विजातीयैः—भेदाः।
१+५०=५१
१+४९=५०
१+४८=४९
१+४७=४८
एवमेकैकह्रासेन ५१ तमे स्थाने शून्यम्
१+०=१
यथोक्तन्यासे योगः=१३२६ ध्वनिसंसृष्टयः
ध्वनिसंसृष्टयस्त्रिगुणाः=३९७८ ध्वनिसंकराः
ध्वनिसंसृष्टिसंकरयोगः—५३०४
शुद्धध्वनिभेदाः=५१
सर्वयोगः=५३५५

(२) यहाँ पर अग्रिम और अग्रिम भेद की योजना में एक-एक भेद के कम होने से इसप्रकार योग किया जाता है—

एको राशिर्द्विधा स्थाप्य एकमेकाधिकं कुरु ।

समार्धेनासमो: गुण्यः एतत्सङ्कलितं लघु ।।

इस रीति के अनुसार ५२ के आधे २६ से ५१ का गुणा करें अर्थात् $\frac{५१ \times ५२}{२} = ५१ \times २६ = १३२६$ संख्या हो जाती है। इस संख्या में चार से गुणा करने पर (१३२६ × ४ = ५३०४) पाँच हजार तीन सौ चार भेद होते है।

(३) ध्वनिभेदों का परिगणन—

(क) लक्षणामूलक अविवक्षित-वाच्यःचतुर्विधः (४)
- अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः = २
  - पदगतः—१
  - वाक्यगतः—१
- अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः = २
  - पदगतः—१
  - वाक्यगतः—१

(ख) अभिधामूलकविवक्षितान्यपर-वाच्यःमुख्यतो द्विविधः
- असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यः
- संलक्ष्यक्रमव्यंग्यः

तत्र रसभावादिरूप एकप्रकारोपि असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्यः अवान्तरभेदात् षट् प्रकारः = (६)
- पदगतः—१
- पदांशगतः—१
- वाक्यगतः—१
- महावाक्यगतः—१
- वर्णगतः—१
- रचनागतः—१

संलक्ष्यक्रमव्यंग्यः एकचत्वारिंशत् प्रकारः (४१)
- शब्दशक्त्युद्भवेषु
  - वस्तुरूपयोः
    - पदगतः—१
    - वाक्यगतः—१
  - अलंकाररूपयोः
    - पदगतः—१
    - वाक्यगतः—१
- अर्थशक्त्युदभवेषु पूर्वोक्तनामसु
  - पदगताः—१२
  - वाक्यगताः—१२
  - महावाक्यगताः—१२
- शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवे—१
- मिलित्वा शुद्धाः ५१

दिङ्मात्रं तूदाह्रियते—

'अत्युन्नतस्तनयुगा तरलायताक्षी द्वारि स्थिता तदुपयानमहोत्सवाय।
सा पूर्णकुम्भनवनीरजतोरणस्रक्संभारमङ्गलमयत्नकृतं विधत्ते॥'

संकराः—

- अङ्गाङ्गिभावसङ्कराः—
  - साजात्ये — दर्शितानामेकपञ्चाशद्भेदानां शुद्धानां ध्वनीनां मध्ये एकैकस्य सजातीयेनान्येन सह संकरेषु एकपञ्चाशद् भेदाः। — = ५१
  - वैजात्ये — शुद्धस्य द्वितीयस्य शुद्धेन प्रथमेन सह संकरे एकः, शुद्धस्य तृतीयस्य शुद्धेन प्रथमेन द्वितीयेन वा संकरयोः द्वौ, शुद्धस्य तुरीयस्य शुद्धस्य शुद्धेन प्रथमेन द्वितीयेन तृतीयेन वा संकरेषु त्रयः, एवं क्रमेण पञ्चसप्तत्याधिकद्वादशशतभेदाः — = १२७५
- एकाश्रयानुप्रवेशसंकराः
  - साजात्ये दर्शितरीत्या—५१
  - वैजात्ये दर्शितरीत्या—१२७५
- सन्देह सङ्कराः
  - साजात्ये दर्शितरीत्या—५१
  - वैजात्ये दर्शितरीत्या—१२७५

संसृष्टयः—
- साजात्ये दर्शितरीत्या—५१
- वैजात्ये दर्शितरीत्या—१२७५

५३०४
शुद्धाः ५१

समुदायेन मिलित्वा ५३५५

अर्थ—(इनमें से) कुछ के तो उदाहरण देते है—**यथा—अत्युन्नतेति**—(**पदगत ध्वनिसंकर** का उदाहरण) **प्रसङ्ग**—प्रवास से आये हुये पति को सुनकर घर के बाहर के द्वार पर स्थित नायिका का वर्णन है।

अर्थ—अत्यन्त उन्नत (इससे कुचों की पीनता सूचित होती है) स्तनयुगल जिसके ऐसी, चञ्चल (इससे प्रतीक्षोन्मुखता सूचित होती है) और विस्फारित हैं (इससे पति को देखने की दूर से ही दर्शनपरता सूचित होती है) नयन जिसके ऐसी वह (नायिका) द्वार पर विद्यमान पति की उपस्थितिरूप महोत्सव के लिये (अपते घर में प्रवेशकालिक महान् आनन्द रूप व्यापार के लिये) अनायास ही पूर्णकुम्भ और सद्यः विकसित कमलों की तोरणमाला के आयोजन रूप मांगलिक कार्य को कर रही है। [जिसप्रकार महोत्सव के समय दरवाजे के पार्श्वभाग में दो पूर्ण कलशों को रखते हैं तथा वन्दनवारादि से तोरणद्वार को अलंकृत करते है उसीप्रकार उस नायिका ने प्रवास से प्रियतम के आने में महोत्सव में स्तनरूप दो कुम्भ सजाये तथा नयनरूप कमलों से तोरणमाला का आयोजन किया।]

अत्र स्तनावेव पूर्णकुम्भौ, दृष्टय एव नवनीरजस्रज इति रूपकध्वनिर-सध्वन्योरेकाश्रयानुप्रवेशः सङ्करः।

'धिन्वन्त्यमूनि मदमूर्च्छदलिध्वनीनि धूताध्वनीनहृदयानि मधोर्दिनानि।
निस्तन्द्रचन्द्रवदनावदनारविन्दसौरभ्यसौहृदसगर्वसमीरणानि॥'

अत्र निस्तन्द्रेत्यादिलक्षणामूलध्वनीनां संसृष्टिः।

अर्थ—(संकर प्रकार को स्पष्ट करते है) यहाँ पर (उदाहृत पद्य के अन्दर) "स्तन ही पूर्ण कुम्भ हैं," और "दृष्टि ही नवीन कमलों की वन्दनवार है" और इस-प्रकार दो रूपक अलंकारों और (शृङ्गार) रसध्वनि का एक ही आश्रय (शब्द और अर्थ) में अनुप्रवेश होने से **एकाश्रयानुप्रवेशसंकर** है।

टिप्पणी—यहाँ रस शृंगार ही है और वह रस स्तनों के अन्दर पूर्णकुम्भ का आरोप करने से तथा दृष्टि के अन्दर नवीन कमलों की वन्दनवार के आरोप करने से रूपकालंकार से नायक की रति के उद्दीपक होने के कारण एकाश्रयीभाव से व्यंग्य है। यही यहाँ पर व्यञ्जक का अनुप्रवेश समझना चाहिये, अतः सकर है।

प्रसंग—यह वसन्त समय का वर्णन है।

अर्थ—(**पदगतध्वनिसंसृष्टि** का उदाहरण) मद से वृद्धि को प्राप्त हो रही हैं भ्रमरों की ध्वनियाँ जिनमें ऐसे, (काम के आवेग के कारण) कम्पित हो रहे हैं (विरही) पथिकों के हृदय जिनसे ऐसे, (तथा) अत्यन्त प्रकाशमान अर्थात् पूर्ण चन्द्रमा के समान है मुख जिनका ऐसी (कामिनियों के) मुखारविन्द की सुगन्धि के साथ मित्रता (उसके सदृश होने) के कारण सगर्व (उत्कृष्ट) हैं वायुयें जिनमें ऐसे वे (पूर्वानुभूत) वसन्त के दिन (लोकों को) परितृप्त करते हैं।

यहाँ (प्रकृत पद्य के अन्दर) "**निस्तन्द्र**" इत्यादि ("आदि" पद से सौरभादिकों का ग्रहण होता है) लक्षणामूलक ध्वनियों की संसृष्टि है।

टिप्पणी—"**निस्तन्द्रः**"का मुख्यार्थ है निद्रारहित। चन्द्रमा के अन्दर निद्रा-राहित्य के असम्भव होने से उसके अर्थ का बाध है, अतः जहत्स्वार्था लक्षणा से "निस्तन्द्रः" शब्द प्रकाशमान रूप अर्थ का बोधन करता है, और अतिशय प्रकाश को बोधन करना उसका प्रयोजन है। इसीप्रकार प्रेम और अहंकार वाचक **सौहार्द** और **गर्व** शब्द चेतन मात्र के धर्म होने से प्रकृत में असम्भव हैं तथा जहत्स्वार्था लक्षणा से सादृश्य और उत्कर्ष रूप अर्थ का बोधन करते हैं और सादृश्य का अतिशय तथा उत्कर्ष का अतिशय बोधन करना उनका प्रयोजन है। अतः यहाँ वाच्यार्थों के अत्यन्त तिरस्कृत होने के कारण (वाच्यार्थ के अर्थान्तर में संक्रमण के अभाव से) उक्त त्रिविध संकर के न होने से **लक्षणामूलक अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य** ध्वनियों की संसृष्टि ही सहृदयों से अनुभवगम्य है।

इति ध्वनिभेदनिरूपणम्।

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यम्—

अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये ।

अपरं काव्यम् । अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च संभवति ।

तत्र स्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तं च वाच्यसिद्धयङ्गम् ॥१३॥
संदिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढम् ।
व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ ॥१४॥

अथ गुणीभूतव्यंग्यनिरूपणम् :—

अर्थ—इसके बाद (ध्वनि नामक काव्य के भेदों के निरूपणोपरान्त) **गुणीभूतव्यंग्य** (का निरूपण करते) हैं ।

दूसरे प्रकार का (ध्वनि से भिन्न काव्य) तो वाच्यार्थ की अपेक्षा निकृष्ट (वाच्यार्थ की अपेक्षा अतिशय चमत्काराधायक न होने पर) व्यंग्य के होने पर अर्थात् व्यन्जना से बोध्य अर्थ के होने पर **गुणीभूतव्यंग्य** (नामक काव्य होता) है।

(कारिका को स्पष्ट करते है) **अपरम्**=(का अर्थ) काव्य है, **अनुत्तमं**=अनुत्तमता, न्यूनता होने से अथवा समानता होने से हो सकती है [परन्तु व्यंग्य वाच्यार्थ से उत्तम नहीं हो सकता है] ।

टिप्पणी—वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारी न होने से यहाँ व्यंग्य का गुणीभाव है । **ध्वनिकार** ने भी कहा है--

"प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यः चारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत् ॥" इति ॥
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥"

इसप्रकार उक्त स्वरूप वाले जिस व्यंग्यार्थ को प्रतिपादित किया है उसकी प्रधानता में "ध्वनि" यह नाम दिया है । उसी के गुणीभाव से वाच्यार्थ की सुन्दरता के प्रकृष्ट होने पर गुणीभूतव्यंग्य नामक दूसरा काव्यभेद माना गया है। यह आशय है ।

अर्थ—(गुणीभूतव्यंग्य काव्य के भेद गिनाते हैं) उसमें अर्थात् **गुणीभूतव्यंग्य काव्य** में व्यंग्य (व्यन्जना से बोध्य अर्थ) (१) अन्य का (**रसादि का** अथवा वाच्यार्थ का) पोषक होता है, (२) काकु के द्वारा (ध्वनिविकार विशेष) आक्षिप्त (अर्थात् झटिति वाच्य की तरह प्रतीयमान), (३) तथा मुख्यार्थ की सिद्धि का साधक (वाच्यार्थ के अन्वय बोध का कारण), (४) सन्दिग्ध है (वाच्यकृत अथवा व्यंग्यकृत अनिश्चित है) प्रधानता जिसकी ऐसा अथवा चमत्कार के उत्पन्न करने में वाच्य और व्यंग्य के सन्देह

इतरस्य रसादेरङ्गं रसादि व्यङ्ग्यम् ।

के विषयभूत है प्रधानता जिसमें ऐसा, (५) समान है (वाच्य के समान है) प्रधानभाव जिसका ऐसा, (चमत्कार की उत्पत्ति में वाच्य और व्यंग्य दोनों की ही समर्थता के कारण समानता समझनी चाहिये), (६) अस्फुट (सहृदयों के द्वारा भी झटिति असंवेद्य), (७) अगूढ़ (अरसिकों के लिये भी संवेद्य हो), (८) असुन्दर (चमत्कारिता से शून्य), इसप्रकार (निर्दिष्ट रीति के अनुसार) उसके (**गुणीभूतव्यंग्यकाव्य**) आठ भेद कहे हैं ।

टिप्पणी—(१) **गुणीभूतव्यंग्यकाव्य** के आठ भेदों का परिगणन—तथाहि—(१) **इतराङ्गम्** (२) **काक्वाक्षिप्तम्** (३) **वाच्यसिद्ध्यङ्गम्** (४) **सन्दिग्धप्राधान्यम्** (५) **तुल्यप्राधान्यम्** (६) **अस्फुटम्** (७)**अगूढ़म्** **और** (८) **असुन्दरम्** ।

(२) काव्य के अन्दर **व्यंग्य** वाच्य की तरह प्रतीत होता हुआ उतना चमत्कार जनक नहीं होता है जितना कि कामिनी के कुचकलश की तरह न तो अधिक गूढ़ होता हुआ और न अधिक स्पष्ट (अगूढ़) होता हुआ सहृदयों को आनन्दित करता है । इसीलिये कहा है कि—

"नाऽऽन्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित् सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ।।" इति

इसप्रकार "**कामिनी कुचकलशन्याय**" से सहृदय जनों से संवेद्य व्यंग्य ही **ध्वनित्व** को प्राप्त करता है । सहृदयों से भी दुःख संवेद्य और असहृदयों से भी संवेद्य—ये दोनों प्रकार के ही व्यंग्य **गुणीभूतव्यंग्य** ही समझने चाहिये ।

अर्थ—(१) ("**इतराङ्गम्**" को स्पष्ट करते हैं)—**इतरस्य**—अर्थात् प्रधानभूत रसादि का ["रस" शब्द से "**रस्यत आस्वाद्यते**" इस व्युत्पत्ति के द्वारा **भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता** रूप **असंलक्ष्यक्रम** का ग्रहण होता है ।] **अङ्गम्**—उपकारक अर्थात् उत्कर्ष करने वाला । **रसादि**—अर्थात् असंलक्ष्यक्रम रूप । निष्पन्न रसभाव के अङ्गत्व के अभाव से "रस" पद यहाँ पर **स्थायीभाव परक** है । "आदि" शब्द से अनुरणनरूप संलक्ष्यक्रम का भाव है ।

टिप्पणी - इसप्रकार **असंलक्ष्यक्रम** और अनुरणनरूप **संलक्ष्यक्रम** दो प्रकार का "**इतराङ्गव्यंग्य**" है, यह आशय है । यहाँ पर रसभावादिक प्रधान व्यंग्यों में से रसभाव वाच्यरूप तीन प्रकार के ही उदाहरण मूलकर्ता ने दिखाये है । रसाभासादि असंलक्ष्यक्रमरूप और संलक्ष्यक्रम रूप के उदाहरण विद्वानों को स्वयं ढूंढ लेने चाहिये ।

यथा—

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥'

अत्र शृंगारः करुणस्याङ्गम् ।

'मानोन्नतां प्रणयिनीमनुनेतुकामस्त्वत्सैन्यसागररवोद्गतकर्णतापः ।
हा हा कथं नु भवतो रिपुराजधानीप्रासादसंततिषु तिष्ठति कामिलोकः ॥'

अवतरणिका—रस की रसाङ्गता मे इतराङ्गव्यग्य मध्यम काव्य का उदाहरण देते हैं ।

अर्थ—(रस के रस की अङ्गता में "इतराङ्गव्यंग्य" मध्यम काव्य का उदाहरण) यथा—अयमिति—

प्रसंग—महाभारत के स्त्रीपर्व के २४ वें अध्याय में युद्ध के अन्दर कटे हुये भूरिश्रवा के हाथ को लेकर उसकी पत्नी का यह विलाप है ।

अर्थ—रशनायें (रमण करने के लिये कटिप्रदेश से करधनी को) खींचने वाला, (तथा) पीन स्तनों को मर्दन करने वाला, नाभि, उरू और जंघा का स्पर्श करने वाला (सुरताभिलाषा को उद्दीप्त करने के लिये नाभि आदि का स्पर्श करने वाला), नीवी-बन्धन को (कटिप्रदेश में विद्यमान वस्त्र की ग्रन्थि को) खोलने वाला यह (इस अवस्था को प्राप्त) वही (उन-उन कर्मों को अनुभव करने वाला) हाथ है ।

यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) शृङ्गार (आलम्बन के विच्छेद से रति के परिपुष्ट न होने के कारण रसता को प्राप्त न होने पर स्मरण किये जाते हुये उसके अङ्गों के शोकोद्दीपक होने के कारण) करुण रस का पोषक है ।

टिप्पणी—यहाँ शृङ्गार करुणा का अङ्ग है और करुण शृङ्गार का अङ्गी है । अतएव प्रकरणवश प्रधान करुण के व्यञ्जक वाक्यार्थ की अपेक्षा करके उस समस्त रसभाव को प्राप्त न होने के कारण न्यूनता है (चमत्कारिता से शून्य है) । **प्रश्न**—उस समय शृंगार के रसत्व को प्राप्त न होने से इसको "रसांगरस" का उदाहरण क्यों कर दे दिया ? **उत्तर**—बात यह है कि उस समय शृंगार रस के पूर्ण रसत्व को प्राप्त न होने पर भी खण्डरसता तो है ही यह अन्यत्र दोष परिच्छेद में निर्णीत किया जायेगा । शृंगार के करुण रस के विरोधी होने पर भी स्मृति का विषय होने से वह गुण ही है, दोष नही । यहाँ करुण को लेकर काव्य का ध्वनित्व है । शृंगार के स्थायीभाव को लेकर गुणीभूतव्यंग्य समझना चाहिये । शोक के आवेग के कारण ही शृंगार अपुष्ट है ।

अर्थ—(रस के भाव की अङ्गता में इतरांगव्यंग्य मध्यम काव्य का उदाहरण) मानोन्नतामिति—

प्रसंग—किसी राजा की स्तुति है ।

अर्थ—(हे राजन् !) आपके शत्रु की राजधानी की अट्टालिकाओं के समूहों में (स्थित) कामीवर्ग अतिशय मानवती कामिनियों को मनाने की इच्छा वाला तुम्हारे सैनिक समूह रूप समुद्र के कोलाहल से उत्पन्न हुई है श्रोत्रपीड़ा जिसको ऐसा हा ? हा ? (अहो, बड़े दुःख की बात है) बड़े कष्ट में पड़ा हुआ है ।

अत्रौत्सुक्यत्राससन्धिसंस्कृतस्य करुणस्य राजविषयकरतावङ्गभावः।

'जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्।
कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता॥'

अर्थ—यहाँ (प्रकृत पद्य के अन्दर "मानोन्नताम्" इस प्रथम चरण में) औत्सुक्य (व्यंग्य) है, ("त्वत् सैन्य" इस द्वितीय चरण में) त्रास (व्यंग्य) है, (इन दोनों के **औत्सुक्य और त्रास के**) संयोग से पुष्ट (संस्कृत) [इससे भावसन्धि की रसाङ्गता प्रदर्शित की है करुण रस राजविषयकरति में भाव का अङ्ग है।

टिप्पणी—यहाँ भावसन्धि करुण रस का अङ्ग है और करुण रस राजविषयक रतिरूप भाव का अङ्ग है, ऐसा समझना चाहिये। यहाँ भाव के आस्वाद मात्र होने से प्राधान्य है और मुख्यार्थ व्यंग्य करुण रस से निरपेक्ष ही भाव का व्यञ्जक है, और करुणरस वाच्य के सापेक्ष हा! हा! इस पदार्थ का व्यंग्य होता हुआ भाव का उत्कर्षक है। इसप्रकार औत्सुक्यादि व्यंग्यार्थों की वाच्यार्थ की अपेक्षा न्यून चमत्कारिता होने के कारण **गुणीभूतव्यंग्य** समझना चाहिये।

अवतरणिका—इसके बाद शब्दशक्तिमूलक अनुरणन रूप उपमालंकार के संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का वाच्याङ्गता में **इतराङ्गव्यंग्यगुणीभूतव्यंग्य** का उदाहरण देते हैं—

अर्थ—(शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की **इतराङ्गव्यंग्यता** का उदाहरण)—

प्रसंग—धन के लिये उद्योग करते हुये भी जब किसी दरिद्र को धन की प्राप्ति नहीं हुई, उस समय उसकी धनिकों के समक्ष यह सखेद उक्ति है।

अर्थ—सुवर्ण के अन्वेषण (मृग) की निष्फल आशा से (तृष्णा) विवेक शून्य हो गई है बुद्धि जिसकी ऐसे (मैंने) धनिक लोगों के पास में चक्कर लगाये **राम के पक्ष में**—सुवर्ण मृग की (सुवर्ण मृग का रूप धारण करने वाले मारीच की) तृष्णा से (उसको ग्रहण करने की इच्छा से) विवेक रहित हो गई है बुद्धि जिसकी ऐसे (रामचन्द्र जी) जनस्थान नामक दण्डकारण्य प्रदेश विशेष में घूमे, निश्चय से (वै) दो (देहि) इसप्रकार के वचन प्रत्येक धनिक के स्थान पर (प्रतिपदं) सजल नयनों से (मैंने) व्यर्थ ही कहे **राम के पक्ष में**—(रामचन्द्र जी ने) पग-पग पर (प्रतिपदं) हे विदेहवंशसम्भूते सीते! (वैदेहि) इसप्रकार के वचन सजल नयनों से निरर्थक ही कहे, (क्योंकि उससे पूर्व ही रावण सीता को हर ले गया था, अतः उत्तर देने वाला कोई नहीं था); धनिक की (भर्तुः) सेवा शुश्रूषा में (परिपाटीषु) अत्यधिक (अलम्) क्या (का) प्रशंसा (घटना) नहीं (न) की (कृता) **अथवा** कुत्सित धनिक के (काभर्तुः) मिथ्याभाषण प्रकारों में (वदनपरिपाटीषु) हाँ (घटना) अत्यधिक (अलम्) नहीं किया (न कृता) (यह तुम मुझे) बताओ (वद) अर्थात सभी कुछ मैंने किया परन्तु धन नहीं पा सका **राम के पक्ष में**—(रामचन्द्रजी ने) रावण की (लंकाभर्तुः) मुखपंक्ति में बाणों की (अविरल) वर्षा की (इसप्रकार) मैंने रामत्व (तो) प्राप्त कर लिया परन्तु (तु) दरिद्रता को अपहरण करने में समर्थ (कुशलं) धनता (वसुता) प्राप्त नहीं कर सका **राम के पक्ष में**—(जब कि रामचन्द्रजी ने) कुश और लव हैं पुत्र जिसके ऐसी सीता को (कुशलवसुता) प्राप्त कर ही लिया।

अत्र रामत्वं प्राप्तमित्यवचनेऽपि शब्दशक्तेरेव रामत्वमवगम्यते। वचनेन तु सादृश्यहेतुकतादात्म्यारोपणमाविष्कुर्वता तद्गोपनमपाकृतम्। तेन वाच्यं सादृश्यं वाक्यार्थान्वयोपपादकतयाङ्गतां नीतम्।

टिप्पणी—यहाँ "**मया रामत्वं प्राप्तम्**" मैंने रामत्व प्राप्त कर लिया है—यह आपाततः प्रतीत होता है, बाद में अन्य के धर्म को दूसरा कैसे ग्रहण कर सकता है इसप्रकार की अनुपपत्ति की शंका करने से समानरूप वाले शब्दों के सामर्थ्य से व्यक्त होने वाले सादृश्य को लेकर '**रामसादृश्यं प्राप्तम्**" राम का सादृश्य प्राप्त कर लिया, यह बोध होता है।

अवतरणिका—उदाहृत पद्य के अन्दर उपमा ध्वनि का निराकरण करते हुये "वाक्यार्थ की अङ्गता" का प्रतिपादन करते है।

अर्थ—यहां (उदाहृत पद्य के अन्दर) "**रामत्वं प्राप्तम्**" ऐसा न कहने पर भी "शब्दशक्ति अभिधामूलक व्यञ्जनावृत्ति के सामर्थ्य से ही (वक्ता के अन्दर) राम सादृश्य की (रामत्वम्) प्रतीति होती है। कहने से तो अर्थात् "**मयाप्तं रामत्वम्**" इस वाक्य से तो कहने पर (राम) सादृश्य के कारणभूत तादात्म्य के (रामत्वरूप) आरोप को (अभेदरूप से प्रतिपादन करने से) प्रकट करते हुये उसकी (व्यंग्यभूत राम सादृश्य की) गूढ़ता का (गोपनम्) निराकरण हो गया। [अर्थात् उसके गोपन से सादृश्य की गुणीभूतता प्रतिपादित हो गई। इसप्रकार अधिक चमत्कारिता के अभाव से इसकी "उपमा ध्वनि" का निराकरण कर दिया अर्थात् इसके अन्दर उपमा-ध्वनि नहीं हो सकती।] इससे (सादृश्य के गोपन न करने से) वाच्य की तरह झटिति प्रतीत होने वाली (वाच्यम्) तुल्यता (सादृश्यम्) वाक्यार्थ के (राम सादृश्य के प्राप्ति रूप) अन्वय को सम्पादन करने के कारण (अर्थात् अन्वय के प्रतियोगी होने से अन्वय के निर्वाहक होने से) अंगता को (पोषकता को) प्राप्त हो गई।

टिप्पणी—कहने का आशय यह है कि सादृश्य की गूढ़ता के समाप्त हो जाने से अधिक चमत्कारिता के खण्डन से यहाँ गुणीभूतव्यंग्यता है, **उपमाध्वनि** नहीं। **प्रश्न**—इसप्रकार से तो "**वाच्यसिद्ध्यङ्गम्**" का ही यह उदाहरण हो गया इतराङ्गव्यंग्य का नहीं? **उत्तर**—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि **यत्र आपाततः प्रतीतस्यार्थस्यानुपपत्तिं व्यंग्यं निरस्यति स वाच्यसिद्ध्यङ्गस्य विषयः**—अर्थात् जहाँ आपाततः प्रतीत अर्थ की अनुपपत्ति व्यंग्यार्थ का निराकरण कर देती है, वह वाच्यसिद्ध्यङ्ग का विषय होता है और **यत्र त्वापाततः प्रतीतस्य बाधेन तत्स्थाने आत्मानमर्पयित्वा सम्बन्धं सम्पादयति सोऽस्य विषयः इत्यनयोर्भेदः**—अर्थात् जहाँ आपाततः प्रतीयमान अर्थ के बाध से उसके स्थान पर अपने आपको अर्पण करके सम्बन्ध का सम्पादन करती है वह **इतरांग** का विषय है। यही इन दोनों में भेद है। और इसीप्रकार उसके गोपन से गुणीभूत व्यंग्य का भेद "अगूढ़" ही है, यह कहना चाहिये, क्योंकि वैसा होने पर **इतरांगता** के न होने से। **प्रश्न**—"**रामत्वं प्राप्तम्**" ऐसा कहने से राम से अभेद की प्राप्ति ही प्रतीत होती है, अतः यह रूपक ही है, ऐसा कहना चाहिये? नहीं, इसको रूपक नहीं कह सकते हैं क्योंकि समान विभक्ति का अभाव होने से और भेद के अन्वय बोध के शब्द का विषय न होने से। यह भी नहीं कहना चाहिये कि यह "**श्लेष**" का

काक्वाक्षिप्तं यथा—

'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥'

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादिव्यंगयं वाच्यस्य निषेधस्य सहभावेनैव स्थितम् ।

विषय है क्योंकि जहाँ शब्द से दूसरा अर्थ साक्षात् प्रतिपादित किया जाता है वह श्लेष का विषय होता है, और जहाँ शब्द की सामर्थ्य से दूसरा अर्थ आक्षिप्त किया जाता है, शब्द से नहीं कहा जाता है वह व्यञ्जना का विषय होता है । अतः प्रकृत उदाहरण में दूसरा अर्थ "रामेण" इस अन्वय प्रतियोगी पद के अभाव से अन्वय को प्राप्त होता है, अतः राम जिसप्रकार जनस्थान में घूमे, मैं भी उसीप्रकार धनिकों के स्थानों पर घूमा यह अर्थ व्यञ्जना से ही लभ्य है, ऐसा समझना चाहिये ।

अर्थ (२) **"काक्वाक्षिप्तव्यंग्य"** (काकुः—ध्वनिविशेष उससे आक्षिप्त व्यंग्य का उदाहरण) **यथा**—मथ्नामीति—

प्रसंग—वेणीसंहार के प्रथम अंक में दुर्योधन के साथ सन्धि करने में प्रवृत्त युधिष्ठिर को सुनकर सन्धि करने के प्रति असहिष्णु भीमसेन की सहदेव के प्रति यह उक्ति है ।

अर्थ—(मैं) युद्ध में क्रोध से सौ कौरवों को (कुरुवंशीय धृतराष्ट्र पुत्रों को) न मारूँगा ? दुःशासन के उरःस्थल से रुधिर का पान नहीं करूँगा ? गदा से सुयोधन की (सुयोधन दुर्योधन ही का नामान्तर है । दुःख से योधनीयता के अभाव से दुर्योधन पद को छोड़कर सुयोधन पद का प्रयोग किया है ।) जंघाओं को चूर्ण नहीं करूँगा ? अर्थात् यहाँ पर काकु ध्वनि विशेष से **मथ्नाम्येव, पिबाम्येव, सञ्चूर्णयाम्येव**—मैं अवश्य सौ कौरवों को मारूँगा, दुःशासन के उरःस्थल से अवश्य रुधिर का पान करूँगा और सुयोधन की जंघा भी अवश्य ही अपनी गदा से चूर्ण करूँगा, यह अर्थ बोधित होता है । आपका (अभिमत) राजा (युधिष्ठिर) पण से (इन्द्रप्रस्थादि पाँच गाँवों के विनिमय से) सन्धि कर लें ।

टिप्पणी—(१) यहाँ क्रोधातिशय के कारण मथनादि में वर्तमान काल समझना चाहिये ।

(२) युधिष्ठिर के द्वारा सन्धि के प्रस्ताव में माँगे हुये ५ ग्राम इसप्रकार है—

"इन्द्रप्रस्थं वृकप्रस्थं जयन्तं वारणावतम्,
देहि मे चतुरो ग्रामान् पंचमं किञ्चिदेव तु ॥

(३) यहाँ व्यंग्य वाच्यार्थ के साथ ही प्रतीत होता है, अतः चमत्कारिता के विनष्ट हो जाने से **गुणीभूतव्यंग्य** समझना चाहिये ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत पद्य में) **"मथ्नाम्येव"** इत्यादि ('आदि" पद से **पिबाम्येव, सञ्चूर्णयाम्येव**—इन दोनों पदों का ग्रहण होता है ।) व्यंग्य वाच्य के (**न मथ्नामि** इत्यादि अर्थ रूप वाच्य के) निषेध के साथ ही स्थित है अर्थात् प्रतीत होता है ।

'दीपयन् रोदसीरन्ध्रमेष ज्वलति सर्वतः ।
प्रतापस्तव राजेन्द्र वैरिवंशदवानलः ॥'

अत्रान्वयस्य वेणुत्वारोपणरूपो व्यङ्ग्यः प्रतापस्य दावानलत्वारोप-सिद्ध्यङ्गम् ।

टिप्पणी—भाव यह है कि कौरवों के कुल को नष्ट करने की प्रतिज्ञा का **'न मथ्नामि'** इस उक्ति से बाध हो जाता है अतः नञ् के प्रयोगों में काकु की प्रतीति होती है, और उस काकु से नञ् का दूसरा अर्थ बाधित होता है, इससे "मैं नष्ट नहीं करूँगा" ऐसी बात नहीं है अर्थात् अवश्य मारूँगा यह व्यंग्य निश्चित होता है। इसी व्यंग्य को "**मथ्नाम्येव**" यहाँ "एव" के प्रयोग से प्रकट किया है। "आदि" पद से **पिबाम्येवादि** का ग्रहण होता है। इसप्रकार एकदेश स्थित व्यंग्य "**काक्वाक्षिप्त**" है। इसीलिये यह "विरोधी लक्षणा" का भी विषय नहीं है क्योंकि मुख्यार्थ के बाध के अनुसन्धान से पूर्व ही काकु के द्वारा विवक्षितार्थ की उपस्थिति हो जाती है। अतः जिसप्रकार गन्ने को पिरोकर गिलास में रखे हुये रस की अपेक्षा स्वयं चर्वित गन्ने के रस में अधिक माधुर्य की प्रतीति होती है उसीप्रकार वाच्यार्थ रूप भाव से व्यज्यमान व्यंग्यार्थ की अपेक्षा किंचित् सोचकर व्यज्यमान व्यंग्यार्थ के अन्दर ही अतिशय माधुर्य की प्रतीति होती है। अतः यहाँ पर **गुणीभूतव्यंग्य** है, इससे ध्वनि का निराकरण समझना चाहिये। यद्यपि अगूढ व्यंग्य के अन्दर इसका अन्तर्भाव हो सकता है तथापि काकु रूप विच्छित्ति के कारण इसका पृथक् ग्रहण समझना चाहिये।

अर्थ—(३) (**वाच्यसिद्ध्यङ्ग** व्यंग्य का उदाहरण) [**प्रसङ्ग**—राजा की स्तुति का वर्णन है।] (हे) राजेन्द्र ! शत्रुओं के कुलों में **अथवा** शत्रु कुल ही है मानों वेणु उसमें दावाग्नि रूप यह तुम्हारा प्रताप (क्रोध और दण्ड से उत्पन्न होने वाला तेज) द्यावापृथिवी के मध्यभाग को प्रकाशित करता हुआ सब दिशाओं में प्रदीप्त हो रहा है।

यहाँ (प्रकृत पद्य में) (शत्रु) वंश के अन्दर वेणुत्व का आरोप करना व्यंग्य है अर्थात् व्यञ्जना से बोधित होता है। (यह वेणुत्व रूप व्यंग्य) प्रताप के अन्दर दावानलत्व रूप आरोप की सिद्धि का अङ्ग (साधक) है। [अन्यथा प्रताप के अन्दर दावानलत्व का आरोप करना असङ्गत हो जाये, यह भाव है।]

टिप्पणी—वाच्यसिद्ध्यङ्ग और इतराङ्ग व्यंग्य के अन्दर भेद दिखाते हैं—जहाँ व्यंग्य के विना वाच्यार्थ की उपपत्ति नहीं होती है वहीं **वाच्यसिद्ध्यङ्ग** का अवसर होता है, और जहाँ ऐसा नहीं होता है वहाँ **इतराङ्गव्यंग्य** होता है। यही मन दोनो में भेद है। अतः वाच्यार्थ के साधक होने से यहाँ व्यंग्य के अन्दर वैसी चमत्कारिता नहीं है, अतः यहाँ **गुणीभूतव्यंग्य** समझना चाहिये। कहने का आशय यह है कि शत्रुवंश (कुल) के सर्वप्रथम बोध होने पर दावानल की शत्रुकुल के अन्दर सम्बन्ध की उपपत्ति असम्भव होने से अप्रामाण्य का ग्रहण होता है। तदनन्तर प्रताप के अन्दर दावानलत्व की उपपत्ति से व्यंग्य (शत्रु) कुल के अन्दर वेणुत्व का आरोप करने से "शत्रुकुल रूप वेणु के लिये दावानल" इसप्रकार का दूसरा ज्ञान होता है।

'हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यः—'इत्यादौ विलोचनव्यापारचुम्बनाभिलाषयोः प्राधान्ये सन्देहः।

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥'

आरोप्यमाण वेणु का दावानल के साथ सम्बन्ध होना उचित ही है, इसप्रकार अनुपपत्ति के निराकरण से दावानल के आरोप के अङ्ग (साधक) व्यंग्य रूपक प्रताप की दाहकता से और कवि परम्परा सिद्ध पिशंगता से दावानल का सादृश्य प्रसिद्ध ही है, अतः उसका रूपक वैरिकुल के अन्दर वेणु के आरोप करने का कारण है, अतः यह श्लिष्ट निबन्ध परम्परित रूपक है।

अर्थ—(४) (**सन्दिग्ध प्राधान्यव्यंग्य** का उदाहरण) **"हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्य**:—[प्रसङ्ग—कुमारसम्भव में अकस्मात् वसन्त हो जाने पर पार्वती को देखते हुये शिवजी के धैर्य के विपर्यय का यह वर्णन है।] इत्यादि में विलोचन व्यापार और चुम्बनाभिलाषा की प्रधानता में सन्देह है।

टिप्पणी—यहाँ प्रकृत उदाहरण में विलोचन व्यापार वाच्य है और चुम्बनाभिलाषा व्यंग्य है क्योंकि मुख पर लोचन व्यापार से चुम्बन की अभिलाषा अभिव्यक्त होती है। यह नहीं कहना चाहिये कि दोनों के ही शृङ्गार व्यञ्जक होने के कारण प्रधानता है अतः यहाँ "**तुल्यप्राधान्य**" ही है। क्योंकि दोनों के प्राधान्य में सन्देह होने पर तुल्य प्राधान्य का अवसर ही नहीं है। यहाँ विलोचन व्यापार रति के अनुभाव रूप शृङ्गार की व्यञ्जना से प्रधान है अथवा चुम्बन की अभिलाषा के व्यञ्जक होने से अङ्ग हैं। **तथा**—चुम्बन की अभिलाषा की सम्भावना के कारण अप्रधान है अथवा आस्वाद का विषय होने से शृङ्गार की व्यञ्जकता से प्रधानता है—इसप्रकार इन दोनों के अन्दर सन्देह ही "**प्राधान्य सन्देह**" है, प्राधान्य के निश्चय के अभाव से ही व्यंग्य के अधिक चमत्कारी न होने से वाच्य से अनुत्तम होने पर **गुणीभूतव्यंग्य** समझना चाहिये।

अर्थ--(५) (**तुल्यप्राधान्यव्यंग्य** का उदाहरण) **ब्राह्मणेति**—[प्रसङ्ग—परशुराम जी द्वारा भेजी हुई पत्रिका को पढ़ते हुये रावण के प्रति उसके मन्त्री माल्यवान् की उक्ति है।] ब्राह्मणों के ऊपर आक्रमण का परित्याग करना आपके लिये (राक्षसों के लिये ही) कल्याण के लिये है। (अपने स्वार्थवश ऐसा नहीं कह रहा हूँ) अन्यथा (ब्राह्मणों पर आक्रमण का त्याग न करने पर) तुम्हारा मित्र (एक आचार्य के पास पढ़ने के कारण सतीर्थ्य। यहाँ "चकार" का मित्र पद के साथ अन्वय करने से दोनों के एक आचार्य के पास अध्ययन करने के कारण निरतिशय मित्रता, तथा उसका अतिक्रमण न केवल ब्राह्मण का अतिक्रमण है, मित्र का भी अतिक्रमण है, यह सूचित होता है।) जामदग्न्य (परशुराम तथा ब्राह्मण) विरुद्ध आचरण करेगा।

टिप्पणी—कहने का आशय यह है कि जिसप्रकार कार्त्तवीर्य ने परशुराम के साथ दुर्मनस्यता का व्यवहार करके क्षत्रियकुल को नष्ट कर लिया उसीप्रकार तुम भी राक्षसकुल को नष्ट कर लोगे।

अत्र परशुरामो रक्षःकुलक्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य, वाच्यस्य च समं प्राधान्यम्।

'सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥'

अत्राल्लावदीनाख्ये नृपतौ दानसामादिमन्तरेण नान्यः प्रशमोपाय इति व्यङ्ग्यं व्युत्पन्नानामपि झटित्यस्फुटम्।

'अनेन लोकगुरुणा सतां धर्मोपदेशिना।
अहं व्रतवती स्वैरमुक्तेन किमतःपरम्॥'

अर्थ—यहाँ (प्रकृत पद्य मे) "परशुराम राक्षसकुल का विनाश कर देंगे" इस व्यंग्य की और वाच्य की समान प्रधानता है।

टिप्पणी—आशय यह है कि '**दुर्मनायते**' इस पद से गम्य व्यंग्य का, और "**मित्रम्**" इस पद से अभिधीयमान हितकारित्व रूप वाच्यार्थ की समान चमत्कारिता के कारण "**तुल्यप्राधान्य**" है। तथा च "जामदग्न्य क्षत्रियों की तरह राक्षसों का विनाश कर देंगे" इस दण्डरूप व्यंग्य की तरह पृथक् कहा जाने वाला सामोपायात्मक वाच्य भी प्रधान ही है। अतएव वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के अतिशय चमत्कारक न होने के कारण "**गुणीभूतव्यंग्यता**" है।

अर्थ—(६) (**अस्फुट व्यंग्य** का उदाहरण) **सन्धाविति**—

(**प्रसङ्ग**—अलाउद्दीन के साथ अपने विरोध की सम्भावना करके किसी शक्तिहीन राजा की यह उक्ति है।) **अर्थ**—अलाउद्दीन नामक (दिल्लीश्वर) यवनराज के साथ सन्धि करने पर (युद्ध से, विरत होने पर) सम्पूर्ण धन का हरण होता है, (अर्थात् अलाउद्दीन के साथ सन्धि करने पर वह सारा धन ही ले लेगा—और विना धन दिये कोई उसके साथ सन्धि कर नहीं सकता है।) युद्ध करने पर प्राणों का नाश (होता) है। (अर्थात् अलाउद्दीन के साथ युद्ध करने पर मृत्यु निश्चित है) (अतः उसके साथ) न तो सन्धि (परस्पर मैत्रीभाव) और न ही युद्ध (ठीक) है।

(व्यंग्य की अस्फुटता दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकत पद्य में) "अलाउद्दीन नामक राजा के विषय में दान, सामादि ("आदि" पद से पलायनादि का ग्रहण होता है) के विना और कोई शान्ति का उपाय नहीं है" यह व्यंग्य अर्थात् जीवन रक्षा के लिये सर्वस्व दान देकर भी सन्धि करनी ही चाहिये—यह व्यंग्य परिपक्व बुद्धि वालों के लिये भी शीघ्र ही अस्फुट (प्रतीति का विषय नहीं) है (औरों का तो कहना ही क्या है)। [अतएव वाच्याथ की अपेक्षा व्यंग्य के अधिक चमत्कारजनक न होने से "**गुणीभूतव्यंग्यता**" है।]

अर्थ—(७) (**अगूढव्यंग्य** का उदाहरण) **अनेनेति**—प्रसङ्ग—शाक्यमुनि के तिर्यक् जातीय स्त्री के साथ बलात्कार कृत उपभोग को सहन न करती हुई उसकी पत्नी की यह उक्ति है।

अर्थ—सज्जनों को धर्म का उपदेश देने वाले, लोगों के गुरु (अज्ञान रूप अन्धकार के विनाशक होने से आचार्य) इस (स्वामी) ने मैं गृहस्थ धर्म का अनुष्ठान करने वाली हूँ (व्रतवती) (अतः) इससे अधिक स्वच्छन्द पूर्वक (स्वामी के आचरणों को) कहने से क्या? अर्थात् इससे अधिक मुझे कुछ भी नहीं कहना चाहिये।

अत्र प्रतीयमानोऽपि शाक्यमुनेस्तिर्यग्योषिति बलात्कारोपभोगः स्फुट-तया वाच्यायमान इत्यगूढम्।

'वाणीरकुडङ्गुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं ॥'
(वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥)

टिप्पणी—संसार के आचार्य (गुरु) सद्धर्मोपदेशक इसका दुष्कर्म करना ही अनुचित है तथापि इसने जो कुछ भी किया है, उसको क्या कहूँ। गृहस्थाश्रम का पालन करने वाले मेरे लिये उन दुराचरणों का कहना भी ठीक नहीं है, यह गूढ़ अभिप्राय समझना चाहिये।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत पद्य में) (व्यंग्यता से) प्रतीत होता हुआ भी [प्रतीयमान प्रायः अस्फुट से स्फुट होता है अतः उसके विरोध को दिखाने के लिये "अपि" का प्रयोग है।] शाक्यमुनि का तिर्यक् जातीय स्त्री के साथ बलपूर्वक उपभोग स्फुटरूप से (श्लोक के प्रकरण से बलपूर्वक उपभोग का ज्ञान होने से स्फुटता है) वाक्यार्थ की तरह शीघ्र व्यक्त होता है (वाच्यायमानः), अतः अगूढ़ है।

टिप्पणी—यहाँ आक्षेपालङ्कार की महिमा से व्यंग्य रूप विशेष झटिति ही प्रतीत होता है। यही इसकी वाच्यायमानता है (वाच्य की तरह शीघ्र प्रतीत होना है)। व्यंग्य निरपेक्ष ही वाच्य आक्षेपालङ्कार ईर्ष्या व्यभिचारीभाव का बोधक है। यहाँ प्रति-नायिका के तिर्यक् योनि होने के कारण उसके उपभोग रूप व्यंग्य की ईर्ष्या के अन्दर उत्कर्ष की आधायकता नहीं है, अतः व्यङ्ग्यार्थ के स्फुट होने से वाच्यार्थ की अपेक्षा अतिशयता का अभाव होने से **गुणीभूतव्यंग्यता है। अर्थशक्तिमूलक अनुरणन व्यंग्य** यहाँ अगूढ है।

अर्थ—(८) (असुन्दर व्यंग्य का उदाहरण) वाणीरेति—

प्रसङ्ग—गृह के पार्श्ववर्ती वेतस के निकुञ्ज में जाने का संकेत करने वाली, निकुञ्ज से उड़ते हुये पक्षियों के कोलाहल से उपनायक के प्रवेश का अनुमान करने वाली, गुरुजनों की परतन्त्रता के कारण और घर के कामों में व्यस्त होने के कारण वहाँ जाने में असमर्थता वाली नायिका के स्वरूप का यह वर्णन है।

अर्थ—वेतस के कुञ्ज से उड़ते हुये पक्षियों के कोलाहल को सुनती हुई, घर के कार्यों में निरत वधू के अङ्ग शिथिल हो रहे हैं (अर्थात् प्रमोद और आवेग के कारण उन-उन कामों में असमर्थ हो रहे हैं)।

टिप्पणी—**"सीदन्ति"** इससे वर्त्तमान का निर्देश होने से अ[illegible] [illegible]समाप्ति है। **"शृण्वन्त्याः, सीदन्ति"** इन वर्त्तमान के प्रत्ययों से सुनना और [illegible] कारण कार्य के पौर्वापर्य का विपर्यय रूप **अतिशयोक्ति अलङ्कार** है। इससे उत्[illegible] का प्रति-शय व्यञ्जित होता है।

अत्र दत्तसंकेतः कश्चिल्लतागृहं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् 'सीदन्त्यङ्गानि' इति वाच्यस्य चमत्कारः सहृदयसंवेद्य इत्यसुन्दरम् ।

किञ्च यो दीपकतुल्ययोगितादिषूपमाद्यलङ्कारो व्यङ्ग्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्य एव । काव्यस्य दीपकादिमुखेनैव चमत्कारविधायित्वात् ।

तदुक्तं ध्वनिकृता—

'अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।
तत्परत्वं न काव्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥'

यत्र च शब्दान्तरादिना गोपनकृतचारुत्वस्य विपर्यासः ।

अर्थ—यहां (उक्त पद्य में) "दत्तसङ्केतः कश्चिल्लतागृहं प्रविष्टः" इस व्यंग्य की अपेक्षा "सीदन्त्यङ्गानि" इस वाच्यार्थ का (अङ्गों के शिथिल होने का) चमत्कार (हर्ष और आवेग से युक्त अनुराग के उद्रेक से मदन परवशता की प्रतीति) सहृदयों से संवेद्य है । अतः (यह) "असुन्दर" व्यंग्य है ।

टिप्पणी—यहाँ पर "दत्तसंकेतः कश्चिल्लतागृहं प्रविष्टः" यह व्यंग्य है । वहां वधू के गृह-कार्य में निरत होने के कारण न जा सकने से अङ्गावसाद है और यह अङ्ग शैथिल्य रूप वाच्य विप्रलम्भाभास का व्यञ्जक होने से जैसा चमत्कृत करता है, वैसा व्यङ्ग्य नहीं करता, अतः असुन्दर व्यङ्ग्य है ।

अवतरणिका—"असुन्दरव्यंग्य" के अन्य उदाहरणों को दिखाते हैं—

अर्थ—तथा, दीपक (**बहूपमानामामेकधर्मान्वयो दीपकम्**) और तुल्ययोगिता (**उपमेयोपमानानामेकधर्मान्वयस्तुल्ययोगिता**) आदिकों में ("आदि" पद से **प्रतिवस्तूपमा** और **दृष्टान्त** आदिकों का ग्रहण होता है) जो उपमादि ("आदि" पद से अनेक क्रिया घटित दीपकादि में क्रिया समुच्चयादिकों का ग्रहण होता है) अलङ्कार व्यंग्य है, (सभी स्थानों पर व्यञ्जनया उपमा की प्रतीति होती है) वह (**असुन्दर नामक**) **गुणीभूतव्यंग्य** ही है । (क्योंकि) काव्य के अन्दर दीपकादि के द्वारा ही (तात्पर्य के ज्ञान के अनन्तर व्यज्यमान उपमादि व्यंग्यालङ्कार से नहीं) चमत्कार का आधान होता है । [इसीलिये उक्त व्यंग्य की "असुन्दर" संज्ञा भी घटित होती है] ।

(गोवर्धनाचार्य ने) ध्वनिकार ने यही कहा है कि—

अलङ्कारान्तरस्यापीति—अन्य व्यंग्यभूत रूपकादि अलङ्कार की (व्यञ्जना के द्वारा) प्रतीति होने पर भी जहाँ वाच्य की तत्परता (व्यंग्यालङ्कार के तात्पर्य की बोधकता) प्रकाशित नहीं होती है, वह ध्वनि का विषय नहीं माना गया है अपितु गुणीभूतव्यङ्ग्य का प्रकार विशेष ही माना गया है ।

अर्थ—और जहाँ दूसरे शब्द आदि से अथवा व्यंग्यार्थ के हठात् प्रत्यायक दूसरे पदादि से गोपनकृत (व्यंग्य द्वारा कृत) सौन्दर्य (चमत्कारता) का विपर्यास होता है (वहां भी **गुणीभूतव्यंग्य ही समझना चाहिये**) ।

टिप्पणी—जहां व्यंग्यार्थ की गोपनकृत चारुता है वहाँ तो "ध्वनि" है और जहां इससे विपरीत है अर्थात् व्यंग्यार्थ की गोपनकृत चारुता किसी अन्य शब्दादि से व्यक्त हो जाती है वहाँ अगूढ रूप गुणीभूतव्यंग्य ही है ।

यथा—

'दृष्टया केशव, गोपरागहृतया किंचिन्न दृष्टं मया
तेनात्र स्खलितास्मि नाथ, पतितां किं नाम नालम्बसे।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद्गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ॥

अत्र गोपरागादिशब्दानां गोपे राग इत्यादिव्यङ्ग्यार्थानां सलेशमिति-पदेन स्फुटतयावभासः। सलेशमिति पदस्य परित्यागे ध्वनिरेव।

अर्थ—[अगूढ रूप गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण यथा]—दृष्ट्येति—(सश्लेष उक्ति है)—

वाच्यार्थ—हे केशव ! गौओं की धूलि से आच्छन्न हो गई है दृष्टि जिसकी ऐसी मैंने कुछ (भी) (मार्गादि) नहीं देखा है, अतः यहाँ (तुम्हारे सन्मुख) भटक गई हूँ, (हे) नाथ ! मार्ग भ्रष्ट (मुझको) क्यों आलम्बन नहीं देते हो ? (क्योंकि) तुम्हीं केवल (एक) विषम अवस्थाओं में (वात, वर्षादि संकटों में) (पड़े हुये) सभी निर्बल प्राणियों के (अपनी रक्षा करने में असमर्थ प्राणियों के) आश्रय हो, इसीप्रकार गोपी के गोष्ठ में (गोशाला में) श्लेष द्वारा कहे जाते हुये श्रीकृष्ण जी तुम्हारी चिरकाल तक रक्षा करें।

व्यंग्यार्थ—(हे) केशव ! अपने स्वामी में (विद्यमान) प्रेम से लुप्त हो गया है ज्ञान जिसका ऐसी मैंने कुछ (भी तुम्हारा रहस्य) नहीं देखा (अनुभव किया) अथवा केशव रूप गोपालक अर्थात् तुम्हारे प्रेम से आकृष्ट है दृष्टि (बाह्य ज्ञान) जिसका ऐसी मैंने (श्रीकृष्ण जी के प्रति प्रेम होने से बाह्य ज्ञान तिरोहित हो जाता है) कुछ (कुला-दिक अथवा अपने पति के क्रोधादि को) (भी) नहीं गिना, इस कारण इन गोपियों में से (अत्र) (मैं ही) परम सुख से वञ्चित हो गई हूँ (अतः) (हे) नाथ ! प्रणत होती हुई (मुझको) क्यों नहीं अनुगृहीत करते हो ? (क्योंकि) कामदेव से व्याकुल चित्त वाली सभी स्त्रियों के केवलमात्र (एकः) तुम्हीं गति हो (रमण द्वारा कामदेव जनित दुःख का विनाश करने वाले हो)।

यहाँ (प्रकृत पद्य में) गोप रागादि शब्दों के ("आदि" पद से दृष्टि आदि का ग्रहण होता है) **"गोपे रागः"** इत्यादि व्यंग्यार्थों की "सलेशम्" इस पद से (दूसरे गर्भित अर्थ की सूचना देने वाले पद से) स्फुट रूप से (वाच्य की तरह स्फुट होने से) प्रतीति होती है (अतः **अगूढ़ गुणीभूतव्यंग्य है**)। **"सलेशम्"** इस पद के न कहने पर **शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि ही है** (गुणीभूतव्यंग्य नहीं)।

टिप्पणी—अथ च **कामिनी कुचकलश** की तरह गूढ़ ही व्यंग्य को चमत्कृत करता है, अगूढ़ नहीं क्योंकि उसकी वाच्य की तरह स्फुट रूप से प्रतीति हो जाती है। अतः वहाँ **गुणीभूतव्यंग्य** ही समझना चाहिये।

किञ्च । यत्र वस्त्वलङ्काररसादिरूपव्यङ्ग्यानां रसाभ्यन्तरे गुणीभावस्तत्र प्रधानकृत एव काव्यव्यवहारः ।
तदुक्तं तेनैव—

'प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥' इति ।

यत्र तु—

'यत्रोन्मदानां प्रमदाजनानामभ्रंलिहः शोणमणीमयूखः ।
संध्याभ्रमं प्राप्नुवतामकाण्डेऽप्यनङ्गनेपथ्यविधिं विधत्ते ॥'

इत्यादौ रसादीनां नगरीवृत्तान्तादिवस्तुमात्रेऽङ्गत्वम्, तत्र तेषामतात्पर्यविषयत्वेऽपि तैरेव गुणीभूतैः काव्यव्यवहारः ।

अवतरणिका—कहीं-कहीं व्यंग्य के गुणीभूत होने पर भी "ध्वनि काव्य" का ही व्यवहार होता है, **गुणीभूतव्यंग्य** का नहीं, इसका प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—तथा—जहाँ वस्तु, अलङ्कार और रसादिरूप ("आदि" पद से भावादिकों का ग्रहण होता है) व्यंग्यों का प्रधानीभूत रस में गुणीभाव हो अर्थात् अप्रधान भाव से अवस्थिति हो, वहाँ (**"प्राधान्येन हि व्यपदेशा भवन्ति"** इस न्याय से) प्रधान रस से ही काव्य व्यवहार (होता) है (**"गुणीभूतव्यंग्य"** से नहीं) ।

तदुक्तमिति—यह उसने ही (ध्वनिकार गोवर्धनाचार्य जी ने) कहा है (कि) **प्रकार इति**—यह गुणीभूतव्यंग्य (काव्य का) प्रकार (भेद) भी रसादि विषयक तात्पर्य की पर्यालोचना से पुनः "ध्वनि रूपता" को (अगुणीभूतव्यंग्य को) प्राप्त करता है । [कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ कहीं गुणीभूतव्यंग्य प्रधान रस का अङ्ग होता है वहाँ उसे ध्वनि ही कहते हैं और जहाँ वह प्रधान रस का अङ्ग नहीं होता वहाँ गुणीभूतव्यंग्य (मध्यमकाव्य) कहा जाता है ।]

अवतरणिका—अभी तक के विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ रसादिकों में से किसी एक के तात्पर्य विषयक होने से प्रधानता होगी वहीं ध्वनिकाव्य का व्यवहार होगा । इस अवस्था में ध्वनि से असंकीर्ण गुणीभूतव्यंग्य कहीं भी नहीं होता, अतः गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्यभेद का निरूपण करना व्यर्थ ही है ? इस विषय में कहते हैं—

अर्थ—जिस (काव्य) में तो—(यथा) **यत्रेति**—(**प्रसंग**—किसी नगरी का यह वर्णन है) जहाँ अर्थात् जिस नगरी में गगनचुम्बी पद्मराग मणियों का प्रकाश कामोन्मत्त (अतएव) असमय में भी सन्ध्याकाल की भ्रान्ति को प्राप्त होने वाली रमणियों को सुरतोपयुक्त वेष रचना में प्रवृत्त कराता है ।

इत्यादि में रसादिकों की नगरी वृत्तान्तादि वस्तुमात्र में ("मात्र" पद से अलङ्कार का व्यवच्छेद कर दिया) अङ्गता है अर्थात् नगरी के वृत्तान्त की परिपोषकता है, वहाँ (**"यत्रोन्मदानाम्" इत्यादि में**) उनकी (रसादिकों की) तात्पर्य विषयता का अभाव होने पर भी (नगरी वृत्तान्त के ही तात्पर्य विषय होने से) गुणीभूत उनसे ही (गुणीभाव से विद्यमान रसादिकों से ही) काव्य का व्यवहार (होता) है ।

तदुक्तमस्मतसगोत्रकविपण्डितमुख्यश्रीचण्डीदासपादैः—काव्यार्थस्याखण्डबुद्धिवेद्यतया तन्मयीभावेनास्वाददशायां गुणप्रधानभावावभासस्तावन्नानुभूयते, कालान्तरे तु प्रकरणादिपर्यालोचनया भवन्नप्यसौ न काव्यव्यपदेशं व्याहन्तुमीशः, तस्यास्वादमात्रायत्तत्वात्' इति।

केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति ।

टिप्पणी—यहाँ पर **"यत्रोन्मदानाम्"** इत्यादि में शृङ्गार रस की नगरी वृत्तान्त के प्रति अङ्गता (परिपोषकता) होने से **"इतरांगगुणीभूतव्यंग्य"** है, तथापि **"शृंगारकाव्यमिदम्"** ऐसा ही यहाँ व्यवहार करना चाहिये **"नगर्युदन्तकाव्यम्'** ऐसा नहीं । अतः **"गुणीभूतव्यंग्य"** नामक काव्य के भेदों का निरूपण करना व्यर्थ नहीं है ।

अवतरणिका—"गुणीभूतव्यंग्य" (काव्य) से कैसे काव्य व्यवहार होता है, इस विषय में श्री चण्डीदास जी का प्रमाण देते हैं ।

अर्थ—यही हमारे सगोत्र कविपण्डितों में मुख्य श्री चण्डीदास जी ने कहा है (कि)—**काव्यार्थस्येति**—काव्यार्थ के (विभावादि पदार्थ समूह के) एक बुद्धिग्राह्य होने से तन्मयीभाव के कारण (अखण्ड बुद्धि स्वरूप होने से) अनुभव की अवस्था में (ज्ञानकाल में) गौण और प्रधान भाव की (अङ्गाङ्गिभाव की) प्रतीति (सहृदयों को भी) नहीं होती है । कालान्तर में तो (आस्वाद के विनष्ट हो जाने की अवस्था में तो) प्रकरणादि की पर्यालोचना से होने वाला भी वह (गौण और प्रधान भाव की प्रतीति) काव्यव्यपदेश को (यह ध्वनिकाव्य है अथवा यह गुणीभूतव्यंग्य काव्य है इसप्रकार निर्णीत काव्य को) निराकरण करने में समर्थ नहीं हैं। (क्योंकि) उसके (काव्यव्यपदेश के) आस्वादमात्र के आधीन होने के कारण, इति ।

टिप्पणी—इसप्रकार श्री चण्डीदास जी के भी मत में "गुणीभूतव्यंग्य रूप रसादि" से काव्यव्यवहार उचित ही है। अतः प्रकृत उदाहरण में (**"यत्रोन्मदानाम्"** इत्यादि) काव्यार्थ रूप सुरतोपयुक्त वेष रचना से व्यंग्य शृङ्गार के विभावादि नाना पदार्थों से घटित होने पर भी प्रपानक रस न्याय से एक बुद्धि ग्राह्य सहृदय के तन्मयीभाव से आस्वाद की अवस्था में शृङ्गार गौण है और पुरी का प्रकर्ष प्रधान है, इस प्रकार की प्रतीति का अनुभव आपाततः नहीं होता है। उसके आपाततः अनुभव न होने पर भी बाद में प्रकरणादि की पर्यालोचना से पुरी के प्रकर्ष की प्रधानता की प्रतीति होती हुई भी काव्य के **गुणीभूतव्यंग्य** व्यवहार को विनष्ट करने में समर्थ नहीं है। यही इसका सारांश है ।

अथ काव्यप्रकाशकारसम्मत चित्रकाव्यखण्डनम् :—

अर्थ—कुछ (श्री मम्मटादि) **"चित्र"** नामक तीसरे (ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य से भिन्न) काव्य भेद को स्वीकार करते हैं ।

टिप्पणी—श्री मम्मट प्रभृति—काव्य को तीन प्रकार का मानते हैं ।

(१) **उत्तम** (२) **मध्यम** और (३) **अधम** । उनमें से—

"**अधम**" चित्रकाव्य का लक्षण—"**स्फुटप्रतीयमानार्थरहितं तु अधमं चित्राख्यम्** ॥

तदाहुः—

'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ।' इति ।

तन्न, यदि हि अव्यंग्यत्वेन व्यंग्याभावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्तीति प्रागेवोक्तम् । ईषद्व्यंग्यत्वमिति चेत्, किं नामेषद्व्यंग्यत्वम् ? आस्वाद्य-व्यंग्यत्वम्, अनास्वाद्यव्यंग्यत्वं वा ? आद्ये प्राचीनभेदयोरेवान्तःपातः । द्वितीये त्वकाव्यत्वम् । यदि चनास्वाद्यत्वं तदाक्षुद्रत्वमेव । क्षुद्रतायामना-स्वाद्यत्वात् ।

अर्थ—उसका (अधमकाव्य का लक्षण) करते हैं :—व्यंग्यार्थ से रहित (काव्य) अधम कहा गया है । (इसी को विद्वानों ने चित्रकाव्य कहा है) [वह काव्य दो प्रकार का है] (१) शब्दचित्र (२) वाच्यचित्र ।

अवतरणिका—पूर्वपक्ष का स्थापन करके अब उसका खण्डन करते है ।

अर्थ—यह बात ठीक नहीं है । क्योंकि यदि "**अव्यङ्ग्यकत्व**" से ("**न विद्यते व्यंग्यं यत्रेति अव्यंग्यम्**" इस त्रिपद बहुव्रीहि से) व्यंग्य का अभाव अर्थात् "व्यंग्यार्थ से एकदम शून्य हो" यह विवक्षित है, तब तो उसकी काव्यता भी नहीं है । यह पूर्व ही (प्रथम परिच्छेद में) कह दिया है । और यदि ("अव्यंग्य से) (ईषद् अर्थ में नञ् का प्रयोग मानकर) "**ईषद् व्यंग्यत्वम्**" यह विवक्षित है ? तो प्रश्न यह है कि "**ईषद्व्यंग्यत्व**" क्या है ? क्या "**ईषद्व्यंग्यत्वम्**" से तात्पर्य "**आस्वाद्यव्यंग्यत्वम्**" है अर्थात् आस्वाद्य-अनुभव के योग्य है व्यंग्यार्थ जिस काव्य में ऐसा, है अथवा "**अनास्वाद्यव्यंग्यत्वम्**"—अनास्वाद्य-अनुभव के अयोग्य है व्यंग्यार्थ जिस काव्य में ऐसा, है ? [इन दोनों में से अर्थात् **आस्वाद्यव्यंग्यत्वम्** अथवा **अनास्वाद्यव्यंग्यत्वम्** आप किस अर्थ में "**ईषद्व्यंग्यत्वम्**" को स्वीकार करते है । यह प्रश्न है ?] [इन दोनों अर्थों वाले मत का निराकरण करते है] **आद्ये**—यदि पहला पक्ष स्वीकार करो तो अर्थात् **आस्वादव्यंग्यत्वरूप ईषद्व्यंग्यत्व** को स्वीकार करने पर तो प्राचीनों के द्वारा स्वीकृत (**ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य** नामक) भेदों के ही अन्दर इसका (आपके द्वारा सम्मत **अव्यंग्यसंज्ञक काव्य का**) अन्तर्भाव हो जाता है । (क्योंकि वे दोनों ही काव्य आस्वाद के योग्य हैं, अतः **अव्यंग्यसंज्ञक** तीसरे काव्य भेद को स्वीकार करना व्यर्थ ही है) **द्वितीये तु**—और यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करो तो अर्थात् **अनास्वादव्यंग्य रूप ईषद्व्यंग्यत्व** को स्वीकार करने पर तो "**अकाव्यत्व**" का प्रसङ्ग आयेगा क्योंकि काव्य वही कहलाता है जो आस्वाद्य किया जा सके । **यदि चेति**—और यदि **अव्यंग्य काव्य वृत्ति रूप व्यंग्यार्थ** को भी आस्वाद के योग्य स्वीकार करते हो तो फिर इसके अन्दर अक्षुद्रता ही है, और यदि इसको क्षुद्र मानते हो तो यह आस्वाद योग्य सम्भव नहीं है क्योंकि क्षुद्रता होने पर ही अनास्वाद्यत्व हुआ करता है ।

तदुक्तं ध्वनिकृता—

'प्रधानगुणाभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
उभे काव्ये ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥' इति ।

इति साहित्यदर्पणे ध्वनिगुणीभूतव्यंग्याख्यकाव्यभेदनिरूपणो
नाम चतुर्थः परिच्छेदः ।

टिप्पणी—इसप्रकार "चित्रकाव्य" के लक्षण में जो '**अव्यंग्यम्**" पद है, उसका "**ईषद्व्यंग्यत्व**" अर्थ करना सम्भव ही नहीं है क्योंकि ईषद्व्यंग्यता भी "अव्यंग्यम्" को ध्वनि के उक्त दो भेदों के अन्दर (ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य) अन्तर्भूत कर लेगी। और यदि "व्यंग्य शून्य" ऐसा अर्थ "अव्यंग्यम्" का करेंगे तो व्यंग्यशून्य काव्य, काव्य की कोटि में ही नहीं आता है। अतः **ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य** नामक दो ही काव्य के भेद हैं, "**चित्रकाव्य**" नामक काव्य, काव्य ही नहीं है।

अवतरणिका—सर्वथा रसभावादि तात्पर्य से रहित वाक्य की "काव्यत्व" संज्ञा ध्वनिकार ने भी नहीं स्वीकार की है, अतः उसका प्रमाण देते है :—

अर्थ—यही ध्वनिकार ने भी कहा है (कि)—प्रधानेति—

व्यंग्य अर्थ के प्रधान और गौण भाव से इसप्रकार दो काव्यों के (**ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यंग्यकाव्य**) व्यवस्थित हो जाने पर [(१) **व्यंग्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिः (२) गुणभावे तु गुणीभूतव्यंग्यतेति**] उन दोनों से भिन्न जो अन्य (काव्य) है, वह (काव्य) चित्र (काव्याभासमात्र) कहा जाता है [वास्तविक काव्य नहीं अर्थात् रस रहित होने से काव्य शब्द से व्यवहृत नहीं होता है। अतः रसभावादिरूप व्यंग्य के अभाव होने पर "काव्यत्व" का ही सर्वथा अभाव होता है, अतः "**अव्यंग्यमवरं स्मृतम्**" यह काव्यप्रकाशकृत् मत ठीक नहीं है।]।

इति "**साहित्यदर्पण**" के अन्दर ध्वनिगुणीभूतव्यंग्य नामक
काव्यभेद निरूपण नामक **चतुर्थ परिच्छेद समाप्त**

मूलकारिका = १४, पूर्वकारिकाओं सहित ३०४
उदाहरण श्लोक = ४७, पूर्वश्लोकों सहित २०५
इति चतुर्थः परिच्छेदः

पञ्चमः परिच्छेदः

अथ केयमभिनवा व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते—

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम् ।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥ १ ॥

अथ व्यञ्जनानिरूपणम्—

अवतरणिका—अभी तक यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि व्यंग्यार्थ काव्य-व्यवहार का कारण है। और वह (व्यंग्यार्थ) व्यञ्जनावृत्ति से बोध्य वस्तु है। और व्यञ्जना नवीन वृत्ति है और उस अभिनव व्यञ्जनावृत्ति' को स्वीकार करने में विना किसी विशेष प्रयोजन के कोई लाभ नहीं है। अतः इस 'व्यञ्जनावृत्ति' को क्यों स्वीकार करते हो ? ऐसी शंका उठाकर, उसका समाधान करते हैं।

अर्थ—इसके बाद ("ध्वनि" के भेद निरूपण के अनन्तर) कौनसी (किस प्रमाण वाली और किस स्वरूप वाली) यह (व्यंग्यार्थ का ज्ञान कराने वाली) नवीन (सम्पूर्णशास्त्रार्थ के तत्त्व को जानने वाले काव्य-पुरुष के अवतार **श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य** से प्राचीन आचार्यों के द्वारा अनिरूपित, नवीन आचार्यों के द्वारा स्वीकृत) **"व्यञ्जना"** नाम की वृत्ति (अर्थ बोधिका शक्ति) है ? इसका (मुझ ग्रन्थकर्त्ता के द्वारा) प्रतिपादन किया जाता है।

(व्यञ्जना का लक्षण) [यद्यपि—"**विरतास्वभिधाद्यासु यथार्थो बोध्यते परः ।**
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च" ॥

इस कारिका के द्वारा व्यंजना का स्वरूप निरूपित किया जा चुका है। तथा "**व्यञ्जन-ध्वननावगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषयाः**" इससे वहाँ प्रमाण भी उपन्यस्त किये हैं, तथापि दृढ़ विश्वास की प्रतिपत्ति के लिये अन्य प्रमाणों को उपन्यस्त करने के लिये पुनः व्यञ्जनावृत्ति का प्रारम्भ किया गया है। **वृत्तीनामिति**—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक (तीन) वृत्तियों के अपने अपने अर्थ का बोधन करके विरत हो जाने पर रसादिकों की ("आदि" पद से रस–रसाभास–भाव-भावाभास–भावसंधि-भाव-शबलता, वस्तु और अलंकारादि का ग्रहण होता है) प्रतीति में चौथी वृत्ति (व्यञ्जना नामक व्यापार) स्वीकार करनी चाहिये।

टिप्पणी—"**गंगायां घोषः**" यहाँ पर '**गंगा**' शब्द और '**घोष**' शब्द साधारणरूप से जल-प्रवाह और अहीरों के ग्राम-समूह के वाचक हैं। क्योंकि सबसे पूर्व सभी शब्दों की साधारण अर्थ में ही प्रवृत्ति होती है। असाधारण अर्थ के संकेत को बताने के

अन्दर आनन्त्य और **व्यभिचारित्व** दोष आता है। अत:**अभिधाशक्ति** के द्वारा जलप्रवाह-मात्र और अहीरों के ग्राम-समूह मात्र का ज्ञान होता है, यह पहली प्रक्रिया है। इस **अर्थ** का प्रतिपादन करके अन्य अर्थ का ज्ञान कराने में **अभिधाशक्ति** समर्थ नहीं है क्योंकि "**विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे**" ऐसा शास्त्र नियम है। अर्थात् "अभिधाशक्ति" विशेष्य (धर्मी) का ज्ञान नहीं कराती है क्योंकि विशेषण के अन्दर (जातिरूप उपाधि में) क्षीणशक्ति होने के कारण विरत व्यापार वाली हो जाती है। और "**नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये चोपजायते**" इस न्याय से "नहीं बनाया है विशेष्य को अपना विषय जिसने ऐसी (अभिधाशक्ति) विशेष्य के अन्दर नहीं जाती है। क्योंकि "**विशेष्यं प्रत्याय्य विरामात्**" इसप्रकार उसके विरत हो जाने से पुनः व्यापार असम्भव है। "**सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेष्यं गमयन्ति हि**" इस न्याय से **तात्पर्य शक्ति** के द्वारा साधारण आधाराधेय भाव से विद्यमान विशिष्ट गंगा-घोषादि की प्रतीति होती है। इसप्रकार **तात्पर्यशक्ति** परस्पर अन्वयमात्र की ही प्रतीति कराती है, यह दूसरी प्रक्रिया है। जल-प्रवाह का अहीरों के ग्राम-समूह का आधार होना असंगत है अतः दूसरे प्रमाणों से बाधित होता हुआ गंगा शब्द घोष के आधार के योग्य तीर को **लक्षणाशक्ति** के द्वारा बोध कराता है, यह तीसरी प्रक्रिया है। और यहाँ "**मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो यथाऽन्योऽर्थः प्रतीयते। रूढेः प्रयोजनाद्वापि**—" इस नियम से **लक्षणा मुख्यार्थ-बाधादि**—इन तीन के होने पर ही होती है। और–उक्त स्थल पर मुख्यार्थ का बाध प्रत्यक्षादि दूसरे प्रमाणों से गम्य ही है, और जो सामीप्यादि सम्बन्ध है, वह भी अन्य प्रमाणों से बोध्य ही है। परन्तु शैत्य-पावनत्वादि की अतिशयिता को बताने वाला अर्थ, जो अन्य शब्द से अप्रतिपाद्य है और अन्य प्रमाणों से अनुपयुक्त है, यह कहाँ से आ गया ? इस अर्थ की प्रत्यक्षादि से प्रतीति हो नहीं सकती क्योंकि तब तो यह अर्थ कथित शब्द से ही प्राप्त होना चाहिये था, किन्तु शब्द के अर्थ से उस अर्थ की प्राप्ति होती नहीं। अनुमिति से भी इस अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि समीप होने पर भी शैत्य-पावनत्वादि के असम्भव होने से और अनैकान्तिक होने से। स्मृति से भी इस अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि उसका अनुभव ही नहीं है और यदि स्मृति हो भी तो निरन्तर स्मरण बना भी नहीं रह सकता। अतः "इस शब्दसे यही अर्थ ज्ञात होता है" इसमें क्या कारण है ? इसीलिये इसी शब्द का कोई विलक्षण व्यापार स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि व्यापार शून्य शब्द की अर्थ प्रतीतिकारिता का अभाव होता है। अतः वह शैत्य, पावनत्वादि अर्थ **अभिधाशक्ति** से ज्ञात नहीं होता, क्योंकि संकेत का अभाव है। **तात्पर्यशक्ति** से भी ज्ञात नहीं होता क्योंकि वह केवल अन्वय का बोधन कराके ही क्षीणशक्ति हो जाती है। **लक्षणाशक्ति** से भी ज्ञात नहीं होता क्योंकि मुख्यार्थबाधादि का अभाव है। अतः **अभिधा-तात्पर्य और लक्षणा** से भिन्न चतुर्थ प्रक्रिया स्थित **व्यंग्यनिष्ठ व्यञ्जना व्यापार** अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

अभिधायाः संकेतितार्थमात्रबोधनविरताया न वस्त्वलङ्काररसादिव्यंग्य-बोधने क्षमत्वम्। न च संकेतितो रसादिः। नहि विभावाद्यभिधानमेव तद-भिधानम्, तस्य तदैकरूप्यानङ्गीकारात्। यत्र च स्वशब्देनाभिधानं तत्र प्रत्युत दोष एवेति वक्ष्यामः। क्वचिच्च 'शृङ्गाररसोऽयम्' इत्यादौ स्वशब्देनाभिधानेऽपि न तत्प्रतीतिः, तस्य स्वप्रकाशानन्दरूपत्वात्।

अवतरणिका—(१) सभी शक्तियों में श्रेष्ठ अभिधाशक्ति व्यंग्यार्थ का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है इसका प्रतिपादन करते हैं।

अर्थ—अभिधा के संकेतित अर्थमात्र का बोध कराके निवृत्त व्यापार हो जाने से (पुनः उत्थान के योग्य न होने से) वस्तु, अलंकार और रसादि व्यंग्य के बोधन में समर्थ नहीं है। [संकेतित अर्थ के अन्दर कोई नियम नहीं है अतः रसादि में भी संकेत मान लिया जाय और इसप्रकार अभिधा के द्वारा ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति का ज्ञान हो जाये? इसका उत्तर देते हैं।] और रसादि ("आदि" पद से भावादिकों का और वस्तु तथा अलंकार का ग्रहण होता है) संकेतित नहीं है अर्थात् अपने व्यञ्जक पद से संकेत से अभाव वाला है। अतः रसादिकों के रसादि पद से संकेतित होने पर भी क्षति नहीं है। **न हीति**—और नहीं विभावादिकों का ("आदि" पद से अनुभाव और संचारियों का ग्रहण होता है) कथन (अभिधा से प्रतिपादन करना) ही उसका (वस्तु, अलंकार और रसादि का) कथन है कहा जा सकता है (क्योंकि) उसके (वस्तु, अलंकार और रसादि के) आस्वादरूप रसादि की प्रतीति की तादात्म्यता स्वीकार नहीं की गई है तथा च विभावादि ज्ञेय विशेष हैं और रसादि ज्ञान विशेष है अतः इनके अभेद से एक के प्रतिपादन करने पर दूसरे का प्रतिपादन असम्भव है। **निष्कर्ष**—इसप्रकार विभावादि के वर्णन के अनन्तर उत्पन्न होने वाली आस्वाद रूप रसादि की प्रतीति का कारण होने के कारण व्यंजना अवश्य स्वीकार करनी चाहिये।

[प्रश्न—"**तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोप्यजायत**" इत्यादि में

तथा "**शृंगारः सखि! मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति**"

इत्यादि में रसादि पद से ही रसादि का अभिधान करने से उस रस की प्रतीति हो जावे और जहाँ उसप्रकार का कोई पद नहीं है वहाँ भी उस पद की कल्पना से रसादि की प्रतीति हो जावे—

उत्तर—इसका समाधान करते हैं] **यत्र चेति**—और जहाँ ["**तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोप्यजायत**" इत्यादि में] अपने शब्द से (रस, शृंगारादि पद से) अभिधान है (अभिधा के द्वारा रस का प्रतिपादन है) वहाँ (स्वप्रकाशानन्दरूप होने के कारण आस्वादरूप रसादि की प्रतीति तो दूर रही) प्रत्युत दोष ही है ("एव" के प्रयोग से आस्वादरूप रस की प्रतीति का व्यवच्छेद किया है) यह (आगे चलकर सप्तम परिच्छेद में "**रसस्योक्तिः स्वशब्देन**" इसके द्वारा) कहेंगे। **निष्कर्ष**—अतः "**तामुद्वीक्ष्य**......"इत्यादि में भी व्यंजना द्वारा ही शृंगारादि की प्रतीति होती है, शृंगारादि शब्द से नहीं।

[**प्रश्न**—रस का अपने शब्द से अभिधान करना काव्य में ही दोष है, लौकिक वाक्य में नहीं । अतः इसप्रकार काव्य के अन्दर आने वाले दोष के कारण काव्य में उसप्रकार की रसादि की प्रतीति न हो, लौकिक वाक्य में तो हो जानी चाहिये अथवा "**तामुद्वीक्ष्य**" यहाँ पर भी रसादि पद से ही उस रस की प्रतीति में किसी के बाधक न होने से रसादि की प्रतीति हो जानी चाहिये ।

उत्तर—इसप्रकार की रसादि की प्रतीति में अन्वय-व्यतिरेक व्यभिचार ही बाधक है-ऐसा प्रनिपादन करते है ।] **क्वचिच्चेति**—और कहीं (शृंगाररस शून्य) **शृंगाररसोऽयम्**" इत्यादि (लौकिक वाक्य) में अपने शब्द से अभिधान करने पर भी उसकी (रस की) प्रतीति नहीं होती है, (क्योंकि) उसके (रस के) स्वप्रकाशानन्द रूप होने के कारण । [और अभिधा से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के प्रकाश रूप होने के कारण और आनन्द रूप न होने के कारण रस की प्रतीति नहीं होती है । अतः उक्त वाक्य के अन्दर शृंगार शब्द होने पर भी शृंगार रस के अनुभव के अभाव से अन्वय व्यभिचार ही उसके ज्ञान में बाधक है । इसीप्रकार "**शून्यं वासगृहम्**" इत्यादि में शृंगारादि पद के होने पर भी स्वप्रकाशत्वेन और आनन्दरूपत्वेन उस-उस रस के अनुभव से व्यतिरेक व्यभिचार समझना चाहिये ।]

टिप्पणी–प्रश्न—शब्द श्रवण के अनन्तर जितना अर्थ प्रतीत होता है वहाँ सर्वत्र ही शब्द के उपस्थित होने से "शब्द ही उस अर्थ का निमित्त होता है क्योंकि "**नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते**" यह नियम है । अतः व्यंग्य की प्रतीति नैमित्तिक है और किसी अल्प निमित्त के उपलब्ध न होने से शब्द ही निमित्त है, इसप्रकार शब्द के पौनः पुन्येन अनुसंधान करने से वाच्य की तरह व्यंग्यार्थ में भी अन्य वृत्ति की कल्पना नहीं करनी चाहिये अपितु अभिधावृत्ति से ही काम चला लेना चाहिये ?

उत्तर—जैसा तुम्हारा कहना है, वैसी बात नहीं है। व्यंग्य की उपस्थिति में शब्द की ज्ञापकता रूप निमित्तता हम भी स्वीकार करते हैं, इस विषय में कुछ विवाद नहीं है परन्तु वह बात व्यंजना के अस्वीकार करने पर सम्भव नहीं है । शब्द का अर्थ-निमित्तत्व व्यापार के सापेक्षता से ही नियत हैं जैसे वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अभिधा और लक्षणा व्यापार । उसीप्रकार यहाँ पर भी कोई भी व्यापार अवश्य स्वीकार करना चाहिये । अन्यथा शब्दके निमित्तत्व के निश्चय से नैमित्तिक व्यंग्यार्थ जो आपसे सम्मत है वह भी सिद्ध नहीं होता है । और यदि व्यापार ने विना भी शब्द की निमित्तता है तो अभिधा और लक्षणा को भी हमने जलाञ्जलि दी । यही हमारा आशय है–इस अभिप्राय को बिना समझे कहना व्यर्थ का विजृम्भण है ।

अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता तात्पर्याख्या वृत्तिरपि संसर्गमात्रे परिक्षीणा न व्यङ्ग्यबोधिनी।

यच्च केचिदाहुः—'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' इति। यच्च धनिकेनोक्तम्—

तात्पर्याव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥' इति।

अवतरणिका—(२) कारिका के अन्दर कहे गये क्रम से भट्टमीमांसकादि द्वारा स्वीकृत "**तात्पर्य**" नामक वृत्ति भी व्यंग्य का ज्ञान कराने में अशक्त है, इसका प्रतिपादन करते हैं।

अर्थ—अभिहितान्वयवादी मीमांसकों द्वारा स्वीकृत [**अभिहितानां—कथितानां सर्वेषां पदानां अन्वय-परस्परसम्बन्धः, तात्पर्यशक्त्या स्वत एव तात्पर्यग्राहकतयाऽङ्गाङ्गित्वमिति**"] "तात्पर्य" नामक वृत्ति भी केवल अन्वय ज्ञान में क्षीण होती हुई (तात्पर्य वृत्ति की दूसरे अर्थ का ज्ञान कराने में क्षमता नहीं है) व्यंग्यार्थ का ज्ञान नहीं करा सकती है।

टिप्पणी—तात्पर्यनामक वृत्ति भी वाक्य के घटक पदों का केवल परस्पर अन्वय ज्ञान का प्रतिपादन करके ही "**शुद्धबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः**" इस न्याय से दूसरे अर्थ के प्रतिपादन में विगत सामर्थ्य होकर किसी भी प्रकार व्यंग्यार्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकती है।

अवतरणिका—(१) भट्ट मत के अनुयायी भट्टलोल्लटादि कुछ का मत है कि उभ्यसिद्ध वाच्यार्थ की वोधिका अभिधाशक्ति रूप वृत्ति ही व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली है तथा **तात्पर्य वृत्ति** ही व्यंग्यार्थ का ज्ञान कराने वाली है ऐसा आचार्य **धनिक** का मत है। इन दोनों ही मतों को दूषित करने के लिये उठाते हैं।

अर्थ—और जो कुछ (भट्टमतानुयायी भट्टलोल्लटादि) कहते हैं कि "बाण की तरह वह (प्रसिद्ध) यह अभिधा व्यापार अत्यन्त दीर्घ और दीर्घतर होता है" अर्थात् यथेष्ट प्रसरणशील होता है। अर्थात् अतिदीर्घ बाण का व्यापार जिसप्रकार एक लक्ष्य को भेदकर अन्य लक्ष्य का भी भेद कर देता है उसीप्रकार एक ही अभिधा वाच्यार्थ का ज्ञान कराके व्यंग्यार्थ का भी ज्ञान करा देती है। [जिसप्रकार बलवान् वीर के द्वारा छोड़ा हुआ एक ही बाण एक ही वेग नामक व्यापार से शत्रु के कवच का छेदन, वक्षः स्थल का विदारण और प्राणों का हरण कर लेता है उसीप्रकार एक सुकवि से प्रयुक्त एक ही शब्द एक ही अभिधा नामक व्यापार से पदार्थ का स्मरण, वाक्यार्थ का ज्ञान और व्यंग्यार्थ की प्रतीति करा देता है। अतः व्यंग्य के अभिमत अर्थ की वाच्यता ही है। यह नहीं कहना चाहिये कि एक अर्थ की प्रतीति में शब्द का बिराम हो जाता है। शब्द के विरत होने के पश्चात् ही विवक्षित अर्थ की प्रतीति

तयोरुपरि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति वादिभिरेव पातनीयो दण्डः ।

होती है] **यच्चेति** और जो (आचार्य) धनिक ने कहा है—

तात्पर्य के (अभिमत तात्पर्य रूप वृत्ति के) (शब्दादि से) अभिन्न होने के कारण (अर्थात् शब्दादि सम्बन्धी तात्पर्य के अभिन्न होने से) व्यंजना की (व्यंजकत्वस्य) व्यंजना नामक वत्ति स्वीकार नहीं करनी चाहिये [अर्थात् **तात्पर्य वृत्ति** ही व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली है। इस प्रकार व्यंजना नामक अभिनव वृत्ति के हमसे सम्मत तात्पर्य वृत्ति के अन्तर्गत होने के कारण ध्वनि-व्यंग्यार्थ-तात्पर्य वृत्ति से ही प्रतिपादित है, अतः व्यंजना नामक दूसरी वृत्ति को गौरव के कारण स्वीकार नहीं करते हैं।] [**प्रश्न**—आप द्वारा अभिमत तात्पर्य नामक वृत्ति पदों के संसर्ग मात्र का (अन्वय का) बोधन करने के उपरान्त क्षीण हो जाने से किसप्रकार व्यंग्यार्थ का बोध करायेगी अथवा भिन्न स्वरूप वाली व्यंजना का किसप्रकार तात्पर्य के अन्दर-अन्तर्भाव हो सकता है ? इसका **उत्तर** देते हैं] **यावदिति-तात्पर्य** नामक वृत्ति यावत्कार्यप्रसारी होने के कारण (अर्थात् आवश्यकतानुरूप व्याप्ति को स्वीकार करने से) तुला के द्वारा नियंत्रित नहीं है। [कहने का आशय यह है कि व्यंजना और तात्पर्य नाम से भिन्न हैं परन्तु स्वरूपतः भिन्न नहीं है। तात्पर्य किसी तुला पर रखकर द्रव्य की तरह इतना है इसप्रकार संसर्ग मात्र का ज्ञान कराने में नियंत्रित नहीं है क्योंकि यह तो सभी कार्यों के अन्दर व्याप्त है। अतः वाक्य के तात्पर्यार्थ के स्वीकार करने से ही व्यञ्जना से प्रतिपाद्य अर्थ के ज्ञात हो जाने से व्यञ्जना को पुनःस्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। **आचार्य धनिक के मतानुसार** तात्पर्य वृत्ति की सीमा निर्धारित नहीं है। अतः व्यंग्यादि का भी ज्ञान करा देती है।]

अवतरणिका:—ऊपर कथित दोनों मतों का खण्डन करते हैं।

अर्थ—उन दोनों के (इषु की तरह अभिधाव्यापारवादी और यावत्कार्यप्रसारी तात्पर्यवादियों के) विषय में **शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावः**" अर्थात् विरत हुये शब्द, बुद्धि और कार्यों की पुनः व्यापार के अन्दर प्रवृत्ति नहीं होती है। [वाचक और लाक्षणिक शब्द के अन्दर अभिधा या लक्षणा से एक बार शाब्दबोध का ज्ञान कराकर पुनः अभिधा या लक्षणा से दूसरे अर्थ के ज्ञान कराने में सामर्थ्य नहीं होता है] इस मत को मानने वालों को ही अर्थात् अभिहितान्वयवादियों को ही दोषों की उद्‌भावना करनी चाहिये [**अर्थात्** अभिधासंकेतित अर्थमात्र का ज्ञान कराकर विगत सामर्थ्य वाली होती हुई किसप्रकार व्यंग्यार्थ को उत्पन्न कर सकती है। तात्पर्यवृत्ति भी वाक्य के घटक पदों के संसर्गमात्र (अन्वय) का ज्ञान कराकर नष्ट सामर्थ्य होती हुई किसप्रकार व्यंग्यार्थ को उत्पन्न कर सकती हे। क्योंकि दोनों ही तन्मात्रार्थ के अन्दर नियंत्रित हैं।]

एवं च किमिति लक्षणाऽभ्युपास्या ? दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणापि तदर्थबोधसिद्धेः ।

टिप्पणी'–'**शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः**''—यहाँ शब्द–घटादि, बुद्धि-ज्ञान और कर्म–क्रिया इनके विरत हो जाने पर अर्थात् एक व्यापार की उद्भावना करके दूसरे व्यापार को उत्पन्न न करना विरत हो जाना है, ऐसा होने पर घटादि शब्द एक अर्थ का बोधन करके विरत हुआ अन्य अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता है, बुद्धि एक अर्थ को विषय बनाकर अन्य अर्थ को विषय नहीं बना सकती है । कहने का भाव यह है कि जिस बुद्धि से घट विषयी किया जाता है, उसी बुद्धि से पुनः घट विषय नहीं हो सकता है क्योंकि उस समय बुद्धि घटाकार रूप में उपस्थित होती हुई पटाकार रूप से अवस्थित नहीं हो सकती है । इसीलिये कहा है कि बुद्धि एक अर्थ को अपना विषय बनाकर पुनः दूसरे विषय को अपना विषय नहीं बना सकती है । क्योंकि एक बार विरत होकर पुनः उसका व्यापार नहीं हुआ करता । उसीप्रकार पचनादि रूप क्रिया तण्डुलादिकों को एक बार पकाकर पुनः सम्पादन करने में समर्थ नहीं है । भाव यह है कि ''**तण्डुलान् पचति**'' इत्यादि में तण्डुल के पाकानुकूल क्रिया ''**ग्रामं गच्छति**'' इत्यादि में गमनादि के अनूकुल नहीं हो सकती है । अतः इनके एक बार कार्य से विरत होने पर पुनः कार्य की उद्भावना करने में ये असमर्थ हैं ।

अवतरणिका––शंका ''**शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः**'' इस नियम को मानना कोई राजाकी आज्ञा तो है नहीं जो सभी स्वीकार करें । यह तो किसी मीमांसक का मत मात्र है, अतः अप्रामाणिक है—इसको हम स्वीकार नहीं करते है । इसका **उत्तर** देते हैं ।

अर्थ–इसप्रकार (यदि **शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः**'' इस न्याय का तिरस्कार करके शब्द श्रुति के अनन्तर जितना अर्थ उपलब्ध होता है उतना ही शब्द के तात्पर्य और अभिधा के व्यापार से ही व्यंग्यार्थ का ज्ञान होने पर) किसलिये लक्षणा को (लक्षणार्थ के ज्ञान के लिये) स्वीकार करते हो । [अर्थात् यदि अभिधा की सामथर्य्य से ही व्यंग्य होने के कारण बोध्प अर्थ भी बोध्यत्वेन स्वीकार किया जाता है, तो फिर लक्षणा को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं है । लक्षणा के द्वारा बोध्य भी अर्थ का अभिधा के व्यापार से ही बोधन हो जायेगा] (क्योंकि) दीर्घ दीर्घतर अभिधा के व्यापार से भी उसके (लक्ष्य के) अर्थ की ज्ञान सिद्धि हो जाने से । [अर्थात् लक्षणा से उत्पन्न ज्ञान के अनन्तर भी व्यंग्यार्थ के ज्ञान के लिये अभिधा को स्वीकार करने पर लक्षणा को स्वीकार करना निष्प्रयोजन है ।]

टिप्पणी—''**सोऽयमिषोरिव**' ऐसा कहने वाले मीमांसकों के मत में यदि दीर्घ दीर्घतर अभिधा के व्यापार से ही व्यंग्यार्थ का ज्ञान हो जाता है, तो लक्षणा को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है । क्योंकि लक्ष्यार्थ का भी आपके द्वारा

किमिति च 'ब्राह्मण, पुत्रस्ते जातः', 'कन्या ते गर्भिणी' इत्यादावपि हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम् ।

कल्पित अभिधा व्यापार से ही ज्ञान हो जायेगा । और यदि अभिधा व्यापार से ही लक्ष्यार्थ का ज्ञान हो जाता है तो मीमांसा दर्शन में भगवान् जैमिनी ने **"श्रुति-लिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्"** ॥ ३ । ३७ ॥ इस सूत्र से श्रुत्यादिकों में पूर्व पूर्व की बलवत्ता निर्णीत की है । श्रुतिस्थल की तरह लिङ्गादि स्थलों पर भी शब्द के श्रवण के अनन्तर प्रतीत होने वाले अर्थों के दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापार से ही प्रतीत होने पर लिङ्गादिकों की दुर्बलता कैसे सिद्ध हो सकेगी ? इसका विस्तार शाबरभाष्य में देखना चाहिये । [यदि लक्षणा को भी स्वीकार नहीं करेंगे तो क्या हानि है ? ऐसी सामान्य शंका उठाकर **उत्तर** देते हैं] **किमिति चेति**—

अर्थ—और क्या (हे) ब्राह्मण ! "तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है", (तथा) "कन्या (अविवाहित दुहिता) तुम्हारी गर्भवती है" इत्यादि वाक्य के सुनने पर भी हर्ष-शोकादिकों की भी(पुत्रोत्पत्ति के सुनने आदि से मन में स्फुरण होते हुये हर्षादि ज्ञान का और कन्या के गर्भिणी सुनने आदि से कुलकलङ्क का ज्ञान कराने वाले शोकादि की) वाच्यता (अभिधा के द्वारा बोध्यता) नहीं हो जायेगी ? [इसलिये "अभिधा के दीर्घ दीर्घतर व्यापार से ही व्यंग्यार्थ का बोध हो सकता है यह मीमांसकों का मत ठीक नहीं है ।] ।

टिप्पणी—शब्द सुनने के अनन्तर जितना अर्थ प्रतीत होता है उतना शब्द की अभिधावृत्ति से ही ज्ञात होता है, मीमांसकों के इस न्याय से हर्ष-शोकादिकों के अन्दर वाच्यता हो जायेगी क्योंकि उनके मत में दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापार से ही हर्ष शोकादिकों की वाच्यता है । वाक्य से उसके अर्थ की प्रतीति द्वारा हर्षशोकादि उत्पन्न होते हैं किन्तु उनकी प्रतीति नहीं होती है । हर्षशोकादिकों की प्रतीति तो हर्षशोकादि के लिङ्ग मुखप्रसाद और मलिनता आदि द्वारा अनुमान से होती है, यह सिद्धान्त है ।

अनुमानकारास्तु—ब्राह्मणः सुखवान् मुखप्रसन्नयुक्तत्वात् ।
ब्राह्मणः दुःखवान् मुखमालिन्ययुक्तत्वादिति"।

यदि यहाँ पर अभिधा के द्वारा ही निर्वाह मानोगे तो शब्दबोधों के अन्दर विनिमय की आपत्ति और प्राचीनों द्वारा अभिमत अभिधा, लक्षणादिकों के उच्छेद का प्रसङ्ग होता है । अतः हमारे मतानुसार व्यंजना व्यापार को स्वीकार कर लेने पर किसी भी प्रकार की क्षति नहीं है ।

यत्पुनरुक्तं 'पौरुषेयमपौरुषेयं च वाक्यं सर्वमेव कार्यपरम्, अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तवाक्यवत्। ततश्च काव्यशब्दानां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्त्यौपयिकप्रयोजनानुपलब्धेर्निरतिशयसुखास्वाद एव कार्यत्वेनावधार्यते। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायात्' इति।

अवतरणिका—सम्प्रति रसादिकों की तात्पर्यविषयता को अनुमान से सिद्ध करने वाले **अन्विताभिधानवादी आचार्य धनिक** के मत का निराकरण करते हैं। पहले उस मत का स्थापन करते हैं।

अर्थ—(आचार्य धनिक के मत का स्थापन) पूर्वपक्ष—जो यह (अन्विताभिधानवादियों ने) कहा है कि पौरुषेय हो (पुरुषनिष्पन्न **"दध्यानय"** इत्यादि लौकिक वाक्य और **"धर्म एव हतो हन्ति"** इत्यादि मन्वादि वाक्य) अथवा अपौरुषेय हो (वेदस्वरूप यथा **"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"** इत्यादि वेदवाक्य) सभी वाक्य कार्यपरक होते हैं [अर्थात् **दध्यानय** भोजन और **देवयजनादि** कार्य स्वर्गादि कार्य के साधक है] (यहाँ अन्वय व्याप्ति समझनी चाहिये) (अब व्यतिरेक व्याप्ति दिखाते हैं) **अतत्परत्वे इति**—(वाक्य के) कार्यपरक न होने पर अनुपादेय होने के कारण प्रमत्त प्रलाप की तरह (अप्रामाणिक) हो जावें। [**व्यतिरेक व्याप्ति—यद्यन्न कार्यतत्परं तदनुपादेयवाक्यम् यथा उन्मत्तादिवाक्यम्** इति] (अनुमिति दिखाते हैं) **ततश्चेति**—इसलिये काव्य सम्बन्धी शब्दों की निरतिशय सुख के आस्वाद के अतिरिक्त प्रतिपाद्य की (सुनने वाले की काव्य श्रवण में) प्रवृत्ति के, और प्रतिपादक की (वक्ता की काव्यपाठ में) प्रवृत्ति के कारणीभूत फलेच्छा के विषय अन्य प्रयोजन के (चतुर्वर्गादि के) उपलब्ध न होने से (शब्द से उपस्थापित न होने से) अतिशय सुखास्वाद ही कार्यरूप से (तात्पर्य से) प्रतिपादित होता है। [कहने का आशय यह है कि काव्य सम्बन्धी शब्द भी कार्यपरक होते हैं और उनका फल निरतिशय सुखास्वाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिये निरतिशय सुखास्वादरूप रसादि रूप अर्थ शब्द के तात्पर्य का विषय हो गया, पुनः अन्य (व्यञ्जना) वृत्ति की मानने की क्या आवश्यकता?] (क्योंकि) **"यत्परः शब्दः स शब्दार्थः"** यह न्याय है। अर्थात् शब्द जहाँ जिस इच्छा से प्रयुक्त हुआ है (**यत्परः**) वह शब्द से प्रतिपाद्य है, इति। अतः तात्पर्य से ही रसादि की प्रतीति हो जावे, उसके लिये व्यञ्जना स्वीकार नहीं करनी चाहिये।

तत्र प्रष्टव्यम्-किमिदं तत्परत्वं नाम, तदर्थत्वं वा, तात्पर्यवृत्त्या तद्बोधकत्वं वा ? आद्ये न विवादः, व्यङ्ग्यत्वेऽपि तदर्थतानपायात्। द्वितीये तु-केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः, अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता, तदन्या वा ? आद्ये दत्तमेवोत्तरम्। द्वितीये तु—नाममात्रे विवादः, तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः।

उत्तर पक्ष—इस मत का विकल्पों द्वारा खण्डन करते हैं।

अर्थ—**"अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वात्"** इससे समागत जो **"तत्परत्वे उपादेयत्वात् है,** इस विषय में यह प्रष्टव्य है कि यह **तत्परत्व** क्या वस्तु है **अथवा "यत्परःशब्दः स शब्दार्थः"** अर्थात् जिसमें शब्द का तात्पर्य हो वही शब्दार्थ है,यहाँ प्रष्टव्य यह है कि **"तत्परत्व"** क्या वस्तु है ? क्या **"तत्परत्व"** का अर्थ **तदर्थत्व** है अथवा **तात्पर्यनामक वृत्ति से उस अर्थ की बोधकता** है ? यदि पहला पक्ष **तदर्थत्व** मानों तो कोई विवाद नहीं है, क्योंकि व्यंग्य होने पर भी (व्यञ्जनावृत्ति से उस अर्थ की बोधकता स्वीकार करने पर भी) **तदर्थत्व** का अर्थात् सामान्यतः उस अर्थ की बोधकता का अपाय नहीं होता [कहने का आशय यह है कि **"तदर्थत्व"** का अर्थ है, उस पद का अर्थ होना। इससे यह तो निकलता ही नहीं कि कौनसी वृत्ति से वह अर्थ होना चाहिये। चाहे किसी भी वृत्ति से निकला हुआ अर्थ उस शब्द का **"तदर्थ"** कहला सकता है। इसलिये व्यञ्जना शक्ति से प्रतीत हुआ निरतिशय सुखास्वाद भी यदि **"तदर्थ"** कहलाये तो कोई क्षति नहीं, क्योंकि इससे आलंकारिकों की मानी हुई व्यंजनावृत्ति का खण्डन नहीं हो सकता, अतः इस पक्ष में विवाद करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है।] **द्वितीये तु**—यदि दूसरा पक्ष **"तात्पर्यवृत्त्या तद्बोधकत्वम्"** मानों तो यह प्रष्टव्य है कि यह **तात्पर्य नामक वृत्ति कौन सी है** ? क्या अभिहितान्वयवादी मीमांसकों द्वारा स्वीकृत **तात्पर्यनामक वृत्ति** है अथवा उससे भिन्न कोई दूसरी अर्थात् तात्पर्य नामक वृत्ति से भिन्न व्यंग्यार्थ के बोधन में उपयोगी कोई अन्य वृत्ति है ? इनमें से यदि **अभिहितान्वयवादी मीमांसकों द्वारा स्वीकृत तात्पर्य नामक वृत्ति** मानते हो, तब तो इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। [अर्थात् "तात्पर्य नामक वृत्ति भी संसर्गमात्र में (अन्वय बोध मात्र में) क्षीण सामर्थ्य होती हुई व्यंग्यार्थ का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है" यह उत्तर दिया जा चुका है।] और यदि दूसरो अर्थात् **तात्पर्यनामक वृत्ति से भिन्न व्यंग्यार्थ के बोधन में उपयो-** **कोई वृत्ति** स्वीकार करते हो तब तो केवल नाममात्र में विवाद है, क्योंकि उनके भी [अभिहितान्वयवादियों के मत में भी, जो रसादिकों की तात्पर्य ग्राह्य करते हैं, रस ज्ञान के अनपलपनीय होने के कारण और तात्पर्य वृत्ति के पदा- न्वय ज्ञान में क्षीणसामर्थ्य हो जाने से "चतुर्थवृत्ति" की सिद्धि सिर पर आ पड़ती है।] तुरीयवृत्ति की सिद्धि हो जाती है।

नन्वस्तु युगपदेव तात्पर्यशक्त्या विभावादिसंसर्गस्य रसादेश्च प्रकाशनम्-इति चेत् ? न, तयोर्हेतुफलभावाङ्गीकारात् । यदाह मुनिः—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति । सहभावे च कुतः सव्येतरविषाणयोरिव कार्यकारणभावः ? पौर्वापर्यविपर्ययात् ।

टिप्पणी—कहने का आशय यह है कि पूर्व सम्मत अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य के अतिरिक्त चौथी वृत्ति तो अभिहितान्वयवादियों के मत में सिद्ध हो गई। केवल अन्तर इतना है कि आलंकारिक चौथी वृत्ति को "**व्यंजना**" कहते हैं और मीमांसक तीसरी और चौथी दोनों को ही तात्पर्य नाम से अभिहित करते हैं। दोनों ही पृथक् अस्तित्व रखती हैं। अतः व्यंग्य ज्ञान के लिये "**तात्पर्य नामक**" तुरीयवृत्ति की कल्पना करने की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का ज्ञान कराने वाली वृत्ति का "**व्यञ्जना**" नाम ही नितरां उचित है, अतः मीमांसकों को भी स्वीकार कर लेनी चाहिये।

अवतरणिका—शंका—अच्छा, अतिरिक्त पदार्थ स्वरूपा तात्पर्य नामक तुरीया वृत्ति को नहीं मानते हैं, परन्तु "**शब्दबुद्धिकर्मणाम्**" इस नियम से विभावादियों का संसर्गज्ञान और रसज्ञान को क्रमिक रूप में स्वीकार करने पर ही तात्पर्य वृत्ति से पदार्थों के अन्वय बोध का ज्ञान कराकर क्षीणशक्ति हो जाने से रसादिकों का बोध नहीं होता है, इसलिये दोष इसको मानने से आता है किन्तु यदि विभावादिकों के संसर्ग का ज्ञान युगपत् ही हो जावे तो क्या आपत्ति है ? इसप्रकार तुरीया वृत्ति भी नहीं माननी पड़ेगी और काम भी चल जायेगा। केवल तात्पर्य वृत्ति से ही दोनों का ज्ञान हो जावेगा। **इसका खण्डन करते हैं—**

अर्थ—शंका—यदि तात्पर्य रूप वृत्ति के द्वारा विभावादि संसर्गों का और रसादि का ज्ञान युगपत् ही हो जावे तो "**शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः**" इस नियम के अनुसार विरत होकर पुनः व्यापार नहीं होगा ? **उत्तर**—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उन दोनों के अन्दर (विभावादि संसर्गज्ञान और रसादि ज्ञान के अन्दर) कार्य कारणभाव स्वीकार किया गया है। [**तथाहि**—विभावादि संसर्ग कारण है, और रसादि कार्य है परन्तु इन दोनों के युगपद् ज्ञान होने पर कार्य कारणभाव नहीं हो सकता है क्योंकि **अन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वं कारणत्वम्, नियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्**"— यह दोनों का लक्षण है। इसप्रकार युगपत् मानने में कार्य कारण के लक्षण की अव्याप्ति होगी। यह जो "**यस्मादेष समूहालम्बनात्मकस्तस्मान्न कार्यः**" ऐसा रस के विषय में पहले कहा जा चुका है, अतः इसके साथ विरोध होगा अर्थात् पहले रस को कार्य नहीं है, ऐसा कहते आये हैं और अब रस के अन्दर कारण कार्यभाव दिखला रहे हैं। ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि विभावादि संसर्गबोध एवं रसादिबोध के अन्दर

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तटाद्यर्थमात्रबोधविरताया लक्षणायाश्च कुतः शीतत्वपावनत्वादिव्यङ्ग्यबोधकता। तेन तुरीया वृत्तिरुपास्यैवेति निर्विवादमेतत्।

कारणकार्यभाव का इतना अधिक सामीप्य है कि उनके अन्दर पौर्वापर्य क्रम को लक्षित नहीं किया जा सकता है। इसी अभिप्राय से "**रस कार्य नहीं है**" यह पहले कहा गया है।] भरतमुनि ने भी कहा है कि "**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**" **इति**। और यदि विभावादि ज्ञान और रसज्ञान का सहभाव (एक ही काल में उत्पन्न होना) मान लेंगे तो (गायादि के) वाम और दक्षिण सींग की तरह उनका कार्यकारण भाव कैसे हो सकता है? अर्थात् किसीप्रकार भी नहीं। [कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार पशु के सींगों के समकाल में उत्पन्न होने पर परस्पर कार्यकारणभाव नहीं होता है, उसीप्रकार विभावादि संसर्ग और रस के अन्दर वैसा होने पर मुनिवचन का विरोध होता है।] क्योंकि पौर्वापर्य का व्यत्यय होता है अर्थात् कार्य से पूर्व कारण को होना चाहिये और कारण के अनन्तर कार्य की उत्पत्ति होती है।

अवतरणिका—(३) **लक्षणा** के द्वारा भी व्यंग्यार्थ का बोध सम्भव नहीं है, इसका प्रतिपादन करते हैं।

अर्थ—"**गङ्गायां घोषः**"—इत्यादि स्थलों में तटादि के अर्थ मात्र का बोधन करके विरत सामर्थ्य वाली ("**शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः**" इस नियम से) लक्षणा से शीतत्व-पावनत्वादि व्यंग्य की बोधकता कैसे (हो सकती) है? **अतः** (अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा के रसादि के ज्ञान में असमर्थ होने से) तुरीयावृत्ति (**अभिधामूलक और लक्षणामूलक** व्यञ्जना नामक चौथी वृत्ति) स्वीकार करनी ही चाहिये। यह निर्विवाद (सिद्ध) है।

टिप्पणी—**अभिधा और लक्षणा** दीर्घदीर्घतर व्यापार वाली होती हुई ही व्यंग्यार्थ का ज्ञान करा देवें, उन दोनों का विराम कहाँ होता है। शब्द का विरत होकर व्यापार करना तो आपके द्वारा स्वीकृत व्यंग्य बोधन की तरह हमको भी इष्ट है, ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ऐसा होने पर दीर्घतर अभिधा व्यापार से भी इष्ट की सिद्धि होने पर लक्षणा के उच्छेद का प्रसङ्ग होगा। वाच्य और वाचक के व्यतिरेक से भी व्यंग्य-व्यञ्जकभाव के न प्राप्त होने पर "असाधुत्व" आदि नित्य दोषों का और 'कष्टत्वादि' अनित्य दोषों का विभाग नहीं हो सकता क्योंकि असाधुत्वादि दोष सर्वथा ही हेय हैं, अतः नित्य दोष हैं और कष्टत्वादि दोष श्रृङ्गारादि की अभिव्यक्ति के प्रतिकूल होने से श्रृङ्गारादि में हेय होते हुये भी रौद्रादि में रस के अनुकूल होने के कारण उपादेय है, अतः अनित्य दोष हैं। इसप्रकार व्यंग्य-व्यञ्जकभाव में प्रतिकूलता और अनुकूलता के कारण नित्य और अनित्य दोषों का विभाग है। और वह विभाग व्यञ्जना के स्वीकार न करने पर उपपन्न नहीं हो सकता है। वाच्य-वाचकभाव में कष्टत्वादिकों की उदासीनता से सर्वत्र ही दुष्टत्व या अदुष्टत्व इनमें से कोई एक निश्चित ही होगा। अतः व्यञ्जना का स्वीकार करना निर्विवाद है।

किञ्च —

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥ २ ॥

वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोर्हि पदतदर्थमात्रज्ञाननिपुणैर्वैयाकरणैरपि सहृदयैरेव च संवेद्यतया बोद्धृभेदः ।

अवतरणिका—**अभिधेय** और **व्यंग्य** का परस्पर भेद दिखाकर उसी से **अभिधा** से **व्यञ्जना** का भेद प्रतिपादित करते हैं ।

अर्थ—तथा (१) बोद्धा (ज्ञाता), (२) स्वरूप (विधिरूप और निषेधरूप), (३) संख्या (एक, दो आदि), (४) निमित्त (कारण), (५) कार्य (फल या उद्देश्य), (६) प्रतीति (निश्चय), (७) काल (पौर्वापर्य समय), (८) आश्रय (आलम्बन), (९) विषय (प्रतिपाद्य अर्थ) आदि के ("आदि" शब्द से देश और औचित्यादिकों का ग्रहण होता है) भेद से व्यंग्य (व्यञ्जना से बोध्य अर्थ) अभिधेयार्थ से (अभिधा से प्रतिपाद्य अर्थ से) भिन्न होता है । [अभिधा केवल उपलक्षण है, अतः तात्पर्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न होता है ।] ।

टिप्पणी—वाच्य अर्थ का जो बोद्धा आदि है वह दूसरा ही होता है और जो व्यंग्यार्थ का बोद्धादि है वह दूसरा ही होता है । इसीप्रकार उन दोनों के परस्पर एक न होने से इन दोनों में भी भेद होता है । अथवा व्यंग्यार्थ बोद्धादि के भेद से जैसे अनेकविधता को प्राप्त होता है, वैसे वाच्यार्थ की अनेकविधता नहीं होती । अतः बोद्धादि के अनेकविध होने से व्यंग्य भी अनेक प्रकार का होता है, यह स्पष्ट ही है, और वाच्य के क्योंकि बोद्धादि अनेक नहीं होते हैं, अतः एक प्रकार का ही है ।

अवतरणिका—(१) कारिका के अन्दर कहे हुये के अनुसार पहले **बोद्धृभेद** दिखाते हैं—

अर्थ—**(बोद्धृभेदनिरूपण)**—वाच्यार्थ के पद और पदार्थ मात्र के ("मात्र" शब्द से व्यंग्य का व्यवच्छेद किया है) ज्ञान में निपुण वैय्याकरणों से भी ("अपि" शब्द से सहृदयों का ग्रहण होता है) संवेद्य होने के कारण (तथा) व्यंग्यार्थ के सहृदयों से ही ("एव" शब्द से वैयाकरणों का व्यवच्छेद है) संवेद्य होने के कारण **बोद्धृभेद** है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि वैयाकरण केवल वाच्यार्थ को ही समझ सकते हैं व्यंग्यार्थ को नहीं, काव्यतत्व को सूक्ष्म रूप से जानने में समर्थ सहृदय वाच्य और व्यंग्य दोनों ही अर्थों को समझ सकते हैं । अतः वाच्यार्थ को जानने वाले वैय्याकरण होते हैं और व्यंग्यार्थ को जानने वाले सहृदय ही होते हैं । अतः बोद्धृभेद स्पष्ट ही है । **ध्वनिकार गोवर्द्धन सूरि** ने भी कहा है कि—

"शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥" इति ।

और यदि वाच्यरूप ही वह अर्थ हो तो वाच्य-वाचक के परिज्ञान से ही प्रतीति हो

'भम धम्मिअ—' इत्यादौ क्वचिद्वाच्ये विधिरूपे निषेधरूपतया, क्वचित् 'निःशेषच्युतचन्दनम्–' इत्यादौ निषेधरूपे विधिरूपतया च स्वरूपभेदः ।

'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ च वाच्योऽर्थं एक एव प्रतीयते । व्यङ्ग्यस्तु तद्बोद्धादिभेदात् क्वचित् 'कान्तमभिसर' इति, 'गावो निरुध्यन्ताम्' इति, 'नायकस्यायमागमनावसरः' इति, 'संतापोऽधुना नास्ति' इत्यादिरूपेणानेक इति संख्याभेदः ।

जावे । तथा वाच्य-वाचक के लक्षणमात्र में परिश्रम करने वाले, काव्य-तत्वार्थ की भावना से विमुख स्वर, श्रुति आदि के लक्षण की तरह प्रतीत होने वाले गन्धर्व के लक्षणों को जानने वालों के लिये वह अर्थ अगोचर ही होता है । यथा—

"सुन्दरि, तव श्लेषाय बहुकालादवस्थितोऽहं स्पृहयन् ।
अवलोक्य पुनर्वत मां लीलापद्मं हसन् पिहितम् ।।"

यहाँ कहने वाला कोई वैय्याकरण है । उसकी दृष्टि से यहाँ कोई चमत्कार नहीं है । परन्तु उस-उस तात्पर्य के अन्वेषण में तत्पर सहृदयों की दृष्टि से तो **"सूर्यास्तपर्यन्तं मद्वियोगः"** यह चमत्कार प्रतीत होता ही है—अतः **बोद्धृभेद** है । इसीप्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये ।

अर्थ—(२) (**"स्वरूप-भेद"** का उदाहरण) **"भम धम्मिअ"** इत्यादि में कहीं (**"भ्रम"** इसप्रकार) विधि रूप वाच्य के होने पर (व्यंग्यार्थ की प्रतीति के समय) (**"अभ्रम"** इसप्रकार) निषेधरूप (व्यंग्य के) होने से, (यहाँ "स्वरूप-भेद" है);और कहीं **"निःशेषच्युतचन्दनम्"** इत्यादि में निषेध-रूप (**"तस्याधमस्यान्तिकं न गतासि"**) वाच्य के होने पर (व्यंग्यार्थ की प्रतीति के समय) (**तदन्तिकमेव रन्तुं गतासि–इसप्रकार**) विधिरूप (व्यंग्य के) होने से (वाच्य और व्यंग्य के अन्दर) **"स्वरूप-भेद"** है ।

टिप्पणी—यहाँ **"धार्मिक, भ्रम"** यह वाच्यार्थ विधिरूप है और इसका व्यंग्यार्थ निषेध-रूप है–इसप्रकार वाच्य और व्यंग्य के अन्दर महान् "स्वरूप-भेद" है । **"निःशेषच्युतचन्दनम्"**—यह लक्षणावादियों के मत से उदाहरण दिया है ।

अर्थ—(३) (**संख्या भेद** का उदाहरण) **"गतोऽस्तमर्कः"** इत्यादि में वाच्य अर्थ एक ही प्रतीत होता है (कि "सूर्य अस्त हो गया") । **परन्तु व्यंग्यार्थ** उसके (**"गतोऽस्तमर्कः"** इस वाक्य के) बोद्धा (प्रतिपाद्य) आदि के("आदि" पद से प्रकरणादि-कों का ग्रहण होता है) भेद से कहीं (**अभिसारिकारूप बोद्धृस्थल पर**) नायक के समीप अभिसरण करो इति, (**कहीं अनुचर बोद्धृस्थल पर**) (जंगल में छोड़ी हुई) गौओं को इकट्ठा करो इति; (**कहीं वियोगिनीरूप बोद्धृस्थल पर** अथवा **सहचरी रूप बोद्धृस्थल पर**) यह नायक के आने का समय है, इति; (**कहीं धूप से सन्तप्त व्यक्ति रूप वक्तृ स्थल पर**) अब सन्ताप नहीं है, इत्यादि रूप से अनेक प्रकार का होने से **"संख्या भेद"** है । ["आदि" पद से—**कहीं सेनापति रूप बोद्धृस्थल पर**—शत्रुओं पर आक्रमण करने का समय है । **कहीं वासकसज्जा रूप बोद्धृस्थल पर**—तुम्हारा प्रिय आ गया है । **कहीं गुरु रूप वक्तृ स्थल पर**—संध्याकालीन संध्याहवनादि विधि करो । **कहीं दूर जाने वाले रूप बोद्धृस्थल पर**—दूर मत जाओ—इत्यादि उदाहरणों का ग्रहण समझना चाहिये ।] ।

वाच्यार्थः शब्दोच्चारणमात्रेण वेद्यः, एष तु तथाविधप्रतिभानैर्मल्यादिनेति निमित्तभेदः। प्रतीतिमात्रकरणाच्चमत्कारकरणाच्च कार्यभेदः। केवलरूपतया चमत्कारितया च प्रतीतिभेदः। पूर्वपश्चाद्भावेन च कालभेदः। शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन चाश्रयभेदः।

'कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरं।
सब्भमरपडमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एण्हिम्॥
[कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि, वारितवामे सहस्वेदानीम्॥]

अर्थ--(४) (**निमित्तभेद** दिखाते हैं)--वाच्यार्थ शब्द के उच्चारण मात्र से ("मात्र" शब्द से प्रतिभा नैर्मल्यादि का व्यवच्छेद है) प्रतीत होता है (क्योंकि वाक्यार्थ ज्ञान में शब्दज्ञान ही निमित्त होता है) (किन्तु) यह (व्यंग्यार्थ) तो उसप्रकार की विशुद्ध प्रतिभा आदि से प्रतीत होता है, ("आदि" पद से पूर्व प्रतिपादित वक्तृ आदि के वैशिष्ट्य ज्ञानादि का ग्रहण होता है), अतः "**निमित्त भेद**" (होने से वाच्य से व्यंग्य भिन्न) है।

(५) (**कार्यभेद** दिखाते हैं)--(वाच्यार्थ) केवल प्रतीतिमात्र का कारण होता है अर्थात् वाच्यार्थ केवल ज्ञान मात्र को उत्पन्न करता है। ("मात्र" पद से चमत्कार का निराकरण है), (और व्यंग्यार्थ) चमत्कार का कारण होने से (दोनों में) "**कार्यभेद** है।

(६) (**प्रतीतिभेद** दिखाते हैं)---(वाच्यार्थ की प्रतीति) सुख चमत्कार से रहित होने से केवल शाब्दबोध को उत्पन्न करती है, (और व्यंग्यार्थ की प्रतीति) सुख चमत्कार और शाब्दबोध दोनों को उत्पन्न करती है, अतः **प्रतीतिभेद** है।

(७) (**काल भेद** दिखाते हैं) पहले वाच्यार्थ की प्रतीति होती है और बाद में पर्यालोचना से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः "**कालभेद**" है।

(८) (**आश्रय भेद** को स्पष्ट करते हैं) (वाच्यार्थ के) शब्दमात्र आश्रय होने के कारण (और व्यंग्यार्थ के) शब्द (पदघटक वर्ण-समुदाय), शब्द के एकदेश (प्रकृति, प्रत्यय और उपसर्गादि रूप) शब्द के अर्थ, (वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्यात्मक-तीन प्रकार के अर्थ), वर्ण (अक्षर) और वर्णरचना के आश्रय होने के कारण (दोनों के अन्दर-वाच्य और व्यंग्य के अन्दर) **आश्रय-भेद** है। अर्थात्-वाच्यार्थ केवल शब्द का आश्रय लेता है और व्यंग्यार्थ शब्दादिक का आश्रय लेता है।

(९) (**विषय-भेद** का उदाहरण)

प्रसङ्ग---उपनायक के द्वारा दष्ट अधर वाली अपनी पत्नी को देखकर क्रुद्ध नायक को छलने को चाहती हुई **नायिका** की सखी की यह उक्ति है।

अर्थ--(हे) निवारित वामे! (हे) भ्रमरयुक्त कमल को सूंघने वाली, प्रिया के व्रणयुक्त अधर को देखकर किसको (नायक को) क्रोध नहीं होता है? अपितु सभी को होता है। (इससे पति का कोई दोष नहीं है, यह व्यंजित होता है) अतः (पति की भर्त्सना को और भ्रमरदंशन से उत्पन्न व्रणवेदना को) सहन कर (कहने का यह भाव है कि यह इसप्रकार दष्ट अधर वाली किसी अन्य कारण की आशंका करके क्रोध मत करो)।

इति सखीतत्कान्तविषयत्वेन विषयभेदः। तस्मान्नाभिधेय एव व्यङ्ग्यः।

टिप्पणी (१) यहाँ "**वारितवामे**" यह **और** "**सभ्रमरपद्माघ्रायिणि**" ये साभिप्राय हैं। इनमें भी **वाम और पद्म** शब्द के विशेषण **वारित और भ्रमर** पद साभिप्राय है, अतः **परिकरालंकार** है।

परिकरालंकार का लक्षणः—

"**उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः।**" सा० द० दशम परिच्छेद ॥

~~(२)~~ **लोचनकार चित्रमीमांसा में** इसप्रकार कहते हैं कि—कहीं से (किसी उपनायक के पास से) दंशित अधरा किसी अविनीता के समीप में स्थित उसके पति को न देखती हुई कोई चतुर सखी पति के द्वारा उस पर किये जाने वाले आक्षेप का परिहार करने के लिये इसप्रकार कहती है। (१) "**सहस्वेदानीम्**" यह वाच्य अविनयवती नायिका का विषय है। और (२) पतिविषयक—"इसका अपराध नहीं है" यह व्यंग्य है। (३) प्रियतम के द्वारा प्रिया के अत्यन्त उपालम्भ देने पर उसके विषय में मिथ्या आशंका से लोकनिन्दा को अविनय के व्याज से छिपाने के लिये उसकी निरपराधता सूचित करना व्यंग्य है। (४) "**प्रियायाः**" इस शब्द से नायिका के उपालम्भ और अविनय से प्रसन्न होने वाली सपत्नी के विषय में अतिशय सौभाग्य की सूचना व्यंग्य है। (५) सपत्नियों के मध्य में "इतना मुझे निन्दित किया है" इस लघुता की भावना नायिका के विषय में ग्रहण करना ठीक नहीं है, अपितु यह नायिका के लिये मान है। सम्प्रति तुम शोभित होओ से (सहस्व) यह सखी विषयक सौभाग्य की सूचना व्यंग्य है। (६) आज तुमसे प्रच्छन्न अनुराग रखने वाली तुम्हारी हृदयवल्लभा की मैंने रक्षा की अतः" पुनः स्पष्ट दन्तक्षत के चिह्नों को अधरों पर अङ्कित न करना" यह उस कामुक उपपति विषयक व्यंग्य है। इसप्रकार "मैंने यह छिपा लिया" इस विदग्धता को प्रकट करना तटस्थ व्यक्ति विषयक व्यंग्य है।

अर्थ—इसप्रकार यहाँ वाच्यार्थ के बोध में सखी उद्देश्य है, "**भ्रमरेणास्या अधरो दष्टः, न पुनः उपपतिना**" इस व्यंग्यार्थ बोध में पति उद्देश्य है- —अतः यहाँ पर "**विषय-भेद**" हैं। अतः (उक्त सब भेदों के कारण) अभिधेय ही व्यंग्य नहीं है।

टिप्पणी—यहाँ पर "**ममैवं वैदग्ध्यम्**" यह प्रतिवेशिनी विषयक, "**इदं मया समाहितं पुनरेवं त्वया न विधेयम्** यह उपपति विषयक; "**भ्रमरेणास्या अधरः खण्डितो न तु भर्त्रेति त्वयेर्ष्या न विधेया**' यह सपत्नी विषयक, "**सरलतरेयं न किञ्चित्प्रपञ्चं जानाति**" यह साध्वी विषयक, "**नान्यथा शङ्कनीया**" यह श्वश्रू विषयक, '**अनया विना त्वत्पतिर्न जीवतीति विदितमेव तदस्मत्समन्विते भेदो विधेयः**" यह उपपति का भार्या विषयक व्यंग्य समझने चाहिये। इसप्रकार बोद्धृस्वरूपादि भेद से अवश्य ही वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद स्वीकार करना चाहिये।

ध्वनिकार कहते हैं कि—

"**प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।**
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ इति ॥

केवल वाच्य और व्यंग्य की ही विधर्मता नहीं है किन्तु वाचक और व्यञ्जक की भी समझनी चाहिये।

तथा—

प्रागसत्त्वाद्रसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे ।
किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा ।। ३ ।।

'न बोधिका' इति शेषः । नहि कोऽपि रसनात्मकव्यापाराद्भिन्नो रसादिपदप्रतिपाद्यः पदार्थः प्रमाणसिद्धोऽस्ति, यमिमे लक्षणाभिधे बोधयेताम् ।

किञ्च, यत्र 'गङ्गायां घोषः' इत्यादावुपात्तशब्दार्थानां बुभूषन्नेवान्वयोऽनुपपत्त्या बाध्यते तत्रैव हि लक्षणायाः प्रवेशः ।

अवतरणिका—विना व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार किये रसादि का ज्ञान किसी प्रकार भी नहीं हो सकता है, इसका प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—तथा (अर्थात् इतने से ही व्यंग्यों की अभिधादि से बोध्यता नहीं है अपितु दूसरे प्रकार से भी नहीं है) **प्रागिति**—रसादि के(अपने अनुभव की उत्पत्ति से) पूर्व विद्यमान न रहने के कारण (ज्ञान से पूर्व किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध न होने के कारण) लक्षणावृत्ति और अभिधावृत्ति ज्ञान कराने में समर्थ नहीं हैं । [प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध वस्तु को ही लक्षणा और अभिधा ज्ञान कराती हैं । **यथा**-घट शब्द वाली अभिधा पहले प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध कम्बुग्रीवा वाले पदार्थ का ज्ञान कराती है । **यथा वा**—गङ्गा शब्द वाली लक्षणा पहले प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध तीर का ज्ञान कराती है । रसादि वैसा नहीं है क्योंकि काव्य के अन्दर विद्यमान शब्दों से उत्पन्न होने वाले रस के शाब्द बोध के अनन्तर ही उत्पन्न होने के कारण पहले स्वरूप से किसी भी प्रमाण के न होने से वहाँ उस काव्य के अन्दर विद्यमान अभिधा शक्ति अथवा लक्षणा शक्ति से उसका ग्रहण सम्भव नहीं है ।] **किञ्चेति**—तथा मुख्यार्थ बाध का अभाव होने से भी लक्षणा (रसादि का) ज्ञान कराने वाली नहीं है । [लक्षणा के द्वारा मुख्यार्थ का बाध होने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध वस्तु का ही ज्ञान होता है, रसादि के ज्ञान में तो मुख्यार्थ का बाध है नहीं और नहीं रसादि किसी प्रमाण से सिद्ध है ।] ।

(कारिका के पूर्वार्द्ध की व्याख्या करते हैं) कोई भी रसनात्मक (व्यंजनात्मक) व्यापार से भिन्न रसादि पद से प्रतिपाद्य पदार्थ (कहीं) प्रमाणों से सिद्ध है, जिसको ये दोनों लक्षणा और अभिधावृत्ति ज्ञान करा दें । [इससे अनुभूति से पूर्व रसादि की अविद्यमानता का प्रतिपादन किया है ।] ।

(कारिका के उत्तरार्ध की व्याख्या करते हैं) किञ्चेति—तथा, जहाँ "गङ्गायां घोषः" इत्यादि में वाच्यार्थों का ("जल-प्रवाह रूप गङ्गा में आभीरपल्ली है" इन वाच्यार्थों का) अन्वय बोध होता हुआ ही अनुपपत्ति से (प्रवाह में आभीरपल्ली के असम्भव होने से असङ्गति के कारण) बाधित होता है, वहीं ही लक्षणा का प्रवेश है।

यदुक्तं न्यायकुसुमाञ्जलावुदयनाचार्यैः—

'श्रुतान्वयादनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।
पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः ।।'

न पुनः 'शून्यं वासगृहम्—' इत्यादौ मुख्यार्थबाधः ।

यदि च 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ प्रयोजनं लक्ष्यं स्यात्, तीरस्यापि मुख्यार्थत्वं बाधितत्वं च स्यात् ।

अर्थ—यदुक्तमिति—क्योंकि **न्यायकुसुमाञ्जलि** में उदयनाचार्य ने कहा है कि—**श्रुतेति**–श्रुत पदार्थों का अन्वय सम्भव होने से (अबाधित होने से) (अन्यत्र) दूसरे अर्थ की आकांक्षा से रहित वाक्य (पदसमुदाय विशेष) दूसरे अर्थ को (अन्यत्) नहीं चाहता है। (परन्तु) पदार्थों का अन्वय असम्भव होने से (मुख्य अर्थ के अन्वय की अनुपपत्ति के कारण) उससे (मुख्यार्थ से) आक्षिप्त अर्थ से (अन्वय की उपपत्ति के लिये सम्बन्धी होने के कारण गृहीत अर्थ से) सङ्गति (अन्वय की उपपत्ति) होती है। [**यथा–"गङ्गायां घोषः"** इत्यादि में पदार्थों के अन्वय काल में ही बाध होने से अन्वय का विधुरीभाव है। अतः उस पदार्थ जल प्रवाहादि से आक्षिप्त तटादि से संगति उत्पन्न होती है। इससे **उदयनाचार्य** के मत में भी अन्वय की अनुपपत्ति की अवस्था में ही लक्षणा होती है—यह सिद्ध होता है।]।

न पुनरिति—परन्तु **"शून्यं वासगृहं"** इत्यादि में तो मुख्यार्थ का बाध है नहीं [केवल मुख्यार्थ के बाध का ही अभाव नहीं है किन्तु "उसका योग" भी नहीं है क्योंकि परम्परा सम्बद्ध अर्थ ही व्यंग्य हुआ करता है, और न प्रयोजन ही है क्योंकि रस ही परम प्रयोजन है। इसलिये यहाँ प्रतीयमान वाच्य से व्यतिरिक्त अर्थ के बोधन के लिये लक्षणा भी स्वीकार नहीं करनी चाहिये। क्योंकि व्यंग्यार्थ वाच्य से भिन्न लक्षणा से ज्ञात नहीं हो सकता है। क्योंकि मुख्यार्थ के बाध के विना लक्षणा की प्रवृत्ति नहीं होती है।]।

(व्यंग्यार्थ का ज्ञान लक्षणा से मानने पर अनवस्था दोष भी आता है–यह बताते हैं)। **यदि चेति**—और यदि **"गङ्गायां घोषः"** इत्यादि में प्रयोजन को (शीतत्व, पावनत्वादि अतिशय रूप प्रयोजन को) लक्ष्य (लक्षणा से बोध्य) मानोगे (तो) तीर की मुख्यार्थता (अर्थात् 'गङ्गा' पद का मुख्यार्थ तीर होगा) और उसकी बाधकता भी ("चकार" से पावनत्वादि अतिशय के साथ, जो कि लक्षणा से बोध्य है, सम्बन्ध भी मानना पड़ेगा) माननी पड़ेगी, (क्योंकि मुख्य अर्थ के बाध में ही लक्षणा होती है।) [**आशय यह है कि**–शब्द पहले अपने अर्थ का प्रतिपादन करके उसके वाक्यार्थ के अन्वय की अनुपपत्ति में उसके सम्बन्धी अर्थ को लक्षित करता है। यहाँ यदि तीर के बोध के अनन्तर बोध्य प्रयोजन को लक्षित करता है तो गङ्गा पद का तीर मुख्यार्थ हुआ और उसकी वाक्यार्थ के अन्वय में अनुपपत्ति हुई]।

तस्यापि च लक्ष्यतया प्रयोजनान्तरं, तस्यापि प्रयोजनान्तरमित्यनवस्था-पातः ।

[**शंका**—"गङ्गा" पद के तीर अर्थ में संकेत के अभाव होने से ही उसके अन्दर मुख्यार्थता नहीं है परन्तु उसकी बाधकता तो अभीष्ट है ही । इसका **उत्तर देते हैं**–] । **तस्यापीति**—उसके भी (शीतत्व-पावनत्वादि अतिशय रूप प्रयोजन के) लक्षणा से बोध्य होने के कारण (प्रथम प्रयोजन की सूचक लक्षणा का कारणीभूत) कोई दूसरा प्रयोजन और उसके भी (दूसरे प्रयोजन के भी) लक्षणा से बोध्य होने से कोई तीसरा प्रयोजन स्वीकार करना चाहिये । इसप्रकार अनवस्था दोष आता है ।

टिप्पणी—सारांश यह है—"गङ्गायां घोषः प्रतिवसति" यहाँ "गङ्गा" शब्द का जलप्रवाह रूप मुख्य अर्थ है, वहाँ घोष की अवस्थिति सम्भव नहीं है अतः 'गङ्गा' शब्द के जलप्रवाह रूप मुख्य अर्थ के बाध से गङ्गा से सम्बद्ध तीर की लक्षणा से उपस्थिति होती है, लक्षणा के प्रयोजन शीतत्व–पावनत्वाद्यतिशय की गङ्गादि शब्द के द्वारा प्रतीति न होने के कारण व्यञ्जना से ही बोध होता है । इसप्रकार गङ्गा शब्द का तीर लक्ष्य है और शीतत्वपावनत्वादि व्यंग्य है । **यहाँ शंका उठाते हैं—यदि चेति-** यदि गङ्गा शब्द का शीतत्व-पावनत्वादि रूप प्रयोजन लक्ष्य (लक्षणा बोध्य) मान लेंगे तो तीर गङ्गा शब्द का मुख्य अर्थ होगा, वैसा होने पर (गङ्गा शब्द का मुख्य अर्थ तीर होने पर) घोष की वहाँ स्थिति हो सकती है—इस कारण उस अर्थं का बाध भी होगा, क्योंकि मुख्यार्थ के बाध होने पर ही लक्षणा स्वीकृत की जाती है । इसप्रकार लक्ष्य (लक्षणा से बोध्य) से अभिमत शीतत्व-पावनत्वादि का मुख्यार्थ से अभिमत तीर से साक्षात् सम्बन्ध भी होना चाहिये क्योंकि सम्बन्ध के शक्य होने पर ही लक्षणा स्वीकार की जाती है । इसप्रकार शीतत्व-पावनत्वादि रूप प्रयोजन में लक्षणा के स्वीकार करने पर किसी अन्य प्रयोजन की भी कल्पना करनी चाहिये क्योंकि किसी प्रयोजन से ही लक्षणा स्वीकार की जाती है । इसप्रकार दूसरे प्रयोजन के भी लक्षणा के द्वारा ज्ञात होने पर पुनः किसी तीसरे प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी । इसप्रकार परम्परा से अनवस्था दोष आयेगा । **आशय यह है कि** अनवस्था दोष के होने पर कोई निर्णय नहीं हो पाता है । अतः जिससे अनवस्था दोष आता है उस बात को नहीं कहना चाहिये । **अस्तु–पक्षान्तर उठाते हैं**—अच्छा, अनवस्था को भी स्वीकार कर लो, किन्तु **"भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः"** इस न्याय की तरह अनवस्था में भी पूर्व–पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर के ही व्यंग्य होने से कुछ न कुछ शेष रह जाता है । अतः अनवस्था के दोष का निवारण नहीं हो सकता है । अतः लक्षणा से व्यंग्यार्थ का काम नहीं निकाला जा सकता, इसलिये व्यञ्जना को स्वीकार करना ही चाहिये ।

न चापि प्रयोजनविशिष्ट एव तीरे लक्षणा। विषयप्रयोजनयोर्युगपत्प्रतीत्यनभ्युपगमात्। नीलादिसंवेदनानन्तरमेव हि ज्ञातताया अनुव्यवसायस्य वा संभवः।

अवतरणिका—विशिष्ट लक्षणावादियों के अर्थात्—जो प्रयोजन सहित लक्षणा से बोध मानते हैं, उनके मत का निराकरण करते है—

अर्थ—और नहीं प्रयोजन से (शैत्य, पावनत्वाद्यतिशयरूप प्रयोजन से) विशिष्ट ही तीर में "गंगा" पद की लक्षणा होती है। [अर्थात्—"**अतिपावने तीरे घोष:**" इस लक्षणा जन्य बोध का" **गंगातटे घोष:**" इस अभिधाजन्य बोध से अधिक अर्थ की प्रतीति फल है। इसप्रकार फल और फली का अभेद रूप में पर्यवसान हो गया। **इसका दोष दिखाते हैं**] क्योंकि विषय (कारणीभूत ज्ञान तट की) और प्रयोजन की (फलीभूत ज्ञान शैत्य-पावनत्वाद्यतिशय की) युगपत् (समकालिक) प्रतीति स्वीकार नहीं करते हैं। [क्योंकि यदि विषय और प्रयोजन की युगपत् प्रतीति स्वीकार कर लें तो फल और फली के अन्दर अभेद आता है और कारण ज्ञान और कार्य ज्ञान एक समय में कभी होते नहीं हैं। यहाँ लक्षणाजन्य तट कारण है, शैत्यपावनत्वादि ज्ञान उसका कार्य है, अतः उन दोनों के अन्दर पौर्वापर्यभाव अवश्य होने से युगपत् होना सम्भव नहीं है। विषय और प्रयोजन की प्रतीति एक साथ नहीं हो सकती है। इसीलिये कहा है—

> **"प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।**
> **ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्"** ॥ इति ॥

[**कारण और कार्य** के भेद को सिद्ध करते हैं) **नीलादीति**—नीलादिकों के प्रत्यक्ष ज्ञान के अनन्तर ही ["**अयं नीलो** घट:" इत्यादि नीलादि विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद ही, न तो पूर्व और न प्रत्यक्ष समकाल में ही] **ज्ञातता** का (अर्थात् "**नीलमहं ज्ञातवान्**" यह पूर्व प्रत्यक्ष विषयक ज्ञान के अनन्तर ही सम्भव है—यह **भट्टमीमांसकों** का मत है। इस मत में—नील ज्ञान के अनन्तर '**ज्ञातो नील:**" इस ज्ञान से उस नील में **प्रकटता (ज्ञातता)** का ज्ञान होता है। ज्ञान अतीन्द्रिय है, उससे उत्पन्न ज्ञातता प्रत्यक्ष है, और इस ज्ञातता से अनुमान होता है। **अनुमान वाक्य** इसप्रकार है—

"**इयं ज्ञातता नीलविशेष्यकनीलत्वप्रकारकज्ञानजन्या नीलवृत्तिनीलत्वप्रकारणज्ञाततात्वात्, या यद्वृत्तिर्यत्प्रकारिका ज्ञातता सा तद्विशिष्यकतत्प्रकारकज्ञानसाध्या। यथा पीते पीतत्वप्रकारिका ज्ञातता—**इति"] अथवा—अनुव्यवसाय का [अर्थात् नील का ज्ञान हो जाने पर "**नीलमहं जानामि**" ऐसा प्रत्यय रूप ज्ञान का अपर पर्याय अनुव्यवसाय नील ज्ञान से होता है—यह **नैय्यायिकों** का मत है।] ज्ञान सम्भव है। [इस प्रकार नीलादि प्रत्यक्ष कारण हैं, उसके अनन्तर ज्ञातता अथवा अनुव्यवसाय उसका फल है, इन दोनों की युगपत् प्रतीति को कोई भी स्वीकार नहीं करते हैं। न तो ज्ञातता मानने वाले मीमांसक और न अनुव्यवसाय को स्वीकार करने वाले नैय्यायिक। क्योंकि दोनों के ही मत में कारणभूत प्रत्यक्ष ज्ञान के पीछे ही फलीभूत ज्ञान (ज्ञातता या अनुव्यवसाय) माना जाता है। क्योंकि कारण-कार्यभाव में पौर्वापर्य का नियम आवश्यक है।]।

नानुमानं रसादीनां व्यङ्ग्यानां बोधनक्षमम् ।
आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः ।। ४ ।।

व्यक्तिविवेककारेण हि—'यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सा अनुमान एवान्तर्भवितुमर्हति ।

टिप्पणी—अतः प्रयोजन विशिष्ट लक्षणा के असम्भव होने से तथा प्रयोजन भी पृथक् लक्ष्य बोध्य होने पर अनवस्था दोष के आने से प्रयोजन के ज्ञान के लिये व्यंजना वृत्ति अवश्य स्वीकार करनी चाहिये । उसी से सर्वत्र ज्ञान के सम्भव होने से उसके लिये अपूर्व लक्षणा के सामर्थ्य की कल्पना करना अत्यन्त अनुचित है ।

अवतरणिका—नाटक में रामत्वेन आहार्य ज्ञान के विषय नट में और काव्य में राम में ही विभावादिकों से रत्यादि का अनुमान होता है । **अनुमानवाक्य** इसप्रकार है–**"नटः रामो वा सीताविषयकरतिमान् सीतादिविभावादिमत्वात्"** इति । इस अनुमान वाक्य से उद्बुद्ध होने से सामाजिकों की वासना रूप प्रत्यासत्ति से साक्षात्कृत रामादि की रत्यादि रस होती है । **इस श्री शंकुक मत** के अनुयायी व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट के मत को दूषित करते हैं ।

अर्थ—(कारणों के व्यभिचारादि दोषों से ग्रस्त होने के कारण) अनुमान (व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान) व्यंग्य (व्यंजना से प्रतिपाद्य) रसादिकों का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं हैं । [प्रतीत होने वाले विभावादिकों के रत्यादि के कारण होने पर भी **"रामः सीताविषयकरतिमान् सीतादिविभावादिमत्वात्** यह अनुमिति रस नहीं है क्योंकि उसके आनन्दस्वरूप न होने के कारण तथा आस्वाद रहित होने के कारण परन्तु व्यंजना के द्वारा शाब्दबोध विषयक रत्यादि सहृदयों से अनुभव किया जाता हुआ स्वप्रकाशस्वरूप और आनन्दमय रूप से परिणत आस्वाद्यमान रस कहलाता है] तथा हेतुओं के आभास अर्थात् हेत्वाभास होने से रसादिकों का ज्ञान के स्मृतिभी(संस्कार जन्य ज्ञानविशेष) नहीं है क्योंकि स्मृति भी आनन्दस्वरूप नहीं है और आस्वाद से रहित है ।

अवतरणिका—कारिकोक्त अर्थ को स्पष्ट करने के लिये **पूर्वपक्ष** उठाते हैं–

अर्थ—पूर्वपक्ष—व्यक्तिविवेककार श्री महिमभट्ट ने [व्यक्तेः—व्यंजनायाः विवेकः—

अनुमानेऽन्तर्भावं सकलस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ।।"

इति तदुक्तदिशा अनुमानेऽन्तर्भावाय विचारः तं करोति इति तेन व्यक्तिविवेककारेण—श्री महिमभट्ट ने सम्पूर्ण ध्वनि का अनुमिति में अन्तर्भाव करने के लिये **"व्यक्तिविवेक"** का निर्माण किया है, जिसका यह पहला श्लोक हैं ।] जो यह कहा है कि–जो भी विभाव-अनुभाव-संचारी और सात्विक भावों से रसादिकों की (रस, भाव, रसाभासादिकों की) प्रतीति है; वह (विभावादिकों के सम्बन्ध से रसादिकों की प्रतीति) अनुमान में (व्याप्य के देखने से व्यापक की निश्चयात्मिका बुद्धि में) ही ("एव" से ध्वनित होता है कि अतिरिक्त व्यंजना वृत्ति स्वीकार नहीं करनी चाहिये) अन्तर्भूत हो सकती है ।

विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते। ते हि रत्यादीनां भावानां कारणकार्यसहकारिभूतास्ताननुमापयन्त एव रसादीन्निष्पादयन्ति। त एव प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा उच्यन्त, इत्यवश्यंभावी तत्प्रतीतिक्रमः, केवलमाशुभावितयाऽसौ न लक्ष्यते, यतोऽयमद्याऽप्यभिव्यक्तिक्रमः' इति यदुक्तम्।

(कारण दिखाते हैं) क्योंकि विभाव-अनुभाव और व्यभिचारियों की (उपलक्षण से स्थायीभावों और सात्विकभावों की) प्रतीति रसादिकों की प्रतीति का कारण [**"क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्। विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम्॥"**] मानी गई है। [शंका–विभावादि की प्रतीति के अन्दर व्याप्ति ज्ञान के न होने से विभावादि से उत्पन्न रसादि की प्रतीति कैसे सम्भव हो सकती है? अतः विभावादियों की व्याप्यता दिखाते हैं।] **ते हीति**–वे विभावादि ही रति, हासादि स्थायिभावों के कारण, कार्य और सहकारी होते हुये

[**कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।**
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः॥

इस उक्ति के अनुसार कारणादि स्वरूप होते हुये, धूमादि के कारण आर्द्रेन्धनादि जिस प्रकार धूमादि व्याप्य है वह्नि आदि कार्य धूमादि वह्नि व्याप्य है उसीप्रकार रत्यादि के कारण विभाव और कार्य अनुभाव रत्यादि व्याप्य हैं] उनको (रत्यादिकों को) अनुमित कराते हुये ही (स्वविषयक व्याप्ति पक्षधर्मता ज्ञान से बोध कराते हुये **यथा––"पर्वतो वह्निमान, धूमात्"** यहाँ वह्नि व्याप्य-धूमवाला पर्वत है, यह प्रतीति होती है, उसीप्रकार **"शून्यं वासगृहम्" इत्यादि यत्काव्यं तत् शृंगाररसवत्, तत्तद्विभावादित्वात्"** इस अनुमिति में शृंगार रस व्याप्य विभावादि वाला काव्य है, ऐसी प्रतीति होती है।) रसादिकों को निष्पन्न करते हैं। [**आशय यह** है कि––सर्वप्रथम विभावादि लिङ्ग का ज्ञान होता है, उसके बाद व्याप्ति आदि का ज्ञान, उसके बाद मानस परामर्श से रामत्वेन प्रतीत होते हुये नट को पक्ष बनाकर सामाजिकों के अन्दर रस की अनुमिति होती है, वही अनुमिति **"निष्पत्ति"** इस शब्द का अर्थ है। **अनुमानवाक्य** इसप्रकार है––**रामोऽयं सीताविषयकरतिमान्, सीतादिविभावादिमत्वात्, अहमिव—इति व्यतिरेकी।** अथवा **स्वकान्ताविषयकरतिमान्, तदालम्बनत्वात्, अहमिव इत्यन्वयी।**] [रसादि की प्रतीति के प्रति विभावादिकों की कारणता का प्रतिपादन करते हैं] **त एवेति**-वे (विभावादि) ही प्रतीत होते हुये (अनुमान किये जाते हुये) रसनीयता को प्राप्त होकर (रसगंगाधरकारादिकों से) रस कहे जाते हैं [अर्थात् जिसप्रकार दूध अम्ल के योग से दधिभाव को प्राप्त होता हुआ दधि का

तत्र प्रष्टव्यम्—किं शब्दाभिनयसमर्पितविभावादिप्रत्ययानुमितरामादिगतरागादिज्ञानमेव रसत्वेनाभिमतं भवतः, तद्भावनया भावकैर्भाव्यमानः स्वप्रकाशानन्दो वा। आद्ये न विवादः, किन्तु रामादिगतरागादिज्ञानं रससंज्ञया नोच्यतेऽस्माभिः इत्येव विशेषः।

कारण कहलाता है उसीप्रकार विभावादि भी अनुमीयमान रत्यादि के योग से रसादिस्वरूप को प्राप्त होते हुये रसादि के कारण कहे जाते हैं।] [**शंका**—इसप्रकार के कार्य कारण भाव के स्वीकार करने पर रसादि की असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यता कैसे सिद्ध होगी ? इसका **उत्तर** देते हैं] **इत्यवश्यंभावीति**—इसप्रकार आवश्यंभावी उन विभावादिकों की प्रतीति का क्रम (पौर्वापर्यभाव) अर्थात् पहले विभावादि का ज्ञान, उसके बाद रति की अनुमिति, उसके बाद पौनः पुन्येन अनुशीलन, और उसके बाद आस्वाद यह प्रतीतिक्रम (अन्यथा—"**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**" यह कैसे संगत हो) केवल शीघ्र उत्पन्न होने से (वह संलक्ष्यक्रम) लक्षित नहीं होता है। [कमल के सैकड़ों पत्तों के अन्दर किये गये छेद की तरह क्रम होने पर भी अत्यन्त सूक्ष्म समय में होने के कारण वह लक्षित नहीं होता है, इसप्रकार **असंलक्ष्यक्रम** सिद्ध हो जाता है।] क्योंकि ऐसा ही अब भी (रसादि के व्यंजना से बोध्य स्वीकार करने पर भी) अभिव्यक्ति का (व्यञ्जनाजन्य बोध का) क्रम है। [अर्थात् जिसप्रकार आपके रसादि ज्ञान में पहले विभावादिकों की उपस्थिति, उसके बाद रत्यादि की व्यंजना, उसके बाद साधारण्याभिमान (साधारणीकरण), और उसके बाद रसादि की उत्पत्ति—इसप्रकार क्रम के होने पर भी रसादि की **असंलक्ष्यक्रमता** सिद्ध हो जाती है, उसीप्रकार हमारे अनुमिति पक्ष में भी हो जाती है। **रसगंगाधरकार ने कहा भी है:—**

> **"विभावा अनुभावाश्च तथा सञ्चारिणः क्रमात्।**
> **पक्षाः सपक्षाः कथिता विपक्षा रसबोधने॥**
> **वस्तुनोऽलंकृतेर्वापि व्यंग्यत्वे तु मनीषिणः।**
> **वक्तृवाच्यादिकीवृत्तीः पक्षादीन् सम्प्रचक्षते॥"**

उत्तरपक्ष [**अवतरणिका**—इसप्रकार रसगंगाधरकार के सिद्धान्त का अनुसरण कर "**व्यक्तिविवेक**" नामक काव्य का निर्माण करने वाले आचार्य **महिमभट्ट** के मत की स्थापना करके उसका विकल्पों द्वारा खण्डन करते हैं।] **तत्रेति**—उस विषय में अर्थात् पूर्वपक्ष के रूप में प्रतिपादित सिद्धान्त को स्वीकार करने पर यह प्रष्टव्य है कि—**किं शब्देति**—क्या शब्द (विभावादि का वाचक शब्द अर्थात् **श्रव्यकाव्य**) और अभिनय (नाटक का अभिनय अर्थात् **दृश्यकाव्य**) से (अर्थात् उन दोनों में से किसी एक से) उत्पन्न विभावादिकों की प्रतीति (ज्ञान) से अनुमित रामादि के अन्दर विद्यमान (सीतादि विषयक) अनुरागादि का ज्ञान ही आपके द्वारा रस रूप से अभिमत है ? **अथवा** उसकी (विभावादि की) भावना से (ज्ञान से) सहृदय सामाजिकों से आस्वादन किया जाता हुआ स्वयंप्रकाशस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप रस आपके

द्वितीयस्तु व्याप्तिग्रहणाभावाद्धेतोराभासतयाऽसिद्ध एव।

द्वारा अभिमत है ? यदि इनमें से पहला पक्ष (अर्थात् रत्यादि का अनुमान व्यंजना से) मानते हो तो कोई विवाद नहीं है [तथाहि-"रामः सीताविषयकरतिमान् सीतादिविभावादिमत्त्वात्" यहाँ अनुमान के अन्दर हेत्वाभास न होने से तथा व्याप्ति ज्ञान के सम्भव होने से किसीप्रकार का विवाद नहीं है। विवाद तो वहाँ पैदा होता है जबकि हम रामादिगत रत्यादि की व्यंजना को रसत्त्वेन स्वीकार करें—और यह हम स्वीकार नहीं करते हैं—उसीप्रकार का प्रतिपादन करते हैं।] किन्तु (हमारे मत में) यह विशेषता है कि हम "रामादि के हृदय में स्थित अनुरागादि के ज्ञान को "रस" इस नाम से नहीं कहते हैं"। [अतः हमारा सम्मत रस तुम्हारे उक्त कथन से भी अनुमानगम्य सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थात् हमारा यह कहना है कि रामादिगत रागादि की व्यंजना ही (स्वप्रकाशानन्दस्वरूप विभावादिसमूह से आलम्बनात्मक ज्ञानविशेष ही) रस है। अतः रामादिगत (रत्यादिविषयक ज्ञान को, जो वस्तुतः रस नहीं है, उसको अनुमान से सिद्ध करते हुये आप वास्तविक रस को अनुमान से सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अतः उस वास्तविक रस को सिद्ध करने के लिये ही हम व्यंजना को स्वीकार करते हैं।]

द्वितीयस्त्विति—यदि दूसरा पक्ष (**तद्भावनया भाव्यमानः स्वप्रकाशानन्दः**) स्वीकार करते हो तो हेतु की आभासता के कारण (हेत्वाभास के कारण) व्याप्ति ग्रहण के अभाव से (पक्षधर्मता की अनुपपत्ति से) वह असिद्ध ही है अर्थात् अनुमान का विषय नहीं हो सकता। [तात्पर्य यह है कि राम और सीता की चेष्टाओं से यह अनुमान तो किया जा सकता है कि "राम सीता में अनुरक्त है" अथवा "सीता राम में अनुरक्त है", परन्तु सीता में राम के अथवा राम में सीता के अनुराग का ज्ञान-मात्र तो हमारे मत में रस नहीं है। हम तो सीता में रामादि के अनुराग के ज्ञान के अनन्तर भावना के बल से सहृदयों के हृदय में जो अलौकिक आनन्द के रूप में परिणमित होता है—उसे रस कहते हैं। उसका आपके द्वारा उक्त अनुमान से कोई सम्बन्ध नहीं है। और यदि यह कहो कि पहले अनुराग से राम में अनुराग का ज्ञान होगा और फिर दूसरे अनुमान से सहृदय में रस का ज्ञान होगा—यथा—"**यत्र यत्र रामादिगतानुरागज्ञानं तत्र तत्र रसोत्पत्तिः**"—जहाँ जहाँ रामादिगत अनुराग का ज्ञान है, वहाँ वहाँ रस की उत्पत्ति होती है—इसप्रकार की व्याप्ति का ज्ञान करने के पश्चात् यह अनुमान करेंगे कि "**अयं सामाजिकः शृंगाररसवान्, रामादिगतानुरागज्ञानवत्त्वात् सामाजिकान्तरवत्**"—यह ठीक नहीं, क्योंकि इसमें व्याप्तिग्रह ही नही होता। धूम से बह्नि का

यच्चोक्तं तेनैव—

'यत्र यत्रैवंविधानां विभावानुभावसात्त्विकसञ्चारिणामभिधानमभिनयो वा तत्र तत्र श्रृङ्गारादिरसाविर्भावः' इति सुग्रहैव व्याप्तिः पक्षधर्मता च।

अनुमान इसलिये होता है कि धूम बह्नि के विना नहीं रहता। उसके साथ ही रहता है। परन्तु उक्त अनुराग-ज्ञान सदा रस के साथ नहीं रहता। पुराने वेदपाठी और वृद्ध मीमांसक भी भ्रूविक्षेपादि से रामादिगत अनुराग का तो अनुमान कर लेते हैं. परन्तु उनके शुष्क हृदय में रस की प्रतीति भी नहीं होती। यदि अनुराग ज्ञान से ही रस हो जाता तो उनके हृदय में भी होना चाहिये था। अतः उक्त व्याप्ति का ग्रहण न होने के कारण यह हेतु व्यभिचारी है, अतः रस का अनुमान नहीं हो सकता। एक बात और है कि सहृदयों को अपने हृदय में जो रसास्वाद होता है उसे अनुमान द्वारा सिद्ध करना भी ठीक नहीं। यदि अपना ज्ञान अपने को ही अनुमान द्वारा प्रतीत होगा तो फिर उसका प्रत्यक्ष किसे होगा? रस ज्ञानस्वरूप होता है और अपना ज्ञान अपने को सदा प्रत्यक्ष ही होता है, इसलिये भी रस को अनुमेय कहना ठीक नहीं।]

पूर्वपक्ष—व्यक्तिविवेककार ने दूसरी युक्ति से "व्याप्ति" को सिद्ध करके रसादिकों की अनुमेयता सिद्ध करते हुये जो युक्ति दी है, उसका भी खण्डन करने के लिये पुनः पक्ष को उठाते हैं।

यच्चोक्तिमिति–और जो उन्होंने ही (व्यक्तिविवेककार ने) कहा है कि-**यत्र यत्र एवंनिधानां विभावानुभावसत्त्विकसंचारिणामभिधानमभिनयो वा तत्र तत्र शृंगारादि-रसाविर्भावः**" इति। अर्थात् "जहाँ जहाँ इसप्रकार के (प्रतिपादित लक्षण वाले) विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारीभावों का कथन (श्रव्यकाव्य के अन्दर शब्दों द्वारा वर्णन करना) **अथवा** अभिनय (दृश्यकाव्य के द्वारा प्रदर्शन करना) है वहाँ वहाँ श्रृङ्गारादि रसों का आविर्भाव होता है"—इसप्रकार व्याप्ति ("**यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साहचर्यनियमः साध्याभाववद् वृत्तित्त्वम्** "इति) और पक्षधर्मता ["**व्याप्यस्य (धूमादेः) पर्वतादिवृत्तित्वम्**") सुगम ही है। [**अर्थात् "अहं रामाद्याविर्भावव्याप्यताद्दृग्वि-भावाद्युपस्थानवान्**" यह सामाजिकों के द्वारा व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता का ग्रहण है। और श्रोत्रियादिकों को तो विभावादिकों से ही उपस्थिति होती है, विभावनादि-व्यापारभागित्व से नहीं क्योंकि वहाँ वैसा व्यापार स्वीकार ही नहीं किया गया है, अतः वहाँ व्यभिचार दोष नहीं आता है।]

तथा—

'याऽर्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्रीष्टा निबन्धनम् ।
सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन संमता ।।' इति ।

इदमपि नो न विरुद्धम् । न ह्येवंविधा प्रतीतिरास्वाद्यत्वेनास्माकमभिमता, किन्तु-स्वप्रकाशमात्रविश्रान्तः सान्द्रानन्दनिर्भरः । तेनात्र सिषाधयिषिता-दर्थादर्थान्तरस्य साधनाद्धेतोराभासता ।

अर्थ—तथा—**यार्थेति**—तुम्हारे मत में (व्यंजना को स्वीकार करने वालों के मत में) जो सामग्री (शाब्दबोधादिरूप कारण समूह) दूसरे अर्थ की (वाच्यादि तीन अर्थों से भिन्न अर्थ की) अभिव्यक्ति में (व्यंजना से प्रकट करने में) प्रधान मानी गई है, वही सामग्री हमारे (व्यक्तिविवेककार और रसगंगाधरकारादिकों के) अनुमिति पक्ष में गमक रूप से (रसादि के अनुमापक रूप से) मानी गई है ।

उत्तर पक्ष—(**व्यक्तिविवेककार द्वारा** प्रतिपादित मत का खण्डन करते हैं) **इदमिति**—इसप्रकार का भी अनुमान ("**यत्र यत्र एवंविधानां**" से "**याऽर्थान्तराभि-व्यक्तौ**"—इस कारिका तक) हमारे (व्यंजनावादियों के) विपरीत नहीं है । (हम भी इसप्रकार के अनुमान के अदुष्ट होने के कारण स्वीकार करते हैं ।) [**प्रश्न**—यदि हमारे अनुमान प्रकार को स्वीकार करते हो तो फिर इस विषय में क्या कहना चाहते हो ? अतः कहते हैं ।"] **नहीति**—इसप्रकार की प्रतीति (अर्थात् "**सभ्यो रसादिप्रतीतिमान् विभावादिप्रतीतिमत्त्वात्**" इसप्रकार अनुमान गम्य रसादिविषयक ज्ञान) रसादि स्वरूप से हमको (व्यंजनावादियों को) अभिमत नहीं हैं । किन्तु आत्मस्वरूप प्रकाश मात्र में विषयीकृत अर्थात् ज्ञानस्वरूप (अनुमानादि के द्वारा प्रकाश्य नहीं) और निरन्तर आनन्द से व्याप्त (रस ही अस्वादरूप से हमको अभिमत है और वैसा ही सहृदय सामाजिकों से अनुभव किया जाता है ।) (आपके मत में अनुमान गम्य रस के अन्दर निरन्तर आनन्द की निर्भरता और स्वप्रकाशता रसादिविषयक ज्ञान की सम्भव नहीं हो सकती है ।] अतः (रसादिविषयक प्रतीति और रसादिरूप प्रतीति के भेद से उसप्रकार की अनुमिति से आस्वाद्यत्व के अस्वीकार करने से) यहाँ ("**सभ्यो रसादिमान् विभावादिप्रतीतिमत्त्वात्**" सिद्ध करने की इच्छा वाले अर्थ से (स्वप्रकाशा-नन्दरूप से) भिन्न अर्थ के (रसादि विषयक प्रतीति के) सिद्ध करने से हेतु की (**विभावादिप्रतीतिमत्त्वात्**) आभासता (दुष्ट हेतुता) है । [अनुमिति के अन्दर जिस हेतु से जिस कार्य को सिद्ध किया जाता है, वह कार्य अवश्यम्भावी होता है । यदि उस हेतु से अभिप्रेत कार्य सिद्ध नहीं होता है तो तभी उस हेतु की आभासता है क्योंकि अनुमिति नियत हेतु वाली होती है । प्रकृत विषय में जिस हेतु ने रस को अनुमान के अन्दर सिद्ध करना था, उस रस को तो अनुमेय सिद्ध कर नहीं सका अपितु और ही वस्तु को (रामादिगत अनुराग को) अनुमान से सिद्ध कर दिया । अतः अर्थान्तर का साधक होने के कारण यह हेतु नहीं, हेत्वाभास है । "**विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम् ।**"]

यच्च 'भम धम्मिग्र—' इत्यादौ प्रतीयमानं वस्तु ।

'जलकेलितरलकरतलमुक्तपुनःपिहितराधिकावदनः ।
जगदवतु कोकयूनोर्विघटनसंघटनकौतुकी कृष्णः ॥'

इत्यादौ च रूपकालङ्कारादयोऽनुमेया एव । तथाहि—अनुमानं नाम पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनो ज्ञानम् ।

अवतरणिका—इसप्रकार रसादि की अनुमान से अगोचरता का प्रतिपादन करके वस्तुव्यंग्य और अलंकारव्यंग्य का भी अनुमान से ही बोध हो जायेगा, उनके लिये भी व्यंजनावृत्ति को पृथक् रूपेण स्वीकार नहीं करना चाहिये—**व्यक्तिविवेककार** के इस मत का खण्डन करने के लिये **पूर्वपक्ष** उठाते हैं।

अर्थ—पूर्वपक्ष—और जो "**भम धम्मिग्र** "इत्यादि में व्यज्यमान (भ्रमण अभाव रूप) वस्तु है [वह अनुमेय ही है,—**तथा च**—"**गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वात् यन्नैवम् तन्नैवं यथा गृहम्**"—यह भ्रमण के अभाव की अनुमिति है।] तथा **जलेति**—(राधिका के साथ) जल-क्रीडा के समय चञ्चल हाथों से पहले छोड़ दिया है तथा पुनः आच्छादित कर लिया है राधिका का मुख जिसने ऐसे अतएव युवक चक्रवाक दम्पती के वियोग और संयोग कराने में कौतुकी कृष्ण संसार की रक्षा करें" । [कहने का आशय यह है कि रात्रि में चक्रवाक दम्पती एक दूसरे से वियुक्त हो जाते हैं और दिन में पुनः मिल जाते हैं, ऐसी लोकप्रसिद्धि है । यहाँ पर भी जलक्रीडा के समय जब श्रीकृष्ण जी अपने हाथ से राधिका के मुख पर जल के छींटे देते हैं तब तो राधिका अपने मुख को ढक लेती है । मुखचन्द्र के ढक लेने से चन्द्रमा की अनुपलब्धि से रात्रि का अभाव समझकर चक्रवाक दम्पती का मिलन हो जाता है और जब श्रीकृष्ण जी जल के छींटे नहीं देते हैं तब मुखचन्द्र के हाथों से ढके न होने के कारण चक्रवाक दम्पती चन्द्रमा की बुद्धि से रात्रि समझकर वियुक्त हो जाते हैं । यह श्रीकृष्ण जी के कौतुक का वर्णन है । यहाँ राधिका के मुख में चन्द्रमा के आरोप की वाच्यता के अभाव से व्यज्यमान रूपकालंकार है ।] इत्यादि में (राधिका के मुख में चन्द्रत्व का आरोप करने से रूपकालंकार है) रूपकालंकारादि अनुमेय ही है ।

[**वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥**

इसप्रकार **व्यक्तिविवेककार** के अनुसार अनुमिति के ही विषय है, व्यंग्य के नहीं। **अनुमानवाक्य** इसप्रकार है—**राधिकावदनं चन्द्रः आत्मदर्शनादर्शनाभ्यां चक्रवाकविघटनसंघटनकारित्वात्**" इति] (अनुमेयता दिखाते हैं) तथाहि—(अनुमान का लक्षण) "**अनुमानं नाम पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनो ज्ञानम्**" अर्थात् पक्ष में रहने वाले (पक्ष का लक्षण–"**संदिग्धसाधकः सिसाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाववान्वा पक्षः**" यथा–**बह्निसाधकधूमहेतौ साध्यसन्देहसत्वेनपर्वतः पक्षः**], सपक्ष में रहने वाले [सपक्ष का लक्षण—**निश्चितसाध्यवान्** सपक्षः, यथा–**तादृशस्थलेम हानसम्**] विपक्ष से व्यावृत्ति वाले [विपक्ष का लक्षण –**साध्याभाववान् विपक्षः**, यथा–**तादृशस्थले ह्रदः**] विशिष्ट लिङ्ग से (हेतु से) लिङ्गी का (साध्य का) ज्ञान **अनुमान** कहलाता है।

ततश्च वाच्यादसंबद्धोऽर्थस्तावन्न प्रतीयते। अन्यथाऽतिप्रसङ्गः स्यात्, इति बोध्यबोधकयोरर्थयोः कश्चित्संबन्धोऽस्त्येव। ततश्च बोधकोऽर्थो लिङ्गम्, बोध्यश्च लिङ्गी, बोधकस्य चार्थस्य पक्षसत्त्वं निबद्धमेव। सपक्षसत्त्वविपक्ष-व्यावृत्तत्वे अनिबद्धे अपि सामर्थ्यादवसेये।

[तथा च–"पर्वतो बह्निमान् धूमात्"—इस अनुमान में धूम के हेतु होने पर पर्वत पक्ष है(क्योंकि वह धूम हेतु पर्वत में विद्यमान है), धूम के ही हेतु होने पर महानसादि सपक्ष है (क्योंकि महानसादि में धूम की सत्ता निश्चित है), धूम के ही हेतु होने पर जलाशयादि विपक्ष हैं (क्योंकि वहाँ धूम की विद्यमानता नहीं है) इसप्रकार धूम के दर्शन से बह्निरूप साध्य का ज्ञान अनुमिति है। इसकी पूर्णरूपेण व्याप्ति इसप्रकार है–**पर्वतो बह्निमान्** (प्रतिज्ञा), **धूमवत्त्वात्** (हेतु), **यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र बह्निः** (व्याप्ति), **यथा महानसम्** (उदाहरण), **अतः पर्वतो बह्निमान्** (उपनय), **तस्मात्तथेति** (निगमन)। **इन पञ्चावयवोपपन्न अनुमान से किसी वस्तु का ज्ञान किया जाता है।] [वाच्य से व्यंग्य की प्रतीति होती है, अतः वाच्यार्थ को लिङ्गत्त्वेन स्वीकार करके उसमें पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति— ये तीन प्रतिपादित करते हैं।]**

अर्थ–ततश्चेति–अतः (उसप्रकार के अनुमान से प्रकृत में भी यह मानना पड़ेगा कि) वाच्य (अभिधेय) अर्थ से असम्बद्ध अर्थ की (तात्पर्य के विषयीभूत सम्बन्ध से शून्य पदार्थ की) प्रतीति नहीं होती है (किन्तु तात्पर्य के विषयीभूत यत्किञ्चित् सम्बन्ध विशिष्ट अर्थ ही वाच्य से प्रतीत होता है) अन्यथा (असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति स्वीकार कर लेने पर) अतिव्याप्ति होगी [अर्थात् अज्ञेय पदार्थ का भी ज्ञान हो जायेगा। यदि असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होने लगेगी तब तो जिस किसी भी अर्थ से जिस किसी भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। जिसप्रकार "**भम धम्मिअ**" यहाँ पर भ्रमण के अभाव की प्रतीति होती है उसीप्रकार घट के अभाव की भी प्रतीति हो जायेगी।] अतः बोध्य (अनुमेय) और बोधक (अनुमापक) अर्थ का कोई सम्बन्ध (प्रकृत में तात्पर्य के विषयीभूत भ्रमणाभाव रूप सम्बन्ध) है ही। इस-लिये (बोध्य और बोधक के अन्दर सम्बन्ध के अवश्य होने से) प्रकृत में "**भम धम्मिअ**" यहाँ बोधक अर्थ (वाच्यार्थ) लिङ्ग (हेतु) है और बोध्य अर्थ (व्यंग्यार्थ) लिङ्गी (साध्य) है और बोधक अर्थ (भ्रमणरूप वाच्यार्थ) की पक्ष (धार्मिक) में सत्त्व(विद्यमानता) कहने वाली नायिका ने "भ्रम" इस पद से निबद्ध कर ही दी। तथा सपक्षसत्त्व और विपक्ष से व्यावृत्ति के कथन न करने पर भी (नायिका के द्वारा शब्द से न कहने पर भी) सामर्थ्य से (संस्कार बल से) जान लेने चाहिये [जिसप्रकार "**पर्वतो बह्निमान् धूमात्**" यहाँ पर धूम की महानसादि सपक्ष में विद्यमानता और जलाशयादि विपक्ष में अविद्यमानता प्रतीत हो जाती है उसीप्रकार प्रकृत "**भम धम्मिअ**" में भी समझ लेनी चाहिये।]

तस्मादत्र यद्वाच्यार्थाल्लिङ्गरूपाल्लिङ्गिनो व्यङ्ग्यार्थस्यावगमस्तदनुमान एव पर्यवस्यति' इति। तन्न, तथा ह्यत्र 'भम धम्मिअ—' इत्यादौ गृहे श्वनिवृत्त्या विहितं भ्रमणं 'गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति' इति यद्वक्तव्यं तत्रानैकान्तिको हेतुः। भीरोरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण वा गमनस्य संभवात्। पुंश्चल्या वचनं प्रामाणिकं न वेति संदिग्धासिद्धश्च।

अर्थ–(उपसंहार करते हैं) **तस्मादिति**–अतः यहाँ (**"भम धम्मिअ"** इत्यादि में) हेतु वाच्यार्थ से(भ्रमण विधिरूप) साध्य (लिङ्गी) व्यंग्य अर्थ का (भ्रमण निषेधरूप) जो ज्ञान होता है,वह अनुमान के अन्दर ही पर्यवसित हो जाता है।[अतःउसके ज्ञानके लिये व्यंजना का स्वीकार करना व्यर्थ ही है।]**उत्तरपक्ष(व्यक्तिविवेककार के इस** मत का खण्डन करते हैं) **तन्नेति**–तुमने जो कहा है वह ठीक नहीं है क्योंकि ये–**तथाहि**–यहाँ **"भम धम्मिअ"** इत्यादि में कुत्ते के मर जाने से घर के अन्दर विहित (नायिका के द्वारा धार्मिक को कहा हुआ) भ्रमण गोदावरी के किनारे (नायिका द्वारा कहे हुये) सिंह की उपलब्धि से (सामाजिकों को) अभ्रमण का अनुमान कराता है, यह जो कहा है उसमें **अनैकान्तिक** हेतु है। [यहाँ कुत्ते के मर जाने से घर के अन्दर विहित भ्रमण **लिङ्ग** है और वह भीरुता में पर्यवसित है,सिंह के कारण गोदावरी के किनारे अभ्रमण साध्य है, धार्मिक **पक्ष** है और सामाजिक **अनुमाता** है। इसकी **व्यतिरेकव्याप्ति** इसप्रकार है:–**"गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा गृहम्** "इति"।] [**अनैकान्तिक का** लक्षण–**एकमात्रव्याप्तिग्राहकसहचारवानैकान्तिकस्तदन्योऽनैकान्तिकः**' अर्थात् जो हेतु अपने साध्य के साथ निश्चितरूप से नहीं रहता है,वह अनैकान्तिक हेतु होता है यहाँ भीरु भ्रमण हेतु है और सिंह के स्थित होने के कारण गोदावरी के किनारे भ्रमण मात्र साध्य है। यदि भय युक्त स्थान पर भीरु का भ्रमण कभी होता ही नहीं तब तो भीरु भ्रमण होने के कारण गोदावरी के किनारे धार्मिक के भ्रमण का अभाव सिद्ध हो सकता था परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।] क्योंकि **भीरोरपीति**— भीरु व्यक्ति का भी (वीर का तो कहना ही क्या) (छात्र होने पर) गुरु की अथवा (दास होने पर) प्रभु की आज्ञा से और प्रिया के अनुराग से (भीति जनक स्थान पर) भ्रमण (जाना) सम्भव हो सकता है। [अतः हेतु के "**अनैकान्तिक**" होने से साध्य(अभ्रमण रूप साध्य)सिद्ध नहीं हो सकता।] (**हेतु के अन्दर दूसरा दोष दिखाते हैं**) **पुंश्चल्या इति**—कुलटा का वचन (**"भम धम्मिअ"** यह वचन) प्रामाणिक है या नहीं है, इसप्रकार संदिग्ध होने से **असिद्ध** हेतु है। **तथा च–"भम धम्मिअ"** यह वाक्य धार्मिक को भय उत्पन्न करने वाला है अथवा कुत्ते के काटने की शंका से संकुचित भ्रमण वाले उसको स्वच्छन्द भ्रमण का विधायक है, इसप्रकार सामाजिकों के सन्देह से "भीरुता का सन्देह" है, अतः हेतु के सन्दिग्ध होने से असिद्ध हेतु है। अनुमान के अन्दर असन्दिग्ध हेतु आवश्यक है, यहाँ वैसा है नहीं, अतः हेतु के सन्दिग्ध होने के कारण यहाँ अनुमान नहीं हो सकता है।]

'जलकेलि–' इत्यत्र 'य आत्मदर्शनादर्शनाभ्यां चक्रवाकविघटनसंघटनकारी स चन्द्र एव' इत्यनुमितिरेवेयमिति न वाच्यम्, उत्त्रासकादावनैकान्तिकत्वात्। 'एवंविधोऽर्थ एवंविधार्थबोधक एवंविधार्थत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्' इत्यनुमानेऽप्याभाससमानयोगक्षेमो हेतुः। 'एवंविधार्थत्वात्' इति हेतुना एवंविधानिष्टसाधनस्याऽप्युपपत्तेः।

अवतरणिका—इसप्रकार वस्तु रूप व्यंग्य की अनमेयता का खण्डन करके अब अलंकार रूप व्यंग्य की अनुमेयता का खण्डन करते हैं।

अर्थ—जलकेलीति—"जलकेलि" यहाँ जो यह अनुमान किया जाता है कि "जो अपने दर्शन से चक्रवाकों का वियोग और अदर्शन से संयोग करा देने वाला है वह (राधा का मुख) चन्द्रमा ही है" (**"राधिकावदनं चन्द्रः आत्मदर्शनादर्शनाभ्यां चक्रवाकविघटनसघटनकारित्वात्"**) यह अनुमिति ही है यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि भयप्रदादि में ("आदि" पद से वियोग के हेतु रात्रि के साधर्म्य से अन्य का भी ग्रहण हो जाता है) **अनैकान्तिक हेतु** होने से। [कहने का आशय यह है कि जिसे देखकर चक्रवाक दम्पती वियुक्त हो जावें और न देखने पर मिले रहें, वह चन्द्रमा ही हो, यह नियम नहीं है। कोई व्यक्ति हाथ आदि से डराकर भी चक्रवाक दम्पती को परस्पर एक दूसरे से वियुक्त कर सकता है, सूर्य भी अपने प्रकाश से दिन का ज्ञान कराकर उन दोनों को परस्पर मिला सकता है, अतः चन्द्रत्वारोप रूप साध्य राधिका के मुख रूप पक्ष में जैसे चक्रवाक दम्पती के वियोग और मिलन को कराने वाले हेतु की विद्यमानता है, उसीप्रकार उसके अभाव वाले उसप्रकार के डराने वाले व्यक्ति में भी वियोग और मिलन कराने की हेतुता है। तथा प्रकाश विधायक विपक्ष में उक्त हेतु की विद्यमानता से यहाँ भी पहले की तरह (**"भम धम्मिअ"**) साधारणरूप **अनैकान्तिक** नामक **हेत्वाभास** है। तथा तादात्म्य सम्बन्ध से साध्य चन्द्रमा के मुख में वाध होने से "वाधरूप" भी हेत्वाभास है, ऐसा समझना चाहिये।] [**प्रदर्शित अनुमान वाक्य में हेतु के व्यभिचारी होने के भय से अव्यभिचारी हेतु से अनुमान वाक्य दिखाकर उसका भी खण्डन करते हैं**] **एवंविध इति**—इसप्रकार का अर्थ (**"भम धम्मिअ"** इत्यादि में भ्रमण विधान अर्थ), इसप्रकार के अर्थ का बोधक है (गोदावरी के किनारे भ्रमण अभाव रूप अर्थ का जनक है), इसप्रकार के अर्थ के होने से (गोदावरी के किनारे सिंह के आ जाने से गृह के पास ही भ्रमण विधानरूप अर्थ के होने से) [इसीप्रकार "जलकेलि" इत्यादि में भी इस-

तथा यत् 'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाऽप्यस्मद्गृहे—' इत्यादौ नलग्रन्थीनां तनूलिखनम्, एकाकितया च स्रोतोगमनम्, तस्याः परकामुकोपभोगस्य लिङ्गिनो लिङ्गमित्युच्यते। तच्चात्रैवाभिहितेन स्वकान्तस्नेहेनाऽपि संभवतीत्यनैकान्तिको हेतुः।

प्रकार का अर्थ (राधिका का मुख चन्द्रमा है, इसप्रकार का अर्थ), इसप्रकार के अर्थ का बोधक है (राधिका के मुख में चन्द्रमा के आरोप से रूपकालङ्कार की प्रतीति कराने वाला है) इसप्रकार का अर्थ होने से (अपने दर्शन और अदर्शन से चक्रवाक दम्पती को सघटन और विघटन कराने वाले अर्थ के होने से—इसप्रकार की व्याप्ति से कहीं भी हेतु के अन्दर व्यभिचार दोष नहीं आता है। यहाँ पक्षीभूत वाक्यार्थ से ज्ञान कराने में समर्थ जो-जो अर्थ हैं वे सभी साध्य कोटि के अन्तर्गत **"एवंविध"** इस शब्द से ग्रहण किये जाने चाहिये, अन्यथा वक्ता के अभिलषित ही अर्थ विशेष के साध्य होने पर **"गतोऽस्तमर्कः"** इत्यादि में वक्ता के अभिलषित अर्थ का ज्ञान कराकर दूसरे अर्थ का ज्ञान कराने में व्यभिचार दोष आ जाता है। इसीप्रकार यहाँ हेतु पक्षमात्र वृत्ति होनेसे अन्वय का उदाहरण असम्भव होने से **"अन्वयव्याप्ति"** का ग्रहण नहीं हो सकता है, अतः व्याप्ति के ग्रहण के लिये **व्यतिरेक व्याप्ति** का उदाहरण दिखाते हैं।] **यन्नैवमिति**—जो अर्थरूप वस्तु ऐसी नहीं है (इसप्रकार के अर्थ का ज्ञान कराने वाली नहीं है) वह ऐसी नहीं है (इसप्रकार के अर्थ का ज्ञान न कराने के कारण भ्रमण के अभाव का ज्ञान कराने वाली नहीं है—**यथा—घट उत्पद्यते इति वाक्यवत्**—यह दृष्टान्त समझना चाहिये] ऐसा अनुमान होने पर भी व्यभिचारादिरूप हेतु दोष के समान कार्य साधक हेतु है अर्थात् हेत्वाभास है। क्योंकि **"एवंविधार्थत्वात्"** इस हेतु से इसप्रकार के अनिष्ट अर्थ (जो वक्ता को अभिलषित नहीं हैं ऐसे घटपटादि का भी) के साधन की भी उपपत्ति हो सकती है। [अर्थात् जिसप्रकार दुष्ट हेतु के प्रयोग से वादी की विजय हो सकती है उसीप्रकार दूसरे अर्थ को सिद्ध करने वाले प्रयोग से भी हेत्वाभास होता है। इति]।

अवतरणिका—दूसरे उदाहरण के अन्दर व्यभिचार हेतु को दिखाते हैं।

अर्थ—इसीप्रकार जो **"दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि ! क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे······"** इत्यादि में नलग्रन्थियों द्वारा शरीर के अवयवों का क्षत–विक्षत हो जाना, अथवा अकेले नदी पर जाना, उसका (कहने वाली नायिका का) पति से अतिरिक्त कामीजन के उपभोगरूप लिङ्गी (साध्य) का लिङ्ग (तादात्म्य हेतु) है, यह कहा जाता है। [**अनुमानवाक्य**—इसप्रकार है—**इयं परकामुकोपभोगवती, नलग्रन्थिना स्तनदारणसम्भावनासत्त्वेऽपि स्रोतोगमने एकाकिप्रवृत्तित्वात्**" इति। यहाँ कविके **स्तनाघात और**

यच्च 'निःशेषच्युतचन्दनम्—' इत्यादौ दूत्यास्तत्कामुकोपभोगोऽनुमीयते, तत्किं प्रतिपाद्यया दूत्या, तत्कालसंनिहितैर्वान्यैः, तत्काव्यार्थभावनया वा सहृदयैः ?

आद्ययोर्न विवादः। तृतीये तु तथाविधाभिप्रायविरहस्थले व्यभिचारः।

स्रोतोगमन इनके पृथक् कहने पर भी पृथक् दो हेतु नहीं हैं किन्तु वे दोनों हेतु के विशेषण ~~ही हैं, यह~~ समझना चाहिये]। यह ठीक नहीं क्योंकि वह (पहले कहे हुये लिङ्ग) यहीं (**"दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि"** इत्यादि श्लोक में ही) कहे हुये (**"प्रायेणास्य शिशोः"** इत्यादि) अपने पति के स्नेह से भी ("अपि" से "अपने पति के भय से भी" यह भी समझना चाहिये) हो सकता है। अतः (साध्यपक्षमात्र में अनिश्चित होने के कारण) **अनैकान्तिक हेतु** है।

टिप्पणी— कहने का आशय यह है कि परपुरुष सङ्ग की इच्छारूप साध्य-नायिका पक्ष में और परपुरुष संग की इच्छारूप साध्य के अभाव वाले अपने प्रेमी पति की नायिकारूप विपक्ष में भी हेतु के होने के कारण अर्थात् नलग्रन्थियों द्वारा शरीर का क्षत-विक्षत होना और एकाकी नदी पर जाना यह हेतु पक्ष और विपक्ष दोनों में समानभाव से विद्यमान है जबकि हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति होनी चाहिये। अतः **अनैकान्तिक** नामक **हेत्वाभास** है।

अवतरणिका—एक अन्य उदाहरण के अन्दर व्यभिचार हेतु दिखाते हैं।

अर्थ—और जो **"निःशेषच्युतचन्दनम्······"** इत्यादि में दूती का कामीपुरुष के साथ सम्भोग अनुमित होता है, (चन्दन-च्यवनादि यहाँ हेतु हैं) वह क्या (इस पद्य की) प्रतिपाद्य दूती के द्वारा अनुमित होता है, अथवा उस समय (**"निःशेषच्युतचन्दनम्······"** इत्यादि के प्रतिपादन के समय में) नायिका के समीप विद्यमान अन्य सखीजनादिकों से अनुमित होता है, अथवा इस काव्य के अर्थ के परिशीलन से सहृदय सामाजिकों के द्वारा अनुमित होता है? (इन तीन पक्षों में से) पहले दो पक्षों के विषय में कोई विवाद नहीं है। [क्योंकि चन्दन-च्यवन आदि स्नानादि से हो सकते हैं। चन्दन च्यवन आदि केवल कामोपभोग में ही प्रतिनियत नहीं हैं, तथा सम्भोग के व्यभिचारी होने पर भी दूती के कथन के समय पास विद्यमान अन्य व्यक्तियों की सैंकड़ों विशेषताओं के लक्षित होने से व्यभिचार ज्ञान के उदय न होने से व्याप्ति ग्रह सम्भव हो सकता है।] परन्तु यदि तीसरा पक्ष मानो तो (**"तत्काव्यार्थभावनया सहृदयैरनुमीयते"**) उसप्रकार के अभिप्राय के न होने की अवस्था में (अर्थात् **"निःशेषच्युत चन्दनं······"** इत्यादि पदों से जब सम्भोगजन्य ज्ञान की प्रतीति नहीं होगी तब) व्यभिचार दोष आता है।

टिप्पणी—कहने का आशय यह है कि जब **"निःशेषच्युतचन्दनं···"** इत्यादि में केवल यह अर्थ अभिप्रेत होगा कि "तू स्नान करने चली गई और उसके पास नहीं गई" तो यहाँ पर व्यभिचार होगा। क्योंकि यह कोई नियम नियत नहीं है कि इस-प्रकार के शब्दों से सभी स्थलों पर ऐसा ही अर्थ बोधित हो। इस अवस्था में व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता।

ननु वक्त्राद्यवस्थासहकृतत्वेन विशेष्यो हेतुरिति न वाच्यम्। एवंविधव्याप्त्यनुसंधानस्याभावात्।

किञ्चैवंविधानां काव्यानां कविप्रतिभामात्रजन्मनां प्रामाण्यानावश्यकत्वेन संदिग्धासिद्धत्वं हेतोः।

व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेवैषां पदार्थानां व्यञ्जकत्वमुक्तम्, तेन च तत्कान्तस्याधमत्वं प्रामाणिकं न वेति कथमनुमानम्।

अवतरणिका—यदि सामान्यतः चन्दन-च्यवनादि की हेत्वाभास से अनुमिति नहीं हो सकती है, तब किसी विशिष्ट हेतु को मान लिया जायेगा ? इसका निराकरण करते हैं—

अर्थ—वक्ता आदि की अवस्था से ("आदि" पद से स्तनाकर्षण, नखक्षत और अधरपान का ग्रहण होता है) अथवा मुख आदि की अवस्था से (कामुकतादि विशिष्ट अवस्था से) सहकृत चन्दन-च्यवनादि हेतु विशिष्ट कर लेना चाहिये, यह भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि इसप्रकार विशेषण विशिष्ट व्याप्ति का अनुसन्धान सम्भव ही नहीं है। (श्लोक के अन्दर उसप्रकार का कोई विशेषण नहीं है)।

टिप्पणी—वक्ता अथवा मुख की विशेष अवस्थायें न तो शब्द से उपस्थित होती हैं और न हो ही सकती हैं। तथा न किसी अन्य प्रमाण के होने के कारण उस-प्रकार के विशिष्ट हेतु के अन्तर्भाव से व्याप्ति का ग्रहण सम्भव है।

अर्थ—तथा इसप्रकार के (**"निःशेषच्युतचन्दनम्..."** इत्यादि रूप) केवल कवि के कल्पना कौशल से उत्पन्न होने वाले काव्यों की प्रामाणिकता (श्रुति आदि के वचन की तरह) के निश्चय के अभाव से (अर्थात् कवि प्रतिभा से निर्मित काव्यों के लिये आवश्यक नहीं है कि वे प्रामाणिक हों) हेतु के सन्दिग्ध होने से (क्या यह कामिनी परपुरुष के सम्भोग की कामना से नदी पर पानी लाने के लिये गई अथवा अपने पति के स्नेहाधिक्य के कारण गई ?) **असिद्धत्व हेतु** है। [पुनः अनुमान किसप्रकार हो सकता है।] और व्यक्तिवादी ने (व्यञ्जना के व्यवस्थापक आलंकारिक ने) अधम पद के सहायक ही (**"तस्याधमस्यान्तिकम्"** यहाँ नायक में अधमता निकृष्ट जातीय दूती के साथ रमण करने से है) इन पदार्थों की (**चन्दन-च्यवनादिकों की**) व्यञ्जकता (व्यंग्य से बोधकता) कही है। और इससे उसके पति की अधमता प्रामाणिक है या नहीं इस सन्दिग्धावस्था में विद्यमान हेतु से किसप्रकार अनुमान हो सकता है ?

टिप्पणी—काव्य के अन्दर वर्णित रीति के अनुसार प्रामाणिकता के निश्चय के अभाव में "अधमत्व" की पक्षधर्मता का सन्देह होने के कारण अनुमान किसप्रकार किया जा सकता है और नायक के अधमता के अनिश्चय से पहले की तरह सन्दिधसिद्धि है और यदि नायक की अधमता को प्रामाणिक मान भी लें तब भी यदि दूती की उसके पास जाने की इच्छा नहीं हो तब भी अनुमान नहीं हो सकता है।

प्रश्न—यह दोष तो व्यञ्जना को स्वीकार करने पर भी आता है। पुनः व्यञ्जना कैसे घटित होगी ? **उत्तर**—ऐसी बात नहीं है क्योंकि व्यञ्जना के अन्दर व्याप्ति की आवश्यकता नहीं है अतः सम्भावना मात्र से ही व्यञ्जना की प्रतीति हो जाती है। अतः व्यञ्जनावादियों के मत में किसीप्रकार का दोष नहीं आता है।

एतेनार्थापत्तिवेद्यत्वमपि व्यङ्ग्यानामपास्तम् । अर्थापत्तेरपि पूर्वसिद्ध-व्याप्तीच्छामुपजीव्यैव प्रवृत्तेः । यथा—'यो जीवति स कुत्राऽप्यवतिष्ठते, जीवति चात्र गोष्ठ्यामविद्यमानश्चैत्रः' इत्यादि ।

किञ्च वस्त्रविक्रयादौ तर्जनीतोलनेन दशसंख्यादिवत्सूचनबुद्धिवेद्योऽप्ययं न भवति, सूचनबुद्धेरपि सङ्केतादिलौकिकप्रमाणसापेक्षत्वेनानुमानप्रकारताङ्गी-कारात् ।

अवतरणिका—"**अर्थापत्ति**" के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतोति हो सकती है । इसका खण्डन करते हैं—

अर्थ—इससे (हेत्वाभास अनुमान से) व्यंग्यार्थों का (रसादिकों का) (**भाट्टमीमांसक "अर्थापत्ति" नामक पांचवां प्रमाण स्वीकार करते हैं**) **अर्थापत्ति** प्रमाण से बोधित होना भी खण्डित हो गया । (क्योंकि) पूर्व सिद्ध व्याप्तिज्ञान का आश्रय लेकर ही **अर्थापत्ति प्रमाण अर्थात्–अर्थस्य-अपरार्थस्य आपत्तिः—आक्षेपः अर्थापत्तिः**) की प्रवृत्ति होती है । **यथा–"यो जीवति स कुत्राप्यवतिष्ठते,जीवति चात्र गोष्ठ्यामविद्यमानश्चैत्रः"** अर्थात् "जो जीता है, वह कहीं(गोष्ठी भिन्न स्थान पर) अवश्य रहता है, चैत्र जीता है परन्तु गोष्ठी में विद्यमान नहीं है" इत्यादि ।

टिप्पणी—(१) "क्योंकि चैत्र जीता है अतः गोष्ठी भिन्न स्थान पर कहीं अवश्य रहता है" यह अर्थापत्ति प्रमाण से प्रतीत होता है । यहाँ "जीता है—**जीवति**" यह व्याप्ति का ज्ञान कराने वाला है । क्योंकि जीवितत्व किसी स्थान की अवस्थिति से व्याप्य ज्ञान की अपेक्षा करता है । अतः व्याप्तिज्ञान के साथ ही अर्थापत्ति की प्रवृत्ति होती है । "**जीवति च**" इससे अर्थापत्ति का ज्ञान होता है । इसप्रकार व्यंग्यार्थ अर्थापत्ति गम्य नहीं है क्योंकि वहाँ व्यभिचार और सन्देह आदि दोषों के कारण व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता ।

(२) **जैमिनी शासन** में अर्थापत्ति प्रमाणरूप से जानी गई है । वह अर्थापत्ति—दो प्रकार की होती है—(१) दृष्ट और (२) श्रुत । (१) **दृष्टार्थापत्ति-एकस्मिन् पक्षे आत्मभावो गृहीश्चेदन्यस्मिन्नपि आत्मभावो गृह्यत एव** (२) **श्रुतार्थापत्ति-यथा-दिवा देवदत्तो न भुङ्क्ते, अथ च पीनो दृश्यते । अतोवगम्यते रात्रौ भुङ्क्ते इति ।।**"

अवतरणिका—इसप्रकार व्यंग्यार्थों की (रसादिकों की) अनुमान से अगम्यता दिखाकर, कुछ व्यक्ति "**सूचना**" नामक किसी व्यापार को स्वीकार करते हैं । उनका कहना है कि इस "**सूचना**" नामक व्यापार से व्यंग्यार्थ का ज्ञान हो जायेगा । इस मत का खण्डन करते हैं—

अर्थ—तथा, वस्त्र बेचने आदि के समय अंगुली उठाने से दस संख्या की तरह (जिसप्रकार अंगुली उठाने के आधीन सूचना बुद्धिगम्य है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी बुद्धिगम्य है) संकेत (**सूचनं–सूच्यतेऽनेनेति सूचनं हस्तचेष्टादिसङ्केतविशेषः**) विषयिजी बुद्धि से ज्ञेय भी यह (व्यंग्यरूप अर्थ) नहीं है । क्योंकि (**सूचना** का **अनुमान** में

यच्च 'संस्कारजन्यत्वाद्रसादिबुद्धिः स्मृतिः' इति केचित्। तत्रापि प्रत्यभिज्ञायामनैकान्तिकतया हेतोराभासता।

अन्तर्भाव दिखाते हैं) सूचन बुद्धि के भी संकेतादि लौकिक प्रमाणों के सापेक्ष होने से (**यत्र यत्रोर्ध्वतर्जनी तत्र तत्र दशसंख्येति**--यह कथन पूर्व गृहीत व्याप्ति से ही प्रतीत होता है।) अनुमान की प्रकारता स्वीकार करने से। [**आशय** यह है कि जहाँ पहले से संकेत किया रहता है, वहीं तर्जनी उठाने से दस का ज्ञान होता है। विना संकेत ज्ञान के सूचन बुद्धि की उत्पत्ति नहीं होती, अतः वह भी एक प्रकार का अनुमान ही है। रस जब अनुमानगम्य नहीं है तो इसप्रकार की बुद्धि का विषय भी नहीं हो सकता]

टिप्पणी—कहने का अभिप्राय यह है कि—जब कोई वणिक् किसी ग्राहक से इसप्रकार का संकेत करता है कि—अधिक ग्राहकों के होने पर जब आप किसी वस्त्र का मूल्य जानना चाहें तो दूसरों से उसका मूल्य छिपाने के कारण मैं जब इसप्रकार अंगुली उठाऊँ तब आप दस संख्या समझें" इत्यादि। इसी अवस्था में ही ग्राहक वणिक् के अंगुली उठाने पर दस संख्या समझता है। यदि उसप्रकार का संकेत नहीं होगा तो नहीं समझ सकता है। अतः यदि वहाँ व्यभिचार की शंका नहीं है तो ग्राहक की दस संख्या ज्ञान की सूचनबुद्धिरूप अनुमिति ही है। **अनुमानवाक्य** इसप्रकार होगा—**"एतद्वसनं दसरूप्यकमूल्यकं, प्राक् सूचिततर्जनीतोलनबोधितत्वात्"**। इसप्रकार रसादि के ज्ञान के लिये काव्य शब्दों में उसप्रकार के संकेतग्रह न होने से रसादिकों में सूचना बुद्धिरूप अनुमिति का काव्य शब्दों से प्रतिपादन नहीं हो सकता और इसप्रकार **चन्दन-च्यवनादि** में व्यभिचारग्रह से सम्भोगादि बुद्धि व्यंज्जना के आधीन ही है।

अवतरणिका—**"स्मृति र्न च रसादिधीः"** इस कारिका के अर्थ को स्पष्ट करते हैं।

अर्थ—और जो कोई **"रसादिबुद्धिः स्मृतिः संस्कारजन्यन्त्वात्"** अर्थात् रसादिबुद्धि स्मृति है, (वासना नामक) संस्कार से उत्पन्न ज्ञान होने के कारण, इस अनुमान से रसादिरूप व्यंग्यार्थ मात्र ज्ञान की "स्मृति रूपता" स्वीकार करते हैं। [**कहने का आशय यह है** कि वासना के बल से अतीत घटादि ज्ञान की तरह काव्यार्थ की वासना के बल से सामाजिकों को जो रसज्ञान होता है, वह स्मृतिरूप ही है। अतः अनुमानगम्य होने के कारण उसके लिये व्यंजना को स्वीकार करना व्यर्थ ही है।] **खण्डन**—यह ठीक नहीं, क्योंकि उसमें भी (स्मृति में भी) प्रत्यभिज्ञा में—"सोऽयम्"—इत्याकारिक ज्ञान में [**प्रत्यभिज्ञा** का लक्षण—**प्रत्यभिज्ञा नाम अनुभूतपदार्थस्य पुनरनुभवः**"। यथा—**"पाटलिपुत्रे यो मया दृष्टः स एवायं पुरुषः"** इति] अनैकान्तिक होने के कारण (साध्य के विना विद्यमान होने के कारण) हेतु की (संस्कार जन्य ज्ञान की) व्यभिचारिता (आभासता) है।

टिप्पणी—(१) **"पाटलिपुत्रे यो मया दृष्टः स एवाय पुरुषः"** इसके अन्दर "सः" इतना अंश स्मृति का है और **"अयम्"** अंश प्रत्यक्ष का है। यह प्रत्यभिज्ञा भी

'दुर्गालङ्घित—' इत्यादौ च द्वितीयार्थो नास्त्येव—इति यदुक्तं महिमभट्टेन तदनुभवसिद्धमपलपतो गजनिमीलिकैव।

तदेवमनुभवसिद्धस्य तत्तद्रसादिलक्षणार्थस्याशक्यापलापतया तत्तच्छब्दाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायितया चानुमानादिप्रमाणावेद्यतया चाभिधादिवृत्तित्रयाबोध्यतया च तुरीया वृत्तिरुपास्यैवेति सिद्धम्। इयं च व्याप्त्याद्यनुसन्धानं विनाऽपि भवतीत्यखिलं निर्मलम्।

संस्कार से उत्पन्न होती है। परन्तु स्मृति नहीं होती; अतः जो संस्कार जन्य हो वह स्मृति ही हो ऐसा नियम नहीं रहा क्योंकि स्मृतित्वरूप साध्य के विना भी संस्कार जन्यत्वरूप हेतु प्रत्यभिज्ञा में विद्यमान है। अतः यह अनुमान कि **"रसज्ञानम्"** (पक्ष) **स्मृतिः** (साध्य) **संस्कारजन्यज्ञानत्वात्** (हेतु) **"स्मृत्यन्तरवत्"** अनैकान्तिक होने के कारण दूषित हो गया। अतः रस को स्मृति भी नहीं कह सकते।

(२) जो व्यक्ति प्रत्यभिज्ञा को स्मृतित्वरूप आपत्ति के भय से स्मृतिजन्य मानते हैं, संस्कार जन्य नहीं, उनके मत में व्यभिचार दोष नहीं आता। जो व्यक्ति रस की प्रतीति के कारणभूत वासना को संस्कार विशेष मानते हैं, उन्हीं के मत में यह सन्देह उठता है किन्तु जो रस की कारणीभूत वासना को संस्कार विशेष से अतिरिक्त मानते हैं, उनके मत में साधन के पक्ष में न रहने से केवल व्यभिचार मात्र दोष ही नहीं आता है अपितु स्वरूपासिद्धि भी आती है।

अवतरणिका—**अभिधामूलक व्यंज्जना** को स्वीकार न करने वाले **व्यक्तिविवेककार** के मत का खण्डन करते हैं।

अर्थ—**"दुर्गालङ्घित"** इत्यादि में दूसरा अर्थ (अप्राकरणिक पार्वतीवल्लभरूप **व्यंग्यार्थ**) है ही नहीं (उसकी प्रतीति न होने से बुद्धि का विषय नहीं है) ऐसा जो **महिमभट्ट** ने कहा है, वह अनुभव सिद्ध पदार्थ का अपलाप करते हुये (अस्वीकार करते हुये व्यक्तिविवेककार की) "गजनिमीलिका" ही है (अर्थात् आलोचना के विना ही लोकापवाद की शंका से मस्त हाथी की तरह आखों को बन्द करके कहना है।)।

टिप्पणी—जिसप्रकार हाथी को सामने पड़ी हुई वस्तु दिखाई नहीं देती इसीप्रकार यदि कोई प्रत्यक्ष वस्तु को भी न देखे तब यह **(गजनिमीलिका)** कहा जाता है।

अवतरणिका— व्यंज्जनाविषयक शास्त्रार्थ का उपसंहार करते हैं।

अर्थ—अतः इसप्रकार अनुभव सिद्ध उस-उस रस भावादि स्वरूप अर्थ के (वाच्यादि से विलक्षण अर्थ के) अपलाप के अशक्य होने के कारण (अर्थात् सामाजिकों के द्वारा अनुभव किये जाने से ही किसी के अस्वीकार करने में समर्थ न होने से); और उस उस शब्दादि के (**"निःशेषच्युतचन्दनम्"** इत्यादि काव्य शब्दों के, "आदि" शब्द से अर्थ और प्रस्तावादि का ग्रहण होता है) अन्वय-व्यतिरेकी के अनुसारी होने के कारण [**ध्वनिकार** ने कहा भी है कि—

"सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगीशब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥ इति।

तत्किनामिकेयं वृत्तिरित्युच्ते—

सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः ।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः ॥ ५ ॥

एतच्च विविच्योक्तं रसनिरूपणप्रस्ताव इति सर्वमवदातम् ।

इति साहित्यदर्पणे व्यञ्जनाव्यापारनिरूपणो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ।

व्यंग्य और व्यंजकों के सुप्रयुक्त होने से ही महाकवियों को "महाकवित्व" की प्राप्ति होती है, वाच्य-वाचक रचनामात्र से नहीं । **अपि च—**

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव व स्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।। इति ।।

इसप्रकार उसप्रकार के शब्दादि के होने पर रसादि व्यंग्यार्थ का भी सद्भाव होता है, और उसप्रकार के शब्दादि के न होने पर रसादिव्यंग्यार्थ का भी असद्भाव होता है । इस नियम से रसादि व्यंग्यों को अवश्य स्वीकार करना चाहिये], **अनुमानादि** प्रमाणों से ("आदि" पद से **अर्थापत्ति** आदि का ग्रहण होता है) ज्ञातव्य न होने के कारण, अभिधा-लक्षणा और तात्पर्य इन तीन वृत्तियों से अबोध्य होने के कारण तुरीया (चतुर्थी व्यंजना) वृत्ति स्वीकार करनी ही चाहिये । यह सिद्ध हो गया । **इयञ्चेति-** और यह चतुर्थी (व्यंजना) वृत्ति व्याप्ति ज्ञान और हेत्वाभास ज्ञान के विना भी प्रवृत्त होती है । अतः (हमारे द्वारा प्रतिपादित) सभी निर्दुष्ट है ।

अर्थ—अतः, इस वृत्ति का क्या नाम है ? इसका उत्तर देते हैं ।

और वह (तुरीयावृत्ति) विद्वानों के द्वारा (ज्ञेय और ज्ञापक के प्रतिपादन में कुशलव्यक्तियों के द्वारा) यह **व्यंजना नामक वृत्ति** कही जाती है । (**प्रश्न**—रसादि के ग्रहण के लिये तो "रसना"नामक वृत्ति स्वीकार की गई है, फिर उसके लिये व्यञ्जना-वृत्ति क्यों स्वीकार करते हो ? इसका उत्तर देते हैं ।] **रसव्यक्ताविति**—अन्य विद्वान् (नैय्यायिक) तो रस, भावादि की अभिव्यक्ति में "**रसना**" नामक (पांचवीं) वृत्ति को स्वीकार करते हैं (आलंकारिक नहीं) ।

टिप्पणी—आशय यह है कि वस्तु और अलंकार की प्रतीति के लिये व्यञ्जना वृत्ति को अवश्य स्वीकार करना चाहिये क्योंकि उसी से ही रसादि की भी प्रतीति हो जाती है । उसके लिये पृथक् रसना नामक वृत्ति को स्वीकार करना अनर्थक है ।

अर्थ—यह (रसना नामक वृत्ति का स्वरूप) विवेचन करके रसनिरूपण के अवसर पर (सत्वोद्रेकात्" **इत्यादि** कारिका की व्याख्या में तृतीय परिच्छेद के प्रथम भाग में) कह दिया है । इसप्रकार सब (व्यंज्जना के व्यापार को स्थापित करने के लिये हमारे द्वारा कहा हुआ प्रमेयजात) स्पष्ट है ।

"इति साहित्यदर्पणे व्यञ्जनाव्यापारनिरूपणो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ।।

मूलकारिका, ५ — सम्पूर्ण कारिकायें ३०९

उदाहरणश्लोक, २ — सम्पूर्ण उदाहरण श्लोक २०७

इति पञ्चमः परिच्छेदः

षष्ठः परिच्छेदः

एवं ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन काव्यस्य भेदद्वयमुक्त्वा पुनर्दृश्यश्रव्यत्वेन भेदद्वयमाह—

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्
दृश्यं तत्राभिनेयं—

तस्य रूपकसंज्ञाहेतुमाह—

—तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ॥ १ ॥

तद् दृश्यं काव्य नटे रामादिस्वरूपारोपाद्रूपकमित्युच्यते।

अवतरणिका—यद्यपि 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यंग्य' के भेदोपभेद की गणना ही सख्यातीत है, और उसी के अनुसार '**काव्यभेदों**' की भी संख्यातीत गणना हो जाती है, तथापि '**प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति**' इस न्याय के अनुसार '**काव्य ध्वनिर्गुणीभूतव्यंगयञ्चेति द्विधा मतम्**' से दो भेदों के ही मुख्य होने के कारण उनके भेदोपभेदादि में ध्वनि के अक्षत रहने से इस दो प्रकार के काव्य के अन्य कोई भेद हो सकते हैं या नहीं, ऐसी जिज्ञासा होने पर '**षष्ठ परिच्छेद**' को प्रारम्भ करते हुये अवतारणा करते हैं।

अर्थ—इसप्रकार (निर्दिष्ट विधि से) **ध्वनित्वेन** और **गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन** (**ध्वन्यते-प्राधान्येन व्यज्यतेऽर्थो यत्रासौ ध्वनिः, गुणीभूतव्यंग्यं यत्र तद्गुणीभूतव्यंग्यम्**) काव्य के दो भेदों का कथन करके पुनः (उसीके **ध्वनिकाव्य अथवा गुणीभूतव्यंग्यकाव्य** के) **दृश्यत्वेन** (**द्रष्टुं योग्यं दृश्यम्**) और **श्रव्यत्वेन** (श्रोतुं योग्यं श्रव्यम्) दो भेदों को बताते हैं।

टिप्पणी—यहाँ '**श्रव्यदृश्यत्वेन**' ऐसा न कहकर '**दृश्यश्रव्यत्वेन**' ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि पहले '**दृश्यकाव्य**' का निरूपण किया जायेगा।

अर्थ—(**काव्य के भेद**) **दृश्य** (दर्शनीय प्रधान) और **श्रव्य** (श्रोतव्यमात्र) भेद से काव्य पुनः **दो** प्रकार का (प्राचीनों के द्वारा) कहा गया है।

टिप्पणी—इसप्रकार काव्य पूर्वोक्त दो भेदों को मिलाकर मुख्यतः 'चार प्रकार' का होता है, ऐसा समझना चाहिये।

अर्थ—(**दृश्यकाव्य का लक्षण**) उनमें से (उन दो दृश्य और श्रव्य काव्य भेदों में से) अभिनय के योग्य (**नटादिकों से अभिनय** किये जाते हुये नायकादि के चरित) **दृश्यकाव्य** (कहलाता) है। [ऐसा कहकर नटादि के अभाव में अभिनय न हो सकने के कारण इसकी **श्रव्यकाव्य में अतिव्याप्ति** नहीं है, यह दिखाया है। दर्शनात्मक नेत्रों से गोचर योग्य होने के कारण ही इसका नाम **दृश्य** है।] **तस्येति**—उसकी (दृश्य को ही रूपक कहते हैं अतः) **रूपक संज्ञा** का कारण बताते हैं। **तद्रूपेति**—वह (**दृश्यकाव्य**) रूप का (अभिनेय नायकादि के स्वरूप का) आरोप होने से **रूपक** कहा जाता है। [कारिका को स्पष्ट करते हैं] **तदिति**—वह (**दृश्यकाव्य, श्रव्यकाव्य नहीं**) नट में (**अभिनेता में**) रामादि के (अभिनेय नायकादि के) स्वरूप का आरोप होने के कारण **रूपक** कहलाता है।

कोऽसावभिनय इत्याह—

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः ।
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ॥ २ ॥

नटैरङ्गादिभी रामयुधिष्ठिरादीनामवस्थानुकरणमभिनयः ।

रूपकस्य भेदानाह—

टिप्पणी—(१) इसप्रकार '**रूपयति अन्यस्य रामादेः रूपेणान्यान् नटाननुकरोतीति रूपकम्**' **रूपक** कहलाता है । 'मन्दारमरन्द' में कहा भी है कि—

"यथा मुखादौ पद्मादेरारोपो रूपकं मतम् ।
तथैव नायकारोपो नटे रूपकमुच्यते ॥" इति ॥

यथा—'**अनर्घराघवादि**' रूपक और '**रत्नावली**' आदि उपरूपक समझने चाहिये ।

(२) 'दशरूपक' में कहा है कि—'रूपकं तत्समारोपात्' इति ।

अर्थ—वह **अभिनय** क्या है ? इसको बताते हैं ।

अर्थ—(**अभिनय** का लक्षण)—अवस्था का (**आलम्बन** के शोक-हर्षादि से जैसी भी मुख की विकसित या अविकसित आदि अवस्था का) अनुकरण **अभिनय** होता है और वह (निरुक्त लक्षण **अभिनय**) चार प्रकार का होता है—(१) **आङ्गिक** (शरीर से निष्पन्न होने वाला), (२) **वाचिक** (वचन से निष्पन्न होने वाला), (३) **आहार्य** (आहरणीय वेश, रचनादि से निष्पन्न होने वाला), तथा (४) **सात्त्विक** (स्तम्भ, स्वेदादि सत्वोद्रेक से उत्पन्न होने वाला) । **नटैरिति**—(**अभिनय** का साधारण लक्षण बताते हैं) नटों के द्वारा शरीरादिकों से राम युधिष्ठिरादिकों की **अवस्था** का अनुकरण करना **अभिनय** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—(१) नाट्यशास्त्र के अन्दर भरतमुनि ने इसी बात को **इसप्रकार** कहा है—

'विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मा**दभिनयः** स्मृतः ।' इति ॥

(२) अभिनय की व्युत्पत्ति इसप्रकार है—

'अभिपूर्वस्तु णीञ्धातुः पुरा मुख्यार्थनिर्णये ।
यस्मात् प्रयोगे नयति तस्मा**दभिनयः** स्मृतः ॥

(३) भरतमुनि ने **अभिनय** के भेद इसप्रकार गिनाये हैं—

'आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा ।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राः ! चतुर्धा परिकल्पितः ॥ इति ॥'

(४) नाट्यशास्त्र में **आङ्गिक** के तीन भेद बताये हैं—

'त्रिविधस्त्वाङ्गिको ज्ञेयः शारीरो मुखजस्तथा ।
तथा चेष्टाकृतश्चैव शाखाङ्गोपाङ्गसंयुतः ॥

अथ रूपकादिभेदनिरूपणम्—

अर्थ—(इसप्रकार **अभिनय** का निरूपण करके) **रूपक** के भेदों को **दिखाते हैं** ।

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः ।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ।। ३ ।।

किञ्च—

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम् ।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा ।। ४।।
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका ।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च ।। ५ ।।
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः ।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम् ।। ६ ।।

सर्वेषां प्रकरणादिरूपकाणां नाटिकाद्युपरूपकाणां च ।

तत्र—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसंधिसमन्वितम् ।

अर्थ–(रूपक के भेद)—(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) भाण, (४) व्यायोग, (५) समवकार, (६) डिम, (७) ईहामृग, (८) अङ्क, (९) वीथी, (१०) प्रहसन, इसप्रकार दस रूपक होते हैं ।

टिप्पणी—दशरूपक में रूपक की गणना इसप्रकार है ।

'नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ।' इति ।।

अवतरणिका—इसप्रकार 'रूपक' के भेदो को कहकर 'उपरूपक' के भेदों को बताते हैं ।

अर्थ—(उपरूपक के भेद) तथा (१) नाटिका, (२) त्रोटक, (३) गोष्ठी, (४) सट्टक, (५) नाट्यरासक, (६) प्रस्थान, (७) उल्लाप्य, (८) काव्य, (९) प्रेङ्खण, (१०) रासक, (११) संलापक, (१२) श्रीगदित, (१३) शिल्पक, (१४) विलासिका, (१५) दुर्मल्लिका, (१६) प्रकरणी, (१७) हल्लीश और (१८) भाणिका-ये १८ उपरूपक (होते) हैं, ऐसा विद्वान् कहते हैं । विनेति—(कुछ) विशेषताओं को छोड़कर सभी के (प्रकरण आदि रूपकों के तथा नाटिका आदिक उपरूपकों के) लक्षण नाटक की तरह (भरतादिकों ने) कहे हैं । (कारिकास्थ सर्वेषाम् को स्पष्ट कहते हैं ।) **सर्वेषाम्**-सभी के अर्थात् प्रकरणादि ९ रूपकों के तथा नाटिकादि १८ उपरूपकों के ।

अथ नाटकस्वरूपनिरूपणम्—

अवतरणिका—'**नाटक**' का लक्षण बताते हैं ।

अर्थ—उनमें से (पूर्व अभिहित **नाटकादि** रूपकों में से) (**नाटक का लक्षण**)—पुराण, इतिहासादि में प्रसिद्ध वृत्तान्त वाला (अपने कपोल कल्पित वृत्तान्त वाला नहीं) **नाटक** [**नाटक** की व्युत्पत्ति—**नाटयति विचित्रं रञ्जनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयतीति नाटकम् । केचित्तु नमनार्थस्यापि नटेर्नाटकशब्दं व्युत्पादयन्ति ।** यद्यपि कथादि भी श्रोताओं के हृदयों का रञ्जन करती है तथापि अंकोपायादि विचित्र कारणों के न होने से उतना प्रसन्न नहीं करती हैं. अतः उनको 'नाटक' इस शब्द से व्यवहृत नहीं

विलासद्धर्याद्यिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥ ७ ॥
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः ॥ ८ ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥ ९ ॥
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥ १० ॥
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥ ११ ॥

किया जाता है] होता है, (अतएव कहा है कि—**तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् इति**), पाँच सन्धियों से (आगे कही जाने वाली मुख, प्रतिमुखादि सन्धियों से युक्त, [दशरूपकारस्तु—

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ।
खण्डशः सन्धिसंज्ञांश्च विभागानपि खण्डयेत् ॥ इति ॥]

विलास (**'धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः'** इस लक्षण से युक्त नायक का गुण विशेष), अभ्युदयादि ('आदि' पद से धैर्य और गाम्भीर्य आदि का ग्रहण होता है) गुणों से युक्त, अनेक प्रकार की विभूतियों से युक्त (कहा भी है कि **'सर्वसम्पत् प्रभूतं स्यात् इति'**) सुख और दुःख की उत्पत्ति से अनेक प्रकार के (शृंगार, वीरादि) रसों से व्याप्त, उसमें (नाटक में) पाँच से लेकर दस तक अंक (परिच्छेद) कहे गये हैं। [इससे यह प्रदर्शित किया है कि पांच अंक से कम और दस अंक से अधिक का नाटक नहीं होना चाहिये। **दशरूपक** में कहा है कि—**पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम्' इति**।] प्रख्यातवंश वाला (रामायण, महाभारतादि में प्रसिद्ध) राजर्षि, [ऋषिवृत्ति, दया, दाक्षिण्यादि गुणों से युक्त, अनभिषिक्त राजा भी हो सकता है, क्योंकि राम, जीमूतवाहन और पार्थ आदि अनभिषिक्त भी नायक देखे जाते हैं। और ऐसा भी कोई आग्रह नहीं है कि राजा क्षत्रिय ही हो क्योंकि यदि ऐसा होगा तो मुद्राराक्षस नाटक के अन्दर चन्द्रगुप्त के शूद्र होने से नाटकत्व विनष्ट हो जायेगा], धीरोदात्त (पूर्वोक्त लक्षण वाला), प्रतापी, दिव्य (स्वर्गीय), दिव्यादिव्य (दिव्य होता हुआ भी अपने आपको मनुष्य मानने वाला), 'वा' शब्द से अदिव्य (इससे शकुन्तला में दुष्यन्त की नायकता घटित हो जायेगी), प्रशस्त गुणों से युक्त नायक माना गया है। एक शृङ्गार ही अथवा एक वीर ही प्रधान रस होना चाहिये। और सभी रस अप्रधान भाव से रह सकते हैं, निर्वहण सन्धि में (उपसंहार नामक अन्तिम सन्धि में) अद्भुत रस निबद्ध करना चाहिये। नायक के कार्य में निरत पुरुष

ख्यातं रामायणादिप्रसिद्धं वृत्तम् । यथा-रामचरितादि । सन्धयो वक्ष्यन्ते । नानाविभूतिभिर्युक्तमिति महासहायम् । सुखदुःखसमुद्भूतत्वं रामयुधिष्ठरादिवृत्तान्तेष्वभिव्यक्तम् । राजर्षयो दुष्यन्तादयः । दिव्याः श्रीकृष्णादयः । दिव्यादिव्यः, यो दिव्योऽप्यात्मनि नराभिमानी । यथा श्रीरामचन्द्रः ।

चार या पाँच मुख्य उपनिबद्ध करने चाहिये । उसकी (नाटक की) रचना गौ की पूंछ के अग्रभाग के समान अवशिष्ट अंश वाली कही गई है ।

टिप्पणी—(१) 'भरतमुनि' ने कहा है कि—

"कार्यं गोपुच्छाग्रं कर्तव्यं बन्धमासाद्य ।" इति ।

(१) 'दशरूपक' में इसप्रकार कहा है कि—

"यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥"

यथा—छद्म से बाली का वध मायुराज ने **'उदात्तराघव'** में छोड़ दिया और **'वीरचरित'** में रावण की मित्रता के कारण रामचन्द्र जी को मारने के लिये आया हुआ बाली राम द्वारा मारा गया—इसप्रकार का कथानक अन्यथा कर दिया है ।

अवतरणिका—कारिका के अन्दर आये हुये अस्फुट पदों की क्रमशः व्याख्या करते हैं ।

अर्थ—ख्यातम्=रामायणादि में प्रसिद्ध वृत्तान्त ('आदि' पद से महाभारत, इतिहास, पुराण आदिकों का ग्रहण समझना चाहिये । इसप्रकार **प्रबोधचन्द्रोदयादिकों** की ख्यातवृत्तिता होने के कारण नाटक कहे जा सकेंगे) । **यथा**—रामचरित आदि ('आदि' पद से **प्रसन्नराघव और अनर्घराघवादिकों** का ग्रहण होता है) । सन्धियाँ आगे कहेंगे । **नानाविभूतिभिर्युक्तम्**=महान् पुरुष है सहायक जिसमें ऐसा [यथा—रामादि के सुग्रीवादि, **वेणीसंहार** में युधिष्ठिर का भीम, **शाकुन्तलादि** में इन्द्रादि] । **सुखदुःखसमुद्भूतित्वम्**=सुखऔर दुःख की उत्पत्ति राम युधिष्ठिरादि के वृत्तान्त में स्पष्ट है । [यथा—**वेणीसंहार**में युधिष्ठिर को पहले दुःख हुआ और उसके बाद सुख हुआ **अथवा उत्तररामचरित** में राम को पहले सुख हुआ और बाद में दुःख हुआ] । **राजर्षयः**=दुष्यन्तादि अदिव्यनायक । **दिव्याः**—श्रीकृष्णादि । **दिव्यादिव्यः**=जो दिव्य होता हुआ भी अपने में मनुष्य का अभिमान करता है । यथा—श्रीरामचन्द्र जी । [**"राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः"** के अनुसार अवतार होने से दिव्यता है । नराभिमानता द्योतित करने के लिये सीता के विरहादि में विलाप के कारण अदिव्य हैं । पद्मपुराण में कहा है कि—

"माया मानुषचारित्रो महादेवादिपूजितः ।" इति

ऐसा होने पर **दिव्यादिव्य** की व्याख्या इसप्रकार करनी चाहिये—**मानुष्यां देवेनोत्पादितो दिव्यादिव्यः यथा युधिष्ठरादि** । इसप्रकार श्रीरामचन्द्र जी भी दिव्य नायक ही हैं" ऐसा कहते हैं] ।

'गोपुच्छाग्रसमाग्रमिति क्रमेणाङ्काः सूक्ष्माः कर्तव्याः' इति केचित् । अन्ये त्वाहुः—'यथा गोपुच्छे केचिद्बाला ह्रस्वाः केचिद्दीर्घास्तथेह कानिचित्कार्याणि मुखसंधौ समाप्तानि कानिचित्प्रतिमुखे । एवमन्येष्वपि कानिचित्कानिचित्' इति ।

प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः ॥ १२ ॥
विच्छिन्नावान्तरैकार्थः किञ्चित्संलग्नबिन्दुकः ।
युक्तो न बहुभिः कार्यैर्बीजसंहृतिमान्न च ॥ १३ ॥
नानाविधानसंयुक्तो नातिप्रचुरपद्यवान् ।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः ॥ १४ ॥

अर्थ—गोपुच्छाग्रसमाग्रम् =(१) कुछ इसकी व्याख्या इसप्रकार करते हैं कि—"क्रमशः अङ्क सूक्ष्म करने चाहिये ।" (२) दूसरे इसप्रकार व्याख्या करते हैं कि—"जिसप्रकार गौ की पूँछ में कुछ बाल ह्रस्व और कुछ दीर्घ होते हैं, वैसे ही यहाँ नाटक के अन्दर कुछ नायक के कार्य 'मुखसन्धि' में समाप्त हो जाने चाहिये और कुछ 'प्रतिमुख' सन्धि में समाप्त हो जाने चाहिये । इसीप्रकार अन्यों में भी (गर्भ, विमर्श और निर्बहण सन्धियों में) कुछ-कुछ (कार्य समाप्त हो जाने चाहिये) इति ।

टिप्पणी—यहाँ दोनों ही प्रकार की व्याख्या करने पर किसीप्रकार की क्षति नहीं आती है । अतः दोनों ही प्रकार की व्याख्या ग्रन्थकार को अभिप्रेत है ।

अथ अङ्कस्वरूपनिरूपणम्—

अवतरणिका—"पञ्चाधिका दशपरास्तत्राङ्काः" इस कहे हुये के अनुसार 'अङ्क" का लक्षण करते हैं ।

अर्थ—(**अङ्क का लक्षण**)—प्रत्यक्ष की तरह प्रतीत होने वाला है नेता का (नायक का अथवा नायिका का) चरित्र जिसमें ऐसा, रस और भाव (नायक और नायिका के भाव) से शोभित (रस और भाव केवल उपलक्षण हैं, इससे रसाभासादिकों का भी ग्रहण हो जाता है) स्फुट हैं शब्दार्थ जिसमें ऐसा, (अर्थात् शब्द सुनने के साथ ही वाक्य का तात्पर्य अनायास ही समझ में आ जावे), अल्प समास वाले गद्य से युक्त, समाप्त हो गया है अवान्तर मुख्य कार्य जिसमें ऐसा, (किन्तु) बिन्दु (जिसका लक्षण आगे करेंगे) कुछ संलग्न होना चाहिये । अनेकविध (हास्य और उद्वेगादि के जनक होने के कारण) व्यापारों से युक्त नहीं होना चाहिये और नहीं बीज के उपसंहार से युक्त हो, अनेक घटनाओं से युक्त, अत्यधिक पद्यों से युक्त नहीं होना चाहिये (अर्थात् गद्य, पद्य का समावेश उचित रीति से होना चाहिये । "बहुचूर्णपादवृत्तं जनयति खेद प्रयोगस्य" इसप्रकार गद्य की अपेक्षा स्वल्प पद्यवान् होना चाहिये), आवश्यक (धर्मशास्त्र के अनुसार निश्चित अनुष्ठेय) कार्यों के (सन्ध्यावन्दनादिकों के) विधान से (अविरोधात्) विरचित होना चाहिये, अनेक दिनों में सम्पादित होने वाली कथा से युक्त नहीं होना चाहिये (किन्तु स्वल्प दिनों में होने वाली उत्तरोत्तर बढ़ने वाली कथा से युक्त होना

नानेकदिननिर्वर्त्यकथया संप्रयोजितः ।
आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥ १५ ॥
दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः ।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा ॥ १६ ॥
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरं च यत् ।
शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम् ॥ १७ ॥
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः ।
देवीपरिजनादीनाममात्यवणिजामपि ॥ १८ ॥
प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः ।
अन्तर्निष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्त्तितः ॥ १९ ॥

बिन्द्वादयो वक्ष्यन्ते । आवश्यकं संध्यावन्दनादि ।

चाहिये), (अविद्यमान भी) नायक (वर्णन की दृष्टि से) सदा पास रहना चाहिये, तीन या चार नाटकीय पात्रों से युक्त हो ।

अवतरणिका—अङ्क में जिन वस्तुओं को प्रत्यक्ष नहीं दिखाना चाहिये, उनका वर्णन करते हैं ।

अर्थ—दूराह्वानमिति—दूरस्थ व्यक्ति को बुलाना, वध, युद्ध, राज्य और देशादिकों का विप्लव, विवाह, भोजन (दन्तच्छेद्य और नखच्छेद्य वस्तुओं का भी भक्षण निषेध है) शाप, (शाकुन्तल में दुर्वासा का शाप अङ्क में न होकर विष्कम्भक में है, अतः दोष नहीं हैं ।), मलत्याग, मृत्यु, तथा सम्भोग, (ओष्ठादिकों में, दन्तच्छेद, (कुचादिकों में) नखाघात, और दूसरा (वस्त्र को खुलना आदि) जो कुछ भी लज्जा उत्पन्न करने वाला है (उसका भी अभिनय नहीं करना चाहिये क्योंकि इनका अभिनय सदस्यों के लिये अमंगल जनक है ।), शयन, अधरपानादि, नगरादि का अवरोध, स्नान और अनुलेपन-इनसे (दूराह्वानादि से) वर्जित, अतिविस्तृत नहीं होना चाहिये, देवी (राजमहिषी) और परिजनादिकों के (अथवा राजकुमारादिकों के), अमात्य और वणिक्जनों के भावपूर्ण और रसपूर्ण प्रत्यक्ष आश्चर्यजनक चरित्रों से युक्त तथा अन्त में (रंगस्थल से) निकल गये हैं सम्पूर्ण पात्र (नायक के सहायकादि) जिसके ऐसा 'अङ्क' कहलाता है ।

[कारिकास्थ शब्दों को स्पष्ट करते हैं ।] 'बिन्दु' आदि का वर्णन आगे चलकर करेंगे । **आवश्यकम्**=सन्ध्यावन्दनादि ।

टिप्पणी—दशरूपककार ने भी कहा है कि—

"दूराह्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ॥
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षानि न निर्दिशेत् ।
नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च ॥
एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ।
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ॥

अङ्कप्रस्तावाद् गर्भाङ्कमाह—

अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गद्वारामुखादिमान् ।
अङ्कोऽपरः स गर्भाङ्कः सबीजः फलवानपि ॥ २० ॥

यथा बालरामायणे रावणं प्रति कञ्चुकीः—

'श्रवणैः पेयमनेकैर्दृश्यं दीर्घैश्च लोचनैर्बहुभिः ।
भवदर्थमिव निबद्धं नाट्यं सीतास्वयंवरणम् ॥

इत्यादिना विरचितः सीतास्वयंवरो नाम गर्भाङ्कः ।

तत्र पूर्वं पूर्वरङ्गः सभापूजा ततः परम् ।
कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्याऽप्यथामुखम् ॥ २१ ॥

तत्रेति नाटके ।

अथगर्भाङ्कस्वरूपनिरूपणम्—

अर्थ—'अङ्क' के प्रसङ्ग से 'गर्भाङ्क' का लक्षण करते हैं ।

(गर्भाङ्क का लक्षण) रङ्गद्वार (सूत्रधार द्वारा किया जाने वाला मंगल) और आमुख (प्रस्तावना लक्षण आगे कहेंगे) आदि से युक्त ('आदि' पद से सभापूजा, कविसंज्ञादिकों का ग्रहण होता है तथा शुद्ध विष्कम्भक, संकीर्ण विष्कम्भक और प्रवेशक का ग्रहण होता है) अङ्क के मध्य में प्रविष्ट बीज से युक्त फल सहित (नायक से किये जाने वाले प्रधान प्रयोजन से युक्त) (जो) दूसरा अङ्क होता है, वह **'गर्भाङ्क'** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—(१) रंगद्वार और आमुख प्रथम अङ्क में होने चाहिये ।

(२) विष्कम्भक का लक्षण—"वृत्तवर्तिष्यमाणकथांशप्रदर्शकोऽभिनयो विष्कम्भकः" । इसके दो भेद होते हैं—(१) शुद्ध विष्कम्भक और (२) संकीर्ण विष्कम्भक ।

शुद्ध विष्कम्भक का लक्षण— स च मध्यविधजनप्रवर्तितः शुद्धः,

संकीर्ण विष्कम्भक का लक्षण—मध्यनीचाभ्यां प्रवर्तितः संकीर्णः ।

(३) प्रवेशक का लक्षण – नीचजनपात्रप्रवर्तितः प्रवेशकः ।

(४) 'गर्भाङ्क' नाम की सार्थकता—जिस किसी भी 'अङ्क' के अन्दर इसकी स्थिति हो सकती है, अतः गर्भाङ्क कहलाता है ।

अर्थ—(गर्भाङ्क का उदाहरण) **यथा—बालरामायण** में रावण के प्रति कञ्चुकी (की यह उक्ति)—**श्रवणैरिति**—सीतास्वयंवर नामक नाटक अनेक कानों से पेय अर्थात् मधुर होने के कारण सभी मनुष्यों से सुनने के योग्य, अनेक विस्तृत नेत्रों से दर्शनीय (अतएव) मानों आपके लिये ही (दशानन होने के कारण आपके अनेक कान और नेत्र है, अत: आपके ही देखने और सुनने के लिये) (राजा जनक ने) आयोजित किया है । **इत्यादिनेति**—इत्यादि से सीता स्वयंवर नामक यह **गर्भाङ्क** बनाया है ।

अवतरणिका—नाटक रचना किसप्रकार करनी चाहिये, इसको बताते हैं ।

अर्थ—उसमें (नाटक में) पहले पूर्वरङ्ग (लक्षण आगे कहेंगे), तदनन्तर सभा की प्रशंसा (**सामाजिकसमूहः सभा**), उसके बाद कवि के नाम आदि का ("आदि" पद से कवि गोत्र और माता-पिता का ग्रहण होता है) और नाटक के नामादि का कथन और इसके बाद आमुख (प्रस्तावना) होना चाहिये । (क्रमशः ये कवि द्वारा निबद्ध होने चाहिये) । (कारिकास्थ 'तत्र' को स्पष्ट करते हैं) **तत्र**=नाटक में ।

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥ २२ ॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि ।
तथाऽप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥ २३ ॥

अवतरणिका—पूर्वरङ्ग का लक्षण करते हैं ।

अर्थ—(पूर्वरङ्ग का लक्षण)—रङ्ग (नाट्यशाला) के विघ्नों को शान्त करने के लिये नाट्य (अभिनेय) वस्तु (वर्णनीय पदार्थ) से पहले सूत्रधार प्रधान नट जो काम (अपने समाज के नियम से, कवि के निर्देश से अथवा सामाजिकों के आदेश से) करते हैं, वह पूर्वरङ्ग कहलाता है । यद्यपि इसके (पूर्वरङ्ग के) प्रत्याहारादिक (ध्यान, धारणा प्रभृति २१ प्रकार के) बहुत से अङ्ग हैं, तथापि विघ्नों को शान्त करने के लिये नान्दी अवश्य करनी चाहिये ।

टिप्पणी—(१) पूर्वरङ्ग की व्युत्पत्ति—पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गः= नाट्यशाला । उसके अन्दर होने वाला कार्य भी पूर्वरङ्ग पद से व्यवहृत होता है । अतः नाट्यशाला के अन्दर विघ्नों को शान्त करने वाला नान्दीपाठ, गीतवादित्रादि नानाप्रकार के अङ्ग विशेषों वाला, नाटक के आदि में किये जाने वाला कर्म विशेष 'पूर्वरङ्ग' कहलाता है । कहा भी है :—

'सभापतिः सभा सभ्या गायका वादका अपि ।
नटी नटश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात् ॥
अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्ववत्स प्रकल्पते ।
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते ॥" भावप्रकाशिका ॥

(२) प्रत्याहारादिक अङ्गों का वर्णन नाट्यशास्त्र में इसप्रकार हैं :— प्रत्याहारोऽवतरणं तथा ह्यारम्भ एव च । आश्रावणावक्त्रपाणिस्तथा च परिघट्टना । संघोटना ततः कार्या मार्गोत्सारितमेव च । ज्येष्ठमध्यकनिष्ठा च तथैवासारितक्रिया । एतानि च बहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः । प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि तु ॥

ततश्च सर्वकुतपैर्युक्तान्यन्यानि कारयेत् ।
विघाट्य वै यवनिकां नृत्यपाठकृतानि च ।
गीतानां मुद्रकादीनामेकं योज्यं तु गीतकम् ।
वर्धमानमथापीह ताण्डवं यत्र युज्यते ॥
ततश्चोत्थापनं कार्यं परिवर्तकमेव च ।
नान्दी शुष्कापकृष्टा च रङ्गद्वारं तथैव च ॥
त्रिकं पुरोचना चापि पूर्वरङ्गे भवन्ति हि ।
एतान्यङ्गानि कार्याणि पूर्वरंगविधौ तु च ॥ इति ॥

इनके लक्षण वहाँ इसप्रकार दिये हैं—

एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।
कुतुपस्य सविन्यासः प्रत्याहार इति स्मृतः ॥

तस्याः स्वरूपमाह—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥ २४ ॥
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥ २५॥

तथाऽवतरणं प्रोक्तं गायकानां निवेशनम् ।
परिगीतक्रियारम्भ **आरम्भ** इति कीर्तितः ॥
आतोद्यरञ्जनाऽर्थञ्च भवेदाश्रावणा विधिः ।
वाद्यवृत्तिविभागार्थं **वक्त्रपाणिर्विधीयते** ॥
तन्त्रीयकरणार्थं तु भवेच्च **परिघट्टनम्** ।
तथा पाणिविभागार्थे भवेत् **संघोटना विधिः** ॥
तन्त्रीभाण्डसमायोगान् **मार्गसारितमिष्यते** ।
कालपातविभागार्थं **भवेदासारितक्रिया** ॥
कीर्तनाद्देवतानाञ्च ज्ञेया **गीतविधिक्रिया** ।
यस्मादुत्थापयन्त्यत्र प्रयोगं नान्दिपाठकाः ॥
पूर्वमेव तु रंगेऽस्मिन् तस्मादुत्थापनं स्मृतम् ।
यस्माच्च लोकपालानां परिवृत्य चतुर्दिशम् ॥
वन्दनानि प्रकुर्वन्ति तस्माच्च परिकीर्तनम् ।

इसप्रकार भरतादिकों के कहे हुये प्रत्याहारादि अंग यद्यपि अनेक पूर्वरंग में करने चाहिये तथापि जितनी आवश्यक स्थिति नान्दी की है, उतनी इनकी नहीं है।

अथ नान्दीस्वरूपनिरूपणम्:—

अर्थ—इसका (नान्दी का) लक्षण करते हैं।

(**नान्दी का लक्षण**) जिससे देवता, ब्राह्मण और राजादिकों की ('आदि' पद से गुरु आदिकों का ग्रहण होता है) आशीर्वचनों से युक्त स्तुति (गुणकीर्तन) की जाती है (अर्थात् सभासदों को नटों द्वारा सुनाई जाती है), इस कारण से (वह) नान्दी कहलाती है। अर्थात् '**नन्दयतीति नान्दी**' इस व्युत्पत्ति से देव, ब्राह्मण और राजादिकों को आनन्दित करने वाली स्तुति **नान्दी** कहलाती है। (और वह **नान्दी**) **माङ्गल्येति**—मंगल को बताने वाले, शंख, चन्द्र, कमल, चक्रवाक और श्वेत कमल को (किसी भी अभिधावृत्ति से) बताने वाली होती है। (तथा कहीं) वह बारह पदों से (सुबन्त और तिङन्तरूप) अथवा (कहीं) आठ पदों से (पद्य के चतुर्थांश चरण से) युक्त होती है।

टिप्पणी—(१) जहां द्वादशपदा नान्दी होती है, वहां पद शब्द सुबन्त और तिङन्त में से किसी एक का बाधक होता है और जहां अष्टापदी नान्दी होती है, वहां पद शब्द पद्य के चतुर्थांश चरण का वाचक होता है।

अष्टपदा यथा अनर्घराघवे—'निष्प्रत्यूहम्' इत्यादि ! द्वादशपदा यथा मम तातपादानां पुष्पमालायाम्—

शिरसि धृतसुरापगे स्मरारावरुणमुखेन्दुरुचिःगरीन्द्रपुत्री ।
अथ चरणयुगानते स्वकान्ते स्मितसरसा भवतोऽस्तु भूतिहेतुः ॥

---

(२) मन्दारमरन्द में यह विशेषता है कि—
'अष्टभिर्दशभिः श्रेष्ठा तथा द्वादशभिः पदैः ।
अष्टादशपदैर्वापि द्वाविंशत्या पदैर्युता ॥' इति ।

(२) नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में :—
'पूर्वं कृता मया नान्दी आशीर्वचनसंयुता ।
अष्टाङ्गपदसंयुक्ता प्रशस्ता वेदसंमता ॥' इति ॥

उसीके पाचवें अध्याय में :—
"सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यमस्वरमाश्रितः ।
नान्दीं पदैर्दादशभिरष्टाभिर्वाप्यलंकृतम् ॥" इति च ॥

(४) नाट्यप्रदीप में 'नान्दी' पद की व्युत्पत्ति इसप्रकार है—
"नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः ।
यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसी तस्मादियं सा कथितेह नान्दी ॥" इति ॥

अवतरणिका—सुप्तिङन्तरूप अष्टापदा और द्वादशपदा नान्दी के उदाहरण देते हैं :—

अर्थ—अष्टपदा नान्दी (का उदाहरण) **यथा— अनर्घराघव' में—"निष्प्रत्यूहम्"** इत्यादि । [सम्पूर्ण पद्य इसप्रकार है—

"निष्प्रत्यूहमुपास्महे भगवतः कौमोदको लक्ष्मणः ।
कोकप्रीतिचकोरपारणपटुज्योतिष्मती लोचने ॥
याभ्यामर्धविबोधमुग्धमधुरश्रीरर्धनिद्रायितो ।
नाभीपल्लवपुण्डरीकमुकुलः कम्बोः सपत्नीकृतः ॥"

अपि च

विरमति महाकल्पे नाभीपथैकनिकेतनः
त्रिभुवनपुरः शिल्पी यस्य प्रतिक्षणमात्मनः ।
किमधिकरिणा कीदृक्कस्य व्यवस्थिति-
रित्यसावुदरमविशद्द्रष्टुं तस्मै जगन्निधये नमः ॥]

द्वादशपदा नान्दी (का उदाहरण) **यथा**—मेरे पूज्य पिता जी का पुष्पमाला में – **शिरसीति**—शिवजी के सिर पर गंगा को धारण करने पर (सपत्नी गंगा को सिर पर देखकर क्रोध से) रक्त हो गई है मुखचन्द्र की कान्ति जिसकी ऐसी, अनन्तर अपने पति शिवजी के (अपराध को स्वीकार करके) दोनों चरणों पर झुकने पर ईषद् हास्य से सानुरागवती पार्वती आपको कल्याणदायिनी हो । [यह पद बारह पदों से रचित है ।]

एवमन्यत्र ।

अर्थ—इसीप्रकार अन्यत्र (श्लोकपादरूप पदविषय में और अवान्तर वाक्य रूप पदविषय में) नान्दी के उदाहरण समझने चाहिये ।

टिप्पणी—(१) उनमें से श्लोकपादरूप द्वादशपदा नान्दी का उदाहरण 'वेणीसंहार' नाटक में—'निषिद्धैरप्येभिर्लुलितमकरन्दो मधुकरैः

करैरिन्दोरन्तश्छुरित इव सम्भिन्नमुकुलः ।
विधत्तां सिद्धिं नो नयमसुभगामस्य सदसः
प्रकीर्णः पुष्पाणां हरिचरणयोरञ्जलिरयम् ॥१॥
कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसम्
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम् ।
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते—
रक्षुण्णोऽनुनयः प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्णातु वः ॥२॥
दृष्टः सप्रेम देव्याः किमिदमिति भयात्सम्भ्रमाच्चासुरीभिः
शान्तान्तस्तत्वसारः सकरुणमृषिभिर्विष्णुना सस्मितेन ।
आकृष्यास्त्रं सगर्वैरुपशमितवधूसम्भ्रमैर्दैत्यवीरैः
सानन्दं देवताभिर्मयपुरदहने धूर्जटिः पातु युष्मान् ॥३॥

यहाँ तीन श्लोकों से द्वादशपदा नान्दी है ।

(२) **श्लोकपादरूप अष्टपदा नान्दी 'मालतीमाधव' प्रकरण** में दो श्लोक होने से **अष्टापदी नान्दी है** ।

(३) **अवान्तर वाक्यरूपा द्वादशपदा** नान्दी का उदाहरण **नाट्यशास्त्र** के ५म **अध्याय में**—"नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यः, द्विजातिभ्यस्ततो नमः ।

जितं सोमेन वै राज्ञा, शिवं गोब्राह्मणाय च ॥
ब्रह्मोत्तरं तथैवास्तु, हता ब्रह्मद्विषस्तथा ।
प्रशास्ति मां महाराजः पृथिवीं च ससागराम् ॥
राष्ट्रं प्रवर्धतां चैव, रङ्गस्याशा समृध्यतु ।
प्रेक्षाकर्तुर्महान्धर्मो भवतु ब्रह्मभाषितः ॥

अवतरणिका—

प्रश्न—कुछ विद्वान् **रत्नावली** आदि में तीन श्लोकों से नान्दी होने के कारण **यहाँ कारिकास्थ 'प्रथमपद'** शब्द का भी श्लोक का चतुर्थ भाग अर्थ करना **स्वीकार करते हैं** ।

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि—

"इदं कविभ्यो पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे ।
विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम् ॥" इति ॥

इसप्रकार 'उत्तररामचरित' नाटक के अन्दर **द्वादशपदा नान्दी** की अनुपपत्ति होती है। **और इसप्रकार** अष्टाभिः इससे अधिक के उपलक्षण होने से तीन श्लोकों से होने वाली **नान्दी की भी संगति** हो जाती है । इसीलिये महानाटकों में तीन से अधिक श्लोकों से **नान्दी की गई है** ।

एतन्नान्दीति कस्यचिन्मतानुसारेणोक्तम् । वस्तुतस्तु 'पूर्वरङ्गस्य रङ्गद्वाराभिधानमङ्गम्' इत्यन्ये ।
यदुक्तम्—

'यस्मादभिनयो ह्यत्र प्राथम्यादवतार्यते ।
रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम् ॥' इति ।

उक्तप्रकारायाश्च नान्द्या रङ्गद्वारात्प्रथमं नटैरेव कर्तव्यतया न महर्षिणा निर्देशः कृतः ।

प्रश्न—**'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'** के अन्दर—

"या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥" इति ॥

इत्यादि में द्वादशपदों से घटित एक श्लोकनिर्मित नान्दी की संगति कैसे होगी ?

उत्तर—उसकी "कालिदासादिमहाकविप्रबन्धेषु च" ऐसा कहकर ग्रन्थकार ने ही 'नान्दीत्व' के अभाव का कथन कर दिया है । अतः विविध दृष्टिकोणों से विवेचना करके कहा है कि—

अर्थ—यह (**आशीर्वचनरूपा**) "**नान्दी**" (किसी अन्य के) मतानुसार कह दिया है । [**"कस्यचित्"**—ऐसा कहकर अपनी विमति प्रदर्शित कर दी है, क्योंकि इस लक्षण के अनुसार महाकवियों के काव्यों में अव्याप्ति दोष आता है ।] **वस्तुतस्त्विति**—(अपने मत को दिखाते हैं) वस्तुतः यह "रङ्गद्वार नामक पूर्वरङ्ग का अङ्ग" है । अर्थात् पूर्वरङ्ग का रङ्गद्वार ही अङ्ग है, नान्दी नहीं ऐसा कुछ दूसरे मानते हैं ।

यदुक्तमिति—क्योंकि कहा है—**यस्मादिति**—क्योंकि यहाँ (रङ्गशाला में) (आशीर्वचन से भी) पहले आरम्भ में अभिनय किया जाता है, अतः वाचिक (देवादिकों की स्तुत्यादि वचन से) और आङ्गिक (हाथ-सिर के संयोग आदि रूप अभिनय की चेष्टाओं से) अभिनय स्वरूप वाला रङ्ग का (रङ्ग में किये जाने वाले अभिनय का) द्वार (आरम्भ) समझना चाहिये । [अर्थात् पूर्वरङ्ग का रङ्गद्वार अङ्ग है, नान्दी का नहीं । इसप्रकार नाट्याचार्य भरतमुनि ने ही रङ्गद्वार को माना है, अतः हमारा मत ही ठीक है, यह भाव है] ।

अवतरणिका—उसके "**नान्दीत्वेन**" स्वीकार करने में भरतमुनि की विमति दिखाते हैं ।

अर्थ—उक्त प्रकार वाली ("**आशीर्वचनसंयुक्ता**" इस लक्षण वाली) 'नान्दी' के ("**नान्दी शुष्कावकृष्टा च रङ्गद्वारं तथैव च**" इत्यादि से पूर्वरंग के अङ्गभूत) रङ्गद्वार से पहले नटों के द्वारा ही किये जाने के कारण (काव्य के अन्दर न होने के कारण) महर्षि ने निर्देश नहीं किया है ।

टिप्पणी—(१) रङ्गद्वार से पूर्व ही वह नान्दी निर्विघ्न ग्रन्थ की परिसमाप्ति

कालिदासादिमहाकविप्रबन्धेषु च—

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः॥

एवमादिषु नान्दीलक्षणायोगात्।

के लिये कवियों के द्वारा की जाती है। इसप्रकार जो यह कहते हैं कि "महर्षि ने नान्दी मात्र का ही निर्देश नहीं किया है" यह किन्हीं का मत अनादरणीय ही है।

(२) कहने का आशय यह है कि सब नर्तक, विना किसी स्वरूप रचना के, मिलकर जो मंगलार्थ स्तुति आदि करते हैं, वह 'नान्दी' कहाती है। यह नटों का अपना कार्य है। सभी नाटकों में समान है। किसी नाटककार कवि को इसके लिये अपने नाटक में विशेष रचना करने की आवश्यकता नहीं है। अत: यह नाटक का अङ्ग नहीं, अतएव नाटक रचना के प्रकरण में मुनि ने इसका निर्देश नहीं किया।

अवतरणिका—'द्वादशपदा' आदि विशेषणयुक्त उस नान्दी का व्यभिचार दिखाने के लिये पूर्वपक्ष उठाते हैं।

अर्थ—और कालिदास आदि महाकवियों के प्रबन्धकाव्यों में—**वेदान्तेष्विति**—

प्रसंग—कालिदास विरचित विक्रमोर्वशीय में नान्दी रूप में विद्यमान यह पद्य है।

अर्थ—उपनिषदों में जिसको (शिवजी को) द्यावापृथिवी में व्याप्त होकर स्थित एक पुरुष [**"सर्वं खल्विदं ब्रह्म', नेह नानास्ति किञ्चन" 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादित अद्वितीय ब्रह्म] (वेदान्ती) कहते हैं। जिसमें (शिवजी के विषय में) अनन्य विषय वाला (केवल उसी का प्रतिपादन करने वाला) 'ईश्वर"— यह शब्द यथार्थ अक्षरवाला (**यथार्थानि—व्युत्पत्यनुकूलानि अक्षराणि यस्य तादृशः**) है। और जो (शिवजी) प्राणायामादि से नियन्त्रित कर लिये हैं शरीरस्थ प्राणादि पांच वायुओं को जिन्होंने ऐसे मुमुक्षु व्यक्तियों के द्वारा (योगियों से) अपने हृदय में खोजा जाता है, स्थिर भक्ति और योग से अथवा स्थिर भक्तियोग से सुलभ वह स्थाणु (शिवजी) तुम्हारे निश्चित कल्याण के लिये अथवा मुक्ति के लिये होवें।

एवमादिष्विति—इत्यादिकों में ('आदि' पद से भवभूति प्रभृतियों से विरचित **मालती-माधवादिकों में**) **'नान्दी'** का लक्षण घटित नहीं होता।

टिप्पणी—पद्य के अन्दर 'नान्दी' का पूर्वोक्त लक्षण घटित नहीं होता। न तो यह **'अष्टापदा'** है, और न यह **'द्वादशपदा'** है। अतः 'नान्दी' के लक्षण के अन्दर अव्याप्ति नामक दोष है। अतः **'वेदान्तेषु'** इत्यादि में **रंगद्वार** ही है, **नान्दी** नहीं।

अवतरणिका—प्रश्न—'नान्दी' के कविकरण पक्ष में नट के कर्म का अभाव होने से नाटक का आरम्भ कैसे होगा? इसका उत्तर देते हैं—

उक्तं च—'रङ्गद्वारमारभ्य कविः कुर्यात्'-इत्यादि। अत एव प्राक्तन-पुस्तकेषु 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इत्यनन्तरमेव 'वेदान्तेषु–' इत्यादिश्लोकलिखनं दृश्यते। यच्च पश्चात् 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इति लिखनं तस्यायमभिप्रायः—'नान्द्यन्ते सूत्रधार इदं प्रयोजितवान्', इतः प्रभृति मया नाटकमुपादीयत इति कवेरभिप्रायः सूचित इति।

अर्थ—और (महर्षि भरत ने) कहा है कि रङ्गद्वार से लेकर कवि (नाटक की रचना) करे—इत्यादि। [अर्थात् कवि अपनी रचना के अन्दर होने वाले विघ्नों को शान्त करने के लिये नाटक के अन्दर "रङ्गद्वारात्मक" मंगलाचरण करते हैं और नट अपने अभिनय के अन्दर होने वाले उपद्रवों को शान्त करने के लिये उसका पाठ करते हैं। अतः नाटक के आरम्भ में उसकी कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसप्रकार रङ्गद्वाररूपा नान्दी ही महर्षि को अभिमत है।] **अतएवेति**—अतएव प्राचीन पुस्तकों में "नान्द्यन्ते सूत्रधारः" इसके अनन्तर (ही) 'वेदान्तेषु' इत्यादि श्लोक लिखा हुआ दिखाई पड़ता है। और जो (वेदान्तेषु इस श्लोक के) पश्चात् "नान्द्यन्ते सूत्रधारः" यह लिखा हुआ मिलता है, उसका (परवर्ती लेखन का) यह अभिप्राय है कि "नान्द्यन्ते सूत्रधार इदं प्रयोजितवान्, इति प्रभृति मया नाटकमुपादीयते" अर्थात् रङ्गद्वाररूप नान्दी के अनन्तर सूत्रधार ने यह (वेदान्तेषु) पद्य कहा, अब यहाँ (वेदान्तेषु) से लेकर मैं (कवि) नाटक रचना प्रारम्भ करता हूँ, यह कवि का अभिप्राय सूचित किया है।

टिप्पणी—आशय यह है कि जहाँ नान्दी है, और रङ्गद्वार नहीं है, वहाँ तन्त्र से वही रंगद्वार है। जहाँ रंगद्वार ही है, नान्दी नहीं, वहाँ फल-बल से उसका अनुमान कर लेना चाहिये। यथा—'वेदान्तेषु' इत्यादि में सूत्रधार अवश्य-कर्त्तव्य होने से वहाँ "नान्दी पाठ" का अनुमान कर लेना चाहिये, और जहाँ आरम्भ में बहुत से श्लोक हैं, वहाँ दो श्लोकों में नान्दी और दूसरे रङ्गद्वार समझने चाहिये। 'काव्येन्दु-प्रकाश' में तो—

> "नीली शुद्धति भेदेन सा नान्दी द्विविधा भवेत्।
> उपादानं वर्णनं वा भवेद्यत्रेन्दुसूर्ययोः।
> सा नीली स्यात्तदन्या तु शुद्धेति परिगीयते॥

इसप्रकार 'नान्दी' के 'शुद्धा' और 'नीली' ये दो भेद दिखाये हैं। उनमें पुष्पवत् उपादान से '**या सृष्टिः स्रष्टुराद्या**' यह नीली है। उसके वर्णन से '**निष्प्रत्यूहम्**' यह भी नीली है। "**वेदान्तेषु यमाहुः**" यहाँ पर शुद्धा समझनी चाहिये।

पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते ।
प्रविश्य स्थापकस्तद्वत्काव्यमास्थापयेत्ततः ॥ २६ ॥
दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः ।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥ २७ ॥

काव्यार्थस्य स्थापनात्स्थापकः । तद्वदिति सूत्रधारसदृशगुणाकारः । इदानीं पूर्वरङ्गस्य सम्यक्प्रयोगाभावादेक एव सूत्रधारः सर्वं प्रयोजयतीति

अथ स्थापककर्तव्यनिरूपणम्—

अवतरणिका—नान्दी के अनन्तर किये जाने वाले कर्त्तव्य कर्मों को बताते हैं।

अर्थ—सूत्रधार (सूत्रं धरतीति सूत्रधारः) पूर्वरङ्ग का विधान समाप्त करके ही (नाट्यशाला से) निकल जाता है। उसके बाद उसी की तरह (सूत्रधार की तरह) 'स्थापक' नामक दूसरा नट (नाट्यशाला में) प्रवेश करके नाटक (काव्यम्) की (सभा की पूजा आदि करके) सूचना दे। दिव्य (स्वर्गीय) और मर्त्य (मर्त्यलोकीय) तथा दिव्य-मर्त्य, इसप्रकार वह (स्थापक) तद्रूप होकर दिव्यरूप होकर दिव्यवस्तु, बीज मुख, तथा पात्र की सूचना दे, मर्त्यरूप होकर मर्त्यलोकीय वस्तु, बीजादि की सूचना दे तथा उन दोनों में से (दिव्य और मर्त्य में से) कोई एक रूप होकर मिश्रवस्तु, (दिव्य और मर्त्यवस्तु) और बीजादि की सूचना दे।

टिप्पणी—सूत्रधार का लक्षण—

नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥

अन्यच्च— नाटकीयकथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते ।
रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥

मातृगुप्ताचार्य ने इसका लक्षण इसप्रकार किया है—

"चतुरातोद्यनिष्णातोऽनेकभूषासमावृतः ।
नानाभाषणतत्वज्ञो नीतिशास्त्रार्थतत्ववित् ॥
नानागतिप्रचारज्ञो रसभावविशारदः ।
नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वितः ॥
छन्दोविधानतत्वज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः ।
तत्तद्गीतानुगलयकलातालावधारणः ॥
अवधाय प्रयोक्ता च योक्तृणामुपदेशकः ।
एवं गुणगणोपेतः सूत्रधारोऽभिधीयते ॥ इति ॥

अर्थ—(स्थापक का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ) काव्य (नाटक) के अर्थ की स्थापना करने से स्थापक (कहलाता) है। तद्वत् का अर्थ है सूत्रधार के समान गुण और आकार वाला। [तथा च भरतः—"स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः] इस समय पूर्वरङ्ग के ठीक प्रकार से प्रयोग न होने से एक ही सूत्रधार सभी व्यवहारों को कर

व्यवहारः। स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा, मर्त्यं मर्त्यो भूत्वा, मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत्।

वस्तु इतिवृत्तम्, यथोदात्तराघवे—

रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो-
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम्।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परामुन्नतिं
प्रोत्सिक्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः॥

बीजं यथा रत्नावल्याम्—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥

अत्र हि समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थिताया रत्नावल्या अनुकूलदैवलालितो वत्सराजगृहप्रवेशो यौगन्धरायणव्यापारमारभ्य रत्नावलीप्राप्तौ बीजम्।

देता है। वह स्थापक दिव्यवस्तु को दिव्य होकर, मर्त्यवस्तु को मर्त्य होकर और मिश्रित वस्तु को दिव्य और मर्त्य में से कोई एकरूप धारण करके (सामाजिकों को वस्तु, बीज, मुख अथवा पात्र की) सूचना दे।

अर्थ—(स्थापक के द्वारा) वस्तु अर्थात् इतिवृत्त (की सूचना का उदाहरण)—यथा—उदात्तराघव में—राम इति—

(१) (वस्तुरूप का उदाहरण)—रामचन्द्र जी माला की तरह (इससे अतिशय आनन्द की सूचना मिलती है) पिता दशरथ की आज्ञा को सिर पर धारण करके अर्थात् स्वीकार करके वन में चले गये, भरत जी ने उनकी (रामचन्द्र जी के प्रति) भक्ति से माता के साथ ही सम्पूर्ण राज्य को छोड़ दिया, वे दोनों (प्रसिद्ध) आश्रित सुग्रीव और विभीषण (रामचन्द्र जी के द्वारा बालि और रावण के वध से) निरतिशय ऐश्वर्य को (राज्यप्राप्ति रूप) हुये, अत्यन्त गर्वित रावण प्रभृति समस्त शत्रु (रामचन्द्र जी ने ही) ध्वस्त कर दिये।

टिप्पणी—यहाँ 'स्थापक' ने समस्त अभिनेतव्य वस्तुजात को सामान्यतः सूचित कर दिया है।

अर्थ—(२) बीज का (उदाहरण) यथा—रत्नावली में—द्वीपादिति—अनुकूलता को प्राप्त दैव अन्य (अपने निवास स्थान से भिन्न) द्वीप (द्विर्गता आपो यस्मिन्निति द्वीपम्) के भी, समुद्र के (जलानि निधीयन्तेऽस्मिन्निति जलनिधिः) मध्य से भी (तथा) दिशाओं के अन्तभाग से भी अभीष्ट वस्तु को लाकर झटिति मिला देता है।

टिप्पणी—यहाँ "स्थापक नट' मर्त्यरूप होकर बीज की सूचना देता है।

अर्थ—(बीज की सूचना को दिखाते हैं) यहाँ समुद्र में जलयान के नष्ट होने से डूबकर निकली हुई रत्नावली (नामक नाटिका की नायिका) का अनुकूल दैव के द्वारा वत्सराज के घर में प्रवेश (तथा पुनः) यौगन्धरायण (नामक सचिव) का व्यापारादिक से लेकर रत्नावली की प्राप्ति तक बीज है।

मुखं श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः ।
यथा—

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तिः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं रामो दशास्यमिव संभृतबन्धुजीवः ॥

पात्रं यथा शाकुन्तले—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥

अर्थ—(३) श्लेषादि के द्वारा ('आदि' पद से अन्यापदेश, समासोक्ति और अप्रस्तुत-प्रशंसा का ग्रहण होता है) प्रस्तुत कथा वृत्तान्त की सूचना देने वाला वचन-विन्यास '**मुख**' कहलाता हैं । **यथा—आसादितेति**—[**प्रसंग**—यह शरद् ऋतु का वर्णन है । यहाँ **शरद्पक्ष** में और **रामपक्ष** में क्रमशः अर्थ समझना चाहिये] । **अर्थ-शरद्पक्षे**—प्राप्त किया है, स्फुट निर्मल (मेघादि के आवरण से शून्य होने के कारण) चन्द्रमा का विकास जिसने ऐसी, **रामपक्षे**—(रावण के वध से) प्राप्त किया है उज्वल (प्रकट) और तीक्ष्ण धारवाली (निर्मल) चन्द्रहास नामक तलवार जिसने ऐसा, **शरद्पक्षे**—समुज्वल है (बादलों के हट जाने से) (शरद् समय में अगस्त्य के उदय होने से जलाशय स्वच्छ और रमणीय हो जाते हैं) नक्षत्रादिकों की ज्योति जिसमें ऐसा, **रामपक्षे**—(शत्रु के क्षय होने से) समुज्वल है शोभा जिसकी ऐसा, अथवा—(वह्नि में) विशुद्ध हो गई है कान्ता= पत्नी जिसकी ऐसा, **शरद्पक्षे**—सम्यक्तया विकसित हुये हैं बन्धुजीव नामक पुष्प जिससे ऐसा, **रामपक्षे**--बचाये हैं (विभीषण, सुग्रीवादिकों के राक्षसों से) प्राण जिसने ऐसा, यह शरद् समय रावण की तरह भीषण निबिड़ अन्धकार वाले, **अन्यत्र**—प्रगाढ़ तमोगुण से व्याप्त वर्षाकाल को **अन्यत्र** अत्यन्त कृष्णवर्ण वाले रावण को विनष्ट करके रामचन्द्र जी की तरह आ गया है ।

टिप्पणी—यहाँ **चन्द्रहासादि** पदों के श्लेष से प्रस्तुत **रामचरित्ररूप वृत्तान्त** सूचित किया गया है । परन्तु नायक के नाम की सूचना से पात्र की सूचना भी सम्भव हो सकती है । अतः इसका **पात्र** से **असंकीर्ण** उदाहरण, यथा--**अनर्घराघव में**--

"यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥"

यहाँ रामचन्द्रजी के सहायक वानर हैं और विभीषण ने रावण का त्याग, श्लेष से सूचित किया है ।

अर्थ—(४) **पात्र** (का उदाहरण) **यथा—शाकुन्तल में--तवेति**—

प्रसंग—यहाँ पर सूत्रधार अभिनेतव्य वस्तु को भूल गया है । उस भूल जाने का कारण क्या है ? यह बतलाता है ।

अर्थ--मनोहर अर्थात् चित्ताकर्षक और दूर अपहरण करने वाले तुम्हारे (नटी के) गाने के स्वर से अत्यन्त वेगशाली हरिण से यह (पुरोदृश्यमान) राजा दुःष्यन्त की तरह हठात् आकृष्ट हो गया हूँ **राजपक्षे** दूर ले जाया गया है ।

टिप्पणी—यहाँ दुष्यन्त पात्र प्रवेश की सूचना दी गई है ।

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्तयेत् ।। २८ ।।
ऋतुं च कञ्चित्प्रायेण भारतीं वृत्तिमाश्रितः ।

स स्थापकः । प्रायेणेति क्वचिदृतोरकीर्तनमपि । यथा—रत्नावल्याम् ।
भारतीवृत्तिस्तु—

अर्थ—वह (स्थापक) भारतीवृत्ति का आश्रय लेता हुआ काव्य के (दृश्य काव्य के वृत्तान्त को) अर्थ का बोधन करने वाले श्लोकों से नाट्यशाला में विद्यमान सामाजिकों को (रंगम्) प्रसन्न करके रूपक का (अभिनेय दृश्य काव्य का) और (उसके रचयिता) कवि का नाम तथा उसके गोत्रादि का ('आदि' पद से उसके निवासादि का भी) कथन करता है, प्रायः किसी ऋतु का (भी) वर्णन करता है ।

सः—स्थापक । **प्रायेण** का तात्पर्य है कि कहीं ऋतु का वर्णन नहीं भी होता है । यथा—रत्नावली में ।

टिप्पणी—(१) आशय यह है कि पहले थोड़ी या बहुत सभा की प्रशंसा करनी चाहिये । उसके बाद काव्यार्थ की सूचना देने वाले गद्य के द्वारा अथवा पद्य के द्वारा अथवा गद्य-पद्य दोनों के द्वारा रूपक का नाम बताना चाहिये, तथा रूपक का नाम ही वैसा रखना चाहिये जिससे उस रूपक की कथावस्तु को समझने में सामाजिकों को दुरूहता न हो और उस रूपक का निर्माण किस कवि ने किया है उस कवि का नाम, यदि कवि प्रसिद्ध नहीं है तो उसके गोत्रादि का नाम यथानुसार कहना चाहिये । इसीलिये शाकुन्तलादि में कवि के गोत्रादि का नाम नहीं लिया गया है । तथा उत्तररामचरित और मुद्राराक्षसादि में गोत्रादि नाम का कीर्तन किया गया है । यथा—**उत्तररामचरिते**—"अद्य खलु भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रायामार्थमिश्रान् विज्ञापयामि" इति । **रत्नावली** में भी—"अद्य वसन्तोत्सवे सबहुमानमाहूय नानादिग्देशागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मोपजीविना राजसमूहेनोक्तः" इति । **प्रबोधचन्द्रोदय** में—तदद्य राज्ञः श्रीकीर्तिवर्मणः पुरस्तादभिनेतव्यं भवता" इति । इसीप्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये ।

(२) **दशरूपक** में—रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ।। इति ।।

सामाजिकों की प्रशस्ति करने के उपरान्त—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया ।
तैस्तैर्बन्धुबधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वरभसा गौरी नवे संगमे ।
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवा पातु वः ।।

इत्यादिकों से भारतीवृत्ति का आश्रय लेना चाहिये ।

अथ भारतीवृत्तिनिरूपणम् :—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः ॥ २९ ॥

संस्कृतबहुलो वाक्प्रधानो व्यापारो भारती ।

तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे ।

अङ्गान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना ॥ ३० ॥

प्रस्तुताभिनयेषु प्रशंसातः श्रोतॄणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्ररोचना । यथा रत्नावल्याम्—

'श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी,
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् ।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥'

अर्थ—भारतीवृत्ति (का लक्षण) तो—संस्कृतप्राय नर के आश्रय वाला (नारी के नहीं) वाग्व्यापार 'भारती' (कहलाता) है ।

[कारिका को स्पष्ट करते हैं ।] संस्कृतप्रायः-संस्कृत बहुल ('प्रायः' पद का अर्थ बहुल है) । इसप्रकार यत्किञ्चित् प्राकृतभाषा से भी संयुक्त हो । यह सूचित किया है । वाक्प्रधानः—इससे यत्किञ्चित् आङ्गिक, आहार्य, सात्विक और अभिनय के प्रकार भी सम्भव हो सकते हैं, यह सूचित किया है । व्यापार (=अभिनय वाली) "भारती" वृत्ति होती है ।

टिप्पणी—यह 'भारतीवृत्ति' ऋग्वेद से उत्पन्न हुई है । भरतमुनि ने कहा भी है—"ऋग्वेदाद्भारतीवृत्तिरिति" ।

अर्थ—(भारतीवृत्ति के भेद दिखाते हैं) उसके (भारतीवृत्ति के) (१) **प्ररोचना**; (२) **वीथी** (३) **प्रहसन** तथा (४) **आमुख** (ये चार) अङ्ग होते हैं । (१) (**प्ररोचना का लक्षण**) इन (चारों अङ्गों) में से सामाजिकों की प्रशंसा से (गुण कीर्तन से) (अभिनय को देखने में) उत्कण्ठित करना **प्ररोचना** (नामक भारतीवृत्ति होती) है ।

टिप्पणी—'प्ररोचना' की नाम सार्थकता—

प्ररोचना नाम प्रकर्षेण रुच्युत्पादनं यस्यां सेत्यन्वर्थेयं संज्ञा ॥

अर्थ—प्रस्तुत अभिनय में सामाजिकों की प्रशंसा से श्रोताओं की प्रवृत्ति को उत्कण्ठित करना 'प्ररोचना' (कहलाता) है । यथा—रत्नावली में—

श्रीहर्ष इति—श्रीहर्ष निपुण कवि हैं (इस नाटिका के निर्माता हैं । यद्यपि 'धावक' ही यहाँ पर कवि हैं तथापि राजा श्रीहर्ष की प्रीति के लिये उन्हीं के कवित्व का आरोप किया है) यह सभा भी गुणों को ग्रहण करने में तत्पर है (दोषों के ग्रहण करने में नहीं) और वत्सराज उदयन का चरित जगत् में मन को आकर्षित करने वाला है, और हम अभिनय-व्यापार में निपुण हैं । इस अभिनय व्यापार में एक-एक भी (सबका तो कहना ही क्या ?) वस्तु (कवित्वादिक) अभिलषित फल प्राप्ति का स्थान अथवा कारण है । मेरे भाग्य की वृद्धि के कारण यह सब गुणों का (कवित्व, नाट्य-दक्षत्वादि रूप गुणों का) समूह एकत्रित हो गया है; इस विषय में कहना ही क्या है ? (किं पुनः) । [अवश्य ही इस विषय में मेरे भाग्य ही कारण है ।]

टिप्पणी—यहाँ कवि प्रभृतियों की प्रशंसा से सामाजिकों के हृदय में अभिनय के प्रति उत्कण्ठा पैदा करने के कारण 'प्ररोचना' है ।

वीथीप्रहसने वक्ष्येते ।

> नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
> सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥ ३१ ॥
> चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
> आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥ ३२ ॥

सूत्रधारसदृशत्वात् स्थापकोऽपि सूत्रधार उच्यते । तस्यानुचरः पारिपार्श्विकः, तस्मात्किञ्चिदूनो नटः ।

> उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
> प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—२-३ वीथी और प्रहसन का (आगे चलकर) वर्णन करेंगे ।

(आमुख का लक्षण) नटी अथवा विदूषक अथवा पारिपार्श्विक (परितः-समन्तात् सूत्रधारस्य पार्श्वे चरतीति पारिपार्श्विकः) यह सूत्रधार के साथ जहाँ सुन्दर (चित्रैः) अपने कर्तव्य व्यापार से उत्पन्न होने वाले अथवा अपने कार्य (पात्र प्रवेश) के उपयुक्त प्रकृत वृत्त का आक्षेप करने वाले वाक्यों से परस्पर वार्तालाप करते हैं, उसे 'आमुख' समझना चाहिये, (प्रकृत अभिनय के प्रारम्भ में होने के कारण) और उसे नाम से प्रस्तावना भी [प्रस्तावयति—प्रकृताभिनयविषयं सूचयति या सा प्रस्तावना] समझना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) प्रकृत कारिका के अन्दर 'नटी' के स्थान पर 'नटः' कहना अधिक उचित है क्योंकि **'तस्मात् किञ्चिदूनो नटः'** इसकी भी संगति बैठ जाती । 'मन्दारमरन्द' में तो दोनों का ही (नट और नटी का) ग्रहण किया गया है । यथा—'नटी विदूषको वापि नटो वा पारिपार्श्विकः' इति ।

(२) पारिपार्श्विक का लक्षण—

> **सूत्रधारस्य पार्श्वे यः प्रकरोत्यमुना सह ।**
> **काव्यार्थसूचनालापं स भवेत्पारिपार्श्विकः ॥**

अवतरणिका—प्रश्न—"**पूर्वरङ्गं विधायैव**" इत्यादि से सूत्रधार के पहले ही नाट्यशाला से निकल जाने से स्थापक के काव्यार्थ के प्रतिपादन करने से पुनः यहाँ "**सूत्रधारेण सहिताः**" इस कथन की संगति कैसी लगेगी ? इसका उत्तर देते हैं ।

अर्थ—सूत्रधार के समान होने के कारण स्थापक भी सूत्रधार कहलाता है । उससे (सूत्रधार से) कुछ स्वल्प गुणों वाला नटविशेष उसका अनुचर पारिपार्श्विक होता है ।

अथ प्रस्तावना (आमुख) भेदनिरूपणम्—

अर्थ—(प्रस्तावना के भेद) (१) उद्घात्यक (२) कथोद्घात (३) प्रयोगातिशय (४) प्रवर्त्तक तथा (५) अवलगित—ये पांच प्रस्तावना के भेद होते हैं ।

तत्र—

पदानि त्वगतार्थानि तदर्थंगतये नराः।
योजयन्ति पदैरन्यैः स उद्घात्यक उच्यते ॥ ३४ ॥

यथा मुद्राराक्षसे सूत्रधारः—

'क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलात्—'

इत्यनन्तरम्—'(नेपथ्ये।)
आः, क एष मयि जीवति चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति।' इति।
अत्रान्यार्थवन्त्यपि पदानि हृदयस्थार्थगत्या अर्थान्तरे संक्रमय्य पात्रप्रवेशः।

अवतरणिका—क्रमशः प्रस्तावना के भेदों के लक्षण करते हैं।

अर्थ—(उद्घात्यक का लक्षण) (अप्रसिद्ध होने के कारण) अप्रतीत अर्थ वाले पदों के अभिप्रेत अर्थ के ज्ञान के लिये (नाट्यशाला में प्रवेश करते हुये स्थापक के कहे हुओं से भिन्न) मनुष्य (जहाँ) दूसरे (अभिप्रेत अर्थ को बताने वाले) पदों से जोड़ते हैं (अभिप्रेत अर्थ में संक्रमण करते हैं) वह, (**प्रवेष्टुरभिप्रेतार्थे स्थापकस्याभिप्रेतार्थं उद्धन्यत अन्तर्लीयत इति उद्घात्यकः उद्घात्यक** कहलाता है।

अर्थ—(उद्घात्यक का उदाहरण) **यथा-मुद्राराक्षस** (नामक विशाखदत्त विरचित नाटक) में सूत्रधार (नटी से कहता है) **क्रूरग्रह इति**—

प्रसङ्ग--चन्द्रग्रहण होगा यह बात बताते हुये स्थापक की उक्ति है।

अर्थ—राहु (क्रूरग्रह) केतु के साथ सम्प्रति असम्पूर्ण बिम्ब वाले चन्द्रमा को हठात् ग्रसना चाहता है। [इसका चतुर्थपाद है—"**रक्षत्येनं तु बधुयोगः**" किन्तु अपने पुत्र के साथ (बुध) योग इसकी (चन्द्रमा की) रक्षा करता है।] **शिलष्टार्थस्तु--क्रूर** आशय वाला अथवा क्रूर व्यवस्था में है आसक्ति जिसकी ऐसा (अमात्य राक्षस) मलय-केतु के साथ सम्प्रति शीघ्र राज्याभिषिक्त होने के कारण अप्रतिहत आज्ञा भाव से अस्वाधीन प्रजामण्डल वाले चन्द्रगुप्त को बल, सामर्थ्य अथवा मित्रादि के सैन्य का आश्रय लेकर (बलात्) पराजित करना चाहता है। [**किन्तु चाणक्य के साथ चन्द्रगुप्त का क्रियाकौशल इस चन्द्रगुप्त की दुष्ट राक्षस से रक्षा करता है।**]

टिप्पणी—गर्गाचार्य ने ऐसा कहा है कि बुध से चन्द्रमा की रक्षा होती है। यथा—

"पञ्चग्रहसमायोगं दृष्ट्वा सौम्यविवर्जितम्।
ग्रहणं तु वदेत्तत्र सबुधं न ग्रहं वदेत् ॥" इति।

अर्थ—इसके अनन्तर (नेपथ्य में)

आह! यह कौन मेरे (चाणक्य) जीते हुये होने पर चन्द्रगुप्त को बलात् पराजित करना चाहता है।

[लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ (सूत्रधार के कहने में) अन्यार्थ वाले भी (पाप ग्रह राहु-पूर्णमण्डल चन्द्ररूप स्थापक के अभिप्रेत अर्थों को प्रतिपादित करते हुये भी) पद ('**क्रूरग्रहः, सकेतुचन्द्रमसम्पूर्णमण्डलम्**' इत्यादि शब्दों को)

सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा।
भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्घातः स उच्यते ॥ ३५ ॥

वाक्यं यथा रत्नावल्याम्—'द्वीपादन्यस्मादपि—' इत्यादि सूत्रधारेण पठिते—'(नेप्थ्ये) एवमेतत्। कः सन्देहः ? द्वीपादन्यस्मादपि—' इत्यादि पठित्वा यौगन्धरायणस्य प्रवेशः।
वाक्यार्थो यथा वेण्याम्—

(चाणक्य के) हृदय में विद्यमान अर्थों की (चन्द्रगुप्त के पराभवरूप, मलयकेतु सहित राक्षस—अस्वाधीन प्रजामण्डल चन्द्रगुप्त रूप प्रतिपाद्य अर्थों का प्रकृत चन्द्रग्रहण के अन्दर) ज्ञान न कराने से दूसरे अर्थ में (चन्द्रगुप्त अभिभव रूप अर्थ में) संक्रान्त करके (चन्द्र के साथ गुप्त पद का संयोग करके) चाणक्य का प्रवेश है।

अर्थ-(२) (कथोद्घात का लक्षण) सूत्रधार के वाक्य को लेकर (अर्थात् सूत्रधार के सम्पूर्ण वाक्य का उच्चारण करके) इसके (सूत्रधार के) अर्थ को (वाक्य के अर्थ को) लेकर (अर्थात् सूत्रधार के वाक्यार्थ के अनुसार सोचकर) [पहले वाक्य का अनुकरण है और बाद में वाक्य का अनुकरण किये बिना अर्थ का अनुशीलन है।] यदि पात्र का प्रवेश हो तो, कथया—सूत्रधारवाक्येन उद्घातः पात्रोपस्थितिर्यत्र सः)= कथोद्घात कहलाता है।

टिप्पणी—(१) उद्घात्यक और कथोद्घात में अन्तर—
उद्घात्यके सूत्रधाराभिप्रेतार्थस्य पात्रेणार्थान्तरे संक्रमणम्।
कथोद्घाते तु तदभिप्रेतार्थस्यैव पात्रेण तत्त्वतो ग्रहणम्—इत्यनयोर्भेदः।

(२) 'काव्येन्दुप्रकाशकार' ने कथोद्घात का लक्षण इसप्रकार दिया है—
'हृदि स्थानामर्थवतां पदानामन्यथाकृते।
यः पात्रस्य प्रवेशः स्यात् स कथोद्घात इष्यते ॥' इति ॥

(२) इसप्रकार 'कथोद्घात' दो प्रकार का है—
(१) सूत्रधारस्य वाक्यं समादाय। (२) सूत्रधारस्य अर्थं समादाय।

अर्थ—(१) (सूत्रधारस्यवाक्यंसमादाय का उदाहरण) यथा-(श्रीहर्षकृत नाटिका) रत्नावली में—"द्वीपादन्यस्मादपि"—इत्यादि सूत्रधार के पढ़ने के उपरान्त (नेपथ्य में) ऐसा ही है। (इसमें) कौन सा सन्देह है ? 'द्वीपादन्यस्मादपि'—इत्यादि पुनः पढ़कर यौगन्धरायण (नामक नगररक्षक श्रीवत्सराज के मंत्री) का प्रवेश है।

टिप्पणी—यहाँ यौगन्धरायणरूप पात्र का सूत्रधार के वाक्य का पुनः अनुकरण करके प्रवेश होने से 'प्रथम प्रकार का कथोद्घात' समझना चाहिये।

अर्थ—(सूत्रधारस्य) (वाक्यार्थं समादाय का उदाहरण) यथा-वेणीसंहार (नामक नारायणभट्टकृत नाटक) में—

'निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥'

इति सूत्रधारेण पठितस्य वाक्यस्यार्थं गृहीत्वा—'(नेपथ्ये) आः दुरात्मन् ! वृथा मंगलपाठक ! कथं स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ?' ततः सूत्रधारनिष्क्रान्तौ भीमसेनस्य प्रवेशः ।

यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत्प्रयोगातिशयस्तदा ॥ ३६ ॥

अर्थ–निर्वाणेति–विलुप्त हो गया है वैर अग्नि की तरह जिनका ऐसे, शत्रुओं के (दुर्योधनादिकों के) सन्धि कर लेने के कारण शान्ति का अवलम्ब करने से युधिष्ठरादि श्रीकृष्ण जी के साथ (**माया लक्ष्म्या धवो पतिर्यः सः = माधवः = श्रीकृष्णः**) आनन्द का अनुभव करें । (तथा) अनुराग से वश में कर ली है पृथिवी जिन्होंने ऐसे अतएव सन्धि कर लेने से विनष्ट हो गया है कलह जिनका ऐसे अनुचरों के साथ धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधनादि स्वस्थ रहें । [अर्थात् दोनों ही पक्षों में सन्धि हो जाये] **द्वितीयार्थस्तु**—शत्रुओं के मर जाने से विनष्ट हो गई है वैर की अग्नि जिनकी ऐसे पाण्डुपुत्र युधिष्ठरादि श्रीकृष्ण जी के साथ आनन्दित होवें । रुधिर से शोभित कर दी है पृथिवी जिन्होंने ऐसे क्षत-विक्षत शरीर वाले धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधनादि स्वर्ग-सुख का अनुभव करें ।

टिप्पणी—इस पद्य का पूर्वार्द्ध ही लक्ष्य है, उत्तरार्ध के अन्दर पताका' है ।

अर्थ—(लक्षण घटाते हैं)—इसप्रकार सूत्रधार के द्वारा कहे हुये वाक्य के अर्थ (तात्पर्य) का ग्रहण करके (वाक्य का अनुकरण किये विना उसके अर्थ के अनुशीलन से) [नेपथ्य में 'आह ! दुरात्मन् ! वृथामङ्गल पाठ करने वाले ! मेरे जीवित होने पर धृतराष्ट्र पुत्र कौरव कैसे स्वस्थ हो सकते हैं ? (यह कहते हुये) सूत्रधार के निकल जाने पर भीमसेन का प्रवेश है ।

टिप्पणी—यहाँ "**दूसरे प्रकार का कथोद्घात**" है । कुछ की सम्मति में—

द्व्यर्थता यत्र वाक्यानां श्लेषेणार्थः प्रतीयते ।
शब्दव्यंग्यानुपात्तोऽपि **श्लेषगण्डः** स उच्यते ॥

इसप्रकार श्लेषगण्ड नामक नाटक का अंग है । दशरूपक के अन्दर वाक्य का उदाहरण "द्वीपादन्यस्मादपि" है, तथा वाक्यार्थ का उदाहरण 'निर्वाणवैरदहनाः' है ।

अर्थ–(२) (**प्रयोगातिशय** का लक्षण) यदि एक प्रयोग के अन्दर (अर्थात् सूत्रधार के किसी विषय पर विचार करते हुये होने पर) दूसरा प्रयोग प्रयुक्त किया जाता है (उसी सूत्रधार द्वारा विचारे हुये विषय का अतिक्रमण करके किसी अन्य विषय का विचार किया जाता है) और उससे (दूसरे प्रयोग से) पात्र का प्रवेश होता है तो (**द्वितीयप्रयोगेणप्रथमप्रयोगस्य अतिशयः-अतिक्रमो यत्र सः**) **प्रयोगातिशय** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—**दशरूपक में प्रयोगातिशय** का लक्षण—

एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगतः ।
[illegible] **प्रयोगातिशयो** मतः ॥

यथा कुन्दमालायाम्—('नेपथ्ये) इत इतोऽवतरत्वार्या । सूत्र-धारः—कोऽयं खल्वार्याह्वानेन साहायकमपि मे सम्पादयति । (विलोक्य) कष्टमतिकरुणं वर्तते ।

लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति ।
रामेण लोकपरिवादभयाकुलेन ।
निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुर्वीं
सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम् ॥'

अत्र नृत्यप्रयोगार्थं स्वभार्याह्वानमिच्छता सूत्रधारेण 'सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्' इति सीतालक्ष्मणयोः प्रवेशं सूचयित्वा निष्क्रान्तेन स्वप्रयोगमतिशयान एव प्रयोगः प्रयोजितः

कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ।

अर्थ—(प्रयोगातिशय का उदाहरण) यथा—कुन्दमाला (नामिका नाटिका) में—[नेपथ्य में] इधर इधर आर्या (सीता से अभिप्राय है) आवें । सूत्रधार—यह कौन आर्या को (सूत्रधार ने अपनी पत्नी नटी के विषय में समझा) बुलाने के द्वारा मेरी सहायता कर रहा है ? (देखकर) अत्यन्त कष्ट है—

लङ्केश्वरस्येति—रावण के घर में (लङ्का में) चिरकाल तक (दस मासपर्यन्त) (सीता) रही (अतः उसके सतीत्व में सन्देह ही है), इसप्रकार लोक की निन्दा के भय से आकुल राम के द्वारा अयोध्या से निर्वासित गर्भ के कारण भारवती भी सीता को यह लक्ष्मण वन ले जाने के लिये खींच रहा है ।

(लक्ष्य में लक्षण को घटाते हुये **प्रयोगातिशय** पद के यौगिक अर्थ को दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (नृत्य के अवसर पर) नृत्य के लिये अपनी पत्नी (नटी) को बुलाना चाहते हुये सूत्रधार के **"सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्"** अर्थात् यह लक्ष्मण सीता जी को वन में ले जाने के लिये खींच रहा है, इसप्रकार सीता और लक्ष्मण के प्रवेश की सूचना देने के उपरान्त निकल जाने से अपने प्रयोग का (नृत्य रूप का) अतिक्रमण करते हुये ही प्रयोग को (सीता-लक्ष्मण के प्रवेश रूप अन्य प्रयोग को) प्रयुक्त (सूचित) किया है ।

टिप्पणी—प्रश्न—अन्य भी उद्घात्यकादि प्रस्तावना के चार भेदों में सूत्रधार के द्वारा अपने का अतिक्रमण करके दूसरे प्रयोग से ही पात्र का प्रवेश सूचित करने से "प्रयोगातिशय" का अति प्रसङ्ग होगा ? उत्तर—नहीं, ऐसी बात नहीं है क्योंकि सामान्य और विशेष के उपलब्ध होने से जहाँ-जहाँ विशेष उद्घात्यकादिकों की असम्भवनीयता है, वहाँ-वहाँ "प्रयोगातिशय" समझना चाहिये । अतएव **'मालतीमाधव'** और **'उत्तररामचरित'** में प्रस्तावना में से अन्यों के न होने से 'प्रयोगातिशय' ही है, ऐसा मत है ।

अर्थ—(४) (**प्रवर्त्तक** का लक्षण) जहाँ उपस्थित समय (वसन्तादिक) का आश्रय लेकर सूत्रधार वर्णन करता है, वहाँ उसी (समय) का (श्लेषादि के द्वारा) आश्रय

तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम् ॥ ३७ ॥

यथा—

'आसादितप्रकट—' इत्यादि। ('ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रामः')

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ।
प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः ॥ ३८ ॥

लेकर जब पात्र का प्रवेश होता है (तो) वह **प्रवर्त्तक** (**पात्रमभिनये प्रवर्तयतीति=प्रवर्त्तकः**) (कहलाता) है।

टिप्पणी—प्रश्न—"**कालं प्रवृत्तमाश्रित्य**" यहाँ पर '**काल**' पद से वर्तमान काल की भी प्रतीति होने पर जिस किसी कर्म विधान में वर्तमानकालिकता अवश्य होगी, अतः उस समय के आश्रय के अवश्य कहने पर उद्घात्यकादि उदाहरणों में "**अभिभवतुमिच्छति बलात्**" इत्यादि के लिङ् से वर्तमान काल का निर्देश होने के कारण "**प्रवर्त्तक**" की प्रसक्ति होती है ? उत्तर—ठीक है, परन्तु यहाँ पर "**काल**" पद साक्षात् वाचक पद से निर्दिष्ट वसन्त, शरद् आदि काल विशेष का बोधन करा रहा है—अतः "**प्रवर्त्तक**" की प्रसक्ति का प्रश्न नहीं आता।

अर्थ—(**प्रवर्तक** का उदाहरण) यथा—"**आसादितप्रकट**……" इत्यादि। (उसके बाद यथानिर्दिष्ट (प्रकटनिर्मलचन्द्र………) रामचन्द्र जी प्रवेश करते हैं।)

(५) (**अवलगित** का लक्षण) जिस प्रयोग में (प्रस्तावना में) एक विषय में सादृश्य की उद्भावना से दूसरा (उपमानभूत पात्र प्रवेश रूप) कार्य (सूत्रधार के द्वारा) सूचित किया जाता है, उसे विद्वानों को (**अवलगति सहशोभनमवसजतीति नाम्ना अवलगितम्**) '**अवलगित**' नाम से समझना चाहिये।

टिप्पणी—(१) प्रश्न—सादृश्य की उद्भावना से उपमानभूत पात्र के प्रवेश के सूचक अवलगति के होने पर प्रवर्तक के उदाहरण में भी "**रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः**"—यहाँ सादृश्य की उद्भावना से उपमानभूत पात्र के प्रवेश की सूचना से "अवलगित" का प्रसक्ति होती है ? उत्तर—नहीं, ऐसी बात नहीं है। "**मुखं श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्यप्रतिपादको वाग्विशेषः। प्रवर्तक और अवलगित में अन्तर**—श्लेषादि के होने पर **प्रवर्तक** और न होने पर **अवलगित** समझना चाहिये। यही इन दोनों में अन्तर है।

(२) **दशरूपक** में दो भेद दिखाकर उदाहरण भी दिये हैं—**अवलगित** का लक्षण—"यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ।
प्रस्तुतेऽन्यत्र वान्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा ॥

(३) प्रवर्तक और अवलगित में भेद—

प्रकृतकालवर्णनानुरूपपात्रप्रवेशलक्षणात्प्रवर्तकतो यत्किञ्चिद्वर्णनात्पात्रप्रवेश-रूपावलगितस्य भेदः स्पष्ट एव ॥

यथा शाकुन्तले—

सूत्रधारो नटीं प्रति । 'तवाऽस्मि गीतरागेण—' इत्यादि । ततो राज्ञः प्रवेशः ।

योज्यान्यत्र यथालाभं वीथ्यङ्गानीतराण्यपि ।

अत्र आमुखे । उद्धात्यत कावलगितयोरितराणि वीथ्यङ्गानि वक्ष्यमाणानि ।

नखकुट्टस्तु—

नेपथ्योक्तं श्रुतं यत्र त्वाकाशवचनं तथा ॥ ३९ ॥
समाश्रित्यापि कर्तव्यमामुखं नाटकादिषु ।
एषामामुखभेदानामेकं कञ्चित्प्रयोजयेत् ॥ ४० ॥
तेनार्थमथ पात्रं वा समाक्षिप्यैव सूत्रधृक् ।
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रयोजयेत् ॥ ४१ ॥

वस्त्वितिवृत्तम् ।

अर्थ—(अवलगित का उदाहरण) **यथा**—शाकुन्तल में सूत्रधार नटी के प्रति कहता है कि—"**तवास्मि गीतरागेण**" इत्यादि । उसके बाद राजा (दुष्यन्त) का प्रवेश होता है ।

टिप्पणी—यहाँ गीत प्रशंसारूप प्रयोग के अन्दर राजा का प्रवेश रूप अन्य कार्य सम्पादित हुआ है । अतः **अवलगित** है ।

अवतरणिका—इसप्रकार प्रस्तावना (आमुख) के उद्घात्यकादि पाँच भेदों का वर्णन करके, उन्हीं प्रयोगों के अन्दर यथास्थान वीथ्यंगों का प्रयोग करना चाहिये — इस आशय से कहते हैं ।

अर्थ—यहाँ (**प्रस्तावना या आमुख में**) यथासम्भव अन्य भी (**उद्घात्यक और अवलगित** से भिन्न भी) वीथी के अङ्गों की भी (वीथी नामक नाटक के भेद के अङ्गों की भी) योजना करनी चाहिये ।

(कारिका की व्याख्या करते हैं)—**अत्र**=प्रस्तावना में । **उद्घात्यक और अवलगित** से भिन्न कहे जाने वाले वीथ्यङ्गों का भी प्रयोग होना चाहिये ।

अथ प्रस्तावनायां मतभेदनिरूपणम्—

अर्थ—**नखकुट्ट** ने कहा है कि उसमें (नाटकादिकों में) सुने हुये नेपथ्य भाषित का तथा आकाशभाषित का भी आश्रय लेकर प्रस्तावना (**आमुखं—आसमन्तात् मुखं—द्वारम् इति** । इसप्रकार 'आमुख' के ६ भेद हुये) करनी चाहिये । इन आमुख के भेदों में से अथवा नखकुट्टोक्त भेदों में से किसी एक (भेद) का प्रयोग करे । इसके बाद सूत्रधार उससे (प्रयुक्त आमुख भेद से) वस्तु को अथवा पात्र को आक्षिप्त करके (सूचित करके) ही प्रस्तावना के अन्त में (नाट्यशाला से) निकल जावे (नेपथ्य के अन्दर चला जावे) । उसके बाद (सूत्रधार के चले आने के उपरान्त) वस्तु को (प्रविष्ट पात्र) उपस्थित करे (नाटक की रचना प्रारम्भ करे) ।

[कारिकास्थ 'वस्तु' को स्पष्ट करते हैं] वस्तु—इतिवृत्त ।

इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते ।
आधिकारिकमेकं स्यात्प्रासङ्गिकमथापरम् ।। ४२ ।।
अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते ।। ४३ ।।

फले प्रधानफले । यथा बालरामायणे रामचरितम् ।

अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीष्यते ।

अस्याधिकारिकेतिवृत्तस्य उपकरणनिमित्तं यच्चरितं तत्प्रासङ्गिकम्। यथा सुग्रीवादिचरितम् ।

पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि ।। ४४ ।।

इह नाट्ये ।

अवतरणिका—'वस्तु' के भेदों का वर्णन करते हैं ।

अर्थ—यह (नखकुट्टोक्त कारिका वाली) वस्तु पुनः विद्वानों से दो प्रकार से विभक्त की जाती है । अर्थात् वस्तु दो प्रकार की होती है । (उनमें से) एक **आधिकारिक** और दूसरी **प्रासङ्गिक** होती है ।

अर्थ—१. (**आधिकारिक** का लक्षण) (नाटक के) प्रधानफल के विषय में स्वामित्व अधिकार कहाता है, और उसका (प्रधान फल का) स्वामी अधिकारी (कहाता) है। उसका (अधिकारी का) इतिवृत्त कवियों (आलङ्कारिकों) के द्वारा आधिकारिक कहा जाता है ।

[कारिकास्थ "फले" की व्याख्या करते हैं] **फले**—प्रधान फल के विषय में। (**आधिकारिक** का उदाहरण) यथा—(**राजशेखरकृत**) **बालरामायण** (नामक महा-नाटक) में रामचन्द्र जी का चरित, अर्थात् वहाँ रामचन्द्र जी रावणादि के वधरूप फल के विषय में स्वामी हैं, और उनका चरित **आधिकारिक** है ।

अर्थ—२. (**प्रासङ्गिक** का लक्षण) इसकी (आधिकारिक इतिवृत्त की) सहायता के लिये (जो चरित होता है) वह (**प्रसङ्गेन निर्वृत्तं वस्तु**) वस्तु **प्रासङ्गिक** कही जाती है ।

(**कारिका** को स्पष्ट करते हैं) **अस्येति**—इस—आधिकारिक इतिवृत्त की सहायता के लिये जो चरित होता है, वह "**प्रासङ्गिक**" है। **यथा**—सुग्रीवादि का चरित (रामचन्द्र जी के चरित की सहायता में निमित्त होने के कारण "**प्रासङ्गिक**" है। ["**आदि**" पद से प्रतिनायक आदि का ग्रहण होता है ।]

अर्थ—इस (**नाट्य रूप वस्तु**) में सम्यक् सोच विचार कर **पताकास्थानक** की योजना करनी चाहिये ।

[कारिकास्थ "इह" शब्द की व्याख्या करते हैं] **इह**=नाटक में ।

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥ ४५ ॥

तद्भेदानाह—

सहसैवार्थसंपत्तिर्गुणवत्युपचारतः ।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ ४६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'वासवदत्तेयम्' इति राजा यदा तत्कण्ठपाशं मोचयति तदा तदुक्त्या 'सागरिकेयम्' इति प्रत्यभिज्ञाय 'कथ ? प्रिया मे सागरिका ?

अलमलमतिमात्रं साहसेनामुना ते
त्वरितमयि, विमुञ्च त्वं लतापाशमेतम् ।

अर्थ—(**पताकास्थानक** का लक्षण) जहाँ अन्य अर्थ के (प्रयोजन के) चिन्तन करने पर उस अर्थ के लक्षण से युक्त (**तल्लिङ्गः**) अन्य अर्थ अतर्कित भाव से (वस्तु से) प्रयुक्त किया जाता है, वह (**पताकावत् नाट्यस्य प्रसिद्धयुत्पादकत्वात् तादृशबन्धोऽपि**) **पताकास्थानक** होता है ।

अथ पताकास्थानकभेदनिरूपणम्—

अर्थ—उसके (**पताकास्थानक** के) भेदों को बताते हैं ।

१. (**प्रथम पताकास्थानक** का लक्षण) जहाँ सहसा ही (अतर्कित कारण से ही) प्रीति के अनुकूल व्यापार होने से परमप्रीतिकरी प्रयोजन सिद्ध हो, यह **प्रथम पताकास्थानक** कहा गया है ।

(**लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं**) **यथा—रत्नावली** में "यह वासवदत्ता" है, इसप्रकार राजा जब उसके कण्ठपाश को छुड़ाने लगता है, [यहाँ का कथानक इसप्रकार है—वासवदत्ता के वेश में सागरिका आयेगी, इसप्रकार राजा को संकेत करके मिलने के लिये तैयार होने पर, इस व्यापार को जानकर सागरिका के आने से पूर्व वासवदत्ता ने आकर संकेत भंग कर दिया और राजा को लज्जित करके चली गई । और राजा उसे मनाने के लिये पीछे-पीछे चल पड़ा । इधर वासवदत्ता के वेष में सागरिका ने आकर जब देखा कि राजा संकेत स्थल पर नहीं है तो खिन्न होकर लता की रस्सी से अपने गले को बाँधकर वहीं मरने के लिये तैयार हो गई । राजा वासवदत्ता को मनाने चला ही गया था । मार्ग में सागरिका को देखकर यह वासवदत्ता ही मर रही है, इसप्रकार सागरिका के पाश को वासवदत्ता के भ्रम में छुड़ाने लगा ।] **तदेति**—तभी उसकी (सागरिका की) उक्ति से "यह सागरिका है" ऐसा समझकर "अरे ! क्या मेरी प्रिया सागरिका है ?" [इसके बाद गले से पाश को निकाल कर सुरत के लिये उससे अनुनय विनय करता है ।] **अलमिति**—

अत्यधिक तुम्हारे इस (लता पाश द्वारा प्राण त्याग रूप) साहस से (हठात् मरण व्यापार से) बस अर्थात् रुक जाओ । हे ! (सागरिके !) तुम इस (प्राणत्याग के लिये लिये हुये) लतापाश को शीघ्र खोल दो, (हे) प्राणेश्वरि ! अपने स्थान से दूर गये हुये (हृदय को छोड़कर बाहर जाने में प्रवृत्त) भी (तुम्हारे वियोग में) मेरे प्राणों को रोकने के लिये क्षण भर इस मेरे कण्ठ

चलितमपि निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे
क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं निधेहि ।।'

अत्र फलरूपार्थसंपत्तिः पूर्वापेक्षयोपचारातिशयाद् गुणवत्युत्कृष्टा ।

वचः सातिशयं श्लिष्टं नानाबन्धसमाश्रयम् ।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्त्तितम् ।।४७।।

यथा वेण्याम्—

'रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ।'

अत्र रक्तादीनां रुधिरशरीरार्थहेतुकश्लेषवशेन बीजार्थप्रतिपादनान्नेतृमङ्गलप्रतिपत्तौ सत्यां द्वितीयं पताकास्थानकम् ।

अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत् ।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते ।।४८।।

में बाहुपाश को अर्पण कर दो । **अत्रेति**—यहाँ (पर चिरकाल से) उद्देश्यभूत अर्थ की (सागरिका सुरत की) उपलब्धि पहले की अपेक्षा (पहले के वासवदत्ता के सुरत के स्वरूप की अपेक्षा) प्रीति के अतिशय उत्पन्न करने के कारण गुणवती (उत्कृष्ट) है ।

टिप्पणी—यहाँ पर वासवदत्ता को मानकर राजा को सुरत अभीष्ट था, किन्तु वासवदत्ता से भिन्न सागरिका के सुरत की उपलब्धि अनुनय विनय से प्राप्त हो गई । अतः यहाँ "प्रथम पताकास्थानक" है ।

अर्थ—२. (**द्वितीय पताकास्थानक** का लक्षण) अत्यन्त श्लिष्ट (अनेक अर्थों के बोधक अनेक शब्दों से युक्त) अनेक प्रकार की रचना से विशिष्ट वचन हों, वहाँ यह **दूसरा पताकास्थानक** कहा गया है ।

(**द्वितीय पताकास्थानक** के सामान्य लक्षण को घटाते हैं) **यथा**—**वेणीसंहार नाटक** में [सूत्रधार के द्वारा कहे हुये इस वचन को क्रोध से भीमसेन ने पुनः कहा है । इसका पूर्वार्ध "**निर्वाणवैरदहनाः**" पताका घटक नहीं है । अतः ग्रन्थकार ने यहाँ उसका पूर्वार्ध न देकर उत्तरार्ध ही दिया है ।] "**रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः**" यहाँ रक्तादि पदों के ("आदि" पद से प्रसाधित और विग्रह का ग्रहण होता है) रुधिर और शरीर रूप अर्थ हैं हेतु जिसके ऐसे श्लेष के द्वारा (भीम के क्रोध से उपचित युधिष्ठिर का उत्साह रूप) बीज के प्रयोजन (शत्रु का मारना रूप प्रधान फल) की सूचना देने से नेता युधिष्ठिर के मंगल का ज्ञान निश्चित होने पर [अर्थात् नायक के उत्साह से उत्पन्न होने वाले शत्रुओं के विनाश के अनन्तर राज्यप्राप्ति रूप मंगल का ज्ञान होने पर तथा प्रतिनायक दुर्योधन के मंगल के विषय में चिन्तित होने पर आने वाले प्रधान फल की सूचना से नायक के मंगल का ज्ञान होता है। यह **द्वितीय पताकास्थानक** है ।

३. (**तृतीय पताकास्थानक** का लक्षण) जो अर्थ की (प्रस्तुत वस्तु की) सूचना देने वाला (अर्थोपक्षेपक-वक्ष्यमाण विष्कम्भकादि पाँच में से एक) अस्फुट, निश्चित, श्लिष्ट, प्रत्युत्तर से युक्त वचन होता है, वह यह **तीसरा पताकास्थानक** कहलाता है ।

लीनमव्यक्तार्थम्, श्लिष्टेन सम्बन्धयोग्येनाभिप्रायान्तरप्रयुक्तेन प्रत्युत्तरेणोपेतम्, सविनयं विशेषनिश्चयप्राप्त्या सहितं संपाद्यते यत्तत्तृतीय पताकास्थानम्।

यथा—वेण्यां द्वितीयेऽङ्के—

'कञ्चुकी—देव, भग्नं भग्नम्।

राजा—केन ?

कञ्चुकी—भीमेन।

राजा—कस्य ?

कञ्चुकी—भवतः।

राजा—आः, किं प्रलपसि ?

कञ्चुकी—(सभयम्) देव, ननु ब्रवीमि। भग्नं भीमेन भवतः।

राजा—धिग् वृद्धापसद, कोऽयमद्य ते व्यामोहः ?

कञ्चुकी—देव, न व्यामोहः।

सत्यमेव—

भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम्।
पतितं किङ्किणीक्वाणबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ ॥'

अर्थ—(कारिका को स्पष्ट करते हैं) **लीनम्**=जिसका अर्थ अव्यक्त है। **श्लिष्टेन**=प्रस्तुत अन्वय के योग्य दूसरे अभिप्राय से प्रयुक्त, प्रत्युत्तर से युक्त, और **सविनयम्**=विशेषेण नयः—**निश्चयः**=अर्थात् विशेष निश्चय की प्राप्ति से युक्त जो (वचन) सम्पादित किया जाता है वह **तीसरा पताकास्थानक** होता है।

(उदाहरण देते हैं) **यथा-वेणीसंहार** के द्वितीय अङ्क में—**कञ्चुकी**—देव तोड़ दिया। **राजा**—किसने ? **कञ्चुकी**—भीम ने। **राजा**—किसका ? **कञ्चुकी**—आपका। **राजा**—आह ! क्या प्रलाप कर रहे हो ? **कञ्चुकी**—(भय के साथ) देव ! मैं कह रहा हूँ कि भीम ने आपका तोड़ दिया। **राजा**—धिक्कार है ! नीचवृद्ध ! आज तुझे यह कौनसा व्यामोह (दिग्भ्रम) हो गया है ? **कञ्चुकी**—देव ! व्यामोह नहीं है, वस्तुतः ही—**भग्नमिति**—

भयानक अन्यत्र भीमसेन, वायु से अन्यत्र मरुद्रूप से छिन्न आपके रथ की ध्वजा क्षुद्र घण्टिकाओं के शब्द से उत्पन्न क्रन्दन की तरह पृथिवी पर पड़ी है। [जिसप्रकार कोई शत्रु से मारा हुआ पृथिवी पर पड़ा हुआ होता है, उसी तरह आपके रथ की ध्वजा पृथ्वी पर पड़ी हुई क्षुद्र घण्टिकाओं के शब्दों के ब्याज से मानों रुदन कर रही हैं।]

टिप्पणी—(१) **"भवतः"** इसके प्रस्तुत होने पर, यह उरुभंग में भी अन्वय के योग्य है। **"मरुतः"** इससे विशेष निश्चय होता है, यहाँ रथ के भंग होने की सूचना देना अभिमत है और उरुभंग का निवेदन उपपन्न है।

(२) **कञ्चुकी** का लक्षण—

"अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥"

अत्र दुर्योधनोरुभङ्गरूपप्रस्तुतसंक्रान्तमर्थोपक्षेपणम् ।

द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।
प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम् ।। ४९ ।।

यथा रत्नावल्याम्—

'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ।।'

अत्र भाव्यर्थः सूचितः ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) दुर्योधन का उरुभंग रूप (अप्रस्तुत विषय) प्रस्तुत रथ की ध्वजा के भंगरूप विषय में संक्रान्त होने से अर्थ का उपक्षेपण (सूचन) है। [तथा च-यहाँ रथ की ध्वजा भंगरूप अन्य अर्थ के चिन्तन करने पर होने वाले गदायुद्ध से उरुभंग रूप अर्थ का प्रयोग है। अतः **सामान्य पताकास्थानक** का लक्षण है।]

(४) (**चतुर्थ पताकास्थानक** का लक्षण) द्व्यर्थक, सुसम्बद्ध, काव्य में प्रयोग के योग्य, मुख्य फलरूप दूसरे अर्थ का सूचक जहाँ वचन-विन्यास होता है वहाँ वह **चतुर्थ (परम्) पताकास्थानक** होता है।

(**चतुर्थ पताकास्थानक** का उदाहरण) **यथा—रत्नावली** में—

प्रसङ्ग—वत्सराज की विदूषक के प्रति उक्ति है।

मैं उत्कट रूप से निकल रही हैं कलिकायें जिनमें ऐसी **अन्यत्र** प्रतिबन्ध रहित है प्रिय विषयिणी उत्कण्ठा जिसकी ऐसी, (सर्वत्र पुष्पों के विकास से) शुभ्र वर्ण की है कान्ति जिसकी ऐसी **अन्यत्र** प्रिय विरह से पाण्डुवर्ण की है कान्ति जिसकी ऐसी, विकास के लिये उद्यत **अन्यत्र** प्रारम्भ की है जंभाई (आलस्य नामक संचारीभाव) जिसने ऐसी, (यह कामाभिलाष की व्यञ्जक है) निरन्तर वायु के झोकों से **अन्यत्र** प्रगाढ़ निःश्वास वायुओं से क्षण-क्षण में अपने इधर-उधर हिलने को **अन्यत्र** क्लान्ति को प्रकट करती हुई, मदन वृक्ष से युक्त **अन्यत्र** काम से व्याकुल, इस उद्यान की लता को दूसरी नारी की तरह आज देखता हुआ **अन्यत्र** देखने से विलम्ब करता हुआ देवी (वासवदत्ता) के मुख को निश्चितरूपेण क्रोध से (मेरे विलम्ब करने से उत्पन्न क्रोध से **अन्यत्र** नायिका को देखने से उत्पन्न क्रोध से) रक्तवर्ण की द्युति वाला करूंगा।

टिप्पणी—(१) साध्वी स्त्रियाँ पति को दूसरी स्त्री को देखते हुये देखकर क्रोधित होती हैं, ऐसा प्रसिद्ध है। इस पद्य से राजा का नवमल्लिका को देखने में औत्सुक्य प्रकट होता है।

अर्थ—यहाँ (इस पद्य के अन्दर) भावी अर्थ सूचित किया गया है। "[उद्दामोत्कलिकाम्" इत्यादि विशेषताओं से विशिष्ट सागरिका के प्रति परिणय के अनन्तर ही राजा की साभिलाष दृष्टि से वासवदत्ता के मुख को क्रोध से रक्तवर्ण का

एतानि चत्वारि पताकास्थानानि क्वचिन्मङ्गलार्थं क्वचिदमङ्गलार्थं सर्वसन्धिषु भवन्ति। काव्यकर्तुरिच्छावशाद् भूयो भूयोऽपि भवन्ति।

यत्पुनः केनचिदुक्तम्—'मुखसन्धिमारभ्य सन्धिचतुष्टये क्रमेण भवन्ति' इति। तदन्ये न मन्यन्ते, एषामत्यन्तमुपादेयानामनियमेन सर्वत्रापि सर्वेषामपि भवितुं युक्तत्वात्।

यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥५०॥

करना रूप भावी विषय पहले ही प्रकट कर दिया है। "**उद्दामोत्कलिकाम्**" इत्यादि विशेषणों के सुश्लिष्ट होने से "द्व्यर्थ" इत्यादि से **विशेष पताकास्थानक** का लक्षण समझना चाहिये। तथा कुसुमित लता को देखने के कारण विलम्ब होने से होने वाले वासवदत्ता के मुख के क्रोध से रक्तवर्ण के करने रूप अर्थ के चिन्तन करने पर आने वाले सागरिका के परिग्रह भाव से उसके प्रति भविष्यत् काल में सकाम दृष्टिपात होने से भी वासवदत्ता का मुख क्रोध से लाल होगा यह अर्थ प्रयुक्त होता है। अतः **पताकास्थानक** का सामान्य लक्षण है।]

अर्थ—एतानीति—ये चारों **पताकास्थानक** कहीं मंगल के लिये, [पहले में "**अलमलमतिमात्रम्**" यहाँ मरने के लिये प्रवृत्त वासवदत्ता के ज्ञान से अभिलषित सागरिका की प्राप्ति के और **उद्दामोत्कलिकाम्** यहाँ होने वाली सागरिका की प्राप्ति के ज्ञान से मंगलार्थता है।] कहीं अमंगल के लिये ["**रक्तप्रसाधित**" इत्यादि में कौरवों के मरण के और '**भग्नं भीमेन**' इत्यादि में दुर्योधन की जंघा के भंग के ज्ञान से उनकी अमंगलार्थता है।] भी सभी सन्धियों में होते हैं और काव्यकर्त्ता की इच्छा से स्थान-स्थान पर प्रयुक्त होते हैं।

यत्पुनरिति—यह जो किसी ने कहा था कि—"मुखसन्धि से लेकर चारों सन्धियों में (मुख, प्रतिमुख, गर्भ और विमर्श इन—चार सन्धियों में) क्रमशः होते हैं" (क्योंकि **पताकास्थानक** भी चार हैं) इति, इस बात को दूसरे नहीं मानते हैं। **अत्यन्त** उपादेय इनके नियम के विना सभी स्थानों पर भी सभी (**पताकास्थानको**) का होना उचित है।

अथ कविकर्त्तव्यनिरूपणम्—

अवतरणिका—काव्य की रचना करने में कवि स्वतन्त्र होता है, परतन्त्र नहीं, यह दिखाते हैं।

अर्थ—जो वस्तु नायक के अथवा रस के अनुचित हो (विपरीत स्वभाव के कारण संगति शून्य हो। रस का अनौचित्य यही है कि व्यभिचारीभावादिकों का अपने शब्द से कथन कर दिया जाय) अथवा विरुद्ध हो, उसको (उस वस्तु को) छोड़ देना चाहिये अथवा अन्यथा (दूसरे प्रकार से जैसी उचित समझे वैसी) रचना कर दे। [कहने का आशय यह है कि कवि का मुख्य उद्देश्य है नायक का उत्कर्ष दिखाना और रस की पुष्टि करना—इस उद्देश्य निर्वाह के लिये कवि को अपनी इच्छा से इतिवृत्त में परिवर्तन और परिवर्धन करने का अधिकार है।]

टिप्पणी—ध्वन्यालोक में राजानक आनन्दवर्द्धनाचार्य ने कहा है कि—

अनुचितमितिवृत्तं यथा—रामस्य च्छद्मना वालिवधः। तच्चोदात्त-राघवे नोक्तमेव। वीरचरिते तु वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्य-न्यथा कृतः।

अङ्केष्वदर्शनीया या वक्तव्यैव च संमता।
या च स्याद्वर्षपर्यन्तं कथा दिनद्वयादिजा ॥ ५१ ॥
अन्या च विस्तरा सूच्या सार्थोपक्षेपकैर्बुधैः।

"अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥
भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनान्चेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

अर्थ—(उदाहरण द्वारा उक्त कारिका के आशय को स्पष्ट करते हैं) अनु-चित इतिवृत्त—यथा–राम का छल से वाली का वध करना। और यह (वालिवध) **उदात्तराघव** में (मायुराज) वर्णित नहीं है (और) **वीरचरित** में तो (रावण की मित्रता से) राम को मारने के लिये आये हुये वाली का राम ने वध कर दिया, इसप्रकार बदल दिया है।

टिप्पणी—भाव यह है कि रामादि का छल से वालिवधादि के वर्णन करने पर जो सुकुमारमति गूढ़तर भावों को हृदयंगम करने में समर्थ नहीं है किन्तु नाटक और काव्यादिकों से आनन्द की अनुभूति के द्वारा कृत्य और अकृत्य कर्मों के प्रति प्रवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्त होते हैं, वे श्रीरामचन्द्रादि महापुरुषों के चरित की आलो-चना करके अनुचित कथाओं में प्रवृत्त हो सकते हैं। अतः नाटकादिकों में महापुरुषों के अनुचित चरितादिकों को छोड़ देना चाहिये अथवा बदल देना चाहिये।

अवतरणिका—प्रश्न—यदि दूर से बुलाना आदि नाटक के अङ्कों में नहीं दिखाना चाहिये तो नाटकादि में आक्षिप्त कैसे हो सकते हैं और एक दिन की कथा को अङ्क में दिखाने से दो दिनों की कथा का परिग्रह कैसे होगा? इनको रस के अन्दर विघ्न का कारण होने पर भी अङ्क में कैसे दिखाया जा सकता है? इसका समाधान करते हैं।

अर्थ—जो (दूराह्वान-वधादि को बताने वाला) वृत्तान्त अङ्कों में ("**दूराह्वानं वधो युद्धम्**" इति) दिखाने के योग्य नहीं है अर्थात् निषिद्ध है और उसका कथन करना (कार्य से नहीं) वक्ता को अभीष्ट है (अन्यथा पूर्वापर कथा की संगति नहीं लगती) और जो (कथा) दो दिनों से लेकर वर्ष पर्यन्त निर्वाह्य है ["**नानेकदिननिर्वर्त्य कथया सम्प्रयोजितः**" इससे उसके अङ्क में निषिद्ध होने पर भी "वर्षपर्यन्त" इस नियम के लिये पृथक् ग्रहण किया है] और जो दूसरी अतिविस्तृत कथा है, वह (सम्पूर्ण कथा) विद्वानों के द्वारा अर्थोपक्षेपकों से (अर्थसूचक वाक्यों से) सूचित की जानी चाहिये।

अङ्केषु अदर्शनीया कथा युद्धादिकथा।
वर्षादूर्ध्वं तु यद्वस्तु तत्स्याद्वर्षादधोभवम्॥ ५२॥

उक्तं हि मुनिना—
'अङ्कच्छेदे कार्यं मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि॥
तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्॥'

एवं च चतुर्दशवर्षव्यापिन्यपि रामवनवासे ये ये विराधवधादयः कथांशास्ते ते वर्षवर्षावयवदिनयुग्मादीनामेकतमेन सूचनीया न विरुद्धाः॥

दिनावसाने कार्यं यद्दिने नैवोपपद्यते॥
अर्थोपक्षेपकैर्वाच्यमङ्कच्छेदं विधाय तत्॥ ५३॥

अथ के तेऽर्थोपक्षेपका इत्याह—

[कारिकास्थ अङ्केषु अदर्शनीया कथा—को स्पष्ट करते हैं] अङ्केषु अदर्शनीया कथा से तात्पर्य युद्धादि की कथा से है।

अवतरणिका—प्रश्न—यदि एक वर्ष की कथा ही अर्थोपक्षेपकों से कहनी चाहिये तो क्या इससे दीर्घकालव्यापी पुराण और इतिहासादिकों में प्रसिद्ध वृत्तान्तों को छोड़ देना चाहिये ? इसका उत्तर देते हैं।

अर्थ—जो वस्तु एक वर्ष से अधिक समय में सम्पन्न होने वाली पुराणादिकों में प्रसिद्ध हो (पहले 'वर्षपर्यन्तम्' कहा और यहाँ "वर्षादूर्ध्वम्' कहा—इसके अन्दर पुनरुक्ति की आशंका नहीं करनी चाहिये) उसे वर्ष से कम समय में सम्पन्न होने वाली कर देनी चाहिये। [ऐसा करने से अभीष्ट की नितरां सिद्धि हो जावेगी।]

उक्तमिति—भरतमुनि ने कहा है कि—अङ्कच्छेद इति—जो एक महीने के अन्दर होने वाली अथवा वर्ष भर के अन्दर सम्पन्न होने वाली कथा है उसको अङ्क की समाप्ति पर (विष्कम्भकादि में) (कवि को) करना चाहिये। किन्तु कभी भी (अङ्क के समाप्त हो जाने पर भी) सब सम्पूर्ण कथा को (चाहे मास पर्यन्त की हो अथवा वर्ष पर्यन्त की हो) वर्ष से अधिक समय में निर्वाह्य नहीं करनी चाहिये।

और इसप्रकार चौदह वर्षों में व्याप्त होने वाली भी रामचन्द्र जी के वनवास में जो जो विराध वधादि कथाओं के अंश हैं, वे वे वर्ष-मास (वर्षावयव) और दो दिनादि में से ("आदि' पद से एक दिन का भी ग्रहण होता है) किसी एक से सूचित किये जाते हुये (ऐसा होने पर भी—असत्य होने पर भी) विरुद्ध नहीं होते हैं। (नाटकादि में दोष के आधायक नहीं होते हैं।)

दिनेति—जो कार्य (इतिवृत्त) दिन की समाप्ति पर सम्पाद्य हो, (किन्तु) दिन में सम्पन्न नहीं हो सकता है, वह (कार्य) अङ्कच्छेद करके (विष्कम्भादिक से वाच्य करके) अर्थोपक्षेपकों द्वारा (कवियों को) सूचित करना चाहिये। [ऐसा करने पर संक्षिप्त होने के कारण रस से शून्य भी अनायास ही हो जाता है।]

अथ अर्थोपक्षेपकनिरूपणम्—

अर्थ—वे "अर्थोपक्षेपक" कौन से ? इसका उत्तर देते हैं—

अर्थोपक्षेपकाः पञ्च विष्कम्भकप्रवेशकौ ।
चूलिकाङ्कावतारोऽथ स्यादङ्कमुखमित्यपि ॥ ५४ ॥

अथ विष्कम्भकः—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥ ५५ ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥ ५६ ॥

तत्र शुद्धो यथा—मालतीमाधवे श्मशाने कपालकुण्डला। सङ्कीर्णो यथा—रामाभिनन्दे क्षपणककापालिकौ ।

अर्थ—अर्थ को (सरस वस्तु को) उपस्थापित करने वाले वे अर्थात् **अर्थोपक्षेपक** पाँच (प्रकार के होते) हैं—(१) **विष्कम्भक**, (२) **प्रवेशक**, (३) **चूलिका**, (४) **अङ्कावतार** और (५) **अङ्कमुख** ।

अवतरणिका—क्रमशः सभी अर्थोपक्षेपकों के लक्षण करते हैं ।

अर्थ—(१) इसके बाद (अर्थोपक्षपकों के नाम परिगणन के अनन्तर) '**विष्कम्भक**'' (का लक्षण) ।

(**विष्कम्भक** का लक्षण)—अतीत और भविष्यत् वृत्तान्त भागों की सूचना देने वाला, प्रथम अङ्क में दिखाया जाने वाला, संक्षिप्त अर्थ वाला, (अङ्क की अपेक्षा स्वल्प प्रसार वाला) (कथा विभाग वाला) **विष्कम्भक** (होता) है (**विष्कम्नाति मध्यमांशपूरणेन पूर्वापराङ्कगतवृत्तान्तं प्रतिपादयति यः सः विष्कम्भकः**) और वह (**विष्कम्भक**) मध्यम एक पात्र से (**नात्युच्चनीचपात्रं मध्यमित्यभिधीयते**) और मध्यम दो पात्रों से सम्प्रयुक्त (यदि होता) है (अथवा मध्यम कई पात्रों से प्रयुक्त होता है) तो (**संस्कृतात्मक**) **शुद्ध विष्कम्भक** (कहलाता) है, नीच और मध्यम पात्रों से कल्पित (यदि होता) है; तो (**संस्कृत प्राकृतात्मक**) **संकीर्ण विष्कम्भक** (कहलाता) है।

टिप्पणी—(१) कहने का आशय यह है कि **विष्कम्भक** दो प्रकार का होता है : (१) **शुद्ध विष्कम्भक** और (२) **संकीर्ण विष्कम्भक** । (१) यदि एक जातीय पात्र से प्रयुक्त होता है तो **शुद्ध**, (२) और यदि विभिन्न जातीय पात्रों से प्रयुक्त होता है तो **सकीर्ण** होता है ।

(२) ''**विष्कम्भक**'' के अन्दर उच्चपात्र संस्कृत भाषा का व्यवहार करते हैं, जबकि मध्यम तथा नीच पात्र प्राकृत भाषा का भी व्यवहार करते हैं, । **भाषार्णव** में कहा भी है कि—

''भाषा मध्यमपात्राणां नाटकादौ विशेषतः ।
महाराष्ट्री शौरसेनीत्युक्ता भाषा द्विधा बुधैः ।।'' इति ।।

अर्थ—उनमें से (**शुद्ध और संकीर्ण में से**) **शुद्ध विष्कम्भक** (का उदाहरण) **यथा-मालतीमाधव** (नाटक प्रकरण) में **श्मशान** में (**अघोरघण्ट** की शिष्या) कपालकुण्डला से प्रयुक्त (**शुद्ध विष्कम्भक** है क्योंकि वह **मध्यम पात्र है**)। **संकीर्ण विष्कम्भक** (का उदाहरण) यथा-**रामाभिनन्द** में क्षपणक **और** कापालिकों द्वारा **प्रयुक्त** ।

अथ प्रवेशकः—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयस्यान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥ ५७ ॥

अङ्कद्वयस्यान्तरिति प्रथमाङ्केऽस्य प्रतिषेधः । यथा—वेण्यामश्वत्थामाङ्के राक्षसमिथुनम् ।

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका ।

यथा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—"(नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः

अर्थ—(२) इसके बाद ("विष्कम्भक" के लक्षणोपरान्त) **प्रवेशक** (का लक्षण) ।

(प्रवेशक का लक्षण) जाति से नीच (कर्म से निष्कृष्ट नहीं) पात्रों से प्रयुक्त होने वाला संस्कृत से भिन्न प्राकृत भाषा से रचित कथा भाग **प्रवेशक** (**अप्रत्यक्षानर्थान् सामाजिकहृदये प्रवेशयति सूचयतीति प्रवेशकः**) (होता) है । (और उसे) दो अङ्कों के मध्य होने वाला समझना चाहिये (और) शेष ("**वृत्तवर्तिष्यमाण**" इत्यादि विशेषण) विष्कम्भक की तरह होता है ।

अङ्कद्वयस्यान्तः—ऐसा कहकर प्रथम अङ्क के अन्दर इसका निषेध कर दिया है । यथा—"वेणीसंहार नामक नाटक में" अश्वत्थामा प्रधान तृतीय अङ्क में राक्षस युगल के द्वारा (सिन्धुराजवध और भावी दुःशासन के वध को सूचित किया है) ।

टिप्पणी—यहाँ पात्र की विलक्षणता के कारण इसकी "विष्कम्भक" से विलक्षणता प्रतिपादित की है ।

अर्थ—(३) इसके बाद (प्रवेशक के लक्षणोपरान्त) **चूलिका** (का लक्षण)—

(**चूलिका** का लक्षण)—यवनिका (तिरस्करिणी—नटों का वेश स्थान) के अन्दर विद्यमान (पात्रों के द्वारा) कार्य की (किसी वस्तु विशेष की) सूचना (**चूडेव चूलिका-रङ्गाभिनेयार्थस्य नेपथ्यपात्रोक्तेः शिखाकल्पत्वात्**) "चूलिका" (होती) है ।

टिप्पणी—यहाँ **अन्तर्जवनिकासंस्थैः** इस बहुवचन के प्रयोग से ग्रन्थकार का यह अभिप्राय है कि इसकी सूचना देने वाले सम्भावित सभी पात्रों की स्थिति यवनिका के अन्दर होनी चाहिये । इसीलिये अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक में यवनिका के अन्दर विद्यमान दुर्वासा से शाप दिये जाने पर भी बाह्य स्थित अनसूया और प्रियम्वदा को ज्ञात हो जाने से लक्षण के अन्दर अतिव्याप्ति नहीं आती है ।

अर्थ—(उदाहरण देते हैं) **यथा**—वीरचरित के चतुर्थ अङ्क के आदि में । (नेपथ्य में) "हे ! हे ! वैमानिको ! (विमान पर विचरण करने वालो !) नाट्यादि मांगलिकादि महोत्सव प्रारम्भ करो" इत्यादि । [कहने का आशय यह है कि—"मांगलिक कार्यों को प्रारम्भ करो" इस उद्घोष के अनन्तर—

प्रवर्तन्तां रङ्गमङ्गलानि' इत्यादि। 'रामेण परशुरामो जितः' इति नेपथ्ये पात्रैः सूचितम्।

अथाङ्कावतारः—

अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः ॥ ५८ ॥
यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः।

यथा—

अभिज्ञाने पञ्चमाङ्के पात्रैः सूचितः षष्ठाङ्कस्तदङ्कस्याङ्गविशेष इवावतीर्णः।

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान्कौशिकमुनिः,
सहस्रांशोर्वंशे जयति जगति क्षत्रमधुना।
विनेता क्षत्रारेर्जगदभयदानव्रतधनः,
शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ॥

यह पात्रों ने पढ़कर] "रामेण परशुरामो जितः" यह नेपथ्य में सूचित किया (कहा नहीं)।

टिप्पणी—अथवा रत्नावली में :—

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा—
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायन्तने सम्पतन्।
सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितु
प्रीत्युत्कर्षकृतो दशामुदयनस्येन्दोरिवोदीक्षते ॥

यहाँ नेपथ्य में विद्यमान पात्र बन्दी के द्वारा कानन के अन्दर विद्यमान उदयन की वस्तु की सागरिका को सूचना देने से "चूलिका" है।

अर्थ—(४) इसके बाद (**चूलिका** के लक्षणोदाहरण के उपरान्त) अङ्कावतार (का लक्षण)—

("**अङ्कावतार**" का लक्षण) (जिस किसी भी) अङ्क की समाप्ति पर पात्रों के द्वारा (कवि के द्वारा नहीं) सूचित किया हुआ (तथा) उस अङ्क के (जिस अङ्क के अन्त में पात्रों के द्वारा सूचित किया गया है) अभिन्न होने से जो (अगला) अङ्क अवतरित होता है, (वह) यह "**अङ्कावतार**" (**अवतरति अस्मिन् इति अङ्कावतारः**) कहा गया है।

(उदाहरण देते हैं) यथा—**अभिज्ञानशाकुन्तल** नाटक के पञ्चम अङ्क के अन्त में षष्ठ अङ्क उस (पञ्चम) अङ्क के अङ्ग विशेष की तरह (पञ्चम अङ्क का वृत्तान्त इस अङ्क का आधार होने से) अवतीर्ण हुआ है।

टिप्पणी—कुछ "**जहां अङ्क में अन्य अंकों का बीज रूप अर्थ अवतीर्ण होता है**, उसको "**अङ्कावतार**" मानते हैं।" यथा—रत्नावली में दूसरा अङ्क।

अथाङ्कमुखम्—

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाऽखिला ।। ५९ ।।
तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत् ।

यथा—

मालतीमाधवे प्रथमाङ्कादौ कामन्दक्यवलोकिते भूरिवसुप्रभृतीनां भाविभूमिकानां परिक्षिप्तकथाप्रबन्धस्य च प्रसङ्गात्सन्निवेशं सूचितवत्यौ ।

अङ्कान्तपात्रैर्वाङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।। ६० ।।

अङ्कान्तपात्रैरङ्कान्ते प्रविष्टैः पात्रैः । यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते—
"(प्रविश्य)

सुमन्त्रः—भगवन्तौ वशिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः ।

इतरे—क्व भगवन्तौ ?

सुमन्त्रः—महाराजदशरथस्यान्तिके ।

अर्थ—(५) इसके बाद (अङ्कावतार के लक्षणोदाहरण के उपरान्त) अङ्कमुख (का लक्षण)—

(अङ्कमुख का लक्षण)—जहाँ एक अङ्क में सम्पूर्ण अङ्कों की समस्त सूचना हो, उसको (कवि) अङ्कमुख (सर्वेषामङ्कानां विषयसूचनद्वारा मुखे तेषां प्रथमभित्यङ्कमुखम्) कहते हैं । (और) वह केवल मूलभूत विषय की सूचना देने वाला होता है ।

टिप्पणी—अङ्कावतार और अङ्कमुख में भेद :—

अङ्कावतार में केवल अंक की सूचना होती है और अंकमुख में समस्त अंकों की सूचना होती है । यही इन दोनों में भेद है ।

अर्थ—(उदाहरण देते हैं)—यथा—मालतीमाधव में प्रथम अंक के आदि में कामन्दकी और अवलोकिता के द्वारा भूरिवसु प्रभृति की होने वाली भूमिकाओं का और सम्पूर्ण अंकों की संक्षिप्त कथा वृत्तान्त के प्रसङ्ग से सभी बातों की सूचना दी है अतः "अंकमुख" स्पष्ट ही है ।

अथ मतभेदेनाङ्कमुखलक्षणनिरूपणम् :—

अर्थ—(५) (धनिक मतानुसार अंकमुख का लक्षण)—अथवा अंक के अन्त में (प्रविष्ट) पात्रों के द्वारा भिन्न अंक के (विष्कम्भक के) अर्थ की सूचना देने से अंकमुख (होता) है ।

टिप्पणी—अंकमुख के दोनों लक्षणों में अन्तर :—

पहले लक्षण के अनुसार पहले प्रविष्ट पात्रों के द्वारा समस्त अंक के अर्थ की सूचना दी जाती है और दूसरे लक्षण के अनुसार अंक के अन्त में प्रविष्ट पात्रों के द्वारा बाद में आने वाले अंक की सूचना दी जाती है । यही भेद है ।

अर्थ—[कारिकास्थ अंकान्तपात्रैः पद को स्पष्ट करते हैं] अंकान्तपात्रैः=अंक के अन्त में प्रविष्ट पात्रों के द्वारा । (उदाहरण देते हैं) यथा—वीरचरित के द्वितीय अंक के अन्त में,—"सुमन्त्र—(प्रवेश करके) भगवान् वशिष्ठ (अतिशयेन वशी जितेन्द्रिय इति वशिष्ठः) और विश्वामित्र (विश्वं मित्रमस्येति विश्वामित्रः) आप परशुराम जनक शतानन्द आदिकों को बुला रहे हैं । इतरे—अर्थात् परशुरामादि—भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र कहाँ हैं ? सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास में ।

इतरे—तत्तत्रैव गच्छामः' इत्यङ्कपरिसमाप्तौ । '(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वशिष्टविश्वामित्रपरशुरामाः)' इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथाविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यम्-इति। एतच्च धनिकमतानुसारेणोक्तम् । अन्ये तु—'अङ्कावतरणेनैवेदं गतार्थम्' इत्याहुः ।

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तु विस्तरम् ।
यदा संदर्शयेच्छेषमामुखानन्तरं तदा ॥ ६१ ॥
काया विष्कम्भको नाटच आमुखाक्षिप्तपात्रकः ।

यथा—रत्नावल्यां यौगन्धरायणप्रयोजितः ।

अर्थ—इतरे—तो वहीं (दशरथ के पास में ही) चलते हैं" इति, यहाँ अंक की परिसमाप्ति में (अर्थात् तीसरे अंक के प्रारम्भ में) ("**उसके बाद वशिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम बैठे हुये प्रवेश करते हैं**") यहाँ पहले अंक के अन्त में ही (तृतीय अंक की अपेक्षा पहले अंक के अर्थात् द्वितीय अंक के अन्त में) प्रविष्ट सुमन्त्र पात्र के द्वारा शतानन्द और जनक की कथा के विच्छेद होने पर तृतीय अंक के द्वार की सूचना देने से **अंकमुख** (समझना चाहिये)। और यह (लक्षण) धनंजय के मत के अनुसार (दशरूपककार के मतानुसार) कहा है । **अन्ये इति**—दूसरे तो (अर्थात् प्रदीपकारादि तो) "**अंकावतार** (के लक्षण) से ही (अंक के अन्दर दूसरे अंक की उपस्थिति को स्वीकार करने से ही) यह (**उपरोक्त वीरचरित** का स्थल) गतार्थ हो जाता है" ऐसा कहते हैं। [इसप्रकार यहाँ **अंकावतार** का लक्षण घटित होने से यह **अंकावतार** ही है, अतः इसके लिये इसप्रकार के **अंकमुख** को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है ।]

टिप्पणी—दशरूपककार कृत **अंकास्य** का लक्षण—

"अंकास्यपात्रैरंकास्य भिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।" इति

अवतरणिका—**विष्कम्भक** अंक के आदि में करना चाहिये, यह पहले कहा जा चुका है, अब उसी को विशेष अवस्था में **आमुख** के अन्त में भी कर देना चाहिये—यह बताते हैं ।

अर्थ—जब आकांक्षित (किन्तु) नीरस और विस्तृत वस्तु को छोड़कर (कवि) सरस वस्तु को (शेषम्) (दिखाना चाहे तो उस कवि को) नाटक में आमुख (प्रस्तावना) के पश्चात् आमुख से आक्षिप्त पात्र वाला विष्कम्भक करना चाहिये । [विष्कम्भक केवल उपलक्षण है, इससे प्रवेशकादिकों का भी ग्रहण समझना चाहिये ।]

(उदाहरण देते हैं) **यथा**—रत्नावली में यौगन्धरायण से प्रयुक्त (**विष्कम्भक**)।

टिप्पणी—यहाँ पर वत्सराज और सागरिका का वृत्तान्त आकांक्षित है, किन्तु इसको छोड़कर आमुख के अनन्तर अपने स्वामी से डरा हुआ हूँ, इसप्रकार के नीरस अपने भय को यौगन्धरायण ने दिखाया है ।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ ६२ ॥
आदावेव तदाऽङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।
यथा—शाकुन्तले ।
विष्कम्भकाद्यैरपि नो वधो वाच्योऽधिकारिणः ॥ ६३ ॥
अन्योऽन्येन तिरोधानं न कुर्याद्रसवस्तुनोः ।
रसः शृङ्गारादिः । यदुक्तं धनिकेन—
'न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ।
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः ॥'' इति ।
बीजं विन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ॥ ६४ ॥

अवतरणिका—"आदावंकस्य दर्शितम्" यह जो कहा है, इसके विषय में कहते हैं ।

अर्थ—जब तो सरस वस्तु प्रारम्भ से ही (नीरस वस्तु के न होने से) प्रवृत्त हो जाती है तो आदि में ही आमुख से आक्षिप्त सूचना वाला अङ्क (विष्कम्भक) करना चाहिये । यथा—शाकुन्तल में । [वहाँ प्रारम्भ से ही अनसूया से प्रवर्तित रस ही शकुन्तला का विरह है ।]

विष्कम्भकादिकों के द्वारा भी ('आदि' पद से प्रवेशकादिकों का ग्रहण होता है) अधिकारी का (मुख्य पात्र का—नायकादि का) वध नहीं कहना चाहिये [अर्थात् कवि को कहीं भी नायक के वध का वर्णन नहीं करना चाहिये । यहाँ उपादान से यह भी सूचित कर दिया है कि अङ्कों से भी नहीं वर्णन करना चाहिये ।] तथा रस और वस्तु का एक दूसरे के द्वारा तिरोधान (विच्छिन्नता) (कवि को) नहीं करना चाहिये [अर्थात् रस का तिरस्कार करके केवल इतिवृत्त का वर्णन न करे और इतिवृत्त को छोड़कर केवल एक विषय में रस का ही वर्णन न करे, किन्तु रस से युक्त इतिवृत्त का वर्णन करना चाहिये ।]

(कारिकास्थ रस पद को स्पष्ट करते हैं) रसः=शृङ्गारादि । **यदुक्तमिति**—धनंजय ने (दशरूपककार ने) कहा भी है कि—

नेति—रस के आधिक्य से इतिवृत्त की (वस्तु) दूर तिरोहितता को (कवि) प्राप्त न करावे (तथा) वस्तु और अलंकारों की (अनुप्रासोपमादि अलंकारों के विधान से) रचना से रस को तिरोहित न कर देवे ।

टिप्पणी—अतः कवि को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि रस और वस्तु का सम्बन्ध भी बना रहे और परस्पर उनमें से किसी एक के उत्कर्ष से दूसरे का तिरोधान भी न होने पावे ।

अथ सभेद अर्थप्रकृतिनिरूपणम्—

अवतरणिका—"नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसमन्वितम्" इस लक्षण के अनुसार सन्धियों का लक्षण किया जाता है, अतः उनके निरूपण के लिये ही उनकी घटक **अर्थप्रकृति** का निरूपण करते हैं ।

अर्थ—(१) बीज, (२) विन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य

अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ।

अर्थप्रकृतय प्रयोजनसिद्धिहेतवः । तत्र बीजम्—

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ॥ ६५ ॥

फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते ।

यथा—रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नवलीप्राप्तिहेतुर्दैवानुकूल्यलालितो यौगन्धरायणव्यापारः । यथा वा—वेण्यां द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमसेनक्रोधोपचितो युधिष्ठरोत्साहः ।

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥ ६६ ॥

(ये) पाँच अर्थ (प्रयोजन) की प्रकृतियों = अर्थप्रकृतयों (सिद्ध करने के कारणों) को जानकर यथाविधि (कवियों की विधि का अतिक्रमण न करके) (दृश्यकाव्य में) सन्निवेश करना चाहिये ।

[कारिकास्थ **अर्थप्रकृतयः** को स्पष्ट करते हैं] **अर्थप्रकृतयः**=प्रयोजन की सिद्धि का कारण ।

अर्थ—(१) उनमें से (बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य में से) बीज (का लक्षण करते हैं)—

(बीज का लक्षण)—जो अल्पमात्र में कथन किया हुआ (प्रारम्भ में अंकुरित रूप से दिखाई देने वाला) अनेक प्रकार से विस्तार को प्राप्त करता है (अर्थात् सहकारी कारणों से युक्त होकर अनेक प्रकार के अवान्तर कार्यों को उत्पन्न करता है) वह प्रधान फल का आदि कारण 'बीज' कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) **बीज और आमुख में अन्तर**—बीज नाटकादि के इतिवृत्त के अर्थ का उपाय है, और आमुख रूपक की प्रस्तावना के लिये नट का ही वृत्त है—यही भेद है ।

सारांश यह है कि—**प्रथमं स्तोकमुत्पन्नः, ततः परं बहुविधविस्तारवान् कार्यप्रयोजनः कारणविशेषः बीजवत् बीजमिति ।**

अर्थ—(उदाहरण देते हैं) यथा—रत्नावली नाटिका में रत्नावली की प्राप्ति का कारण अनुकूल दैव से अनुमोदित यौगन्धरायण का व्यापार (बीज और रत्नावली की प्राप्ति उसका फल) है । अथवा—वेणीसंहार नाटक में द्रौपदी के केश संयमन के कारण भीमसेन के क्रोध से वृद्धि को प्राप्त युधिष्ठिर का उत्साह (वेणीसंहार नाटक का बीज है और द्रौपदी का केश संयमन उसका फल) है ।

(२) (बिन्दु का लक्षण)—अवान्तर प्रयोजन के समाप्त होने पर (प्रधान कथा के) अविच्छेद का कारण बिन्दु कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) कहा भी है कि—

"अवान्तरकथाविच्छेदे तत्सन्धानकारी बिन्दुः । जले तैलबिन्दुवत् विस्तारित्वात् बिन्दुरिति व्यपदिश्यते ॥" इति

(२) **बिन्दु और बीज में भेद**—बीज केवल मुखसन्धि के आदि में ही निबद्ध होता है, और बिन्दु उसके बाद, यही अन्तर है ।

यथा—रत्नावल्यामनङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सति 'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते' इति सागरिका श्रुत्वा '(सहर्षम्) कधं एसो सो उदअणणरिन्दो' (कथमेष स उदयननरेन्द्रः) इत्यादिरवान्तरार्थहेतुः।

व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते।

यथा-रामचरिते सुग्रीवादेः, वेण्यां भीमादेः, शाकुन्तले विदूषकस्य चरितम्।

अर्थ—(उदाहरण देते हैं) यथा–रत्नावली नाटिका में कामदेव की पूजा समाप्त होने पर कथा के (प्रकृत सन्दर्भ के) अर्थ के (तात्पर्य के) विच्छेद होने पर "उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्ष्यते" [सम्पूर्ण पद्य इसप्रकार है—

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा,
आस्थानीं समये समं नृपजनः सायन्तने सम्पतन्।
सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुम्,
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्ष्यते॥ इति॥

(यह वन्दि वाक्य है) यह सुनकर सागरिका (प्रसन्नता के साथ) ["कथं एषः स उदयननरेन्द्रः"] "क्या यही वह राजा उदयन है" इत्यादि अवान्तर अर्थ का कारण है। [और अवान्तर प्रयोजन सागरिका का वत्सराज उदयन के प्रति अनुराग है। अतः यह "बिन्दु" है।]

टिप्पणी—(१) अङ्कावतार में तो पूर्व प्रविष्ट पात्रों के द्वारा ही सूचना होती है, यही इसका उससे भेद है।

(२) रत्नावली के अन्दर दूसरा बिन्दु का उदाहरण—

प्रसङ्ग—देवी के चले जाने के अनन्तर ही अवान्तर कथा के अविच्छेद का हेतु राजा का विदूषक के प्रति यह वचन है—

"धिङ् मूर्ख! अलं परिहासेन, आभिजात्येन गूढो देव्यास्त्वया न लक्षितः कोपः। तथाहि देवीमेव प्रसादयितुं गच्छावः॥" इति॥

अर्थ—(३) ('पताका' का लक्षण)—व्यापक (निर्वहण सन्धि पर्यन्त स्थिर रहने वाला) प्रासङ्गिक (प्रसङ्ग से बीच में आने वाला) चरित "पताका" कहलाता है।

टिप्पणी—भरतमुनि ने कहा है कि—

प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः।
सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्॥
यद्वृत्तं हि परार्थं स्यात्प्रधानस्योपकारकम्।
प्रधानवच्च कल्प्येत सा पताकेति कीर्तिता॥

अर्थ—(उदाहरण देते हैं) यथा—रामचरित में सुग्रीवादि का, वेणीसंहार में भीमादि का, शाकुन्तल में विदूषक का चरित "पताका" है।

पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ॥ ६७ ॥
गर्भे सन्धौ विमर्शे वा निर्वाहस्तस्य जायते ।

यथा--सुग्रीवादेः राज्यप्राप्त्यादि । यत्तु मुनिनोक्तम्--

'आ गर्भाद्वा विमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते ।।' इति ।

तत्र 'पताकेति पताकानायकफलम् । निर्वहणपर्यन्तमपि पताकायाः प्रवृत्तिदर्शनात्' इति व्याख्यातमभिनवगुप्तपादैः ।

(जिसका वृत्तान्त पताका कहलाता है उस) पताकानायक का (सुग्रीव-भीमसेन आदि का) कोई अपना भिन्न फल नहीं होता है] किन्तु प्रकृत ग्रन्थ के नायक राम-युधिष्ठिरादि के फल को सिद्ध करने के लिये उनकी सम्पूर्ण चेष्टायें होती हैं और इसीलिये उसकी प्रासङ्गिकता भी घटित हो जाती है] उसकी (भिन्न फल की) गर्भ सन्धि में, या विमर्श सन्धि में समाप्ति हो जाती है ।

टिप्पणी—**'रसगंगाधरकार'** ने कहा है कि—

"नायकस्य फलं यत्तत् पताका परिकीर्त्यते ।
प्रतिनायकगं वापि पताका यत् प्रयोजनम् ॥

अर्थ—(प्रकृत नायक के चरित के मध्य भाग में आने वाली गर्भसन्धि में अथवा विमर्शसन्धि में पताकानायक के अपने फल की निष्पत्ति को बताने के लिये उदाहरण देते हैं)—**यथा**—**सुग्रीवादि** की राज्यप्राप्ति आदि ।

टिप्पणी—रामचरित में पताकानायक सुग्रीव है, वेणीसंहार में भीमादि हैं। उसका (पताकानायक का) रामचरित के मध्य भाग में ही बालि-राज्य की प्राप्ति रूप अपना फल निष्पन्न हो गया । इसके बाद उसी सुग्रीव का चरित रामचरित के फलभूत सीता के उद्धार करने पर्यन्त उपलब्ध होता है । इसप्रकार रामचरित में सुग्रीव चरित पताका है । इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

अवतरणिका—भिन्न फल के विषय में भरतमुनि ने 'पताका' पद की अभिनवगुप्तपादाचार्य कृत व्याख्या के अनुसार गौणता स्वीकार करके अपने कहे हुये के विरोध का परिहार करते हैं ।

अर्थ—और जो **भरतमुनि** ने कहा है कि—**आगर्भादिति**—
पताका गर्भ सन्धि तक अथवा विमर्श सन्धि तक समाप्त हो जाती है ।

टिप्पणी—'भरतमुनि' के इस मत से **साहित्यदर्पणकार** के मत का स्पष्ट विरोध हैं । इसी विरोध का परिहार करने के लिये अभिनवगुप्तपादाचार्य की व्याख्या का आश्रय लिया है ।

अर्थ—(विरोध का परिहार करते हैं) वहाँ (मुनि वचन में) **'पताका'** शब्द से **पताकानायक** का फल (विवक्षित) है । (क्योंकि) निर्वहण सन्धि पर्यन्त भी पताका की प्रवृत्ति देखी जाती है" यह **अभिनवगुप्तपादाचार्य** ने व्याख्या की है ।

टिप्पणी—अतः अभिनवगुप्तपादाचार्य की व्याख्या के अनुसार भरतमुनि के पद्य में विद्यमान "**पताका**" शब्द से तात्पर्य **पताकानायक** के फल से है । क्योंकि पताका कहीं-कहीं निर्वहण सन्धि पर्यन्त भी चलती है । यही ग्रन्थकार का भी आशय है ।

प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥६८॥

यथा—कुलपत्यङ्के रावणजटायुसंवादः ।

प्रकरी नायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ।

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः ॥६९॥

समापनं तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति संमतम् ।

यथा—रामचरिते रावणवधः ।

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ॥७०॥

आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ।

तत्र—

भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये ॥ ७१ ॥

अर्थ—(४) (प्रकरी का लक्षण) (नायक के चरित में) प्रासङ्गिक (प्रसङ्ग से उपस्थित) (तथा) प्रदेश विशेष में स्थित चरित **प्रकरी** (**प्रकरोति नायकवृत्तान्तस्य प्रकर्षं जनयतीति प्रकरी**) माना गया है । **यथा**—**कुलपत्यङ्क** में रावण और जटायु का सम्वाद ।

टिप्पणी—**पताका और प्रकरी में भेद**—

पताका के अन्दर प्रासङ्गिक चरित बहुदेशव्यापी होता है, **और प्रकरी** में केवल प्रदेश विशेष तक ही सीमित रहता है ।

अर्थ—प्रकरी नायक का (जटायु प्रभृति का) कोई अपना भिन्न फल नहीं होता है । [किन्तु उस अंश में नायक के फल की सिद्धि करना ही मुख्य फल होता है ।]

(५) (कार्य का लक्षण) जो साध्य आकांक्षित है (प्रासङ्गिक नहीं), जिसके लिये "**आरम्भ**" उपाय में प्रवृत्ति है (उद्योग है) (तथा) जिसकी सिद्धि के लिये सामग्री का इकट्ठा करना है, वह "**कार्य**" माना गया है । **यथा**—रामचरित में रावण का वध—

अथ प्रारब्धकार्यभेदनिरूपणम्—

अवतरणिका—"कार्य की पाँच अवस्थाओं का वर्णन करते हैं ।

अर्थ—("**कार्य**" की अवस्थाओं के भेद) फल की इच्छा वाले पुरुषों के द्वारा प्रारम्भ किये हुये कार्य के पाँच अङ्ग (कहे गये) हैं—(१) **आरम्भ**, (२) **यत्न**, (३) **प्राप्त्याशा**, (४) **नियताप्ति और** (५) **फलागम** ।

टिप्पणी—कार्य की इन पाँच अवस्थाओं में से **आरम्भ**, **यत्न**, **प्राप्त्याशा और नियताप्ति**-ये चार अवस्थायें कार्य को निष्पन्न करने वाली होती हैं, और **फलागम** निष्पाद्य होती है ।

अवतरणिका—क्रमशः अवस्थाओं के लक्षण करते हैं ।

अर्थ—(१) उनमें से (**आरम्भ**, **यत्न**, **प्राप्त्याशा**, **नियताप्ति और फलागम** में से) (**आरम्भ** का लक्षण) (नायक के) मुख्य उद्देश्य की सिद्धि के लिये जो **औत्सुक्य** (उत्कट राग) है, (वह) **आरम्भ** होता है ।

यथा—रत्नावल्यां रत्नावल्यन्तःपुरनिवेशार्थं यौगन्धरायणस्यौत्सुक्यम्। एवं नायकनायिकादीनामप्यौत्सुक्यमाकरेषु बोद्धव्यम्।

प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।

यथा रत्नावल्याम्—'तह वि ण अत्थि अण्णो दंसण उवाओ त्ति जधा तधा आलिहिअ जधासमीहिदं करइस्सम्।' [तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा तथा आलिख्य यथासमीहितं करिष्यामि] इत्यादिना प्रतिपादितो रत्नावल्याश्चित्रलेखनादिर्वत्सराजसङ्गमोपायः। यथा च—रामचरिते समुद्रबन्धनादिः।

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः॥ ७२॥

(आरम्भ का उदाहरण) **यथा**—रत्नावली में रत्नावली को अन्तःपुर में रखने के लिये यौगन्धरायण का औत्सुक्य है। इसीप्रकार नायक-नायिकादिकों का भी औत्सुक्य उन-उन नाटकों में (आकरेषु) समझना चाहिये।

टिप्पणी—१. यहाँ रत्नावली की प्राप्ति ही मुख्य फल समझना चाहिये।

२. अथवा—वेणीसंहार में प्रथम अङ्क में सहदेव के प्रति—

भीमः—अथ भगवान् कृष्णः केन पणेन सुयोधनं प्रति सन्धि कर्तुं प्रेहितः?

सहदेवः—"ननु पञ्चभिः ग्रामैः" इत्यादि।

अर्थ—(२) (प्रयत्न का लक्षण) (नायक या नायिका) के प्रधान फल की प्राप्ति के विषय में अत्यन्त त्वरायुक्त व्यापार को **'प्रयत्न'** कहते हैं।

(प्रयत्न का उदाहरण) **यथा**—रत्नावली में—तह वि इति—

प्रसङ्ग—सागरिका रानी वासवदत्ता के भय से राजा को पुनः न देख पाती हुई, राजा का चित्र बनाकर "इससे भिन्न और कोई दर्शन का उपाय नहीं है" इसप्रकार चित्र में राजा को देखकर कृतार्थ होऊंगी" यह सोच रही है।

अर्थ—जैसे रत्नावली में (चित्र बनाते समय अंगुली कम्पन के उपरान्त) "तथापि दूसरा (चित्र से भिन्न) दर्शन का उपाय नहीं है—अतः येन केन प्रकारेण (राजा उदयन का) चित्र बनाकर पूर्व सोचे हुये के अनुसार (चित्र लेखनादि) करूंगी" इत्यादि से प्रतिपादित रत्नावली का चित्रलेखनादि वत्सराज के साथ मिलन का उपाय है। [भाव यह है कि—साक्षात राजा के दर्शन में महारानी का प्रतिबन्ध होने से झटिति उस मिलन के कारण चित्र का आलेखन है। अतः "प्रयत्न" है।] और **यथा**—रामचरित में समुद्रबन्धनादि।

अर्थ—(३) (**प्राप्त्याशा** का लक्षण) उपाय (उपाय साधन) और अपाय (प्रयत्न की सिद्धि में विघ्न का भय) की आशंका से (फल की) प्राप्ति की सम्भावना **प्राप्त्याशा** होती है।

यथा—रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्तनाभिसरणादेः सङ्गमोपाया-द्वासवदत्तालक्षणापायशंकया चानिर्धारितैकान्तसङ्गमरूपफलप्राप्तिः प्राप्त्याशा।

एवमन्यत्र।

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता।

अपायाभावान्निर्धारितैकान्तफलप्राप्तिः। यथा रत्नावल्याम्—'राजा—देवीप्रसादनं त्यक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि' इति देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियतफलप्राप्तिः सूचिता।

साऽवस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः॥ ७३॥

यथा—रत्नावल्यां रत्नावलीलाभश्चक्रवर्तित्वलक्षणफलान्तरलाभ-सहितः। एवमन्यत्र।

अर्थ-—(प्राप्त्याशा का उदाहरण) **यथा—रत्नावली** के तृतीय अङ्क में (सागरिका का) वेश परिवर्तन करना (वासवदत्ता का वेश बनाना) तथा अभिसरणादि के (राजा के समीप अभिसार के लिये जाना) मिलने के उपाय से और वासवदत्ता स्वरूप विघ्न की आशंका से अनिश्चित एकान्त में मिलन रूप फल की प्राप्ति की आशा प्राप्त्याशा है। इसीप्रकार अन्यत्र (भी समझना चाहिये)।

(४) (**नियताप्ति** का लक्षण) विघ्न के दूर हो जाने से निश्चित (फल की) प्राप्ति "**नियताप्ति**" (होती) है।

(कारिका को स्पष्ट करते हैं) विघ्न के दूर हो जाने से निर्धारित निश्चित प्रधान फल की प्राप्ति **नियताप्ति** (होती) है। (**नियताप्ति** का उदाहरण) **यथा—रत्नावली नाटिका में—"राजा**—देवी को प्रसन्न करने को छोड़कर मैं इस विषय में कोई दूसरा उपाय नहीं देखता हूँ" इस कहने के अनुसार देवी वासवदत्ता रूप विघ्न के, उसको प्रसन्न करने से, दूर हो जाने से **नियत फल की प्राप्ति** सूचित की है।

टिप्पणी—यथा वा—वेणीसंहार में—

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम्॥
कृष्णा केशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः,
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः॥

इत्यादि से भीम और अर्जुन के द्वारा एकमात्र अवशिष्ट दुर्योधन को खोजने से नियताप्ति दिखाई है।

अर्थ—५. (फलागम का लक्षण) जो सम्पूर्ण फल की सम्भावना है, वह अवस्था **फलागम** होती है। [यह अवस्था पूर्वोक्त चारों अवस्थाओं से निष्पाद्य होती है।]

(**फलागम** का उदाहरण) **यथा—रत्नावली** में चक्रवर्तित्व रूप दूसरे फल के सहित रत्नावली की प्राप्ति "**फलागम**" है। इसीप्रकार अन्यत्र (भी समझना चाहिये)।

टिप्पणी—यथा—वेणीसंहार के षष्ठ अङ्क में दुर्योधन को मारकर भीमसेन ने युधिष्ठिर को राज्य समर्पण रूप "**फलागम**" दिखाया है। **अथवा—**शाकुन्तल में सर्वदमन नायक पुत्र की प्राप्ति के साथ शकुन्तला की प्राप्ति "**फलागम**" है।

यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात्तु पञ्चभिः ।
पञ्चधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पञ्च सन्धयः ।। ७४ ।।

तल्लक्षणमाह—

अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः । तद्भेदानाह—

मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ।। ७५ ।।
इति पञ्चास्य भेदाः स्युः क्रमाल्लक्षणमुच्यते ।

अथ सन्धिस्वरूपनिरूपणम्—

अर्थ—इन (कही हुई) पांच अवस्थाओं के साथ (**"आरम्भ"** इत्यादि अङ्कों के साथ) क्रमशः समन्वय होने से कथावस्तु के पाँच प्रकार के ही भाग, पाँच सन्धियां होती हैं ।

टिप्पणी—इसप्रकार **"आरम्भ"** योगिनी अवस्था **मुखसन्धि, यत्न** योगिनी अवस्था **प्रतिमुखसन्धि, प्राप्त्याशा** योगिनी अवस्था **गर्भसन्धि, नियताप्ति** योगिनी अवस्था **विमर्शसन्धि** और **फलागम** योगिनी अवस्था **उपसंहृति सन्धि** समझनी चाहिये।

अर्थ—उसका (सन्धि का) लक्षण कहते हैं ।

(**सन्धि** का लक्षण)—एक प्रयोजन के होने पर मध्य में दूसरे (एकेन) **अर्थ** के साथ सम्बन्ध होना **सन्धि** (**सन्धीयत इति सन्धिः**) (कहलाता) है ।

टिप्पणी—यथा—मालतीमाधव में प्रथम अङ्क से लेकर द्वितीय अङ्क पर्यंत मुख नामक सन्धि है । वहाँ पर मालती और माधव के परिणय-रूप प्रधान फल के प्रति उन दोनों का पारस्परिक अनुराग ही घटक है— अतः प्रधानफलरूप सम्बन्ध की वर्तमानता और उन दोनों के अनुराग रूप एक अन्य फल के सम्बन्ध की वर्तमानता समझनी चाहिये । इस सन्धि के लक्षण में यदि **"एकान्वये सति"** का उपादान न करें और **"अन्तरैकार्थसम्बन्धः"** इतना ही सन्धि का लक्षण मानें तो मूल कथानक की सूचना रूप अवान्तर फल की सत्ता के सम्बन्ध से सर्वत्र प्रस्तावना के अन्दर अतिव्याप्ति हो जायेगी—अतः अतिव्याप्ति के निराकरण के लिये **"एकान्वये सति"** का ग्रहण किया है ।

अर्थ—एक प्रयोजन (प्रधान फल से) अन्वित कथा के अंशों का अवान्तर प्रयोजन के साथ सम्बन्ध **सन्धि** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—मन्दारमरन्द में भी कहा है कि—

मुख्यप्रयोजनवशात् तथाङ्गानां समन्वये ।
अवान्तरार्थसम्बन्धः **सन्धिः** सन्धानरूपतः ।। इति ।।

अथ सन्धिभेदनिरूपणम्—

अर्थ—उसके (**सन्धि** के) भेदों को बताते हैं ।

(१) **मुख**, (२) **प्रतिमुख**, (३) **गर्भ**, (४) **विमर्श**, (५) **उपसंहृति** (निर्वहण) ये पाँच इसके (सन्धि के) भेद होते हैं । क्रमशः लक्षण कहे जाते हैं ।

यथोद्देशं लक्षणमाह--

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ॥ ७६ ॥
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम् ।

यथा—रत्नावल्यां प्रथमेऽङ्के ।

फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः ॥ ७७ ॥
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ।

यथा--रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुराग-बीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसंगताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किंचि-ल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चिदुन्नीयमानस्योद्देशरूप उद्भेदः ।

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ॥ ७८ ॥
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः ।

अर्थ—क्रमशः (उद्देशमनतिक्रम्य यथोद्देशम्) लक्षण करते हैं ।

टिप्पणी—उद्देश का लक्षण—"उद्देशश्च नामकीर्तनम्" ।

अर्थ—(१) (**मुख सन्धि** का लक्षण)—जिस सन्धि में अनेक अर्थ (वृत्तान्त) और रसादि (शृंगारादि) के व्यञ्जक प्रारम्भ (नामक अवस्था) से युक्त **बीज** (अर्थ-प्रकृति) की उत्पत्ति होती है, वह (मुख की तरह है मुख जिसका ऐसी) **मुखसन्धि** कहलाती है ।

(**मुखसन्धि** का उदाहरण) **यथा**—**रत्नावली** नाटिका के प्रथम अङ्क में ।

टिप्पणी—यहाँ रत्नावली और वत्सराज के अनुराग रूप **बीज** की उत्पत्ति होती है ।

अर्थ—(२) (**प्रतिमुख सन्धि** का लक्षण)--जिस (सन्धि) में मुखसन्धि में स्थित प्रधान फल के प्रधान उपाय का (बीज का) किंचित् लक्ष्य की तरह प्रकाश (होता) है वह **प्रतिमुख** (नामक) **सन्धि** (मुखस्य आभिमुख्येन वर्तते इति) (होती) है ।

(**प्रतिमुख सन्धि** का उदाहरण) **यथा**—**रत्नावली** के द्वितीय अङ्क में वत्सराज और सागरिका के समागम के हेतु अनुराग रूप बीज का तथा प्रथम अङ्क में (कवि के द्वारा) सूचित किये हुये का, सुसंगता और विदूषक इन दोनों को पता लग जाने से (जो) किंचित् लक्ष्य है उसका (तथा) चित्रफलक के वृत्तान्त से वासवदत्ता के द्वारा किंचित् अनुमान किये जाते हुये इसका (अतः अलक्ष्य) उद्देश्य प्रकट हो जाने से (**प्रति-मुख सन्धि**) है ।

(३) (**गर्भसन्धि** का लक्षण)—पहले (पूर्व दो मुख और प्रतिमुख सन्धियों में) कुछ प्रकट हुये प्रधान फल के प्रधान उपाय का (बीज का) जिस (सन्धि) में पौनःपुन्येन तिरोभाव और अन्वेषण रूप अभिव्यक्ति होती है (वह) **गर्भसन्धि** (कहलाती) है ।

टिप्पणी—**भरतमुनि** ने भी कहा है कि :—

उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा ।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स **गर्भ** इति संज्ञितः ॥ इति ॥

फलस्य गर्भीकरणाद्गर्भः । यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के-सुसंगता-सहि, अदक्खिणा दाणिं सि तुमं जा एवं भट्टिणा हत्थेण गहिदा वि कोवं ण मुञ्चसि, [सखि, अदक्षिणेदानीमसि त्वं या एवं भर्त्रा हस्तेन गृहीतापि कोपं न मुञ्चसि] इत्यादौ समुद्भेदः । पुनर्वासवदत्ताप्रवेशे ह्रासः । तृतीयेऽङ्के—'तद्वार्तान्वेषणाय गतः कथं चिरयति वसन्तकः' इत्यन्वेषणम् । 'विदूषकः—ही ही भोः, कोसम्बीरज्जलम्भेणावि ण तादिसो पिअवअस्सस्स परितोसो जादिसो मम सआसादो पियवअणं सुणिअ भविस्सदि' [ही ही भोः, कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशः प्रियवयस्यस्य परितोषः यादृशो मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यति] इत्यादावुद्भेदः । पुनरपि वासवदत्ताप्रत्यभिज्ञानाद् ह्रासः । सागरिकायाः सङ्केतस्थानगमनेऽन्वेषणम् । पुनर्लतापाशकरणे उद्भेदः ।

अथ विमर्शः—

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ॥ ७९ ॥
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः ।

अर्थ—('गर्भ' शब्द का अर्थ बताते हैं)—प्रधान फल को भीतर रखने के कारण गर्भ कहते हैं। (गर्भसन्धि का उदाहरण) यथा—रत्नावली नाटिका के द्वितीय अङ्क में—"सुसंगता, (हे) सखि! तुम इस समय (पति से हाथ पकड़ने के समय) (बड़ी) निष्ठुर हो, जो इसप्रकार पति के द्वारा हाथ से पकड़ी जाती हुई भी क्रोध को नहीं छोड़ रही हो" [अन्य मानिनी स्त्रियाँ प्रिय के हाथ पकड़ने तक ही मान करती हैं और तुम तो हाथ पकड़ने के अनन्तर भी क्रोध को नहीं छोड़ रही हो—इससे मालूम पड़ता है कि तुम अतीव निष्ठुर हो-यह ध्वनित होता है।] इत्यादि में उद्भेद—विकास हुआ है। पुनः वासवदत्ता के प्रवेश के अवसर पर ह्रास हुआ है। तृतीय अङ्क में—"उस (सागरिका) के वृत्तान्त को खोजने के लिये भेजा हुआ वसन्तक देर क्यों कर रहा है? यह अन्वेषण है। विदूषक, हे, यह बड़ा आश्चर्य है कि "प्रिय मित्र वत्सराज को मुझसे प्रिय समाचार सुनकर जितनी प्रसन्नता होगी उतनी कौशाम्बी नामक राज्य की प्राप्ति से भी नहीं होगी (ऐसा सोचता हूँ)"इत्यादि में (पुनः) उद्भेद—विकास है। (और) पुनरपि वासवदत्ता को पता लग जाने से ह्रास है। पुनः सागरिका के संकेत स्थान को जाने पर अन्वेषण है। पुनः लतापाश करने से (राजा को सागरिका का दर्शन होने से) (अनुराग का) उद्भेद हुआ है। [अतः यहाँ पर "गर्भ" सन्धि की **प्राप्त्याशा** रूप अवस्था का योग है।]

(४) इसके बाद (**"गर्भ सन्धि"** के लक्षणोदाहरण के उपरान्त) **विमर्श** (का लक्षण)—

(**विमर्श सन्धि** का लक्षण)—जिस (सन्धि) में प्रधान फल का उपाय (कारण) गर्भ सन्धि की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होता है (गर्भ सन्धि में ह्रास और अन्वेषण के कारण किञ्चित् स्पष्ट होता है पर यहाँ ह्रास न होने से अधिक स्पष्ट होता है।) (तथा) शापादि के कारण ('आदि' पद से क्रोध, भय और दैवीय आपत्तियों का ग्रहण होता है) विघ्न से युक्त (होता) है, वह **विमर्श नामक सन्धि** (**विमृष्यते पात्रैः कर्तव्यं विविच्यते अस्मिन् इति विमर्शः**) कहलाती है।

यथा शाकुन्तले चतुर्थाङ्कादौ—"अनसूया—हला पिअंवदे, जइ वि गन्धव्वेण विवाहेण णिव्वुत्तकल्लाणा पिअसही सउन्तला अणुरूवभत्तुभाइणी संवुत्तेति णिव्वुदं मे हिअअम्, तह वि एत्तिअं चिन्तणिज्जम्'[हला प्रियंवदे,यद्यपि गान्धर्वेण विवाहेन निर्वृत्तकल्याणा प्रियसखी शकुन्तला, अनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निर्वृत्तं मे हृदयम्, तथाप्येतावच्चिन्तनीयम्] इत्यत आरभ्य सप्तमाङ्को पक्षिप्ताच्छकुन्तलाप्रत्यभिज्ञानात्प्रागर्थसञ्चयः शकुन्तलाविस्मरणरूपविघ्ना लिङ्गितः।

अथ निर्वहणम्

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥८०॥
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।

अर्थ—(विमर्श सन्धि का उदाहरण) यथा—शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में—"अनसूया—हला प्रियंवदे इति—"हे प्रियंवदे ! यद्यपि गान्धर्व विवाह की विधि से प्रिय सखी शकुन्तला का मंगल विवाह सम्पन्न हो गया है (निर्वृत्त-कल्याणा) [इससे परस्पर दृढ़ अनुराग और राजा की सदा धर्मपरायणता व्यंजित होती है। "प्रिय सखी" शकुन्तला "इससे अनुरागाधिक्य सूचित होता है।] और वह अनुरूप पति को प्राप्त हो गई है, यह सोचकर मेरा हृदय निश्चिन्त हो गया है, तथापि (शकुन्तला के अनुरूप पति को प्राप्त कर लेने पर भी) यह सोचने योग्य है"—यहाँ से लेकर सप्तम अङ्क में (कवि द्वारा) उठाये हुये शकुन्तला के प्रत्यभिज्ञान से पूर्व का (अर्थात् दुर्वासा मुनि के शाप से राजा का शकुन्तला के साथ समागमरूप प्रधान फल का उपाय प्रसिद्ध हो गया था, ऐसा समझना चाहिये) फल समुदाय शकुन्तला के विस्मरणरूप विघ्न से आलङ्गित (युक्त) है।

टिप्पणी—"शकुन्तला को राजा का भूल जाना" यह विस्मृति दुर्वासा के शाप से हुई। तथाहि—

"विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोनिधं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमोदितामिव" ॥इति॥

यह शाप की प्रतिबन्धक प्रधान फल की उपाय रूप विमर्श सन्धि शकुन्तला के राजा के साथ समागम की प्राप्त्याशा की अवस्था से युक्त है। इसप्रकार भय तथा व्यसन आदि अनेक कारणों से होने वाला "विमर्श" समझना चाहिये।

अर्थ—(५) इसके बाद (विमर्श सन्धि के लक्षणोदाहरण के उपरान्त) निर्वहण सन्धि (का लक्षण)

(निर्वहण सन्धि का लक्षण)—जिस (सन्धि) में यथास्थान (नियमानुसार) (कवि के द्वारा) उपन्यस्त किये हुये बीज से युक्त मुखादि ('आदि' पद से प्रतिमुख, गर्भ और विमर्शादिकों का ग्रहण होता है) अर्थ (काव्य वस्तु के विभाग) केवल प्रधान प्रयोजन के लिये (एकार्थम्) प्राप्त कराये जाते हैं, वह निर्वहण सन्धि (निर्वहति प्रधानप्रयोजनं जायते अस्मिन् इति) (कहलाती) है।

टिप्पणी—निर्वहणम्—उपसंहारः-उपसंहृतिः—ये पर्यायवाची शब्द हैं, इनमें अन्तर नहीं है।

यथा—वेण्याम्, 'कञ्चुकी'—(उपसृत्य, सहर्षम्) महाराज ! वर्धसे। अयं खलु भीमसेनो दुर्योधनक्षतजारुणीकृतसर्वशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्तिः' इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादिमुखसन्ध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थ-योजनम् ।

यथा वा—शाकुन्तले सप्तमाङ्के शकुन्तलाभिज्ञानादुत्तरोऽर्थराशिः। एषामङ्गान्याह—

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥ ८१ ॥
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।
उद्भेदः करणं भेद एतान्यङ्गानि वै मुखे ॥ ८२ ॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः ।

काव्यार्थ इतिवृत्तलक्षणप्रस्तुताभिधेयः ।

अर्थ—(निवहरण सन्धि का उदाहरण) यथा—वेणीसंहार में—**कञ्चुकी**-(पास जाकर हर्ष के साथ) महाराज ! वृद्धि को प्राप्त हों ! "दुर्योधन के उरुभंग से उत्पन्न खून से लाल कर लिया है सारा शरीर जिसने ऐसा, कठिनता से पहचाना जा सकने वाला व्यक्ति, यह भीमसेन है" इत्यादि से द्रौपदी के केश संयमन आदि ("आदि" पद से शत्रु विनाश और राज्य प्राप्ति का ग्रहण होता है) मुख सन्धि आदि में होने वाली (भीमसेन के क्रोध से प्रवृद्ध युधिष्ठिर के उत्साह रूप बीजों का) अपने अपने स्थानों पर (कवि के द्वारा) उपस्थापित बीजों की एक प्रधान प्रयोजन के अन्दर (द्रौपदी के केश संयमनादि अर्थ के अन्दर) योजना है । **यथा वा**—शाकुन्तल के सप्तम अङ्क में शकुन्तला के अभिज्ञान से (अर्थात् "यह शकुन्तला है" इस अभिज्ञान से) पश्चात् का सम्पूर्ण कार्य समुदाय (**निर्वहण सन्धि** का उदाहरण) है ।

टिप्पणी—केचित्तु—कुछ मुखादि सन्धियाँ और अवस्थायें जहाँ पृथक्-पृथक् संक्षेप में पुनः उल्लिखित की जाती हैं,' वहाँ "**निर्वहण सन्धि**" स्वीकार करते हैं ।

अर्थ—इनके ('**मुखादि सन्धियों**' के) अङ्गों का वर्णन करते हैं ।

अथ मुखसन्ध्यङ्गनिरूपणम्—

अवतरणिका—'**मुख सन्धि**' के १२ अङ्गों का निरूपण करते हैं ।

अर्थ—(१) **उपक्षेप**, (२) **परिकर**, (३) **परिन्यास**, (४) **विलोभन**, (५) **युक्ति**, (६) **प्राप्ति**, (७) **समाधान**, (८) **विधान**, (९) **परिभावना**, (१०) **उद्भेद**, (११) **करण**, (१२) **भेद**—ये (बारह) अंग '**मुखसन्धि**" में (होते) हैं ।

क्रमशः लक्षण करते हैं ।

अर्थ—(१) ('**उपक्षेप**' का लक्षण) काव्य के अर्थ की समुत्पत्ति (संक्षेप से उपस्थित करना) '**उपक्षेप**' कहा गया है ।

(कारिकास्थ काव्यार्थ पद को स्पष्ट करते हैं) **काव्यार्थः**=इतिहासरूप प्रकृत अभिधेय (प्रतिपाद्य) ।

यथा वेण्याम्—'भीमः—

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्
स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

समुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरः पुनः ॥ ८३ ॥

यथा तत्रैव—

प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभि-
र्न तत्रार्यो हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम्।

अर्थ—(उपक्षेप का उदाहरण) **यथा—वेणीसंहार में—भीमसेन—लाक्षेति—**

प्रसङ्ग—'स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः' इस, सूत्रधार की उक्ति को सुनकर प्रविष्ट हुये भीमसेन की उक्ति है।

अर्थ—धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि लाक्षा से निर्मितगृह को जलाने के लियेलगाई हुई अग्नि से, विष से मिले हुये अन्न के प्रयोग से, (जुआ खेलने के लिये) सभा में बुलाने से, प्राणों के विषय में और धन के समूह के विषय में हम पर प्रहार करके (लाक्षागृह में जलाने तथा विषयुक्त भोजन देकर हमारे प्राणों का अपहरण करके और जुआ खेलने के लिये सभा में बुलाकर हमारे धन का अपहरण करके) (तथा) पाञ्चाली के वस्त्रों और केशपाशों को खींचकर मेरे (भीम के) प्राण धारण करते हुये होने पर स्वस्थ रहें ? [यहां 'स्वस्थाः' के अन्दर **'काकु'** है। अतः **'स्वस्थ नहीं रहेंगे'** यह अर्थ निकलता है।]

टिप्पणी—(१) यहाँ द्रौपदी के केश-संयमन काव्यार्थ का **अथवा** वैर को प्रकाशित कर अपनी सम्भावना से वैर का बदला लेने के इतिवृत्त का कथन करने से **"उपक्षेप"** है।

(२) **अथवा—रत्नावली** में (नेपथ्य में) **"द्वीपादन्यस्मादपि"** इत्यादि से यौगन्धरायण ने वत्सराज के रत्नावली की प्राप्ति के कारणभूत अनुकूल दैव वाले अपने व्यापार को बीजरूप से उपक्षिप्त किया है। अतः **"उपक्षेप"** है।

अर्थ—(२) (**"परिकर"** का लक्षण) उत्पन्न हुये काव्यार्थ का विस्तार (पहले की अपेक्षा विस्तार से सूचना देना) **"परिकर"** समझना चाहिये।

(**"परिकर"** का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही) **प्रवृद्धमिति—**

प्रसङ्ग—कौरवों के साथ सन्धि करने के लिये उद्यत राजा युधिष्ठिर के सन्देश को सुनाते हुये सहदेव के प्रति भीमसेन की यह उक्ति है।

अर्थ—कौरवों के साथ मेरा (भीमसेन का) बचपन से ही लेकर जो वैर बढ़ गया है, उसमें (वैर की वृद्धि के विषय में) गुरुत्वेन माननीय युधिष्ठिर (आर्यः) कारण नहीं है, अर्जुन (भी) (कारण) नहीं है और न तुम दोनों (नकुल और सहदेव) ही (कारण) हो, [अर्थात् मैं ही कौरवों के विद्वेष का कारण हूँ] (अतः) भीमसेन को

जरासंधस्योरःस्थलमिव विरूढं पुनरपि-
क्रुधा भीमः सन्धिं विघटयति यूयं घटयत ।।

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः—

यथा तत्रैव—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ।।

अत्रोपक्षेपो नामेतिवृत्तलक्षणस्य काव्याभिधेयस्य संक्षेपेणोपक्षेपणमात्रम्

से मिले हुये जरासन्ध (जरा नामक दासी से संयुक्त) के वक्षःस्थल की तरह (कृष्णादि की चेष्टा से उत्पन्न) सन्धि को पौनःपुन्येन तोड़ रहा हूँ (और) तुम (युधिष्ठिर आदि यदि समर्थ हों तो) (उस सन्धि को) जोड़ो । [आपके द्वारा की हुई सन्धि को भी मैं तोड़ूंगा । अतः तुम्हारा सन्धि करना व्यर्थ है, यह भाव है ।]

टिप्पणी—(१) जन्म के समय जरासन्ध के शरीर के दो टुकड़े थे । अतः इसके पिता बृहद्रथ ने इसको श्मशान में डलवा दिया, वहाँ जरा नाम की राक्षसी ने इसके दोनों भागों को जोड़ दिया, अतः इसका नाम "जरासन्ध" हुआ । महाभारत के युद्ध से पूर्व श्रीकृष्ण जी के संकेत से पुनः भीमसेन ने उसके दो टुकड़े कर दिये । यह वृत्तान्त महाभारत के शान्ति पर्व में है ।

(२) यहाँ सन्धि को तोड़ने से वैर की अभिव्यक्ति की अधिक सूचना होने से 'परिकर' है ।

अर्थ—(३) ('परिन्यास' का लक्षण) उसका (अधिक सूचित किये हुये काव्यार्थ का) निश्चित रूप से संकीर्तन करना (निष्पत्तिः) **परिन्यास** (परितो हृदये न्यसनमुपस्थितिः) है ।

टिप्पणी—कहा भी है कि—

"भविष्यद्वस्तुकथनं परिन्यासं प्रचक्षते ।" इति ।।

अर्थ—(परिन्यास का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही)—चञ्चदिति—[**प्रसङ्ग**—द्रौपदी के प्रति भीमसेन की उक्ति है ।]

अर्थ—हे पाञ्चालि ! भीमसेन चञ्चल भुजा से घुमाई हुई भीषण गदा के प्रहार से चूर्ण कर दिये हैं उरुयुगल जिसके ऐसे दुर्योधन के (**सुखेन युध्यत इति सुयोधनः अर्थात् दुर्योधन**) स्निग्ध लगे हुये गाढ़े रुधिर से रक्तवर्ण वाले हैं हाथ जिसके ऐसा तुम्हारे केशपाशों को (दुर्योधन के खींचने से खुले हुये) अलंकृत करेगा ।

टिप्पणी—यहाँ भविष्यत् काल में होने वाले दुर्योधन के उरुभंग रूप काव्यार्थ की निश्चित रूपेण उपस्थिति होने से "परिन्यास" है ।

अवतरणिका—ऊपर कहे हुये **उपक्षेप**, **परिकर** और **परिन्यास** इन तीनों में भेद बताते हैं ।

अर्थ—इनमें से इतिवृत्त रूप काव्य के अन्दर प्रतिपाद्य अर्थ का संक्षेप से उपस्थापन करना **उपक्षेप** (कहलाता) है । उसी का (काव्य के अन्दर प्रतिपाद्य अर्थ का)

परिकरस्तस्यैव बहुलीकरणम् । परिन्यासस्ततोऽपि निश्चयापत्तिरूपतया परितो हृदये न्यसनम्, इत्येषां भेदः । एतानि चाङ्गानि उक्तनैव पौर्वापर्येण भवन्ति । अङ्गान्तराणि त्वन्यथापि ।

—गुणाख्यानं विलोभनम् ।

यथा तत्रैव, 'द्रौपदी—णाध, किं दुक्करं तुए परिकुविदेण' [नाथ, किं दुष्करं त्वया परिकुपितेन] यथा वा मम चन्द्रकलायां चन्द्रकलावर्णने—सेयम्, 'तारुण्यस्य विलासः—' इत्यादि । यत्तु शाकुन्तलादिषु 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्–' इत्यादि मृगादिगुणवर्णनं तद्बीजार्थसम्बन्धाभावान्न संध्यङ्गम् । एवमङ्गान्तराणामप्यूह्यम् ।

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः—

यथा—वेण्यां 'सहदेवो भीमं प्रति–आर्य, किं महाराजसन्देशोऽयमव्युत्पन्न इवार्येण गृहीतः' इत्यतः प्रभृति यावद्भीमवचनम् ।

विस्तार करना परिकर,(और) उससे भी अधिक भावी कर्त्तव्य के निश्चय की उपस्थिति को सर्वात्मना हृदय में स्थिर करना परिन्यास (कहलाता) है, यही इनमें भेद है। और ये (तीन उपक्षेप,, परिकर और परिन्यास) अङ्ग रहे हुये ही पौर्वापर्य से (क्रम से) होते हैं, और दूसरे अङ्ग तो (प्रतिपाद्य विलोभनादि) अन्यथा रूप से भी अर्थात् प्रतिपाद्यमान क्रम से भिन्न क्रम से भी (होते) हैं।

अर्थ—(४) ("विलोभन" का लक्षण)—गुणों का कथन करना "विलोभन" (विशेषेण कर्त्तव्यविषये लाभोत्पादनम्) (कहलाता) है।

(विलोभन का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही)—द्रौपदी—

[प्रसङ्ग—"चञ्चद्भुज०" इस श्लोक के अनन्तर द्रौपदी की यह उक्ति है।] हे नाथ! तुम्हारे क्रोधित हो जाने से क्या वस्तु दुर्लभ है? [यहाँ भीमसेन के बल की अधिकता रूप गुण का कथन करने से दुर्योधनादि वध में लोभ उत्पन्न करने से "विलोभन" है।] अथवा—मेरे द्वारा निर्मित चन्द्रकला में चन्द्रकला के वर्णन में-—"वह यह यौवन का विलास है" इत्यादि [यहाँ नायिका चन्द्रकला के सौन्दर्य का कथन करने से अपने हृदय में लोभ के उत्पन्न होने से "विलोभन" है।] और जो शाकुन्तलादिकों में "ग्रीवाभङ्गाभिरामम्" इत्यादि मृगया के गुणों का वर्णन है। उसमें बीज के अर्थ का (शकुन्तला प्राप्ति रूप कार्य का) सम्बन्ध न होने से (मृगया के वर्णन से सम्बन्ध न होने से) सन्ध्यङ्ग नहीं है। इसीप्रकार दूसरे अङ्गों में भी समझ लेना चाहिये।

टिप्पणी—इसप्रकार "बीजार्थ के सम्बन्ध होने पर" अङ्गता है, अन्यथा नहीं—यह भाव है।

अर्थ—(५) (युक्ति का लक्षण)—कर्तव्य विषयों का (अर्थानाम्) निश्चय करना युक्ति (सिद्धान्तबुद्ध्या योगः) है।

(युक्ति का उदाहरण) यथा–वेणीसंहार में सहदेव भीमसेन के प्रति—आर्य! क्या महाराज (युधिष्ठर) का यह सन्देश विना विचारे ही आपने स्वीकार कर लिया?"

'युष्मान् ह्रेपयति क्रोधाल्लोके शत्रुकुलक्षयः ।
न लज्जयति दाराणां सभायां केशकर्षणम् ।।' इति ।

—प्राप्तिः सुखागमः ।।८४।।

यथा तत्रैव—'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्—' इत्यादि। 'द्रौपदी—(श्रुत्वा सहर्षम्) णाध, अस्सुदपुव्वं क्खु एदं वअणम्, ता पुणो पुणो भण ।' [नाथ, अश्रुतपूर्वं खल्विदं वचनम्, तत्पुनः पुनर्भण !]

बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते ।

यथा तत्रैव—'(नेपथ्ये) भो भो विराटद्रुपदप्रभृतयः, श्रूयताम् ।

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।

इति—यहाँ से लेकर भीम के वचन तक—

अर्थ—**युष्मानिति**—क्रोध से शत्रुओं के कुल का नाश करना संसार में तुमको (सन्धि के लिये प्रयत्न करते हुये पाण्डवों को) लज्जित कर रहा है। (किन्तु) सभा में (एकान्त स्थान पर नहीं) स्त्री के केशों को खींचना तुमको लज्जित नहीं कर रहा है। [सभा में द्रौपदी के केशों को खींचने से बढ़कर और कुछ भी लज्जाजनक नहीं है—यह नहीं लज्जित कर रहा है—यह बड़े आश्चर्य की बात है।]

टिप्पणी—यहाँ शत्रु कुल के विनाश रूप कार्य के निश्चय से कर्तव्य का सूचन होता है, अतः 'युक्ति' है।

अर्थ—(६) ("**प्राप्ति**" का लक्षण)–सुख के आगमन को "**प्राप्ति**" (कहते) हैं।

("**प्राप्ति**" का उदाहरण) **यथा**—वहीं (**वेणीसंहार** में ही) "**मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्**" ? इत्यादि।

द्रौपदी—(सुनकर सहर्ष) हे नाथ ! ऐसा वचन तो कभी पहले सुना नहीं, अतः फिर फिर कहो।

टिप्पणी—यहाँ भीम के वाक्य की सुख की कारणता पौनःपुन्येन उत्कण्ठा-पूर्वक सुनने से ही द्रौपदी की प्रतीत होती है, अतः "**प्राप्ति**" है।

अर्थ—(७) ("**समाधान**" का लक्षण) **बीज का** ("**अल्पमात्रं समुद्दिष्टम्**" इत्यादि पूर्वोक्त स्वरूप वाले मूल कारण का) **जो आगमन है** (प्रधान नायक के अभिमत रूप से उपस्थित है, अथवा प्रधान लक्ष्यगत होने से कथन करना है) **वह समाधान** (**बीजस्य सम्यक् आ-समन्तात् धानं-पोषणं समाधानम्**) कहलाता है।

(**समाधान का उदाहरण**) **यथा**—वहीं (**वेणीसंहार** में ही)—(नेपथ्य में) हे ! हे ? (सम्भ्रम में द्विरुक्ति है) विराट् और द्रुपद इत्यादि ! ("आदि" पद से वृष्णि, अन्धक, सहदेव प्रभृति का ग्रहण होता है) सुनो—

यदिति—सत्य की रक्षा करने रूप नियम के (अर्थात् १२ वर्ष

तद्द्यूतारणिसंभृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ।।

अत्र 'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति—' इत्यादिबीजस्य प्रधाननायकाभिमतत्वेन सम्यगाहितत्वात्समाधानम् ।

सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम् ।। ८५ ।।

यथा बालचरिते—

'उत्साहातिशयं वत्स तव बाल्यं च पश्यतः ।
मम हर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्मनः ।।'

यथा वा मम प्रभावत्याम्–'नयनयुगासेचनकम्–' इत्यादि ।

वनवास के और एक वर्ष अज्ञातवास के) भङ्ग होने से भीरु है मन जिसका ऐसे, (युधिष्ठिर ने) यत्नपूर्वक जो (क्रोध-ज्योति) मन्द कर दी थी (विनष्ट नहीं की थी), कुल की शान्ति को (अक्षयता को) चाहते हुये शान्त मन से जिसको भुलाने की भी चेष्टा की थी, द्यूतरूपी अरणी (मथानी) से उत्पन्न, द्रौपदी के केशपाशों के और वस्त्र के आकर्षण रूप वायुओं से (उद्दीपित), वह महान् युधिष्ठिर सम्बन्धी यह क्रोध की ज्योति कौरवों रूपी वन में बढ़ रही है ।

("समाधान" पद के योगार्थ को स्पष्ट करते हैं)—यहाँ "स्वस्था भवन्तु मयि जीवति" इति—इस मूल कारण के (क्रोध से उद्दीपित भीमसेन के उत्साह रूप बीज के) प्रधान नायक (युधिष्ठिर) से अभिमत होने के कारण पूर्णतया उत्तेजित होने से अथवा यथाक्रम कवि के द्वारा नाटक में उपन्यस्त करने के कारण "समाधान" है ।

अर्थ—(८) ('विधान' का लक्षण) सुख और दुःख से मिश्रित जो कार्य है, वह विधान (विधीयत इति विधानम्) कहा गया है ।

("विधान" का उदाहरण) यथा—बालचरित में—

प्रसङ्ग—बालरामचरित प्रधान किसी नाटक में परशुराम जी रामचन्द्र जी के प्रति कहते हैं—

अर्थ—उत्साहातिशयमिति—(हे) वत्स, (राम) तुम्हारे अतिशय उत्साह को और बाल्यावस्था को **अथवा** विना विचार किये हुये कर्म को (शिवजी के धनुषभङ्ग रूप कर्म को) देखते हुये मेरा मन एक साथ हर्ष और विषाद से आक्रान्त हो गया । [अतिशय उत्साह को देखकर, यह महावीर हो गया इस विचार से सुख, और शैशवावस्था में शिव जी के धनुषभङ्ग रूप अविचारित कर्म करने के कारण उसके साथ युद्ध करना पड़ेगा, अतः दुःख ।] [यहाँ परशुराम जी का श्रीराम जी को पराजित करने रूप अर्थ सुख और दुःख से मिश्रित होने के कारण "विधान" है ।]

अथवा—मेरे द्वारा निर्मित प्रभावती में—"नयनयुगासेचनकम्" इत्यादि ।

टिप्पणी—इस पद्य के अन्दर सुख और दुःख से मन का सम्बन्ध होने से "विधान" है ।

कुतूहलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना ।

यथा—वेण्यां द्रौपदी युद्धं स्यान्न वेति संशयाना तूर्यशब्दानन्तरम् 'णाध, किं दाणिं एसो पलअजलहरत्थणिदमन्थरो खणे खणे समरदुन्दुभि ताडीअदि ।' [नाथ, किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमन्थरः क्षणे क्षणे समर-दुन्दुभिस्ताडयते]

बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः,

यथा तत्रैव—'द्रौपदी—णाह, पुणो वि तुम्हेहिं समरादो आअच्छिअ समास्सासइदव्वा । [नाथ, पुनरपि युष्माभिः समरादागत्याहं समाश्वासयितव्या]

भीमः—

भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ।।

अर्थ—(९) ("परिभावना" का लक्षण)—औत्सुक्य के बाहुल्य से युक्त वचन "परिभावना" (परितः सर्वतो भावना–कुतूहलद्योतना परिभावना) कहलाता है ।

('परिभावना' का उदाहरण) यथा—वेणीसंहार में—द्रौपदी—युद्ध होगा या नहीं होगा, इसप्रकार संशय करती हुई दुन्दुभि के शब्द को सुनने के पश्चात्–णाधेति–(हे) नाथ ! क्या आज प्रलयकालीन बादलों के निरन्तर गर्जन के समान गम्भीर यह प्रतिक्षण युद्धकालीन दुन्दुभि बजाई जा रही है ।

टिप्पणी—१. यहाँ द्रौपदी के वचन के कौतूहलपूर्वक होने से "परिभावना" है ।

२. अन्य उदाहरण—नागानन्द में (मलयवती को देखकर) नायक—

स्वर्गस्त्री यदि तत्कृतार्थमभवच्चक्षुः सहस्रं हरे-
र्नागी चेन्न रसातलं शशभृता शून्यं मुखेऽस्याः सति ।
जातिर्नः सकलान्यजातिजयिनी विद्याधरी चेदियम्
स्यात् सिद्धान्वयजा यदि त्रिभुवने सिद्धाः प्रसिद्धास्ततः ।।

यहाँ पर भी नायक की उक्ति कुतूहलपूर्वक होने से "परिभावना" है ।

अर्थ— (१०) ("उद्भेद" का लक्षण) — बीजार्थ का ("अल्पमात्रं समुद्दिष्टम्" इस लक्षण वाले मूलभूत कारण का) पुनः उद्भव "उद्भेद" होता है ।

("उद्भेद" का उदाहरण) यथा -- वहीं (वेणीसंहार में ही) (द्रौपदी) ("हे) नाथ ! युद्धभूमि से आकर तुमको पुनरपि मुझे आश्वस्त करना चाहिये ।" भीम—(द्रौपदी के प्रति) भूय इति–शत्रुओं के तिरस्कार से उत्पन्न क्लान्ति (हर्षक्षय) के कारण लज्जा से अवनत है मुख जिसका ऐसे, समूल नष्ट नहीं किये हैं दुर्योधनादि कौरव जिसने ऐसे भीमसेन को पुनः नहीं देखोगी ।

टिप्पणी—१. यहाँ शत्रु को विजय करने रूप उत्साह रूप बीज के अर्थ के पुनः उत्पन्न होने से "उद्भेद" है ।

२. कुछ की सम्मति में 'उद्भेद" का लक्षण—"गूढ़भेदनं उद्भेदम्" इति ।। यथा – रत्नावली में—वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढ़स्य वैतालिकवचसा—"अस्तापास्त" इत्यादिना 'उदयनस्य इत्य तेन बीजानुगुण्येनेवोद्भेदनात् उद्भेदः ।।

—करणं पुनः ॥ ८६ ॥

प्रकृतार्थसमारम्भः,

यथा तत्रैव—'देवि' गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय' इति ।

—भेदः संहतभेदनम् ।

यथा तत्रैव—'अत एवाद्यप्रभृति भिन्नोऽहं भवद्भ्यः ।'

केचित्तु—'भेदः प्रोत्साहना' इति वदन्ति ।

अर्थ—(११) ("करण" का लक्षण)—प्रस्तुत विषय का सम्यक्रूपेण प्रारम्भ पुनः "करण" (माना गया) है ।

("करण" का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही)—"(हे) देवि ! इस समय हम कौरवों के कुल को नष्ट करने के लिये जाते हैं ।" इति ।

टिप्पणी—१. यहाँ प्रकृत विषय युद्ध के अन्दर उद्योग के आरम्भ करने से "करण" है ।

२. दूसरा उदाहरण—यथा—रत्नावली में—"नमस्ते कुसुमायुध ! तदमोघदर्शनो मे भविष्यसीति दृष्टं यत्प्रेक्षितव्यम् । तद्यावन्न कोऽपि मां प्रेक्षते तद्‌ग मिष्यामि" इति । इत्यनेनान्तराङ्कप्रकृतदर्शनसमारम्भात् करणम् ॥

३. अन्येतु "विपदां शमनं करणमाहुः" । यथा—वेणीसंहार में ही भीमसेन के प्रति द्रौपदी—यदसुरसमराभिमुखस्य हरेर्मङ्गलं तद् युष्माकं भवतु । इति ।

अर्थ—(१२) ("भेद" का लक्षण)—मिले हुओं का पृथक् करना "भेद" (कहलाता) है ।

("भेद" का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही)—"इसीलिये ही आज से लेकर मैं तुमसे भिन्न हूँ ।" [यहाँ भीम ने युधिष्ठिरादि समुदाय से अपने को पृथक् कर लिया है, अतः "भेद" है ।] केचित्तु—कुछ तो (अर्थात् रसगंगाधर और दशरूपककारादि) "भेदः प्रोत्साहना"—कर्त्तव्य के प्रति अत्यन्त उत्साह को उत्पन्न करना भेद (होता) है, (यह "भेद" का लक्षण) यह मानते हैं ।

टिप्पणी—(१) नये "भेद" के लक्षणानुसार उदाहरण—यथा—वेणीसंहार में ही—"नाथ ! मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनवेक्षितशरीराः परिक्रमिष्यथ । यतोऽप्रमत्तसंचरणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि ।" इति संस्कृतम् । भीमः—अयि ! सुक्षत्रिये !

अन्योन्यस्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे,
संग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥

यहाँ विषण्ण द्रौपदी के क्रोध और उत्साह रूप बीज की सहायता से ही प्रोत्साहन के कारण "भेद" है ।

(२) कहने का आशय यह है कि मुख सन्धि के इन १२ अङ्कों का जो बीज और आरम्भ के द्योतक हैं, साक्षात् या परम्परा से कवि को नाटक के अन्दर अवश्य प्रयोग करना चाहिये ।

अथ प्रतिमुखाङ्गानि—

विलासः परिसर्पश्च विधुतं तापनं तथा ॥ ८७ ॥
नर्म नर्मद्युतिश्चैव तथा प्रगमनं पुनः ।
विरोधश्च प्रतिमुखे तथा स्यात्पर्युपासनम् ॥ ८८ ॥
पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

तत्र—

समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते ॥ ८९ ॥

रतिलक्षणस्य भावस्य यो हेतुभूतो भोगो विषयः प्रमदा पुरुषो वा तदर्था समीहा विलासः ।

यथा शाकुन्तले—

'कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनायासि ।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥'

अथ प्रतिमुखसन्धिभेदनिरूपणम् :—

अवतरणिका—"प्रतिमुख सन्धि" के तेरह अङ्गों का वर्णन करते हैं ।

अर्थ—इसके बाद ("मुखसन्धि" के १२ अङ्गों का वर्णन करने के उपरान्त) प्रतिमुख सन्धि के (तेरह) अङ्गों का (वर्णन करते हैं) ।

(१) विलास, (२) परिसर्प, (३) विधूत, (४) तापन, (५) नर्म, (६) नर्मद्युति, (७) प्रगमन, (८) विरोध, (९) पर्युपासन, (१०) पुष्प, (११) वज्र, (१२) उपन्यास, और (१३) वर्णसंहार (ये १३ अङ्ग) 'प्रतिमुख सन्धि' के अन्दर होते हैं ।

टिप्पणी—प्रायः शृङ्गार रस प्रधान दृश्य काव्य में ही ये अङ्ग होते हैं । ग्रन्थकार ने उसीप्रकार से ही लक्षण और उदाहरण दिये हैं । सभी दृश्य काव्यों के अन्दर इन अंगों का होना आवश्यक है, ऐसा कोई नियम नहीं है । क्योंकि—

रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां सन्निवेशनम् ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥

ऐसा आगे चलकर स्वयमेव मूलकार ने इन अङ्गों के प्रयोग के अनियम के विषय में कहा है ।

अर्थ—(१) उनमें से (**'प्रतिमुख सन्धि'** के तेरह अङ्गों में से **'विलास'** का लक्षण)—सुरत सम्भोग विषयिणी चेष्टा या इच्छा **'विलास'** कहलाती है ।

(कारिका को स्पष्ट करते हैं) अनुराग-स्वरूप भाव का जो कारणभूत विषय (भोग) स्त्री या पुरुष हैं उनमें से किसी एक के विषयक इच्छा **'विलास'** कहलाती है ।

(**'विलास'** का उदाहरण) **यथा—शाकुन्तल** में—**काममिति**—

प्रसङ्ग—शकुन्तला की कामना करने वाले दुष्यन्त की यह उक्ति है—

अर्थ—प्रिया (शकुन्तला) सम्यक्तया कामम्) सुलभ नहीं है, अथवा ('सा' इस पद का अध्याहार कर लेना चाहिये) वह शकुन्तला अत्यन्त (कामम्) प्रियतमा है, (तो फिर चुप रहा जाय, दुःख मनाने से क्या लाभ ? इसलिये कहते हैं कि) आसानी से

इष्टनष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यते ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—भवितव्यमत्र तया । तथा हि—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥'

प्राप्य नहीं है (अपने पिता के अधीन होने के कारण, और पिता भी दूर है) [यदि इसप्रकार दुर्लभ है, तो फिर प्रयत्न करने से क्या लाभ ? अतः कहते हैं] किन्तु मन (चित्तवृत्ति) उस (शकुन्तला) की अनुराग व्यंजक स्निग्ध कटाक्ष विक्षेपादि चेष्टा विशेष के देखने से आशावान् है (प्रिया मिल सकती है, ऐसी आशा कर रहा है) (तथा) कामदेव के अकृतकार्य होने पर भी दोनों की (स्त्री और पुरुष की अर्थात् प्रिया की और मेरी) अथवा प्रिया की चेष्टा और दर्शन की कामना अनुराग को (**'अहं तत्र गमिष्यामि, तामेवं वक्ष्ये'** इसप्रकार की अभिलाषा से उत्पन्न संतोष को) उत्पन्न कर रही है। [अर्थात् नायिका की नायक में और नायक की नायिका में यदि प्रार्थना मालूम पड़ती है तो उपभोग के न होने पर भी उन दोनों में अनुराग होता है, और यहाँ पर शकुन्तला की चेष्टा विशेषों के देखने से मेरे प्रति प्रार्थना प्रतीत होती है। अतः मन आशावान् है । यह भाव है ।]

टिप्पणी—(१) यहाँ दुष्यन्त की शकुन्तला के विषय में इच्छा होने से **'विलास'** है ।

(२) कहने का आशय यह है कि प्रतिमुख सन्धि के आदि में ही इस अङ्ग को निबद्ध कर देना चाहिये, क्योंकि जो रस मुखसन्धि में होता है उसी का विभाव-अनुभाव और व्यभिचारी भाव से पोषण होना चाहिये । काम-फल वाले रूपक में मुखसन्धि में उपक्रान्त शृङ्गार प्रतिमुखसन्धि में 'विलास' से ही विस्तार को प्राप्त होता है, और विलास को प्रकाशित करने वाले ही अन्य अङ्गों का प्रयोग करना चाहिये । इसीलिये **'वेणीसंहार'** में भानुमती के साथ दुर्योधन का जो रति सम्बन्धी अभिलाष रूप विलास दिखाया गया है, वह नायक का विलास उस अवसर पर अनुचित है ।

अर्थ—(२) (**'परिसर्प'** का लक्षण)—खोई हुई (नष्ट) अभीष्ट वस्तु का अन्वेषण करना **'परिसर्प'** (**परितः—सर्वतः सर्पणं—अन्वेषणम् = परिसर्पः**) कहलाता है ।

(**'परिसर्प'** का उदाहरण) **यथा—शाकुन्तल में**—राजा—यहाँ (लता मण्डप में) शकुन्तला को होना चाहिये । **क्योंकि—अभ्युन्नतेति**—इस (लता मण्डप) के पाण्डुवर्ण की है बालुका जिसमें ऐसे द्वार पर सामने से (पैर के अग्रभाग के स्थान पर, पिछले भाग की अपेक्षा) कुछ ऊंची, पीछे से (एड़ी के स्थान पर) नितम्ब स्थल के भारी होने के कारण (अगले भाग की अंगुलियों की अपेक्षा) कुछ नीची, नवीन पैरों की पंक्ति दिखाई दे रही है । [और दूसरी अनसूया और प्रियम्वदा स्त्रियों के जघनस्थल के भारी न होने से यह पैरों के चिह्न शकुन्तला के ही हैं, अतः वह इस लता कुंज में अवश्य होगी ।]

टिप्पणी—(१) यहाँ दुष्यन्त के द्वारा दिखाई न देती हुई अभीष्ट शकुन्तला के अन्वेषण करने से **'परिसर्प'** है ।

कृतस्यानुनयस्यादौ विधुतं त्वपरिग्रह ॥ ९० ॥

यथा तत्रैव—'अलं वो अन्तेउरविरहपज्जुस्सुएण राएसिणा उवरुद्धेण।'

[अलं वः अन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन]

केचित्तु—'विधुतं स्यादरतिः' इति वदन्ति।

उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत्।

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गुरुई परवसो अप्पा।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवरि एक्कम् ॥'

[दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि, विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम् ॥]

---

(२) **दशरूपक** के अनुसार **'परिसर्प'** का लक्षण—**'दृष्टनष्टानुसर्पणं परिसर्प' इति'।**

अर्थ—(३) ("**विधृत** का लक्षण)—पहले किये हुये अनुनय का स्वीकार न करना **विधृत** (**धृतम् आत्मनिर्धारितात्द्विपरीतम् इति विधृतम्**) (कहलाता) है।

("**विधृत**" का उदाहरण) **यथा**—वहीं (**शाकुन्तल** में ही)—**अलमिति**—

अन्तःपुर की स्त्रियों के विरह से उत्कण्ठित दुष्यन्त से तुम्हारा मेरे लिये अनुनय विनय करना व्यर्थ है। [अर्थात् अन्तःपुर की स्त्रियों के विषय में उत्कण्ठित हृदय वाले दुष्यन्त से मुझ तपस्विनी के लिये तुम्हारा अनुनय करना निष्फल ही होगा, अतः अनुनय विनय नहीं करनी चाहिये।] [यहां शकुन्तला के पहले चित्त में किये हुये अनुनय का अब सखियों के द्वारा करवाना स्वीकार न करने से "**विधृत**" है।] **केचित्तु**—कोई तो (दशरूपककारादि) "**विधृतं स्यादरतिः**" अरुचि "**विधृत**" होती है, ऐसा (लक्षण) करते हैं।

अर्थ—(४) ("**तापन**" का लक्षण)—जो (क्लेश के निवारण के) उपाय का अनवधारण (अदर्शनम्) है, वह "**तापन**" नामक (अङ्ग) होता है।

टिप्पणी—**दशरूपककार** ने तापन के स्थान पर "**शमः**" इसका प्रयोग किया है।

अर्थ—("**तापन**" का उदाहरण)—**यथा—रत्नावली** में—**सागरिका—दुल्लहेति**—(हे) प्रिय सखि! (मुझ सदृश अधम व्यक्ति के द्वारा) दुष्प्राप्य व्यक्ति के विषय में (मेरी) प्रीति है (उसके अनायास प्राप्त न होने से कामपीड़ा के दूर होने की सम्भावना नहीं है—यह भाव है) अत्यधिक लज्जा है (अच्छे कुल में उत्पन्न होने के कारण, अतः स्वयं प्राप्त करके भी कामपीड़ा को शान्त करने में समर्थ नहीं हूँ।) आत्मा पराधीन है (अतः लज्जा को छोड़कर भी उसके सामने आत्म-समर्पण ठीक नहीं है) (वत्सराज के प्रति मेरा) उत्कट प्रेम है (अतः छोड़ भी नहीं सकती हूँ) (अतः) मेरे लिये केवल एक मृत्यु ही आश्रय है। (क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है।)

टिप्पणी—यहाँ सागरिका की कामपीड़ा को दूर करने का उपाय न होने से "**तापन**" है।

परिहासवचो नर्म,—

यथा रत्नावल्याम्—

'सुसंगता—सहि; जस्स किदे तुमं आअदा सो अअं दे पुरदो चिट्ठदि।
[सखि, यस्य कृते त्वमागता सोऽयं ते पुरस्तिष्ठति]

सागरिका—(साभ्यसूयम्) कस्स किदे अहं आअदा ? [कस्य कृते अहमागता ?]

सुसंगता—अलं अण्णसंकिदेण। णं चित्तफलअस्स।' [अलम् अन्यशङ्किते-न ननु चित्रफलकस्य]

धृतिस्तु परिहासजा ॥ ९१ ॥

नर्मद्युतिः—

यथा तत्रैव—

सुसंगता—सहि, अदक्खिणा दाणिं सि तुमं जा एव्वं भट्टिणा हत्थाव-लम्बिदावि कोवं ण मुञ्चसि । [सखि ! अदक्षिणेदानीमसि त्वं, यद् एवं भर्त्रा हस्तावलम्बितापि कोपं न मुञ्चसि]

सागरिका—(सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य) सुसंगदे, दाणिं वि कीलिदुं ण विरमसि ।' [सुसङ्गते, इदानीमपि क्रीडितुं न विरमसि]

केचित्तु—'दोषस्याच्छादनं हास्य नर्मद्युतिः' इति वदन्ति ।

अर्थ—(५) ("नर्म" का लक्षण)- परिहास वाक्य को "नर्म" (कहते हैं) ।

('नर्म का उदाहरण) **यथा**—रत्नावली में—**सुसंगता**–(हे) सखि ! जिसके लिये तू यहाँ आई है, वह यह तेरे सामने है । **सागरिका**—(असूया के साथ) मैं किसके लिये यहाँ आई हूँ ? **सुसंगता**—(हंसकर) अयि ! दूसरे की शंका करने वाली ! चित्रफलक लिये ।

टिप्पणी—यहाँ सखी के वाक्य में परिहास के द्योतन होने से 'नर्म' है ।

अर्थ—(६) ("**नर्मद्युति**" का लक्षण)-परिहास से उत्पन्न शोभा "नर्मद्युति" (कहाती) है ।

('**नर्मद्युति**' का उदाहरण) **यथा**—वहीं (रत्नावली में ही)—

सुसंगता—(हे) सखि ? इस समय तुम बहुत ही कठोर हो, जो इसप्रकार पति के द्वारा हाथ से पकड़ी जाती हुई भी क्रोध को नहीं छोड़ती हो ।

सागरिका—(भृकुटि कटाक्ष के साथ ईषत् हंसकर) सुसंगते ! क्या अब भी परिहास करने से नहीं रुकती हो ? [यहाँ सुसंगता के द्वारा उपहास किये जाने पर भी शोभा के अन्दर वृद्धि होने से "नर्मद्युति" है ।]

केचित्तु–कुछ तो (भरत आदि) "दोष को छिपाने वाले हास्य को "**नर्मद्युति**" कहते हैं ।

टिप्पणी—अन्य उदाहरण—यथा—रत्नावली में—

प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम्।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

'**उर्वशी**—जअदु जअदु महाराओ। [जयतु जयतु महाराजः]

राजा—

मया नाम जितं यस्य त्वया जय उदीर्यते।' इत्यादि।

विरोधो व्यसनप्राप्तिः

यथा चण्डकौशिके—

'**राजा**—नूनमसमीक्ष्यकारिणा मया अन्धेनेव स्फुरच्छिखाकलापो ज्वलनः पद्भ्यां समाक्रान्तः।'

विदूषकः—"भो अद्यायेष्वा चतुर्वेदीयब्राह्मण ऋचः पठितुं प्रवृत्ता (इति संस्कृतम्)।

राजा—वयस्य ! किमप्यन्यचेतसा मया नावधीरितम्, तत्किमनयोक्तम् ?

विदूषकः—भो एतद्देव्या पठितम्—

दुर्लभजनानुरागः लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।

प्रिय सखि ! विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम्॥ इति संस्कृतम्।

राजा—भो महाब्राह्मण ! कोऽन्य एवं ऋचामभिज्ञः" इति। यहाँ मूर्खता के दोष को छिपाने के लिये जो विदूषक ने कहा है, वह राजा के हास्य का कारण होने से "**नर्मद्युति**" है।

अर्थ—(७) ("**प्रगमन**" का लक्षण)—श्रेष्ठतर उत्तर वाला वाक्य "**प्रगमन**" (प्रकृष्टेन-उत्कृष्टरूपेण गमनं-ज्ञानं यस्य तत् प्रगमनम्) नामक (अङ्ग होता) है।

("**प्रगमन**" का उदाहरण) **यथा**—विक्रमोर्वशी में—**उर्वशीय**—महाराज की जय हो। **राजा**—ज़िसकी (मेरी) तुम्हारे द्वारा जय का गान किया जाता है, (उसे) मैंने जीत ही लिया है। इत्यादि।

टिप्पणी—यहाँ "**मया नाम**" इत्यादि उत्कृष्टतर उत्तर वाला वाक्य होने से "**प्रगमन**" है।

अर्थ—(८) ("**विरोध**" का लक्षण) आपत्ति की प्राप्ति (का नाम) "**विरोध**" है।

("**विरोध**" का उदाहरण) **यथा**—**चण्डकौशिक में**—

राजा (हरिश्चन्द्र)—निश्चय से विना विचारे काम करने वाले मैंने अन्धे की तरह प्रज्वलित ज्वालाओं की समूह वाली अग्नि को पैरों से आक्रान्त कर दिया है।

टिप्पणी—(१) यहाँ विश्वामित्र से हरिश्चन्द्र को विपत्ति मिलने के कारण "**विरोध**" है।

(२) दशरूपककार ने "**विरोध**" को ही "**निरोध**" कहा है। तथाहि—

"**अथ निरोधः। हितरोधः**" इति

यथा—**रत्नावली में**—

"**राजा**—**धिङ् मूर्ख ?**

क्रुद्धस्यानुनयः पुनः ॥ ९२ ॥

स्यात्पर्युपासनं

यथा रत्नावल्याम्--

विदूषकः--"भो, मा कुप्य। एसा हि कदलीघरन्तरं गदा' [भोः, मा कुप्य एषा हि कदलीगृहान्तरं गता] इत्यादि।

पुष्पं विशेषवचनं मतम्।

यथा तत्रैव—'(राजा हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति)'।

विदूषकः—भो वअस्स, एसा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा। [भोः वयस्य ! एषा अपूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता]

प्राप्ता कथमपि दैवात् कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा।
रत्नावली कान्ता मम हस्तात् भ्रंशिता भवता॥

यहाँ वत्सराज का सागरिका के साथ समागम रूप हित का वासवदत्ता आने की सूचना देने वाले विदूषक के वचन से निरोध होने के कारण "निरोधन"

अर्थ—९. ('पर्युपासन' का लक्षण) किये हुए अपराध की (शान्ति के लिय, अनुनय करना "पर्युपासन' कहलाता है।

टिप्पणी—भरतमुनि ने इसका लक्षण इसप्रकार किया है—

क्रूद्धस्यानुनयो यस्तु भवेत्तत्पर्युपासनम् ॥ इति ॥

अर्थ—(पर्युपासन का उदाहरण) यथा—रत्नावली में—

विदूषक—'हे ! क्रोध मत कीजिये, वह कदली निकुञ्ज के अन्दर प्रविष्ट हो गई है, इत्यादि।

टिप्पणी—(१) किये हुए अविचारित कर्म की शान्ति के लिये पौनःपुन्येन अनुनय करने से "पर्युपासन" है।

(२) अथवा वहीं पर राजा—

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते,
करिष्यामेवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मुधा,
किमेतस्मिन्वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे॥

यहाँ चित्रगत नायक-नायिका को देखने से कुपित वासवदत्ता से पौनःपुन्येन अनुनय करने से "पर्युपासन" है।

अर्थ—(१०) ('पुष्प' का लक्षण) अनुराग को उत्पन्न करने वाले वाक्य को 'पुष्प' (पुष्पवच्चित्ताकर्षणात्) माना गया है।

(पुष्प का उदाहरण) यथा—वहीं (रत्नावली में ही)—['राजा (रत्नावली के हाथ को) हाथ में लेकर (उसके) स्पर्श सुख का अभिनय करता है।]

विदूषक—हे मित्र ! यह (नायिका) अपूर्व श्री (साक्षात् लक्ष्मी) तुमने प्राप्त कर ली।

राजा—वयस्य, सत्यम्—

श्रीरेषा, पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥'

प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रम्—

यथा तत्रैव—

'**राजा**—कथमिहस्थोऽहं त्वया ज्ञातः ?

सुसंगता—ण केव्वलं तुमं समं चित्तफलएण । ता जाव गदुअ देवीए णिवेदइस्सम् ।' [न केवलं त्वं समं चित्रफलकेन । तद्यावद्गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि]

—उपन्यासः प्रसादनम् ॥ ९३ ॥

राजा—वयस्य ! ठीक है—**श्रीरिति**—यह (नायिका) लक्ष्मीस्वरूपा है, इसका हाथ भी पारिजात (मन्दार) वृक्ष का किसलय है, अन्यथा कैसे स्वेदरूपी सुधारस (हाथ से) स्रवित हो रहा है । [कहने का आशय यह है कि पारिजात वृक्ष से अमृत का क्षरण होता है, इसप्रकार के सुनने और देखने से निश्चय होता है कि इसका हाथ भी उसी पारिजात पुष्प का किसलय है ।]

टिप्पणी—यहाँ सागरिका के सौन्दर्य आदि के उत्कर्ष का बोधन करने से "**पुष्प**" है ।

अर्थ—(११) ('**वज्र**' का लक्षण) साक्षात् कठोर वचन को '**वज्र**' (**वज्रवत् दुःखदत्वात्**) (कहते) हैं ।

(**वज्र** का उदाहरण)—**यथा**—वहीं (**रत्नावली में ही**)—

राजा—यहाँ पर विद्यमान मुझको तुमने कैसे जान लिया ?

सुसंगता—आपको ही केवल नहीं, चित्रफलक के साथ सम्पूर्ण वृत्तान्त भी मैंने जान लिया, अतः जाकर देवी (वासवदत्ता) से निवेदन करूँगी ।

टिप्पणी—(१) यहाँ राजा से "**देव्यै निवेदयिष्यामि**" ऐसा कहना साक्षात कठोर होने से "वज्र" है ।

(२) अथवा, दूसरा उदाहरण—(**वेणीसंहार में**)—

अश्वत्थामा—(कर्णमुद्दिश्य) रे रे राधागर्भभारभूत ? सूतापसद !

कथमपि न निषिद्धो दुःखिना भीरुणा वा
द्रुपदतनयपाणिस्तेन पित्रा ममाद्य ।
तव भुजबलदर्पाध्मायमानस्य वामः
शिरसि चरण एष न्यस्यते वारयैनम् ॥इति॥

यहाँ "रे रे" इत्यादि वाक्य के साक्षात् कठोर होने से "**वज्र**" है ।

अर्थ—(१२) ('**उपन्यास**' का लक्षण)—प्रसन्न करना '**उपन्यास**' (**उपन्यास-मनुपस्थापनम्**) (कहलाता) है ।

यथा तत्रैव—

'सुसंगता—भट्टुण, अलं सङ्काए। मए वि भट्टिणीए पसादेण कीलिदं ज्जेव एदिहिं। ता किं कण्णाभरणेण। अदो वि मे गरुअरो पसादो एसो, जं तए अहं एत्थ आलिहिदत्ति कुविदा मे पिअसही साअरिआ। एसा ज्जेव पसादीअदु।' [भर्तः, अलं शङ्कया। मयापि भर्त्र्याः प्रसादेन क्रीडितमेव एतैः। तत्किं कर्णाभरणेन। अतोऽपि मे गुरुतरः प्रसाद एषः, यत्त्वया अहमालिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका। एषैव प्रसाद्यताम्]

केचित्तु—'उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः स कीर्तितः।' इति वदन्ति। उदाहरन्ति च, तत्रैव—'अदिमुहरा क्खु सा गब्भदासी' इति। [अतिमुखरा खलु सा गर्भदासी]

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते।

यथा महावीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

'परिषदियमृषीणामेष वीरो युधाजित् सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः प्रभुरपि जनकानामङ्ग भो याचकास्ते॥'

अर्थ—('उपन्यास' का उदाहरण) **यथा**—वहीं (रत्नावली में ही) **'सुसंगता'**—(हे) महाराज! शंका रहने दीजिये। मैंने अपनी स्वामिनी की अनुकम्पा से इनके साथ खेल ही चुकी हूँ। अतः कर्णाभूषण से क्या लाभ? इससे भी अधिक मेरे ऊपर यह कृपा होगी कि 'तूने मेरा चित्र बना दिया है' इसलिये मेरी प्रिय सखी सागरिका मुझसे क्रोधित हो गई है, इसी को ही प्रसन्न कर दीजिये।

टिप्पणी—यहाँ राजा की अपने के प्रति प्रसन्नता उत्पन्न करने से "उपन्यास" है।

अर्थ—(भरतादिकों के मत का निरूपण करते हैं) **केचित्तु**—कुछ तो (नाट्य-शास्त्र का अनुसरण करने वाले) 'उपपत्तिकृतो योऽर्थ उपन्यासः स कीर्तितः' जो अर्थ (पदार्थ) युक्ति से किया गया है, वह उपन्यास कहलाता है, यह (लक्षण) कहते हैं। और वहीं (यह) उदाहरण देते हैं (कि, **अदीति**—यह दासी के गर्भ से उत्पन्न होने वाली गर्भदासी अन्तःपुर दासी) यह (सुसंगता) अत्यन्त वाचाल है।

टिप्पणी—यहाँ क्योंकि यह गर्भदासी अत्यन्त अधम है, अतएव अत्यन्त वाचाल है, इस युक्ति से अत्यन्त वाचालता के कथन करने से "उपन्यास" है।

अर्थ—(१३) (वर्णसहार का लक्षण) चारों वर्णों के (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों के) समागम को 'वर्णसंहार' (वर्णानां संहारो-मेलनं यत्र स वर्णसंहारः) कहते हैं।

(वर्णसंहार का उदाहरण) **यथा**—वीरचरित के तीसरे अङ्क में—**परिषदिति**—(हे) जामदग्न्य! यह ऋषियों (ऋषन्ति—वेदं पश्यन्ति इति ऋषयः) सभा है, ये वीर युधाजित् (कैकेयी का भाई और भरत का मामा) है, अपने मन्त्रिमण्डल के साथ राजा (दशरथ) हैं, और वृद्ध लोमपाद हैं, (अङ्ग देश के अधिपति) यह निरन्तर यज्ञ करने वाले सनातन जनकवंशियों के प्रभु (सीरध्वज) भी हैं—ये सब (मिलकर) तुमसे याचना करते हैं।

टिप्पणी—यहाँ 'अमात्यैः' इस बहुवचन के प्रयोग से यथासम्भव उनके साथ

इत्यत्र ऋषिक्षत्रादीनां वर्णानां मेलनम् ।

अभिनवगुप्तपादास्तु—'वर्णशब्देन पात्राण्युपलक्ष्यन्ते । संहारो मेलनम्' इति व्याचक्षते ।

उदाहरन्ति च रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के—'एसो एव्व मे गुरुअरो पसादो—' [एष एव मे गुरुतरः प्रसादः] इत्यादेरारभ्य 'णं हत्थे गेणिहिअ पसादेहि णम् । [ननु हस्ते गृहीत्वा प्रसादय एनाम्]

राजा—क्वासौ क्वाऽसौ' इत्यादि ।

अथ गर्भाङ्गानि—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ।। ९४ ।।
संग्रहश्चानुमानं च प्रार्थना क्षिप्तिरेव च ।
त्रो टकाधिबलोद्वेगा गर्भे स्युर्विद्रवस्तथा ।। ९५ ।।

होने से वैश्य और शूद्रों का भी ग्रहण हो जाता है । यहाँ चारों वर्णों के मेल से "वर्णसंहार" है ।

अर्थ—यहाँ ऋषि और क्षत्रियादि वर्णों का समागम है (अतः 'वर्णसंहार' है)।

अभिनवगुप्तपादाचार्य तो (इन्होंने भरतसूत्र पर भावप्रकाशिका नामक व्याख्या की है।) ('वर्णसंहार' पद में) 'वर्ण' शब्द से (नाटकीय) पात्र लक्षित होते हैं, (और) 'संहारः' = मिलन, इसप्रकार व्याख्या करते हैं । [उनके मत का आशय यह है कि 'पात्रों के मेल को वर्णसंहार' कहते हैं ।] और उदाहरण देते हैं—यथा—रत्नावली के द्वितीय अङ्क में—**एसो एव्व इति**—यही मेरे ऊपर महती अनुकम्पा है, यहाँ से लेकर "इसको अपने हाथ में पकड़कर प्रसन्न कीजिये । **राजा**—वह कहाँ है ? कहाँ है ? इत्यादि, (यहाँ तक) ।

टिप्पणी—(१) यहाँ राजा-विदूषक, सागरिका और सुसंगतादि पात्रों के समायोग से "वर्णसंहार" है ।

(२) **नाट्यदर्पणकार** ने भी—"**वर्णानां नायकप्रतिनायकनायिकासहायादिपात्राणां संहार एकत्रकरणम्**" ऐसा कहा है और उक्त रीति के अनुसार उदाहरण भी दिया है ।

(३) **एके**—कुछ "**वर्णितार्थतिरस्कारं वर्णसंहारम्**" यह लक्षण करते हैं और इसका उदाहरण देते हैं—**यथा** वेणीसंहार में—कञ्चुकी के द्वारा रथ की ध्वजा के गिरने की सूचना देने पर भानुमती—"**अन्तरीयतां तावदेतत् समर्थः ब्राह्मणानां वेदध्वनिमंगलोद्घोषेण**" इति ।

अथ गर्भसन्धिभेदनिरूपणम् :—

अवतरणिका—"गर्भ सन्धि" के तेरह अंगों का वर्णन करते हैं ।

अर्थ—इसके बाद (**प्रतिमुख सन्धि** के १३ अङ्गों का वर्णन करने के उपरान्त) **गर्भसन्धि** के (तेरह) अङ्गों (का वर्णन करते हैं) ।

(१) **अभूताहरण**, (२) **मार्ग**, (३) **रूप**, (४) **उदाहरण**, (५) **क्रम**, (६) **संग्रह**, (७) **अनुमान**, (८) **प्रार्थना**, (९) **क्षिप्ति**, (१०) **त्रोटक**, (११) **अधिबल**, (१२) **उद्वेग** और (१३) **विद्रव**—ये (तेरह) गर्भ सन्धि के अङ्ग होते हैं ।

तत्र व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणं मतम् ।

यथा अश्वत्थामाङ्के—

'अश्वत्थामा हत इति पृथासूनुना स्पष्टमुक्त्वा
स्वैरं शेषे गज इति पुनर्व्याहृतं सत्यवाचा ।
तच्छ्रुत्वाऽसौ दयिततनयः प्रत्ययात्तस्य राज्ञः
शस्त्राण्याजौ नयनसलिलं चापि तुल्यं मुमोच ॥'

तत्त्वार्थकथनं मार्गः—

यथा चण्डकौशिके—

'राजा—भगवन् !

गृह्यतामर्जितमिदं भार्यातनयविक्रयात् ।
शेषस्यार्थे करिष्यामि चण्डालेऽप्यात्मविक्रयम् ॥'

अर्थ—(१) उनमें से (अभूताहरणादि १३ अङ्गों में से) ("**अभूताहरण**" का लक्षण) छल से सम्बन्ध वाक्य को **अभूताहरण** (**अभूतस्य—असत्यस्य आहरणम् आविष्करणं यत्र तत् अभूताहरणम्**) कहते हैं ।

("**अभूताहरण**" का उदाहरण) **यथा—वेणीसंहार** में **अश्वत्थामा प्रधान** (तृतीय) अङ्क में—**अश्वत्थामेति**—

[द्रोणाचार्य के शस्त्र त्याग का कारण बताते हैं ।] सर्वदा सत्य बोलने वाले कुन्तीपुत्र (युधिष्ठिर) से "**अश्वत्थामा मारा गया**" यह स्पष्ट (दूसरों से सुनने योग्य,) कहकर वाक्य की समाप्ति में धीमे से (दूसरों से न सुने जा सकने योग्य) "हाथी" यह (शब्द) कह दिया । उसको ("**अश्वत्थामा मारा गया**" इस वाक्य को) सुनकर उस (सत्यवादी) राजा (युधिष्ठिर) के विश्वास से प्रिय है पुत्र जिसको ऐसे (द्रोणाचार्य जी) ने संग्राम में शस्त्र और अश्रुबिन्दु एक साथ ही छोड़ दिये ।

टिप्पणी—(१) यहाँ युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य को सुनाने के लिये "**अश्वत्थामा हतः**" यह उच्च स्वर से और "**गजः**" यह वाक्य की समाप्ति पर निम्न स्वर से कहा । अतः स्पष्ट ही यह कपट से युक्त वचन होने के कारण "अभूताहरण" है ।

(२) **दूसरा उदाहरण—यथा** (रत्नावली में)—

"**साधु रे अमात्य वसन्तक साधु । अतिशयितस्त्वयामात्यो यौगन्धरायणोऽनया सन्धिविग्रहचिन्तया**" **इति संस्कृतम्** ।

यहाँ प्रवेशक के द्वारा वासवदत्ता के वेश को धारण करने वाली सागरिका का वत्सराज के पास अभिसरण करना कपट है । इस कपट को विदूषक, सुसंगता तथा काञ्चनमाला के द्वारा प्रकट करने से "**अभूताहरण**" है ।

अर्थ—(२) ("मार्ग" का लक्षण)—यथार्थ बात का कहना "**मार्ग**" (**मृग्यते-यथार्थतया धार्मिकैरन्विष्यते इति मार्गः**) (कहलाता) है ।

("**मार्ग**" का उदाहरण)—**यथा—चण्डकौशिक में**—

राजा—(हरिश्चन्द्र) भगवन्—**गृह्यतामिति**—

(प्रसङ्ग—विश्वामित्र के प्रति राजा हरिश्चन्द्र की उक्ति है) पत्नी **और पुत्र के बेचने से प्राप्त यह (धन) स्वीकार कीजिये । (और) अवशिष्ट (देय धन) को देने के लिये** चाण्डाल के हाथ में भी अपने आप को बेच दूंगा ।

टिप्पणी—यहाँ राजा हरिश्चन्द्र के यथार्थ कर्तव्य को **प्रतिपादन करने से मार्ग है ।**

—रूपं वाक्यं वितर्कवत् ॥ ९६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'राजा—

मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लक्ष्यं च तथापि मे ।
कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः ॥'

उदाहरणमुत्कर्षयुक्तं वचनमुच्यते ।

यथा अश्वत्थामाङ्के—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी, चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥'

अर्थ—(३) ("रूप" का लक्षण) विशेष तर्क युक्त वाक्य को "रूप" कहते हैं।

("रूप" का उदाहरण) **यथा**—(रत्नावली' में)—**राजा—मन इति**—[**सागरिका** से वियुक्त राजा की यह वितर्कमयी उक्ति है ।] मन स्वभाव से ही चञ्चल और दुर्लक्ष्य है (बाण का निशाना नहीं बनाया जा सकता) तथापि कामदेव ने मेरे इस (मन) को युगपत् सभी बाणों से कैसे विद्ध कर दिया ?

टिप्पणी—(१) यहाँ राजा का वितर्कयुक्त वचन होने से "रूप" है ।

(२) **दूसरा उदाहरण**—यथा—रत्नावली में—

"**राजा—अहो ! किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनोऽभिनवं जनं प्रति पक्षपातः**—से लेकर

किं न खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्याः ॥" तक । यहाँ रत्नावली के साथ **समागम** की आशा के साथ ही देवी की शङ्का के कारण वितर्क होने से "**रूप**" है ।

अर्थ—(४) (उदाहरण' का लक्षण) अपना या दूसरे का उत्कर्षयुक्त वाक्य '**उदाहरण**' कहलाता है ।

("**उदाहरण**" का उदाहरण) **यथा—अश्वत्थामा प्रधान अङ्क में—यो य** इति—

[**प्रसङ्ग**—अन्यायपूर्वक पाञ्चालपुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा पिता द्रोण के मारे जाने पर कुपित **अश्वत्थामा** की यह उक्ति है ।] पाण्डवों की सेनाओं में जो जो अपनी भुजाओं के प्रति दर्प से शस्त्र को धारण करता है, द्रुपद वंश में जो जो शिशु, युवक, वृद्ध अथवा गर्भ स्थित है, जो जो उस कर्म का (मेरा पिता के वधरूप कर्म का) देखने वाला है (सामने वध होता हुआ देखकर भी प्रयत्न न करने से उदासीन की तरह रहा है) (**तथा**) जो जो मेरे रणस्थल में विचरण करने पर प्रतिकूल होगा, मैं (द्रोणपुत्र अश्वत्थामा पिता के वध से उत्पन्न) क्रोध से अन्धा (कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक से शून्य) **स्वयं** (साक्षात्) किसी दूसरे की सहायता से नहीं) संसार को नष्ट करने वाले यमराज **के भी** (होते हुये) इस (रण) में (अन्यत्र नहीं) उस उसको नष्ट करने वाला हूँ **अर्थात् रणस्थल में** पूर्वोक्त **सभी** को नष्ट कर दूँगा ।

भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—

स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि ।

तथाहि—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।
पुलकाञ्चितेन कथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥

टिप्पणी-(१) यहाँ अपनी वीरता के उत्कर्ष की सूचना के कारण "उदाहरण" है।

(२) दूसरा उदाहरण—यथा—(रत्नावली में)—

"विदूषकः—(सहर्षम्) ही ही भोः । कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोष आसीत्, यादृशो मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि"। (इति संस्कृतम्)

यहाँ पर रत्नावली की प्राप्ति की बात कौशाम्बी के राज्य की प्राप्ति से बढ़कर है, अतः उत्कर्ष की सूचना देने के कारण "उदाहरण" है।

अर्थ—(५) ('क्रम' का लक्षण) (निर्विकारातमक चित्त के) भाव का ("निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया" "इस लक्षण के अनुसार) यथार्थ अनुभव क्रम (क्रमणं—बुध्या विषयीकरणम्) होता है।

("क्रम का उदाहरण) यथा—शाकुन्तल में—"राजा—बड़े ठीक स्थान पर प्रिया को (शकुन्तला को) निर्निमेष नेत्रों से देख रहा हूँ (अर्थात् निर्निमेष दृष्टि से प्रिया को जो देख रहा हूँ वह ठीक ही है—यह भाव है) क्योंकि—उन्नमितैकभ्रूलतमिति—(श्लोक के घटक सुप्तिङन्त रूप) पदों की रचना करती हुई इसका (शकुन्तला का) किंचित् उठी हुई है एक भृकुटि जिसमें ऐसा मुख (अनति-जीवति अनेनेत्यन्वयं आननम्) रोमाञ्चित कपोल के द्वारा मेरे विषय में अनुराग को स्पष्ट सूचित कर रहा है।

टिप्पणी—(१) रति की ही छठी अवस्था अनुराग कहाती है। सुधाकर में कहा है कि—

अंकुरपल्लवकलिकाप्रसूनपरिभोगभागियं क्रमशः ।
प्रेमा मानः प्रणयः स्नेहो रागोऽनुराग इत्युक्तः ॥ इति ॥

वहीं अनुराग का लक्षण भी दिया है—यथा—

राग एव स्वसंवेद्यदशाप्राप्त्या प्रकाशितः ।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेदनुराग इतीरितः ॥ इति ॥

(२) यहाँ प्रकृत पद्य के अन्दर पदरचनारूप चेष्टा के अनुरागरूपेण यथार्थ अनुभव होने से "क्रम" है।

(३) अन्ये तु—कुछ तो—'क्रमः संचिन्त्यमानाप्तिः" यह लक्षण करते हैं। यथा—रत्नावली में सागरिका के साथ समागम की कामना करने वाले वत्सराज का विदूषक के द्वारा उपवन में योजन कराना।

(४) मन्दारमरन्द में "क्रम" का दो प्रकार से लक्षण किया है—

भावज्ञानं क्रमो यद्वा चिन्त्यमानार्थ संग्रहः ॥ इति ॥

—संग्रहः पुनः ॥ ६७ ॥

सामदानार्थसंपन्नः—

यथा रत्नावल्याम्—

'राजा—साधु वयस्य, इदं ते पारितोषिकम्।' (इति कटकं ददाति)

—लिङ्गादूहोऽनुमानता।

यथा जानकीराघवे नाटके—

'रामः—

लीलागतैरपि तरङ्गयतो धरित्रीमालोकनैर्नमयतो जगतां शिरांसि।
तस्यानुभापयति काञ्चनकान्तिगौरकायस्य सूर्यतनयत्वमधृष्यतां च॥'

अर्थ—(६) ('संग्रह' का लक्षण) साम से (प्रिय वाक्य से) और दान से धन की सम्पत्ति 'संग्रह' (कहलाती) है।

('संग्रह' का उदाहरण) यथा—(रत्नावली में) 'राजा—वयस्य ? साधु—यह तुम्हारा पारितोषिक है (उसे कटक=कंकण देता है)।

टिप्पणी—यहाँ प्रिय वचन कहने पर राजा के कटक का दान देने से और सागरिका के साथ मिलाप कराने वाले विदूषक के द्वारा उसके ले लेने से "संग्रह" है।

अर्थ—(७) ('अनुमान' का लक्षण) लिङ्ग से अर्थात् पक्षसत्व—सपक्षसत्व और विपक्ष-व्यावृत्तत्व से विशिष्ट साधन ज्ञान से साध्य का ज्ञान (व्यापकता का अनुभव) 'अनुमान' (होता) है।

('अनुमान' का उदाहरण) यथा—जानकीराघव नामक नाटक में—'राम—लीलागतैरिति—विलासयुक्त गति से भी पृथ्वी को कम्पित करते हुये, (अपनी) दृष्टियों से संसार के शिरों को (अपने पास में) झुकाते हुये, (तथा) सुवर्ण की कान्ति की तरह गौरवर्ण है शरीर जिसका ऐसे उसका (लक्ष्मण का) (सूर्य के समान तेजस्वी होने के कारण) सूर्यवंशीय पुत्र होने का और अधर्षणीय होने का अनुमान कराता है।

टिप्पणी—(१) यहाँ लीलागमन और अवलोकन से प्रयुक्त पृथिवी के कम्पन और संसार के शिरोनमनरूप साधनों से सूर्य के पुत्र होने और किसी से धर्षित न होने रूप दो साध्यों का ज्ञान होने से "अनुमान" है।

(२) दूसरा उदाहरण—यथा—(रत्नावली में)—

"राजा—धिङ् मूर्ख ! त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकमनर्थः। कुतः ?

"समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानात्प्रतिदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति॥

विदूषकः—भो वअस्स। वासवदत्ता किं करिस्सदित्ति ण जाणामि। सागरिआ उण दुक्करं जीविस्सदित्ति तक्केमि।"

यहाँ प्रकृष्ट प्रेम के स्खलन होने से सागरिका के प्रति अनुराग के उत्पन्न होने से वासवदत्ता के मरण का अनुमान होने से "अनुमान" है।

रतिहर्षोत्सवानां तु प्रार्थनां प्रार्थनं भवेत् ॥ ९८ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'प्रिये सागरिके'

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ, पद्मानुकारौ करौ,
रम्भास्तम्भनिभं तथोरुयुगलं, बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्गय मा-
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥'

इदं च प्रार्थनाख्यमङ्गम् । यन्मते निर्वहणे भूतावसरत्वात्प्रशस्तिनामाङ्गं नास्ति, तन्मतानुसारेणोक्तम्, अन्यथा पञ्चषष्टिसंख्यत्वप्रसङ्गात् ।

अर्थ—(८) (**'प्रार्थना'** का लक्षण) अनुराग से और हर्ष से उत्सवों की याञ्चा करना अथवा रति, हर्ष और उत्सवों की प्रार्थना करना **'प्रार्थना'** होती है ।

(**'प्रार्थना'** का उदाहरण) **यथा**—(**रत्नावली** में) प्रिये सागरिके ! **शीतांशुरिति**—तुम्हारा मुख चन्द्रमा है, नेत्र नील कमल हैं, दोनों हाथ कमल का अनुकरण करने वाले हैं अर्थात् कमल तुल्य हैं, तथा दोनों उरू केले के स्तम्भ के सदृश हैं, दोनों भुजायें मृणाल के समान हैं, इसप्रकार आनन्द देने वाले हैं सम्पूर्ण अंग जिसके ऐसी तुम शीघ्रता से अथवा हर्ष से आओ, आओ (तथा) निःशङ्क मेरा आलिङ्गन करके काम के ताप से व्याकुल मेरे अङ्गों को शान्त करो (सन्ताप शून्य करो) ।

यह **'प्रार्थना'** नामक अङ्ग उनके मतानुसार कहा है, जिनके मत में **निर्वहण सन्धि** में यहाँ (गर्भसन्धि में) प्रार्थना में प्राप्त विषय होने के कारण (**भूतावसरत्वात्**) **'प्रशस्ति'** नामक अंग नहीं है, (क्योंकि) नहीं तो (**निर्वहण सन्धि** में 'प्रशस्ति' नामक अंग को मान लेने पर) (सन्धियों के) अंगों की संख्या ६५ हो जायेगी ।

टिप्पणी—आशय यह है कि **"निर्वहण सन्धि"** के **"प्रशस्ति"** नामक अङ्ग की वैकल्पिकी स्थिति है क्योंकि **"गर्भसन्धि"** के अन्दर विद्यमान **"प्रार्थना"** नामक अङ्ग को और **"निर्वहणसन्धि"** में विद्यमान **"प्रशस्ति"** नामक अङ्ग को मिला लिया जाये तो सन्धि के अङ्गों की संख्या ६५ हो जाती है, जबकि हमको सन्धियों के अङ्गों की संख्या ६४ अभीष्ट है क्योंकि महर्षि भरत ने कहा है कि—

"चतुःषष्टिविधं ह्येतदङ्गं प्रोक्तं मनीषिभिः ।"

इसप्रकार **"प्रार्थना"** और **"प्रशस्ति"** नामक सन्धि के अङ्गों को मिलाकर सन्धि के अङ्ग ६४ न होकर ६५ हो जाते हैं । तथाहि—**गर्भ सन्धि** में **"प्रार्थना" अङ्ग** को मिलाकर=१३, **मुख सन्धि** के अङ्ग=१२, **प्रतिमुख सन्धि** के अङ्ग=१३, **विमर्श सन्धि** के अङ्ग=१३ और **निर्वहण सन्धि** के अङ्ग=१४ । इसप्रकार कुल मिलाकर सन्धि के अङ्गों की संख्या ६५ होती है । अतः जिनके मत में **निर्वहण सन्धि** में **"प्रशस्ति"** नामक अन्तिम अङ्ग नहीं है, उनके मत के अनुसार ही यहाँ **"गर्भ सन्धि"** में **"प्रार्थना"** का परिगणन कर दिया है और जो **"निर्वहण सन्धि"** के अङ्गों में **"प्रशस्ति"** की गणना करते हैं, वे **"गर्भ सन्धि"** के अन्दर **"प्रार्थना"** का परिगणन नहीं करते ।

रहस्यार्थस्य तूद्भेदः क्षिप्तिः स्यात्—

यथाश्वत्थामाङ्के—

'एकस्यैव विपाकोऽयं दारुणो भुवि वर्तते ।
केशग्रहे द्वितीयेऽस्मिन्नूनं निःशेषिताः प्रजाः ।।'

—त्रोटकं पुनः ।

संरब्धवाक्—

यथा चण्डकौशिके—

'कौशिकः—आः, पुनः कथमद्यापि न सम्भृताः स्वर्णदक्षिणाः ।'

अर्थ—(९) (क्षिप्ति का लक्षण) गुप्त अर्थ का प्रकट करना 'क्षिप्ति' होता है।

(क्षिप्ति का उदाहरण) यथा—अश्वत्थामा प्रधान अङ्क में एकस्यैवेति—एक का ही (द्रौपदी के केशग्रहण का) यह (कौरव-पाण्डवों के युद्ध में अगणित मनुष्यों का विनाश रूप) दारुण परिणाम संसार में हुआ है (क्योंकि कौरव-पाण्डवों के संग्राम के प्रति द्रौपदी के केशों का पकड़ा जाना ही कारण था) इस दूसरे केशग्रह के होने पर (धृष्टद्युम्न द्वारा मृत द्रोणाचार्य के केशों के खींचने पर तो) निश्चय ही मनुष्य सम्पूर्ण रूपेण विनष्ट हो जायेंगे। (क्योंकि यहाँ सभी को संहार करने की इच्छा वाले अश्वत्थामा की ही कारणता है।)

टिप्पणी—(१) यहा दूसरी बार मृत द्रोण के धृष्टद्युम्न द्वारा केशग्रह करने पर सर्वसंहार रूप रहस्य के अर्थ को वाणी के द्वारा प्रकट करने से "क्षिप्ति" है।

(२) दूसरा उदाहरण—यथा—वेणीसंहार में ही—सूत—

दत्वा द्रोणेन पार्थादभयमपि न संरक्षितः सिन्धुराजः
क्रूरं दुःशासनेऽस्मिन् हरिण इव कृतं भीमसेनेन कर्म ।
दुःसाध्यामप्यरीणां लघुमिव समरे पूरयित्वा प्रतिज्ञां
नाहं मन्ये सकामं कुरुकुलविमुखं दैवमेतावताऽपि ।।

यहाँ पाण्डवों की राज्यप्राप्ति रूप कार्य के रहस्य को प्रकट करने की सूचना के कारण "क्षिप्ति" है।

अर्थ—(१०) ("त्रोटक" का लक्षण) क्रोधयुक्त वाणी को "त्रोटक" (त्रोटयति तोटयति वा परचित्तस्वास्थ्यं भेदयतीति त्रोटकम्) (कहते) हैं।

टिप्पणी— दशरूपक के अन्दर तो—"संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम्" इति।

अर्थ—("त्रोटक" का उदाहरण) यथा—चण्डकौशिक में—"विश्वामित्र–(हरिश्चन्द्र के प्रति कहते हैं) आह! क्या अब भी (अवशिष्ट) स्वर्ण की दक्षिण नहीं प्राप्त की।

—अधिबलमभिसंधिच्छलेन यः ॥९९॥

यथा रत्नावल्याम्—

'काञ्चनमाला—भट्टिणि, इयं सा चित्तसालिआ। वसन्तअस्स सण्णं करोमि' [भर्त्रि ! इयं सा चित्रशालिका, वसन्तकस्य संज्ञां करोमि।] इत्यादि।

नृपादिजनिता भीतिरुद्वेगः परिकीर्तितः।

टिप्पणी—(१) यहाँ राजा हरिश्चन्द्र के प्रति पृथिवी के दान की दक्षिणा के दान के लिये विश्वामित्र के क्रोधव्यञ्जक वचन होने के कारण **"त्रोटक"** है।

(२) **अन्य उदाहरण—यथा—वेणीसंहार में—**

प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्।

यहाँ से लेकर—

धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः ॥

यहाँ तक एक दूसरे के प्रति कर्ण और अश्वत्थामा के क्रोधयुक्त वचनों से पाण्डवों के बीज की प्राप्ति की आशा से युक्त **"त्रोटक"** है।

अर्थ—(११) (**अधिबल** का लक्षण) कपट से जो अभिप्राय का परिज्ञान है (वह) "**अधिबल**" (**बलं-बुद्धिबलमधिकृत्योपपन्नं तद् अधिबलम्**) (कहलाता) है।

('**अधिबल**' का उदाहरण) **यथा**—(रत्नावली) में—'**काञ्चनमाला**—

[प्रसङ्ग—चित्रशाला में राजा के पास वासवदत्ता के वेश में सागरिका को लाने के लिये उसके साथ वसन्तक द्वारा संकेत करने पर इस बात की गुप्त अभिसन्धि को जान कर वासवदत्ता को ही लाकर वसन्तक के स्थान पर सागरिका आ गई—यह इशारा करने के लिये काञ्चनमाला की वासवदत्ता के प्रति यह उक्ति है] स्वामिनी, यही वह चित्रशाला है, अतः यहीं ठहरिये, मैं भी वासवदत्ता को बुलाती हूँ, इत्यादि।

टिप्पणी—(१) यहाँ काञ्चनमाला और वासवदत्ता का वेष धारण करने वाली सुसंगता और सागरिका के व्याज से काञ्चनमाला और वासवदत्ता के द्वारा राजा और विदूषक के आशय का परिज्ञान होने से **"अधिबल"** है।

(२) कुछ की सम्मति में **"सोपालम्भं वाक्यमधिबलम्"** यह लक्षण है। **यथा**—**"वेणीसंहार"** के पञ्चम अङ्क में धृतराष्ट्र को लक्ष्य करके भीमसेन—

"अलमिदानीं मन्युना"—

कृष्णा केशेषु कृष्टा नृपसदसि वधूः पाण्डवानां नृपैर्यैः
सर्वे ते क्रोधवह्नौ कृशशलभकुलावज्ञया येन दग्धाः।
एतस्माच्छ्रावयेऽहं न खलु भुजबलश्लाघया नापि दर्पात्
पुत्रैः पौत्रैश्च कर्मण्यतिगुरुणि कृते तात ! साक्षी भव त्वम् ॥

अर्थ—(१२) ('**उद्वेग**' का लक्षण)—(किसी के द्वारा) नृपादि में अथवा नृपादि से ('आदि पद से शत्रु प्रभृति का ग्रहण होता है) उत्पन्न भय '**उद्वेग**' कहलाता है।

यथा वेण्याम्—

'प्राप्तावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः ।
स कर्णारिः स च क्रूरो वृककर्मा वृकोदरः ॥'

शङ्काभयत्रासकृतः सम्भ्रमो विद्रवो मतः ॥ १०० ॥

'कालान्तककरालास्यं क्रोधोद्भूतं दशाननम् ।
विलोक्य वानरानीके सम्भ्रमः कोऽप्यजायत ॥'

अर्थ—('उद्वेग' का उदाहरण) **यथा—वेणीसंहार में—प्राप्ताविति**—[प्रसङ्ग—दुर्योधन के प्रति उसी के पक्ष के व्यक्ति की उक्ति है ।] वह कर्ण का शत्रु (अर्जुन) और वह निष्ठुर प्रकृति वाला व्याघ्र के समान हैं कर्म जिसके ऐसा भीम (दुःशासन के वक्षःस्थल से रुधिर-पान करने के कारण) एक ही रथ पर बैठे हुये इधर-उधर तुमको (दुर्योधन को) पूछते हुये ('दुर्योधन' कहाँ है, इसप्रकार तुम्हारे विषय में प्रश्न करते हुये) आये थे ।

टिप्पणी—(१) यहाँ दुर्योधन को भीम और अर्जुन से उत्पन्न भय के कारण "उद्वेग" है ।

(२) इसीप्रकार मृच्छकटिक के अन्दर सार्थवाह चारुदत्त को चोरी के अभिशाप से उत्पन्न राजा से भय होने से "उद्वेग" है ।

अर्थ—(१३) ('विद्रव' का लक्षण)—शङ्का (अनिष्ट की आशंका), भय और त्रास से उत्पन्न सम्भ्रम (व्याकुलता—चित्त की व्यग्रता) **'विद्रव'** (**विशेषेण द्रवणं—कम्पनं यत्र स विद्रवः**) माना गया है ।

टिप्पणी—भाव्यनिष्टद्वेषोऽत्र भयम्, अतर्कितानिष्टोत्पत्त्या कर्त्तव्यमूढता तु त्रासः ।

अर्थ—('विद्रव' का उदाहरण) **कालान्तकेति**—प्रलयकालीन यमराज के समान हैं भीषण मुख जिसके ऐसे क्रोधपूर्ण रावण को देखकर वानरों की सेना में विलक्षण व्यग्रता उत्पन्न हो गई ।

टिप्पणी—(१) यहाँ वानर सेना के अन्दर शङ्का और त्रास से उत्पन्न सम्भ्रम होने से **"विद्रव"** है ।

(२) दूसरा उदाहरण—यथा—रत्नावली में—"विदूषकः—(पश्यन्) का पुनरेषा (ससम्भ्रमम्) कथं देवी वासवदत्ता आत्मानं व्यापादयति" (इति संस्कृतम्) । राजा—(ससम्भ्रमम् उपसर्पन्) "क्वासौ क्वासौ" इति ।

यहाँ वासवदत्ता समझकर पकड़ी हुई सागरिका के मरण की शङ्का का सम्भ्रम होने से "विद्रव" है ।

अथ विमर्शसन्ध्यङ्गनिरूपणम्—

अवतरणिका—"विमर्श सन्धि" के तेरह अङ्गों का वर्णन करते हैं ।

अथ विमर्शाङ्गानि—

अपवादोऽथ संफेटो व्यवसायो द्रवो द्युतिः।
शक्तिः प्रसङ्गः खेदश्च प्रतिषेधो विरोधनम् ॥ १०१ ॥
प्ररोचना विमर्शे स्यादादानं छादनं तथा।
दोषप्रख्यापवादः स्यात्—

यथा वेण्याम्—

युधिष्ठिरः—पाञ्चालक, क्वचिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरव्यापसदस्य पदवी।

पाञ्चालकः—न केवलं पदवी, स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्धः।'

—संफेटो रोषभाषणम् ॥ १०२ ॥

यथा तत्रैव—

'राजा—अरे रे मरुत्तनय, वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितमप्यात्मकर्म श्लाघसे। शृणु रे'

अर्थ—इसके बाद ("गर्भ सन्धि" के तेरह अङ्गों का वर्णन करने के उपरान्त) विमर्श सन्धि के (तेरह) अङ्गों (का वर्णन करते हैं)—

(१) अपवाद, (२) सम्फेट, (३) व्यवसाय, (४) द्रव, (५) द्युति, (६) शक्ति, (७) प्रसङ्ग, (८) खेद, (९) प्रतिषेध, (१०) विरोधन, (११) प्ररोचना, (१२) आदान तथा (१३) छादन—ये "विमर्श सन्धि" में (तेरह अङ्ग होते) हैं।

अर्थ—(१) ("अपवाद" का लक्षण) दोष का कथन करना "अपवाद" (अपकृष्टविषयको वाद अपवादः) कहलाता है।

(अपवाद का उदाहरण) यथा—वेणीसंहार नाटक में—युधिष्ठिर—पाञ्चालक ! कहीं उस दुष्टात्मा (दुर्योधन) के चिह्न मिले ? पाञ्चालक—केवल चिह्न ही नहीं (मिले अपितु) वही दुष्ट स्वभाव वाला द्रौपदी के केशपाश के स्पर्शरूपी पाप का प्रधान कारण (दुर्योधन) मिल गया।

टिप्पणी—(१) यहाँ दुर्योधन के दोष का कथन करने से "अपवाद" है।

(२) दूसरा उदाहरण—अपने दोष के कथन करने का उदाहरण यथा—पुष्पदूषित के पञ्चम अङ्क में—

ब्राह्मणः—मार्जिता हि ब्राह्मणस्य मुखमधुरः कालपाशः। तथाहि—

हतः पुत्रो हतो भ्राता हतो मार्जितया पिता।
तथाप्येतां स्वगोत्रघ्नीं निन्दामिव पिबामि च ॥ इति ॥

अर्थ—(२) ("सम्फेट" का लक्षण) क्रोध से कहना (अर्थात क्रोध की अवस्था में कहा हुआ वचन) "सम्फेट" (कहलाता) है।

("सम्फेट" का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही)—

(प्रसङ्ग—दुर्योधन की भाम और अर्जुन के प्रति सम्बोधन करके कही हुई यह उक्ति है।)

'कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी।
तस्मिन् वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिभारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः' ॥

भीम—(सक्रोधम्) आः पाप।

दुर्योधनः—आः पाप।' इत्यादि।

व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसंभवः।

यथा तत्रैव—

भीमः—

राजा—(दुर्योधन) अरे! वायुपुत्र (इससे जारज होना सूचित किया है) (**भीम**)! वृद्ध राजा (धृतराष्ट्र) के सामने निन्दनीय भी अपने कर्मों की (बान्धवों के वधरूप कर्म की) प्रशंसा कर रहा है। अरे सुन!

कृष्टेति—सम्पूर्ण पृथिवी के अधिपति मेरी (दुर्योधन की) आज्ञा से (इससे आज्ञा पालन करना धर्म है, यह व्यञ्जित किया है) राजाओं के समक्ष द्यूत क्रीडा से जीती हुई दासी (अतएव अपमान के योग्य) तुझ (भीम के प्रति उक्ति है) पशु की और तुम्हारे भाई (अर्जुन के प्रति उक्ति है) पशु की, उस राजा (युधिष्ठिर) की, उन दोनों (नकुल और सहदेव) की पत्नी (द्रौपदी) [इससे यदि किसी का एक पति है और विपत्ति में प्रतिकार करने में असमर्थ है तो उसको उपालम्भ नहीं देना चाहिये किन्तु तुम तो द्रौपदी के ५ पति होते हुये भी इस समय प्रतिकार करने में असमर्थ हो, अतः अत्यन्त कायर हो, और द्रौपदी तो गणिका के सदृश है—यह सूचित किया है।] केशों को पकड़कर (दुःशासन के द्वारा) खींची गई। उस (केशग्रह रूप) वैर के कारण होने पर जो राजा (तुमने) मारे उन्होंने (तुम्हारा) क्या अपकार किया था (यह) बता, (अपकार करने वाला तो मैं हूँ) [इसप्रकार किसी दूसरे के अपराध से किन्हीं दूसरों को दण्ड देने से तुम पशु तुल्य हो—यह भाव है।] अपने भुजाओं के अतिशय पराक्रम रूप धन के कारण महान् गर्व वाले मुझको (दुर्योधन को) बिना जीते ही (तुम्हारा) अहङ्कार है। [इस समय तुम्हारा गर्व करना ठीक नहीं है।]।

भीम—(क्रोध के साथ) आह पाप!

दुर्योधन-आः पाप? इत्यादि। [भीम और दुर्योधन की परस्पर प्रत्युक्ति है।]।

टिप्पणी—यहाँ भीम और दुर्योधन के क्रोधपूर्ण वाक्य होने से "**सम्फेट**" है।

अर्थ—(३) ('**व्यवसाय**' का लक्षण)—प्रतिज्ञा के (कार्य निर्देश के) और हेतु के (साधन निर्देश के) सम्मिलन को '**व्यवसाय**'समझना चाहिये।

('**व्यवसाय**' का उदाहरण) **यथा**-वही (**वेणीसंहार** में ही—किन्तु अब यह उपलब्ध नहीं होता है)—**भीम**—**निहतेति**—

'निहताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा।
भङ्क्त्वा दुर्योधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसा नतः ॥'

द्रवो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादिसम्भवा ॥ १०२ ॥

यथा तत्रैव—

'युधिष्ठिरः—भगवान्, कृष्णाग्रज, सुभद्राभ्रातः,
ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता, क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदसि विमुखो मन्दभाग्ये मयि त्वम् ॥'

[प्रसङ्ग—पूर्ण प्रतिज्ञा वाले भीमसेन की धृतराष्ट्र के प्रति यह विनीत उक्ति है।] नष्ट कर दिये हैं समस्त कौरव (कुरुवंशीय) जिसने ऐसा, दुःशासन के (दुःखेन शास्यतेऽसौ दुःशासनः) रुधिरपान से मस्त, (तथा) दुर्योधन की (दुःखेन युध्यते इति दुर्योधनः) दोनों जंघाओं को चूर्ण करने वाला यह भीम (आपको) शिर से प्रणाम कर रहा है।

टिप्पणी—(१) यहाँ द्रौपदी के केशों के आकर्षणादि कारण के, उस-उस प्रतिज्ञा को पूर्ण कर देने के कारण मिलने से "व्यवसाय" है।

(२) अन्ये तु—कुछ तो—"व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः" यह लक्षण करते हैं।

अर्थ—(४) ('द्रव' का लक्षण)—शोक (पुत्रादि के वियोग का दुःख) और आवेग (भयादि से होने वाली मन की व्याकुलता) के कारण पूज्य व्यक्तियों का अतिक्रमण 'द्रव' (कहलाता) है।

("द्रव" का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही)—युधिष्ठिर—[प्रसङ्ग—दुर्योधन के प्रति अनुराग के कारण युधिष्ठिर की बलराम के प्रति यह भर्त्सना है।] (हे) भगवन्! (इस सम्बोधन से आदर का प्रदर्शन है) (हे) कृष्णाग्रज! (हे) सुभद्राभ्रातः? (ये दोनों ही सम्बोधन अपने पक्ष के प्रति अनुराग के औचित्य के प्रदर्शन के लिये हैं।]। ज्ञातिरिति–(आपने)बान्धव सम्बन्धिनी(बलराम और युधिष्ठिर–इन दोनों के चन्द्रवंशी होने से समान ज्ञातित्व है)प्रीति का ध्यान नहीं किया, क्षत्रियों का धर्म भी (युद्ध में प्रणयी के प्रति पक्षपात नहीं होना चाहिये—इसको भी) (नहीं गिना), अर्जुन के साथ अपने छोटे भाई (श्रीकृष्ण जी) की जो प्रसिद्ध मित्रता थी, उसका भी (आपने) ध्यान नहीं किया, आपका दोनों शिष्यों के प्रति (गदा युद्ध के अन्दर शिष्य भीम और दुर्योधन के प्रति) प्रेम पर्याप्त रूपेण समान हो (समान प्रेम होने पर किसी एक की सहायता करना अनुचित है।) (परन्तु) यह कौन सी नीति(पन्थाः) है कि मन्दभाग्य वाले मेरे विषय में आप (इतने) विमुख हैं?

तर्जनोद्वेजने प्रोक्ता द्युतिः—

यथा तत्रैव दुर्योधनं प्रति कुमारवृकोदरेणोक्तम्—

'जन्मेन्दोर्विमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां
मां दुःशासनकोष्णशोणितमधुक्षीबं रिपुं मन्यसे।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
त्रासान्मे नृपशो विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ॥'

टिप्पणी—(१) यहाँ शोक से आविष्ट चित्त वाले युधिष्ठिर ने अपने गुरु बलराम के आदर का उल्लंघन किया है, अतः "द्रव" है।

(२) **दूसरा उदाहरण—यथा**—उत्तररामचरित में—

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते,
सुन्दस्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने,
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥

यहाँ लव ने पूज्य राम का तिरस्कार किया है, अतः "द्रव" है।

(३) **रत्नावली** के अन्दर भी पास में विद्यमान अपने पति का तिरस्कार करके वासवदत्ता के द्वारा विदूषक और सागरिका का बन्धन "द्रव" है।

(४) **दशरूपककार** "द्रव" से पृथक् "विद्रव" को भी स्वीकार करते हैं। तथाहि—"**विद्रवो वधबन्धादि**" यह लक्षण है।

अर्थ—(५) ("**द्युति**" का लक्षण)—तर्जन (भर्त्सना करना) और उद्वेजन (भय उत्पन्न करना) को "**द्युति**" कहते हैं।

('**द्युति**' का उदाहरण) **यथा**—वहीं (वेणीसंहार में ही) दुर्योधन के प्रति कुमार भीमसेन ने कहा है कि **जन्मेति**—चन्द्रमा के निर्मल (निर्दोष) वंश में (अपना) जन्म बताता है, [मैं चन्द्रवंशीय हूँ, ऐसा कहता है और युद्ध के डर से छिप रहा है, यह ठीक नहीं है।] अब भी गदा को धारण कर रहा है [अर्थात् जिसके पास गदा है उसको किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है, अथवा भाइयों का वध हो जाने पर गदा का त्याग कर देना ही उचित था और वह तुमने नहीं किया है। अतः अब भी तुम्हारे हृदय में युद्ध के प्रति श्रद्धा है—यह प्रतीत होता है।] दुःशासन के किञ्चिद् उष्ण रुधिर रूपी सुरा के पान से मस्त मुझको (अपना) शत्रु मान रहा है अथवा मस्त होने के कारण अवज्ञा कर रहा है, (तथा) दर्प से अन्धा होकर मधु नामक और कैटभ नामक दैत्य का संहार करने वाले श्रीकृष्ण जी के विषय में भी अनुचित व्यवहार कर रहा है (अर्थात् जो इसप्रकार के बलवान् श्रीकृष्ण जी को भी बाँधने के लिये तैयार हो गया, वह युद्ध से कैसे विमुख हो सकता है। (हे) नराधम! (मनुष्यों में पशु तुल्य) मेरे डर से युद्ध को छोड़कर इस समय (द्वैपायन नामक तालाब के) कीचड़ में छिपा है। [कहने का आशय यह है कि प्रथम आचरणों के प्रतिकूल आचरण होने से यह काम अत्यन्त ही घृणित है।]

—शक्तिः पुनर्भवेत् ।

विरोधस्य प्रशमनम्—

यथा तत्रैव—

'कुर्वन्त्वाप्ता हतानां रणशिरसि जना भस्मसाद् देहभारा-
नश्रून्मिश्रं कथञ्चिद्ददतु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्यः ।
मार्गन्तां ज्ञातिदेहान् हतनरगहने खण्डितान् गृध्रकङ्कै-
रस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि ॥'

टिप्पणी—यहाँ तर्जन रूप "द्युति" है । उत्तेजन रूप "द्युति" का उदाहरणः—"भो ! लङ्केश्वर दीयतां" इत्यादि है ।

अर्थ—(६) ("शक्ति" का लक्षण)–विरोध को शान्त कर देना 'शक्ति' (शक्ति से साध्य होने कारण) होती है ।

('शक्ति' का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही) कुर्वन्त्विति—आप्त मनुष्य (पूज्य अथवा मान्य बन्धुजन) युद्ध क्षेत्र के अन्दर मरे हुओं के शरीर समुदाय को (अग्नि में) पूर्णरूपेण भस्मसात् कर दें, (तथा) ये बन्धु बन्धुओं के लिये (रण में मरे हुओं के लिये) आँसुओं से मिश्रित जल किसीप्रकार देवें, (तथा) मारे हुये मनुष्यों से गहन (इस क्षेत्र में) गृद्ध और कङ्कों से (पक्षिविशेषों से) खण्डित (खाये हुये मांस वाले) बन्धुओं के शरीरों को खोजें (उन खण्डित शरीरों को खोज-खोज कर उनका अन्तिम दाह संस्कार यथेष्ट करें) यह सूर्य शत्रुओं के साथ अस्ताचल को प्राप्त हो गया है, (अतः) सेनाओं को (रण से) लौटा लो ।

टिप्पणी—(१) यहाँ सेना को इकट्ठा करने के उपदेश से उस समय विरोध के शान्त हो जाने से "शक्ति" है ।

(२) दूसरा उदाहरण—यथा—रत्नावली में—राजा—

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यासत्तिमुपागता नहि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्यैव तथैव वाष्पसलिलैः कोपोपनीतः स्वयम् ॥

यहाँ सागरिका के लाभ के विरोधी वासवदत्ता के कोप के शान्त हो जाने से "शक्ति" है ।

(३) तीसरा उदाहरण—यथा—उत्तररामचरित में—लव—

विरोधो विश्रामः प्रसरति रसो निर्वृतिघन-
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥ इति ॥

—प्रसङ्गो गुरुकीर्त्तनम् ॥ १०४ ॥

यथा मृच्छकटिकायाम्—

'**चाण्डालः**—एसो क्खु सागलदत्तस्स सुश्रो श्रज्जविस्सदत्तस्स णत्तिश्रो चालुदत्तो वावादिदुं वज्झट्ठाणं णिज्जइ। एदेण किल गणिश्रा वसन्तसेणा सुश्रण्णलोहेण वावादिदेत्ति [एषु खलु सागरदत्तस्य सुत आर्यविश्वदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं वध्यस्थानं नीयते। एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादिता]।

चारुदत्तः—(सनिर्वेदं स्वगतम्)

मखशतपरितं गोत्रमुद्भासितं यत्।
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मम निधनदशायां वर्त्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्॥'

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलप्रसङ्गाद् गुरुकीर्त्तनमिति प्रसङ्गः।

अर्थ(७)—('प्रसङ्ग' का लक्षण) (पिता आदि) गुरुजन का अर्थात् पूज्य का वर्णन करना "प्रसङ्ग" (कहलाता) है अथवा अत्यधिक (गुरु) दोषादि का कथन करना 'प्रसङ्ग'' (कहलाता) है।

टिप्पणी—(१) मन्दारमरन्द में भी—"प्रस्तुतार्थेन च गुरोः प्रसभः परिकीर्तनम्", इति।

(२) नाट्यशास्त्र के अनुसार—

"प्रसङ्गश्चैव विज्ञेयो वाक्यैरामर्षयोजितैः" इति।

अर्थ—("प्रसङ्ग का उदाहरण) **यथा-मृच्छकटिक** (नामक प्रकरण) में—**चाण्डाल इति**—

प्रसङ्ग—चाण्डाल, चारुदत्त को मारने के लिये ले जाया जाता हुआ देखकर कहता है।

अर्थ—यह सागरदत्त का पुत्र आर्य विश्वदत्त का पौत्र चारुदत्त मारा जाने के लिये वध्य-स्थान पर ले जाया जा रहा है। इसने वेश्या वसन्तसेना सोने के प्रलोभन में मार दी है।

चारुदत्त—(निर्वेद के साथ मन ही मन) **मखशतेति**—सैंकड़ों यज्ञों के अनुष्ठान से पवित्र जो (मेरा) कुल पहले सभा में मनुष्यों से व्याप्त घर में उद्भट वेदपाठ की ध्वनियों से उज्ज्वल (था) (अर्थात् उच्चस्वर से ब्राह्मणों द्वारा यशोगान से प्रशस्त था) (वह अब) मृत्यु दशा में वर्तमान (वध्यस्थान की ओर ले जायेजाते हुये) मेरा वह (कुल) नीच अयोग्य पुरुषों के द्वारा घोषणा में घोषित किया जा रहा है (इससे अधिक और क्या निन्दा की बात होगी।) **इत्यनेनेति**—इस (गद्य भाग और पद्य भाग) से चारुदत्त के वधरूप अभ्युदय के अनुकूल प्रसङ्ग के कारण गुरु जनों का कीर्तन है, अतः 'प्रसङ्ग' है।

मनश्चेष्टासमुत्पन्नः श्रमः खेद इति स्मृतः ।

मनःसमुत्पन्नो यथा मालतीमाधवे—

'दलति हृदयं गाढोद्वेगो द्विधा न च भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम् ।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी, न कृन्तति जीवितम् ॥'

एवं चेष्टासमुत्पन्नोऽपि ।

ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेध इतीष्यते ॥ १०५ ॥

यथा मम प्रभावत्यां विदूषकं प्रति—

प्रद्युम्नः—'सखे' कथमिह त्वमेकाकी वर्त्तसे ? क्व नु पुनः प्रियसखीजनानुगम्यमाना प्रियतमा मे प्रभावती ?

टिप्पणी—केचित्—"प्रस्तुतार्थवचनं प्रसङ्गम् इच्छन्ति"—यथा–वेणीसंहार के षष्ठ अङ्क में—"युधिष्ठिर (द्रौपदी के प्रति)—

स कीचकनिषूदनो बकहिडिम्बकिर्मीरहा
मदान्धमगधाधिपद्विरदसन्धिभेदाशनिः ।
गदा परिघशोभिना भुजयुगेन तेनान्वितः
प्रियस्तव ममानुजोऽर्जुन गुरुर्गतोऽस्ते किल ? ॥

यहाँ माया के द्वारा तपस्वी वेषधारी राक्षस ने मिथ्या भीमसेन के वध को युधिष्ठिर से कह दिया । अतः उनका अप्रस्तुत शोक "प्रसङ्ग" है ।

अर्थ—(८) ("खेद" का लक्षण)—मन से (शोकादि मानसिक व्यापार से) अथवा चेष्टा से (शारीरिक व्यापार से) उत्पन्न परिश्रम "खेद" (खिद्यतेऽनेनेति खेदः) कहलाता है ।

मन से उत्पन्न ("खेद" का उदाहरण) यथा—मालतीमाधव में—**दलतीति**—[प्रसङ्ग—कपाल कुण्डल के द्वारा अपहृत मालती के शोक से माधव की यह उक्ति है ।] (मेरे) हृदय को अत्यधिक (प्रिया विरह के शोक का) आवेग विदीर्ण कर रहा है, (किन्तु) दो टुकड़ों में विभक्त नहीं कर रहा है, शोक से व्याकुल शरीर मूर्च्छा को तो प्राप्त कर रहा है (किन्तु) चैतन्य को नहीं छोड़ता है । अन्तःकरण का शोक सन्ताप शरीर को जला तो रहा है (परन्तु) पूर्णरूपेण भस्मसात् नहीं करता है, (तथा) मर्मवेधक भाग्य प्रहार तो कर रहा है (किन्तु) जीवन को नष्ट नहीं करता है । [उत्तररामचरित के अन्दर यही श्लोक सीता के शोक से सन्तप्त रामचन्द्र जी ने भी कहा है ।] **एवमिति**—इसीप्रकार चेष्टा से उत्पन्न भी (खेद का उदाहरण समझना चाहिये ।) ।

(९) ("प्रतिषेध" का लक्षण)—अभिलषित विषय का प्रतिघात "प्रतिषेध" कहलाता है ।

("प्रतिषेध" का उदाहरण) यथा—मेरी (मेरे द्वारा निर्मित) प्रभावती में विदूषक के प्रति ।

विदूषकः—असुरवइणा आआरिअ कहिं वि णीदा [असुरपतिना आकार्य कुत्रापि नीता]।

प्रद्युम्नः—(दीर्घं निःश्वस्य)

हा पूर्णचन्द्रमुखि मत्तचकोरनेत्रे
मामानताङ्गि परिहाय कुतो गतासि।
गच्छ त्वमद्य ननु जीवित तूर्णमेव
दैवं कदर्थनपरं कृतकृत्यमस्तु ॥'

कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम् ॥

यथा वेण्याम्—

'युधिष्ठिरः—

तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्ये च याते दिवम्।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥'

अर्थ—"प्रद्युम्न"—(हे) सखे! तुम यहाँ अकेले क्यों बैठे हो? प्रिय सखियों से अनुसरण की जाती हुई मेरी प्रियतमा प्रभावती कहाँ है?

विदूषक—असुरपति बुलाकर कहीं ले गया। **प्रद्युम्न**—(दीर्घ निःश्वास लेकर)—**हा पूर्ण-चन्द्रेति**—हा! (हे) पूर्ण चन्द्रमा के समान है मुख जिसका ऐसी अर्थात् चन्द्रवदनि (हे) मत्त चकोर के समान हैं नेत्र जिसके ऐसी! (हे! कुचभार से) अवनत है शरीर जिसका ऐसी? मुझे (प्रद्युम्न को, छोड़कर कहाँ चली गई हो?। [इसप्रकार पूर्वार्ध में प्रिया को सम्बोधन करके दुःख मनाकर उत्तरार्ध में जीवन को सम्बोधन करके कहता है।। | **गच्छेति**—(हे) प्राण! शीघ्र ही तुम चले जाओ (और इस प्रकार, दुःख देने में तत्पर दैव कृतार्थ हो जावे।

टिप्पणी—यहाँ अभीष्ट प्रभावती के समागम में प्रतिबन्ध होने से "प्रतिषेध है"।

अर्थ—(१०) ("विरोधन का लक्षण) कार्य के अन्दर विघ्न की प्राप्ति **"विरोधन"** कहलाता है।

(**"विरोधन"** का उदाहरण) **यथा—वेणीसंहार में—युधिष्ठिर—तीर्णेति—** [**प्रसङ्ग**—दुःखित युधिष्ठिर की यह उक्ति है।] भीष्म रूपी महा समुद्र को पार कर लेने पर (अर्थात् शरशय्या को प्राप्त कर लेने पर), द्रोणरूपी अग्नि के किसी प्रकार भी निर्वाणता को प्राप्त होने पर ["**अश्वत्थामा हत**" इति व्याजोक्ति के द्वारा स्वयं शस्त्र का त्याग करके स्वर्ग को प्राप्त होने पर]; कर्णरूपी विषोद्गारी सर्प के शान्त हो जाने पर (अर्थात् मारे जाने पर), और शल्य के स्वर्ग चले जाने पर (अर्थात् युद्ध में मारे जाने पर) (इसप्रकार) विजय के स्वल्प शेष रह जाने पर (केवल दुर्योधन के वध होने मात्र शेष रहने पर) साहसप्रिय भीम ने शीघ्रतावश वाणी से ("**अद्यैव यदि दुर्योधनं न हन्मि तदाऽग्निं प्रवेक्ष्यामि**" इसप्रकार का वाक्य कहकर) हम सभी को जीवित रहेंगे या नहीं इस संशय में डाल दिया।

प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थप्रदर्शिनी ॥ १०६ ॥

यथा वेण्याम्—

'पाञ्चालकः—अहं देवेन चक्रपाणिना सहितः—इत्युपक्रम्य कृतं सन्देहेन ।

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णात्यन्तचिरोज्झिते तु कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
रामे शातकुठारभास्वरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥'

कार्यसंग्रह आदानम्—

टिप्पणी—(१) भीम ने यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि आज दुर्योधन को नहीं मार डालूंगा तो अग्नि में जल मरूंगा । इस प्रतिज्ञा को सुनकर दुर्योधन और कहीं छिप जायेगा । इसप्रकार प्रतिज्ञा के पूरा न होने पर भीम अग्नि में जल जावेगा और उसके पीछे हम सबको भी मरना पड़ेगा ।

(२) यहाँ युद्ध के अन्दर विजय प्राप्तिरूप कार्य में भीम के कहने से विघ्न के आ जाने से "विरोधन" है ।

अर्थ–(११) "प्ररोचना" का लक्षण) उपसंह्रियमाण विषय का प्रतिपादन करने वाली 'प्ररोधना' (प्ररोचयति–विश्रामाय रुचिमुत्पादयतीति प्ररोचना) समझनी चाहिये ।

('प्ररोचना' का उदाहरण) यथा—वेणीसंहार में—'पाञ्चालक—और मैं महाराज चक्रपाणि ने" ऐसा प्रारम्भ करके, (विजय होगी या नहीं इसप्रकार का) सन्देह करना व्यर्थ है ? (क्योंकि)—

पूर्यन्तामिति—(हे राजन् !) तुम्हारे (युधिष्ठिर के) राज्याभिषेक के लिये मणियों से जटित कलश पानी से (अनुचरों द्वारा) भरे जायें, द्रौपदी चिरकाल से छोड़े हुये (अपने) केशपाशों के बन्धन में उत्सव करे (अर्थात् केश का शृंगार करने के लिये सामग्री इकट्ठी करे । [प्रश्न — यदि भीमसेन गदा युद्ध में दुर्योधन से न जीते, तो क्या होगा ? इसका उत्तर देते हैं ।] राम इति—तीक्ष्ण परशु से देदीप्यमान है हाथ जिसका ऐसे, क्षत्रिय रूपी वृक्षों को काटने वाले परशुराम जी के (भाव यह है कि परशुराम ने २१ वार क्षत्रियों का विनाश किया था) और अत्यन्त क्रुद्ध भीमसेन के युद्ध में प्रवृत्त हो जाने पर (जय होने में) सन्देह कैसा ? [अर्थात् कहीं से भी नहीं । भाव यह है कि विजय में किसीप्रकार का सन्देह नहीं है । जिसप्रकार परशुराम जी ने अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये क्षत्रियों को २१ बार परास्त किया था उसीप्रकार भीम भी अपनी प्रतिज्ञा को अवश्य पूरी करेगा ।]

टिप्पणी—(१) यहां "पूर्यन्ताम्" इत्यादि दो चरणों के अन्दर संग्राम की उपसंहृति का कथन करने से "प्ररोचना" है ।

(२) अन्ये तु—कुछ "सत्काराद्देशनं प्ररोचनमाहुः" ऐसा लक्षण करते हैं ।

अर्थ—(१२) ("आदान" का लक्षण)—कार्यों का संकलन "आदान" कहलाता है ।

यथा वेण्याम्—'भो भोः समन्तपञ्चकचारिणः,
नाहं रक्षो न भूतो रिपुरुधिरजलाह्लादिताङ्गः प्रकामं
निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ।
भो भो राजन्यवीराः, समरशिखिशिखाभुक्तशेषाः, कृतं व-
स्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥'

अत्र समस्तरिपुवधकार्यस्य संगृहीतत्वादादानम् ।

—तदाहुश्छादनं पुनः ।

कार्यार्थमपमानादेः सहनं खलु यद्भवेत् ॥ १०७ ॥

यथा तत्रैव—'अर्जुनः—आर्य'
अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा ।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥'

अर्थ—("आदान' का उदाहरण) यथा—वेणीसंहार में—हे ! हे ! समन्तपञ्चक (कुरुक्षेत्र के अन्दर विद्यमान देश विशेष) के अन्दर विचरण करने वालो ! नाहमिति—

(प्रसङ्ग—शत्रु के रुधिर से लतपथ शरीर वाले भीमसेन को भागता हुआ देखकर युद्ध के अन्दर विद्यमान योद्धागण मरे हुये हाथी और घोड़ों के समूह के नीचे छिपने लगे । उनको छिपता हुआ देखकर भीम की यह उक्ति है ।] मैं (सामने दिखाई देने वाला) राक्षस नहीं हूँ, न भूत (देवयोनि प्राणी विशेष) हूँ (किन्तु) शत्रुओं के रुधिर रूपी जलों से व्याप्त हैं अङ्ग जिसके ऐसा (तथा) सम्यक्तया उत्तीर्ण किया है महान् प्रतिज्ञा रूपी समुद्र जिसने ऐसा अतएव दुर्धर्ष क्रोधशील क्षत्रिय हूँ । हे ! हे ! युद्धरूपी बह्नि की ज्वालाओं से जलने से बचे हुये क्षत्रियों में श्रेष्ठ वीरो ! मरे हुये हाथी और घोड़ों के मध्य में छिपे हुये (तुम) जिस कारण से बैठे हो; उस डरने से तुमको क्या लाभ ? अर्थात् मैं तुम्हारा कुछ नहीं करूंगा, मुझसे भयभीत होना व्यर्थ है ।

अत्रेति —यहाँ (उक्त पद्य के अन्दर) समस्त शत्रुओं के वधरूपी कार्य के उपसंहृत होने से 'आदान' है ।

टिप्पणी—दूसरा उदाहरण—यथा—रत्नावली में—

"सागरिका-(दिशोऽवलोक्य) "दिष्टया समन्तात् प्रज्वलितो भगवान् हुतवहोऽद्य करिष्यति दुःखावसानम्" इति संस्कृतम् ।

यहाँ सम्पूर्ण दुःखावसान कार्य के संगृहीत होने से "आदान" है।

अर्थ—(१३) ('छादन' का लक्षण) कार्य सम्पादन के लिये जो अपमानादि का सहन होता है, उसको पुनः 'छादन' (छाद्यते—संव्रियतेऽनेनेति छादनम्) कहते हैं ।

टिप्पणी—भरतस्तु—"अवमानात्कृतं वाक्यं कार्यार्थं छादनं भवेत्" इति ।

अर्थ—('छादन' का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही)—अर्जुन—आर्य !—अप्रियाणीति—मारे गये हैं सौ (दुःशासनादि) भाई जिसके ऐसा अतएव

अथ निर्वहणाङ्गानि—

सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।
कृतिः प्रसाद आनन्दः समयोऽप्युपगूहनम् ॥ १०८ ॥
भाषणं पूर्ववाक्यञ्च काव्यसंहार एव च ।
प्रशस्तिरिति संहारे ज्ञेयान्यङ्गानि नामतः ॥ १०९ ॥

तत्र—

बीजोपगमनं सन्धिः—

यथा वेण्याम्—"भीमः—भवति यज्ञवेदिसम्भवे, स्मरति भवती यन्मयोक्तम्—"चञ्चद्भुज" इत्यादि ।

अनेन मुख क्षिप्तबीजस्य पुनरुपगमनमिति सन्धिः ।

अत्यन्त शोकाकुल यह (दुर्योधन) वाणी से अपकार कर रहा है (अर्थात् कटु वचन कह रहा है); (किन्तु) कार्य से (अप्रिय करने में) समर्थ नहीं है (क्योंकि शक्ति ही नहीं है) (अतएव) इसके (दुर्योधन के) प्रलापों से (अनर्थ वाक्यों से) (हम पाण्डवों को) क्या व्यथा ? [अर्थात् इसके कहने से दुःख नहीं करना चाहिये और इसीलिये क्रोध करना भी ठीक नहीं है ।] ।

टिप्पणी—यहाँ दुर्योधन की कटूक्तियों को सहन करने के कारण "छादन" है ।

अथ निर्वहणसन्ध्यङ्गनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद ('विमर्श सन्धि' के तेरह अङ्गों का निरूपण करने के उपरान्त) निर्वहणसन्धि के (चौदह) अङ्गों (का प्रतिपादन कहते हैं) ।

(१) सन्धि, (२) विबोध, (३) ग्रथन, (४) निर्णय, (५) परिभाषण, (६) कृति, (७) प्रसाद, (८) आनन्द, (९) समय, (१०) उपगूहन, (११) भाषण, (१२) पूर्ववाक्य, (१३) काव्यसंहार, और (१४) प्रशस्ति—ये ('निर्वहण' नामक) उपसंहार सन्धि में (चौदह) अङ्ग नाम से समझने चाहिये ।

(१) ('सन्धि' का लक्षण) उनमें से ('सन्धि' आदि १४ अङ्गों में से 'मुखसन्धि' में वर्णित) बीज की उद्भावना (पुनः प्राप्ति) 'सन्धि' (पुनः सन्धानं सन्धिः) (कहलाती) है ।

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र में महर्षि भरतमुनि ने भी कहा है कि—

मुखबीजोपगमनं सन्धिरित्यभिधीयते । इति ।

अर्थ—(सन्धि का उदाहरण) यथा—वेणीसंहार में—भीम—(प्रसङ्ग—सौ कौरवों को मारकर 'भवति यज्ञवेदिसम्भवे' इत्यादि भीमसेन की उक्ति है ।) भवति ! याज्ञसेनी ! क्या आप स्मरण करती हैं कि मैंने जो कहा है—"चञ्चद्भुज' इत्यादि ।

[लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं ।] अनेनेति—इससे मुखसन्धि में उद्भूत बीज का पुनः सम्पादन है, अतः 'सन्धि' है ।

विबोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा तत्रैव—"भीमः—मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम् । युधिष्ठिरः—किमपरमवशिष्टम् ?

भीमः—सुमहदवशिष्टम् संयमयामि तावदनेन सुयोधनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम् ।

युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान्, अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम् ।' इति अनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोधः ।

उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनं—

टिप्पणी—दूसरा उदाहरण—यथा—(रत्नावली में—)

वसुभूतिः—(अग्निविद्रवानन्तरं सागरिकां निर्वर्ण्य) बाभ्रव्य ! सुसदृशीयं राजपुत्र्याः ।

बाभ्रव्यः—ममाप्येवमेव मनसि ।

यहाँ नायिका के बीज के पुनः सम्पादन होने से "सन्धि" है ।

अर्थ—(२) (विबोध का लक्षण) कर्त्तव्य कार्य के अन्वेषण को 'विबोध' (कहते) है ।

('विबोध' का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही), 'भीम—"आप क्षणभर के लिये मुझको छोड़ दें । युधिष्ठिर—और क्या बचा है ?

भीम—(अभी) बहुत कुछ शेष है, इस दुर्योधन के रुधिर से लिप्त हाथ से दुःशासन के द्वारा खींचे हुये केशपाश को बांधूंगा । युधिष्ठिर—अच्छा, तुम जाओ, बेचारी (द्रौपदी दुःशासन के द्वारा खींचने से बिखरी हुई) वेणी के संयमन का अनुभव करे" इति ।

[लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं] अनेनेति—इसके द्वारा केश संयमनरूप कार्य के अन्वेषण के कारण 'विबोध' है ।

टिप्पणी—दूसरा उदाहरण—यथा—रत्नावली में—

वसुभूतिः—(निरूप्य) देव ! कुत इयं कन्यका ।

राजा—देवी जानाति ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र ! एषा सागरात्प्राप्तेति भणित्वामात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निहितः : अतएव सागरिकेति शब्द्यते । इति संस्कृतम् ।

राजा—(आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता । कथमसौ मामनिवेद्य करिष्यति ?'

इसके द्वारा रत्नावलीरूप कार्य के अन्वेषण के कारण यहाँ पर "विबोध" है ।

अर्थ—(३) (ग्रथन का लक्षण) कर्तव्य कार्यों का (प्रकृत सन्दर्भ में) योजन करना 'ग्रथन' (नामक अङ्ग माना गया) है ।

यथा तत्रैव—

'भीमः—पाञ्चालि! ' न खलु मयि जीवति संहर्त्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिभ्याम् । तिष्ठ; स्वयमेवाहं संहरामि ।' इति ।

अनेन कार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम ।

—निर्णयः पुनः ॥ ११०॥

अनुभूतार्थकथनं—

यथा तत्रैव—

'भीमः—देव अजातशत्रो !' अद्यापि दुर्योधनहतकः ? मया हि तस्य दुरात्मनः—भूमौ क्षिप्तं शरीरं निहितमिदमसृक् चन्दनाभं निजाङ्गे,
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयः सीमया सार्द्धमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमनुजा दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैक यद् ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्त्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥'

अर्थ—('ग्रथन' का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही)—भीम—(हे) पाञ्चाली ! मेरे जीते हुये होने पर दुःशासन के द्वारा खींचने से खुली हुई वेणी को अपने हाथों से मत बांधो । ठहरो मैं स्वयं बांधता हूँ ।

[लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं] यहाँ (वेणीबन्धन रूप) कार्य के उपन्यस्त होने के कारण 'ग्रथन' है ।

टिप्पणी—दूसरा उदाहरण—यथा—रत्नावली में—

'यौगन्धरायणः—देव ! क्षम्यतां यद्देवस्यानिवेद्य मयैतत्कृतम् ।"

यहाँ वत्सराज को रत्नावली के प्राप्ति रूप कार्य की योजना के कारण "ग्रथन" है ।

अर्थ—(४) 'निर्णय' का लक्षण) अनुभूत अर्थ का (प्रत्यक्षादि के द्वारा पूर्व ज्ञात विषय का) पुनः कथन करना निर्णय" (निर्णीत विषय होने के कारण) कहलाता है ।

(निर्णय का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही) भीम—देव ! अजातशत्रो ! ······अब नीच दुर्योधन कहाँ ? मैंने पाण्डुकुल का तिरस्कार करने वाले उस दुष्टात्मा का—भूमाविति—

उस धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन का (मैंने) शरीर पृथिवी पर गिरा दिया अर्थात् भूमिसात् कर दिया, रक्त चन्दन की कान्ति के समान है कान्ति जिसकी ऐसा अर्थात् रक्त चन्दन के सदृश यह रुधिर (उस दुर्योधन का) अपने शरीर पर लगा लिया, चारों समुद्रों के जल हैं सीमा जिसकी ऐसी पृथिवी के साथ राज्य लक्ष्मी आपको अर्पित कर दी, (उसके सचिवादि) भृत्य, मित्र, योद्धा (तथा) कौरवों के वंश में जितने भी मनुष्य हैं (वे सब) इस रणाग्नि में भस्म कर दिये, (हे) राजन् ! (क्षिति-अवनि पातीति क्षितिपः, तत्सम्बोधने हे क्षितिप !) एक नाम जो (दुर्योधन) (आप) ले रहे हैं, वह दुर्योधन का इस समय केवल शेष है अर्थात् इस समय दुर्योधन का केवल नाम-मात्र ही शेष है, और सब कुछ नष्ट कर दिया ।

टिप्पणी—यहाँ भीम ने अपने द्वारा विहित प्रत्यक्षरूपेण अनुभूत विषय का कथन किया है, अतः निर्णय है ।

—वदन्ति परिभाषणम् ।

परिवादकृतं वाक्यम्

यथा शाकुन्तले—

'राजा—आर्ये, अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?

तापसी—को तस्स धम्मदारपरिट्टाइणो णाणं गेण्हिस्सदि' [कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम ग्रहीष्यति] ।

—लब्धार्थशमनं कृतिः ॥ १११ ॥

यथा वेण्याम्—

'कृष्णः-एते भगवन्तो व्यास-वाल्मीकिप्रभृतयोऽभिषेकं धारयन्तस्तिष्ठन्ति इति ।'

अनेन प्राप्तराज्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरण कृतिः ।

अर्थ—(५) ("**परिभाषण**" का लक्षण) निन्दायुक्त वाक्य को "**परिभाषण**" कहते हैं ।

(**परिभाषण का उदाहरण**) **यथा**—शकुन्तला (नाटकदृश्यकाव्य) में—

प्रसङ्ग—दुर्वासा मुनि के शाप के कारण शकुन्तला के विस्मृत हो जाने से दुष्यन्त ने उसका परित्याग कर दिया था । पश्चात् उसकी स्मृति अँगूठी को देखने से होने पर शकुन्तला को न पाकर विरही राजा जब इन्द्र के आमन्त्रण पर असुरों का संहार करके स्वर्ग से लौट रहा था, उस समय तापसी के मुख से शकुन्तला के प्रसङ्ग को सुनकर दुष्यन्त का यह प्रश्न है ?

अर्थ—राजा—आर्ये ! अच्छा वह मान्या किस नाम वाले राजर्षि की पत्नी है ?

तापसी—कौन धर्मपत्नी का परित्याग करने वाले उसका (राजर्षि का) नाम लेगी ?

टिप्पणी—(१) यहाँ दुष्यन्त की निन्दा का कथन होने के कारण "**परिभाषण**" है ।

(२) **अन्य उदाहरण—यथा**—वेणीसंहार में—

भीमः—"**कृष्ण ! येनासि राज्ञां सदसि नृपशुना तेन दुःशासनेन**" यहाँ से लेकर "**क्वासौ भानुमती याऽपहसति पाण्डवदारान्**" यहाँ तक निन्दा की सूचना के कारण "**परिभाषण**" है ।

अर्थ—(६) ("**कृति**" का लक्षण) उपलब्ध विषयों से (शोकादि का) शमन करना **कृति** (कहलाता) है ।

("**कृति**" का उदाहरण)—**यथा वेणीसंहार** में—

"**कृष्ण**—ये भगवान् व्यास, वाल्मीकि प्रभृति अभिषेक सामग्री को लिये हुये बैठे हैं ।

[लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं] **अनेनेति**—(यहाँ) इसके द्वारा प्राप्त राज्य के विषय में अभिषेक के मांगलिक कार्यों से शोकादि से उत्पन्न अस्थिरतादि का शमन करने के कारण "कृति" है ।

शुश्रूषादि प्रसादः स्यात्—

यथा तत्रैव भीमेन द्रौपद्याः केशसंयमनम् ।

—आनन्दो वाञ्छितागमः ॥

यथा तत्रैव—

'द्रौपदी—विसुमरिदं एदं वावारं णाधस्स पसादेण पुणो वि सिक्खिस्सं ।'

[विस्मृतमेनं व्यापारं नाथस्य प्रसादेन पुनरपि शिक्षिष्ये] ।

टिप्पणी--कुछ कृति के स्थान पर द्युति को स्वीकार करते हैं ।

द्युति का लक्षण—**प्राप्तस्य प्रातिकूल्यशमन द्युतिः ।**

उदाहरण—यथा—मुद्राराक्षस नामक नाटक में—

चाणक्यः—"**अमात्य राक्षस ! अपीष्यते चन्दनदासस्य जीवितम्**"—यहाँ से लेकर "**का गतिरेष गृह्णामि**" यहाँ तक । राक्षस के द्वारा चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार करने के कारण विरोध के प्रशमन के कारण "**द्युति**" है ।

अर्थ—(७) ("**प्रसाद**" का लक्षण) (हाथ आदि से) सेवा आदि को ("आदि पद से चामर व्यजनादि का ग्रहण होता है) प्रसाद (**प्रसीदत्यनेनेति प्रसादः**) कहते हैं ।

टिप्पणी— भरतकृत लक्षण—**शुश्रूषाद्युपसम्पन्ना प्रसादः प्रीतिरुच्यते ॥**

अर्थ—("**प्रसाद**" का उदाहरण) **यथा**—वहीं (**वेणीसंहार ही में**) भीम के द्वारा द्रौपदी के केश बाँधना ।

टिप्पणी--अन्य उदाहरण--**यथा**--रत्नावली में--"**देव ! क्षम्यताम्**" इत्यादि ।

अर्थ--(८) ('**आनन्द**" का लक्षण) अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति को (अर्थात् अभिलषित वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाली प्रीति) आनन्द (कहते) हैं ।

टिप्पणी--भरतकृत लक्षण--**समागमस्तु योऽर्थानामानन्दः स तु कीर्तितः, इति ।**

अर्थ--("आनन्द" का उदाहरण) **यथा**— वहीं (वेणीसंहार में ही) **द्रौपदी**--यह व्यापार अर्थात् केशपाशों का शृङ्गार करना भूल गई हूँ, (किन्तु) स्वामी की कृपा से फिर सीख जाऊंगी ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर वेणीसंयमन रूप अभिलषित वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न प्रीति आनन्द है ।

(२) **अन्य उदाहरण—यथा**—रत्नावली में—

राजा—यथाह देवि । (रत्नावलीगृह्णाति) ।

यहाँ अभीष्ट रत्नावली की प्राप्ति के कारण "**आनन्द**" है ।

समयो दुःखनिर्याणं—

यथा रत्नावल्याम्—

'वासवदत्ता—(रत्नावलीमालिङ्गय) समस्सस बहिणिए समस्सस'। [समाश्वसिहि भगिनि, समाश्वसिहि]।

—तद्भवेदुपगूहनम्॥ ११२॥

यत् स्याददद्भुतसम्प्राप्तिः—

यथा मम प्रभावत्यां नारददर्शनात् प्रद्युम्न ऊर्ध्वमवलोक्य—

'दधद्विद्युल्लेखामिव कुसुममालां परिमल-
भ्रमद्भृङ्गश्रेणीध्वनिभिरुपगीतां तत इतः।
दिगन्तं ज्योतिर्भिस्तुहिनकरगौरैर्धवलय-
न्नितः कैलासाद्रिः पतति वियतः किं पुनरिदम्।"

अर्थ—(९) ("**समय**" का लक्षण) दुःख का व्यतीत हो जाना "**समय**" कहलाता है।

(**समय** का उदाहरण) **यथा**—रत्नावली में—

वासवदत्ता—(रत्नावली का आलिङ्गन करके) हे बहिन ! आश्वस्त होओ, आश्वस्त होओ।

टिप्पणी—(१) यह सागरिका का मामा की कन्या के रूप में परिचय होने पर वासवदत्ता की उक्ति है।

(२) यहाँ रत्नावली के दुःख की समाप्ति हो जाने से "**समय**" है।

(३) **अन्य उदाहरण—यथा**—वेणीसंहार में—'**भगवन् ! कुतस्तस्य विजयादन्यस्य भगवान्** पुराणपुरुषः **स्वयमेव नारायणो मंगलान्याशास्ते**"।

यहाँ युधिष्ठिर के दुःखों का नाश हो जाने से "**समय**" है।

अर्थ—(१०) (**उपगूहन** का लक्षण) जो (विस्मय स्थायीभाव वाले) अद्भुत रस की उपलब्धि है, वह **उपगूहन** (नामक अङ्ग) होता है।

(**उपगूहन** का उदाहरण) **यथा**—मेरी (ग्रन्थकार द्वारा निर्मित) प्रभावती में,—नारद को देखने से प्रद्युम्न ऊपर (आकाश में नारद जी को आता हुआ) देखकर—

दधदिति—सुगन्धि के कारण इधर-उधर घूमते हुये भ्रमरपंक्तियों की ध्वनियों से शब्दायमान, (तथा) विद्युत् की पंक्ति के समान (देदीप्यमान) पुष्पमाला को धारण करते हुये, (तथा) चन्द्रमा के समान शुभ्र शरीर की कान्ति से चारों ओर दिशाओं के अन्तभाग को शुभ्र करते हुये, आकाश से इस ओर कैलाश पर्वत चला आ रहा है (यह बड़े आश्चर्य की बात है)। अथवा यह क्या है ?

टिप्पणी—(१) यहाँ नारद के विषय में अद्भुत रस की प्राप्ति के कारण 'उपगूहन' है।

(२) **लब्ध अर्थ के शमन होने से "कृति" भी है।**

—सामदानादि भाषणम् ।

यथा चण्डकौशिके—

'धर्मः—तदेहि, धर्मलोकमधितिष्ठ ।'

पूर्ववाक्यं तु विज्ञेयं यथोक्तार्थोपदर्शनम् ॥११३॥

यथा वेण्याम्—

'भीमः—बुद्धिमतिके, क्व सा भानुमति । परिभवतु सम्प्रति पाण्डवदारान् ।'

वरप्रदानसम्प्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते ।

यथा सर्वत्र—'किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।' इति ।

अर्थ—(११) ('भाषण' का लक्षण) साम (प्रिय भाषण) और दानादि ('आदि' पद से प्रिय, हितादि का ग्रहण होता है) को भाषण (कहते) हैं ।

टिप्पणी—भरतकृत लक्षण—सामदानादिसम्पन्नं भाषणं समुदाहृतम् । इति ।

अर्थ—("भाषण" का उदाहरण) यथा—चण्डकौशिक में,—

"धर्म—अच्छा आओ, धर्मलोक में विराजो ।

टिप्पणी—(१) यहाँ "तदेहि" इस सन्तोषजनक वाक्य के कारण और धर्मलोक के दान के कारण "भाषण" है ।

(२) अन्य उदाहरण—यथा—मृच्छकटिक के अन्दर—आर्यकराजाज्ञया शार्वलिकश्चारुदत्तमाह—

त्वद्यानं यः समारुह्य गतस्ते शरणं पुरा ।
पशुवत् विद्यते यज्ञे हतस्तेनाद्य पालकः ॥

यहाँ से लेकर 'शार्वलिकः—एवं यथाहार्यः ।' यहाँ तक साम-दान-प्रिय और हित जनक कथन के कारण "भाषण" है ।

अर्थ—(१२) ("पूर्ववाक्य' का लक्षण) पहले कहे हुये अर्थ के समुचित उत्तर देने को पूर्ववाक्य समझना चाहिये ।

टिप्पणी—महर्षि भरतकृत लक्षणः—"पूर्ववाक्यन्तु विज्ञेयं यथोक्तार्थप्रदर्शनम् ।"

अर्थ—(पूर्ववाक्य का उदाहरण) यथा—वेणीसंहार में—

भीम—बुद्धिमतिके (तन्नामक दासी) वह भानुमती (दुर्योधन की पत्नी) कहाँ है ? अब पाण्डवों की पत्नी (द्रौपदी) का तिरस्कार करे !'

टिप्पणी—पहले भानुमती ने द्रौपदी का परिहास किया था और अब दुर्योधन के मारे जाने पर भीमसेन ने उसका प्रत्युत्तर दिया है । अतः यहाँ "पूर्ववाक्य" है ।

अर्थ—(१३)—(काव्यसंहार का लक्षण) अभीष्ट दान की इच्छा की प्राप्ति काव्यसंहार (सर्वस्मिन्नेवेप्सिते सम्पन्ने प्रस्तुतकाव्यस्येव संह्रियत इति काव्यसंहारः) कहलाता है ।

(काव्यसंहार का उदाहरण) यथा—सभी (नाटक प्रभृति) में—"और तुम्हारा क्या प्रिय करूँ ?" । इति ।

टिप्पणी—यह काव्यसंहार अभीष्ट वस्तु के स्वीकार करने पर और स्वीकार न करने पर दोनों अवस्थाओं में होता है । यथा—

नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते ॥ ११४ ॥

यथा प्रभावत्याम्—

'राजानः सुतनिर्विशेषमधुना पश्यन्तु नित्यं प्रजा
जीयासुः सदसद्विवेकपटवः सन्तो गुणग्राहिणः ।
सस्यस्वर्णसमृद्धयः समधिकाः सन्तु क्ष्मामण्डले
भूयादव्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिश्च नारायणे ।'

अत्र चोपसंहारप्रशस्त्योरन्त एकेन क्रमेणैव स्थितिः ।

अर्थ (१४)—(**प्रशस्ति** का लक्षण) राजा और देशादि की (यहाँ "आदि" पद से देवता और विद्वान् ब्राह्मणादिकों का ग्रहण होता है) शान्ति (अनिष्ट का निवारण और इष्ट की प्राप्ति) **प्रशस्ति** (प्रशंसा उक्तिः प्रशस्तिः) कहलाती है ।

टिप्पणी—साहित्यकौमुदीकार पण्डितराज ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है:—

"प्रशंसनं प्रशस्तिः स्याद् यशसः पृथिवीभृताम् ।"

अर्थ—("**प्रशस्तिः**" का उदाहरण) **यथा**-(प्रभावती में)—

राजान इति—इस समय राजा लोग (अपनी) सन्तान की तरह प्रजाओं को नित्य देखे, सद् और असद् वस्तु के विवेक करने में समर्थ (दूसरों के अवगुणों को छोड़कर) गुणों को ग्रहण करने वाले सज्जन उत्कर्ष को प्राप्त हों, पृथिवीमण्डल पर अत्यधिक शस्य और सुवर्ण की समृद्धि हो (तथा) तीनों लोकों के मनुष्यों की परमात्मा में अचल (अनैकान्तिकी) भक्ति हो ।

टिप्पणी—(१) **भक्ति का लक्षण**—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गतः ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

(२) यहाँ राजा और देशादि की शान्ति का कथन करने के कारण "**प्रशस्ति**" है ।

अवतरणिका—लक्ष्य के लक्षण की योजना करते हैं ।

अर्थ—और यहाँ (नाटक के) अन्त में "**उपसंहार**" (काव्यसंहार) और "**प्रशस्ति**" की एक क्रम से ही (निर्दिष्ट क्रम से ही) स्थिति (होती) है ।

टिप्पणी—**यथा**—वेणीसंहार में—"**प्रीतितरश्चेद् भवान्, तदिदमेवमस्तु**—

यहाँ पर भी जनादिकों की शुभ सूचना के कारण "**प्रशस्ति**" है । इस प्रकार ये चौदह निर्वहण सन्धि के अङ्गों का वर्णन है ।

अवतरणिका—सन्धियों के अन्दर जिन अङ्गों का वर्णन किया है, उनमें से कुछ अङ्ग ही आवश्यकरूपेण प्रधान होते हैं, ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है । उन्हीं मुख्य अङ्गों का प्रतिपादन प्रत्येक सन्धि के विषय में दिखाते हैं ।

'इह च मुखसंधौ उपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुवत्युद्भेदसमाधानानां, प्रतिमुखे च परिसर्पणप्रगमनवज्रोपन्यासपुष्पाणां, गर्भेऽभूताहरणमार्गत्रोटकाधिबलक्षेपाणां, विमर्शेऽपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानां प्राधान्यम्। अन्येषां च यथासम्भवं स्थितिः' इति केचित्।

चतुःषष्टिविधं ह्येतदङ्गं प्रोक्तं मनीषिभिः।
कुर्यादनियते तस्य संधावपि निवेशनम् ॥११५॥
रसानुगुणतां वीक्ष्य रसस्यैव हि मुख्यता।

यथा वेणीसंहारे तृतीयाङ्के दुर्योधनकर्णयोर्महत्संप्रधारणम्। एवमन्यत्रापि। यत्तु रुद्रटादिभिः 'नियम एव' इत्युक्तं तल्लक्ष्यविरुद्धम्।

अर्थ—और यहाँ (नाटकादि दृश्य काव्य में इन अङ्गों में से) **मुखसन्धि** में उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद और समाधान की, और **प्रतिमुख सन्धि** में परिसर्पण, प्रगमन, वज्र, उपन्यास और पुष्प की, **गर्भसन्धि** में अभूताहरण, मार्ग, त्रोटक, अधिबल और क्षेप की, **विमर्शसन्धि** में अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान की प्रधानता होती है। और दूसरों (विलोभनादि शेष अङ्गों) को **यथासम्भव** स्थिति होती है", ऐसा कुछ विद्वान् स्वीकार करते हैं।

अवतरणिका—अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।

अर्थ—ये चौंसठ प्रकार के (सन्धि के) अङ्ग विद्वानों ने कहे हैं, [**मुख सन्धि** के बारह अङ्ग, **प्रतिमुखसन्धि** के तेरह, **गर्भसन्धि** के तेरह, **विमर्शसन्धि** के भी तेरह और **निर्वहण सन्धि** के चौदह अङ्ग होते हैं, इसप्रकार इन सबके योग करने से पैंसठ होने पर भी कुछ निर्वहण सन्धि के अन्दर "**प्रशस्ति**" को स्वीकार नहीं करते हैं तथा जो इस "**प्रशस्ति**" अङ्ग को स्वीकार करते हैं, वे गर्भसन्धि के अन्दर विद्यमान "**प्रार्थना**" अङ्ग को नहीं मानते हैं। इसप्रकार दोनों ही पक्षों में सन्धि के चौंसठ अङ्ग होते हैं।] अनिर्धारित (मुख, गर्भादि में से किसी भी) सन्धि में भी रस की अनुकूलता को (शृङ्गारादि में से किसी भी रस की पोषकता को) देखकर (कवि) उसका (चौंसठ प्रकार के अङ्गों का) समावेश करे क्योंकि रस की ही प्रधानता होती है।

(उदाहरण) **यथा**—**वेणीसंहार** के (गर्भसन्धि के अन्तर्गत) तीसरे **अङ्क** में,—**दुर्योधन और कर्ण** की (बातचीत में मुख सन्धि का अङ्ग) "युक्ति" है। **इसीप्रकार अन्यत्र** (सन्धियों में) भी (उनका वर्णन दिखाई देता) है। [दूसरे मत का खण्डन करने के लिये पूर्वपक्ष उठाते हैं] **यत्त्विति**—और जो रुद्रट आदियों ने "**नियम ही है**" ऐसा कहा है अर्थात् जो जिस सन्धि का अङ्ग है, उसका उसी सन्धि में निवेश होना चाहिये, अन्य के अन्दर नहीं, वह लक्ष्य के अर्थात् महाकवियों के प्रयोग के विरुद्ध है। [महाकवियों के प्रबन्धों में सन्धि के अङ्गों का वैसा कोई नियत विधान नहीं दिखाई देता है अतः "**कोई नियम है**" यह कहना ठीक नहीं है।]

इष्टार्थरचनाश्चर्यलाभो वृत्तान्तविस्तरः ॥११६॥
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गोप्यानां गोपनं तथा ।
प्रकाशनं प्रकाश्यानामङ्गानां षड्विधं फलम् ॥११७॥
अङ्गहीनो नरो यद्वन्नैवारम्भक्षमो भवेत् ।
अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगाय युज्यते ॥११८॥
संपादयेतां संध्यङ्गं नायकप्रतिनायकौ ।
तदभावे पताकाद्यास्तदभावे तथेतरत् ॥११९॥

प्रायेण प्रधानपुरुषप्रयोज्यानि सन्ध्यङ्गानि भवन्ति । किन्तु प्रक्षेपादित्रयं बीजस्याल्पमात्रसमुद्दिष्टत्वादप्रधानपुरुषप्रयोजितमेव साधु ।

अथ सन्ध्यङ्गफलनिरूपणम्—

अर्थ—(१) अभीष्ट वस्तु की रचना, (२) (देखने वाले के लिये) अलौकिक अर्थ की प्राप्ति, (३) कथा का विस्तार से ज्ञान, (४) अभिनय के विषय में (देखने वाले की) अनुराग की उत्पत्ति, (५) गोप्य विषयों का गोपन तथा (६) प्रकाशनीय विषयों का प्रकाशन (यह) ६ प्रकार का (सन्धि के उपक्षेपादि) अङ्गों का फल होता है।

टिप्पणी—जिसप्रकार काव्य के अर्थोत्पत्ति रूप मुख सन्धि के अङ्ग उपक्षपरूप इष्ट का अनुसरण करना फल है; उसीप्रकार अङ्गों के अन्य फलों का नाटकों के अन्दर यथासम्भव समझ लेना चाहिये ।

अवतरणिका—नाटक के अन्दर सन्धि के अङ्गों की आवश्यकता दिखाते हैं ।

अर्थ—(कर चरणादि) अङ्ग से विकल मनुष्य जिसप्रकार कार्य करने में समर्थ नहीं होता है, उसीप्रकार (मुखगर्भादि सन्धि रूप) अङ्गों से शून्य काव्य व्यवहार के लिये; अभिनय के लिये अथवा प्रेक्षकों के अनुराग के लिये प्रयोग के योग्य नहीं होता है ।

अवतरणिका—सन्धि के अङ्गों का सम्पादन किसको करना चाहिये, यह बताते हैं ।

अर्थ—नायक और प्रतिनायक सन्धि के अङ्गों का प्रतिपादन करें (इनमें भी प्रायः नायक को ही करना चाहिये) [**प्रश्न**—यदि सन्धि के अङ्गों का प्रवेश न हो तो क्या करना चाहिये ? इसका उत्तर देते हैं] **तदिति**—उसके (सन्धि के) अभाव में पताका आदि ("आदि" पद से कार्य इत्यादि तथा अर्थप्रकृति का ग्रहण होता है) (का सम्पादन करे), उसके अर्थात् पताकादि के अभाव में अन्य का (अर्थात् बीज का अथवा बिन्दु का) सम्पादन करें ।

सन्धि के अङ्ग प्रायः प्रधान पुरुषों के द्वारा (इससे नायक, प्रतिनायकों की प्रधानपात्रता प्रकट की है) प्रयोग करने योग्य होते हैं । किन्तु उपक्षेप आदि ("आदि" पद से परिकर और परिन्यास का ग्रहण होता है) इन तीन में (प्रधान इतिवृत्त रूप काव्यार्थ के मूलभूत) बीज के अल्पमात्र होने के कारण अप्रधान पुरुषों के द्वारा ही प्रयोग ठीक रहता है ।

रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां संनिवेशनम् ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया ॥१२०॥

तथा च यद्वेण्यां दुर्योधनस्य भानुमत्या सह विप्रलम्भो दर्शितः, तत्तादृशेऽवसरेऽत्यन्तमनुचितम् ।

अविरुद्धं तु यद् वृत्तं रसादिव्यक्तयेऽधिकम् ।
तदप्यन्यथयेद्धीमान्न वदेद्वा कदाचन ॥१२१॥

अनयोरुदाहरणं सत्प्रबन्धेष्वभिव्यक्तमेव ।

अवतरणिका—सर्वत्र रस की अभिव्यक्ति को देखकर ही सन्धि के अङ्गों का सन्निवेश करना चाहिये केवल नाट्यशास्त्र के अन्दर कहे हुये होने के कारण उनकी रक्षण व परम्परा के कारण सन्निवेश नहीं करना चाहिये । इसका प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—रस की अभिव्यक्ति की अपेक्षा करके ही इन (सन्धि के) अङ्गों का प्रयोग (करना चाहिये), केवल शास्त्र की स्थिति की सम्पादन की इच्छा से (इन अङ्गों का प्रयोग) नहीं (करना चाहिये) । कहने का तात्पर्य यह है कि नाटकीय रस की अभिव्यक्ति असम्भव होने पर प्रधान के अभाव में अप्रधान भी नाट्यशास्त्रोक्त अङ्गों का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

टिप्पणी—ध्वनिकार ने भी कहा है कि—

"सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसादि व्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥" इति ॥

अवतरणिका—रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा न करके अङ्गों के वर्णन करने में दोष दिखाते हैं ।

अर्थ—(उदाहरण देते हैं) तथा—जो वेणीसंहार के अन्दर दुर्योधन का (अपनी पत्नी) भानुमती के साथ विप्रलम्भ शृङ्गार दिखाया है, (केवल नाट्यशास्त्र की स्थिति के सम्पादन करने की इच्छा से प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग समूह के सन्निवेश के लिये कवि ने उपस्थापित किया है) वह उस अवसर पर (युद्ध के लक्षण वीररस के अवसर पर) अत्यन्त अनुचित है । अर्थात् रसाभिव्यक्ति की उपेक्षा करके निवेशन करना उचित नहीं ।

जो वृत्तान्त रसभावादि की व्यंजना के लिये अनुकूल है, (अथवा) अनुपयोगी (अधिकम्) है, बुद्धिमान् कवि उसको भी प्रकारान्तर से प्रतिपादन करे अथवा कभी उसे बिल्कुल कहे ही नहीं अर्थात् उसकी उपेक्षा करके जिसप्रकार से भी रस के उपयोगी हो, वैसे वृत्तान्त का वर्णन करे ।

इन दोनों के अर्थात् अन्यथा करने के और न करने के उदाहरण (शाकुन्तलादि) उत्कृष्ट महाकाव्यों में स्पष्ट ही हैं ।

अथ वृत्तयः—

श्रृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥१२२॥
चास्रो वृत्तयो ह्येताः सर्वनाटचस्य मातृकाः ।
स्युर्नायकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु ॥१२३॥

टिप्पणी—(१) यथा-शाकुन्तल में विशेष रूप से विप्रलम्भ श्रृङ्गार की अभिव्यक्ति के लिये "तस्मात्त्वं सर्वदा स्मर" इसप्रकार महाभारत के अन्दर वर्णित आकाशवाणी के द्वारा शकुन्तला की स्वीकृति के कथानक को छोड़कर शकुन्तला का अन्तर्धान होना ही कवि ने वर्णित किया है । यह वृत्तान्त का "अन्यथाकरण" है ।

(२) वेणीसंहार के अन्दर कर्णपर्व के अन्दर विद्यमान राजहंस और काक की कथा का सर्वथा ही बहिष्कार कर दिया है ।

नाटकवृत्तिनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद (सन्धि के अङ्गों के फल के निरूपणोपरान्त) "वृत्तियों" (का वर्णन करते हैं) ।

श्रृङ्गार-रस में कैशिकी (नाम की वृत्ति) अर्थात् श्रृङ्गार-रस का प्रतिपादन करने वाली वृत्ति कैशिकी होती है, वीररस में सात्वती नामक वृत्ति अर्थात् वीररस का प्रतिपादन करने वाली वृत्ति सात्वती होती है, रौद्र और वीभत्स-रस में पुनः आरभटी नामक वृत्ति अर्थात् रौद्र और बीभत्स रस का प्रतिपादन करने वाली वृत्ति आरभटी होती है, अन्य रसों में (सर्वत्र) भारती नामक वृत्ति (होती) है । नायकादिकों (यहाँ 'आदि' पद से नायिका आदि समस्त पात्रों का ग्रहण होता है) की चेष्टा विशेष सब प्रकार के अभिनय की माता की तरह मूलभूत जननी होती हैं । ये चार वृत्तियाँ नाटकादिकों में अर्थात् नाटक प्रकरणादि दशरूपकों में और नाटकादि अठारह उपरूपकों में होती है ।

टिप्पणी—इन चारों प्रकार की वृत्तियों में से कवि श्रृङ्गार-रस प्रधान नाटिका आदि का कैशिकी वृत्ति का आश्रय लेकर वर्णन करे । इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये । कैशिकी वृत्ति सामवेद से उत्पन्न हुई है जैसा कि भरतमुनि ने कहा है कि—

ऋग्वेदाद्भारती वृत्तिर्यजुर्वेदात्तु सात्वती ।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणी तथा ॥ इति ॥

वृत्ति का सामान्य लक्षण—"तत्र वर्तते रसोऽनयेति नायिकादिचेष्टाविशेषो वृत्ति" ।

(२) जहाँ "कैशिकी" यह पाठ है वहाँ—

"**अतिशयिनः**" केशाः सन्ति आसामिति केशिकाः स्त्रियः ["स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्षणम्] तत् प्रधानत्वात् तासामियं कैशिकी" यह व्युत्पत्ति समझनी चाहिये ।

तत्र कौशिकी—

या श्लक्षणनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता ॥१२४॥
नर्म च नर्मस्फूर्जो नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्भश्च।
चत्वार्यङ्गान्यस्याः—

तत्र—

—वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म ॥१२५॥
इष्टजनावर्जनकृत्तच्चापि त्रिविधं मतम्।
विहितं शुद्धहास्येन सशृङ्गारभयेन च ॥१२६॥

तत्र केवलहास्येन विहितं यथा रत्नावल्याम्—

'वासवदत्ता—(फलकमुद्दिश्य सहासम्) एसा वि अवरा तव समीवे जधा लिहिदा एदं किं अज्जवसन्तस्स विण्णाणम्'। [एषाऽप्यपरा तव समीपे यथा लिखिता, एतत् किमार्यवसन्तकस्य विज्ञानम्।]

अर्थ—(१) उनमें से (चार प्रकार की वृत्तियों में से) कैशिकी (का लक्षण) येति—जो मनोरम नायिकादिकों को आभूषण विशेषों से मनोज्ञ (अतिशय शोभाशालिनी), स्त्रीबहुल, प्रचुर नृत्य और गान हैं जिसमें ऐसी, कामदेव के कारण जो सम्भोग उससे उत्पन्न होने वाले हैं उपकार पदार्थ (चन्द्र, चन्दन और घनसारादि) जिसमें ऐसी तथा मनोरम विलासों से (मुख, नेत्र, गति आदि चेष्टाविशेष के व्यञ्जक वाक्यों से), युक्त है, वह 'कैशिकी वृत्ति' (होती) है।

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र के अनुसार—

या श्लक्षणनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता वा बहुनृत्यगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकी वृत्तिमुदाहरन्ति ॥ इति ॥

कैशिक्यङ्गनिरूपणम्—

अर्थ—(१) नर्म, (२) नर्मस्फूर्ज, (३) नर्मस्फोट और (४) नर्मगर्भ—ये चार इस (कैशिकी) के भेद (होते हैं,।

(१) उनमें से ('नर्म' का लक्षण) वैदग्ध्येति-प्रिय जन की अर्थात् सामाजिकों की प्रीति को करने वाला चतुरतापूर्ण क्रीड़ा का नाम 'नर्म' है।

अवतरणिका--"नर्म" के भेदों को बताते हैं।

अर्थ --('नर्म' के भेदों का परिगणन) और वह ('कैशिकी' वृत्ति के "नर्म" नामक अङ्ग) भी तीन प्रकार का होता है। (१) केवल हास्य के द्वारा विहित, (२) शृङ्गारयुक्त हास्य के द्वारा विहित और (३) भययुक्त हास्य के द्वारा विहित।

उनमें से (१) केवल हास्य विहित नर्म (का उदाहरण) यथा रत्नावली (के दूसरे अंक) में--

'वासवदत्ता—[(रत्नावली के) चित्रपट को लक्ष्य करके हंसी के साथ (वत्सराज से बोली)]।

सशृङ्गारहास्येन यथा शाकुन्तले राजानं प्रति--

'**शकुन्तला**—असंतुट्ठो उण किं करिस्सदि [असन्तुष्टः पुनः किं करिष्यति]।

राजा—इदम्। (इति व्यवसितः। शाकुन्तला वक्त्रं ढौकते)'

सभयहास्येन यथा रत्नावल्याम् आलेख्यदर्शनावसरे।

'**सुसगता**—जाणिदो मए एसो वुत्तन्तो समं चित्तफलएण। ता देवीए गदुअ निवेदइस्सम् ज्ञातो मया एष वृत्तान्तः समं चित्रफलकेन। तद्देव्यै गत्वा निवेदयिष्यामि।]।

एतद्वाक्यसम्बन्धि नर्मोदाहृतम्। एवं वेषचेष्टासम्बन्ध्यपि।

प्रकरण-चित्रफलक पर सागरिका द्वारा चित्रित राजा को देखकर सुसंगता ने उसके पास में सागरिका का भी चित्र बना दिया। वहाँ चित्रित राजा को देखकर वासवदत्ता के पूछने पर कि "किसने तुम्हारा चित्र बनाया" इति। **उत्तर**—राजा के शिल्पनैपुण्य के लिये बनाया है। पुनः उसके पास में सागरिका का चित्र देखकर—

अर्थ—यह जो दूसरी तुम्हारे पास में अंकित है, वह क्या आर्य वसन्तक की निपुणता है। [यह 'वासवदत्ता' का प्रश्न है।]।

टिप्पणी—यहाँ "केवल हास्य के द्वारा विहित नर्म" है।

अर्थ—(२) शृङ्गारयुक्त हास्य के द्वारा विहित नर्म (का उदाहरण) **यथा**—**शाकुन्तल** में राजा को लक्ष्य करके--

शकुन्तला असन्तुष्ट--(मधुकर) पुनः क्या करेगा? (**'ननु कमलस्थमधुकरः सन्तुष्यति गन्धमात्रेण'** राजा की इस उक्ति के अनन्तर शकुन्तला की यह जिज्ञासा है) **राजा**—यह (ऐसा कहकर चुम्बन करने में प्रवृत्त हो गया। शकुन्तला अपने मुख को ढक लेती है।)।

टिप्पणी—यहाँ "शृङ्गारयुक्त हास्य के द्वारा विहित शकुन्तला का "नर्म" है।

अर्थ—(३) **भययुक्त हास्य के द्वारा विहित नर्म** (का उदाहरण) यथा—**रत्नावली** में आलेख्य को देखने के अवसर पर—

सुसङ्गता—मैंने चित्रफलक के साथ ही सकल वृत्तान्त जान लिया है, अतः जाकर देवी (वासवदत्ता) को कहूँगी।

यह वाक्य सम्बन्धी नर्म का उदाहरण है। इसीप्रकार वेष और चेष्टा सम्बन्धी (नर्म का) भी (उदाहरण जानना चाहिये)।

टिप्पणी—यहाँ राजा का भययुक्त सुसंगता के हास्य से विहित नर्म है।

(१) वेष सम्बन्धी भययुक्त हास्य विहित नर्म का उदाहरण - यथा—रत्नावली में—"सुसङ्गता। (दृष्ट्वा विहस्य) अयि कातरे! मा बिभेहि, न भवत्येष वानरः, आर्यवसन्तकः खल्वेषः"। इति।

(२) चेष्टा सम्बन्धी भययुक्त हास्य **विहित नर्म का उदाहरण---यथा—मालविकाग्निमित्र** में बड़बड़ाते हुये विदूषक के ऊपर निपुणिका सर्प की भ्रान्ति के कारण लकड़ी को गिराती है।

नर्मस्फूर्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसंगमः ।

यथा मालविकायां सङ्केतमभिसृतायाम्—

नायकः—

विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥

मालविका—भट्टा, देवीए भएण अप्पणो वि पिअं कउं ण पारेमि (भर्त्तः, देव्या भयेन आत्मनोऽपि प्रियं कर्त्तुं न पारयामि) इत्यादि ।

अथ नर्मस्फोटः—

नर्मस्फोटो भावलेशैः सूचिताल्परसो मतः ॥१२७॥

यथा मालतीमाधवे—

अर्थ—(२) (नर्मस्फूर्ज का लक्षण) प्रारम्भ में सुखकर (और) अन्त में भयावह का समागम **नर्मस्फूर्ज** (नर्मणः—परिहासस्य स्फूर्जः—भयावह. शब्दः, **लक्षणया** तादृशाभिनयवर्णनमिति यावत्) होता है ।

टिप्पणी—महर्षि भरतमुनि ने बीसवें अध्याय में लक्षण इस प्रकार किया है—

नवसङ्गमसम्भोगो रतिसमुदयवेशवाक्यसयुक्तः ।
ज्ञेयो नर्मस्फूर्जो ह्यवमानभयात्मकश्चैव ॥ इति ॥

अर्थ—(नर्मस्फूर्ज का उदाहरण) **यथा—मालविका नामक नाटिका** में संकेत स्थान में अभिसृत मालविका के प्रति—

राजा—विसृजेति—हे मालविके, संगम के विषय में भय को छोड़ दो, चिर-काल से लेकर तुम्हारे प्रणय के प्रति उन्मुख (अतएव) अत्यन्त सुगन्धशाली आम्रभाव को (मेरे) प्राप्त होने पर तुम माधवी लता के (**शौक्ल्यान्मुक्ताम् अतिक्रान्तामतिमुक्ता सा चासौ लता चातिमुक्तालता-माधवी तस्याः चरितम्**) आचरण को स्वीकार करो अर्थात् जिस प्रकार माधवी की लता आम्रवृक्ष का आलिङ्गन करती है, उसी प्रकार तुम मेरा आलिङ्गन करो ।

मालविका—देवी के भय से अपना प्रिय भी करने में समर्थ नहीं हूँ ।

टिप्पणी—यहाँ सुन्दरि ! इस सम्बोधन के कारण प्रारम्भ में सुख होने से और अवसान में भय होने से मालविका का "नर्मस्फूर्ज" है ।

अर्थ—(३) इसके बाद (नर्मस्फर्ज के लक्षण के अनन्तर) नर्मस्फोट (का लक्षण)—

(नर्मस्फोट का लक्षण) किंचित् किंचित् प्रकाशित भावों से सूचित किया है अल्प शृङ्गाररस जिसमें ऐसा **नर्मस्फोट** (**नर्मणः-स्फोटः-अभिव्यक्तिर्यत्र सः**) माना गया है ।

टिप्पणी—महर्षि भरतमुनि के अनुसार—

विविधानां भावानां लवैर्लवैर्भूषितो बहुविशेषः ।
असमग्राक्षिप्तरसो नर्मस्फोटस्तु विज्ञेयः ॥ इति ॥

अर्थ—(नर्मस्फोट का उदाहरण) **यथा—मालतीमाधव में—गमनमिति**—

'गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं
श्वसितमधिकं किन्त्वेतत् स्यात् किमन्यदितोऽथवा ।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं
ललितमधुरांस्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥'

अलसगमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुरागः स्तोकः प्रकाशितः ।

नर्मगर्भो व्यवहृतिर्नेतुः प्रच्छन्नवर्तिनः ।

यथा—

तत्रैव सखीरूपधारिणा माधवेन मालत्या मरणव्यवसायवारणम् ।

प्रकरण—आते हुये माधव को देखकर मकरन्द की यह उक्ति है ।

अर्थ—(माधव की) गति आलस्य युक्त है अर्थात् मन्द है, दृष्टि शून्य है अर्थात् स्थिर होकर कहीं भी नहीं देख रहा है, शरीर (आहार्य शोभादि से रहित होने के कारण अथवा मलादि के दूर न करने के कारण) अरमणीय है, निःश्वास दीर्घ है, यह क्या है ? (अलस गमनादिक रोग के कारण हैं अथवा कामदेवकृत हैं— यह वितर्क है) अथवा इससे (काम के आवेग से) भिन्न क्या हो सकता है ? अपितु काम से भिन्न कुछ भी नहीं हो सकता है । (क्योंकि) संसार में काम की आज्ञा भ्रमण करती है और यौवन चित्त का विकार करने वाला है, तथा अत्यन्त रमणीय वे-वे प्रसिद्ध सुरत की चेष्टायें (चन्द्र, चन्दनादि पदार्थ जात) धैर्य को नष्ट कर रही हैं ।

(लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं) अलसगमन आदिक भावलेशों से माधव का मालती में अनुराग (विप्रलम्भरस) किंचिद् रूप से प्रकाशित होता है ।

(४) (**नर्मगर्भ** का लक्षण) प्रच्छन्नरूप से विद्यमान नायक का व्यवहार **नर्मगर्भ** (**नर्म-क्रीडायां रहस्यार्थकथनं गर्भे यस्य तथोक्तः**) (होता) है ।

टिप्पणी—महर्षि भरतमुनि के अनुसार लक्षण—

विज्ञानरूपसम्भावनादिभिर्नायको गुणैर्यत्र ।
प्रच्छन्नैर्व्यवहरते कार्यवशान्नर्मगर्भोऽसौ ॥ इति ॥

अर्थ—(**नर्मगर्भ** का उदाहरण) **यथा**— वहीं (**मालतीमाधव** के अन्दर) **सखी** रूपधारी (**अर्थात्** लवङ्गिका के स्थान में विद्यमान) माधव के द्वारा मालती का मरण के निश्चय से रोकना ।

टिप्पणी—अत्रत्योवृत्तस्तु—सखी लवङ्गिका, पित्रा राजाज्ञया जरते नन्दाय दातुं कृतनिश्चया मालतीति देवतागृहे स्वनिधनं याचयन्ती लवङ्गिकायाः पादे पतिता मालती । स्तम्भान्तरतः स्थितो माधवश्च लवङ्गिकावेशेनागत्य लवङ्गिकामपसार्य तत्स्थाने स्वपादं दत्वा स्थितः । ततो मालती उत्थाय लवङ्गिकाबुद्ध्या तमालिङ्ग्य पश्चादवलोक्य परिचीयमाना व्यवसायात् निववृते इति मालतीमाधवे द्रष्टव्यः ।

अथ सात्त्वती—

सात्त्वती बहुला सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ॥१२८॥
सहर्षा क्षुद्रश्रृङ्गारा विशोका साद्भुता तथा।
उत्थापकोऽथ सांघात्यः संलापः परिवर्त्तकः ॥ १२९ ॥
विशेषा इति चत्वारः सात्त्वत्याः परिकीर्तिताः।
उत्तेजनकरी शत्रोर्वागुत्थापक उच्यते ॥ १३० ॥

यथा महावीरचरिते—

'आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यन्तु ममापि सम्प्रति कुतस्त्वद्दर्शने चक्षुषः।
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नाऽस्मि विषयस्तत् किं वृथा व्याहृतैः ?
अस्मिन् विश्रुतजामदग्न्यदमने पाणौ धनुर्जृम्भताम् ॥'

अथ सात्वतीवृत्तिनिरूपणम्—

अर्थ—(२) इसके बाद (**कैशिकी वृत्ति** के निरूपण के अनन्तर) **सात्वती वृत्ति** (निरूपित की जाती है)।

महानुभावता अथवा अध्यवसाय, बल, दान सामर्थ्य, दया और ऋजुता से युक्त, आनन्द से युक्त, अल्प शृङ्गारभाव वाली, शोक रहित तथा चमत्कार से युक्त (वृत्ति) **सात्वती** (**सत्--सत्वप्रकाशस्तद्यत्रास्ति तत्सत्वं-मनस्तत्र भवा सात्वती**) (कहलाती) है।

टिप्पणी—(१) सारांश यह है कि शोक रहित सत्व, शौर्य, त्याग, दया, ऋजुता तथा हर्षादि भावों से युक्त नायक का व्यापार 'सात्वतीवृत्ति' कहलाता है।

(२) **'सात्वती' और 'कैशिकीवृत्ति' में भेद**—

'सात्वतीवृत्ति' के अन्दर अल्पश्रृङ्गार होने के कारण स्त्रीबहुलता तथा कामोपभोग से रहित होने के कारण तथा वीररस होने से कैशिकी से भेद समझना चाहिये।

अवतरणिका—"**सात्वती वृत्ति** का लक्षण करके इसके चार भेदों का वर्णन करते हैं।

अर्थ—(उस) **सात्वती वृत्ति** के (१) **उत्थापक**, (२) **साघात्य**, (३)**संलाप** और (४) **परिवर्तक**–ये चार भेद (नाट्यशास्त्रकारों ने) कहे हैं।

(१) प्रतिनायक की क्रोध को उद्दीप्त करने वाली अथवा अतिशय उत्साह का प्रवर्तन करने वाली वाणी **उत्थापक** (**उत्थापयति—प्रशमं निवर्त्य युद्धार्थमुद्योजयति शत्रुं योऽभिनयः स तथोक्तः, उपचारात् तत्प्रयोजिका वागपीति यावत्, उच्यते**) कही जाती है।

(**उत्थापक** का उदाहरण) यथा महावीरचरित में—**आनन्दाय चेति**— [**प्रकरण**–श्री राम के प्रति रावण प्रेरित वाली की यह उक्ति है।] मैंने (तुमको प्रिय दर्शन होने के कारण) आनन्द के लिये, (विलक्षण अतिशय सौन्दर्यवान् होने के कारण) विस्मय के लिये अथवा (इसप्रकार के तुमको मुझे मारना है—इस कारण) दुःख के लिये देखा है। किन्तु तुमको देखने में मेरे नेत्रों की तृष्णा का अभाव भी अर्थात् तृप्ति भी कहाँ से ? अर्थात् तृप्ति भी नहीं हो रही है, पौनः पुन्येन तुमको देखने की इच्छा हो रही है। (मैं) तुम्हारी संगति के कारण जो सुख है उसका विषय भी नहीं हूँ अर्थात् तुम्हारी मित्रता के कारण होने वाले सुख का पात्र भी नहीं हूँ—क्योंकि प्रतिपक्षी हूँ। इस कारण से निरर्थक भाषणों से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इस प्रसिद्ध परशुराम के दमन करने वाले हाथ में धनुष को शोभित करो अर्थात् हाथ में धनुष को लो।

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः सांघात्यः सङ्घभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा—मुद्राराक्षसे राक्षससहायानां चाणक्येन स्वबुद्धया भेदनम् । अर्थशक्त्यापि तत्रैव ।

दैवशक्त्या यथा—रामायणे रावणाद्विभीषणस्य भेदः ।

संलापः स्यागद्भीरोक्तिर्नानाभावसमाश्रया ॥ १३१ ॥

टिप्पणी (१) कुछ के अनुसार–परशुराम के आने पर राम के प्रति राजाजनक की यह उक्ति है,—**तथाहि**—धनुर्भङ्ग होने से प्रतिज्ञा की हुई अर्थ की सिद्धि होने से तथा योग्य वर की प्राप्ति के कारण आनन्द, अतिशय पराक्रम को देखने के कारण विस्मय, राम को मारने के लिये परशुराम के आ जाने के कारण दुःख । अतः इस क्षण तुमको देखने में नेत्रों की परितृप्ति कैसे ? बहुत अधिक कहने से क्या लाभ ? क्योंकि वैवाहिक मांगलिक कार्य के सम्पन्न होने से उत्पन्न सुख का मैं विषय नहीं हूँ, अतः परशुराम जी को जीतने के लिये तुम्हारे हाथ में धनुष शोभित हो ।

(२) यहाँ विस्मय के कारण और राम के सौन्दर्य के कारण आनन्दादि होने से विशिष्ट वीररस है ।

(३) यहाँ जीतने के लिये रामचन्द्र जी को उत्तेजित करने के कारण "**उत्थापक**" है ।

अर्थ—(२) (**सांघात्य** का लक्षण) मन्त्रणाशक्ति, अर्थशक्ति और दैवशक्ति आदि से ("आदि' पद से कौशलादि का ग्रहण होता है) सहायकों को पृथक् करना **सांघात्य** नामक सात्वती का भेद (होता) है ।

टिप्पणी—भरतमुनि के अनुसार लक्षण—

मन्त्रार्थवाक्ययुक्त्या दैववशादात्मदोषयोगाद्वा ।

सङ्घातभेदजननस्तज्ज्ञैः साङ्घात्यको ज्ञेयः ॥ इति ॥

अर्थ— (**सांघात्य** का उदाहरण) **मन्त्रशक्ति** से **यथा**—**मुद्राराक्षस** नाटक के अन्दर—राक्षस (मलयकेतु के मन्त्री) के सहायकों का चाणक्य के द्वारा अपनी मन्त्रणा (बुद्धि) से भेदन करना । **अर्थशक्ति** से भी वहीं (**यथा**—पर्वतक के आभूषणों का राक्षस के हाथ में जाने से मलयकेतु के सहायकों का भेदन करना) **दैवशक्ति** से **यथा**—**रामायण में**— रावण से विभीषण का भेद ।

टिप्पणी—यहाँ चाणक्य का सत्व, दानादि अनेक प्रकार से सहायकों का भेदन करने से **सांघात्य** है ।

अर्थ—(३) (संलाप का लक्षण) नाना विषयों की आश्रयभूता गम्भीर अर्थ वाली उक्ति "**संलाप**" नामक सात्वती का भेद होती है ।

यथा वीरचरिते—

'**रामः**—अयं सः यः किल सपरिवारकार्त्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृतः परशुः।

परशुराम–राम दाशरथे ' स एवायमाचार्यपादानां प्रियः परशुः।' इत्यादि।

प्रारब्धादन्यकार्याणां करणं परिवर्तकः।

यथा वेण्याम्—

'**भीमः**—सहदेव, गच्छ त्वं गुरुमनुवर्तस्व। अहमप्यस्त्रागारं प्रविश्यायुध-सहायो भवामीति। अथवा आमन्त्रयितव्यैव मया पाञ्चाली।' इति।

अथारभटी—

(**संलाप** का उदाहरण) **यथा—वीरचरित में—"राम**—(अच्छा), यह वह परशु है, जो पहले परिवार सहित कार्तिकेय को जीतने के कारण प्रसन्न हुये भगवान् महादेव जी ने सैंकड़ों वर्ष पर्यन्त शिष्य आपको दिया था। **परशुराम**—(हाँ)! राम! दाशरथे! यह वही पूज्य महादेव जी का परशु है।" इत्यादि।

टिप्पणी—यहाँ "इत्यादि" पद से निम्न का ग्रहण होता है—

शस्त्रप्रयोगखुरलीकलहे गणानां सैन्यैर्वृतो विजित एव मया कुमारः।
एतावतापि परिरभ्य कृतप्रसादः प्रादादमुं प्रियगुणो भगवान् गुरुर्मे॥

तथा च—दूसरे की कृपा से प्राप्त परशु के कारण गर्व करने से क्या लाभ?

यह रामचन्द्र जी की गम्भीर उक्ति है, तथा—परशुराम के कहने में यह भाव है कि उन्होंने अपनी प्रिय वस्तु भी मुझे दे दी। यहाँ अपने महत्व को बताना ही गम्भीरता है।

(२) यहाँ पर '**सपरिवार**' इसके कहने से "**तुम बड़े वीर हो**", '**परिवत्सर**' इसके कहने से "**तुम बड़े उद्यमी हो**", "**प्रियः**" इसके प्रयोग से परशु अत्यन्त उत्कृष्ट है—इन सबके द्योतन करने के कारण "**संलाप**" है।

अर्थ—(४) (**परिवर्तक** का लक्षण) प्रारब्ध कार्य से अन्य कार्यों के करने को **परिवर्तक** नामक सात्वती भेद (कहते) हैं।

टिप्पणी—परिवर्तयति कर्तारमिति परिवर्तकः।

अर्थ—(**परिवर्तक** का उदाहरण) **यथा—वेणीसंहार में—'भीम'"**—सहदेव! तुम जाओ, युधिष्ठिर का अनुसरण करो, जब तक मैं भी अस्त्रागार में घुसकर शस्त्र धारण कर लूँ, अथवा मुझे द्रौपदी के साथ विचार-विमर्श करना ही चाहिये"। इति।

टिप्पणी—यहाँ प्रारब्ध कार्य युद्ध है, इससे भिन्न "अथवा" इससे द्रौपदी के साथ विचार करने के कारण कार्य के बदल जाने से **परिवर्तक** है।

अथारभटीवृत्तिनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद (**सात्वती** के निरूपण के अनन्तर) **आरभटी** (का निरूपण करते हैं)।

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥ १३२ ॥
संयुक्ता बधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता ।
वस्तूत्थापनसंफेटौ संक्षिप्तिरवपातनम् ॥ १३३ ॥
इति भेदास्तु चत्वार आरभट्याः प्रकीर्तिताः ।
मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमुच्यते ॥ १३४ ॥

यथोदात्तराघवे—

'जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-
भास्वन्तः सकला रवेरपि कराः कस्मादकस्मादमी ।
एते चोग्रकबन्धकण्ठरुधिरैराध्मायमानोदरा
मुञ्चन्त्याननकंदरानलमुचस्तीव्रान् रवान् फेरवाः ॥' इत्यादि ।

अर्थ–(**आरभटी** का लक्षण) माया, इन्द्रजाल (परस्पर विरुद्ध अनेक प्रकार की वस्तुओं का दिखाना तथा विस्मयजनक व्यापार विशेष), युद्ध, क्रोध के कारण उद्भ्रान्त (अधीरता से कार्य को करना) आदि ('आदि' पद से साहसादिकों का ग्रहण होता है) व्यापारों से, (तथा) वध, बन्धनादिकों से युक्त उद्धत (उग्रवृत्ति) **आरभटी** (**आरभेण प्रतोदेन तुल्या भटा-उद्धताः पुरुषाः आरभटास्ते सन्त्यस्यामिति आरभटी**) मानी गई है।

टिप्पणी—(१) **माया** का लक्षण "असतो वस्तुनो **माया** सद्रूपोद्भावना तथा ।"

(२) **इन्द्रजाल** का लक्षण—

इन्द्रजालः स्थितार्थस्य मन्त्रचूर्णौषधादिभिः ।
अदर्शनमथारोक्ष्यमन्यथा कृतिरुच्यते ॥ इति ॥

अर्थ—(**आरभटी** के भेदों का परिगणन) **आरभटी** के (१) **वस्तूत्थापन**, (२) **सम्फेट**, (३) **संक्षिप्त** और (४) **अवपातन**—ये चार भेद कहे है ।

अर्थ—(१) **वस्तूत्थापन** का लक्षण) मायादि से ('आदि' पद से तपः प्रभावादि का ग्रहण होता है) उत्पन्न की हुई वस्तु को **वस्तूत्थापन** नामक आरभटी का भेद कहते हैं ।

(**वस्तूत्थापन** का उदाहरण) **यथा—उदात्तराघव में—जीयन्ते इति**—
[**प्रकरण**—माया के प्रभाव को देखते हुये किसी मायिक की उक्ति है। अकस्मात् (बिना किसी कारण के) आकाश को व्याप्त करने वाले प्रगाढ़ अन्धकार के समूहों से सबका तिरस्कार करने वाली देदीप्यमान सम्पूर्ण ये सूर्य की किरणें भी तिरस्कृत हो रही हैं (ढक रही हैं)। और ये शृगाल (**'फे' इत्यव्यक्तो रवो येषां ते तथोक्ता फेरवाः**) भीषण शिर रहित शरीरों के कण्ठ के रुधिरों से पूर्ण हो रहे हैं अथवा ईषद् दह्यमान हैं जठर जिनके ऐसे (तथा) मुखरूपी कन्दरा से अग्नि को छोड़ने वाले तीव्र शब्दों को कर रहे हैं ।

सम्फेटस्तु समाघातः क्रुद्धसत्वरयोर्द्वयोः ।

यथा मालत्यां माधवाघोरघण्टयोः ।

संक्षिप्ता वस्तुरचना शिल्पैरितरथापि वा ॥ १३५ ॥

संक्षिप्तिः स्यान्निवृत्तौ च नेतुर्नेत्रन्तरग्रहः ।

यथोदयनचरिते कलिञ्जहस्तिप्रयोगः । द्वितीयं यथा वालिनिवृत्त्या सुग्रीवः । यथा वा परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनम् 'पुण्या ब्राह्मणजातिः—'इति ।

टिप्पणी—(१) यहाँ परस्पर विरुद्ध मिथ्या अन्धकार तथा सूर्य किरणों के दिखाने से इन्द्रजालादि वस्तुओं का उत्थापन माया से किया गया है, अतः **वस्तूत्थापन** है । तथा "**रौद्ररस**" है ।

(२) इन्द्रजाल से उत्थापित वस्तु का उदाहरण—

एष ब्रह्मा सरोजे रजनिकरकलाशेखरः शंकरोऽयम्
दोर्भिर्दैत्यान्तकोऽसौ सधनुरसिगदाचक्रचिह्नैश्चतुर्भिः ।
एषोऽप्यैरावतस्थस्त्रिदशपतिरमी देवि ! देवास्तथान्ये
नृत्यन्ति व्योम्नि चैताश्चलचरणरणन्नूपुरा दिव्यनार्यः ॥

अर्थ—(२) (**सम्फेट** का लक्षण) क्रुद्ध और शीघ्रता से युक्त दोनों का परस्पर सम्यक् प्रहार **सम्फेट** नामक आरभटी का भेद (होता) है ।

(**सम्फोट** का उदाहरण) **यथा**—**मालती माधव** (के पञ्चम अङ्क) में—माधव और अघोरघण्ट का (युद्ध) ।

टिप्पणी—(१) इस कथानक के अन्दर मालती को चण्डिका के लिये बलि चढ़ाने में तत्पर अघोरघण्ट को देखकर माधव शीघ्रता के साथ—"**अलम् दुरात्मन् ! अपेहि प्रतिहतोऽसि कापालिकापसद**" प्रबिष्ट होता है । पुनः उन दोनों की क्रुद्धता, शीघ्रता और परस्पर प्रहरोक्ति स्पष्ट ही है । इसीप्रकार रामायण के अन्दर लक्ष्मण और इन्द्रजित् का पारस्परिक युद्ध ।

अर्थ—(३) (**संक्षिप्ति** का लक्षण) शिल्प अर्थात् विलक्षण वस्तु निर्माण के कौशल से, अथवा शिल्प से भिन्न किसी अन्य प्रकार से वस्तु की संक्षिप्त रचना **संक्षिप्ति** होती है । तथा नायक के (अपने व्यापार से) निवृत्त हो जाने पर अन्य नायक का ग्रहण "**संक्षिप्ति**" होता है ।

टिप्पणी—भिन्न नायक का ग्रहण दो प्रकार से होता है—(१) व्यक्ति भेद से और (२) धर्म भेद से ।

अर्थ—(**संक्षिप्ति** का उदाहरण) **यथा**—**उदयनचरित** में—काष्ठ के हाथी का प्रयोग । [यहाँ वास्तविक हस्ति रूप पात्र की निवृत्ति होने पर शिल्प के द्वारा काष्ठ निर्मित हाथी का आविर्भाव हुआ है । अतः यहाँ पर काष्ठमय हाथी की रचना के कारण "**संक्षिप्ति**" है ।] दूसरा (उदाहरण) **यथा**—बालि के निवृत्त होने से सुग्रीव । [यहाँ बालिरूप पात्र के निवृत्त होने पर व्यक्ति भेद से सुग्रीव रूप पात्र के आ जाने से "**संक्षिप्ति**" है] (**धर्म भेद से दूसरे पात्र का ग्रहण**" का उदाहरण) **यथा**—परशुराम के उद्धत स्वभाव के निवृत्त हो जाने से शान्त भाव का ग्रहण करना **पुण्या 'ब्राह्मणजातिः'** । इति ।

प्रवेशत्रासनिष्क्रान्तिहर्षविद्रवसंभवम् ॥ १३६ ॥
अवपातनमित्युक्तं—

यथा कृत्यरावणे षष्ठेऽङ्के—'(प्रविश्य खड्गहस्तः पुरुषः)' इत्यतः प्रभृति निष्क्रमणपर्यन्तम् ।

—पूर्वमुक्तैव भारती ।

अथ नाटचोक्तयः—

अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम् ॥ १३७ ॥
सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्तद्भवेदपवारितम् ।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ॥ १३८ ॥

टिप्पणी—"पुण्या ब्राह्मणजातिः" यह पूरा श्लोक इसप्रकार है—

पुण्या ब्राह्मणजातिरन्वयगुण शास्त्रं चरित्रं च मे
येनैकेन हतान्यमूनि हरता चैतन्यमात्रामपि ।
एकः सन्नपि भूरिदोषगहनं सोऽयं त्वया प्रेयसा
वत्स ! ब्राह्मणवत्सलेन शमितः क्षेमाय दर्पामयः ॥

यहाँ पर उद्धत स्वभाव के निवृत्त हो जाने से शान्तता का कथन करने से **धर्मभेद** के कारण अन्य नायक का ज्ञान होने से "**संक्षिप्ति**" है । और उद्धतकालीन **रौद्ररस** है ।

अर्थ—(४) (**अवपातन** का लक्षण) प्रवेश, भीति, निष्क्रमण, हर्ष और पलायन की उत्पत्ति को **अवपातन** नामक आरभटी का भेद (नाट्य विद्वान्) कहते हैं ।

(**अवपातन** का उदाहरण) **यथा**—**कृत्यरावण** के षष्ठ अङ्क में—("हाथ में तलवार लिये हुये पुरुष प्रविष्ट होकर") यहाँ से लेकर निकल जाने तक ।

टिप्पणी—यथा वा—रत्नावली में—

कण्ठे कृत्वावशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादामकर्षन्
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलावलचरणवलत्किङ्किणीचक्रवालः ।
दत्तातङ्को गजानामनुसृतसरणिः सम्भ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरातः ॥

यहाँ से लेकर "नष्टं वर्षवरैः" यहाँ तक ।

अर्थ—(४) "**भारती नामक वृत्ति**" ["**भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः**"] पहले ही (स्थापक के कर्तव्यों के कथन के अवसर पर) कही जा चुकी है ।

अथ नाट्योक्तिनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद (**कैशिकी** आदि चार वृत्तियों के निरूपण के अनन्तर) **नाटक की उक्तियों** का (नाटक की परिभाषा विशेषों का वर्णन करते हैं) ।

जो वाक्य (वस्तु) दूसरे पात्रों के श्रवण के योग्य नहीं होता है, दृश्यकाव्य में (इह) वह (वाक्य) **स्वगत** (**स्वस्मिन्-आत्ममात्रे गतं—प्रत्यक्षत्वेन स्थितमिति स्वगतम्**) माना गया है । [नाटक में जिस उक्ति के साथ "स्वगतम्" लिखा रहता है उसे वह पात्र अपने मन में ही कहता है, दूसरे पात्र से नहीं किन्तु इसप्रकार कहता है कि सामाजिक सुन लें ।] सभी के द्वारा सुनने योग्य (जो वाक्य होता है उसे (**सर्वेषु प्रकाशते—प्रत्यक्षीभवतीति प्रकाशम्**) "**प्रकाश**" कहते हैं । (किसी दूसरे पात्र को)

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् ।। १३९।।
किं ब्रवीषीति यन्नाटचे विना पात्रं प्रयुज्यते ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ।। १४० ।।

यः कश्चिदर्थो यस्माद्गोपनीयस्तस्यान्तरत ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलिनामितानामिकं त्रिपताकलक्षणं करं कृत्वान्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकम् । परावृत्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितम् । शेषं स्पष्टम् ।

दत्तां सिद्धां च सेनां च वेश्यानां नाम दर्शयेत् ।
दत्तप्रायाणि वणिजां चेटचेट्योस्तथा पुनः ।। १४१ ।।
वसन्तादिषु वर्ण्यस्य वस्तुनो नाम यद्भवेत् ।

पीछे करके पराङ्मुख होकर अथवा दूसरे स्थान पर जाकर दूसरे व्यक्ति के सामने जो गुप्त वस्तु कही जाती है, वह "अपवारित" [**स्थानान्तरं गत्वा-न्यजनस्य श्रवणो बाधितमिति अपवारितम्**] होती है । त्रिपताक के समान हाथ से दूसरे मनुष्यों को वचा कर कथा के बीच में पात्रसमूह के बीच में ही जो परस्पर गुप्त वार्तालाप है, वह "**जनान्तिक**" होता है । अभिनय में पात्र के विना न कही हुई भी बात को सुनने के समान अभिनय करके "क्या कहते हो ?" ऐसा जो कहा जाता है, वह "**आकाश-भाषित**" [**आकाशे-शून्ये लक्ष्यपात्राभावात् भाषितम् आकाशभाषितम्**] होता है ।

टिप्पणी—महर्षि भरतमुनि ने "**त्रिपताक**" का लक्षण इसप्रकार दिया है—

प्रसारिताः समाः सर्वा यस्यांगुल्यो भवन्ति हि ।

कुञ्चितं च तथांगुष्ठः स **पताक** इति स्मृतः ।। ऐसा कहकर

पताके तु यदा वक्राऽनामिका त्वङ्गुलिर्भवेत् । त्रिपताकः स विज्ञेयः इति ।

अर्थ—('त्रिपताक' इत्यादि की व्याख्या करते हैं) जो कोई बात (**अर्थः**) जिससे छिपानी है, उसके बीच में ऊपर उठाई हुई सभी अंगुलियों के बीच में अनामिका अंगुली को भुकाकर **त्रिपताक** लक्षण वाले हाथ को करके दूसरे के साथ जो मंत्रणा की जाती है, वह '**जनान्तिक**' है । घूमकर अन्य व्यक्ति को रहस्य बात का कहना '**अपवारित**' है । शेष ('अश्राव्य' इत्यादि) स्पष्ट हैं ।

अथ पात्रनामनिरूपणम्—

अर्थ—वेश्याओं के नाम (नाटकों में) दत्ताशब्दान्त, सिद्धाशब्दान्त और सेनाशब्दान्त दिखाने चाहिये । [**यथा—कामदत्ता, मदनसेना** इत्यादि]; वैश्यों के (नाम) अधिकांश के दत्तशब्दान्त (होने चाहिये; **यथा—धर्मदत्तो नाम वणिक्**) । ['**प्रायः**' शब्द से कहीं व्यभिचार भी दिखाई देता है । यथा—शाकुन्तल में—'**धनवृद्धिर्नाम वणिक्**' **इति**] तथा वसन्तादि (ऋतुओं) में वर्णनीय वस्तु जो नाम हो (यथा—कलहंसादि), वह चेट और चेटी का (नाम) होना चाहिये ।

वेश्या यथा वसन्तसेनादिः । वणिग्विष्णुदत्तादिः । चेटः कलहंसादिः । चेटी मन्दारिकादिः ।

नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम् ॥ १४२ ॥

यथा रामाभ्युदयादिः ।

नायिकानायकाख्यानात्संज्ञा प्रकरणादिषु ।

यथा मालतीमाधवादिः ।

नाटिकासट्टकादीनां नायिकाभिर्विशेषणम् ॥ १४३ ॥

यथा रत्नावली-कर्पूरमञ्जर्यादिः ।

प्रायेन ण्यन्तकः साधिर्गमेः स्थाने प्रयुज्यते ।

यथा शाकुन्तले–ऋषी, 'गच्छावः' इत्यर्थे 'साधयावस्तावत्' ।

अर्थ–(उदाहरण देते हैं) **वेश्या यथा—वसन्तसेनादि । वणिक्**—विष्णुदत्तादि । **चेट**—कलहंसादि । [वसन्त समय में कलहंस के वर्णनीय होने के कारण मालतीमाधव में माधव के दास का नाम कलहंस है ।] चेटी—मन्दारिकादि । [शीतकाल में मन्दारपुष्प के विकसित होने के कारण वर्णनीय होने से मालतीमाधव के अन्दर ही विहार की दासी का नाम मन्दारिका है ।]

अथ नाटकनामनिरूपणम्—

अर्थ—गर्भ सन्धि से सूचित अर्थ का प्रकाशक नाटक का नाम (कवि के द्वारा) रखा जाना चाहिये । **यथा—रामाभ्युदयादि ।**

प्रकरणादिकों में (**'आदि'** पद से **भाणादि** का ग्रहण होता है) नायिका और नायक के नाम से अथवा नायिका के सहित नायक के नाम से नाम (करना चाहिये) । **यथा—मालतीमाधवादि** ।

टिप्पणी—कहने का तात्पर्य यह है कि नायिका और नायक दोनों के नाम से ही प्रकरणादिकों का नाम करना चाहिये । परन्तु यह प्रायिक है—अतः **"सौगन्धिकाहरण"** आदि भी नाम हो जाते हैं । इसीप्रकार से चारुदत्त और वसन्तसेना का आश्रय लेकर भी प्रकरण का नाम नाटक की तरह **मृच्छकटिक'** रख दिया है ।

अर्थ—नाटिका और सट्टकादिकों के (**'आदि'** पद से नाट्य और रासकादिकों का ग्रहण होता है) नायिका के नाम से विशिष्ट (अन्य दृश्यकाव्यों से पृथक्) करना चाहिये अर्थात् नायिका के नाम से ही नाम करना चाहिये । **यथा—**रत्नावली नाटिका **और** कर्पूरमंजर्यादि ।

(गत्यर्थक) **'गम्'** धातु के स्थान पर प्रायः (सर्वत्र नहीं) णि प्रत्ययान्त **'साध'** धातु (कवियों के द्वारा) प्रयुक्त होती है । **यथा—शाकुन्तल** में—ऋषियों ने (शार्ङ्गरव और शारद्वत नामक दो ऋषियों ने) **'गच्छावः'** इसके स्थान पर **'साधयावः'** (यह प्रयोग किया है) ।

टिप्पणी—(१ **'गम्'** धातु के स्थान पर णि प्रत्ययान्त **'साध'** धातु का प्रयोग नाटक के अन्दर ही हो सकता है । इससे भिन्न स्थान पर प्रयोग करने पर **अवाचकत्व** दोष समझना चाहिये ।

राजा स्वामीति देवेति भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥ १४४॥
राजर्षिभिर्वयस्येति तथा विदूषकेण च।
राजन्नित्यृषिभिर्वाच्यः सोऽपत्यप्रत्ययेन च ॥१४५॥
स्वेच्छया नामभिर्विप्रैर्विप्र आर्येति चेतरैः।
वयस्येत्यथवा नाम्ना वाच्यो राज्ञा विदूषकः ॥१४६ ॥
वाच्यौ नटीसूत्रधारावार्यनाम्ना परस्परम्।
सूत्रधारं वदेद्भाव इति वै पारिपार्श्विकः ॥ १४७ ॥
सूत्रधारो मारिषेति हण्डे इत्यधमैः समाः।

---

(२) **'प्रायेण'** इसके प्रयोग से **'सुहं चिट्ठउ अज्जउत्तो। अहं गमिस्सम्'**। ऐसा कहकर उठकर चला जाता है, इसप्रकार 'रत्नावली' में गम् धातु का प्रयोग भी है।

अथ पात्रसम्बोध्यत्वप्रकारनिरूपणम्—

अवतरणिका—नाटक में परस्पर पात्रों के व्यवहार में प्रयोजनीय शब्दों का निर्देश करते हैं।

अर्थ—(सचिवादि) भृत्यों के द्वारा राजा 'स्वामी' इसप्रकार, 'देव' इसप्रकार कहना चाहिये अर्थात् स्वामीपद से अथवा देव पद से सम्बोधन करना चाहिये अथवा विशेषित करना चाहिये, नीच पात्रों के द्वारा 'भट्ट' इसप्रकार कहना चाहिये अर्थात् भट्ट पद से सम्बोधन करना चाहिये अथवा विशेषित करना चाहिये। तथा अन्य राजाओं के द्वारा और विदूषक के द्वारा 'वयस्य' इसप्रकार (कहना चाहिये), ऋषियों के द्वारा वह (राजा) 'राजन्' इसप्रकार और अपत्य प्रत्ययान्त पद से (**यथा—दाशरथे ! पौरव ! पाण्डव**।) कहा जाना चाहिये।

(यह अपत्य प्रत्ययान्त पद पुत्रादि सम्बन्धी पद का उपलक्षण है। **अतः** 'रघुनन्दन' इसप्रकार भी कह दिया जाना चाहिये।)

ब्राह्मण-ब्राह्मण के द्वारा स्वेच्छा से अर्थात् अपत्य प्रत्ययान्त पद से अथवा नाम से, अन्यों के द्वारा अर्थात् क्षत्रियादिकों के द्वारा (ब्राह्मण) "आर्य इस प्रकार कहा जाना चाहिये। [**अतएव—**अनर्घराघवादि में "विश्वामित्र" इति, कौशिक इति, कुशिकनन्दन इत्यादि सम्बोधनों के द्वारा शतानन्द ने विश्वामित्र को सम्बोधित किया है।] राजा के द्वारा विदूषक "वयस्य" इति अथवा नाम से कहा जाना चाहिये। नटी और सूत्रधार आपस में आर्य नाम से अर्थात् नटी सूत्रधार को "आर्य" इति, और सूत्रधार नटी को "आर्या" इस रूप से व्यवहार करें। **पारिपार्श्विक** (**परि-समन्तात् सूत्रधारस्य चरतीति पारिपार्श्विकः**—सूत्रधार से भिन्न नट) सूत्रधार को "**भाव**" इसप्रकार कहे। सूत्रधार (परिपार्श्विक को) "मारिष" इति [**न हि—र्नास्त—नाशयति सामाजिकानां शान्तिमिति मारिषः**] (कहे), अधम मनुष्यों के द्वारा अपने समान मनुष्य "हण्डे" इस-प्रकार (कहे जाने चाहिये)।

वयस्येत्युत्तमैर्हंहो मध्यैरार्येति चाग्रजः ॥ १४८ ॥
भगवन्निति वक्तव्याः सर्वैर्देवर्षिलिङ्गिनः ।
वदेद्राज्ञीं च चेटीं च भवतीति विदूषकः ॥ १४९ ॥
आयुष्मन् रथिनं सूतो वृद्धं तातेति चेतरः ।
वत्स पुत्रकतातेति नाम्ना गोत्रेण वा सुतः ॥ १५० ॥
शिष्योऽनुजश्च वक्तव्योऽमात्य आर्येति चाधमैः ।
विप्रैरयममात्येति सचिवेति च भण्यते ॥ १५१ ॥
साधो इति तपस्वी च प्रशान्तश्चोच्यते बुधैः ।
सुगृहीताभिधः पूज्यः शिष्याद्यैर्विनिगद्यते ॥ १५२ ॥
उपाध्यायेति चाचार्यो महाराजेति भूपतिः ।
स्वामीति, युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः ॥ १५३ ॥
भद्रसौम्यमुखेत्येवमधमैस्तु कुमारकः ।
वाच्या प्रकृतिभी राज्ञः कुमारी भर्तृदारिका ॥ १५४ ॥

उत्तम मनुष्यों के द्वारा (अपने समान मनुष्य) "वयस्य" इसप्रकार (कहे जाने चाहियें) और (छोटे भाई के द्वारा) बड़ा भाई "आर्य" इसप्रकार (कहा जाना चाहिये), देव, ऋषि और लिङ्गी अर्थात् दण्ड-कमण्डलु को धारण करने वाले ब्रह्मचारी तथा संन्यासी प्रभृति सभी (व्यक्तियों) के द्वारा "भगवन्" इसप्रकार कहे जाने चाहिये ।

अर्थ–विदूषक रानी को और चेटी को(रानी कीसहचरी को) "भवती"इसप्रकार कहे । सारथी रथी को "आयुष्मन्" (कहे), दूसरे मनुष्य (युवा और बालकवृद्ध) को "तात" इसप्रकार (कहें), पुत्र (पिता के द्वारा), शिष्य (गुरु के द्वारा), छोटा भाई (बड़े भाई के द्वारा) "वत्स" इति, "पुत्रक" इति, "तात" इति, नाम के द्वारा अथवा अपत्य प्रत्ययान्त पद के द्वारा कहा जाना चाहिये । अधम मनुष्यों के द्वारा अमात्य "आर्य" इसप्रकार (कहा जाना चाहिये) । यह (अमात्य) ब्राह्मणों के द्वारा "अमात्य" इति और "सचिव" इसप्रकार कहा जाता है । तपस्वी और वीतराग (मनुष्य) विद्वानों के द्वारा "साधो" इसप्रकार कहा जाता है । पूज्य (मनुष्य) शिष्यादि के द्वारा ("आदि" पद से मातृ और पुत्रादिकों का ग्रहण होता है) अपनी इच्छा से प्रयुक्त पूज्यता का प्रकाशक नाम (यथा—"भगवन्", "महाभाग" इत्यादि) कहा जाता है । (शिष्यों के द्वारा) आचार्य (**"उपनीय ददत् वेदमाचार्यः स उदाहृतः"**) "उपाध्याय" इसप्रकार(कहा जाना चाहिये),राजा(प्रजाओं के द्वारा)"महाराज"इति, अथवा "स्वामी", इति (कहा जाता है) । युवराज (मध्यम मनुष्यों के द्वारा)"कुमार" अथवा "भर्तृदारक" (कहा जाना चाहिये) । अधम मनुष्यों के द्वारा युवराज "सौम्य", अथवा **"भद्रमुख"** इसप्रकार(कहा जाना चाहिये) । राजा की कन्या प्रजाओं के द्वारा "भर्तृदारिका" कही जानी चाहिये । [नाटक से अन्यत्र कादम्बरी में तरलिका ने महाश्वेता को सम्बोधन "भर्तृदारिके"! किया है, वह केवल प्रयोग की मधुरता के लिये समझना चाहिये ।]

पतिर्यथा तथा वाच्या ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः ।
हलेति सदृशी, प्रेष्या हञ्जे वेश्याज्जुका तथा ।। १५५।।
कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या च जरती जनैः ।
आमन्त्रणैश्च पाषण्डा वाच्याः स्वसमयागतैः ।। १५६।।
शका शक्यादयश्च संभाष्या भद्रदत्तादिनामभिः ।
यस्य यत्कर्म शिल्पं वा विद्या वा जातिरेव वा ।। १५७ ।।
तेनैव नाम्ना वाच्योऽसौ ज्ञेयाश्चान्ये यथोचितम् ।

अथ भाषाविभागः—

अर्थ—ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम पुरुषों के द्वारा स्त्रियाँ उसीप्रकार सम्बोधित की जानी चाहिये जैसे (उनके) पति [सम्बोधित किये जाते हैं अर्थात् उत्तम पुरुष उत्तम के द्वारा "वयस्य" इति, मध्यम व्यक्ति के द्वारा मध्यम मनुष्य "हंहो" इति, तथा अधम व्यक्ति के द्वारा अधम व्यक्ति "हण्डे" इसप्रकार कहा जाना चाहिये उसी प्रकार स्त्रियां कही जानी चाहिये—यथा—ज्येष्ठ स्त्री के द्वारा ज्येष्ठ स्त्री, "वयस्या" इति, मध्यम स्त्री के द्वारा मध्यम स्त्री 'हंहो', इति तथा अधम स्त्री के द्वारा अधम स्त्री "हण्डे" इसप्रकार कही जानी चाहिये ।] अपने समान स्त्री "हला", दासी "हञ्जे" तथा वेश्या "अज्जुका" इसप्रकार (कही जानी चाहिये) कुट्टिनी सेवकों के द्वारा "अम्बा" इति, पूज्या और वृद्धा स्त्री मनुष्यों के द्वारा "अम्बा" (कही जानी चाहिये)। पाखण्डी (शकारादि व्यक्ति अपने संकेत के अनुसार (कापालिक इत्यादि) सम्बोधन पदों के द्वारा सम्बोधित किये जाने चाहिये ।

[उक्तञ्च—

पालनाच्च त्रयी धर्मः पा शब्देन निगद्यते ।

तंखण्डयन्ति ये यस्यात् पाखण्डास्तेन हेतुना ।। इति]

शक यवनादि जातियाँ भद्र, दत्ते, आदि नामों के द्वारा कही जानी चाहिये । जिसका जो कर्म (मालाकरणादि), अथवा शिल्प (कला विज्ञान), अथवा विद्या (मीमांसादि), अथवा जाति (ब्राह्मणादि) है, उसी के अनुसार नाम से वह (मालाकारादि) कहा जाना चाहिये । [यथा—मालाकार ! तार्किक ! चार्वाक इत्यादि पदों से सम्बोधन करना चाहिये ।] (इनसे भिन्न) दूसरे (मित्रादि) यथायोग्य समझने चाहिये । [अर्थात् शाक्य भिक्षु को "भदन्त", भगिनीपति को "आवुत्त", पिता को 'आवुक", राजा के साले को "राष्ट्रिय" इसप्रकार यथा शास्त्र सम्बोधन किये जाने चाहिये ।]

अथ भाषाविभागनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद (पात्रसम्बोध्यत्वप्रकारनिरूपण के अनन्तर) भाषाओं का विभाग (करते हैं) ।

टिप्पणी—(१) महर्षिणा चात्र विशेषो दर्शितः—तथा च
मागध्य[1] वन्त्यजा[2] प्राच्या[3] शूरसेन्य[4]र्धमागधी ।
वाह्लीका[6] दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ।। इति ।।
(२) रुद्रट के अनुसार—
प्राकृत[1]संस्कृत[2]मागध[3] पिशाच[4] भाषाश्च शूरसेनी च[5] ।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्रंशः[6] ।। इति ।।

पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतात्मनाम् ॥ १५८ ॥
शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम् ।
आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत् ॥ १५९ ॥
अत्रोक्ता मागधी भाषा राजान्तःपुरचारिणाम् ।
चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठानां चार्धमागधी ॥ १६० ॥
प्राच्या विदूषकादीनां, धूर्तानां स्यादवन्तिजा ।
योधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या हि दीव्यताम् ॥ १६१ ॥
शबराणां शकादीनां शाबरीं संप्रयोजयेत् ।
बाह्लीकभाषोदीच्यानां द्राविडी द्राविडादिषु ॥ १६२ ॥
आभीरेषु तथाभीरी चाण्डाली पुक्कसादिषु ।
आभीरी शाबरी चापि काष्ठपात्रोपजीविषु ॥ १६३ ॥

अर्थ—इसमें (दृश्य काव्य के अन्दर) नीच मनुष्यों से भिन्न अर्थात् उत्तम और मध्यम विद्वानों की (भाषा) "संस्कृत" होनी चाहिये । [इसीलिये शाकुन्तलादि में विद्वान् दुष्यन्तादिकों की भाषा तथा सारथी आदि मध्यम व्यक्तियों की भाषा "संस्कृत" है । तथा उसी नाटक के अन्दर राजपुरुष के शिक्षित होने पर भी नीचे होने से "संस्कृत" भाषा नहीं है ।] और उसीप्रकार की अर्थात् उत्तम और मध्यम स्त्रियों की "शौरसेनी"[१] (भाषा) का प्रयोग करना चाहिये । (और) इन्हीं की ही अर्थात् उत्कृष्ट नारियों की श्लोकों में अथवा संगीत में (गाथासु) "महाराष्ट्री"[२] (भाषा) का (कवि को) प्रयोग करना चाहिये । इसमें (नाटकादि में) राजा के अन्तःपुर में विचरण करने वालों (वामनादिकों) की (नाट्यज्ञों ने) "मागधी भाषा" कही है । भृत्यों की, राजपुत्रों की और धनी वैश्यों की "अर्धमागधी भाषा" (कही) है । "साहित्यकौमुदी" में कहा है कि—"राजपुत्रादिभाषा तु मागध्या स्वानुरूपतः", इति । 'स्वानुरूपतः—स्वस्य यस्मिन् देशे जन्मादि तदनुरूपतामाश्रित्य" इति ।] विदूषकादिकों की ("आदि" पद से राजसुत और उपमात्रादिकों का ग्रहण होता है) "गौडीया भाषा" (प्राच्या) धूर्त व्यक्तियों की "अवन्तिजा भाषा" (अवन्तिदेशोत्पन्नभाषा) होती है । वीर योद्धाओं, नागरिक आदिकों की तथा जुआरियों की "वैदर्भी भाषा" (दक्षिणात्या) ! शबरों की (पर्वतीय भिल्ल किरातों की) शक-यवनादिकों की "शावरी भाषा" का प्रयोग करना चाहिये । उत्तर देश निवासियों की (अर्थात् नागप्रभृति जातियों की) "वाह्लीक भाषा का अभिनय करना चाहिये) "वाह्लीक भाषा" (अर्थात् वाह्लीक देशोत्पन्न मनुष्यों की भाषा का अभिनय करना चाहिये) वाह्लीक देश—[गान्धार देश से लेकर उत्तर-पश्चिम दिशा तक फैला हुआ है ।] द्रविड़ादि पात्रों में "द्राविड़ी भाषा" (का प्रयोग करना चाहिये) । तथा अहीरादि पात्रों में "आभारी भाषा", चाण्डाल विशेष पात्रों में (पुक्कसादिषु) "चाण्डाली भाषा", काष्ठ पात्र से जीविका चलाने वाले पात्रों में (अर्थात् बढ़ई आदि पात्रों में) और पत्रावली विक्रय कर जीविका चलाने वाले पात्रों में (क्रमशः) "आभीरी" और "शावरी भाषा" (का प्रयोग करना चाहिये) ।

तथैवाङ्गारकारादौ पैशाची स्यात्पिशाचवाक् ।
चेटानामप्यनीचानामपि स्यात्सौरसेनिका ॥ १६४ ॥
बालानां षण्डकानां च नीचग्रहविचारिणाम् ।
उन्मत्तानामातुराणां सैव स्यात्संस्कृतं क्वचित् ॥ १६५॥
ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्योपद्रुतस्य च ।
भिक्षुवल्कधरादीनां प्राकृतं संप्रयोजयेत् ॥१६६ ॥
संस्कृतं संप्रयोक्तव्यं लिङ्गिनीषुत्तमासु च ।
देवीमन्त्रि सुता वेश्यास्वपि कैश्चित्तथोदितम् ॥ १६७ ॥
यद्देश्यं नीचपात्रं तु तद्देश्यं तस्य भाषितम् ।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः॥ १६८ ॥
योषित्सखीबालवेश्याकितवाप्सरसां तथा ।
वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा ॥ १६९॥

अर्थ—अङ्गारकारादि (लुहारादि-लोह पात्रादि के निर्माण से जीविका धारण करने वाले) "आदि" पद से चर्मकारादिकों का ग्रहण होता है) पात्रों में उसीप्रकार की ही अर्थात् "आभीरी अथवा शावरी" भाषा,पिशाचों की(देवयोनि विशेषों की)भाषा पैशाची होनी चाहिये । उत्तम और मध्यम (अनीचानाम्) सेविकाओं की भी "शौरसेनी भाषा" होती है। बालकों की, नपुंसकों की और अधम ज्योतिषियों की, विक्षिप्तों की और आतुरों की वही अर्थात् "शौरसेनी भाषा" ही होती है (किन्तु) कहीं कहीं (इनकी) 'संस्कृत भाषा' (भी होती है)। ऐश्वर्य से उन्मत की, दरिद्रता से अभिभूत की, भिक्षुक की (तथा) वल्कल वस्त्र को धारण करने वाले संन्यासादिकों की ('आदि' पद से बौद्ध और जैन संन्यासियों का भी ग्रहण होता है) प्राकृत भाषा' का (शौरसेनी आदि से लेकर द्राविडी भाषा पर्यन्त भाषाओं में से कोई एक अथवा महाराष्ट्री) प्रयोग करना चाहिये । संन्यासादि चिह्नों को धारण करने वाली उच्च जातीय नारियों में (कवि स्वेच्छा से) 'संस्कृत भाषा' का प्रयोग करना चाहिये । कुछ (आचार्यों) ने रानी, अमात्य कन्या और वेश्या इनमें भी वैसा ही अर्थात् (संस्कृत भाषा का प्रयोग करना चाहिये—ऐसा) कहा है । नीच पात्र (तन्तुवायादिक) जिस देश का हो, उसी देश की उसकी भाषा (होनी चाहिये) कर्म के अनुसार उत्तमादिकों (नायिका स्त्रियों की) की (पूर्वोक्त) भाषा का विपर्यय कर देना चाहिये [इसीलिये उत्तम होने पर भी राजा के अन्तःपुर के अन्दर कार्य करने पर मागधी होनी चाहिये, संस्कृत भाषा नहीं । अतएव अनर्घराघवादि में राजपुत्र भी रामचन्द्रादि के उत्तम कार्य करने के कारण संस्कृत का ही प्रयोग किया है, अर्धमागधी का नहीं] स्त्री, (नायिका या नायिका की सखी) बालक (राजपुत्रादि) वेश्या, धूर्त और अप्सराओं की विदग्धता के ज्ञापन के लिये (उन उन भाषाओं के) बीच-बीच में 'संस्कृत' का प्रयोग करना चाहिये । [**यथा—मालतीमाधव** में मालती की सखी—**यथा**—"**ज्वलतु गगने रात्रिरिति**' । **वहीं पर** (**मालतीमाधव में**) **लवङ्गिका**—"दय तथा नाम" इत्यादि । **अनर्घराघव में यथा**—बाल राम का । **मृच्छकटिक** के अन्दर वसन्तसेना वेश्या—"**गर्ज वा वर्ष वा**" **इत्यादि**]

एषामुदाहरणान्याकरेषु बोद्धव्यानि। भाषालक्षणानि मम तातपादानां भाषार्णवे।

षट्त्रिंशल्लक्षणान्यत्र, नाट्यालंकृतयस्तथा।
त्रयस्त्रिंशत्प्रयोज्यानि वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥ १७० ॥
लास्याङ्गानि दश यथालाभं रसव्यपेक्षया।

यथालाभं प्रयोज्यानीति सम्बन्धः। अत्रेति नाटके।

तत्र लक्षणानि—

भूषणाक्षरसंघातौ शोभोदाहरणं तथा ॥ १७१ ॥
हेतुसंशयदृष्टान्तास्तुल्यतर्कः पदोच्चयः।
निदर्शनाभिप्रायौ च प्राप्तिर्विचार एव च ॥ १७२ ॥
दिष्टोपदिष्टे च गुणातिपातातिशयौ तथा।
विशेषणनिरुक्ती च सिद्धिर्भ्रंशविपर्ययौ ॥ १७३ ॥
दाक्षिण्यानुनयौ मालार्थापत्तिर्गर्हणं तथा।
पृच्छा प्रसिद्धिः सारूप्यं संक्षेपो गुणकीर्तनम् ॥ १७४ ॥
लेशो मनोरथोऽनुक्तसिद्धिः प्रियवचस्तथा।

अर्थ—इनके (भाषा विशेष के) उदाहरण महाकवियों के प्रबन्ध काव्यों में समझने चाहिये। भाषा के लक्षण मेरे पूज्य पिता द्वारा निर्मित "भाषार्णव" (नामक प्रबन्ध) में (समझने चाहिये)।

इसमें (नाटक के अन्दर) छत्तीस लक्षण, तेंतीस नाट्यालङ्कृति, तेरह वीथी के अङ्ग, तथा दस लास्य के अङ्ग रस की आकांक्षा से यथायोग्य (कवि के द्वारा) प्रयोग किये जाने चाहिये। [अर्थात् जिस रस में जो आकांक्षित और योग्य होता है उसी का उस रस में वर्णन करना चाहिये क्योंकि रस की आकांक्षा होने पर ही इनका प्रयोग होता है, रस के अभाव में इनका प्रयोग नहीं करना चाहिये।] **यथालाभमिति**—यथायोग्य प्रयोग करने चाहिये, यह (मुख्य) सम्बन्ध है। **अत्र** अर्थात् नाटक में।

उनमें से (३६ लक्षण, ३३ नाट्यालङ्कृतियाँ, १३ वीथ्याङ्ग और १० लास्याङ्गों में से) लक्षणों का (वर्णन करते हैं)।

अथ षट्त्रिंशत्लक्षणनिरूपणम्

अर्थ—**१**—भूषण, २—अक्षरसंघात, ३—शोभा, ४—उदाहरण, ५—हेतु, ६—संशय, ७—दृष्टान्त, ८—तुल्यतर्क, ९—पदोच्चय, १०—निदर्शन ११—अभिप्राय, १२—प्राप्ति, १३—विचार, १४—दिष्ट, १५—उपदिष्ट, १६—गुणातिपात, १७—गुणातिशय, १८—विशेषण, १९—निरुक्ति २०—सिद्धि, २१—भ्रंश, २२—विपर्यय, २३—दाक्षिण्य, २४—अनुनय, २५—माला, २६—अर्थापत्ति, २७—गर्हण, २८—पृच्छा, २९—प्रसिद्धि, ३०—सारूप्य, ३१—संक्षेप ३२—गुणकीर्तन, ३३—लेश, ३४—मनोरथ, ३५—अनुक्तसिद्धि तथा ३६—प्रियवचन।

तत्र—

लक्षणानि गुणैः सालंकारैर्योगस्तु भूषणम् ॥१७५॥

यथा—'आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे तव मुखश्रियम् ।
कोषदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम् ॥'

वर्णनाक्षरसंघातश्चित्रार्थैरक्षरैर्मितैः ।

यथा शाकुन्तले—

'**राजा**—कच्चित्सखीं वो नातिबाधते शरीरसंतापः ?

प्रियंवदा—सम्पदं लधोसहो उअसमं गमिस्सदि' [**साम्प्रतं लब्धौषधमुपशमं गमिष्यति**] ।

टिप्पणी—इनसे नाटक का स्वरूप लक्षित होता है, अतः इनको "लक्षण" कहते हैं ।

अवतरणिका—क्रमशः सभी "**लक्षणों**" का लक्षण करते हैं ।

अर्थ—(१) उनमें से (३६ लक्षणों में से **भूषण** का लक्षण) यमक, उपमादि अलङ्कारों से युक्त (**माधुर्य, प्रसाद** और **ओज** इन) गुणों के साथ योग (परस्पर मिलन) ही '**भूषण**' (**भूषयति नाट्यं यत्तत् भूषणम्**) (कहा जाता) है ।

(**भूषण** का उदाहरण) **यथा—आक्षिपन्तीति**—(हे) सुन्दरि ! कमल तुम्हारे मुख की शोभा का हरण (आक्षेप) करते हैं (क्योंकि) बीजकोष और धनागार, मृणालदण्ड और चतुर्थोपायभूत दण्ड—इनसे परिपूर्ण इन (कमलों) के लिये क्या (कार्य) दुष्कर है अर्थात् कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है ।

टिप्पणी—यहाँ कमलों के अचेतन होने के कारण उनके द्वारा शोभा का हरण करना असम्भव है, अतः उपमा में पर्यावसान होने से असम्भववस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शनाअलङ्कार है, उत्तरार्ध से पूर्वार्ध के अर्थ का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास तथा श्री, कोष और दण्ड पदों के द्व्यर्थक होने से श्लेषालङ्कार भी है । इस पद्य में प्रथम चरण के अन्दर माधुर्यगुण है तथा अन्यत्र प्रसाद गुण है । इसप्रकार अलङ्कारों का गुणों के साथ संयोग होने से काव्य भूषित होता है, अतः "भूषण" है ।

अर्थ—(२) (**अक्षरसंघात** का लक्षण) **वर्णनेति**—विदग्ध और मनोरम अर्थ के सूचक परिमित अक्षरों से युक्त रचना को "**अक्षरसंघात**" (**अक्षराणां संघातो मिश्रणमिति अक्षरसंघातः**) (कहते हैं) ।

("**अक्षरसंघात**" का उदाहरण) **यथा**—**शाकुन्तल** में—राजा—(दुष्यन्त)—क्या तुम्हारी सखी (शकुन्तला) को (कामकृत) शरीर सन्ताप तो सन्तप्त नहीं कर रहा है (यह मैं जानना चाहता हूँ) ? प्रियम्वदा—अब (भवद्रूप) औषध के प्राप्त हो जाने से शान्त हो जावेगा ।

टिप्पणी—यहाँ दुष्यन्त का आ जाना ही मानों औषधि की प्राप्ति है—इस व्यंग्य से प्रतिपाद्यमान अर्थ विचित्र है । अक्षर परिमित हैं अतः "**अक्षरसंघात**" है ।

सिद्धैरर्थैः समं यत्राप्रसिद्धोऽर्थः प्रकाशते ।। १७६ ।।
श्लिष्टश्लक्षणचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते ।

यथा—

'सद्वंशसम्भवः शुद्धः कोटिदोऽपि गुणान्वितः ।
कामं धनुरिव क्रूरो वर्जनीयः सतां प्रभुः ।।

यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ।। १७७ ।।
साध्यतेऽभिमतश्चार्थस्तदुदाहरणं मतम् ।

यथा—

'अनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम् ।
का दिनश्रीर्विनार्केण का निशा शशिना विना।।'

अर्थ—(३) (**शोभा** का लक्षण) **सिद्धैरिति**—जहाँ प्रसिद्ध (उपमानभूत) अर्थों के साथ अप्रसिद्ध (कोई उपमेयभूत) अर्थ प्रकाशित होता है, वह श्लिष्ट, श्लक्षण और विचित्र अर्थ वाली (रचना नाट्य की शोभा होने से) **शोभा** कही जाती है ।

(शोभा का उदाहरण यथा—सद्वंशेति-उत्तम वंश में उत्पन्न होने वाला **अन्यत्र** उत्तम वेणु से निर्मित होने वाला, शुद्ध अन्यत्र कीटादि से रहित, करोड़ों रुपयों का दान करने वाला **अन्यत्र** करोड़ों व्यक्तियों का भेदन करने वाला अथवा अग्रभाग वाला, शौर्यादि गुणों से युक्त **अन्यत्र** ज्या से युक्त भी (तथा) कुटिल हृदय वाला (क्रूर) **अन्यत्र** कर्कश स्वामी धनुष के समान सज्जनों को छोड़ देना चाहिये ।

टिप्पणी—यहाँ सिद्ध करने के लिये प्रारम्भ किये हुये अन्वयादि पदों के साथ श्लेष के द्वारा एक बार ही प्रसिद्ध और अनयभित वेणु का अर्थ प्रकाशित होने से **''शोभा'** है ।

अर्थ—(४) (**उदाहरण** का लक्षण) जहाँ तुल्य अर्थ से युक्त वाक्य के द्वारा दृष्टान्त रूप से प्रदर्शन करने से (अर्थात् वक्ता के अभिप्राय से) अभिमत अर्थ प्रकाशित किया जाता है, वह **उदाहरण (उदाह्रियते अस्मिन् इति उदाहरणम्)** माना गया है ।

(उदाहरण का उदाहरण) यथा—**अनुयान्त्येति**—[**प्रसङ्ग**-श्रीरामचन्द्र जी का अनुसरण करती हुई सीता जी के प्रति अनसूया की उक्ति है ।] वनगमन के लिये उन्मुख **(जनातीतं-जनेभ्यो निर्गतं-वनगमनोन्मुखम् इति)** अथवा विलक्षण और अलौकिक गुणशाली स्वामी का (श्रीराम का) अनुसरण करती हुई तुमने अच्छा किया । (क्योंकि) सूर्य के विना दिवस की शोभा क्या ? (और) चन्द्रमा के विना रात्रि की क्या शोभा ? अर्थात् कुछ भी शोभा नहीं है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ सूर्य के विना दिन की शोभा की तरह, चन्द्रमा के विना रात्रि की शोभा की तरह, पति के विना स्त्री की अशोभा ही अभिव्यक्त होती है ।

(२) प्रकृत पद्य में सीता जी का प्रशंसारूप अर्थ अभिमत है—उसका उक्त वाक्य के द्वारा साधन करने से **उदाहरण** है ।

(३) उदाहरण के अन्दर वाक्य भेद होने से उपमान और उपमेय के साथ ही प्रकाशित न होने से और श्लिष्ट न होने से, शोभा से भेद है ।

हेतुर्वाक्यं समासोक्तमिष्टकृद्धेतुदर्शनात् ।। १७८ ।।

यथा वेण्यां भीमं प्रति—

'**चेटी**—एवं मए भणिदं भाणुमदि' तुह्माणं अमुक्कंसु केसेसु कहं देवीए केसा संजमिअन्तित्ति' [**एवं मया भणितं भानुमति, युष्माकममुक्तेषु केशेषु कथं देव्याः केशाः संयम्यन्ते**]।

संशयोऽज्ञाततत्त्वस्य वाक्ये स्याद्यदनिश्चयः ।

यथा ययातिविजये—

'इयं स्वर्गाधिनाथस्य लक्ष्मीः किं यक्षकन्यका ।
किं चास्य विषयस्यैव देवता किमु पार्वती ।।'

दृष्टान्तो यस्तु पक्षेोर्थसाधनाय निदर्शनम् ।।१७९।।

अर्थ—(५) (हेतु का लक्षण) **हेतुरिति**—कारण के प्रदर्शन से अभिमत अर्थ का प्रकाशक संक्षेप से कहा हुआ वाक्य (**हेतुसम्बन्धात्**) "**हेतु**" (होता) है।

(हेतु का उदाहरण) **यथा-वेणीसंहार में भीम के प्रति-चेटी** भानुमती को मैंने इसप्रकार कहा कि तुम्हारे केशपाशों के बँधे हुये होने पर हमारी देवी (द्रौपदी) के केश कैसे बंध सकते हैं ? इति।

टिप्पणी—यहाँ देवी द्रौपदी के केशपाश के न बंधने का कारण भानुमती के केशपाशों का बंधना है, उसके प्रदर्शन से दुर्योधन का वध होने पर ही द्रौपदी के केशों का बन्धन होगा—इस अभिमत अर्थ का प्रकाशन होने से "हेतु" है।

अर्थ—(६) (**संशय** का लक्षण) **संशय इति**-अज्ञात तत्त्व वाले मनुष्य का वाक्य में जो अनिश्चय है, (वह **अनिश्चय** ही **संशयजननात्**) "**संशय**" होता है।

(**संशय** का उदाहरण) **यथा-(राजानक मम्मट भट्ट विरचित) ययातिविजय** (नामक नाटक) में— **इयमिति**— [**प्रकरण**—किसी दिव्य कन्या को कुयें के अन्दर देखकर वास्तविक तत्त्व को न जानने वाले राजा ययाति की यह उक्ति है।]। यह (देवयानी) क्या इन्द्र की राज्यश्री है ? अथवा क्या यक्षकन्या है ? अथवा इसी देश की अधिष्ठात्री देवता है अथवा क्या पार्वती है ?

टिप्पणी—यहाँ अज्ञात तत्व वाले ययाति का नायिका देवयानी के विषय में निश्चय न होने के कारण संशय है।

अर्थ—(७) (**दृष्टान्त** का लक्षण) **दृष्टान्त इति**—पक्ष में साध्य को (**अर्थस्य**) सिद्ध करने के लिये जो हेतु का निदर्शन है (वह) **दृष्टान्त** (**दृष्टः अन्तः साध्यस्वरूपं यस्मादर्थादिति दृष्टान्तः**) है।

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र के अनुसार लक्षण—

सिद्धः पूर्वोपलब्धो यः समत्वमुपपादयेत् ।
निदर्शनतस्तज्ज्ञैः स दृष्टान्त इति स्मृतः ।। इति ।।

यथा वेण्याम्—

'**सहदेवः**—आर्य, उचितमेवैतत्तस्याः यतो दुर्योधनकलत्रं हि सा' इत्यादि ।

तुल्यतर्को यदर्थेन तर्कः प्रकृतिगामिना ।

यथा तत्रैव—

'प्रायेणैव हि दृश्यन्ते कामं स्वप्नाः शुभाशुभाः ।
शतसंख्या पुनरियं सानुजं स्पृशतीव माम् ॥'

संचयोऽर्थानुरूपो यः पदानां स पदोच्चयः ॥ १८० ॥

अर्थ—(**दृष्टान्त** का उदाहरण) **यथा-वेणीसंहार** में—'**सहदेव**—(भीम के प्रति) आर्य, उसके लिये (भानुमती के लिये) यह (उपहास करना) उचित ही है, क्योंकि वह (भानुमती) दुर्योधन की स्त्री है' इत्यादि ।

टिप्पणी—(१) यहाँ भानुमती के पक्ष में उसके परिहास करने के औचित्य को सिद्ध करने के लिये दुर्योधन की स्त्री होना—यह हेतु दिया गया है, अतः **दृष्टान्त** है ।

(२) भानुमती के द्वारा किया हुआ परिहास इसप्रकार है—

"**अयि ! याज्ञसेनि ! पञ्चग्रामाः प्रार्थ्यन्त इति श्रूयते तत् कस्मादिदानीमपि ते केशा न संयम्यन्ते**" इति संस्कृतम् ।

अर्थ—(८) (**तुल्यतर्क** का लक्षण) **तुल्यतर्क** इति—प्रकृत पदार्थ का अनुसरण करने वाली वस्तु से जो तर्क है, (भावी अर्थ की सूचना है वह) **तुल्यतर्क** (**द्वारद्वारिणो-र्वस्तुनोः समानतर्कणात् तुल्यतर्कः**) (नामक लक्षण) है ।

टिप्पणी—**महर्षि भरतमुनि** ने लक्षण इसप्रकार किया है—

रूपकैरुपमानैर्वा तुल्यार्थाभिः प्रयोक्तृभिः ।
अप्रत्ययार्थसंस्पर्शस्तुल्यतर्कः प्रकीर्तितः ॥ इति ॥

अर्थ—(**तुल्यतर्क** का उदाहरण) **यथा-वहीं** (**वेणीसंहार** के अन्दर ही)-**प्रायेणेति**-('नेवले ने सौ सर्पों को मारकर भानुमती के स्तन पर आघात किया' इसप्रकार का स्वप्न भानुवती ने देखा। इस पर दुर्योधन की यह आशंका है।) यथेष्ट अथवा अन-भिमत (कभी) शुभ परिणाम वाले और (कभी) अशुभ परिणाम वाले स्वप्न (सोने के समय अन्तःकरण के परिणाम विशेष) प्रायः (मनुष्यों के द्वारा) देखे जाते हैं। यह (स्वप्नावस्था में भानुमती के द्वारा देखे हुये नेवले के द्वारा मारे जाते हुये सर्प सम्बन्धिनी) सौ संख्या छोटे भाइयों के साथ मुझको ही (अपना) विषय बना रही है (क्योंकि उन सर्पों की तरह हमारी संख्या सौ है)।

टिप्पणी—यहाँ दुर्योधनादि सौ भाइयों के भावी निधन की सूचना है। सौ संख्या के समान होने के कारण अपने विषय में सम्भावना होने के कारण "**तुल्यतर्क**" है ।

अर्थ(९) ("**पदोच्चय**" का लक्षण) **सञ्चय इति**-अर्थ के अनुरूप (अर्थात् सुकुमार अर्थ होने पर सुकुमार पदों का प्रयोग **और** उद्भट अर्थ होने **पर** उद्भट पदों का प्रयोग) जो पदों का गुम्फन **है**, वह **पदोच्चय** (कहलाता) है ।

यथा शाकुन्तले—

'अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥'

अत्र पदपदार्थयोः सौकुमार्यं सदृशमेव ।

यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् ।
परपक्षव्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते ॥ १८१ ॥

यथा—

'क्षात्रधर्मोचितैर्धर्मैरलं शत्रुवधे नृपाः ।
किं तु वालिनि रामेण मुक्तो बाणः पराङ्मुखे ॥'

टिप्पणी—महर्षि भरतमुनि कृत लक्षणः—

बहूनां च प्रयुक्तानां पादानां बहुभिः पदैः ।
उच्चयः सदृशार्थो यः स विज्ञेयः पदोच्चयः ॥इति॥

अर्थ—(पदोच्चय का उदाहरण) यथा—शाकुन्तल में—अधर इति— [**प्रसङ्ग**—राजा दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का यह वर्णन हैं ।] अधरोष्ठ पल्लव की तरह लालिमायुक्त हैं (अर्थात् लालिमा में पल्लव के समान है), भुजायें कोमल शाखा के अग्रभाग के समान हैं, (तथा) शरीर के अवयवों में पुष्प की तरह (देखने वालों के) चित्त को आकृष्ट करने वाला यौवन आविर्भूत हुआ है । [अङ्गेषु—यहाँ बहुवचन के प्रयोग से "मुख के अन्दर सुन्दरता, नेत्रों में चंचलता, कण्ठ में त्रिरेखा और शंख की समानता, उरःस्थल पर कुचों का उभार, नाभि में गम्भीरता, नितम्ब के बीच में से निम्नता और दोनों भागों में मांसलता, जघन-जंघा और जानुओं में पुण्टता, उरुओं में विशालता, शीतलता और मृदुलता की सविलासिता ध्वनित होती है । मुख्य अर्थ से बाधित होकर 'सन्नद्ध' शब्द जहल्लक्षणा से यौवन को लक्षित करता है और यौवन की अतिशयता प्रयोजन है ।] ।

अत्रेति—यहाँ पद और पदार्थ के अन्दर सुकुमारता समान ही है अर्थात् जैसा अर्थ कोमल है वैसे ही कटु वर्णों से रहित पदोच्चय भी कोमल है ।

टिप्पणी—यहाँ पर प्रस्तुत अधरादिकों की उसी के समान पल्लवादिकों **से** उपमा होने के कारण "**पदोच्चय**" है ।

अर्थ (१०) (**निदर्शन** का लक्षण) **यत्रार्थानामिति**-जहाँ दूसरे के मत का **खण्डन** करने के लिये प्रसिद्ध विषयों का निरूपण किया जाता है, वह (**दृष्टान्तनिदर्शनात्**) '**निदर्शन**' (नाट्यज्ञों द्वारा) कहा जाता है ।

(**निदर्शन का उदाहरण**) **यथा—क्षात्रेति**—राजागण क्षात्र धर्म के **योग्य धर्म** नियमों से शत्रु का वध करने में समर्थ (होते) हैं तथापि (किन्तु) राम ने पराङ्मुख (सुग्रीव के साथ लड़ने में व्यग्र) बालि के ऊपर बाण छोड़ा ।

टिप्पणी—(१) यहाँ क्षत्रिय धर्मरूप दूसरे के पक्ष का निराकरण **करने के** लिये प्रसिद्ध राम द्वारा विहित बालि के वधरूप अर्थ का कथन करने के कारण "**निदर्शन**" है ।

अभिप्रायस्तु सादृश्यादभूतार्थस्य कल्पना ।

यथा शाकुन्तले—

'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥'

प्राप्तिः केनचिदंशेन किञ्चिद्यत्रानुमीयते ॥ १८२ ॥

यथा मम प्रभावत्याम्—

'अनेन खलु सर्वतश्चरता चञ्चरीकेणावश्यं विदिता भविष्यति प्रियतमा मे प्रभावती ।'

---

(२) **क्षात्रकर्म का लक्षण** :—

"शौर्यं तेजो धृतिर्दार्ढ्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च **क्षात्रकर्म** स्वभावजम् ॥"

अर्थ (११) (**अभिप्राय** का लक्षण) **अभिप्राय इति**—सादृश्य के कारण असम्भव वस्तु की कल्पना (**अभिप्रायविशेषेण कल्पनात्**) अभिप्राय (कहलाता) है ।

टिप्पणी—मनु ने भी कहा है कि :—

अभूतपूर्वो योऽप्यर्थः सादृश्यात्परिकल्पितः ।
लोकस्य हृदयग्राही **सोऽभिप्राय** इति स्मृतः ॥इति॥

अर्थ—(**अभिप्राय** का उदाहरण) **यथा–शाकुन्तल में—इदमिति**—[**प्रसङ्ग**—तपस्या के योग्य वेश वाली शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त की यह उक्ति है ।] जो (ऋषि) स्वभाव से सुन्दर इस (पुरोदृश्यमान अनुपम शकुन्तला के) शरीर को तपस्या के क्लेश को सहन करने के योग्य करना चाहता है, वह (कण्व ऋषि) निश्चत रूप से नील कमल के पत्ते के अग्रभाग से शमी नामक लता को काटने का प्रयत्न कर रहा है अर्थात् नीलकमल के पत्ते की नोक से शमी नामक लता के कर्तन की तरह शकुन्तला के शरीर से तपस्या का साधन करना भी असम्भव है ।

टिप्पणी—यहां शमी लता के सादृश्य से नील कमल के पत्ते की अग्रिम धारा से असम्भव शमी लता के काटने की कल्पना करने के कारण **अभिप्राय** है ।

अर्थ(१२) (**प्राप्ति** का लक्षण) **प्राप्तिरिति**—जहाँ किसी विशेषण से (**अंशेन**) किसी का अनुमान किया जाता है, (वह **आत्मनः प्राप्तेः**) "**प्राप्ति**" (कहलाती) है ।

(**प्राप्ति** का उदाहरण) **यथा—**मेरी (ग्रन्थकारकृत) **प्रभावती** में—"निश्चत रूप से समी ओर भ्रमण करते हुये इस भ्रमर ने मेरी प्रियतमा प्रभावती अवश्य देखी होगी ।"

टिप्पणी—यहाँ "**सर्वतश्चरता**" इस विशेषण रूप अंश से भ्रमर को मेरी प्रियतमा का ज्ञान होगा, यह नायक ने अनुमान किया है, अतः **प्राप्ति** है ।

विचारो युक्तिवाक्यैर्यदप्रत्यक्षार्थसाधनम् ।

यथा मम चन्द्रकलायाम्—

'**राजा**—नूनमियमन्तःपिहितमदनविकारा वर्तते ।

यतः—

हसति परितोषरहितं निरीक्ष्यमाणापि नेक्षते किञ्चित् ।

सख्यामुदाहरन्त्यामसमञ्जसमुत्तरं दत्ते ।।'

देशकालस्वरूपेण वर्णना दिष्टमुच्यते ।। १८३ ।।

अर्थ—(१३) (**विचार** का लक्षण) **विचार इति**—युक्तियुक्त (कारण के बोधक वाक्यों से) वाक्यों से जो अपरोक्ष अर्थ साधन है, (वह **विचारविषयत्वात्**) **विचार** (कहलाता) हैं ।

टिप्पणी—महर्षि भरतमुनि ने भी कहा है—

पूर्वदेशसमानार्थैरप्रत्यक्षार्थसाधनैः ।

अनेकापोहसंयुक्तो **विचारः** परिकीर्तितः ।।इति।।

अर्थ—(**विचार** का उदाहरण) **यथा**—मेरी (ग्रन्थकार कृत) **चन्द्रकला** (नामिक नाटिका) के अन्दर—"**राजा**"—निश्चय से यह हृदय के अन्दर प्रच्छन्न काम विकार वाली है । क्योंकि—

सन्तोष से रहित हँसती है, (दूसरे के द्वारा) देखी जाती हुई भी कुछ नहीं देखती है, प्रिय सखी के कुछ कहने पर अयोग्य (अप्राकरणिक) उत्तर देती है ।

टिप्पणी—(१)यहाँ अपरितोष हासादि रूप हेत्वर्थक वचनों के द्वारा अप्रत्यक्ष मनोविकार का ज्ञान हो जाने से **विचार** है । कहने का भाव यह है कि—

(क)चन्द्रकलाऽन्तर्मदनविकारा—यह साध्य है ।

(ख)अपरितोषहासादिमत्वात्—यह हेतु है ।

(ग)यत्र यत्र अपरितोषहासादिमत्वम्, तत्र तत्रान्तर्मदनविकारत्वम्—यह युक्ति "अन्दर्मदनविकार" को सिद्ध करने वाली है ।

(२) "**प्राप्ति**" के अन्दर अनुमान किसी विशेषण से (अंशेन) होता है—अतः इसका (**विचार** का) उससे भेद है ।

अर्थ—(१४) (**दिष्ट का लक्षण**) **देशेति**—देश और काल के साधर्म्य से रचना '**दिष्ट**' कही जाती है (**देशकालयोः स्वरूपेणोद्दिष्टत्वात्**) ।

टिप्पणी—**नाट्यशात्र** के अनुसार :—

यथादेशं यथाकालं यथारूपं च वर्ण्यते ।

यत्प्रत्यक्षं परोक्षं वा दृष्टं तद्वर्णतोऽपि वा ।।इति।।

यथा वेण्याम्—

'सहदेवः—

यद्वै द्युतमिव ज्योतिरार्ये क्रुद्धेऽद्य संभृतम् ।
तत्प्रावृडिव कृष्णेयं नूनं संवर्द्धयिष्यति ॥'

उपदिष्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारतः ।

यथा शाकुन्तले—

'शुश्रूषस्व गुरुन्, कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो, वामाः कुलस्याधयः ॥'

अर्थ—(दिष्ट का उदाहरण) **यथा—वेणीसंहार में–सहदेव—यदिति**—आज भीमसेन के कुपित होने पर विद्युत् सम्बन्धिनी जो ज्योति (तेज) उत्पन्न हुई है, उसको यह द्रौपदी वर्षा-काल की तरह निश्चित ही बढ़ावेगी अर्थात् जिसप्रकार वर्षाकाल विद्युत् के तेज को प्रवृद्ध करता है, उसीप्रकार यह द्रौपदी भीमसेन के क्रोध को प्रवृद्ध करेगी ।

टिप्पणी—यहाँ समय के अनुरूप भीमसेन के क्रोध का और द्रौपदी का वर्णन होने से दिष्ट है ।

अर्थ—(१५) (**उपदिष्ट** का लक्षण) **उपदिष्टमिति**—शास्त्रानुसार मनोहर वाक्य को **उपदिष्ट** (कहते) हैं ।

(उपदिष्ट का उदाहरण) **यथा—शाकुन्तल में—शुश्रूषस्वेति—**

[**प्रसंग**—पतिगृह को भेजते हुये शकुन्तला के प्रति कण्व ऋषि का यह उपदेश है] । (सास, श्वसुरादि) पूज्य व्यक्तियों की सेवा करना (अर्थात् आलस्य रहित होकर स्नेह भाव के साथ पैर दबानादि रूप सेवा को करना) (**समानः एकः पतिर्यस्याः सा**) सपत्नी नारियों के विषय में (पति के द्वारा परिणीता अन्य स्त्रियों के विषय में) प्रिय सखी के समान व्यवहार को करना [अर्थात् उनके साथ इसप्रकार से व्यवहार करना कि उनके हृदयों में यह भाव जागृत हो कि यह हमारी सखी है] । (पति के द्वारा) तिरस्कृत की जाती हुई भी (सम्मानित होने पर तो कुछ कहना ही नहीं है) क्रोध के कारण स्वामी के प्रतिकूल मत जाना [अर्थात् हमेशा उसके अनुकूल ही आचरण करना, कभी भी प्रतिकूल मत होना क्योंकि इससे पातिव्रत धर्म भङ्ग होता है], (सेवक और सेविका आदि) परिजन के विषय में अत्यन्त उदार स्वभाव वाली होना (उनके साथ ऐसा व्यवहार करना कि वे भी तुम से प्रेम करने लग जायें), (तथा) भोग-विलास के विषय में गर्व शून्य (होना) अथवा विषयों से उत्पन्न होने वाले सुखों के विषय में उत्साह शून्य या गर्व शून्य होती हुई परिजनों के प्रति उदार व्यवहार वाली होना, ऐसा करने पर नारियां (केवल तू ही नहीं अपितु स्त्रीमात्र) '**गृहिणी**' इस अधिकार पद को प्राप्त करती हैं, (किन्तु इससे विपरीत व्यवहार करने वाली) स्त्रियाँ पितृकुल और श्वसुरकुल के लिये मानसिक सन्ताप को करने वाली (होती) हैं । इसलिये इस दिये हुये उपदेश के प्रतिकूल स्वभाव वाली मत होना] ।

गुणातिपातः कार्यं यद्विपरीतं गुणान्प्रति ॥ १८४ ॥

यथा मम चन्द्रकलायां चन्द्रं प्रति—

'जइ संहरिज्जइ तमो घेप्पइ सअलेहिं ते पाओ ।
वससि सिरे पसुवइणो तहवि ह इत्थीअ जीअणं हरसि ॥'

[यदि संह्रियते तमो गृह्यते सकलैस्ते पादः ।
वससि शिरसि पशुपतेस्तथापि हा स्त्रीणां जीवनं हरसि ॥]

यः सामान्यगुणोद्रेकः स गुणातिशयो मतः ।

टिप्पणी—यहाँ संक्षेप में वात्स्यायन द्वारा कहे हुये नीतिशास्त्र के अनुसार मनोहर वाक्य होने के कारण **उपदिष्ट** है ।

अर्थ—(१६) (**गुणातिपात** का लक्षण) **गुणातिपात इति**—गुणों के **प्रति** जो विपरीत कार्य है अर्थात् जो गुणों के विरोधी कार्य हैं, (वह) **गुणातिपात** (**गुणस्यातिपतनादतिक्रमणात् गुणातिपातः**) (कहलाता) है ।

टिप्पणी—कहा भी है :—गुणाभिधानैर्विविधैर्विपरीतार्थयोजितैः ।
गुणातिपातो मधुरः इति ॥

अर्थ—(**गुणातिपात** का उदाहरण) **यथा**—मेरी (ग्रन्थकारकृत) **चन्द्रकला** **नामक नाटिका** में चन्द्रमा के (प्रति अपने पति से वियुक्त चन्द्रकला कहती है) **जइ इति**—

यद्यपि (तुम) अन्धकार को दूर करते हो (तथापि) सम्पूर्ण लोकों के द्वारा तुम्हारे किरण रूपी चरण (शिर से) धारण किये जाते हैं (संहार करने वाले के चरणों की उपासना विरुद्ध है तब भी इस समय वह की जा रही हैं) (यद्यपि) तुम शिवजी के शिर पर निवास करते हो तथापि (मुझ सदृश दूर देश में गये हुये पति वाली) नारियों के जीवन को (काम के अतिरेक से) हरण करते हो ।

टिप्पणी—यहाँ चन्द्रमा का स्त्रियों का वध करना रूप कार्य अन्धकार को दूर करने वाले गुणों के विपरीत होने के कारण **गुणातिपात** है ।

अर्थ—(१७) (**गुणातिशय** का लक्षण) **य इति**—जो (उपमानोपमेय रूप) साधारण धर्मों से (उपमेय गत किसी धर्म का) आधिक्य है, वह (**गुणं-सामान्यधर्ममतिशेते इति**) **गुणातिशय** माना गया है ।

यथा तत्रैव—

'राजा—(चन्द्रकलाया मुखं निर्दिश्य)

असावन्तश्चञ्चद्विकचनवनीलाब्जयुगल-
स्तलस्फूर्जत्कम्बुर्विलसदलिसंघात उपरि ।
विना दोषासङ्गं सततपरिपूर्णाखिलकलः
कुतः प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्कः सुमुखि ते ॥

सिद्धानर्थान् बहूनुक्त्या विशेषोक्तिर्विशेषणम् ॥ १८५ ॥

यथा—

'तृष्णापहारी विमलो द्विजावासो जनप्रियः ।
ह्रदः पद्माकरः किन्तु बुधस्त्वं स जलाशयः ।'

अर्थ—(गुणातिशय का उदाहरण) **यथा**—वहीं (ग्रन्थकारकृत चन्द्रकला **नाटिका में)—राजा** (चन्द्रकला के मुख को देखकर) **असाविति—**

(हे) सुमुखि ! तुमने मध्य में चञ्चल और विकसित नवीन दो नील कमल (दो नेत्र) वाला, (उसके) नीचे सुशोभित (कण्ठरूप) शंख वाला, (उसके) ऊपर के भाग पर शोभित भ्रमर समूह (केशपाश) वाला, निरन्तर (पूर्णमासी के अतिरिक्त समय में भी) सम्पूर्ण कलाशास्त्र और सोलह कलाओं वाला निष्कलङ्क वह चन्द्रमा (मुखचन्द्र) दोष रहित और रात्रि के सम्पर्क से रहित किससे प्राप्त कर लिया ?

टिप्पणी—यहाँ आह्लादकत्वादि साधारण धर्मों से युक्त चन्द्रमा की अपेक्षा उपमेय भूत मुख के अन्दर निष्कलङ्कता रूप सम्बन्ध के अधिक होने के कारण **गुणातिशय** है ।

अर्थ—(१८) (**विशेषण** का लक्षण) **सिद्धानिति**—(उपमानोपमेयभूत) **प्रसिद्ध** बहुत से (उत्कर्ष के कारण) सामान्य धर्मों को कहकर (जिस किसी) विभेदक धर्म का कहना (अर्थात् उपमेय में उपमान को पृथक् करने वाले धर्म का कथन) (**विशिष्यते अनेनेति**) **विशेषण** (होता) है ।

(**विशेषण** का उदाहरण) **यथा—तृष्णेति—**[**प्रसङ्ग**—किसी विद्वान् धनिक के प्रति उक्ति है ।] तालाब और तुम जल की पिपासा को **अन्यत्र** धन की आकांक्षा को (पानी देने के द्वारा **और** धन देने के द्वारा) दूर करने वाले हो, स्वच्छ जल वाला **अन्यत्र** पाप रहित, पक्षियों के (जलचर और हंसादिकों के) **अन्यत्र** ब्राह्मणों के आश्रय, मनुष्यों के प्रिय (हित करने के कारण सन्तोष देने वाले), (तथा) कमलों के **अन्यत्र** लक्ष्मी के उत्पत्ति स्थान **अन्यत्र** आवास हो (इसप्रकार दोनों के सामान्य और अनुकूल धर्मों का कथन करके भेदक धर्म का कथन करते हैं) किन्तु तुम पण्डित हो (और) वह जलाशय (**जलानां—सलिलानां आशयः—आधारः=**)**जडाशय** अर्थात् मन्दबुद्धि वाला है [**डलयोरेकत्वात्**]

टिप्पणी—यहाँ तृष्णापहारित्वादि बहुत से सामान्य गुणों का कथन करके विद्वत्ता और जड़ता रूप भेद का कथन करने के कारण "**विशेषण**" है ।

पूर्वसिद्धार्थकथनं निरुक्तिरिति कीर्त्यते ।

यथा वेण्याम्—'निहताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा ।
भङ्क्ता दुर्योधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसा नतः ।।'

बहूनां कीर्तनं सिद्धिरभिप्रेतार्थसिद्धये ।। १८६ ।।

यथा—

'यद्वीर्यं कूर्मराजस्य यश्च शेषस्य विक्रमः ।
पृथिव्या रक्षणे राजन्नेकत्र त्वयि तत्स्थितम् ।।'

अर्थ—(१९) (**निरुक्ति** का लक्षण) **पूर्वेति**—पूर्व सिद्ध कार्यों का पुनः प्रतिपादन करना (**निश्चयेन उक्तिः**) **निरुक्ति** कही जाती है ।

टिप्पणी—दूसरा लक्षण—निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तता तु प्रसिद्धये ।
यदुच्यते तु वचनं **निरुक्तं** तदुदाहृतम् ।।इति।।

अर्थ—(निरुक्ति का उदाहरण) यथा—**वेणीसंहार में—निहतेति—**

[**प्रसङ्ग**—धृतराष्ट्र के प्रति भीमसेन की यह उक्ति है ।] विनष्ट कर **दिये हैं सम्पूर्ण** कौरवपक्षी योद्धा जिसने ऐसा, दुःशासन के रुधिर से (वक्षःस्थल से निकले हुये रुधिर के पान से) उन्मत्त, दुर्योधन के उरुयुगल को तोड़ने वाला यह (उपस्थित) **भीम शिर से** (आपको) नमस्कार करता है ।

टिप्पणी—यहाँ पहले किये हुये सम्पूर्ण कौरवादिकों की मृत्यु रूप कार्य के **पुनः** कथन करने के कारण **निरुक्ति** है ।

अर्थ—(२०) (**सिद्धि** का लक्षण) **बहूनामिति**—इष्ट कार्य की निष्पत्ति के लिये (एक को लक्ष्य करके) अनेक (गुणों का) कथन करना (**अभिप्रेतार्थसिद्धिनिमित्तकथनादेव**) **सिद्धि** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—दूसरा लक्षण—बहूनां च प्रयुक्तानां नाम यत्राभिकीर्त्यते ।
अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं सा सिद्धिरभिधीयते ।।इति।।

अर्थ—(सिद्धि का उदाहरण) **यथा—यदिति**—(हे) राजन् ! (शेषनाग के भार का वहन करने वाले) कच्छपपति का जो सामर्थ्य है, और (पृथिवी के भार को धारण करने वाले) शेषनाग का जो पराक्रम है, पृथिवी की रक्षा करने में वह (उन दोनों कच्छप और शेषनाग का सामर्थ्य) एक स्थान पर तुम्हारे अन्दर वर्तमान है ।

टिप्पणी—यहां राजा के पृथिवी को पालन करने और उसके भार को सहन करने की शक्ति की अतिशयता रूप अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिये कूर्मराज और शेषनाग दोनों की सामर्थ्य का कथन करने के कारण सिद्धि है ।

दृप्तादीनां भवेद्भ्रंशो वाच्यादन्यतरद्वचः ।

यथा वेण्याम्—कञ्चुकिनं प्रति

'दुर्योधनः—

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥'

विचारस्यान्यथाभावः संदेहात्तु विपर्ययः ॥ १८७ ॥

यथा—

'मत्वा लोकमदातारं संतोषे यैः कृता मतिः ।
त्वयि राजनि ते राजन्न तथा व्यवसायिनः ॥'

अर्थ—(२१) (**भ्रंश** का लक्षण) **दृप्तादीनामिति**—अहंकारी आदिकों का ('आदि' पद से प्रसन्न और दुःखितादिकों का ग्रहण होता है) अभिमत से विपरीत वाक्य '**भ्रंश**' (होता) है ।

(**भ्रंश** का उदाहरण) **यथा**—वेणीसंहार में—कञ्चुकी के प्रति—**दुर्योधन**—**सहभृत्यगणमिति**—

[**प्रसङ्ग**—अपनी प्रशंसा को सुनने के कारण अहंकार से ज्ञानशून्य, दुर्योधन ने विपरीत कह दिया ।] अनुचरों के साथ, बन्धु-बान्धवों के साथ, मित्रों के साथ, छोटे भाइयों के साथ दुर्योधन को भीमसेन अपने पराक्रम से शीघ्र ही युद्ध में मार डालेंगे ।

टिप्पणी—(१) यहाँ "**नचिरात्पाण्डुसुतं सुयोधनः**" यह कहने के स्थान पर वक्ता दुर्योधन के अहंकारी होने के कारण "**पाण्डुसुतं**" इस कर्मपद के स्थान पर "**पाण्डुसुतः**" इस कर्तृपद का और "**सुयोधनः**" इस कर्तृपद के स्थान पर "**सुयोधनम्**" इस कर्म पद के कहने के कारण "**भ्रंश**" है ।

(२) अथवा "**चिरादपि न हन्ति**" यह विवक्षित था किन्तु "**नचिरात् हन्ति**" यह कहने से "**भ्रंश**" है ।

अर्थ—(२२) (**विपर्यय** का लक्षण) **विचारस्येति**—सन्देह के कारण विचार का विपरीत रूप से ग्रहण करना (**अन्यथाभावः**) **विपर्यय** (होता) है ।

(**विपर्यय** का उदाहरण) **यथा**—**मत्वेति**—जिन पुरुषों ने संसार को दान न देने वाला समझकर (माँग कर धन की प्राप्ति के बिना ही) सन्तोष के अन्दर विचार कर लिया था अर्थात् सन्तुष्ट होकर बैठे रहें, कहीं भी माँगने के लिये नहीं गये । (हे) राजन् ! तुम्हारे राजा होने पर वे मनुष्य वैसे अर्थात् माँगने के बिना ही सन्तोष को धारण करने वाले नहीं (रहे, किन्तु अत्यन्त दानशील आपको समझकर याचना करते हैं) ।

टिप्पणी—यहाँ पर "लोकमदातारम्" इसके द्वारा सामान्यतः सारे संसार को दान न देने वाले निश्चय का "**यह राजा दाता है या नहीं**" इस सन्देह के कारण पूर्व विचार का त्याग कर देने के कारण "**विपर्यय**" है ।

दाक्षिण्यं चेष्टया वाचा परचित्तानुवर्तनम् ।

वाचा यथा—

'प्रसाधय पुरीं लङ्कां राजा त्वं हि विभीषण ।
आर्येणानुगृहीतस्य न विघ्नः सिद्धिमन्तरा ॥'

वाक्यैः स्निग्धैरननयो भवेदर्थस्य साधनम् ॥ १८८ ॥

अर्थ—(२३) (**दाक्षिण्य का लक्षण**) **दाक्षिण्यमिति**—चेष्टा और वाणी के द्वारा दूसरे के चित्त को प्रसन्न करना (**दक्षिणस्य भावः**) **दाक्षिण्य** (नामक लक्षण) है।

टिप्पणी—दूसरा लक्षण—

हृष्टैः प्रसन्नवदनैर्यत्परस्यानुवर्तनम् ।
क्रियते वान्यचेष्टाभिस्तद्दाक्षिण्यमिति स्मृतम् ॥ इति ॥

अर्थ—(**दाक्षिण्य का उदाहरण**) वाणी से (**प्रसन्न करना = दाक्षिण्य**) **यथा**—**प्रसाधयेति**—[**प्रसङ्ग**—विभीषण के मन को प्रसन्न करने के लिये लक्ष्मण की यह उक्ति है] । (हे) विभीषण ! लङ्कानगरी को सुशोभित करो, क्योंकि आप (इस समय) राजा हो । श्रीरामचन्द्र जी द्वारा (आर्येण) अनुगृहीत (मनुष्य) की कार्यसिद्धि के विना अथवा कार्यसिद्धि के बीच में विघ्न नहीं (होता) है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ इसप्रकार के वचन से विभीषण के मन को प्रसन्न करने के कारण "दाक्षिण्य" है ।

(२) "**चेष्टा**" का उदाहरण—**यथा**—**शाकुन्तल** में—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे,
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती,
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥

यहाँ शकुन्तला की चेष्टा से दुष्यन्त का प्रीणन होने से "**दाक्षिण्य**" है ।

(३) **अन्य उदाहरण**—**यथा**—**शाकुन्तलम्** में ही—"**तदहमेनामनृणां करोमि इत्यङ्गुलीयकं ददाति**" ।

यहाँ "अंगुली" (मुद्रिका) के दान रूप चेष्टा से शकुन्तला के चित्त का प्रीणन होने से दाक्षिण्य है ।

अर्थ—(२४) (**अनुनय** का लक्षण) **वाक्यैरिति**—स्नेहयुक्त वाक्यों से प्रयोजन को सिद्ध करना (**अनुनयसम्बन्धात्**) **अनुनय** होता है ।

टिप्पणी—महर्षि भरतमुनि ने कहा है—

उभयोः प्रीतिजननोर्विरुद्धाभिनिविष्टयोः ।
अर्थस्य साधकश्चैव विज्ञेयोऽनुनयो बुधैः ॥ इति ॥

यथा वेण्याम्—अश्वत्थामानं प्रति—

'कृपः—दिव्यास्त्रग्रामकोविदे भारद्वाजतुल्यपराक्रमे किं न संभाव्यते त्वयि।'

माला स्याद्यदभीष्टार्थं नैकार्थप्रतिपादनम् ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—

किं शीकरैः क्लमविमर्दिभिरार्द्रवातं सञ्चारयामि नलिनीदलतालवृन्तम् ।
अङ्के निवेश्य चरणावुत पद्मताम्रौ संवाहयामि करभोरु यथासुखं ते ॥'

अर्थापत्तिर्यदन्यार्थोऽर्थान्तरोक्तेः प्रतीयते ॥ १८९ ॥

अर्थ—(अनुनय का उदाहरण) यथा—वेणीसंहार में—'कृपाचार्य'—[अश्वत्थामा के प्रति] **दिव्येति**—दिव्यास्त्रों के समूह को जानने वाले, द्रोणाचार्य जी के समान पराक्रम वाले तुम्हारे विषय में किस बात की सम्भावना नहीं की जा सकती है अर्थात् सभी कर्मों की सम्भावना की जा सकती है ।

टिप्पणी—यहां इसप्रकार के स्नेहयुक्त वचनों से युद्ध प्रवर्तनरूप कार्य को सिद्ध करने से **अनुनय** है ।

अर्थ—(२५) (माला का लक्षण) **मालेति**—(अपने) अभीष्ट की सिद्धि के लिये जो अनेक कार्यों का कथन करना है, (वह **अनेकार्थज्ञापनविषयत्वादेव**) **माला** होता है ।

टिप्पणी—अन्य लक्षण--ईप्सितार्थप्रसिद्धयर्थं कीर्त्यते यत्र सूरिभिः ।
प्रयोजनान्यनेकानि सा **मालेत्यभिसंज्ञिता** ।।इति।।

अर्थ—(माला का उदाहरण) यथा—शाकुन्तल में—'राजा (दुष्यन्त)-**किमिति**—[**प्रसङ्ग**—राजा शकुन्तला के साथ सम्भोगरूप अपने कार्य की सिद्धि के लिये शुश्रूषा के प्रकार की तर्कना करता है ।] (हे) हाथ के बाह्य भाग की तरह हैं उरु जिसके ऐसी ? (**'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः" इत्यमरः**) थकावट का हरण करने वाले जल-बिन्दुओं से शीतल वायु वाले कमलिनी के पत्तों से निर्मित पंखे को क्या धीरे धीरे चलाऊं ? अथवा कमल के समान लालिमा वाले तुम्हारे चरणों को (अपनी) गोद में रखकर सुखपूर्वक (धीरे धीरे) अर्थात् जिसप्रकार से तुमको सुख मिले उसप्रकार से मर्दन करूं (अर्थात् धीरे धीरे दबाकर थकावट को दूर करूं)। [अतः तुम्हारी सेवा करने के लिये मेरे होने पर सखियों के चले जाने पर भी कोई व्याकुल होने की बात नही है ।]

टिप्पणी—यहां अपने लिये शकुन्तला के साथ सम्भोग रूप अभीष्ट सिद्धि के लिये दुष्यन्त के पंखा डुलाने और पैर दबाने रूप अनेक कार्यों के कथन करने के कारण **माला** है ।

अर्थ—(२६)-(अर्थापत्ति का लक्षण) **अर्थापत्तिरिति**—दूसरे अर्थ के प्रतिपादन से जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता है (वह **अर्थस्यापत्तिर्बुद्धावुपस्थितिः**) **अर्थापत्ति** (होती) है ।

टिप्पणी—भरतमुनि ने कहा है कि—
अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्योर्थः प्रतीयते ।
वाक्यमाधुर्यसंयुक्तं सार्थापत्तिरुदाहृता ।।इति।।

यथा वेण्याम्—द्रोणोऽश्वत्थामानं राज्येऽभिषेक्तुमिच्छतीति कथयन्तं कर्णं प्रति—

'राजा—साधु अङ्गराज, साधु कथमन्यथा—

दत्त्वाभयं सोऽतिरथो वध्यमानं किरीटिना।
सिन्धुराजमुपेक्षेत नैव चेत्कथमन्यथा ॥'

दूषणोद्घोषणायां तु भर्त्सना गर्हणं तु तत्।

यथा तत्रैव—कर्णं प्रति—

'**अश्वत्थामा**—

निर्वीर्यं गुरुशापभाषितवशात्किं मे तवेवायुधं
सम्प्रत्येव भयाद्विहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा।
जातोऽहं स्तुतिवंशकीर्तनविदां किं सारथीनां कुले
क्षुद्रारातिकृताप्रियं प्रतिकरोम्यस्रेण नास्त्रेण यत् ॥

अर्थ—(**अर्थापत्ति का उदाहरण**) **यथा**—**वेणीसंहार में**—**राजा** (दुर्योधन)—[द्रोणाचार्य अश्वत्थामा को राज्य में अभिषिक्त करना चाहते थे—ऐसा कहते हुये कर्ण के प्रति] ठीक है अङ्गराज (कर्ण)! ठीक है! अन्यथा (अर्थात् यदि अपने पुत्र को अभिषिक्त करने की इच्छा न होती तो) किसप्रकार–**दत्त्वाभयमिति**–अतिरथी (अगणित योद्धाओं के साथ) वह (द्रोणाचार्य पहले दिन 'मा त्वामर्जुनोवधीत्' इसप्रकार से) अभयदान देकर अर्जुन के द्वारा मारे जाते हुये जयद्रथ की उपेक्षा कर देते, इसप्रकार (तुम्हारे द्वारा कही हुई अश्वत्थामा को अभिषिक्त करने की दुरभिसन्धि) यदि नहीं (होती तो) अन्यथा (जयद्रथ की रक्षा करने के लिये की हुई प्रतिज्ञा के प्रति उदासीनता) किसलिये? अर्थात् उपेक्षा करने में और कोई कारण नहीं है।

टिप्पणी—यहाँ जयद्रथ की उपेक्षा रूप दूसरे अर्थ को प्रकट करने से द्रोणाचार्य का अपने पुत्र को अभिषिक्त करने का अभिप्राय प्रतीत होने से अर्थापत्ति है।

अर्थ—(२७) (**गर्हण का लक्षण**) **दूषणेति**—दोषोद्घाटन के अवसर पर (जो) भर्त्सना है वह **गर्हण** (कहलाता) है।

(**गर्हण का उदाहरण**) **यथा**—वहीं (**वेणीसंहार** में ही) **अश्वत्थामा** (कर्ण के प्रति)—**निर्वीर्यमिति**—परशुराम के शाप देने के कारण तुम्हारे अस्त्र की तरह मेरा (शस्त्र) क्या पराक्रम शून्य है? तुम जिसप्रकार (युद्ध को छोड़कर यहाँ शिविर में आ गये हो, उसप्रकार) अभी भय से युद्ध को छोड़कर क्या (मैं) आ गया हूँ? (राजाओं की) स्तुति के लिये (मनोरञ्जन के लिये) राजाओं के पूर्वपुरुषों के नाम और गुणों के कीर्तन को जानने वाले सारथियों के कुल में (तुम्हारी तरह) मैं पैदा हुआ हूँ? नगण्य (भीमार्जुनादि) शत्रुओं से किये हुये अप्रिय व्यवहार का (मेरे पिता द्रोणाचार्य के निधनरूप व्यवहार का) क्या आँसुओं से प्रतिकार करूँ?) (क्या अपने पिता के वधरूप का वैर का प्रतिकार केवल आँसुओं से ही करूँ?) शस्त्र से नहीं (करूँ)।

अभ्यर्थनापरैर्वाक्यैः पृच्छार्थान्वेषणं मता ॥ १९० ॥

यथा तत्रैव—

'सुन्दरकः—अज्जा, अवि णाम सारधिदुदिओ दिट्ठोतुह्मे हिं महाराओ दुज्जोधणो ण वेत्ति ।' [आर्याः, अपि नाम सारथिद्वितीयो दृष्टो युष्माभिर्महाराजो दुर्योधनो न वेति]

प्रसिद्धिर्लोकसिद्धार्थैरुत्कृष्टैरर्थसाधनम् ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

'राजा—

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ ।
स्वयं कृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ॥'

टिप्पणी--(१) द्रोणाचार्य के पुत्र परमवीर मुझ अश्वत्थामा का शस्त्र से ही इसका प्रतिकार करने के योग्य यह विषय है, तुम्हारी तरह युद्ध से पराङ्मुख पराक्रम शून्य आँसुओं से नहीं ।

(२) यहाँ शस्त्रादि के पराक्रम शून्य आदि दोषों की उद्भावना द्वारा कर्ण की भर्त्सना करने के कारण "गर्हण" है ।

(३) कर्ण के प्रति शाप का निम्न कारण है—

कर्णो हि सूतजातमात्मानं संगोप्य स्वस्य विप्रत्वं प्रसिद्धीकृत्य परशुरामाच्छस्त्रविद्यां लब्धवान् । अनन्तरञ्च क्षत्ताऽयमिति ज्ञातस्तेन तस्मै "तवायुधं निर्वीर्यम् स्यात्" इति शप्तः इति ।

अर्थ—(२०) (पृच्छा का लक्षण) अभ्यर्थनेति—प्रार्थना सूचक वाक्यों से विषयों का अन्वेषण करना "पृच्छा" मानी गई है ।

(**पृच्छा** का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही)--सुन्दरक (दुर्योधन का सारथी)—**अज्जेति**—(हे) आर्य पुरुषो ? आज क्या आपने सारथी के साथ महाराज दुर्योधन को (कहीं) देखा है या नहीं ?

टिप्पणी—यहाँ "आर्याः" ! इस सत्कार के द्योतक शब्द को कहकर दुर्योधन का अन्वेषण करने के कारण "पृच्छा" है ।

अर्थ--(२९) (**प्रसिद्धि** का लक्षण) **प्रसिद्धिरिति**—उत्कृष्ट लोक प्रसिद्ध **वस्तुओं** से पदार्थ का परिचय (**प्रसिद्धार्थैः साधनत्वात्**) **प्रसिद्धि है ।**

(**प्रसिद्धि** का उदाहरण) **यथा—विक्रमोर्वशीय** में—"**राजा**—[प्रसङ्ग—राजा **पुरुरवा का स्वयं** का यह परिचय है ।] जिस (पुरुरवा) के सूर्य और चन्द्रमा (क्रमशः) मातामह और पितामह हैं और जो उर्वशी और पृथिवी (इन) दोनों से अपने आप ही (अर्थात् अपनी इच्छा से ही) पति रूप में वरण किया गया है (वह मैं पूछता हूँ ।)

टिप्पणी—(१) इसका कथानक इसप्रकार है :—

पुरा किल स्वायम्भुवमनुपुत्रः सूर्यनप्ता सुषुम्नापरनामा इलो नाम राजा मृगया **प्रसङ्गेन हरनिवारितपुरुषान्तरप्रवेशमुपवनं प्रविष्टः स्त्रीभावमाजगाम; अतस्तस्यैव इला**

सारूप्यमनुरूपस्य सारूप्यात् क्षोभवर्धनम् ॥ १६१ ॥

यथा वेण्याम्—दुर्योधनभ्रान्त्या भीमं प्रति—

'युधिष्ठिरः—दुरात्मन्, दुर्योधनहतक —' इत्यादि ।

संक्षेपो यत्तु संक्षेपादात्मान्यार्थे प्रयुज्यते ।

यथा मम चन्द्रकलायाम्—

'राजा—प्रिये,

अङ्गानि खेदयसि किं शिरीषकुसुमपरिपेलवानि मुधा ।

(आत्मानं निर्दिश्य—)

अयमीहितकुसुमानां सम्पादयिता तवास्ति दासजनः ॥'

नामाभूत्; ताञ्च तत्र परिभ्रमन्तीं चन्द्रतनयो बुधश्चकमे, सा च तं, तयोः पुत्र ऐलापरनामधेयः पुरुरवा आसीत्; तेन पुरुरवसः सूर्यो मातामहः, चन्द्रश्च पितामहः, इति ।

(२) यहाँ उत्कृष्ट लोक में प्रसिद्ध सूर्य और चन्द्रमा के द्वारा अपना परिचय देने के कारण "प्रसिद्धि" है ।

अर्थ—(३०) (सारूप्य का लक्षण) सारूप्यमिति—अनुरूप वस्तु की **समानता** से उत्पन्न भ्रम के कारण क्षोभयुक्त व्यवहार (सादृश्यप्रयोज्यत्वात) **सारूप्य** (कहलाता) है ।

(सारूप्य का उदाहरण) **यथा—वेणीसंहार** में—**"युधिष्ठिर**—[दुर्योधन की भ्रान्ति से भीम के प्रति] दुरात्मन् ! नीच दुर्योधन ?" इत्यादि ।

टिप्पणी— **"दुर्योधनेन भीमो हतः"** ऐसा किसी के कहने से भ्रम के विषयीभूत युधिष्ठिर के दुर्योधन को मारकर भीम के आने पर दुर्योधन के समान दिखाई पड़ने के कारण "दुरात्मन्" इत्यादि क्षोभ से किये हुये आचरण के कारण "सारूप्य" है ।

अर्थ—(३१) (**संक्षेप का लक्षण**) संक्षेप इति— संक्षेप से दूसरे के कार्य में अथवा दूसरे अर्थ के स्थान में जो स्वयं अथवा 'आत्म" शब्द का प्रयोग प्रयुक्त किया जाता है अथवा निर्दिष्ट किया जाता है (वह **संक्षिप्तवाक्यप्रयोजकत्वात्) संक्षेप** (होता) है ।

(संक्षेप का उदाहरण) **यथा**—मेरी (ग्रन्थकारकृत) **चन्द्रकला नाटिका में**— "**राजा**—प्रिये ! **अङ्गानीति**—शिरीषपुष्प के समान सर्वतोभावेन कोमल अङ्गों को क्यों व्यर्थ में (पुष्पों का चयन करने के लिये) कष्ट दे रही हो ? (अपने आपको देखकर) यह सेवक तुम्हारे अभीष्ट पुष्पों को इकट्ठा करने वाला है । [जो तुम्हें अभीष्ट है, वह यह दास ही सम्पन्न कर देगा, तुम्हारे व्यर्थ के कष्ट करने से क्या लाभ ?]

टिप्पणी—यहाँ "अयम्" इसके प्रयोग से अपने आप या कोई दूसरा है—ऐसा **विशेष कथन** नहीं है, अतएव इसके अर्थ के प्रयोग में "आत्मा" के संक्षिप्त प्रयोग के **कारण संक्षेप** है ।

गुणानां कीर्तनं यत्तु तदेव गुणकीर्तनम् ।। १९२ ।।

यथा तत्रैव—

'नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यर्थि—' इत्यादि ।

स लेशो भण्यते वाक्यं यत्सादृश्यपुरःसरम् ।

यथा वेण्याम्—

'**राजा**—'हते जरति गाङ्गेये पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
या श्लाघा पाण्डुपुत्राणां सैवाऽस्माकं भविष्यति ।।'

मनोरथस्त्वभिप्रायस्योक्तिर्भङ्ग्यन्तरेण यत् ।। १९३ ।।

यथा— 'रतिकेलिकलः किंचिदेष मन्मथमन्थरः ।
पश्य सुभ्रु समालम्भात्कादम्बश्चुम्बति प्रियाम् ।'

अर्थ—(३२) (गुणकीर्तन का लक्षण) गुणानामिति—जो गुणों का कहना है, वही गुणकीर्तन (कहलाता) है ।

(**गुणकीतन** का उदाहरण) **यथा**—वहीं (**चन्द्रकला नामक नाटिका में ही**) **नेत्रेति**—(इसकी व्याख्या की जा चुकी है) ।

टिप्पणी—यहाँ कामिनी के सौन्दर्य गुण का कथन करने से "**गुणकीर्तन**" है ।

अर्थ—(३३) (**लेश का लक्षण**) **स इति**—सादृश्य के साथ जो वाक्य कहा जाता है वह (**सादृश्यप्रकाशनसम्बन्धात्**) लेश (कहलाता) है ।

अर्थ—(लेश का उदाहरण) यथा—वेणीसंहार में—"राजा—हत **इति**—**शिखण्डी** (नाम वाले द्रुपद के पुत्र) को आगे करके वृद्ध गङ्गा-पुत्र भीष्म को (अर्जुन के **द्वारा**) मारने पर युधिष्ठिरादिकों की जो प्रशंसा (थी), हमारी (कौरवों की भी **अभिमन्यु** के वध में) भी वही (प्रशंसा) होगी । [यदि वृद्ध भीष्म को छलपूर्वक **मारने** से पाण्डवों की प्रशंसा नहीं होगी तो हमारी भी बालक, असहाय अभिमन्यु के **मारने** में प्रशंसा नहीं होगी और यदि उनकी प्रशंसा होगी तो हमारी भी **प्रशंसा** होगी—यह भाव है ।]

टिप्पणी—यहाँ सादृश्य को बताने वाले वाक्य के प्रयोग के कारण लेश है ।

अर्थ—(३४) (मनोरथ का लक्षण) मनोरथ इति—विशेष भङ्गिमा के द्वारा जो (**अपने**) अभिप्राय का कथन है (वह **मनोरथविशेषणोक्तत्वात्**) **मनोरथ** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—महर्षि भरतमुनि के अनुसार :—
हृदयार्थस्य वाक्यस्य गूढ़ार्थस्य विभावकम् ।
अन्यापदेशैः कथनं मनोरथ इति स्मृतः ।। इति ।।

अर्थ—(**मनोरथ** का उदाहरण) **यथा**—**रतीति**—

[**प्रसङ्गः**—नायिका के प्रति नायक की उक्ति है] । (हे) सुभ्रु ! (शोभन भौं **वाली**) देख, यह (कोई) काम से व्याकुल (अतएव) काम-क्रीड़ा में मधुर और अव्यक्त ध्वनि वाला अथवा काम-क्रीड़ा को करने की इच्छा वाला कलहंस प्रेमाधिक्य के कारण **प्रिया का** (हंसी का) यत्किंचित् चुम्बन कर रहा है । [इसका धीरे-धीरे चुम्बन करना उत्तरोत्तर काम की उद्दीप्ति के लिये है—यह भाव है] ।

टिप्पणी—यहाँ अपनी प्रिया को हंस का चुम्बन करते हुये दिखाकर नायक ने **अपनी चुम्बन** करने की इच्छा को अभिव्यक्त किया है—अतः मनोरथ है ।

विशेषार्थोहविस्तारोऽनुक्तसिद्धिरुदीर्यते ।।

यथा—

'गृहवृक्षवाटिकायाम्—

दृश्येते तन्वि यावेतौ चारुचन्द्रमसं प्रति ।
प्राज्ञे कल्याणनामानावुभौ तिष्यपुनर्वसू ।।'

स्यात्प्रमाणयितुं पूज्यं प्रियोक्तिर्हर्षभाषणम् ।। १६४ ।।

यथा शाकुन्तले—

'उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः ।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं विधिस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः ।।'

अर्थ––(३५) (**अनुक्तसिद्धि** का लक्षण) विशेषार्थेति––विशेष (रूप लावण्यादि के अतिशय को बताना) प्रयोजन के लिये (उसके प्रकरण के होने पर) ऊहा (तर्क) का विस्तार (प्रकरण के अभाव में तो ऊहा असम्भव ही है) **अनुक्तसिद्धि (अनुक्तस्यार्थस्य ज्ञापनम्)** कहा जाता है।

(अनुक्तसिद्धि का उदाहरण) यथा—गृह के समीप विद्यमान वृक्ष की वाटिका में—**दृश्येते इति**—

[**प्रसङ्ग**—उद्यान वाटिका में विश्वामित्र ऋषि के पास श्रीराम और लक्ष्मण को देखकर शिवजी के धनुर्भङ्ग होने से पूर्व सीता के प्रति उसकी सखियों की यह विचार परम्परा है]। (हे) कृशाङ्गि ! मनोहर चन्द्रमा के पास में जो ये दोनों (विशेष कान्ति वाले) दिखाई दे रहे हैं, (हे) बुद्धिमति ! दोनों (ही) शुभनाम वाले तिष्य और पूनर्वसु (नक्षत्रों के समान सुन्दर आकृति वाले) हैं।

टिप्पणी—यहां विश्वामित्र—राम और लक्ष्मण के अतिशय सौन्दर्य का ज्ञान कराने के लिये पृथिवी पर चन्द्र, तिष्य और पुनर्वसु नक्षत्रों के असम्भव होने पर भी उनके वर्णन से अतिशय वितर्क के कारण **अनुक्तसिद्धि** है।

अर्थ—(३६) (**प्रियोक्ति** का लक्षण) **स्यादिति**—पूज्य व्यक्ति को उत्कृष्ट रूप से दिखाने के लिये (प्रमाणयितुम्) आनन्द को उत्पन्न करने वाला वचन अथवा प्रेम-पूर्वक सम्भाषण **प्रियोक्ति** होता है।

(प्रियोक्ति का उदाहरण) **यथा—शाकुन्तल में—उदेतीति—[प्रसङ्ग—कश्यप** के प्रति दुष्यन्त की उक्ति है] (फल की उत्पत्ति से) पूर्व पुष्प विकसित होता है, उसके (पुष्प के उद्गम के) अनन्तर फल (विकसित होता है)। (वृष्टि से) पूर्व बादलों का आविर्भाव (होता है), उसके (मेघों के आविर्भाव के) अनन्तर वर्षा (होती है)। कारण और कार्य का (हेतु और फल का) यह (पौर्वापर्य रूप) क्रम (सर्वत्र दिखाई देता) है, परन्तु आपके अनुग्रह (करने) से पूर्व (ही) समृद्धि (उत्पन्न होती है)। [कहने का आशय यह है कि कारण और कार्य का पौर्वापर्य भाव नियत है, किन्तु इसके विपरीत अद्भुत ही आपकी कृपा का प्रभाव होता है]।

टिप्पणी—(१) यहां कश्यप मुनि की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिये उनके हर्ष को उत्पन्न करने वाले भाषण के होने से "प्रियोक्ति" है।

(२) यहां कार्य-कारण के पौर्वापर्य के व्यत्ययरूप "**अतिशयोक्ति अलङ्कार**" है।

अथ नाट्यालङ्काराः—

आशीराक्रन्दकपटाक्षमागर्वोद्यमाश्रयाः ।
उत्प्रासनस्पृहाक्षोभपश्चात्तापोपपत्तयः ॥ १६५ ॥
आशंसाध्यवसायौ च विसर्पोल्लेखसंज्ञितौ ।
उत्तेजनं परीवादो नीतिरर्थविशेषणम् ॥ १६६ ॥
प्रोत्साहनं च साहाय्यमभिमानोऽनुवर्तनम् ।
उत्कीर्तनं तथा याच्ञा परिहारो निवेदनम् ॥ १६७ ॥
प्रवर्तनाख्यानयुक्तिप्रहर्षाश्चोपदेशनम् ।
इति नाट्यालङ्कृतयो नाट्यभूषणहेतवः ॥ १६८ ॥

आशीरिष्टजनाशंसा—

यथा शाकुन्तले—

'ययातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव ।
पुत्रं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥'

अथ नाट्यालङ्कारनिरूपणम्—

अवतरणिका—पूर्वोक्त तेतीस नाट्यालङ्कारों का वर्णन करते हैं।

अर्थ—इसके बाद (नाट्यलक्षणों के प्रतिपादन के अनन्तर) नाट्यालङ्कारों (का निरूपण करते हैं)।

१—आशी, २—आक्रन्द, ३—कपट, ४—अक्षमा, ५—गर्व, ६—उद्यम, ७—आश्रय, ८—उत्प्राशन, ९—स्पृहा, १०—क्षोभ, ११—पश्चात्ताप, १२—उपपत्ति, १३—आशंसा, १४—अध्यवसाय, १५—विसर्प, १६—उल्लेख, १७—उत्तेजन, १८—परीवाद, १९—नीति, २०—अर्थविशेषण, २१—प्रोत्साहन, २२—साहाय्य, २३—अभिमान, २४—अनुवर्तन, २५—उत्कीर्तन, २६—याचना, २७—परिहार, २८—निवेदन, २९—प्रवर्तन, ३०—आख्यान, ३१—युक्ति, ३२—प्रहर्ष और ३३—उपदेशन—ये (तेतीस) अभिनय काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले नाट्यालङ्कार (कहे जाते) हैं।

अवतरणिका—क्रमशः सभी नाट्यालङ्कारों के लक्षण और उदाहरण देते हैं।

अर्थ—(१) (आशीः का लक्षण) आशीरिति—अपने प्रिय व्यक्ति का आशीर्वाद आशीः (नामक नाट्यालङ्कार होता) है।

(आशीः का उदाहरण) यथा—शाकुन्तल में—ययातेरिति—[प्रसङ्ग—महर्षि कण्व का शकुन्तला के प्रति शुभाशीर्वाद है।] ययाति (नामक किसी चन्द्रवंशीय राजा) की (पट्टराज्ञी) शर्मिष्ठा (वृषपर्वराज की पुत्री) की तरह (तुम अपने) पति (दुष्यन्त) की अत्यधिक सम्मानिता हो। (तथा) उस (शर्मिष्ठा) के पुरू नामक पुत्र की तरह तुम (शकुन्तला) भी राजसमूह का शासन करने वाला अर्थात् चक्रवर्ती (पुत्र) को प्राप्त करो।

टिप्पणी—(१) सम्राट् का लक्षण—

येनेष्टं राजसूयस्य मण्डलस्येश्वरश्च यः ।
शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्··· ॥ इत्यमरः ॥

—आक्रन्दः प्रलपितं शुचा ।

यथा वेण्याम्—

'कञ्चुकी—हा देवि कुन्ति, राजभवनपताके -' इत्यादि ।

कपटं मायया यत्र रूपमन्यद्विभाव्यते ।। १९९ ।।

यथा कुलपत्यङ्के—

'मृगरूपं परित्यज्य विधाय कपटं वपुः ।
नीयते रक्षसा तेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥'

---

(२) ययाति विषयक निम्न महाभारतीय कथा देखनी चाहिये—

"पुरा किल राजर्षिः ययातिर्नाम शुक्रदुहितां देवयानीं, वृषपर्वपुत्रीं शर्मिष्ठाञ्चोपयेमे । किन्तूभयोर्मध्ये शर्मिष्ठैव तत्प्रियतमा बभूवेति । अतएव तत्पुत्रः पुरुरेव वृद्धपितुराज्ञया सम्राट्पदमलञ्चकार" इति ।

(३) यहाँ उपमा के द्वारा यह व्यञ्जित होता है कि अनेक रमणियों के होने पर भी तुम्हीं पट्टरानी हो और राजा तुम्हारे पुत्र को ही युवराज के पद पर अलंकृत करेगा ।

(४) यहाँ अभीष्ट महिषी पद और पुत्र का आशीर्वाद होने से "आशीः" है ।

अर्थ—(२) (आक्रन्द का लक्षण) आक्रन्द इति—शोक से (पुत्रादि की मृत्यु से उत्पन्न आन्तरिक दुःख के उद्रेक से) विलाप करना आक्रन्द (कहलाता) है ।

(आक्रन्द का उदाहरण) यथा—वेणीसंहार में—

'कञ्चुकी'—हा देवि ! कुन्ति ! राजभवनपताके ?—(अर्थात् अपने आचरण से पताका की तरह सर्वोत्कृष्ट) इत्यादि ।

टिप्पणी—यहाँ शोक से विलाप करने के कारण "आक्रन्द" है ।

अर्थ—(३) (कपट का लक्षण) कपटमिति—जहाँ छल से दूसरा रूप प्रकट किया जाता है (वह) कपट (कहलाता) है ।

(कपट का उदाहरण) यथा—कुलपति अङ्क में—मृगरूपमिति—उस (मायावियों में प्रसिद्ध) राक्षस (मारीच) ने (सुवर्ण के बने हुये) हरिण के शरीर को छोड़कर कपटयुक्त (पहले की तरह) शरीर को धारण करके (राक्षस शरीर को धारण करके) संग्राम में लक्ष्मण को संशय को प्राप्त करा दिया ।

टिप्पणी—यहाँ कपट से मारीच राक्षस के हरिणरूप से भिन्नरूप को धारण करने से "कपट" है ।

अक्षमा सा परिभवः स्वल्पोऽपि न विषह्यते ।

यथा शाकुन्तले—

राजा—भोः सत्यवादिन्, अभ्युपगतं तावदस्माभिः। किं पुनरिमामतिसन्धाय लभ्यते।

शार्ङ्गरवः—विनिपातः—' इत्यादि ।

गर्वोऽवलेपजं वाक्यं—

यथा तत्रैव—

'राजा—ममापि नाम सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः ।'

—कार्यस्यारम्भ उद्यमः ॥ २०० ॥

यथा कुम्भाङ्के—

'रावणः—पश्यामि शोकविवशोऽन्तकमेव तावत् ।'

अर्थ—(४) (**अक्षमा** का लक्षण) **अक्षमेति**—थोड़ा-सा भी अपमान (जो) सहन नहीं किया जाता है, वह **अक्षमा** (होता) है ।

(**अक्षमा** का उदाहरण) **यथा**—(**शाकुन्तल में**)—[**प्रसङ्ग**—शार्ङ्गरव के प्रति राजा दुष्यन्त की उक्ति है ।] "**राजा**—हे सत्य बोलने वाले ! (यहाँ विपरीत लक्षणा है) (अच्छा) हमने स्वीकार कर लिया, हम इसप्रकार के ही हैं (अर्थात् आपके कहने के अनुसार हम दूसरे को ठगने वाले, अनाप्त वचन वाले ही हैं ।), किन्तु इस (बेचारी शकुन्तला) को ठगकर क्या (फल) मिलेगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं । [क्योंकि किसी भी व्यक्ति को ठगने में कोई न कोई प्रयोजन देखा जाता है, परन्तु इस तपस्विनी शकुन्तला को ठगने में कोई प्रयोजन न होने के कारण इसको ठगना निरर्थक है, व्यर्थ है ।] (यह सुनकर शार्ङ्गरव कुपित होकर बोला) **शार्ङ्गरव**—अधोगति है" (सर्वनाश है ।) इत्यादि ।

टिप्पणी—यहाँ भोः सत्यवादिन् ! इस आक्षेप के कारण दुष्यन्त से किये हुये थोड़े से भी तिरस्कार का "**विनिपातः**" ऐसा कहकर शार्ङ्गरव के द्वारा सहन न कर सकने के कारण "**अक्षमा**" है ।

अर्थ—(५) (**गर्व** का लक्षण) **गर्व इति**—अहंकार से उत्पन्न होने वाले वाक्य को **गर्व** (कहते) हैं ।

(**गर्व** का उदाहरण) **यथा**—वहीं (**शाकुन्तल में ही**) "**राजा**—क्या मेरे ही घर प्राणियों से तिरस्कृत किये जाते हैं ।

टिप्पणी—यहाँ "**ममापि**" इससे राजा के अहंकार का अतिशय सूचित होने से "**गर्व**" है ।

अर्थ—(६) (**उद्यम** का लक्षण) **कार्यस्येति**—(जिस किसी) कार्य का आरम्भ करना **उद्यम** (कहलाता) है ।

(**उद्यम** का उदाहरण) **यथा**—**कुम्भाङ्क** में—"**रावण**—अत्यन्त शोक से व्याकुल (अर्थात् सभी पुत्र, भाई और बन्धु वर्ग के नाश हो जाने से) मैं यमराज को ही पूर्णरूप से (तावत्) देखता हूँ ।

टिप्पणी—यहाँ युद्धरूप कार्य के आरम्भ का "**पश्यामि**" इत्यादि में सूचित होने से उद्यम है ।

ग्रहणं गुणवत्कार्यहेतोराश्रय उच्यते ।

यथा विभीषणनिर्भर्त्सनाङ्के—

'विभीषणः—राममेवाश्रयामि' इति ।

उत्प्रासनं तूपहासो योऽसाधौ साधुमानिनि ॥ २०१ ॥

यथा शाकुन्तले—

'शार्ङ्गरवः—राजन्! अथ पुनः पूर्ववृत्तान्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवान्। तत्कथमधर्मभीरोर्दारपरित्यागः—' इत्यादि ।

आकांक्षा रमणीयत्वाद्वस्तुनो या स्पृहा तु सा ।

अर्थ—(७) (**आश्रय** का लक्षण) **ग्रहणमिति**—उत्कृष्ट (गुणवत) कार्य के कारण को ग्रहण करना **आश्रय** कहलाता है ।

(**आश्रय** का उदाहरण) **यथा**—विभीषण का तिरस्कार करने वाले अङ्क में—

"**विभीषण**—(अच्छा) राम का ही आश्रय लूँगा ।" इति ।

टिप्पणी—यहाँ विभीषण का अपने राज्य की प्राप्ति रूप उत्कृष्ट कार्य के कारण श्रीरामचन्द्र जी का आश्रय लेने के कारण **आश्रय** है ।

अर्थ—(८) (**उत्प्रासन** का लक्षण) **उत्प्रासनमिति**—अपने को सज्जन मानने वाले असज्जन व्यक्ति के विषय में जो उपहास है, (वह **उत्प्रास्यतेऽन्यस्य हृदयमत्यर्थं क्षुभ्यते अनेनेति**) **उत्प्रासन** (कहलाता) है ।

(**उत्प्रासन** का उदाहरण) **यथा**—**शाकुन्तल में**—

शार्ङ्गरव—राजन्! क्या (अब पुनः) पहले के वृत्तान्त को (शकुन्तला के साथ गान्धर्व विधि से सम्पन्न विवाह रूप घटना को) दूसरे के संसर्ग से (अर्थात् अन्य किसी भार्या के संसर्ग के कारण, राजकार्य में लगे रहने के कारण, अथवा मोह के कारण) आप भूल गये । अन्यथा (तत्) अधर्म से डरने वाले (तुम्हारा) स्त्री-परित्याग कैसा ? [अर्थात् यदि अधर्म से डरते हैं, तो स्त्री का परित्याग कैसे कर रहे हैं, क्योंकि इसके (स्त्री-परित्याग के) अन्दर भी अधर्म है । **गौतम** ने कहा भी है कि "**पतिताऽत्याज्यपतितत्यागिनश्च पतितः**" इति । अतः आपको स्त्री का परित्याग नहीं करना चाहिये—यह शार्ङ्गरव का अभिप्राय है ।]

टिप्पणी—यहाँ किये हुये का विस्मरण करने के कारण राजा की असाधुता है । **अतः** शार्ङ्गरव के द्वारा असाधुत्वेन माने जाते हुये अपने आप को सज्जन मानने वाले दुष्यन्त के प्रति "**राजन्**" इत्यादि कहकर उपहास करने से **उत्प्रासन** है ।

अर्थ—(९) (**स्पृहा का लक्षण**) **आकांक्षेति**—(जिस किसी) विषय के मनोहर होने के कारण जो आकांक्षा (उसको प्राप्त करने की इच्छा) है, वह **स्पृहा** (कहलाती) है ।

यथा तत्रैव—

'राजा—

चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षतकोमलः।
पिपासतो ममानुज्ञां ददातीव प्रियाधरः॥'

अधिक्षेपवचःकारी क्षोभः प्रोक्तः स एव तु॥ २०२॥

यथा—

'त्वया तपस्विचाण्डाल प्रच्छन्नवधवर्तिना।
न केवलं हतो वाली स्वात्मा च परलोकतः॥

मोहावधीरितार्थस्य पश्चात्तापः स एव तु।

अर्थ—(स्पृहा का उदाहरण) **यथा—वहीं** (शाकुन्तल में ही)—"**राजा—चारुणेति**—

प्रसङ्ग—शकुन्तला के सरस अधरों को देखकर उसके मुख को ऊपर उठाकर उनका चुम्बन करने की इच्छा से मन ही मन राजा की यह उक्ति है।

(किसी नायक के द्वारा) अननुभूत चुम्बन के कारण कोमल (अतः इसका अधर पान करने के योग्य है-यह भाव है) प्रिया (शकुन्तला) का अधरोष्ठ मनोहर रूप से हिलते हुये पान करने की इच्छा वाले मुझे मानों (स्वयं ही पान करने की) अनुमति दे रहे हैं।

टिप्पणी—यहाँ अधरोष्ठ के रमणीय होने के कारण पान करने की आकांक्षा रूप स्पृहा है।

अर्थ—(१०) (क्षोभ का लक्षण) **अधिक्षेपवच इति**—आक्षेपयुक्त वचन को उत्पन्न करने वाला जो मनोविकार विशेष (क्षोभ) है, वही क्षोभ कहा गया है।

(क्षोभ का उदाहरण) **यथा—त्वयेति**—

प्रसङ्ग—श्रीराम के प्रति मरणप्रायः वालि की यह उक्ति है]।

(हे) तपस्विचाण्डाल (राम)! (अर्थात् तपस्वियों में चाण्डाल की तरह नृशंस कर्म करने वाले!) गुप्त रूप से हिंसा करने वाले तुमने केवल (मुझ) वालि को (ही) नहीं मारा है (अपितु) परलोक से अपनी आत्मा (का भी हनन कर लिया है) [कहने का आशय यह है कि जैसा तुमने यह बुरा कार्य किया है। इससे परलोक में भी तुम्हारा निस्तार नहीं होगा—क्योंकि "धर्म एव हतो हन्ति" इति]।

टिप्पणी—यहाँ वालि के द्वारा इसप्रकार भर्त्सना पूर्वक कहे हुये वाक्य से उत्पन्न क्षोभ होने के कारण क्षोभ है।

अर्थ—(११) (पश्चात्ताप का लक्षण) **मोहेति**—अनवधानता के कारण अथवा चित्तभ्रम के कारण अथवा अज्ञान के कारण तिरस्कृत विषय के (विषय में) की (अवज्ञा के अनन्तर) अनुताप है, वही पश्चात्ताप (कहलाता) है।

यथानुतापाङ्के—

'रामः—

किं देव्या न विचुम्बितोऽस्मि बहुशो मिथ्याभिशप्तस्तदा।' इति।

उपपत्तिर्मता हेतोरुपन्यासोऽर्थसिद्धये ॥ २०३ ॥

यथा वध्यशिलायाम्—

'म्रियते म्रियमाणे या त्वयि जीवति जीवति।
तां यदीच्छसि जीवन्तीं रक्षात्मानं ममासुभिः॥'

आशंसनं स्यादाशंसा—

अर्थ—(पश्चात्ताप का उदाहरण) **यथा**—अनुताप (नामक) अङ्क में—"राम—किं देव्या इति—क्यों (नहीं) उस समय देवी (सीता) के द्वारा मिथ्या रूप से अभिशप्त (मैं) अनेक बार चुम्बित किया गया हूँ।

टिप्पणी—यहाँ अज्ञानवश चुम्बन रूप विषय का अनादर करने के कारण पश्चात्ताप है।

अर्थ—(१२) (उपपत्ति का लक्षण) **उपपत्तिरिति**—कार्य की सिद्धि के लिये कारण का निर्देश उपपत्ति मानी गई है।

(उपपत्ति का उदाहरण) **यथा**—वध्यशिला (नाटक विशेष) में—(जहाँ गरुड़ अपने भोजन के लिये नागों के वध के लिये ले जाता है)—**म्रियते इति**—

प्रसङ्ग—नागों को जीवित करने के लिये गरुड़ को अपनी देह को समर्पण करने की इच्छा वाले शंखचूड के प्रति नायक की यह उक्ति है]।

तुम्हारे (तुझ सदृश पुत्र के) मरणासन्न होने पर जो मरणासन्न हो जाती है, (तुम्हारे) जीवित रहने पर (जो) जीवित रहती है, यदि उसको (अपनी माता को) जीवित देखना चाहते हो (तो) मेरे प्राणों से अपने आपकी रक्षा करो। (अर्थात् तुम्हारे स्थान पर मैं मर जाता हूँ)।

टिप्पणी—(१) यहाँ अपनी माता की जीवन स्थिति रूप अभीष्ट सिद्धि के लिये, माता के जीवन की रक्षा रूप कारण के निर्दिष्ट करने के कारण उपपत्ति है।

(२) यह "नागानन्द" का पद्य है।

अर्थ—(१३) (आशंसा का लक्षण) **आशंसनमिति**—अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करना आशंसा होती है।

टिप्पणी—आशीः और आशंसा में भेदः—"आशीः" नामक अलंकार के अन्दर बन्धुजन के लाभ की इच्छा होती है और आशंसा में अपने अभीष्ट लाभ की इच्छा होती है।

यथा श्मशाने—

'माधवः—

तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम् ।' इति ॥

—प्रतिज्ञाध्यवसायकः ।

यथा मम प्रभावत्याम्—

'वज्रनाभः—

अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गदयानया ।
लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः ॥'

अर्थ—(आशंसा का उदाहरण) **यथा**—(श्मशान में)—

"**माधव**"—**तत्पश्येयमिति**—कामदेव के मांगलिक निवास स्थान वाले उसके (मालती के) उस (अनुभूत आस्वाद वाले) मुख को पुनरपि देखूँ' इति ।

टिप्पणी—(१) **मालतीमाधव** के अन्दर पूरा श्लोक इसप्रकार है :—

सम्भूयेव सुखानि चेतसि परं भूमानमातन्वते ।
यत्रालोकपथावतारिणी रतिं प्रस्तौति नेत्रोत्सवः ॥
यद्बालेन्दु लोच्चयादिव चितैः सारैरिवोत्पादितम् ।
तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोपि तस्या मुखम् ॥ इति ॥

(२) यहाँ अभीष्ट मालती के मुख को देखने की प्रार्थना करने के कारण **आशंसा** है ।

अर्थ—(१४) (**अध्यवसाय** का लक्षण) **प्रतिज्ञेति**—प्रतिज्ञा (कर्म को करने के लिये दृढ़तर निश्चय का निर्देश) **अध्यवसाय** (**अध्यवसायमूलत्वात्**) है ।

(**अध्यवसाय** का उदाहरण) **यथा**—मेरी (ग्रन्थकार निर्मित) **प्रभावती में**—**वज्र**-नाभ—**अस्येति**—

प्रसङ्ग—किसी राक्षसराज की अथवा राजा की इन्द्र के साथ युद्ध करते हुये उसके प्रति यह उक्ति है ।

इस (प्रद्युम्न) के उरःस्थल को क्षण भर में ही (देर में नहीं) इस (प्राणान्त करने वाली) गदा से चूर्ण करके अनायास ही आज तुम्हारे (श्रीकृष्णादिकों के) स्वर्ग और भूलोक को (पाताल को छोड़कर क्योंकि वहाँ वह स्वयं निवास करता है) नष्ट करता हूँ ।

टिप्पणी—यहाँ दोनों लोकों को नष्ट करने रूप कर्तव्य के निश्चय के **कारण** **अध्यवसाय** है ।

विसर्पो यत्समारब्धं कर्मानिष्टफलप्रदम् ॥ २०४ ॥

यथा वेण्याम्—

'एकस्यैव विपाकोऽयम्—' इत्यादि ।

कार्यग्रहणमुल्लेखः—

यथा शाकुन्तले—राजानं प्रति—

'तापसौ—समिदाहरणाय प्रस्थितावावाम् । इह चास्मद्गुरोः कण्वस्य कुलपतेः साधिदैवत इव शकुन्तलयानुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते । न चेदन्य-कार्यातिपातः, प्रविश्य गृह्यतामतिथिसत्कारः' इति ।

अर्थ—(१५) (विसर्प का लक्षण) विसर्प इति—अशुभ फल को देने वाला जो कर्म का आरम्भ है, (वह विशेषरण हृदये समर्पणात्) विसर्प नामक अलंकार है ।

(विसर्प का उदाहरण) यथा—वेणीसंहार में—एकस्येति—

प्रसङ्ग—केशों को पकड़कर धृष्टद्युम्न के द्वारा मृत पड़े हुये द्रोणाचार्य के शिर को काट लेने पर क्रुद्ध अश्वस्थामा की यह उक्ति है ।]

एक का (द्रौपदी के केशों को पकड़कर खींचने का) तो यह (युद्ध के अन्दर अनेक राजाओं का निधन रूप) परिणाम है ।' इत्यादि । [और दूसरे द्रोणाचार्य के केशपाशों को पकड़कर शिरच्छेद करने पर तो सम्पूर्ण मनुष्यों के विनाश का प्रारम्भ है ?]

टिप्पणी—यहाँ द्रौपदी के केश ग्रहण रूप कर्म का अनेकानेक अतिरथी, महा-रथी आदियों का मरण रूप फल होने के कारण और द्रोणाचार्य के केशग्रहण रूप संसार के विनाश के कार्य का आरम्भ रूप फल होने के कारण विसर्प है ।

अर्थ—(१३) (उल्लेख का लक्षण) कार्यग्रहणमिति—कार्य को स्वीकार करना (उल्लिख्यमानविषयत्वात्) उल्लेख (कहाता) है ।

(उल्लेख का लक्षण) यथा—शाकुन्तल में —राजा के प्रति—

दो तपस्वी—हम दोनों समिधाओं को (हवन के लिये उपयोगी लकड़ियों को) लाने के लिये जा रहे हैं । [गुरु के कार्य के लिये जाने के कारण इस समय आपके साथ आश्रम को चलने में असमर्थ हैं—यह उन दोनों तपस्वियों का आशय है ।] और यहीं हमारे गुरु (कुलपति) कण्व ऋषि का शकुन्तला से अधिष्ठित अधिष्ठात्री देवता की तरह मालिनी नदी के किनारे आश्रम दिखाई दे रहा है, यदि (किसी अन्य राजकीय) कार्य का व्याघात न हो (तो यहाँ आश्रम में) प्रवेश करके आतिथ्य स्वीकार कीजिये ।' इति ।

टिप्पणी—(१) यहाँ दुष्यन्त के आतिथ्य ग्रहण करने के कारण उल्लेख है ।

(२) कुलपति का लक्षण :—

मुनीनां दशसहस्रं योऽन्नपानादिपोषणात् ।
अध्यापयति विप्रर्षिः स वै कुलपतिः स्मृतः ।। इति ।।

—उत्तेजनमितीष्यते ।
स्वकार्यसिद्धयेऽन्यस्य प्ररणाय कठोरवाक् ॥ २०५ ॥

यथा—

'इन्द्रजिच्चण्डवीर्योऽसि नाम्नैव बलवानसि ।
धिग्धिक्प्रच्छन्नरूपेण युध्यसेऽस्मद्भयाकुलः ॥'

भर्त्संना तु परीवादो—

यथा सुन्दराङ्के—

'दुर्योधनः—धिग् धिक् सूत, किं कृतवानसि ।
वत्सस्य मे प्रकृतिदुर्ललितस्य पापः पापं विधास्यति—' इत्यादि ।

अर्थ—(१७) (उत्तेजन का लक्षण) उत्तेजनमिति—अपने (अभीष्ट) कार्य की सिद्धि के लिये दूसरे मनुष्य की प्रवृत्ति के लिये (प्रयुक्त) कठोर वाणी (उत्तेज्यतेऽनेनेति) उत्तेजन कहलाती है ।

(उत्तेजन का उदाहरण) यथा—इन्द्रजिदिति—

प्रसङ्ग—अन्तर्हित हुये मेघनाद को मारना कठिन है, ऐसा सोचकर उसको सन्मुख युद्ध में आने के लिये प्रवृत्त कराने वाली लक्ष्मण की यह उक्ति है ।

(हे) इन्द्रजित् ! (तुम) नाम से ही (कर्म से नहीं) प्रचण्ड पराक्रमी (और) बलवान् हो [अर्थात् 'इन्द्रजित्' नाम से ही तुम्हारी प्रचण्डता और बलवत्ता प्रसिद्ध है ।] (तुमको) पौनः-पुन्येन धिक्कार हैं (अर्थात् मैं तुम्हारी बार बार निन्दा करता हूँ) (जो तुम) हमारे भय से व्याकुल होकर अप्रकट रूप से लड़ रहे हो। क्योंकि यदि तुम निर्भय होते तो अवश्य ही सन्मुख आकर प्रकट रूप से युद्ध करते ।]

टिप्पणी—यहाँ जय रूप अपने प्रयोजन की निष्पत्ति के लिये मेघनाद को सामने आने के लिये प्रेरित करने के लिये लक्ष्मण की परुषोक्ति होने के कारण उत्तेजन है ।

अर्थ—(१८) (परीवाद का लक्षण) भर्त्संनेति—तिरस्कार परीवाद होता है ।

(परीवाद का उदाहरण) यथा—सुन्दर (वेणीसंहार) के अङ्क में—दुर्योधन—

प्रसङ्ग—मूर्च्छित दुर्योधन की रक्षा करने के लिये रण से रथ को लौटाकर लाते हुये सारथी के प्रति मूर्च्छा के टूटने पर दुर्योधन की यह भर्त्संना है ।

(हे) सूत (तुमको) धिक्कार है ! (तुमने) यह क्या किया है । स्वभाव से ही चंचल वत्स का (दुःशासन का) पापात्मा (भीमसेन) अनिष्ट वक्षोविदारण) करेगा ।

टिप्पणी—(१) यहाँ रथ को लेकर संग्राम से भागे हुये सारथी की भर्त्संना करने के कारण परीवाद है ।

(२) सम्पूर्ण श्लोक इसप्रकार है—

वत्सस्य में प्रकृतिदुर्ललितस्य पापः
पापं विधास्यति समक्षमुदायुधोऽसौ ।
अस्मिन्निवारयसि किं व्यवसायिनं माम्
क्रोधो न नाम करुणा न च तेऽस्ति लज्जा ॥इति॥

—नीतिः शास्त्रेण वर्तनम् ।

यथा शाकुन्तले--

'दुष्यन्तः—विनीतवेषप्रवेश्यानि तपोवनानि ।' इति ।

उक्तस्यार्थस्य यत्तु स्यादुत्कीर्तनमनेकधा ॥२०६॥

उपालम्भविशेषेण तत् स्यादर्थविशेषणम् ।

यथा शाकुन्तले राजानं प्रति—

'शार्ङ्गरवः—आः, कथमिदं नाम, किमुपन्यस्तमिति । ननु भवानेव नितरां लोकवृत्तान्तनिष्णातः ।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यन्था भर्तृमतीं विशङ्कते ।

अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥'

अर्थ—(१९) (नीति का लक्षण) नीतिरिति—शास्त्रानुसार कर्म का अनुष्ठान करना नीति (होती) है ।

(नीति का उदाहरण) यथा—शाकुन्तल में—दुष्यन्त—विनीत वेश से तपोवन में प्रवेश करना चाहिये । (अर्थात् तपस्वियों के पास विनीत भाव से जाना परम आवश्यक है, यह राजा का अभिप्राय है ।)

टिप्पणी—यहाँ शास्त्रानुसार व्यवहार करने से नीति है ।

अर्थ—(२०) (अर्थविशेषण का लक्षण) उक्तस्येति—प्रतिपादित विषय का प्रतिकूल वचन से जो अनेकशः स्पष्ट प्रतिपादन होता है, वह (अर्थः प्रस्तुतविषयो विशिष्यतेऽवधार्यतेऽनेनेति) अर्थविशेषण होता है ।

(अर्थ विशेषण का उदाहरण) यथा--शाकुन्तल में--(राजा के प्रति) शार्ङ्गरव आः कथमिदं नाम इति —

प्रसङ्ग—शकुन्तला को स्वीकार करने के लिये अनेक बार शार्ङ्गरव के कहने पर राजा के द्वारा कहे हुये 'किमिदम्' इसका शार्ङ्गरव उपहास करते हुये अनेक प्रकार से खण्डन करते हैं ।

आः यह कैसे (कहा) ! यह क्या कहना शुरू कर दिया ? आप ही (वानप्रस्थाश्रम में निवास करने वाले हम नहीं) लौकिक व्यवहार में अधिक अभिज्ञ (निष्णात) हैं । [अतः आप ही बताइये कि तपस्या के साधनभूत तपोवन में इसका चिरकाल तक रहना ठीक है या नहीं ।]

[लोक व्यवहार को ही दिखाते हैं]

सतीमपि—संसार पितृकुल ही है एकमात्र आश्रय जिसका ऐसी अर्थात् पितादि के घर निवास करने वाली सधवा स्त्री को साध्वी होते हुये भी अन्यथा [दूसरे रूप में—यहाँ सभा के अन्दर तपस्वी के कथन में अनौचित्य दोष का परिहार करने के लिये कवि ने "दुष्टा" इस पद का प्रयोग न करके 'अन्यथा' इस पद का प्रयोग किया है ।] आशंका करता है (अर्थात् व्यभिचारिणी समझता है) । इसी (कारण) से अपने (स्त्री के) बन्धु-बान्धवों से (पितादिकों से) नारी [प्रकृष्टमदा= प्रमदा । वृद्धावस्था में स्त्री के पिता के घर रहने में मनुष्यों को दोष की आशंका नहीं होती है, इसीलिये स्त्री सामान्यवाचक पद को छोड़कर "प्रमदा" यह विशेष पद रखा है ।] प्रिय को अथवा अप्रिय हो, पति के पास चाही जाती है । [अतः यही लोकाचार है ।]

प्रोत्साहनं स्यादुत्साहगिरा कस्यापि योजनम् ॥ २०७ ॥

यथा बालरामायणे—

'कालरात्रिकरालेयं स्त्रीति किं विचिकित्ससि ।
तज्जगत्त्रितयं त्रातुं तात ! ताडय ताडकाम् ॥'

साहाय्यं सङ्कटे यत्स्यात् सानुकूल्यं परस्य च ।

यथा वेण्याम्—कृपं प्रति—

'**अश्वत्थामा**—त्वमपि तावद्राज्ञः पार्श्ववर्ती भव ।
कृपः—वाञ्छाम्यहमद्य प्रतिकर्तुम्–' इत्यादि ।

अभिमानः स एव स्यात्—

टिप्पणी— यहाँ "**किमिदमुपन्यस्तम्**" ऐसा राजा के कहने पर उसकी भर्त्सना करने के रूप में "**आः ! कथम्**" इत्यादि तीन वाक्यों से "**तदिदानीमापन्नसत्वेयं गृह्यतां सहधर्मचरणाय**" इस अपने कहे हुये वाक्य का शार्ङ्गरव ने पौनः पुन्येन मण्डन किया है । अतः **अर्थविशेषण** है ।

अर्थ—(२१) (प्रोत्साहन का लक्षण) **प्रोत्साहनमिति**—उत्साह सूचक वाणी से किसी (मनुष्य) को (कार्य में) प्रवृत्त कराना (प्रोत्साह्यतेऽनेनेति) **प्रोत्साहन** होता है।

(प्रोत्साहन का उदाहरण) **यथा—बालरामायण में—कालरात्रीति—**

[**प्रसङ्ग**—ताड़का नामक राक्षसी को मारने के लिये श्रीराम के प्रति विश्वामित्र की यह उक्ति है ।] स्त्री है, इस (कारण) से क्यों (मारनी चाहिये या नहीं यह) संशय कर रहे हो ? (हे) तात ! यह (राक्षसी) प्रलयरात्रि के समान भयंकर है (अर्थात् तीनों लोकों का भक्षण करने वाली है), इसलिये तीनों लोकों की रक्षा के लिये ताड़का को मार डालो ।

टिप्पणी—यहाँ उत्साह देने वाले वाक्य से राम को ताड़का के मारने में प्रवृत्त कराने के कारण "**प्रोत्साहन**" है ।

अर्थ—(२२) (साहाय्य का लक्षण) **साहाय्यमिति**—विपत्ति में दूसरे का जो अनुकूल आचरण है, (वह) **साहाय्य** होता है ।

(साहाय्य का उदाहरण) **यथा—वेणीसंहार** में कृपाचार्य के प्रति **अश्वत्थामा**–आप भी राजा (दुर्योधन) के सहायक (पार्श्ववर्ती) होइये । **कृपाचार्य**—मैं (भी) आज प्रतिकार करना चाहता हूँ" इत्यादि ।

टिप्पणी—यहाँ युद्ध के संकट के समय कृपाचार्य के दुर्योधन की सहायता में प्रवृत्त होने के कारण "**साहाय्य**" है ।

अर्थ—(२३) (**अभिमान का लक्षण**) **अभिमान इति**—(वाक्य से जो) **अभिमान** (प्रतीत होता) है, वह **अहंकार** ही **अभिमान** होता है ।

यथा तत्रैव—

'दुर्योधनः—मातः किमप्यसदृशं कृपणं वचस्ते—' इत्यादि।

—प्रश्रयादनुवर्तनम् ॥ २०८ ॥

अनुवृत्तिः—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—(शकुन्तलां प्रति) अयि ! तपो वर्धते ?

अनसूया—दाणिं अदिधिविसेसलाहेण' [इदानीमतिथिविशेषलाभेन] इत्यादि।

—भूतकार्याख्यानमुत्कीर्तनं मतम्।

अर्थ—(अभिमान का उदाहरण) यथा—वहीं (वेणीसंहार में ही), दुर्योधन—[प्रसङ्ग—पाण्डवों को राज देने के लिये गान्धारी के कहने पर दुर्योधन की यह उक्ति है।] (हे) मातः ! (गान्धारि !) तुम्हारा (क्षत्रियप्रसू होकर) वचन अशोभन (किमपि), अयोग्य (और) क्षुद्र है।

टिप्पणी—(१) सम्पूर्ण श्लोक इसप्रकार है—

मातः किमप्यसदृशं कृपणं वचस्ते
सुक्षत्रिया क्व भवती क्व च दीनतैषा।
निर्वत्सले सुतशतस्य विपत्तिमेताम्
त्वं नानुचिन्तयसि रक्षसि मामयोग्यम् ॥ इति ॥

(२) यहाँ माता के आक्षेप से दुर्योधन का अभिमान सूचित होने से "अभिमान" है।

अर्थ—(२४) (अनुवृत्ति का लक्षण) प्रश्रयादिति—विनयपूर्वक अनुसरण करना अर्थात् प्रत्युत्तर आदि से सन्तोष देना अनुवृत्ति है।

(अनुवृत्ति का उदाहरण) यथा—शाकुन्तल में—"राजा—(दुष्यन्त)—(शकुन्तला के प्रति) अयि ! (क्या) तप की वृद्धि हो रही है ? [राजा के पूछने पर लज्जा से नीचे मुख करके उत्तर न देती हुई शकुन्तला को देखकर अनसूया उत्तर देती है।] अनसूया—(हाँ) विशिष्ट अतिथि के आ जाने से (अर्थात् आपके आने से तप बढ़ रहा है।)।

टिप्पणी—यहाँ अनसूया की राजा के प्रति उत्तर देने में विनयपूर्वक प्रवृत्ति होने से "अनुवृत्ति" है।

अर्थ—(२५) (उत्कीर्तन का लक्षण) भूतेति—अतीत के कार्य का कहना उत्कीर्तन माना गया है।

टिप्पणी—निरुक्ति और उत्कीर्तन में भेद—

"निरुक्ति" के अन्दर अपने किये हुये पूर्वकाल के सिद्ध कार्यों का कथन होता है, किन्तु "उत्कीर्तन" में अपने या पराये किसी के भी सामान्य अतीत काल के कार्यों का कथन होता है।

यथा बालरामायणे—

'अत्रासीत्फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवेद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः।' इत्यादि।

याच्ञा तु क्वापि याच्ञा या स्वयं दूतमुखेन वा ॥ २०९ ॥

यथा—

'अद्यापि देहि वैदेहीं दयालुस्त्वयि राघवः।
शिरोभिः कन्दुकक्रीडां किं कारयसि वानरान् ॥'

परिहार इति प्रोक्तः कृतानुचितमार्जनम्।

अर्थ—(उत्कीर्तन का उदाहरण) **यथा बालरामायण में—अत्रासीदिति—**

[**प्रसङ्ग**—पुष्पक विमान से लौटकर आते हुये सीता जी को युद्ध भूमि दिखाते हुये राम की यह उक्ति है।] इस स्थान पर (हम दोनों का मेघनाद द्वारा प्रयुक्त) नागपाशों से बन्धन था, (और) यहाँ पर तुम्हारे (सीता जी के) देवर के (देवर का प्रयोग अनुराग को उत्पन्न करने के लिये है) (मेघनाद की) शक्ति (नामक विशेष अस्त्र) से वक्षःस्थल पर अत्यन्त प्रहार करने पर हनुमान् के द्वारा (लक्ष्मण को जीवित करने के लिये) द्रोण पर्वत (गन्धमादन पर्वत) लाया गया था।

टिप्पणी—(१) इस श्लोक का उत्तरार्ध इसप्रकार है :—

दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं लम्भितः।
केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥ इति ॥

(२) यहाँ सीता जी से नागपाश के बन्धनादि भूतकालीन कार्यों के श्रीराम द्वारा कथन करने से उत्कीर्तन है।

अर्थ—(२६) (याच्ञा का लक्षण) **याच्ञेति**—स्वयं अथवा दूत के द्वारा किसी व्यक्ति से (जिस किसी वस्तु की) जो अभ्यर्थना है, (वह) **याच्ञा** (कहलाती) है।

(१) (दूत मुख से याच्ञा का उदाहरण) **यथा—अद्यापीति—**[**प्रसङ्ग**—रावण के प्रति अङ्गद की यह उक्ति है]। अब भी सीता जी को लौटा दो, रामचन्द्र जी तुम्हारे ऊपर दयालु (हैं) (रामचन्द्र जी के बाणों के प्रहार से गिरे हुये अपने दस) शिरों से वानरों को क्यों कन्दुक-क्रीड़ा कराना चाहते हो? [कहने का भाव यह है कि सीता जी को न देने पर राम के द्वारा काटे हुये तुम्हारे सिरों के मुण्डों को लेकर बानर गेंद की तरह खेलेंगे अतः शीघ्र ही राम को सीता जी लौटा दो]।

टिप्पणी—(१) यहाँ अङ्गद के द्वारा प्रार्थना करने के कारण याच्ञा है।

(२) **स्वयंयाच्ञा** का उदाहरण है :—

"भो लङ्केश्वर ! दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते" इत्यादि।

अर्थ—(२७) (परिहार का लक्षण) परिहार इति—किये हुये अनुचित (कार्य) का परिमार्जन करना "परिहार" कहा गया है।

यथा—

'प्राणप्रयाणदुःखार्त उक्तवानस्म्यनक्षरम् ।
तत्क्षमस्व विभो' किं च सुग्रीवस्ते समर्पितः ॥'
अवधीरितकर्तव्यकथनं तु निवेदनम् ॥ २१० ॥

यथा राघवाभ्युदये—

'लक्ष्मणः—आर्य, समुद्राभ्यर्थनया गन्तुमुद्यतोऽसि । तत्किमेतत् ?'

प्रवर्तनं तु कार्यस्य यत्स्यात्साधुप्रवर्तनम् ।

यथा वेण्याम्—

'राजा—कञ्चुकिन्' देवस्य देवकीनन्दनस्य बहुमानाद्वत्सस्य भीमसेनस्य विजयमङ्गलाय प्रवर्त्तन्तां तत्रोचिताः समारम्भाः ।'

अर्थ—(परिहार का उदाहरण) यथा—प्राणेति—

प्रसङ्ग—श्रीराम के प्रति मरते समय वालि की यह उक्ति है ।

प्राणों के निकलने के समय (तुम्हारे प्रहार से उत्पन्न) दुःख से व्यथित होकर (मैंने आपको) जो अनुचित अक्षर ("तपस्विचाण्डाल ?" इत्यादि) कहे हैं । (हे) विभो ! (श्रीराम !) उस (अनुचित व्यवहार को) क्षमा कीजिये तथा सुग्रीव (मेरा छोटा भाई) आपको (सेवा के लिये) समर्पित कर दिया ।

टिप्पणी—यहाँ पहले कहे हुये कटुवचन रूप अनुचित कार्य का परिमार्जन करने से परिहार है ।

अर्थ—(२८) (निवेदन का लक्षण) अवधीरितेति—तिरस्कृत विषय का कर्त्तव्यत्वेन कथन करना "निवेदन" है ।

(निवेदन का उदाहरण) यथा—राघवाभ्युदय में—

"लक्ष्मण—समुद्र की प्रार्थना से जाने को तैयार हो, तो यह (परावर्तन) क्यों ? (अर्थात् वहीं जाना ठीक है) ।

टिप्पणी—यहाँ पहले तिरस्कृत सागर के पास जाने का निश्चय बोधन करने के कारण निवेदन है ।

अर्थ—(२९) (प्रवर्तन का लक्षण) प्रवर्तनमिति—(जिस किसी) कार्य का जो सम्यक्तया समारम्भ है, (वह) प्रवर्तन होता है ।

(प्रवर्तन का उदाहरण) यथा—वेणीसंहार में—"राजा—(युधिष्ठिर)—कञ्चुकिन् ! भगवान् देवकी के पुत्र (श्रीकृष्ण) के अत्यधिक सम्माननीय होने के कारण (इस आदेश को अन्यथा करना ठीक नहीं है) वत्स भीमसेन के (शत्रु) विजयरूप मंगल के लिये वहाँ पर मांगलिक व्यापार प्रारम्भ कर दो ।

टिप्पणी—यहाँ मांगलिक कार्यों के सम्यक्तया प्रारम्भ करने के कारण 'प्रवर्तन' है ।

आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः--

यथा तत्रैव—

'देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः-' इत्यादि।

—युक्तिरर्थावधारणम् ॥ २११ ॥

यथा तत्रैव—

'यदि समरमपास्य नास्ति मृत्योर्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम्।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुध्वम् ॥'

अर्थ—(३०) (**आख्यान** का लक्षण) **आख्यानमिति**—पूर्व घटित हुये वृत्तान्त का कहना **आख्यान** है।

टिप्पणी—आख्यान और उत्कीर्तन में भेद—अतीतकालीन कार्य के कथन रूप **उत्कीर्तन** से **आख्यान** में भेद करने के लिये लक्षण में "पूर्ववृत्तोक्तिः" का विशेषण बोधमूलक कर लेना चाहिये।

अर्थ—(**आख्यान** का उदाहरण) **यथा**—वहीं (**वेणीसंहार** में ही)—

प्रसङ्ग—बालों को पकड़कर युद्ध के अन्दर समाधिस्थ द्रोणाचार्य जी को मारने पर क्रुद्ध अश्वत्थामा की यह उक्ति है।

देश इति—वह (पुराणादि में सुना हुआ) यह (प्रत्यक्ष) देश (कुरुक्षेत्र रूप) है, जिसके एक देश में (अर्थात् समन्तपञ्चक नामक स्थान में) तालाब शत्रुओं के (पितृवध करने वाले हैययों के) रुधिररूप जलों से परिपूर्ण हैं।

टिप्पणी—(१) सम्पूर्ण श्लोक इसप्रकार है :—

"देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः,
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः।
तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे,
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रौणायनिः क्रोधनः ॥ इति ॥

(२) यहाँ अश्वत्थामा का क्रोध से परशुरामकृत वृत्तान्त का कथन करने से आख्यान है।

अर्थ—(३१) (**युक्ति** का लक्षण) **युक्तिरिति**—अर्थ के (प्रयोजन के) निश्चय करने को (निश्चयपक्षयोगात्) **युक्ति** (कहते) हैं।

(**युक्ति** का उदाहरण) **यथा**—वहीं (**वेणीसंहार** में ही)**यदीति**—[**प्रसङ्ग**—द्रोण की मृत्यु से भागते हुये वीरों के प्रति अश्वत्थामा की यह उक्ति है]। यदि युद्ध को छोड़कर (जाते हुये तुमको) मृत्यु का भय नहीं हो (तो) यहाँ (युद्ध) से अन्यत्र जाना उचित है। और यदि (अथ) प्राणियों की मृत्यु निश्चित ही (होगी तो) क्योंकर व्यर्थ में कीर्ति को (भागने के अपमान से) मलिन करते हो। [अर्थात् भाव यह है कि पूर्व संचित यशः की रक्षा के लिये भी युद्ध भूमि में लौट आना चाहिये।]

टिप्पणी—यहाँ मृत्यु के निश्चित होने से युद्ध अवश्य करना चाहिये, इस नश्च के ण 'युक्ति' है।

प्रहर्षः प्रमदाधिक्यं—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—तत्किमिदानीमात्मानं पूर्णमनोरथं नाभिनन्दामि ।'

—शिक्षा स्यादुपदेशनम् ।

यथा तत्रैव—

'सहि, ण जुत्तं अस्समवासिणो जणस्स अकिदसक्कारं अदिधिविसेसं उज्झिअ सच्छन्ददो गमनम्' [सखि, न युक्तमाश्रमवासिनो जनस्य अकृतसत्कारमतिथिविशेषमुज्झित्वा स्वच्छन्दतो गमनम्] ।

अर्थ—(३२) (प्रहर्ष का लक्षण) **प्रहर्ष इति**—आनन्द की अधिकता (तारुण्यावस्था) प्रहर्ष है ।

(प्रहर्ष का उदाहरण) **यथा—शाकुन्तल में—** "**राजा**—[प्रसङ्ग—दुष्यन्त 'मारीच ऋषि द्वारा बांधे हुये रक्षाकाण्ड को माता-पिता और अपने आपको अर्थात् स्वयं ऋषि को छोड़कर कोई भी नहीं छू सकता है, यदि कोई इस रक्षाकाण्ड को छुयेगा तो यह सर्प होकर उसको काट लेगा" यह सुनकर रक्षाकाण्ड के अन्दर किसी प्रकार के विकार को न देख कर "यह मेरा ही औरस पुत्र है" ऐसा निश्चय करके सहर्ष अपने मन ही मन कह रहा है ।] तो (सर्वविध संशय के विनष्ट होने से) क्या इस समय (स्त्री-पुत्र की प्राप्ति से) सफल मनोरथ अपने आपको (लक्ष्य करके) प्रसन्न न होऊँ ? अर्थात् अवश्य ही अभीष्ट को प्राप्त करके प्रसन्न होऊँ ।

टिप्पणी—यहाँ राजा को स्त्री-पुत्र की प्राप्ति से अतिशय आनन्द होने से "प्रहर्ष" है ।

अर्थ—(३३) (उपदेशन का लक्षण) **शिक्षेति**—शिक्षा (शास्त्र का अविरोधी उपदेश वचन) उपदेशन होता है ।

(उपदेशन का उदाहरण) **यथा—वहीं** (शाकुन्तल में ही)—**सहीति—**

[प्रसङ्ग—आश्रम में आये हुये दुष्यन्त को देखकर "यह शकुन्तला के योग्य वर है" ऐसा निश्चय करके अनसूया की लज्जा के कारण अन्यत्र जाने की इच्छा वाली शकुन्तला के प्रति यह उक्ति है ।] (हे) सखि ! (शकुन्तले) बिना सत्कार किये अतिथिविशेष को (राजा को) छोड़कर स्वेच्छा से (अन्यत्र) चले जाना आश्रमवासी व्यक्ति के लिये ठीक नहीं है । [कहने का आशय यह है कि साभिलाष इस हृदय वल्लभ राजा को छोड़कर स्वेच्छा से चले जाना ठीक नहीं है ।]

टिप्पणी—यहाँ शकुन्तला को शिक्षा देने से "उपदेशन" है ।

अथ लक्षणनाट्यालङ्कारयोः पार्थक्यनिरूपणम् —

अवतरणिका—प्रश्न—"भूषण" आदि जो नाटक के लक्षण कहे हैं, उनका और "आशीः" आदि जो नाट्यालङ्कार कहे हैं, उनका नाटक के भूषणहेतु रूप सामान्य धर्म के योग से अभिन्नरूप से ही कथन करना ठीक है, भिन्नरूप से ग्रहण करना उचित नहीं है, इसका उत्तर देते हैं ।

एषाञ्च लक्षणनाट्यालङ्काराणां सामान्यत एकरूपत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशो गड्डुलिकाप्रवाहेण।

एषु च केषांचिद्गुणालङ्कारभावसंध्यङ्गविशेषान्तर्भावेऽपि नाटके प्रयत्नतः कर्त्तव्यत्वात्तद्विशेषोक्तिः।

एतानि च—

पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति चतुःषष्ट्यङ्गसंयुतम्।
षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतमलङ्कारोपशोभितम् ॥
महारसं महाभोगमुदात्तरचनान्वितम्।
महापुरुषसत्कारं साध्वाचारं जनप्रियम् ॥

अर्थ—इन ('भूषण' आदि पूर्वोक्त) **लक्षणों** और (आशीः आदि पूर्वोक्त) **नाट्यालङ्कारों** का सामान्यतः (नाट्यभूषण हेतु रूप सामान्य धर्म के योग से) एक रूप होने पर भी (अर्थात् लक्षणत्व और अलङ्कारत्व निर्णायक न होने के कारण, क्योंकि लक्षणों का भी अलङ्कारत्व है और अलंकारों का भी लक्षणत्व है, इसप्रकार अभिन्न रूप होने पर भी) पृथक् रूप से (ये लक्षण हैं और ये अलंकार हैं—इसप्रकार के भेद से) व्यवहार **गड्डलिका प्रवाहन्याय** से (होता) है। [इससे ग्रन्थकार ने वस्तुतः **नाट्यलक्षणों** और **नाट्यालङ्कारों** में अभेद ही है, यह ध्वनित किया है। केवल प्राचीन परम्परा के निर्वाह के लिये ही इन दोनों का पृथक् रूपेण वर्णन किया है।]

अवतरणिका—प्रश्न— इसप्रकार से भी कुछ **नाट्यलक्षणों** और **नाट्यालङ्कारों** का गुण और अलंकारों में अन्तर्भाव सम्भव हो सकता है, अतः पुनरपि पृथक् रूप से वर्णन करना उचित नहीं है, इसका "**समाधान**" करते हैं।

अर्थ—इनमें से (अर्थात् लक्षण और **नाट्यालङ्कारों** में से) कुछ का (अर्थात् **भूषणादि लक्षणों** का और **आशीः आदि नाट्यालङ्कारों** का) **गुण, अलङ्कार, भाव** और **सन्ध्यङ्गों** में विशेष रूप से अन्तर्भाव हो जाने पर भी [अर्थात् **भूषणलक्षण** का **प्रसादादि गुण** और तत्तत् **अलङ्कारों** में, शोभा का श्लेष में, विशेषण का विशेषोक्ति अलंकार में अन्तर्भाव हो सकता है। इसीप्रकार **आशीः आदि नाट्यालंकारों** का आशीः आदि अलंकारों में तथा युक्त्यादिकों का युक्त्यादि सन्ध्यङ्गों में अन्तर्भाव हो सकता है।] नाटक में प्रयत्नपूर्वक अवश्य किये जाने के कारण पृथक् कथन (**विशेषोक्तिः**) किया है।

और इन (लक्षणादिकों) को (नाटक में अवश्य करना चाहिये–मुख्य अन्वय है।) **पञ्चेति—**पाँच (मुखादि) सन्धियों से युक्त, चार (कैशिकी आदि) वृत्तियों से युक्त, (सन्धियों के) ६४ अङ्गों से युक्त, ३६ (पूर्वोक्त भूषणादि) लक्षणों से युक्त, (पूर्वोक्त ३३ आशीः आदि) नाट्यालंकारों से सुशोभित, परिपुष्ट (शृङ्गार या वीर) रस वाला, परिपुष्ट भावों (भोग) वाला अथवा महान् सहायक वाला, उदात्त (विलास, ऋद्धि आदि गुणों वाली) रचना से युक्त, (धीरोदात्तादि) प्रधान नायक के गुणों के वर्णन से (सत्कार)

सुश्लिष्टसन्धियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम् ।
मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम् ॥

इति मुनिनोक्तत्वान्नाटकेऽवश्यं कर्तव्यान्येव ।

वीथ्यङ्गानि वक्ष्यन्ते ।

लास्याङ्गान्याह—

युक्त, सज्जनों से अनुष्ठेय व्यवहार वाला अथवा अनिन्दित वैदिक क्रिया-कलाप वाला (साध्वाचारं), मनुष्यों का प्रिय अर्थात् लोकरंजक, सुसङ्गत (मुखादि) सन्धियों से युक्त, सुन्दर अथवा सुखपूर्वक अभिनय वाला, सुख का आश्रय स्थान अर्थात् आनन्द को उत्पन्न करने वाला, और सुकोमल शब्दों के प्रयोग वाला नाटक कवि को करना चाहिये। **इतीति**—इसप्रकार (महर्षि भरत) मुनि के द्वारा कहे हुये होने के कारण नाटक में अवश्यमेव करने चाहिये। [**कहने का आशय** यह है कि भरतमुनि ने सन्ध्यङ्ग, नाट्य-लक्षण और नाट्यालंकारों का पृथक् रूप से स्पष्ट प्रतिपादन किया है तथा यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि सन्ध्यङ्गों का नाटक के अन्दर निवेश करना आवश्यक नहीं है। परन्तु इसप्रकार का विकल्प मुनि ने नाट्य लक्षण और नाट्यालंकारों के विषय में नहीं किया है, अतः इन दोनों का तो नाटक में अवश्य ही प्रयोग होना चाहिये।]

अर्थ–वीथ्यङ्गानीति–[यद्यपि "**त्रयस्त्रिंशत् प्रयोज्यानि वीथ्यङ्गानि त्रयोदश**" इस कहे हुये के अनुसार ३३ नाट्यालंकारों के वर्णन के उपरान्त वीथ्यङ्गों का वर्णन करना चाहिये था, परन्तु इन] वीथ्यङ्गों का (वीथी नामक नाटक विशेष के अवसर पर) वर्णन करेंगे।

टिप्पणी—(१) महर्षि भरतमुनि ने १६ वें अध्याय के उपसंहार में—सुकोमल शब्दों का प्रयोग परमावश्यक बताया है। तथाहि—

चेक्रीयते प्रभृतिभिर्विकृतैश्च शब्दै-
युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः ।
यज्ञक्रियेव शरवर्मधरैर्धृताक्तै
र्वेश्या द्विजैरिव कमण्डलुदण्डहस्तैः ॥ इति ॥

(२) नाटक की प्रधानता भी भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के १९ वें अध्याय में प्रतिपादित की है :—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
न तत्कर्म न वा योगो नाटके यन्न दृश्यते ॥ इति ॥

अथ लास्याङ्गनिरूपणम्—

अवतरणिका—क्रम प्राप्त दस "**लास्याङ्गों**" का वर्णन करते हैं।

अर्थ—इसके बाद (**नाट्यालङ्कारों** के वर्णन के उपरान्त) **लास्याङ्गों** का वर्णन करते हैं।

गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ॥ २१२ ॥
प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ।
उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ॥ २१३ ॥
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गमुक्तं मनीषिभिः ।

तत्र—

तन्त्रीभाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरः ॥ २१४ ॥
शुष्कं गानं गेयपदं—

यथा—

गौरीगृहे वीणां वादयन्ती मलयवती ।
'उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते मम हि गौरि ।
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति युष्मत्प्रसादेन ॥'

अर्थ–(१) गेयपद,(२) स्थितपाठ्य, (३) आसीन, (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिगूढ, (७) सैन्धव, (८) द्विगूढक, (९) उत्तमोत्तमक और (१०) उक्तप्रत्युक्त—ये (गेयपदादि) बुद्धिमानों ने लास्य में दस प्रकार के अंग कहे हैं ।

टिप्पणी—"**ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यञ्च नर्त्तने**" इसप्रकार अमरकोष के अन्दर नृत्य के पर्याय में "लास्य" शब्द का प्रयोग किया है । अतः यहाँ "**लास्य**" शब्द से नृत्य-गीत और वाद्य ही लक्षित होते हैं । इसीलिये मेदिनीकार ने "**लास्ये तौर्य-त्रिकं मतम्**" कहा है ।

अर्थ—(१) उनमें से (दस प्रकार के लास्यांगों में से) (**गेयपद का लक्षण**)—**तन्त्रीति**—वीणावाद्य को सामने रखकर (गान के उपयोगी होने के कारण सामने रख-कर) सामने के (देवता के सन्मुख रखे हुये) आसन पर बैठे हुये (मनुष्य) का शुष्क (शृङ्गा-रादि रस विहीन) गान को (नृत्य रहित गान को) **गेयपद** (**गेयं—गानयोग्यं पदं यत्र तत् गेयपदम्**) कहते हैं ।

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र के अठारहवें अध्याय में महर्षि भरतमुनि ने भी कहा है कि—

आसनेषूपविष्टैर्यत्तन्त्रीभाण्डोपबृंहितम् ।
गायनैर्गीयते शुष्कं तद्गेयपदमुच्यते ॥ इति ॥

अर्थ—(**गेयपद** का उदाहरण) **यथा**—पार्वती के मन्दिर में (बैठी हुई) **मलयवती** वीणा को बजाती हुई (गा रही है)—**उत्फुल्लेति**—विकसित कमल पुष्प के केसर के पराग की तरह गौरवर्ण की द्युति वाली (अर्थात् सुवर्ण के समान प्रभा वाली) (हे) भगवति (समग्र ऐश्वर्य सम्पन्न) गौरि ! आपकी कृपा से मेरा अभीप्सित निश्चित रूप से सफलता को प्राप्त हो ।

टिप्पणी—(१) यह पद्य "**नागानन्द**" का है ।

--स्थितपाठ्यं तदुच्यते ।

मदनोत्तापिता यत्र पठति प्राकृतं स्थिता ॥ २१५ ॥

अभिनवगुप्तपादास्त्वाहुः—

'उपलक्षणं चैतत् । क्रोधोद्भ्रान्तस्यापि प्राकृतपठनं स्थितपाठ्यम्' इति ।

निखिलातोद्यरहितं शोकचिन्तान्वितावला ।

अप्रसाधितगात्रं यदासीनासीनमेव तत् ॥ २१६ ॥

अर्थ--(२) (**स्थितपाठ्य** का लक्षण) **स्थितपाठ्यमिति**--जहाँ काम से संतप्त (नायिका) बैठी हुई प्राकृतभाषा का पाठ करती है, वह **स्तिथपाठ्य** नामक लास्याङ्ग कहलाता है ।

टिप्पणी--स्थितपाठ्य का उदाहरण--**यथा--विक्रमोर्वशी** के चतुर्थ अंक में--

चित्रलेखा--(प्रदेशान्तरे द्विपदिकया दिशोऽवलोक्य —)

सहअरि दुक्खालिद्धअ सरवर अम्मि सिणिद्धअं ।

वाहो-वग्गिअ-णअणअं तम्मइ हंसीजुअलअं ॥ इति ॥

संस्कृते तु—सहचरी दुःखालीढं सरोवरे स्निग्धम् ।

वाष्पावल्गिनयनं ताम्यति हंसीयुगलम् ॥ इति ॥]

अर्थ--(नाट्यशास्त्र की व्याख्या करने वालों का आशय स्पष्ट करते हैं) **अभिनवेति**--अभिनवगुप्तपादाचार्य का मत है कि 'यह उपलक्षण मात्र है । क्रुद्ध और भ्रान्त (स्त्री-पुरुषों) का भी प्राकृत भाषा का पाठ करना **स्थितपाठ्य** होता है ।' इति ।

(३) (**आसीन** का लक्षण) **निखिलेति**--शोक और चिन्ता से युक्त नायिका (अबला) अनलंकृत शरीर वाली वैठी हुई सम्पूर्ण (मृदङ्गादि) वाद्यों से रहित [**'चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्' इत्यमरः**] जो (गान गाती है) वह (**आसीनया गीतत्वात्**) **आसीन** (नामक लास्याङ्ग कहलाता) है ।

टिप्पणी--(१) भरतकृत लक्षण :--

आसीनमात्रासनस्थस्य सर्वथोऽप्यविवर्जितम् ।

अप्रसारितगात्रं च चिन्ताशोकान्वितं च तत् ॥ इति ॥

(२) **आसीन** का उदाहरण—**यथा**—**शाकुन्तले**—

तुज्भण आणे हिअअं मह उण मउणो दिवा वि रत्ति वि ।

णिग्घिण ! तवइ वलीअं तुइ वुत्तमणो रहाइं अङ्गाइं ॥इति॥

[तव न जाने हृदयं मम पुनर्मदनो दिवापि रात्रिरपि ।

निर्घृण ! तपति वलीयांस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ॥ इति संस्कृतम्]

आतोद्यमिश्रितं गेयं छन्दांसि विविधानि च ।
स्त्रीपुंसयोर्विपर्यासचेष्टितं पुष्पगण्डिका ॥ २१७ ॥
अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना ।
वीणापुरःसरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः ॥ २१८ ॥
स्त्रीवेषधारिणां पुंसां नाट्यं श्लक्ष्णं त्रिगूढकम् ।

यथा मालत्याम्—

'मकरन्दः—एषोऽस्मि मालती संवृत्तः ।'

अर्थ—(४) (**पुष्पगण्डिका** का लक्षण) **आतोद्येति**--मृदङ्गादि वाद्य से युक्त गाना हो, (तथा) नाना प्रकार के छन्दोबन्धपूर्वक गीत हों (तथा) स्त्री और पुरुष का विपरीत रूप से अभिनय हो (अर्थात् स्त्रियाँ पुरुष का और पुरुष स्त्रियों का अभिनय करें) वह (**पुष्पगण्डिकावत्मनोहरत्वात्**) पुष्पगण्डिका (नामक **लास्याङ्ग** कहा जाता) है।

टिप्पणी—(१) महर्षि भरतमुनि ने कहा है कि—

नृत्तं तु द्विविधं यत्र गीतमातोद्यमेव च ।
स्त्रियः पुंवच्च चेष्टन्ते सा ज्ञेया **पुष्पगण्डिका** ॥ इति ॥

(२) **पुष्पगण्डिका** का उदाहरण--**यथा**—(**विक्रमोर्वशी** में—"**राजा**—
हिअ आहि अपि अदुक्खओ सरवरु ए घुअपक्खओ ।
वाहो – वग्गिअ—णाअणओ तम्मइ हंसजुअअणो ॥ इति ॥
[हृदयाहितप्रियदुःखः सरोवरे धुतपक्षः ।
वाष्पावलिगत नयनस्ताम्यति हंसयुगलम् ॥ इति संस्कृतम्] ।

अर्थ—(५) (**प्रच्छेदक** का लक्षण) **अन्येति**—पति को अन्य (नायिका में) अनुरक्त समझकर अपने प्रणय के विच्छेद होने के दुःख से वीणा के साथ स्त्री का (जो) गान है, (**वहप्रेमप्रच्छेदकत्वात्**) **प्रच्छेदक** (नामक **लास्याङ्ग**) माना गया है।

टिप्पणी—(१) भरतमुनि कृत लक्षण—

प्रच्छेदकः स विज्ञेयो यत्र चन्द्रातपाहताः ।
स्त्रियः प्रियेषु सज्जन्ते ह्यपि विप्रियकारिषु ॥ इति ॥

(२) **प्रच्छेदक** का उदाहरण—**यथा**—शाकुन्तल में--
"अहिणव महुलोहभाविदो:" इत्यादि । संस्कृतम् ।]
["अभिनवमधुलोभभावितः" इति संस्कृतम् ।]

अर्थ—(६) (**त्रिगूढ** का लक्षण) **स्त्रीति**--स्त्री के वेश को धारण करने वाले मनुष्यों का मनोज्ञ अभिनय (स्त्री रूप से अभिनय) [**त्रीणि वाग्देशव्यवहाराणि गूढानि यस्मिन्** तत्] **त्रिगूढ** (नामक **लास्याङ्ग** होता) है। [**त्रिगूढ** का उदाहरण] **यथा**—**मालतीमाधव** में—'**मकरन्द**-यह मैं मालती हो गया हूँ।"

टिप्पणी—(१) यहाँ मालती को ठगने के लिये लवङ्गिका के वेश को और नन्दन को ठगने के लिये मालती के वेश को धारण करके मनोहर अभिनय करने के कारण "**त्रिगूढ**" है।

कश्चन भ्रष्टसंकेतः सुव्यक्तकरणान्वितः ॥ २१९ ॥
प्राकृतं वचनं वक्ति यत्र तत्सैन्धवं मतम् ।

करणं वीणादिक्रिया ।

चतुरस्रपदं गीतं मुखप्रतिमुखान्वितम् ॥ २२० ॥
द्विगूढं रसभावाढ्यम् उत्तमोत्तमकं पुनः ।
कोपप्रसादजमधिक्षेपयुक्तं रसोत्तरम् ॥ २२१ ॥
हावहेलान्वितं चित्रश्लोकबन्धमनोहरम् ।

---

(२) महर्षि भरतमुनि कृत लक्षण—
अनिष्ठुरश्लक्ष्णपदं समवृत्तैरलंकृतम् ।
नाट्यं पुरुषभावाढ्यं त्रिगूढकमुदाहृतम् ॥ इति ॥

अर्थ—(७) (**सैन्धव** का लक्षण) **कश्चनेति**—जहाँ कोई (पुरुष) भ्रष्टसंकेत होकर (अर्थात् संकेत स्थान पर नायिका के न आने से नायक 'भ्रष्ट संकेत' होता है) सुस्पष्ट (काम के उद्दीपक वीणादि) साधन से युक्त प्राकृत वचन कहता है, उसे (**सैन्धवेनाश्वेन चञ्चलेन पुरुषेण प्रयुक्तत्वात्**) सैन्धव (नामक लास्याङ्ग) कहते हैं। [करण पद की व्याख्या करते हैं] **करणम्** अर्थात् वीणादि क्रिया ।

टिप्पणी—सैन्धव का उदाहरण (१) **यथा**—**स्वप्नवासवदत्तम्** में—'**राजा**—श्रुतिसुखनिनदे कथं नु देव्या ··· इत्यादि ।

(२) **यथा वा**—**विक्रमोर्वशीय** में—'**राजा**—'कइतुए सिक्खिदभेदं गइलालस ! सा तुए दिट्ठा जहणभरालसा' इति ।

(३) **यथा वा**—**उत्तरकाण्ड** में रावण के द्वारा पकड़ी हुई रम्भा के न आने से नलकूवर ।

अर्थ—(८) (**द्विगूढ** का लक्षण) **चतुरस्रपदमिति**—सामाजिक रूप से मनोहर पद वाले अथवा (भरतादि प्रसिद्ध) सात स्वरादिकों से पूर्ण, मुखसन्धि और प्रतिमुख-सन्धि से युक्त (इन दोनों में से किसी से युक्त) (तथा) रस और भाव से पूर्ण (इन तीन विशेषणों से विशिष्ट) गीत को (**द्वौ रसभावौ गूढौ प्रतीयमानत्वात् गुप्तौ यत् तत्**) द्विगूढ (नामक लास्याङ्ग कहते) हैं ।

टिप्पणी—द्विगूढ का उदाहरण—**यथा**—**शाकुन्तल** में—
"खण चुम्बिताइं भ्रमरे हिं सुउमार केसरसिहाइं ।
ओदस अन्ति दअमाण पमदाओ सिरीसकुसुमाई ॥ इति ॥

अर्थ—(९) (**उत्तमोत्तमक** का लक्षण) **उत्तमोत्तमकमिति**—कोप और प्रसन्नता से उत्पन्न, तिरस्कार से युक्त, सरस, हाव ('**भ्रू नेत्रादि विकारैस्तु**' इस लक्षण वाले) और हेला [**हेलाऽत्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात् स एव च**) इस लक्षण वाले भाव विशेष से) से युक्त, मनोज्ञ पद्य रचना से मनोहर (गीत को) **उत्तमोत्तमक** (**उत्तमादप्युत्तमम्** कहते) हैं ।

उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तं सोपालम्भमलीकवत् ।। २२२ ।।
विलासान्वितगीतार्थमुक्तप्रत्युक्तमुच्यते ।

स्पष्टान्युदाहरणानि ।

एतदेव यदा सर्वैः पताकास्थानकैर्युतम् ।। २२३ ।।
अङ्कैश्च दशभिर्धीरा महानाटकमूचिरे ।

एतदेव नाटकम् ।

यथा—

बालरामायणम् ।

अथ प्रकरणम्—

टिप्पणी—उत्तमोत्तमकय का उदाहरण—यथा—विक्रमोर्वशी में—राजा (सक्रोधं) इत्याद्यग्रे—

हिअ आहि अपि अदुक्खओ सरवरए धुअ पक्खओ ।
वाहो-वाग्गिअ-गअणओ तम्मइ हंस जुअलओ ।। इति ।।

अर्थ—(१०) (उक्ति प्रत्युक्त का लक्षण) उक्तीति—उक्ति-प्रत्युक्ति से युक्त, तिरस्कार व्यंजक, असत्य के समान (प्रतीत होने वाले), (तथा) विलास से युक्त गीत को (उक्तिप्रत्युक्तिरूपत्वात्) उक्तप्रत्युक्त (नामक लास्याङ्ग) कहते हैं । स्पष्टा-नीति—उदाहरण स्पष्ट हैं ।

अवतरणिका—नाटक के प्रकरण से महानाटक नामक नाटक के भेद का निरूपण करते हैं ।

अर्थ—(महानाटक का लक्षण) एतदिति—यह (नाटक) ही जब सभी (पूर्वोक्त चारों) पताकास्थानकों से और दस अङ्कों से युक्त (होता) है, (तब) विद्वान् मनुष्य (उसको) महानाटक कहते हैं । [अर्थात्—इसप्रकार चारों पताकास्थानकों से युक्त होने पर दस अङ्कों से युक्त नाटक ही महानाटक होता है] । [एतत्—पद की व्याख्या करते हैं] । एतद्—नाटक ही । यथा—बालरामायण ।

अथ प्रकरणनिरूपणम्—

अवतरणिका—नाटक, प्रकरण और भाणादि जो रूपक और उपरूपक हैं; उनमें से नाटक के साङ्गोपाङ्ग लक्षण को कहकर क्रम प्राप्त 'प्रकरण नामक' द्वितीय रूपक का वर्णन करते हैं ।

अर्थ—(२) इसके बाद (नाटक के लक्षणोपरान्त) प्रकरण (का निरूपण करते) हैं ।

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ॥ २२४ ॥
शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् ।
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः ॥ २२५ ॥

विप्रनायकं यथा मृच्छकटिकम् । अमात्यनायकं मालतीमाधवम् । वणिङ्नायकं पुष्पभूषितम् ।

नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ।
तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः ॥ २२६ ॥
कितवद्यूतकारादिविटचेटकसंकुलः ।

अर्थ–(प्रकरण का लक्षण) भवेदिति—प्रकरण (नामक दृश्यकाव्य) में [प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते नेता फलं वस्तु वा व्यस्तसमस्ततयाऽत्रेति प्रकरणम्] कथानक (वर्णनीय नायक का चरित) लौकिक (लोक चरित्र मात्र के लिये प्रसिद्ध अर्थात् मर्त्यलोक में होने योग्य, मर्त्यगुणों से असम्भव दिव्य लोक के योग्य नहीं) अतएव कवि (की प्रतिभा से) कल्पित (नाटक की तरह पुराणादि में प्रसिद्ध नहीं) होता है । शृङ्गार रस मुख्य होता है, नाटक की तरह वीररस मुख्य नहीं होता है), नायक ब्राह्मण, अमात्य (ब्राह्मण से अतिरिक्त भी राजा का सचिव) अथवा वैश्य, विघ्नों से युक्त धर्म (स्वर्ग के साधनभूत), काम (स्त्री, पुत्रादि) और अर्थ (भोग साधन) में आसक्त (विघ्नों से रहित मुक्ति की कामना करने वाला नहीं), धीरप्रशान्त ("सामान्यैर्गुणैर्भूयान्द्विजातिको धीरप्रशान्तः स्यात्) होता है ।

टिप्पणी––प्रकरण का सामान्य लक्षण––

"कविकल्पितलौकिकवृत्तान्तजन्यत्वे सति विनाशशालिधर्मकामार्थतत्परधीरप्रशान्तविप्रामात्यवणिगन्यतमनायकवच्छृङ्गाररसप्रधानदृश्यकाव्यत्वं प्रकरणत्वम्" इति ।

अर्थ—(प्रकरण का उदाहरण) विप्रनायकमिति—ब्राह्मण नायक (का उदाहरण) यथा—मृच्छकटिक । अमात्य नायक (का उदाहरण—अमात्य पद के उपलक्षण से उसके पुत्र का भी ग्रहण होता है । अतः माधव के अमात्य पुत्र होने पर भी कुछ हानि नहीं है) यथा––मालतीमाधव । वैश्य नायक (का उदाहरण) यथा—पुष्पभूषित ।

अथ प्रकरणभेदनिरूपणम् :—

अवतरणिका––प्रकरण के भेदों का वर्णन करते हैं ।

अर्थ—(प्रकरण के भेद) नायिकेति—कहीं अर्थात् किसी प्रकरण में कुलीन स्त्री नायिका (होती है), कहीं वेश्या (वेशो भृतिः सोऽस्या जीवनमिति वेश्या तद्विशेषो गणिका) नायिका, (और) कहीं दोनों (अर्थात् कुलीन और वेश्या) नायिकायें (होती) हैं । अतः (नायिका भेद से) उसके (प्रकरण के) तीन भेद (होते) हैं, उन (तीन भेदों) में से तीसरा भेद (जहाँ कुलजा और वेश्या दोनों नायिकायें होती हैं) धूर्त, जुआरी आदि—विट (पूर्वोक्त लक्षण वाला) और चेटक से युक्त (होता) है ।

कुलस्त्री पुष्पभूषिते। वेश्या तु रङ्गवृत्ते। द्वे अपि मृच्छकटिके। अस्य नाटकप्रकृतित्वाच्छेषं नाटकवत्।
अथ भाणः—

भाणः स्याद् धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः ॥ २२७ ॥
एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः।
रङ्गे प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा ॥ २२८ ॥
संबोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः।
सूचयेद्वीरश्रृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः ॥ २२९ ॥
तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्तिः प्रायेण भारती।
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ॥ २३० ॥

टिप्पणी—(१) **गणिका** का लक्षण :—
आभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनससदि ॥ इति ॥
(२) **मन्दारमरन्द** में भाषा विभेद इसप्रकार है :—
तत्र **वेश्या** प्राकृतं तु **कुलजा** संस्कृतं वदेत् ॥ इति ॥

अर्थ—(उदाहरण) कुलस्त्रीति—पुष्पभूषित में कुलीन स्त्री (नायिका है). **रङ्गवृत्त** में वेश्या (नायिका) है। **मृच्छकटिक** में दोनों ही (नायिकायें) हैं। इस (प्रकरण) की नाटक के समान प्रकृति होने से शेष नाटक की तरह (समझना चाहिये)। क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि—"**विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्।**" इति]

अथ भाणनिरूपणम्:—

अर्थ—(३) इसके बाद (**प्रकरण** के लक्षणोपरान्त) **भाण** (का निरूपण करते) हैं।

(**भाण** का लक्षण) **भाण इति**—धूर्त (नायकों) के चरित्र वाला, नाना प्रकार की विभिन्न अवस्थाओं के स्वरूप वाला, (यहाँ कही हुई प्रारम्भादि पांच प्रकार की अवस्थाओं से अतिरिक्त अवस्थाओं के ग्रहण के लिये "**अन्तर**" पद है।), एक अङ्क वाला (अर्थात् एक अङ्क के अन्दर समाप्त होने वाला) **भाण** (**भण्यते व्योमोक्त्या नायकेन स्वपरवृत्तं प्रकाश्यत इति**) होता है। इस (भाण) में एक ही निपुण, पण्डित, (**पण्डा-तीक्ष्णबुद्धिर्यस्यासौ पण्डितः**) विट अपने आप अथवा दूसरे मनुष्य से अनुभूत (वृत्तान्त को अपने आप किसीप्रकार जानकर) नाट्यशाला में प्रकाशित करता है। तथा पूर्वोक्त लक्षण वाले) "**आकाशभाषित**" के द्वारा सम्बोधन और उक्ति—प्रत्युक्ति करता है। शौर्य और सौभाग्य के वर्णनों से वीर और श्रृङ्गार रस को सूचित करता है) (अर्थात् शौर्य वर्णन से वीर रस को और सौभाग्य वर्णन से श्रृङ्गार रस को सूचित करता है)उस (भाण) में कथानक (वर्णनीय वस्तु प्रकरण के समान कवियों से) कल्पित (होती) है, नाटक के समान पुराणादि प्रसिद्ध नहीं), प्रायः (पूर्वोक्त) भारती वृत्ति (होती है। "**प्रायः**" से कहीं-कहीं कैशिकी वृत्ति भी होती हैं यह सूचित किया है) मुख और निर्वहण सन्धियाँ और दस लास्य के अङ्ग (होते) हैं। [शेष नाटक के समान ही समझना चाहिये।]

अत्राकाशभाषितरूपपरवचनमपि स्वयमेवानुवदन्नुत्तरप्रत्युत्तरे कुर्यात्। शृङ्गारवीररसौ च सौभाग्यशौर्यवर्णनया सूचयेत्। प्रायेण भारती, कापि कैशिक्यपि वृत्तिर्भवति। लास्याङ्गानि गेयपदादीनि। उदाहरणं-लीलामधुकरः।

अथ व्यायोगः—

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः॥ २३१॥
एकाङ्कश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः।
कैशिकीवृत्तिरहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः॥ २३२॥
राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च सः।
हास्यशृङ्गारशान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः॥ २३३॥

यथा सौगन्धिकाहरणम्।

अथ समवकारः—

अर्थ—(कारिका की व्याख्या करते हैं) **तत्रेति**—उसमें (भाण में) आकाशभाषित रूप दूसरे के वाक्य को भी अपने आप ही कहता हुआ उत्तर—प्रत्युत्तर करना चाहिये। शृङ्गार और वीर रस को सौभाग्य और शौर्य के वर्णन द्वारा सूचित करना चाहिये। प्रायः भारती (का प्रयोग होता है पर) कहीं-कहीं कैशिकी वृत्ति भी होती है। **लास्याङ्गानि–गेयपदादि**। (भाण का) उदाहरण—**लीलामधुकर**।

अथ व्यायोगनिरूपणम् :—

अर्थ—(४) इसके बाद (भाण के लक्षणोपरान्त) **व्यायोग** (का निरूपण करते हैं)।

(**व्यायोग** का लक्षण) **ख्यातेति**—(पुराण और इतिहासादिकों में) प्रसिद्ध कथानक वाला (वर्णनीय वस्तु वाला), थोड़ी स्त्रियों से युक्त, गर्भ और विमर्श सन्धि से रहित, अनेक पुरुषों से आश्रित, एक अङ्क वाला, स्त्री कारण के विना युद्ध की उपस्थिति वाला (यथा— परशुराम ने पितृवध को आधार मानकर हैहयवंशियों के साथ युद्ध किया।) कैशिकी वृत्ति से रहित (कैशिकी वृत्ति को छोड़कर अन्य किसी भी वृत्ति से रचना की जानी चाहिये।) **व्यायोग** (**विशेषण आ—समन्तात् युज्यन्ते—कार्यार्थं संरभन्तेऽनेके पुरुषाः यत्रासौ व्यायोगः**) होता है। उसमें (व्यायोग में) नायक प्रसिद्ध (होता है), वह (नायक) राजर्षि अथवा दिव्य (स्वर्गीय देवता विशेष) और धीरोद्धत (पूर्वोक्त लक्षण वाला) होता है। (तथा) हास्य, शृङ्गार और शान्त रसों से भिन्न रस इसमें (व्यायोग में) मुख्य (होते) हैं। [**व्यायोग** का उदाहरण] **यथा—सौगन्धिकाहरण**।

अथ समवकारनिरूपणम्—

अर्थ—(५) इसके बाद (**व्यायोग** के लक्षणोदाहरणोपरान्त) **समवकार** (का निरूपण करते हैं)।

वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम् ।
सन्धयो निर्विमर्शास्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे ॥ २३४ ॥
सन्धी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः ।
नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवाः ॥ २३५ ॥
फलं पृथक्पृथक्तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः ।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ २३६ ॥
वीथ्यङ्गानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश ।
गायत्र्युष्णिङ्मुखान्यत्र च्छन्दांसि विविधानि च ॥२३७॥
त्रिशृङ्गारस्त्रिकपटः कार्यश्चायं त्रिविद्रवः ।
वस्तु द्वादशनालीभिर्निष्पाद्यं प्रथमाङ्कगम् ॥ २३८ ॥
द्वितीयेऽङ्के चतसृभिर्द्वाभ्यामङ्के तृतीयके ।

नालिका घटिकाद्वयमुच्यते । बिन्दुप्रवेशकौ च नाटकोक्तावपि नेह विधातव्यौ । तत्र—

अर्थ–(समवकार का लक्षण) वृत्तमिति–समवकार (**सङ्गतैरवकीर्णैश्चार्थैः त्रिवर्गोपायैः पूर्वप्रसिद्धैरेव क्रियते––निबध्यते यत्र सः समवकारः**) में देव और असुरों से सम्बन्धित (पुराण और इतिहासादिकों में) प्रसिद्ध कथानक (होना चाहिये) और उसमें (समवकार में) विमर्श (नामक चतुर्थ) सन्धि से रहित (चार सन्धियां), (और) तीन अङ्क (कवियों को करने चाहिये), प्रथम (अङ्क) में (मुख और प्रतिमुख नामक) दो सन्धियों को (करना चाहिये), अन्तिम (द्वितीय और तृतीय अङ्कों) में पुनः उसकी (प्रथम अंक की) तरह एक-एक (सन्धि) होनी चाहिये [अर्थात् द्वितीय अंक में गर्भ सन्धि और तृतीय अंक में निर्वहण सन्धि होनी चाहिये। धीरोदात्त स्वरूप प्रसिद्ध देव और मानव (दिव्य और अदिव्य) बारह नायक (होने चाहियें)। उन (नायकों) का फल पृथक्-पृथक् (होता है), (**यथा**—समुद्रमन्थन के अवसर पर वासुदेवादिकों को लक्ष्मी आदि की प्राप्ति) वीररस प्रधान सभी रस (होते हैं—अर्थात् वीररस प्रधान होता है और अन्य सब रस गौण होते हैं), कैशिकी वृत्ति से रहित (सभी भारती आदि) वृत्तियाँ (होती हैं), इसमें (समवकार में) बिन्दु और प्रवेशक नहीं (करने चाहियें)। और उसमें (समवकार में) यथासम्भव तेरह वीथी के अङ्ग होने चाहिये। (छः अक्षरों वाली) गायत्री और (सात अक्षरों वाली) उष्णिक् है प्रारम्भ में जिनके ऐसे अनेक प्रकार के छन्द इसमें (समवकार में कवियों को करने चाहिये) यह (आगे प्रतिपादित किये जाने वाला) तीन प्रकार का शृङ्गार, तीन प्रकार का कपट और तीन प्रकार का विद्रव (कवियों को) करना चाहिये। प्रथम अंक के अन्दर विद्यमान कथानक को बारह नाड़ियों से सम्पादित करना चाहिये, द्वितीय अङ्क के अन्दर (कथानाक को) चार नाड़ियों से (और) तृतीय अंक के अन्दर (कथानक को) दो नाड़ियों से (सम्पादित करना चाहिये)। (**कारिका** की व्याख्या करते हैं) **नालिकेति—नालिका**=दो घड़ी की कहलाती है। बिन्दु और प्रवेशक नाटक के अन्दर कहे हुये होने पर भी इसमें (समवकार में) नहीं करने चाहिये।

अवतरणिका—शृङ्गार, कपट और विद्रव की त्रिविधता को ग्रन्थकार स्वयं **वर्णन करते हैं :—**

धर्मार्थकामैस्त्रिविधः शृङ्गारः कपटः पुनः ॥ २३९ ॥
स्वाभाविकः कृत्रिमश्च दैवजो विद्रवः पुनः ।
अचेतनैश्चेतनैश्च चेतनाचेतनैः कृतः ॥ २४० ॥

तत्र शास्त्राविरोधेन कृतो धर्मशृङ्गारः । अर्थलाभार्थकल्पितोऽर्थशृङ्गारः । प्रहसनशृङ्गारः कामशृङ्गारः । तत्र कामशृङ्गारः प्रथमाङ्क एव । अन्ययोस्तु न नियम इत्याहुः । चेतनाचेतना गजादयः । समवकीर्यन्ते बहवोऽर्था अस्मिन्निति समवकारः ।

यथा—समुद्रमन्थनम् ।

अर्थ—उनमें से (शृङ्गार, कपट और विद्रव में से) **धर्मशृंगार, अर्थशृंगार और कामशृंगार**—इसप्रकार तीन प्रकार का शृङ्गार (होता) है, तथा स्वाभाविक, कृत्रिम (क्रिया से होने वाला) और दैवज (भाग्य से होने वाला)—(इसप्रकार तीन प्रकार का) कपटाचरण (होता) है, तथा विद्रव (**शंकाभयत्रासकृतः सम्भ्रमः पुनः**) अचेतन से (काष्ठ-पुत्तलिकादिकों से), चेतन से (प्रहसन के प्रकारों से) और चेतनाचेतनों से (चेतन होने पर भी प्रकृष्ट चेतना से रहित गज-पशु आदि से) किया हुआ (तीन प्रकार का होता) है ।

अवतरणिका—धर्मशृङ्गारादिकों की व्याख्या करते हैं ।

अर्थ—इसमें शास्त्र की (**'ऋतौ भार्यामुपेयादिति', ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वधर्मनिरतः सदा'** इत्यादि श्रुति और स्मृति से प्रतिपादित विधि की) मर्यादा के अनुकूल किया हुआ (शृङ्गार) **'धर्मशृङ्गार'** (होता) है [अर्थात् निषिद्ध समय में निषिद्ध स्त्री के साथ किया हुआ शृङ्गार शास्त्र विरुद्ध है, इससे भिन्न धर्मशृङ्गार है ।]—अर्थ के लाभ के लिये किया हुआ (गणिकाओं का शृङ्गार) **'अर्थशृङ्गार'** (होता) है । प्रहसन (हास्य) के लिये किया हुआ (शृङ्गार) **'कामशृङ्गार'** (होता) है । [इसका उपयोग हास्यार्णवादि में देखना चाहिये ।] उनमें से **'कामशृङ्गार'** प्रथम अङ्क में ही (होना चाहिये) अन्यों के विषय में (अर्थात् धर्मशृंगार और अर्थशृंगार इनके विषय में) कोई नियम नहीं है—ऐसा कहते हैं । **चेतनाचेतन—गजादि** हैं [यद्यपि जहाँ चेतनता होगी, वहाँ अचेतनता नहीं होगी—और जहाँ अचेतनता होगी वहाँ चेतनता नहीं होगी—इसप्रकार दोनों के विरोधी होने पर भी सामान्य चेतनता के कारण गजादि पशुओं की चेतनता है तथा मनुष्यों की तरह प्रकृष्ट ज्ञान विशेष रूप चैतन्य के न होने से अचेतनता है—इसप्रकार विरुद्ध भी धर्मों के एकत्र सम्भव होने से ही ऐसा कह दिया है ।] [समवकार पद की योगरूढ़ता दिखाते हैं ।] **समवकीर्यन्त इति**—इसमें बहुत प्रकार के अर्थ समवकीर्ण—निबद्ध होते हैं, अतः **समवकार** है । [समवकार का उदाहरण] यथा—**समुद्रमन्थनम्** ।

टिप्पणी—(१) दशरूपककार के अनुसार समवकार के कथानक का समय निर्देश करते हैं—

अथ डिमः—

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
उपरागैश्च भूयिष्ठो डिमः ख्यातेतिवृत्तकः ॥ २४१ ॥
अङ्गी रौद्ररसस्तत्र सर्वेऽङ्गानि रसाः पुनः ।
चत्वारोऽङ्का मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ ॥ २४२ ॥
नायका देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ।
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ॥ २४३ ॥

"द्विसन्धिरङ्कः प्रथमः कार्यो द्वादशनालिकः ।
चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका घटिकाद्वयम् ॥ इति ॥

(२) **दशरूपककार** के धर्मश्रृङ्गारादिकों के विषय में मत को दिखाते हैं—

"प्रत्यङ्कं च यथासंख्यं कपटाः । तथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्यादिविद्रवाणां मध्ये एकैको विद्रवः कार्यः । धर्मार्थकामश्रृङ्गाराणामेकैकः श्रृङ्गारः प्रत्यङ्कमेव विधातव्यः" इति ।

(३) **मन्दारमरन्द** के अनुसार—

अङ्कास्त्रयस्तत्र चाद्ये मुखप्रतिमुखी तथा ।
वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः ॥
कथामपि निबध्नीयात्तथा द्वादशनालिकाम् ।
द्वितीयेऽङ्केऽपि चतुर्नालिकावधिकां कथाम् ।
पुररोधणाग्न्यादिनिमित्ता विद्रवास्त्रयः ।
तृतीयेऽङ्के निबद्धव्या कथा चापि द्विनालिका ॥
धर्मार्थकामानुगुणास्तिस्रः श्रृङ्गाररीतयः ॥ इति ॥

अथ डिमनिरूपणम्—

अर्थ—(६) इसके बाद (**समवकार** के लक्षणोपरान्त) **डिम** (का निरूपण करते हैं)—

(**डिम** का लक्षण) **मायेन्द्रेति**—माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, तथा उद्भ्रान्त आदिकों की ('आदि' पद से विक्षिप्तादिकों का ग्रहण होता है ।) चेष्टाओं से, सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहणों से व्याप्त ('चकार' से निर्घात तथा उल्कापात आदिकों का ग्रहण होता है), प्रसिद्ध कथानक वाला **'डिम' (डिम संघाते' इति नायकसंघातव्यापारात्मकत्वाड्डिम इति धनिकः)** (होता) है । उसमें (डिम में) रौद्र रस मुख्य (होता) है, तथा (अन्य) सब रस गौण (होते) हैं । चार अङ्क माने गये हैं (किन्तु) इस (डिम) में विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं (होते) हैं (चूलिका, अङ्कावतार तथा अङ्क तो होते ही हैं) । देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महोरग, भूत, प्रेत और पिशाचादि अत्यन्त उत्कट

वृत्तयः कैशिकीहीना निर्विमर्शाश्च सन्धयः ।
दीप्ताः स्युः षड्रसाः शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिताः ॥२४४॥

अत्रोदाहरणं च 'त्रिपुरदाहः' इति महर्षिः ।

अथेहामृगः—

ईहामृगो मिश्रवृत्तश्चतुरङ्कः प्रकीर्तितः ।
मुखप्रतिमुखे सन्धी तत्र निर्वहणं तथा ॥ २४५ ॥
नरदिव्यावनियमौ नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्यो गूढभावादयुक्तकृत् ॥ २४६ ॥
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ॥ २४७ ॥
पताकानायका दिव्या मर्त्या वापि दशोद्धताः ।
युद्धमानीय संरम्भं परं व्याजान्निवर्तते ॥ २४८ ॥
महात्मानो वधप्राप्ता अपि वध्याः स्युरत्र नो ।

प्रकृति वाले सोलह नायक (होते) हैं । कैशिकी से रहित (भारती आदि सभी) वृत्तियाँ (होती) हैं, विमर्श (नामक सन्धि से रहित सभी) सन्धियाँ (होती) हैं । शान्त, हास्य और शृङ्गार को छोड़कर छः उज्ज्वल (अर्थात् विभावादि सामग्री के बल से शीघ्र ही प्रतीत होने वाले) रस (होते) हैं । [शेष प्रस्तावनादि नाटक के समान समझने चाहिये] ।

अर्थ—[डिम का उदाहरण] **अत्रेति**—और इसका उदाहरण महर्षि भरतमुनि के अनुसार "**त्रिपुरदाह**" है ।

टिप्पणी—तथाहि—इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्राह्मणोदितम् ।
ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥ इति ॥

अथ ईहामृगनिरूपणम्—

अर्थ—(७) इसके बाद (डिम नामक रूपक के निरूपणोपरान्त) **ईहामृग** (का निरूपण करते हैं)—

(**ईहामृग** का लक्षण) ईहामृग **इति**—मिश्र (प्रसिद्ध और कल्पित) कथानक वाला, (तथा) चार अङ्कों वाला **ईहामृग** कहा गया है । उसमें (ईहामृग में) मुख-सन्धि, प्रतिमुख सन्धि तथा निर्वहण सन्धि (होती) है । नियम रहित मनुष्य अथवा देवता प्रसिद्ध धीरोद्धत्त नायक और प्रतिनायक (होते) हैं । [अर्थात् कहीं मनुष्य नायक या प्रतिनायक होता है और कहीं देवता नायक या प्रतिनायक होता है—इसप्रकार नायक और प्रतिनायक के विषय में कोई नियम नहीं है ।] (उनमें से) दूसरा (अर्थात् प्रतिनायक) प्रच्छन्नरीति से अनुचित कार्य करने वाला होता है । (अपने रमण को) न चाहती हुई दिव्याङ्गना को बलात्कार आदि से ('आदि' पद से छल का ग्रहण होता है) सुरत सम्भोग को चाहते हुये इस प्रतिनायक का कुछ कुछ शृङ्गाराभास भी (कवि को) दिखाना चाहिये । दिव्य अथवा मनुष्य उद्धत प्रकृति वाले दस पताका

एकाङ्को देव एवात्र नेतेत्याहुः परे पुनः ॥ २४९ ॥
दिव्यस्त्रीहेतुकं युद्धं नायकाः षडितीतरे ।

मिश्रं ख्याताख्यातम् । अन्यः प्रतिनायकः । पताकानायकास्तु नायक-प्रतिनायकयोर्मिलिता दश । नायको मृगवदलभ्यां नायिकामत्र ईहते वाञ्छतीतीहामृगः ।

यथा—कुसुमशेखरविजयादिः ।

अथाङ्कः—

उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः ॥ २५० ॥
रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम् ।
प्रख्यातमितिवृत्तं च कविर्बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥ २५१ ॥

के नायक (होते) हैं । ["व्यापि प्रासाङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते" इसप्रकार पताका नामक अर्थप्रकृति से युक्त हो ।] शत्रु को (प्रतिनायक को) युद्ध में लाकर (विद्यमान नायक के) क्रोध को किसी अन्य कार्य के बहाने से टाल देना चाहिये । इस (ईहामृग) में महात्मा लोग वध के योग्य होते हुये भी मारे नहीं जाते हैं [छूट जाते हैं या छोड़ दिये जाते हैं, क्योंकि उनका (अथवा प्रतिनायकों का) वध पुराणादिकों में प्रसिद्ध होता हुआ भी वध के योग्य न होने से कवियों को वर्णन नहीं करना चाहिये ।] अन्यों का कहना है कि इसमें (ईहामृग में) एक अङ्क (होता) है (तथा) देवता ही नायक (होता) है । और कुछ (कहते हैं कि) दिव्य स्त्री के कारण युद्ध (होता) है (तथा) नायक छः (होते) हैं ।

अर्थ—(कारिका के अर्थ को स्पष्ट करते हैं) **मिश्रमिति-मिश्रम्**—अर्थात् इतिहास प्रसिद्ध और कवि कल्पित । **अन्यः**—प्रतिनायक । पताकानायक, नायक और प्रतिनायक इनसे मिले हुये दस होते हैं । (ईहामृग की व्युत्पत्ति)—नायक मृग के समान नायिका को इससे चाहता है, अतः **ईहामृग** (कहते) हैं । [ईहामृग का उदाहरण] **यथा—कुसुमशेखरविजयादि** ।

अथाङ्कनिरूपणम् :—

अर्थ—(८) इसके बाद (ईहामृग के वर्णन के उपरान्त) **अंक** (**अथवा उत्सृष्टिकांक नामक** रूपक का निरूपण करते हैं ।)

(अंक का लक्षण) **उत्सृष्टिकाङ्क इति—उत्सृष्टिकाङ्क** (कुछ के मतानुसार यह **अङ्क** का ही दूसरा नाम है) एक अङ्क वाला (होता) है, (इसमें) साधारण (अत्यन्त विद्वान् नहीं) (बहुत से) मनुष्य नायक (होते) हैं । इसमें (उत्सृष्टिकाङ्क में) स्थायी करुण रस (होता) है, (अतएव) बहुत सी स्त्रियों का विलाप (होता) है । और

भाणवत् सन्धिवृत्यङ्गान्यस्मिञ्जयपराजयौ ।
युद्धं च वाचा कर्त्तव्यं निर्वेदवचनं बहु ॥ २५२ ॥

इमं च केचित् "नाटकाद्यन्तःपात्यङ्कपरिच्छेदार्थमुत्सृष्टिकाङ्कनामानम्" आहुः ।

अन्ये तु—"उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्कः ।" यथा—शर्मिष्ठाययातिः ।

अथ वीथी—

वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते ।
आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः ॥ २५३ ॥

(पुराण और इतिहासादि में) प्रसिद्ध (कहीं अप्रसिद्ध भी) कथानक को कवि द्वारा (अपनी) बुद्धि से (यथासम्भव) पल्लवित कर देना चाहिये । [**महर्षि भरतमुनि ने** कहा है—

प्रख्यातवस्तु विषयस्त्वप्रख्यातः कदाचिदेव स्यात् ।
दिव्यपुरुषैर्वियुक्तःशेषैरन्यैर्भवेत् पुंभिः ॥ इति ॥]

भाण की तरह सन्धि, वृत्ति और अङ्गों (का वर्णन होना चाहिये अर्थात् जिसप्रकार भाण में मुख और निर्वहण सन्धि, प्रायः भारती वृत्ति, कहीं कैशिकी वृत्ति भी तथा लास्य के दशों अङ्गों का वर्णन होता है, उसीप्रकार यहाँ अङ्क में भी इन सभी का वर्णन होना चाहिये) इस (अङ्क) में (नायक और प्रतिनायक की) जय और पराजय (का वर्णन होना चाहिये) और वाणी के द्वारा युद्ध होना चाहिये (शस्त्रों के द्वारा नहीं) अत्यधिक तिरस्कार बोधक वाक्यों का (कवियों के द्वारा वर्णन किया जाना चाहिये) ।

अवतरणिका—उत्सृष्टिकाङ्क के विषय में दो मतों का वर्णन करते हैं ।

अर्थ—और इसको (अभिमत अङ्क नामक रूपक को) कुछ—'नाटकादिकों के अन्दर होने वाले "**अङ्कों**" के निषेध के लिये (नाटकादिकों के अङ्क से) पृथक् रूप रचना होने से "**उत्सृष्टिकाङ्क**" नाम वाला कहते हैं । और कुछ—"**उत्क्रान्त**—अर्थात् विपरीत रूप है सृष्टि जिसमें ऐसा"(कहते) हैं । **उत्सृष्टिकाङ्क** (का उदाहरण) **यथा**—**शर्मिष्ठाययाति** ।

अथ वीथीनिरूपणम्:—

अर्थ—(६) इसके बाद (**अङ्क** निरूपण के उपरान्त) **वीथी** (का निरूपण करते हैं) ।

(**वीथी** का लक्षण) **वीथ्यामिति**—वीथी में एक अङ्क होता है, इस (वीथी) में अद्वितीय (एकः) कोई (नायक) कल्पित करके वर्णित किया जाता है । उक्त प्रकार वाले आकाशभाषित द्वारा विचित्र प्रत्युक्ति का आश्रय लेकर (नट) शृङ्गार को अधिक

सूचयेद् भूरि शृङ्गारं किञ्चिदन्यान्रसान् प्रति ।
मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः ॥ २५४ ॥

कश्चिदुत्तमो मध्यमोऽधमो वा । शृङ्गारबहुलत्वाच्चास्याः कैशिकी-वृत्तिबहुलत्वम् ।

अस्यास्त्रयोदशाङ्गानि निर्दिशन्ति मनीषिणः ।
उद्घात्य(त)कावलगिते प्रपञ्चस्त्रिगतं छलम् ॥ २५५ ॥
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ।
असत्प्रलापव्याहारमृदव(मार्द)वानि च तानि तु ॥ २५६ ॥

तत्रोद्घात्य(त)कावलगिते प्रस्तावनाप्रस्तावे सोदाहरणं लक्षिते ।

(तथा) अन्य रसों को भी थोड़ा सूचित करे । मुख और निर्वहण सन्धि (होनी चाहिये) सम्पूर्ण अर्थप्रकृतियाँ [बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च—ये सभी अर्थ-प्रकृतियाँ—होनी चाहिये ।]

अर्थ—(कारिका को स्पष्ट करते हैं) **कश्चित्**—अर्थात् कोई उत्तम, मध्यम या अधम नायक । शृङ्गार बहुल होने के कारण इसके अन्दर कैशिकी वृत्ति का बाहुल्य होना चाहिये ।

टिप्पणी—दशरूपककार के अनुसार :—

"वीथी तु कैशिकी वृत्तिः सन्ध्यङ्काङ्कैस्तु भाणवत् ।
रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम् ॥
युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्कैरुद्घात्यकादिभिः ।
एवं वीथी विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता ॥" इति ॥

अवतरणिका—वीथी के तेरह अंगों का वर्णन करते हैं :—

अर्थ—(वीथी के भेद) अस्या इति—इसके (वीथी के) तेरह अंग विद्वान् बत-लाते हैं—और वे (तेरह अंग क्रमशः) (१) उद्घात्यक, (२) **अवलगित**, (३) **प्रपञ्च**, (४) **त्रिगत**, (५) **छल**, (६) **वाक्केलि**, (७) **अधिबल**, (८) **गण्ड**, (९) **अवस्यन्दित**, (१०) **नालिका**, (११) **असत्प्रलाप**, (१२) **व्याहार**, और (१३) **मृदव** हैं । **तत्रेति**—उनमें **से** (वीथी के तेरह अगों में से) (१) उद्घात्यक और (२) **अवलगित** प्रस्तावना के प्रकरण में उदाहरण सहित दिखा दिये हैं ।

टिप्पणी—(१) **उद्घात्यक** का लक्षण—

पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः ।
योजयन्ति पदैरन्यैः स **उद्घात्यक** उच्यते ॥

(२) **अवलगित** का लक्षण—

यत्रैकत्र समावेशात् कार्यमन्यत् प्रसाध्यते ।
प्रयोगे सति तज्ज्ञेयं नाम्नाऽवलगितं बुधैः ॥

इसप्रकार इन दोनों के लक्षण प्रस्तावना के प्रकरण में दिखाये जा चुके हैं ।

मिथो वाक्यमसद्भूतं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

वलभीस्थविदूषकचेट्योरन्योन्यवचनम् ।

त्रिगतं स्यादनेकार्थयोजनं श्रुतिसाम्यतः ॥ २५७ ॥

यथा तत्रैव—

'राजा—

सर्वक्षितिभृतां नाथ, दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन् मया विरहिता त्वया ॥

(नेपथ्ये तथैव प्रतिशब्दः)

राजा—कथं दृष्टेत्याह ।' अत्र प्रश्नवाक्यमेवोत्तरत्वेन योजितम् ।

अर्थ—(३) (प्रपञ्च का लक्षण) मिथ इति—परस्पर मिथ्याभूत हास्य को उत्पन्न करने वाला वाक्य (**अन्योऽन्यं प्रपञ्चनात्**) **प्रपञ्च** माना गया है ।

[प्रपञ्च का उदाहरण] **यथा—विक्रमोर्वशीय** में—वलभी के अन्दर बैठे हुये विदूषक और चेटी का परस्पर वचन ।

(४) (त्रिगत का लक्षण) त्रिगतमिति—सुने जाते हुये (दो शब्दों के) साम्य से (वक्ता के आशय से नहीं) अनेक अर्थों की योजना करना (यद्यपि वे एकार्थक ही होते हैं) त्रिगत (**त्रिषु-वक्तृश्रोत्रभिनेतृषु गतम्—तत्सम्बन्धेन स्थितम् त्रिगतम्**) होता है ।

(त्रिगत का उदाहरण) **यथा**—वहीं (विक्रमोर्वशीय में ही) "**राजा—सर्वक्षितीति**—[हिमालय पर्वत के प्रति उर्वशी से रहित राजा पुरुरवा की प्रश्नात्मक यह उक्ति है, तथा दूसरे अर्थ की योजना से राजा के प्रति पर्वत की भी प्रतिध्वनि के द्वारा राजा के प्रश्न के उत्तरस्वरूप प्रत्युक्ति है ।] **प्रश्नपक्षे**—(हे) सभी पर्वतों में श्रेष्ठ ! इस सुन्दर वन के प्रान्त में मुझसे रहित सर्वाङ्ग सुन्दरी (इससे अतिशय सौन्दर्य की व्यञ्जना होती है) रमणी (अर्थात् अनिर्वचनीय उर्वशी) तुमने देखी है ? **उत्तरपक्षे**—(हे) सभी राजाओं में श्रेष्ठ ! इस सुन्दर वन के प्रान्त में सर्वाङ्ग सुन्दरी रमणी तुमसे रहित मैंने देखी है ।

(**नेपथ्य इति**—नेपथ्य में (हिमालय में ही) उसीप्रकार को प्रतिध्वनि (हुई । उसको सुनकर)

राजा—किस अवस्था में देखी ?

अत्रेति—यहाँ प्रश्न के वाक्य की ही उत्तर के रूप से योजना की गई है । [अर्थात् आशय यह है कि इस वाक्य की प्रतिध्वनि के साम्य से "**सर्वक्षितिभृतां नाथ !**" इसका पर्वतश्रेष्ठ और राजाश्रेष्ठ रूप दो अर्थों के घटित होने से तथा '**त्वया**" इस पद का प्रश्न के पक्ष में "**दृष्टा**" इस क्रिया के साथ कर्तृत्वेन अन्वित है "**मया**" इस पद का "**विरहिता**" इस पद के साथ अन्वय है, **उत्तरपक्ष** में तो '**त्वया**" इसका "**विरहिता**" इस पद के साथ और "**मया**"

'नटादित्रितयविषयमेवेदमि'ति कश्चित् ।

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्यच्छलनाच्छलम् ।

यथा वेण्याम्—

'भीमार्जुनौ—

कर्ता द्यूतच्छलानां, जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वाऽऽस्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत, न रुषा, द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥'

इसका दर्शन क्रिया में "द्रष्टा" में कर्तृत्वेन अन्वय है—इसप्रकार दोनों अर्थों के प्रतिपादन से अनेकार्थ की योजना समझनी चाहिये ।]

नटादीति—नटादि ("आदि" पद से नटी और सूत्रधार का ग्रहण होता है) अर्थात् नट-नटी और सूत्रधार—इन तीन के विषय वाला ही यह (त्रिगत) है"—ऐसा कोई (अर्थात् दशरूपककार कहते हैं) ।

टिप्पणी—दशरूपककार कृत लक्षण :—

श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह ।
नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते ॥ इति ॥

अर्थ—(५) (छल का लक्षण) **प्रियाभैरिति**—प्रिय तुल्य अप्रिय वाक्यों से लुब्ध करके वञ्चना छल (कहलाता) है ।

अर्थ—(छल का उदाहरण) यथा **वेणीसंहार** (के ५ वें अङ्क) में—**कर्तेति**—

प्रसङ्ग—भागे हुये दुर्योधन को खोजते हुये भृत्यों के प्रति भीमसेन और अर्जुन की यह उक्ति है ।

अर्थ—द्यूतक्रीडा रूप छलों का करने वाला, लाक्षा निर्मित घर को जलवाने का कारण [लाक्षा निर्मित घर में रहते हुये पाण्डवो को जलाने के लिये उस घर को विरोचन के द्वारा दुर्योधन ने जलवा दिया था] वह अभिमानी राजा, दुःशासनादि सौ छोटे भाइयों का ज्येष्ठ भ्राता, कर्ण का मित्र, द्रौपदी के केशपाशों का और उत्तरीय वस्त्र को पृथक् करने में समर्थ, जिसके पाण्डव दास हैं, ऐसा वह दुर्योधन कहाँ है, (तुम सब) बताओ, (हम दोनों) क्रोध से देखने के लिये नहीं आये है (अपितु बन्धु की प्रीति से ही देखने आये है) ।

टिप्पणी—द्यूतच्छलादि को करने वाला—ऐसा कहने से अप्रियता है, तथा "**न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ**" इस वाक्य में प्रियता है—इसप्रकार दोनों ही प्रकार से दुर्योधन के प्रति छलना होने से 'छल" है ।

अन्ये त्वाहुश्छलं किञ्चित्कार्यमुद्दिश्य कस्यचित् ।। २५८ ।।
उदीर्यते यद्वचनं वञ्चनाहास्यरोषकृत् ।
वाक्केलिर्हास्यसम्बन्धो द्वित्रिप्रत्युक्तितो भवेत् ।। २५९ ।।

द्वित्रीत्युपलक्षणम् ।

यथा—

'भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे, किं तेन मद्यं विना
मद्यं चापि तव प्रियं प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।
वेश्याऽप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो, नष्टस्य कान्या गतिः ।।'

अर्थ—(छल का दूसरा लक्षण) **अन्ये त्विति**—किसी कार्य को लक्ष्य करके किसी का वञ्चना, हास्य और रोष को रोकने वाला जो वाक्य कहा जाता है, (उसको) दूसरे (आचार्य) **छल** कहते हैं ।

टिप्पणी—छल का उदाहरण—यथा—

"कस्य वा न होर रोसो दटठूण पिया ए सव्वणं अहरम् ।
सभमर पउमग्वाइरि वारियवामे ! सहसु एणहिं ।।
[कस्य न वा भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।।
सभ्रमर पद्माघ्रायिणी ! वारितवामे ! सहस्वेदानीम् ।। इति संस्कृतम् ।]

यह वचन सखी के द्वारा पति को विश्वास उत्पन्न करने के प्रयोजन से कहा हुआ तिद्वान् मनुष्य के लिये हास्य को, श्वसुरादि की वञ्चना को और सपत्नी के रोष को उत्पन्न करने के कारण छल है ।

अर्थ—(६) (**वाक्केलि** का लक्षण) **वाक्केलिरिति**—दो अथवा तीन प्रत्युक्तियों से होने वाला हास्य (वाचा केलिः) **वाक्केलि** होता है । **द्वित्रीति**–'दो-तीन' यह उपलक्षण हैं [अर्थात् दो, तीन प्रत्युक्तियों से अधिक होने पर भी 'वाक्केलि' होता है ।]

(**वाक्केलि** का उदाहरण) **यथा—भिक्षो इति** (हे) भिक्षो ! क्या मांस भोजन करते हो ? (यह प्रश्न है), मद्य के विना मांस से क्या लाभ ? (यह उत्तर है) अर्थात् मद्य सहित मांस भोजन रुचिकर होता है, क्या तुमको मद्य भी प्रिय है ? (यह प्रश्न है), हाँ ! प्रिय है (परन्तु) वेश्याओं के साथ (यह उत्तर है) अर्थात् विना वेश्याओं के शराब भी अच्छी नहीं होती है, वेश्या भी धन की आकांक्षा वाली होती है (तुम तो भिक्षु हो) तुम्हारे पास धन कहाँ से (आता है) ? (यह प्रश्न है), द्यूत से या चोरी से (मैं धन पैदा करता हूँ) (यह उत्तर है, क्या तुमको चोरी और द्यूत भी स्वीकार है ? (यह प्रश्न है), आचार भ्रष्ट (पुरुष) की दूसरी कौन सी गति (होती) है अर्थात् कोई भी नहीं है । (यह उत्तर है) ।

केचित्—'प्रक्रान्तवाक्यस्य साकाङ्क्षस्यैव निवृत्तिर्वाक्केलिः' इत्याहुः।
अन्ये च 'अनेकस्य प्रश्नस्यैकमुत्तरम् ।'

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिबलं मतम् ।

यथा मम प्रभावत्याम्—

वज्रनाभः—

अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गदयानया ।
लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः ।।

प्रद्युम्नः—अरे अरे असुरापसद, अलममुना बहुप्रलापेन ।

मम खलु—

अद्य प्रचण्डभुजदण्डसमर्पितोरुकोदण्डनिर्गलितकाण्डसमूहपातैः ।
आस्तां समस्तदितिजक्षतजोक्षितेयं क्षोणिः क्षणेन पिशिताशनलोभनीया ।।'

टिप्पणी—यहाँ हास्य के सम्बन्ध से चार वार उक्ति-प्रत्युक्ति होने से वाक्केलि है ।

अवतरणिका—"**वाक्केलि**" का अन्य प्रकार से लक्षण करने वालों के मत का निरूपण करते हैं ।

अर्थ—कुछ (आचार्य) "प्रारम्भ किये हुये वाक्य की (निराकांक्ष को बताने वाले क्रियापद का अभाव से होने के कारण) अकांक्षा के सहित ही निवृत्ति हो जाना **वाक्केलि** है"—ऐसा कहते हैं । और दूसरे (आचार्य) "अनेक प्रश्नों के एक उत्तर को" (**वाक्केलि** कहते हैं) ।

टिप्पणी—क्रमशः उदाहरणः—(१) यथा—उत्तररामचरित में—वासन्ती—
त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं त्वं कौमुदी नयनयोरमृत्तं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां तामेव शान्तमथवा किमतःपरेण ।।
यहाँ साकांक्ष ही वाक्य की समाप्ति हो जाने से "**वाक्केलि**" है ।
(२) यथा—

नदीनां मेघविगमे का शोभा प्रतिभासते ।
बाह्यान्तरा विजेतव्या के नाम कृतिनाऽरयः ।। इति ।।

यहाँ दो प्रश्नों का एक उत्तर होने से "**वाक्केलि**" है ।

अर्थ—(७) (**अधिबल** का लक्षण) **अन्योऽन्येति**—स्पर्धा से एक दूसरे से बढ़-चढ़कर वाक्य कहना(**बलमधिकृत्यजातम्**) **अधिबल** माना गया है ।

(**अधिबल** का उदाहरण) **यथा**—मेरी (ग्रन्थकारकृत) प्रभावती में—"**वज्रनाभः-अस्येति**-(इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है ।)

प्रद्युम्न—अरे ! रे ! असुरों में अधम ? इस अधिक बकवास से बस । मेरी—

अद्येति—आज विशाल भुजदण्डों में रखे हुये विशाल धनुष से छूटे हुये बाणों के समूह के आक्रमणों से यह वसुन्धरा समस्त राक्षसों के रुधिर से व्याप्त होती हुई मांस भक्षण करने वालों (शृगाल आदिकों) के लिये लोभ को उत्पन्न करने वाली हो जावेगी ।

टिप्पणी—यहाँ दोनों पद्यों के अन्दर स्पर्धा से पारस्परिक वचनों के द्वारा एक दूसरे का बढ़-चढ़कर अपनी शक्ति वर्णित करने से "**अधिबल**" है ।

गण्डं प्रस्तुतसंबन्धि भिन्नार्थं सत्वरं वचः ॥ २६० ॥

यथा वेण्याम्—

'राजा—

अध्यासितुं तव चिराज्जघनस्थलस्य पर्याप्तमेव करभोरु ममोरुयुग्मम् ॥

अनन्तरम् (प्रविश्य)

कञ्चुकी—देव, भग्नं भग्नम्—इत्यादि ।'

अत्र रथकेतनभङ्गार्थं वचनमूरुभङ्गार्थे सम्बद्धे सम्बद्धम् ।

व्याख्यानं स्वरसोक्तस्यान्यथावस्यन्दितं भवेत् ।

यथा छलितरामे—

'सीता—जाद, कल्लं क्खु अओज्झाए गन्तव्वम्, तहिं सो राआ विणएण पणयिदव्वो [जात, कल्यं खलु अयोध्यायां गन्तव्यम्, तत्र स राजा विनयेन प्रणयितव्यः] ।

अर्थ—(८) (गण्ड का लक्षण) गण्डमिति—प्रस्तुत अर्थ से सम्बद्ध भिन्न अर्थ के बोधक त्वरायुक्त वचन को (गण्डतः निःसृतात्) 'गण्ड' (कहते) हैं ।

(गण्ड का उदाहरण) यथा— वेणीसंहार में —राजा (दुर्योधन)—अध्यासितुमिति—

[प्रसङ्ग—भानुमती के प्रति राजा दुर्योधन की उक्ति है ।]

(हे) करभोरु ! (भानुमती) मेरी दोनों जंघायें तुम्हारे जघन स्थल के ऊपर चिरकाल तक (सुरत सम्भोग के लिये) अधिष्ठित होने में समर्थ ही हैं । इसके बाद ('उरुयुग्मम्' कहने के पश्चात् प्रवेश करके)

कञ्चुकी—देव ! टूट गया—टूट गया—इत्यादि ।

(लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं) अत्रेति—यहाँ रथ की ध्वजा के भङ्ग होने के लिये प्रयुक्त ('भग्नं-भग्नम्') वाक्य उरु के भंग होने के सम्बन्ध में सम्बद्ध है । (अतः गण्ड है) ।

टिप्पणी—इस श्लोक का पूर्वार्द्ध इसप्रकार है :—

लोलांशुकस्य पवनाकुलितांशुकान्तं ।

त्वद्दृष्टिहारि मम लोचनबान्धवस्य ॥

अर्थ—(९) (अवस्यन्दित का लक्षण) व्याख्यानमिति—स्वाभाविक कहे हुये (वाक्य) की अन्यथाप्रकारेण व्याख्या करना (अवस्यन्दितमर्थान्तरे परिणमितमिति) अवस्यन्दित होता है ।

(अवस्यन्दित का उदाहरण) यथा – छलितराम में—

सीता—पुत्र, कल तुमको अयोध्या जाना है, वहाँ उस राजा (रामचन्द्र जी) के साथ विनयपूर्वक व्यवहार करना ।

लवः--अथ किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम् ।

सीता—जाद, सो क्खु तुम्हाणं पिदा [जात, स खलु युष्माकं पिता]।

लवः—किमावयोः रघुपतिः पिता ?

सीता—(साशङ्कम्) मा अण्णधा सङ्कद्धम्, ण क्खु तुम्हाणं सअलाए ज्जेव पुहवीएत्ति' [मा अन्यथा शङ्कध्वम्, न खलु युष्माकम्, सकलाया एव पृथिव्या इति ।]

प्रहेलिकैव हास्येन युक्ता भवति नालिका ॥ २६१ ॥

संवरणकार्युत्तरं प्रहेलिका ।

लव क्या हम दोनों राजा के उपजीवी होंगे ?

सीता—वह तुम दोनों का पिता है ।

लव--क्या हम दोनों के रघुपति (रामचन्द्र जी) पिता हैं ?

सीता—[वाल्मीकि के द्वारा किये हुये निषेध के कारण] (आशंका के साथ) (किसी) अन्य प्रकार की शंका मत करो, केवल तुम दोनों का ही नहीं, (अपितु) सम्पूर्ण पृथिवी का ही (पिता) है, इति ।

टिप्पणी—(१) यहाँ **"जाद, सो तुम्हाणं पिदा"** इस वाक्य से "राम तुम दोनों के पिता हैं"--इस अपने अभिप्राय को बताने की इच्छा से ही सीता जी ने कहा था किन्तु वाल्मीकि की आशंका से **"सकलायाः पृथिव्याः"** ऐसी स्वतः अन्यथा व्याख्या करने के कारण **अवस्यन्दित** है ।

(२) **अन्य उदाहरण**—यथा—वेणीसंहार में—

सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाविताशा मदोद्धतारम्भाः ।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ॥

यहाँ अपने अभिप्राय को बताने की इच्छा से सूत्रधार ने शरद्वर्णन का आश्रय लेकर हंस-वर्णन किया किन्तु पारिपार्श्विक के श्लेष के बल पर इसका धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदिकों के अमंगलजनक रूप में व्याख्या करने से **अवस्यन्दित** है ।

अर्थ—(१०) (नालिका का लक्षण) **प्रहलिकेति**—हास्य से युक्त प्रहेलिका ही (**नालिकावद् बुद्धौ आशु प्रवेशा**) नालिका होती है ?

(प्रहेलिका का लक्षण) संवरणकारीति—(प्रायः स्फुट अर्थ का अन्यथा रूप से पुनः) गोपन करने वाली प्रत्युक्ति (उत्तर) **प्रहेलिका** है ।

टिप्पणी--अवस्यन्दित और प्रहेलिका में भेद—अवस्यन्दित के अन्दर किसी बात का छिपाना होने पर भी **प्रहेलिका** में हास्य के होने के कारण **विशेषता है ।**

यथा रत्नावल्याम्—

सुसङ्गता—सहि, जस्स किदे तुमं आअदा सो इध ज्जेव चिट्ठदि।
[सखि, यस्य कृते त्वमागता स इत एव तिष्ठति।]

सागरिका—कस्स किदे अहं आअदा [कस्य कृते अहमागता।]।

सुसङ्गता—णं क्खु चित्तफलअस्स' [ननु खलु चित्रफलकस्य।]।

अत्र त्वं राज्ञः कृते आगतेत्यर्थः संवृतः।

असत्प्रलापो यद्वाक्यमसंबद्धं तथोत्तरम्।
अगृह्णतोऽपि मूर्खस्य पुरो यच्च हितं वचः॥ २६२॥

अर्थ—(नालिका का उदाहरण) यथा—रत्नावली में—'सुसङ्गता—

प्रसङ्ग—चित्रफलक लेने के लिये आई हुई सागरिका कदलीकुञ्ज में वत्सराज को देखकर बाहर ही रुक गई। उसके रुक जाने पर सुसंगता कह रही है।

अर्थ—(हे) सखि ! जिसके लिये तुम आई हो, वह यहीं बैठा है।

सागरिका—मैं किसलिये आई हूँ।

सुसंगता-णं इति—चित्रफलक के लिये।

[लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं।] **अत्रेति**—यहाँ तुम राजा के लिये आई हो—यह अर्थ (प्रायः पूर्व वाक्य से स्पष्ट ही था परन्तु "ननु चित्रफलकस्य"—इससे अन्यथा-प्रकारेण कहने से) छिपा लिया।

टिप्पणी—केचित्—कुछ आचार्य हास्य से युक्त निगूढ अर्थ वाली प्रहेलिका को ही नालिका मानते हैं। यथा—मुद्राराक्षस नाटक में—

चरः—हं हो ब्राह्मण ! मा कुप्प। किं पि तुह उअज्झाओ जाणादि। किं पि अह्मारिसा जणा जाणन्ति।

शिष्यः—किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि।

चरः—यदि देउवज्झाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव कस्य चन्दो अणभिप्पेदो त्ति।

शिष्यः—किमनेन ज्ञातेन भवति। (इत्युपक्रमे)

चाणक्यः—चन्द्रगुप्तादपरक्तान् पुरुषाञ्जानामि।"

यहाँ गुप्तचर और शिष्य के हास्य के हेतुभूत निगूढार्थ रूप ही प्रहेलिका होने के कारण नालिका है।

अर्थ—(११) (**असत्प्रलाप** का लक्षण) **असत्प्रलाप इति**—(१) जो वाक्य पूर्वापर सम्बन्ध से रहित है (असम्बद्धम्), (२) तथा (जो) उत्तर (पूर्वापर सम्बन्ध से रहित है) (३) (तथा सुनकर भी) न समझते हुये भी मूर्ख के समक्ष जो हितकारी वचन हैं; (वह) **असत्प्रलाप** है। [इसप्रकार यह तीन प्रकार का होता है]।

तत्राद्यं यथा मम प्रभावत्याम्—

'प्रद्युम्नः—(सहकारवल्लीमवलोक्य सानन्दम्) अहो, कथमिहैव—

अलिकुलमञ्जुलकेशी परिमलबहुला रसावहा तन्वी।
किसलयपेशलपाणिः कोकिलकलभाषिणी प्रियतमा मे ॥'

एवमसंबद्धोत्तरेऽपि। तृतीयं यथा–वेण्यां दुर्योधनं प्रति गान्धारीवाक्यम्।

व्याहारो यत्परस्यार्थे हास्यक्षोभकरं वचः।

अर्थ—(असत्प्रलाप के उदाहरण) **तत्रेति**—उनमें से (तीन प्रकार के "असत्प्रलाप" में से) (१) पहला ("असत्प्रलाप" अर्थात् यद् असम्बद्धं वाक्यम्)—**यथा**—मेरी (ग्रन्थकार कृत) प्रभावती में—

प्रद्युम्न—[आम्र की शाखा को देखकर आनन्द के साथ) यहाँ कैसे—**अलिकुलेति**—

प्रसङ्ग—आम्रलतिका के अन्दर प्रभावती के भ्रम से यह उक्ति है।

अर्थ—भ्रमर समूह की तरह मनोहर केशपाशों वाली **अन्यत्र** भ्रमर समूह ही हैं मनोहर केश जिसके ऐसी, परिमल की है बहुल गन्ध जिसमें ऐसी **एकत्र** गन्ध द्रव्य के व्याज से **अन्यत्र** पुष्पों के विकसित होने से, अतिशय अनुराग वाली **अन्यत्र** अतिशय दुग्ध रस वाली, कृश शरीर वाली **उभयत्र** समान है, पल्लव के समान हाथों वाली **अन्यत्र** पल्लव ही हैं हाथ जिसके ऐसी, कोयल के समान मधुरभाषिणी **अन्यत्र** कोयलों के कारण मधुरभाषिणी, मेरी प्रियतमा (प्रभावती) है।

टिप्पणी—यहाँ व्यंग्यार्थ ही दूसरा अर्थ है। अतः प्रभावती के वर्णन रूप वाक्य का पूर्वापर भाव से विद्यमान आम्रलतिका के साथ सम्बन्ध न होने से "**असत्प्रलाप**" है।

अर्थ—(२) इसीप्रकार पूर्वापर के सम्बन्ध से रहित उत्तर के होने पर भी।

टिप्पणी—उदाहरण—यथा—रत्नावली के द्वितीय अङ्क में—"सखि, क एष त्वया आलिखितः" इति सुसङ्गतायाः पृष्टायाः सागरिकायाः "भगवान् अनङ्गः" इत्युत्तरवाक्ये।

अर्थ—(३) तीसरे (असत्प्रलाप का अर्थात् "**अगृह्णतोऽपि मूर्खस्य पुरो यच्चहितं वचः**" का उदाहरण) **यथा—वेणीसंहार में**—दुर्योधन के प्रति गान्धारी का वचन।

टिप्पणी—दूसरा उदाहरण—"**प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली**" यह रावण के प्रति विभीषण का वचन।

अर्थ—(१२) (व्याहार का लक्षण) **व्याहार इति**—दूसरे के (नायकादि के) निमित्त जो हास्य और क्षोभ को उत्पन्न करने वाला वचन(**व्याह्रियते आदीयत इति**) व्याहार (होता) है।

यथा मालविकाग्निमित्रे—'(लास्यप्रयोगावसाने मालविका निर्गन्तु-मिच्छति)।

विदूषकः—मा दाव उवदेससुद्धा गमिस्ससि [मा तावदुपदेशमुग्धा गमिष्यसि]।

(इत्युपक्रमेण)

गणदासः—(विदूषकं प्रति) आर्य ! उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः।

विदूषकः—पढमं बम्भणपूआ भोदि, सा इमाए लङ्घिदा [प्रथमं ब्राह्मणपूजा भवति, सा अनया लङ्घिता]। (मालविका स्मयते)' इत्यादिना नायकस्य विशुद्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हासक्षोभकारिणा वचसा व्याहारः।

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं (मार्दवं) हि तत् ॥ २६३ ॥

अर्थ—(व्याहार का उदाहरण) **यथा**—**मालविकाग्निमित्र में**—(लास्य नृत्य की समाप्ति पर मालविका निकलकर जाना चाहती है।)—**विदूषक**—**मा दाव इति**—शास्त्रोपदेश से विमुग्ध होकर नहीं जाओगी [इसप्रकार क्रमपूर्वक]

गण दास—(विदूषकके प्रति) आर्य ! कहिये जो आपने पौर्वापर्य क्रम का उल्लङ्घन देखा है।

विदूषक—(सबसे) पूर्व ब्राह्मण की पूजा होती है, उसका इसने उल्लङ्घन किया है। (**मालविका मुस्कराती है**) इत्यादि से नायक को (अग्निमित्र को) विशुद्ध नायिका का दर्शन कराने के लिये प्रयुक्त हास्यकारी वचनों से (विदूषक ने) व्यावहार किया है।

टिप्पणी—(१) भावी अर्थ को द्योतन करने में भी यह व्यावहार होता है। **यथा**—**रत्नावली** के द्वितीय अंक में :—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचिं प्रारब्धजृम्भां क्षणादा-
यासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

यहाँ राजा ने वासवदत्ता के प्रति भावी व्यवहार को देखने के लिये हास्य द्वारा कहा है। अतः "व्यावहार" है।

(२) व्यावहार का दूसरा लक्षण—**अन्ये तु—वर्तमानप्रत्यक्षार्थवाचकं हास्यलेशकरं वचो व्याहारमिच्छन्ति।**

अर्थ—(१३) (**मृदव** का लक्षण)—**दोषा इति**—जिस (वाक्य) में दोष गुण और गुण दोष हों, वह (**मृदोरिदम्**) **मार्दव** (कहलाता) है।

क्रमेण यथा—

प्रिय , जीवितता क्रौर्यं निःस्नेहत्वं कृतघ्नता ।
भूयस्त्वद्दर्शनादेव ममैते गुणतां गताः ।।
तस्यास्तद्रूपसौन्दर्यं भूषितं यौवनश्रिया ।
सुखैकायतनं जातं दुःखायैव ममाधुना ।।

अर्थ—क्रमशः (१) (अर्थात् दोषः गुणाः भवन्ति का उदाहरण) **यथा—प्रिय इति—**

प्रसङ्ग—प्रियतम के वियोग होने पर किसीप्रकार पुनः समागम की आशा से प्राण धारण करती हुई किसी नायिका की प्रिय के आने पर उसके प्रति उक्ति है।

अर्थ—(हे) प्रिय ! (तुम्हारे वियोग में भी मेरा) जीवन धारण करना, निष्ठुरता [**जीवितताक्रौर्यम्**—ऐसा समस्त पद होने पर-जीवन काठिन्य अर्थात् तुम्हारे वियोग के होने पर भी देह रूप में अवस्थित रहने के कारण जीवन की क्रूरता है], स्नेहशून्यता (अन्यथा स्नेह का आधिक्य होने पर उसप्रकार के वियोग में जीवन किसप्रकार रह सकता था—निश्चित रूप से मरण ही था), (और) कृतघ्नता (उपकार करने वाले का अपकार करना, उस समय जीवन से शरीर को छोड़ देना ही प्रत्युपकार था—वैसा न करने से कृतघ्नता है) हे (किन्तु) पुनः तुम्हारे दर्शनों को प्राप्त करके ही मेरे ये (जीवन की क्रूरता आदि दोष) गुण को प्राप्त हो गये (क्योंकि उसप्रकार की क्रूरता और स्नेह-शून्यता के कारण ही इस समय मेरे जीवन की विद्यमानता से तुम से मिलन का सुख मिल रहा है, अन्यथा मुझे आपका दर्शन दुर्लभ था ।] [यहाँ क्रूरतादि दोष गुण हो गये अतः मृदव है ।]

[(२) **गुणा दोषा भवन्ति** का उदाहरण] **तस्या इति—**

[**प्रसङ्ग** - बन्धु के प्रति किसी विरही नायक की उक्ति है] । यौवन की कान्ति से अलंकृत उस (नायिका) का वह रूपमाधुर्य (उस मिलन के अवसर पर) मेरे लिये आनन्द का एकमात्र कारण था, आज (विरह के अवसर पर वह) दुःख प्राप्ति के लिये ही है । [यहाँ यौवनश्री इत्यादि गुण भी दोष हो गये, अतः मृदव है] ।

टिप्पणी—अन्य उदाहरण—यथा—वेणीसंहार के द्वितीय अंक में—जयद्रथ—माता—जाद ! ते खु बन्धुवधामरि सुदी । विदको वा समरे अणवेक्खिय सरीरा परि[illegible]स्संति ।

राजा—(सोपहासम्) एवमेतत् । सर्वजनप्रसिद्धमेवामर्षित्वं पाण्डवानाम् । पश्य

हस्ताकृष्टविलोलकेशवसना दुःशासनेनाज्ञया,
पाञ्चाली मम राजचक्रपुरतो गौर्गौरिति व्याहृता ।
तस्मिन्नम्ब ! स किं न गाण्डिवधरो नासीत् पृथानन्दनो,
यूनः क्षत्रियवंशजस्य कृतिनः क्रोधास्पदं किं न तत् ।।

यहाँ धनुर्धरत्वादि गुण दोष हो गये ।

अवतरणिका—प्रश्न—वीथ्यङ्गों का नाटक का अंग होने के कारण "**योज्यान्यत्र यथालाभं वीथ्यङ्गानीतराण्यपि**" इसके अनुसार नाटक के अवसर पर ही वर्णन करना उचित था—ऐसा होने पर "बिना विशेषं सर्वेषां लक्ष्य नाटकवत् मतम्" यह कह कर अतिदेश से वीथी में भी वीथी के अंग की प्राप्ति होने नाटक के प्रकरण में न कहकर यहाँ वीथी के अंगों का क्यों वर्णन किया है ? इसका उत्तर देते हैं ।

एतानि चाङ्गानि नाटकादिषु सम्भवन्त्यपि वीथ्यामवश्यं विधेयानि। स्पष्टतया नाटकादिषु विनिविष्टान्यपीहोदाहृतानि। वीथीव नानारसानां चात्र मालारूपतया स्थितत्वाद्वीथीयम्। यथा—मालविका।

अथ प्रहसनम्—

भाणवत्सन्धिसन्ध्यङ्गलास्याङ्गाङ्कैर्विनिर्मितम्।
भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम् ॥ २६४ ॥
अत्र नारभटी, नापि विष्कम्भकप्रवेशकौ।
अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीथ्यङ्गानां स्थितिर्न वा ॥ २६५ ॥

तत्र—

तपस्विभगवद्विप्रप्रभृतिष्वत्र नायकः।

अर्थ—ये (उद्घात्यकादि वीथी के अंग) अंग नाटकादिकों में होने पर भी वीथी में अवश्य करने चाहिये। (अतः) स्पष्टरूपेण नाटकादिकों में (**योज्यान्यत्र यथालाभं**—इसके अनुसार) रखने का प्रतिपादन करने पर भी यहाँ (वीथी में) उदाहृत किये हैं। [अतः वीथ्यङ्गों के वर्णन करने का यह आशय है कि—यहाँ वर्णन करने से उन अंगों की विधेयता आवश्यक है—किन्तु नाटकादिकों की विधेयता आवश्यक नहीं है]। (**वीथी पद की व्युत्पत्ति**) **वीथीवेति**—(वृक्षादिकों की पंक्ति में वृक्षादिकों की) पंक्ति की तरह इस (वीथी नामक रूपक विशेष) में नाना रसों के मालारूप से अवस्थित होने के कारण यह **वीथी** है। (वीथी का उदाहरण) **यथा—मालविका।**

टिप्पणी—दशरूपककार के अनुसार **वीथी** का लक्षण :—

चित्रे यत्रोक्तिप्रत्युक्ती स्यातामाकाशभाषितैः।
कथञ्चिद्वाऽप्यनेकार्थसूचनं वीथिका च सा ॥

अथ प्रहसननिरूपणम् :—

अर्थ—(१०) **इसके बाद** (वीथ्यङ्गनिरूपणोपरान्त) **प्रहसन**(का निरूपण करते हैं)—

(**प्रहसन** का लक्षण) **भाणवदिति**—भाण (नामक रूपक) की तरह (मुख और निर्वहण नामक) सन्धि, (नाना प्रकार के) सन्ध्यङ्ग, (दस) लास्याङ्ग (तथा) एक अंक से युक्त, (तथा) कवि के द्वारा कल्पित (अपनी प्रतिभा से उत्थापित, पुराणेतिहासादिकों में प्रसिद्ध नहीं) निन्दनीय व्यक्तियों का कथानक (**प्रकृष्टं हसत्यनेनेति**) **प्रहसन होता है।** इस (प्रहसन) में आरभटी वृत्ति नहीं (होती) है। (तथा) **विष्कम्भक और प्रवेशक भी नहीं** (होते) हैं। उसमें (प्रहसन में) हास्य रस मुख्य (होता) है, और (**वा**) **वीथ्यङ्गों की स्थिति नहीं** (होती) है। इस (प्रहसन) में तपस्वी, संन्यासी (भगवत्), और ब्राह्मण प्रभृति में से (कोई एक) नायक (होता) है।

एको यत्र भवेद्धृष्टो हास्यं तच्छुद्धमुच्यते ।।

यथा कन्दर्पकेलिः ।

आश्रित्य कञ्चन जनं संकीर्णमिति तद्विदुः ॥ २६६ ॥

यथा—धूर्तचरितम् ।

वृत्तं बहूनां धृष्टानां सङ्कीर्णं केचिदूचिरे ।
तत्पुनर्भवति द्व्यङ्कमथवैकाङ्कनिर्मितम् ॥ २६७ ॥

यथा—लटकमेलकादिः ।

मुनिस्त्वाह—

'वेश्याचेटनपुंसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः ।
अविकृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरणं तु सङ्कीर्णम् ।।' इति ।

टिप्पणी—इतिवृत्त के सम्पादन में नाट्यशास्त्र के अनुसार यह नियम है कि—

"लोकोपचारयुक्ता या वार्ता यश्च दम्भसंयोगः ।
तत्प्रहसनेषु योग्यं धूर्तोक्तविवादसंयुतम् ।।"

अवतरणिका—इस प्रहसन के तीन भेद होते हैं—(१) शुद्ध, (२) संकीर्ण और (३) विकृत । इनमें से पहले भेद का अर्थात् शुद्ध प्रहसन का लक्षण करते हैं ।

अर्थ—(१) (शुद्ध प्रहसन का लक्षण) एक इति—जहाँ मुख्य (एकः) नायक धृष्ट (पूर्वोक्त स्वरूप वाला) होता है, वह हास्य (विषयक प्रहसन) शुद्ध कहलाता है। [शुद्ध प्रहसन का उदाहरण] यथा—कन्दर्पकेलि ।

टिप्पणी—दशरूपककार के अनुसार लक्षण :—

भवेत्प्रहसनं यत्र हास्याधानाय धृष्टता ।
विरुद्धैर्वेषवाक्केलिचेष्टितैर्वा प्रसादनम् ।।

उदाहरण—यथा—मृच्छकटिक में—"अविद अविद भा ! चिरसंगीदोवासणेण सुक्खनपोक्खरणालाई विअमे बुभक्खाए मिलाणाई अङ्गाईं ता जाव गेहं गदुअ जाणामि अत्थि किंपि कुटुंविणीए उववादिदं ण वेत्ति" । इत्युक्तम् ।

अर्थ—(२) (संकीर्ण प्रहसन का लक्षण) आश्रित्येति—किसी (धृष्ट भिन्न) नायक का आश्रय लेकर (जो प्रहसन होता है), उसको संकीर्ण प्रहसन (अनिश्चितनायकं संकीर्णत्वात्) कहते हैं । [संकीर्ण प्रहसन का उदाहरण] यथा—धूर्तचरितम् ।

(संकीर्ण प्रहसन का दूसरा लक्षण) वृत्तमिति—जहाँ बहुत से धूर्त (नायकों) का चरित्र (होता) है, (उसको) कुछ संकीर्ण कहते हैं । वह (संकीर्ण प्रहसन) पुनः दो अंकों से अथवा एक अंक से निर्मित होता है । [संकीर्ण प्रहसन का उदाहरण] यथा—लटकमेलकादि (लटकानां—दुर्जनानां मेलको यत्र यत् तत् लटकमेलकम्) ।

(भरतमुनिकृत संकीर्ण प्रहसन का तीसरा लक्षण) मुनिरिति—भरतमुनि ने तो (संकीर्ण प्रहसन का लक्षण इसप्रकार) बतलाया है—वेश्येति—जिस (प्रहसन) में वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्त और बन्धकी (वर्णनीय) हों, (तथा जिसमें) अविकृत रूप से वेश, वस्त्र और चेष्टाओं का अनुकरण हो (वह) संकीर्ण प्रहसन (होता) है ।

विकृतं तु विदुर्यत्र षण्ढकञ्चुकितापसाः ।
भुजङ्गचारणभटप्रभृतेर्वेषवाग्युताः ॥ २६८ ॥

इदं तु सङ्कीर्णेनैव गतार्थमिति मुनिना पृथङ्नोक्तम् ।

अथोपरूपकाणि ।

तत्र,—नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका ।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥ २६९ ॥
स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताथवा ।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा ॥ २७० ॥
सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ २७१ ॥
पदे पदे मानवती तद्वशः संगमो द्वयोः ।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः ॥ २७२ ॥

द्वयोर्नायिकानायकयोः ।

यथा—रत्नावली—विद्धशालभञ्जिकादिः ।

अर्थ—(३) (**विकृत प्रहसन** का लक्षण) **विकृतमिति**—जिस (प्रहसन) में नपुंसक, कञ्चुकी और तपस्वी विट (भुजङ्ग), चारण (नट) और भट प्रभृति का वेश और भाषा से युक्त होते हुये (अभिनय करते) हैं, (उसको **विकृतरूपप्रयुक्ताभिनयात्मकत्वाद्विकृतम्**) **विकृत** कहते हैं। **इदन्त्विति**—यह (प्रहसन) **संकीर्ण प्रहसन** के अन्दर ही अन्तर्भूत हो जाता है, अतः भरतमुनि ने पृथक् नहीं कहा है।

अथोपरूपकनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद (दस प्रकार के रूपक के भेदों का निरूपण करने के उपरान्त अठारह) **उपरूपकों** (का वर्णन करते हैं।)।

अर्थ—(१) उनमें से (अठारह उपरूपकों में से **नाटिका का लक्षण**) **नाटिकेति**—कवि कल्पित इतिवृत्त वाली (पुराणेतिहासादिकों में प्रसिद्ध नहीं) नारी बहुल अथवा नटी बहुल, चार अंकों वाली नाटिका होती है। उस (नाटिका) में लोकप्रसिद्ध धीरललित ('**निश्चिन्तो मृदुरनिशम्**' इस लक्षण वाला) राजा नायक होता है। अन्तःपुर से ही सम्बन्ध रखने वाली अथवा संगीत (नृत्य गीत वाद्यादि) में अनुरक्त, **नवीन अनुराग** वाली राजकुलोत्पन्न कन्या इस (नाटिका) में नायिका होती है। नायक देवी के (पट्टराज्ञी के) भय से शंकित होकर इस (नायिका स्वरूप कन्या) में प्रवृत्त होता है, (और वह) देवी (पट्टराज्ञी) प्रगल्भा (पूर्वोक्त लक्षण वाली) राजकुलोत्पन्न ज्येष्ठा (नायिका से अधिक अवस्था वाली) पद-पद पर मान करने वाली होती है। दोनों का (नायक और नायिका का) मिलन उसके (पट्टराज्ञी के) **आधीन** (होता) है। कैशिकी वृत्ति. और अत्यल्प विमर्श सन्धि युक्त अथवा विमर्श सन्धि शून्य (मुखादि चार) सन्धियाँ होती हैं। [**कारिका** गत 'द्वयोः' पद को स्पष्ट करते हैं।] **द्वयोः**—नायक और नायिका का। (**नाटिका** का उदाहरण) **यथा**—रत्नावली और विद्धशालभञ्जिकादि।

अथ त्रोटकम्—

सप्ताष्टनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम् ।
त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम् ॥ २७३ ॥

प्रत्यङ्कसविदूषकत्वादत्र शृङ्गारोऽङ्गी । सप्ताङ्कं यथा—स्तम्भितरम्भम् । पञ्चाङ्कं यथा—विक्रमोर्वशीयम् ।

अथ गोष्ठी—

प्राकृतैर्नवभिः पुंभिर्दशभिर्वाप्यलंकृता ।
नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकीवृत्तिशालिनी ॥ २७४ ॥
हीना गर्भविमर्शाभ्यां पञ्चषड्योषिदन्विता ।
कामशृङ्गारसंयुक्ता स्यादेकाङ्कविनिर्मिता ॥ २७५ ॥

यथा—रैवतमदनिका ।

अर्थ—(२) इसके बाद (नाटिका के निरूपणोपरान्त) त्रोटक (का निरूपण करते हैं) ।

(त्रोटक का लक्षण) **सप्तेति**—सात, आठ, नौ अथवा पाँच अङ्कों वाला, देवता और मनुष्यों के आश्रित (अर्थात् दिव्यादिव्य दोनों के चरित्र विषयक) (तथा) प्रत्येक अङ्क में विदूषक के सहित (जो उपरूपक) है, उसे (**त्रोटयति स्वोत्कर्षेण रूपकान्तरं लघूकरोति इति**) त्रोटक नाम वाला कहते हैं । **प्रत्यङ्कमिति**—प्रत्येक अङ्क में विदूषक के रहने के कारण इसमें (त्रोटक में) मुख्य शृङ्गाररस (होता) है (क्योंकि यह विदूषक शृङ्गारिक नायक का सहायक होता है)। [त्रोटक का उदाहरण] **सप्ताङ्कमिति**—सात अङ्क वाले (त्रोटक) का (उदाहरण) **यथा**—स्तम्भितरम्भम् । पाँच अङ्क वाले (त्रोटक) का (उदाहरण) **यथा**—विक्रमोर्वशीय ।

टिप्पणी—प्रश्न—"प्रत्यङ्कं सविदूषकम्—इसके अनुसार तो सभी अंकों के अन्दर विदूषक की उपस्थिति अवश्यम्भावी है। परन्तु विक्रमोर्वशीय के प्रथम और चतुर्थ अंक के अन्दर विदूषक नहीं है, अतः त्रोटक के इस लक्षण में अव्याप्ति नामक दोष है।

उत्तर—नहीं, ऐसी बात नहीं है अर्थात् त्रोटक के लक्षण के अन्दर (अव्याप्ति नामक दोष नहीं है क्योंकि यदि यही अभिप्रेत होता कि विदूषक प्रत्येक अंक में अवश्य रहे तो "प्रत्यङ्कं सविदूषकम्" के स्थान पर स्पष्ट ही "सर्वाङ्कं सविदूषकम्" ऐसा कह देते । परन्तु ऐसा न कहने से सिद्ध होता है कि यदि किसी अंक में विदूषक नहीं भी है तब भी त्रोटक के लक्षण में कोई क्षति नहीं आती है, अतः अव्याप्ति दोष नहीं है ।

अर्थ—(३) इसके बाद (अर्थात् त्रोटक के निरूपणोपरान्त) गोष्ठी (का निरूपण करते हैं)—

(गोष्ठी का लक्षण) **प्राकृतैरिति**—नीति विदग्ध (साधारण रूप से शिक्षित) नौ अथवा दस मनुष्यों (नायकों) से सुशोभित. (नीति विदग्ध पात्रों के होने के कारण ही) उदात्त वचन (संस्कृत भाषा) से शून्य, कैशिकी वृत्ति वाली, गर्भ और विमर्श सन्धि से रहित, पाँच या छः स्त्रियों से (नायिकाओं से) युक्त, कामशृङ्गार (पूर्वोक्त स्वरूप वाले) से युक्त, एक अंक में विरचित (**दशानामेव पुंसां समारूपत्वेन गोष्ठीत्वात्**) गोष्ठी होती है । [गोष्ठी का उदाहरण] **यथा**—रैवतमदनिका ।

अथ सट्टकम्—

सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम् ।
न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः ॥ २७६ ॥
अङ्का जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यन्नाटिकासमम् ।

यथा—कर्पूरमञ्जरी ।

अथ नाट्यरासकम्—

नाट्यरासकमेकाङ्कं बहुताललयस्थिति ॥ २७७ ॥
उदात्तनायकं तद्वत्पीठमर्दोपनायकम् ।
हास्योऽङ्ग्यत्र सश्रृङ्गारो नारी वासकसज्जिका ॥२७८॥
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ।
केचित्प्रतिमुखं सन्धिमिह नेच्छन्ति केवलम् ॥ २७९ ॥

अर्थ—(४) इसके बाद (गोष्ठी के निरूपणोपरान्त) सट्टक (का निरूपण करते हैं —

(सट्टक का लक्षण) **सट्टकमिति**—प्राकृत में (संस्कृत से भिन्न) ही सम्पूर्ण श्लोकादि वाला, प्रवेशक (पूर्वोक्त लक्षण वाले) से रहित सट्टक होता है। इसमें (सट्टक में) विष्कम्भक भी नहीं (होता) है, और अद्भुतरस का आधिक्य (होता) है। अंक "जवनिका" नाम वाले होते हैं (अर्थात् अंक के स्थान पर 'जवनिका' शब्द का व्यवहार होता है) (इससे) भिन्न (अंक संख्यादिक) नाटिका के समान होता है। [सट्टक का उदाहरण] **यथा**—कर्पूरमञ्जरी ।

अर्थ—(५) इसके बाद (सट्टक के निरूपणोपरान्त) नाट्यरासक (का निरूपण करते हैं)—

(नाट्यरासक का लक्षण) **नाट्यरासकमिति**—एक अङ्क वाला, अनेक प्रकार की ताल ("तालः कालक्रियामानम्") और लय ("लयः साम्यम्") की स्थिति वाला, धीरोदात्त नायक वाला ("अविकत्थनः क्षमावान्" इत्यादि लक्षण वाला), उसी की तरह (धीरोदात्त नायक की तरह) पीठमर्द नायक ('दूरानुवर्तिनि स्यात्तस्य" इत्यादि लक्षण स्वरूप नायक से कुछ हीन गुणों वाला सहायक विशेष) उपनायक वाला **नाट्यरासक (नाट्यं-अभिनय रासयति-सामाजिकेभ्यो रोचयतीति नाट्यरासकम्)** होता है। इसमें (नाट्यरासक में) श्रृङ्गार से युक्त हास्यरस मुख्य (होता) है, वासकसज्जा (**"कुरुते मण्डनं यस्याः"** इस लक्षण वाली) नायिका (होती) है। मुख और निर्वहण सन्धि (होती) हैं और दसों लास्य के अङ्ग (होते) है। (किन्तु) कुछ (विद्वान्) इसमें (नाट्यरासक में) केवल प्रतिमुख सन्धि को नहीं चाहते हैं (इससे भिन्न अन्य चार सन्धियों को चाहते हैं)।

तत्र सन्धिद्वयवती यथा—नर्मवती । सन्धिचतुष्टयवती यथा—विलासवती ।

अथ प्रस्थानकम्—

प्रस्थाने नायको दासो हीनः स्यादुपनायकः ।
दासी च नायिका वृत्तिः कैशिकी भारती तथा ॥२८०॥
सुरापानसमायोगादुद्दिष्टार्थस्य संहृतिः ।
अङ्कौ द्वौ लयतालादिर्विलासो बहुलस्तथा ॥ २८१ ॥

यथा—शृङ्गारतिलकम् ।

अथोल्लाप्यम्—

उदात्तनायकं दिव्यवृत्तमेकाङ्कभूषितम् ।
शिल्पकाङ्गैर्युतं हास्यशृङ्गारकरुणै रसैः ॥ २८२ ॥
उल्लाप्यं बहुसंग्राममस्रगीतमनोहरम् ।
चतस्रो नायिकास्तत्र त्रयोऽङ्का इति केचन ॥ २८३ ॥

शिल्पकाङ्गानि वक्ष्यमाणानि । यथा—देवीमहादेवम् ।

[नाट्यरासक का उदाहरण] यथा—उनमें से दो सन्धि वाला (नाट्यरासक)—नर्मवती । चार सन्धियों वाला (नाट्यरासक)—यथा— विलासवती ।

अर्थ—(६) इसके बाद (नाट्यरासक के निरूपण के अनन्तर) प्रस्थानक (का वर्णन करते हैं)—

(प्रस्थानक का लक्षण) प्रस्थान इति—प्रस्थानक में (प्रतिष्ठन्ते रसाधिक्येनानुधावन्ति सामाजिकानां चेतांसि यत्र तत् प्रस्थानकम्) नायक दास (होता) है, (दास से भी) हीन उपनायक होता है और नायिका दासी, कैशिकी तथा भारतीवृत्ति होती हैं। मद्यपान के कारण प्रस्तुत इतिवृत्त की समाप्ति (होती) है । दो अङ्क, लय, तालादि तथा विलास अधिक होता है । [प्रस्थानक का उदाहरण] यथा—शृङ्गारतिलक ।

अर्थ— (७) इसके बाद (प्रस्थानक के लक्षण के निरूपणोपरान्त) उल्लाप्य (का लक्षण निरूपित करते हैं)—

(उल्लाप्य का लक्षण) उदात्तनायकमिति—धीरोदात्त नायक वाला, दिव्य कथानक वाला, एक अङ्क से सुशोभित, शिल्पक के अङ्गों से (२७ आशंसनादि शिल्पक के अङ्गों का आगे चलकर वर्णन करेंगे) (तथा) हास्य, शृङ्गार और करुण रसों से युक्त, अनेक संग्रामों के वर्णन से सम्पन्न, अस्रगीत से मनोहर उल्लाप्य (होता) है। उसमें (उल्लाप्य में) चार नायिकायें (होती) हैं, कुछ (विद्वान्) तीन अंक (होते हैं—ऐसा कहते) हैं शिल्पक के अङ्गों का वर्णन करेंगे । [उल्लाप्य का उदाहरण) यथा—देवीमहादेव ।

टिप्पणी—अस्रगीत का लक्षण—

उत्तरोत्तररूपं यद् प्रस्तुतार्थपरिष्कृतम् ।
अन्तर्जवनिकं गीतमस्रगीतं तदुच्यते ॥

अथ काव्यम्—

> काव्यमारभटीहीनमेकाङ्कं हास्यसङ्कुलम् ।
> खण्डमात्राद्विपदिकाभग्नतालैरलंकृतम् ॥ २८४ ॥
> वर्णमात्राछड्डणिकायुतं शृङ्गारभाषितम् ।
> नेता स्त्री चाप्युदात्तात्र सन्धी आद्यौ तथान्तिमः ॥२८५॥

यथा—यादवोदयम् ।

अथ प्रेङ्खणम्—

> गर्भावमर्शरहितं प्रेङ्खणं हीननायकम् ।
> असूत्रधारमेकाङ्कमविष्कम्भप्रवेशकम् ॥ २८६ ॥
> नियुद्धसम्फेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम् ।
> नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना ॥ २८७ ॥

यथा—वालिवधः ।

अर्थ—(८) इसके बाद (उल्लाप्य के निरूपणोपरान्त) **काव्य** (का निरूपण करते हैं)—

(काव्य का लक्षण) **काव्यमिति**—आरभटी वृत्ति से रहित, एक अङ्क वाला, हास्य रस से व्याप्त, खण्डमात्रा, द्विपदिका और भग्नताल (नामक विशेष गीतों से) सुशोभित, वर्णमात्रा और दडडलिका (नामक विशेष छन्दों) से युक्त, शृङ्गार सूचक वाक्य से समन्वित काव्य (होता) है । इस (काव्य) में नायक और नायिका धीरोदात्त (होते) हैं, प्रथम दो (अर्थात् मुख और प्रतिमुख) और अन्तिम (निर्वहण) सन्धि होती हैं ।

(काव्य का उदाहरण)—**यथा—यादवोदय** ।

अर्थ—(९) इसके बाद (काव्य के निरूपणोपरान्त) **प्रेङ्खण** (का निरूपण करते हैं)—

(प्रेङ्खण का लक्षण) **गर्भेति**—गर्भ और विमर्श सन्धि से रहित, नीच नायक वाला, सूत्रधार, विष्कम्भक और प्रवेशक से रहित, एक अङ्क वाला, द्वन्द्व युद्ध और क्रोधयुक्त वचनों से युक्त, सभी (कैशिकी आदि चार), वृत्तियों से समन्वित प्रेङ्खण [**प्रेङ्खते—रसानुभवामोदेन चित्तमान्दोल्यते अनेनेति प्रेङ्खणम्**] (होता) है । [**प्रश्न**—सूत्रधार के न होने से नान्दी का पाठ उस समय कौन करेगा, अथवा कौन प्ररोचना सम्पादित करेगा ? इसका उत्तर देते हैं] **नेपथ्ये इति**—उसमें (प्रेङ्खण में) नान्दी तथा प्ररोचना (सूत्रधार के न होने से ही) नेपथ्य में (किसी नट से) पढ़ी जाती है । [प्रेङ्खण का उदाहरण] **यथा—बालिवध** ।

टिप्पणी—प्ररोचना—भारती वृत्ति का अङ्ग विशेष है । '**तथा च सा कवि-परिषदादीनां प्रशंसया सहृदयानामुन्मुखीकरणम्** ।' अतः नेपथ्य के अन्दर विद्यमान जिस किसी भी नट के द्वारा नान्दी का पाठ कर दिया जाना चाहिये और **प्ररोचना** की जानी चाहिये ।

अथ रासकम्—

रासकं पञ्चपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम् ।
भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारतीकैशिकीयुतम् ।। २८८ ।।
असूत्रधारमेकाङ्कं सवीथ्यङ्गं कलान्वितम् ।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम् ।। २८९ ।।
उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम् ।
इह प्रतिमुखं सन्धिमपि केचित्प्रचक्षते ।। २९० ।।

यथा—मेनकाहितम् ।

अथ संलापकम्—

संलापकेऽङ्काश्चत्वारस्त्रयो वा नायकः पुनः ।
पाषण्डः स्याद्रसस्तत्र शृङ्गारकरुणेतरः ।। २९१ ।।

अर्थ—(१०) इसके बाद (प्रेङ्खण के निरूपणानन्तर) रासक (का निरूपण करते हैं)—

(रासक का लक्षण) रासकमिति—पांच पात्रों वाला, मुख और निर्वहण सन्धि से समन्वित, भाषा (संस्कृत) और विभाषा (प्राकृत) की अधिकता वाला, भारती और कैशिकी वृत्ति से समन्वित, सूत्रधार रहित, एक अङ्क वाला, (पूर्वोक्त) वीथी के अङ्गों सहित, (नृत्य गीतादि ६४) कलाओं से युक्त, श्लिष्ट (द्व्यर्थक) नान्दी से संयुक्त, प्रसिद्ध नायिका वाला, मुर्ख नायक वाला और उत्तरोत्तर (क्रमशः) नायक के महत्त्व को बताने वाले वर्णन से युक्त. (रासयति—सामाजिकेभ्य आत्मानं प्रीणयतीति रासकम्) रासक होता है । इसमें (रासक में) कुछ (विद्वान्) प्रतिमुख सन्धि को भी कहते हैं । [रासक का उदाहरण] यथा—मेनकाहित ।

टिप्पणी—भाषार्णव में भाषा और विभाषाओं का भेद इसप्रकार बताया गया है :—

भाषा मध्यमपात्राणां नाटकादौ विशेषतः ।
महाराष्ट्री शौरसेनीत्युक्ता भाषा द्विधा बुधैः ।।
हीनैर्भाष्या विभाषा स्यात् सा च सप्तविधा स्मृता ।
प्राच्यावन्ती मागधी च शाकारी च तथा परा ।
चाण्डाली शावरी चैव तथाभीरीति भेदतः ।। इति ।।

अर्थ—(११) इसके बाद (रासक के निरूपणोपरान्त) संलापक (का निरूपण करते हैं)—

(संलापक का लक्षण) संलापके इति—संलापक में (संलापयति–रसविशेषवत्तया आत्मानमध्यापयतीति संलापकः) चार या तीन अंक (होते) हैं, नायक धर्मद्रोही होता है, शृङ्गार और करुणरस से भिन्न रस (होता) है । (तथा उसमें) नगरावरोध छल,

अवेयुः पुरसंरोधच्छलसंग्रामविद्रवाः ।
न तत्र वृत्तिर्भवति भारती न च कैशिकी ॥ २९२ ॥

यथा मायाकापालिकम् ।

अथ श्रीगदितम्—

प्रख्यातवृत्तमेकाङ्कं प्रख्यातोदात्तनायकम् ।
प्रसिद्धनायिकं गर्भविमर्शाभ्यां विवर्जितम् ॥ २९३ ॥
भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन संकुलम् ।
मतं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिरुपरूपकम् ॥ २९४ ॥

यथा—क्रीडारसातलम्—

श्रीरासीना श्रीगदिते गायेत्किंचित्पठेदपि ।
एकाङ्को भारतीप्राय इति केचित्प्रचक्षते ॥ २९५ ॥

ऊह्यमुदाहरणम् ।

अथ शिल्पकम्—

"(प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्यच्छलना छलम्"), युद्ध और विद्रव (शंकाभयत्रासकृतः सम्भ्रमो विद्रवो मतः) होते हैं और उसमें (संलापक में) भारती और कैशिकी वृत्ति नहीं होती हैं। [संलापक का उदाहरण यथा—मायाकापालिक ।

अर्थ—(१२) इसके बाद (संलापक के निरूपण के उपरान्त) श्रीगदित (का निरूपण करते हैं)—

(श्रीगदित का लक्षण) प्रख्यातेति—(पुराणादि में) प्रसिद्ध इतिवृत्त वाला, एक अंक वाला, प्रसिद्ध धीरोदात्त नायक वाला, प्रसिद्ध नायिका वाला, गर्भ और विमर्श सन्धि से रहित, भारतीवृत्ति की बहुतायत वाला, "श्री" इस शब्द की बहुलता वाला उपरूपक विद्वानों के द्वारा (श्रीशब्देन गदितमिति) श्रीगदित नाम वाला माना गया है। [श्रीगदित का उदाहरण] यथा—क्रीडारसातल ।

(श्रीगदित का दूसरा लक्षण) श्रीरिति—श्रीगदित (उपरूपक) में बैठी हुई लक्ष्मी वेशधारिणी नटी (श्रीः) कुछ गाती है, (और) कुछ पढ़ती भी है। (तथा उसमें) भारतीवृत्ति वाला एक अङ्क (ही होता) है, ऐसा कुछ (विद्वान्) कहते हैं। ऊह्यमिति—(इस 'श्रीगदित' का) उदाहरण खोजना चाहिये।

टिप्पणी—श्रीगदित का उदाहरण—यथा—श्री शिवनाथ सूरि विरचित "अजित" है।

अर्थ—(१३) इसके बाद (श्रीगदित के निरूपणोपरान्त) शिल्पक (का निरूपण करते हैं)—

चत्वारः शिल्पकेऽङ्काः स्युश्चतस्रो वृत्तयस्तथा ।
अशान्तहास्याश्च रसा नायको ब्राह्मणो मतः ।। २९६ ।।
वर्णनाऽत्र श्मशानादेर्हीनः स्यादुपनायकः ।
सप्तविंशतिरङ्गानि भवन्त्येतस्य तानि तु ।। २९७ ।।
आशंकातर्कसंदेहतापोद्वेगप्रसक्तयः ।
प्रयत्नग्रथनोत्कण्ठावहित्थाप्रतिपत्तयः ।। २९८ ।।
विलासालस्यबाष्पाणि प्रहर्षाश्वाससूढताः ।
साधनानुगमोच्छ्वासविस्मयप्राप्तयस्तथा ।। २९९ ।।
लाभविस्मृतिसंफेटा वैशारद्यं प्रबोधनम् ।
चमत्कृतिश्चेत्यमीषां स्पष्टत्वाल्लक्ष्म नोच्यते ।। ३०० ।।

संफेटग्रथनयोः पूर्वमुक्तत्वादेव लक्ष्म सिद्धम् ।

यथा—कनकवतीमाधवः ।

अथ विलासिका—

अर्थ–(शिल्पक का लक्षण) चत्वार इति–'शिल्प में (नृत्यादिशिल्पमुख्यत्वादेव तत्संज्ञके उपरूपके) चार अङ्क तथा (कैशिकी आदि) चार वृत्तियाँ होती हैं । शान्त और हास्य रस को छोड़कर (अन्य) रस (होते) हैं । ब्राह्मण नायक माना गया है । [और वह नायक 'असति विशेषाभिधाने सामान्यस्य न्याय्यत्वात्' इस लक्षण से सामान्यतया धीरप्रशान्त लक्षण वाला होना चाहिये] । इस (शिल्पक) में श्मशान आदि का ('आदि' पद से शव और महारण्यादि का ग्रहण होता है) वर्णन (होता) है, नीच जाति वाला उपनायक होता है । इस (शिल्पक) के २७ अङ्ग होते हैं और वे (१) आशंसा, (२) तर्क, (३) सन्देह, (४) ताप, (५) उद्वेग, (६) प्रसक्ति (अनुरक्ति), (७) प्रयत्न, (८) ग्रथन, (९) उत्कण्ठा, (१०) अवहित्था (आकृतिगोपन), (११) प्रतिपत्ति (क्रिया के अर्थ का परिज्ञान), (१२) विलास, (१३) आलस्य, (१४) वाष्प, (१५) प्रहर्ष, (१६) आश्वास (धैर्य देना), (१७) मूढता, (१८) साधनानुगम (इष्ट साधन का ज्ञान), (१९) उच्छ्वास, (२०) विस्मय, (२१) प्राप्ति (आनन्दानुभव), (२२) लोभ (अन्य वस्तु की प्राप्ति), (२३) विस्मृति, (२४) सम्फेट (रोषभाषण), (२५) वैशारद्य (निपुणता), (२६) प्रबोधन और (२७) चमत्कृति हैं । इन (अङ्गों) के लक्षण स्पष्ट होने के कारण नहीं कहे जाते हैं ।

सम्फेट ('सम्फेटो रोषभाषणम्') और ग्रथन ('उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनम्') का लक्षण पूर्व कहे हुये होने से ही सिद्ध है ।

[शिल्पक का उदाहरण] यथा—कनकावतीमाधव ।

अर्थ—(१४) इसके बाद (शिल्पक के निरूपण करने के उपरान्त) विलासिका (का वर्णन करते हैं)—

शृङ्गारबहुलैकाङ्का दशलास्याङ्गसंयुता ।
विदूषकविटाभ्यां च पीठमर्देन भूषिता ॥ ३०१ ॥
हीना गर्भविमर्शाभ्यां संधिभ्यां हीननायका ।
स्वल्पवृत्ता सुनेपथ्या विख्याता सा विलासिका ॥ ३०२ ॥

केचित्तु तत्र विलासिकास्थाने विनायिकेति पठन्ति । तस्यास्तु 'दुर्मल्लिकायामन्तर्भावः इत्यन्ये ।

अथ दुर्मल्लिका--

दुर्मल्ली चतुरङ्का स्यात् कैशिकीभारतीयुता ।
अगर्भा नागरनरा न्यूननायकभूषिता ॥ ३०३ ।
त्रिनालिःप्रथमोऽङ्कोऽस्यां विटक्रीडामयो भवेत् ।
पञ्चनालिर्द्वितीयोऽङ्को विदूषकविलासवान् ॥ ३०४ ॥
षण्णालिकस्तृतीयस्तु पीठमर्दविलासवान् ।
चतुर्थो दशनालिः स्यादङ्कः क्रीडितनागरः ॥ ३०४ ॥

यथा—बिन्दुमती ।

अर्थ—(विलासिका का लक्षण) शृङ्गारेति--शृङ्गार बहुल, एक अङ्क वाली, दस लास्य के अङ्गों से अन्वित, विदूषक, विट और पीठमर्द से सुशोभित, गर्भ और विमर्श सन्धियों से रहित, हीन गुण नायक वाली, स्वल्प कथानक या पद्य वाली, सुन्दर वेशरचना वाली विलासिका (विशेषेण लासयति-सामाजिकेभ्यः कामयतीति विलासिका) प्रख्यात है ।

केचित्त्विति—कुछ (विद्वान्) तो यहाँ विलासिका के स्थान पर 'विनायिका' ऐसा पढ़ते हैं, (किन्तु) अन्य (विद्वानों का कहना है कि) उसका (विलासिका का) दुर्मल्लिका के अन्दर अन्तर्भाव हो जाता है ।

(१५) इसके बाद (विलासिका के निरूपणोपरान्त) दुर्मल्लिका (का निरूपण करते हैं)—

(दुर्मल्लिका का लक्षण) दुर्मल्लीति-दुर्मल्लिका (दुष्टा-सुन्दरत्वेन हीना मल्ली मल्लीपुष्पमपि यस्याः सा) चार अङ्कों वाली, कैशिकी और भारतीवृत्ति से समन्वित, गर्भसन्धि से शून्य, नागरिक (नगरे जाताः) मनुष्यों से युक्त (अर्थात् चतुर मनुष्यों से युक्त), (जाति से) निकृष्ट नायक से भूषित होती है । इसमें (दुर्मल्लिका में) प्रथम अङ्क तीन नाली का ('नालिका घटिकाद्वयम्') (और) विट की क्रीडाओं से पूर्ण होता है, दूसरा अङ्क पांच नाली का (और) विदूषक के विलासों से युक्त (होता) है । तीसरा अङ्क तो छः नाली का (और) पीठमर्द की विलासमयी क्रीडाओं से समन्वित (होता) है । चतुर्थ अङ्क दस नाली का (और) नागरिक पुरुषों की क्रीडाओं से युक्त होता है । [दुर्मल्लिका का उदाहरण] यथा—बिन्दुमती ।

अथ प्रकरणिका—

नाटिकैव प्रकरणी सार्थवाहादिनायका।
समानवंशजा नेतुर्भवेद्यत्र च नायिका॥ ३०६॥

मृग्यमुदाहरणम्।

अथ हल्लीशः—

हल्लीश एक एवाङ्कः सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः।
वागुदात्तैकपुरुषः कैशिकीवृत्तिरुज्ज्वला।
मुखान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयस्थितिः॥ ३०७॥

यथा—केलिरैवतकम्।

अथ भाणिका—

भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्या मुखनिर्वहणान्विता।
कैशिकीभारतीवृत्तियुक्तैकाङ्कविनिर्मिता॥ ३०८॥
उदात्तनायिका मन्दनायकात्राङ्गसप्तकम्।

अर्थ—(१६) इसके बाद (दुर्मल्लिका के निरूपणोपरान्त) प्रकरणिका (का निरूपण करते हैं)—

(प्रकरणिका का लक्षण) नाटिकैवेति—वणिक् आदि ("आदि" पद से पुरोहित और अमात्य का ग्रहण होता है) अथवा पथिक आदि ("आदि" पद से प्रवासियों का ग्रहण होता है) नायकों वाली, नाटिका ही प्रकरणिका (होती) है। और जिसमें (प्रकरणिका में) नायक के समान वंश में उत्पन्न होने वालो नायिका होती है। (इसका) उदाहरण खोजना चाहिये (क्योंकि इसका उदाहरण दुर्लभ है)।

(१७) इसके बाद (प्रकरणिका के लक्षणोपरान्त) हल्लीश (का निरूपण करते हैं)।

(हल्लीश का लक्षण) हल्लीश इति—हल्लीश (नामक उपरूपक) में एक ही अङ्क, (इससे अधिक अङ्कों की रचना नहीं करनी चाहिये), सात, आठ अथवा दस स्त्रियाँ (सात से कम और दस से अधिक स्त्रियाँ नहीं होनी चाहिये) उत्तम (संस्कृत रूप) वाणी (शौरसेनी), एक नट, कैशिकीवृत्ति समन्वित, तथा आदि और अन्तिम (अर्थात् मुखसन्धि और निर्वहण सन्धि) सन्धियाँ (और) अनेक प्रकार के ताल और लयों की स्थिति होती है।

[हल्लीश का उदाहरण] यथा—केलिरैवतक।

(१८) इसके बाद (हल्लीश के निरूपणोपरान्त) भाणिका (का निरूपण करते हैं)—

(भाणिका का लक्षण) भाणिकेति—भाणिका सुन्दर वेश रचना वाली (नेपथ्य), मुख और निर्वहण (सन्धि) से अन्वित, कैशिकी और भारती वृत्ति से युक्त, एक अङ्क से विनिर्मित, उत्तम नायिका वाली, (और) हीन नायक वाली (होती) है।

उपन्यासोऽथ विन्यासो विबोधः साध्वसं तथा ॥ ३०९ ॥
समर्पणं निवृत्तिश्च संहार इति सप्तमः ।
उपन्यासः प्रसङ्गेन भवेत्कार्यस्य कीर्तनम् ॥ ३१० ॥
निर्वेदवाक्यव्युत्पत्तिर्विन्यास इति स स्मृतः ।
भ्रान्तिनाशो विबोधः स्यान्मिथ्याख्यानं तु साध्वसम् ॥ ३११ ॥
सोपालम्भवचः कोपपीडयेह समर्पणम् ।
निदर्शनस्योपन्यासो निवृत्तिरिति कथ्यते ॥ ३१२ ॥
संहार इति च [प्राहुर्यत्कार्यस्य समापनम् ।

स्पष्टान्युदाहरणानि ।

यथा—कामदत्ता ।

एतेषां सर्वेषां नाटकप्रकृतिकत्वेऽपि यथौचित्यं यथालाभं नाटकोक्तविशेषपरिग्रहः । यत्र च नाटकोक्तस्यापि पुनरुपादानं तत्र तत्सद्भावस्य नियमः ।

इसमें (भाणिका में) सात अङ्ग (होते) हैं । तथाहि—(१) उपन्यास, (२) विन्यास, (३) विबोध, (४) साध्वस, (५) समर्पण, (६) निवृत्ति और (७) संहार । तथा हि—[क्रमशः सबका लक्षण करते हैं—

अर्थ—(१) (उपन्यास का लक्षण) **उपन्यास इति—**(किसी) प्रसङ्ग से कार्य का कथन करना **उपन्यास** होता है । (२) **विन्यास इति**—निर्वेद वाक्य की विशेषरूप से उत्पत्ति (अर्थात् प्रपञ्च-विस्तार) प्रसिद्ध (सः) **विन्यास** स्मरण किया गया है । (३) भ्रान्ति का विनाश **विबोध** होता है । (४) मिथ्या कहना **साध्वस** (होता) है । (५) इसमें (भाणिका में) क्रोध की पीड़ा से निन्दायुक्त वचन **समर्पण** (कहलाता) है । (६) उदाहरण का उपस्थापन **निवृत्ति** कहलाता है । (७) कार्य की जो समाप्ति है (उसको) **संहार** कहते हैं । (उपन्यास और विन्यासादिक भाणिका के अङ्गों के) उदाहरण स्पष्ट हैं । **यथा—कामदत्ता** ।

इन सभी (रूपक और उपरूपकों) की नाटक के समान प्रवृत्ति होने पर भी औचित्य के अनुसार यथायोग्य नाटक में कहे हुये विशेष (अङ्गों) का समावेश करना चाहिये और जहाँ नाटक में कहे हुये (अङ्गों) का पुनः कथन है, वहाँ उन (अङ्गों) के सद्भाव का नियम है अर्थात् उन अङ्गों की अवश्य कर्त्तव्यता है । [**यथा**—वीथी में वीथ्यङ्गों की अवश्य कर्त्तव्यता है ।]

अथ श्रव्यकाव्यनिरूपणम्—

अवतरणिका—"दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्" यह पहले कहा जा चुका है । इनमें से दृश्य काव्य का लक्षणोदाहरण सहित वर्णन करने के उपरान्त क्रम प्राप्त **श्रव्यकाव्य** का वर्णन करते हैं—

अथ श्रव्यकाव्यानि—

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥ ३१३ ॥

तत्र पद्यमयान्याह—

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं संदानितकं त्रिभिरिष्यते ॥ ३१४ ।
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् ।

अर्थ—इसके बाद (दृश्यकाव्य के निरूपण के अनन्तर) श्रव्यकाव्यों को (वर्णित किया जाता है ।)—

(श्रव्य काव्य का लक्षण) **श्रव्यमिति**—केवल श्रवण योग्य ("**मात्र**" शब्द से दृश्यकाव्य का व्यवच्छेद कर दिया) श्रव्यकाव्य दो प्रकार का (होता) है—(१) **पद्यमय** और (२) **गद्यमय** ।

टिप्पणी—यद्यपि दृश्य काव्य के अन्दर वाचिक अंश के अन्दर श्रवण की योग्यता है तथापि आङ्गिकादि अंशों में दर्शन की योग्यता भी होने के कारण उसमें "श्रव्य-काव्य" का व्यवहार नहीं होता ।

अर्थ—उनमें से (पद्यमय और गद्यमय काव्यों में से) **पद्यमय** (काव्यों) को बताते हैं :—**छन्दोबद्धपदमिति** (१) (गायत्री आदि छन्द:शास्त्र में प्रसिद्ध) छन्दों से रचित पद (**सुप्तिङन्तं पदम्**) वाले (काव्य) को 'पद्य' (कहते) हैं । [यह पद्यकाव्य का सामान्य लक्षण है ।](२) उस (पद्य) से मुक्त अर्थात् दूसरे पद्य से निरपेक्ष होने से('**मुक्तमेव मुक्तकम्**') मुक्तक, (३) दो (पद्यों) से (वाक्यपूर्ति होती हो तो) (**युग्ममेव युग्मकम्**) युग्मक, (४) तीन (पद्यों) से (वाक्य की पूर्ति होती हो तो) सन्दानतिकं (**सन्दानं—सम्मेलनमस्य सञ्जातमिति सन्दानतिकम्**) कहा जाता है । (५) और चार (पद्यों) से (वाक्य की पूर्ति होती हो तो) कलापक, (६) (तथा) पाँच (पद्यों) से (वाक्य की पूर्ति होती हो तो) कुलक माना गया है ।

["पञ्चभिः" से यह द्योतित होता है कि उससे कम संख्या नहीं होनी चाहिये । इसीलिये **शिशुपालवधादि** में दस पद्यों से 'कुलक' सूचित किया गया है] ।

टिप्पणी—(१) **सन्दानतिक** के ही **विशेषक** और **तिलक**—ये दो अन्य नाम हैं ।

(२) **कलापक** को ही काश्मीरी कवि "**चक्कलक**" कहते हैं ।

(३) कहा भी है कि :—

द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥ इति ॥

तत्र मुक्तकं यथा मम—

सान्द्रानन्दमनन्तमव्ययमजं यद्योगिनोऽपि क्षणं
साक्षात्कर्तुमुपासते प्रति मुहुर्ध्यानैकतानाः परम् ।
धन्यास्ता मधुरापुरीयुवतयस्तद्ब्रह्म या कौतुका-
दालिङ्गन्ति समालपन्ति शतधाऽकर्षन्ति चुम्बन्ति च ॥'

युग्मकं यथा मम—

'किं करोषि करोपान्ते कान्ते गण्डस्थलीमिमाम् ।
प्रणयप्रवणे कान्तेऽनैकान्ते नोचिताः क्रुधः ॥
इति यावत्कुरङ्गाक्षीं वक्तुमीहामहे वयम् ।
तावदाविरभूच्चूते मधुरो मधुपध्वनिः ॥

एवमन्यान्यपि ।

अर्थ—(१) उनमें से (**मुक्तक, युग्मक, सन्दानतिक, कलापक और कुलक में से**) **मुक्तक** (का उदाहरण) **यथा**—मेरा (ग्रन्थकारकृत)—**सान्द्रेति**—

पौनः पुन्येन ध्यान में एकाग्रचित्त होकर योगी पुरुष भी आनन्दघन, अनन्त, अच्युत, जन्म से रहित, परमब्रह्म की क्षण भर के लिये प्रत्यक्ष करने के लिये, उपासना करते हैं, उस ब्रह्म को, वे (प्रसिद्ध) मथुरा नगर की युवतियाँ धन्य हैं, जो कौतुक से (आनन्द से) अनेक प्रकार से आलिङ्गन करती हैं, बातचीत करती हैं, (विहार के लिये) खींचती हैं और चुम्बन करती हैं । [क्योंकि योगियों की अपेक्षा अधिक काल तक साक्षात्कार करती हैं ।]

टिप्पणी—यहाँ "**धन्या भवन्ति**" इस समाप्ति सूचक क्रिया के अन्वय में अन्य पद्य की अपेक्षा न होने से **मुक्तक** है ।

अर्थ—(२) **युग्मक** (का उदाहरण) **यथा**—मेरा (ग्रन्थकारकृत)—**किमिति**—

प्रसंग—मानिनी के मान को भंग करने के उपाय को सखि से कह रहा है ।

अर्थ-(हे) प्रियतमे हाथ के प्रान्त भाग पर अर्थात् करतल पर इस कपोलस्थली को क्यों रख रही हो ? (तुमको) प्रसन्न करने के लिये उत्कण्ठित, अव्यभिचारी (अर्थात् केवल तुम्हीं से प्रेम करने वाले) पति पर क्रोध करना उचित नहीं है, इसप्रकार मृगनयनी को समझाने के लिये जैसे ही हमने चेष्टा की, वैसे (ही) आम्र पर मनोहर भ्रमर की झङ्कार उत्पन्न हुई । [**आशय** यह है कि भ्रमर की ध्वनि से ही मान भंग हो गया, हमको प्रयत्न करने की आवश्यकता भी नहीं हुई ।] **एवमिति**—इसीप्रकार अन्यों के भी (अर्थात् **सन्दानतिक** और **कुलक** के उदाहरण समझने चाहिये ।)

टिप्पणी—(१) यहाँ पहले श्लोक के अर्थ का दूसरे श्लोक में विद्यमान "**आविरभूत**" इस समाप्तिबोधक क्रिया के साथ अन्वय घटित होने से युग्मक है ।

(२) **सन्दानतिक का उदाहरण** :—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।। ३१५ ।।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।। ३१६ ।।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ।। ३१७ ।।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।

रुरुदिषा वदनाम्बुरुहश्रियः सुतनु सत्यमलङ्करणायते ।
तदपि सम्प्रति सन्निहिते मधावधिगमं धिगमंगलमश्रुणः ।।१।।
त्यजति कष्टमसावचिरादसून् विरहवेदनयेत्यघशङ्किभिः ।
प्रियतमा गदितास्त्वयि बान्धवैरवितथा वितथाः सखि, मा गिरः ।।२।।
न खलु दूरगतोऽप्यतिवर्तते महमसाविति बन्धुतयोदितैः ।
प्रणयिणो निशमय्य वधूर्बहिः स्वरमृतैरमृतैरिव निर्ववौ ।।३।।

(३) **कुलक** का उदाहरण—**यथा**—किरातार्जुनीय के तृतीय सर्ग में "**ततः शरच्चन्द्रः**" यहाँ से "**मुनिमावभाषे**" यहाँ तक ।

इसीप्रकार छः, सात, आठ, नौ और दस पद्यों से भी "**कुलक**" हुआ करता है, इन सभी के उदाहरण विद्वज्जनों को स्वयमेव समझ लेने चाहियें ।

(४) **कलापक** का उदाहरण—**यथा**—**शिशुपालवध** के द्वितीय सर्ग में—"**ततः सपत्नापनय**' ...यहाँ से लेकर "**जगाद वदनच्छद्मपर्यन्तपातिनः**" यहाँ तक । **अथवा**—वहीं—"**न खलु वयममुष्य दानयोग्याः**" इत्यादि ।

अथ महाकाव्यनिरूपणम् :—

अर्थ—(**महाकाव्य** का लक्षण) **सर्गबन्ध इति**--सर्गों से (अवान्तर अर्थों के वर्णन से उपलक्षित) निबद्ध (अर्थात् **रसवत्पद्यकदम्बविन्यासः विन्यस्तरसवत् पद्यकदम्बः**) **महाकाव्य** (होता) है । उस (महाकाव्य) में धीरोदात्त गुणों से युक्त देवता विशेष (सुर.) नायक (होता) है [**यथा—शिशुपालवध** में—श्रीकृष्ण । **कुमारसम्भव** में—कार्तिकेय, अथवा धीरोदात्त गुणों से युक्त सत्कुलीन (एक) क्षत्रिय नायक (होता) है [**यथा—नैषध** में— नल । '**अपि**' से यह ध्वनित होता है कि क्षत्रिय से भिन्न भी अन्य जातीय उसप्रकार का नायक हो सकता है ।] अथवा एक वंश में उत्पन्न होने वाले कुलीन अनेक भी (धीरोदात्त गुणों से युक्त) क्षत्रिय राजा [नायक हो सकते हैं–**यथा**—**रघुवंश** में – दिलीपादि] शृङ्गार, वीर और शान्त रस में से (कोई) एक मुख्य रस होता है । [**यथा—नैषध** में—शृङ्गार; **शिशुपालवध** में—वीररस, **महाभारत** में—शान्तरस । '**शृङ्गारवीरशान्तानाम्** यहाँ बहुवचन उपलक्षणमात्र है । **अतः करुणरस** का भी ग्रहण हो जाता है । इसलिये करुणरस प्रधान रामायण का भी महाकाव्यत्व समझना चाहिये ।] (अन्य) सभी रस गौण होते हैं । सभी (अर्थात् मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण) नाटक की सन्धियां (होती) हैं । इतिहास से उद्भूत (महाभारतादि में प्रसिद्ध) अथवा अन्य (**इतिहास से उद्भूत कथानक**

चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।। ३१८ ।।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।। ३१९ ।।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।। ३२० ।।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।। ३२१ ।।
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।। ३२२ ।।
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।। ३२३ ।।

से भिन्न लोकप्रसिद्ध) सज्जन विषयक कथानक (होता) है। उस (महाकाव्य) के चार वर्ग (धर्मार्थकाममोक्ष वर्णनीय होते) हैं। उन (चार वर्गों) में से एक (कोई भी) प्रधान प्रयोजन होता है (दो अथवा तीन नहीं)। प्रारम्भ में नमस्कार (यथा—रघुवंश में), आशीर्वाद (यथा—मुद्राराक्षसादि में) अथवा वस्तु निर्देश (अर्थात् वर्णनीय नायक के नाम से निर्देश यथा—किरातार्जुनीय और शिशुपालवधादि में) (होता) है। कहीं (महाकाव्य में) खलादिकों की निन्दा और सज्जनों के गुणों का कीर्तन (होता) है (यथा - धर्मशर्माभ्युदयादि में। इससे खलादिकों की निन्दा का और सज्जनों के गुणों के वर्णन का उत्कर्ष सूचित होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि महाकाव्य के अन्दर इनका वर्णन होना ही चाहिये। अतएव यदि किसी काव्य के अन्दर इनका अभाव है तब भी उसके महाकाव्यत्व होने में कोई क्षति नहीं है।) एक प्रकार के पद्यों से, समाप्ति पर (सर्ग के अन्त में) अन्य छन्दों वाले पद्य विशेषों से, न बहुत कम [५० पद्यों से कम नहीं—अतः भट्टिकाव्य के ७० पद्यों से घटित होने पर भी क्षति नहीं है] न बहुत अधिक [२०० से अधिक पद्यों से रहित] आठ से अधिक (आठ से कम नहीं) सर्ग इस (महाकाव्य) में (कवि को करने चाहिये)। किसी-किसी (महाकाव्य) में कोई सर्ग अनेक प्रकार के छन्दों से समन्वित दिखाई देता है (यथा—शिशुपालवध में—चतुर्थ सर्ग, किरातार्जुनीय में—पञ्चम सर्ग।) सर्ग की समाप्ति पर आगे आने वाले सर्ग की कथा की सूचना होनी चाहिये। सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रजनी, सायंकाल, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, शैल, ऋतु, वन और सागर, सम्भोग और विप्रलम्भ शृङ्गार (वीर रसादि प्रधान काव्य के होने पर भी इनका वर्णन करना चाहिये), मुनि (नारदादि), स्वर्ग, पुर, यज्ञ, रण, यात्रा, विवाह, मन्त्र (चार उपायों की मन्त्रणा), पुत्र का जन्म आदि का ("आदि" पद से

वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥ ३२४ ॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।

नृप, अमात्य और सेनापति प्रभृति का ग्रहण होता है) यथासम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस (महाकाव्य) में करना चाहिये । [इनमें से जिस किसी भी अङ्ग से रहित होता हुआ भी काव्य दूषित नहीं होता है ।] चरित्र (वर्णनीय चरित्र) के नाम से (**यथा—कुमारसम्भव, कीचकवधादि**) कवि के नाम से (**यथा—माघकाव्य, भारविकाव्य प्रभृति**), नायक के नाम से (**यथा—रघुवंश प्रभृति**) अथवा किसी दूसरे के नाम से (**यथा—भट्टिकाव्य प्रभृति**) इस (महाकाव्य) का नाम (रखना चाहिये) तथा सर्ग का नाम सर्ग में वर्णनीय कथा के नाम से [होना चाहिये (**यथा**—'सन्ध्यावर्णनं नाम दशमः सर्गः' इति) **यथा च—गीतगोविन्द** में—प्रथम, द्वितीयादि सर्गों का सामोद, दामोदर, अक्लेश और केशव आदि नाम से व्यवहार है ।]

टिप्पणी—महाकाव्य के लक्षण में विशेषक—

शास्त्रं काव्यं शास्त्रकाव्यं काव्यशास्त्रं च भेदतः ।
चतुष्प्रकारः प्रसरः सतां सारस्वतो मतः ॥
शास्त्रं काव्यविदः प्राहुः सर्वकाव्याङ्गलक्षणम् ।
काव्यं विशिष्टशब्दार्थसाहित्यसदलङ्कृति ॥
शास्त्रकाव्यं चतुर्वर्गप्रायं सर्वोपदेशकृत् ।
भट्टिभौमककाव्यादि काव्यशास्त्रं प्रचक्षते ॥
शास्त्रं कुर्यात्प्रयत्नेन प्रसन्नार्थमनुष्टुभा ।
येन सर्वोपकाराय याति सुस्पष्टसेतुताम् ॥
काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च ।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ॥
शास्त्रकाव्येऽतिदीर्घाणां वृत्तानां न प्रयोजनम् ।
काव्यशास्त्रेऽपि वृत्तानि रसायत्तानि काव्यवित् ॥
पुराणप्रतिबिम्बेषु प्रसन्नोपायवर्त्मसु ।
उपदेशप्रधानेषु कुर्यात्सर्वेष्वनुष्टुभम् ॥
नानावृत्तविशेषास्तु कवेः शस्तस्य शासनात् ।
यान्ति प्रभोरिवात्यन्तमयोग्या अपि योग्यताम् ॥ इति ॥

अवतरणिका—प्रश्न—महाकाव्य के अन्दर नाटक की सन्धियों की विधेयता होने पर क्या सन्धियों के अंगों की भी विधेयता है ? इसका उत्तर देते हैं—

सन्ध्यङ्गानि यथालाभमत्र विधेयानि । 'अवसानेऽन्यवृत्तकैः' इति बहुवचनमविवक्षितम् । साङ्गोपाङ्गा इति जलकेलिमधुपानादयः । यथा—रघुवंश–शिशुपालवध–नैषधादयः ।

यथा वा मम—राघवविलासादिः ।

अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ॥ ३२५ ॥

अस्मिन्महाकाव्ये । यथा - महाभारतम् ।

प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः ।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत्क्वचिद्गलितकैरपि ॥ ३२६ ॥

यथा—सेतुबन्धः । यथा वा मम—कुवलयाश्वचरितम् ।

अर्थ—सन्धि के अङ्गों को इस (महाकाव्य) में यथायोग्य करना चाहिये । (अर्थात् नाटक के अन्दर ही सन्धि के अङ्गों की विधेयता आवश्यक है, यहाँ नहीं) 'अवसानेऽन्यवृत्तकैः' यहाँ पर बहुवचन विवक्षित नहीं है (यदि अन्त में एक या दो वृत्त हों तब भी कोई हानि नहीं है) । साङ्गोपाङ्गाः—अर्थात् जलकेलि और मधुपानादि । (महाकाव्य का उदाहरण) यथा—रघुवंश, शिशुपालवध और नैषधादि । अथवा यथा—मेरा (ग्रन्थकारकृत)—राघवविलासादि ।

अथ महाकाव्ये विशेषनिरूपणम्—

अर्थ—(१) (महाकाव्य में विशेष का निरूपण करते हैं) **अस्मिन्निति**—ऋषिप्रणीत इस (महाकाव्य) में सर्ग पुनः 'आख्यान' नाम वाले (शिष्यं प्रति गुरुणा-आख्यानशास्त्रकथने याः संज्ञा अध्यायरूपास्ताहशसंज्ञका भवन्ति) होते हैं । (कारिकास्थ 'अस्मिन्' शब्द की व्याख्या करते हैं) अस्मिन्=महाकाव्य में । यथा—महाभारत ।

टिप्पणी—महाभारत में गद्य के होने पर भी पद्य की प्रचुरता से ही महाकाव्यत्व का व्यवहार है । इसीप्रकार मार्कण्डेयपुराण और विष्णु पुराणादि के विषय में भी समझना चाहिये ।

अर्थ—(२) (महाकाव्य की दूसरी विशेषता) **प्राकृतैरिति**—प्राकृत (नामक भाषाओं) से निर्मित महाकाव्य में (तस्मिन्) सर्ग 'आश्वास' नाम वाले (होते) हैं । यह (प्राकृत भाषा से विरचित महाकाव्य) कहीं स्कन्धक नामक छन्द से, (और कहीं) गलितक नामक छन्द से (बनाया जाना चाहिये) । **[प्राकृत महाकाव्य का उदाहरण]** **यथा**—सेतुबन्ध । अथवा—यथा—मेरा (ग्रन्थकारकृत)—**कुवलयाश्वचरित** ।

अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन् सर्गाः कुडवकाभिधाः ।
तथापभ्रंशयोग्यानि च्छन्दांसि विविधान्यपि ।। ३२७ ।।

यथा--कर्णपराक्रमः ।

भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम् ।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः संधिसामग्र्यवर्जितम् ।। ३२८ ।।

यथा--भिक्षाटनम्, आर्याविलासश्च ।

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।

यथा--मेघदूतादिः ।

कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः ।। ३२९ ।।
व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः ।

सजातीयानामेकत्र सन्निवेशो व्रज्या । यथा मुक्तावल्यादिः ।

अर्थ—(३) (महाकाव्य की तीसरी विशेषता। अपभ्रंशेति—अपभ्रंश भाषा से निर्मित महाकाव्य में (अस्मिन्) सर्ग कुडवक नाम वाले (होते) हैं। तथा अपभ्रंश भाषा के योग्य अनेक प्रकार के छन्द भी (होते) हैं। [अपभ्रंश महाकाव्य का उदाहरण] **यथा— कर्णपराक्रम ।**

अथ काव्यनिरूपणम्—

अर्थ— (काव्य का लक्षण) **भाषेति**—भाषा (संस्कृतादि) और विभाषा (विरुद्ध भाषा अर्थात् अपभ्रंशादि) के नियम से अर्थात् संस्कृत भाषा से काव्य का निर्माण करने पर विभाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये और विभाषा निर्मित काव्य के अन्दर संस्कृत भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये), रचित सर्ग से रहित, एक अर्थ के प्रतिपादक पद्यों से (बना हुआ), सन्धियों के (अर्थात् मुख प्रतिमुखादि) समुदाय से रहित (सरस वाक्य समूह) 'काव्य (होता) है। [काव्य का उदाहरण] **यथा--भिक्षाटन और आर्याविलास ।**

अथ खण्डकाव्यनिरूपणम् —

अर्थ --(खण्डकाव्य का लक्षण) **खण्डकाव्यमिति**--महाकाव्य के (कारिका के अन्दर विद्यमान "च" इस पद से काव्य के पूर्व अभिहित महाकाव्य का ग्रहण होता है) एक अंश का अनुसरण करने वाला (यत् किंचित् लक्षणों से हीन, संस्कृत पद्यों से निर्मित काव्य) **खण्डकाव्य** होता है। [इसके अन्दर भाषा नियम नहीं है।] [खण्डकाव्य का उदाहरण] **यथा—मेघदूतादि** । ("आदि पद से **ऋतुसंहार, नलोदय** प्रभृति का ग्रहण होता है।)

अथ कोषनिरूपणम्--

अर्थ--(कोष का लक्षण) **कोष इति**—परस्पर निरपेक्ष श्लोकों का समूह **(रत्नसदृशश्लोककदम्बधारणात् कोषः)** कोष होता है। वह (कोष) ही सजातीयों के एक स्थल पर सन्निवेश के नियम से (व्रज्याक्रमेण) रचित अति सुन्दर होता है। **अथवा** अकारादि से लेकर हकारादि अक्षरों तक बने वर्णमाला के क्रम से (व्रज्याक्रमेण) रचित अति सुन्दर होता है। (व्रज्या की व्याख्या) **सजातीयानामिति**--सजातीयों का एक स्थल पर सन्निवेश व्रज्या (कहलाता) है। [कोष का उदाहरण] **यथा—मुक्तावली आदि ।**

अथ गद्यकाव्यानि ।

तथ गद्यम्—

> वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च ॥३३०॥
> भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् ।
> आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ॥३३१॥
> अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम् ।

मुक्तकं यथा—'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि—' इत्यादि ।

वृत्तगन्धि यथा मम—

'समरकण्डूलनिविडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटंकारोज्जागरितवैरिनगर'—इत्यादि । अत्र 'कुण्डलीकृतकोदण्ड'—इत्यनुष्टुब्वृत्तस्य पादः, 'समरकण्डल' इति च प्रथमाक्षरद्वयरहितस्तस्यैव पादः ।

टिप्पणी—व्रज्या के दो प्रकार के अर्थ होने से कोष के दो भेद हो गये ।

(१) सजातीयों के एक स्थल पर सन्निवेश के नियम से निर्मित **कोष**, और (२) वर्णमाला के अनुसार बना हुआ **कोष** । इनमें से—

पहले का उदाहरण—यथा **अमरकोष** आदि । और दूसरे का उदाहरण—यथा—**आर्यासप्तशती** आदि ।

अथ गद्यकाव्यनिरूपणम्—

अर्थ—इसके बाद (पद्यकाव्य के निरूपण के अनन्तर) गद्यकाव्य (का निरूपण करते हैं)—

उनमें (**गद्यकाव्य** का लक्षण)—**वृत्तगन्ध इति**—छन्द के अंश से भी रहित (**श्रव्य काव्य**) **गद्यकाव्य** (होता) है [यह **गद्यकाव्य** का सामान्य लक्षण है]; (**और** वह गद्यकाव्य) चार प्रकार का होता है—(१) **मुक्तक**, (२) **वृत्तसन्धि**, (३) **उत्कलिकाप्राय** और (४) **चूर्णक** । (इनमें से) पहला (अर्थात् **मुक्तक**) समास से शून्य (होता) है, (**समासेन मुक्तं मुक्तकम्**); दूसरा (**वृत्तगन्धि**) छन्द के किंचित् अंश से युक्त (होता) है, (**वृत्तस्य गन्धो लवोऽस्यातीति वृत्तगन्धि**); अन्य (अर्थात् **उत्कलिकाप्राय**) दीर्घ समास से युक्त (होता) है, (**उच्चारणसमय उच्चावचतरङ्गतुल्यमिति उत्कलिकाप्रायम्**) और चतुर्थ (अर्थात् **चूर्णक**) अल्प समास वाला (होता) है, (**दीर्घसमासाभावेन चूर्णस्य विन्दोरिव अल्पमात्रे विश्रामात् चूर्णकम्**) ।

(१) (**मुक्तक** का उदाहरण) **यथा**—"**गुरुर्वचसि पृथुरुरसि**—इत्यादि । [यहाँ पदों में कहीं भी समास न होने से "**मुक्तक**" है] । (२) (**वृत्तगन्धि** का उदाहरण) **यथा—** मेरा (ग्रन्थकारकृत)—**समरेति**—युद्ध की खुजली को मिटाने के लिये दृढ़ भुजदण्डों से झुकाया है जो धनुष, उसकी प्रत्यञ्चा की टङ्कार से जगा दिये हैं शत्रुओं के नगर निवासी जिसने ऐसा ? इत्यादि । [**लक्ष्य** में लक्षण को घटाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ "**कुण्डलीकृतकोदण्डः**" यह अनुष्टुप् छन्द का चरण है । और "**समरकण्डूयन**" यह प्रथम अक्षरों से रहित (अर्थात् "**सम**" इन दो अक्षरों से रहित) उसी का ही("**पथ्यावक्त्र**" रूप अनुष्टुप् छन्द का ही) चरण है । [अर्थात "**कण्डूलनिविडभुजः**" यह पथ्यावक्त्र छन्द का प्रथम चरण हो जाता है ।]

उत्कलिकाप्रायं यथा ममैव–'अणिसविसुमरणिसिदसरघिसरविदलिद्दसम-रपरिगदपवरपरबल'— ['अनिश—विसृमर–निशित–शर–विसर–विदलित–समर–परिगतप्रवर–परबल:] इत्यादि ।

चूर्णकः यथा मम—'गुणरत्नसागर, जगदेकनागर, कामिनीमदन जनरञ्जन' इत्यादि ।

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥३३२॥
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ॥३३३॥

यथा—कादम्बर्यादिः ।

अर्थ—(३) **उत्कलिकाप्राय** (का उदाहरण) **यथा**—मेरा ही (ग्रन्थकार का ही)—**अणिसं इति**—निरन्तर फैलने वाले तीक्ष्ण बाणों के आघात से विनष्ट कर दिये हैं युद्ध में उपस्थित श्रेष्ठ शत्र का सैन्य जिससे ऐसा ? [यहाँ दीर्घ समास होने से "उत्कलिकाप्राय" है ।]

(४) **चूर्णक** (का उदाहरण) **यथा**—मेरा (ग्रन्थकार कृत)—"**गुणरत्नसागर इति**—(हे) गुणरूपी रत्नों के समुद्र ! संसार के एक मात्र आश्रय ! कामिनी स्त्रियों के लिये मदन तुल्य ! मनुष्यों को रञ्जन करने वाले ? (यहाँ अल्प समास होने के कारण **चूर्णक** है ।) इत्यादि ॥

अथ कथाख्यायिकयोर्भेदनिरूपणम्—

अर्थ—(१) (**कथा** का लक्षण) **कथायामिति**—**कथा** (नामक गद्यकाव्य में) **रसप्रधान** (यहाँ 'रस' पद की प्रधानता से शृङ्गाररस का ही ग्रहण होता है ।) कथानक गद्यों से ही विरचित (होता) है । इस (कथा) में कहीं आर्या छन्द (से उपनिबद्ध पद्य होता है) और कहीं वक्त्र और अपरवक्त्र नामक छन्द (से निबद्ध पद्य होता) है । (कथा के) प्रारम्भ में श्लोकों से (देवतादिकों का) **नमस्कार**, (**तथा**) दुष्टादिकों के ('आदि' पद से सज्जनों का भी ग्रहण होता है) चरित्र का **वर्णन** (होता) है ।

[**कथा** का उदाहरण] **यथा—कादम्बरी** आदि ।

टिप्पणी—कथा का दूसरा लक्षण—

श्लोकैर्वंशं तु संक्षेपात् कविर्यत्र प्रशंसति ।
मुख्यार्थस्यावताराय भवेद्यत्र कथान्तरम् ॥
परिच्छेदो न यत्रस्यान्न स्याद्वालम्भकः क्वचित् ।
सा कथा नाम तद्गर्भे निबन्धनीयाश्चतुष्पदीम् ॥ इति ॥

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम् ।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित् ॥३३४॥
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते ।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥३३५॥
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम् ।

यथा—हर्षचरितादिः । 'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्रापन्यैरुदीरणात्' इति दण्डयाचार्यवचनात् केचित्' आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या' इत्याहुः' तदयुक्तम् । आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ताः । यदुक्तं दण्डिनैव—

'अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ।' इति ।

एषामुदाहरणम्—पञ्चतन्त्रादि ।

अर्थ—(२) (आख्यायिका का लक्षण) **आख्यायिकेति—आख्यायिका** कथा के समान होता है [अर्थात् जिसप्रकार कथा के अन्दर सरस वस्तु का आश्रय लेकर पद्यों से नमस्कार और दुष्टों के चरित्र का वर्णन होता है, उसीप्रकार आख्यायिका में भी होता है ।] (और) कवि का (अपने कुल आदि का कीर्तन (होता) है । और इस (आख्यायिका) में अन्य कवियों का चरित्र (होता) है, कहीं-कहीं पद्य (का भी प्रयोग करना चाहिये), कथाओं के भागों को पृथक् करने वाला "आश्वास" इस (नाम) से (कवि के द्वारा) विरचित होता है । [दशकुमारचरित के अन्दर उच्छ्वास के होने से, यहाँ "आश्वास" पद को उपलक्षण समझना चाहिये] आश्वास के प्रारम्भ में आर्या, वक्त्र और अपवक्त्र छन्दों में से जिस किसी छन्द से (अथवा) किसी दूसरे विषय के वर्णन के व्याज से भावी अर्थ की सूचना (होती) है ।

[आख्यायिका का उदाहरण] यथा—**हर्षचरितादि** [आदि' पद से **दशकुमारचरितादिकों** का ग्रहण होता है ।]

अवतरणिका—आख्यान आदि रूप अन्य काव्यों का लक्षण क्यों नहीं किया गया है ? इसका खण्डन करने के लिये पूर्वपक्ष उठाते हैं ।

अर्थ—पूर्वपक्ष—"उसमें भी (आख्यायिका में भी) दूसरों के द्वारा (नायक से अतिरिक्त वचनों के) उच्चारण करने से (उस उस उपाख्यान को कथन करने से) अनियम देखा गया है"—इस आचार्य दण्डी के कथनानुसार कुछ (विद्वान्) "नायक के द्वारा ही आख्यायिका निबद्ध की जानी चाहिये" ऐसा कहते हैं—**उत्तरपक्ष**—यह ठीक नहीं है । (क्योंकि) आख्यान आदि का कथा और आख्यायिका के अन्दर ही अन्तर्भाव हो जाने से पृथक् नहीं कहे हैं । क्योंकि आचार्य दण्डी ने ही कहा है कि—"इसमें ही (कथा और आख्यायिका के अन्दर ही) शेष आख्यान जाति आदि अन्तर्भूत हो जावेगी" इति । **एषामिति—**इनके **उदाहरण—पञ्चतन्त्र आदि** ।।

डॉ. निरूपण विद्यालङ्कार

श्रीमद्विश्वनाथ कविराजप्रणीत

साहित्य दर्पण

साहित्य भण्डार

सुभाष बाजार, मेरठ